भारतीय अर्थशास्त्र की रूपरेखा

द्वितीय भाग
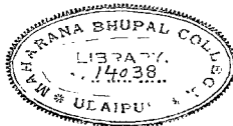
लेखक

शंकर सहाय सक्सेना एम० ए०, एम० कॉम०

प्रिंसिपल, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर
डीन, कामर्स फैकल्टी, राजपूताना विश्वविद्यालय, जयपुर

तथा

प्रेमनारायन माथुर एम० ए०, बी० कॉम०

भूतपूर्व गृह तथा शिक्षा मंत्री, राजस्थान
एवं आचार्य, वनस्थली विद्यापीठ

मूल्य १०)

निवेदन

भारतीय अर्थशास्त्र की रूपरेखा के द्वितीय भाग को लेकर उपस्थित होते हुए लेखकों को अत्यन्त हर्ष है। पाठकों ने पुस्तक के प्रथम भाग का जैसा अभूतपूर्व स्वागत किया—कुछ महीनों में ही उसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया—यह इस बात का द्योतक है कि भारतीय अर्थशास्त्र के अध्यापकों तथा छात्रों को पुस्तक उपयोगी प्रतीत हुई।

द्वितीय भाग में उद्योग-धंधों, भारतीय श्रम की समस्याओं, यातायात के साधनों, व्यापार, मुद्रा साख और बैंकिंग, राजस्व और आर्थिक योजना का विशद विवेचन किया गया है। पुस्तक लिखने में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को भारत की आर्थिक समस्याओं के संबंध में केवल आधुनिकतम तथ्य ही अवगत न हों किन्तु वे आर्थिक समस्याओं पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विचार कर सकने की योग्यता प्राप्त कर सकें। इसी उद्देश्य से उन सभी आर्थिक समस्याओं जिन पर आज देश में गहरा मतभेद है और जिनके सम्बन्ध में ठीक दृष्टिकोण अपनाने से ही देश के आर्थिक निर्माण की नींव रक्खी जा सकती है उन सभी समस्याओं पर भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करके लेखकों ने अपने-अपने मत का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया है।

आज भारत के आर्थिक निर्माण के प्रश्न को लेकर प्रत्येक देशभक्त भारतीय चिन्तित है, सरकार की अर्थ-नीति बहुत स्पष्ट नहीं है और सम्भवतः इसी कारण अधिक प्रभावशाली और दृढ़ भी नहीं है। आज देश में इस बात पर दो मत हैं कि देश बड़ी मात्रा की यांत्रिक खेती को स्वीकार करे अथवा छोटी मात्रा की अत्यन्त गहरी खेती को प्रोत्साहन दिया जावे, ग्राम्य और गृह-उद्योगों का देश के भावी आर्थिक संगठन में क्या स्थान हो, बड़ी मात्रा के उत्पादन में व्यक्तिगत साहस को रहने दिया जावे अथवा उनका राष्ट्रीयकरण कर लिया जावे, सरकार की औद्योगिक नीति क्या हो, रुपये के अवमूल्यन की आवश्यकता थी अथवा नहीं और क्या रुपये की विनिमय दर में परिवर्तन करने का समय उपस्थित हो गया है, इंडस्ट्रियल फाइनैंस कारपोरेशन तथा रिजर्व बैंक की साख सम्बन्धी नीति क्या होनी चाहिए, श्रमजी [illegible] जीवी
[illegible]र्ष तथा सरकार की श्रम-नीति, न्यूनतम [illegible] और ग्राम्य जीवन से सम्पर्क-
[illegible]रकार का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए, सर[illegible] लाभ-हानि—मजदूरों की [illegible]
व्यवस्था क्या दोषपूर्ण है, उसमें क्या सु

ग्रस्त विषयों का विशद एवं गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। पंचवर्षीय योजना, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और भारत, सरकार की औद्योगिक नीति, रुपये का अवमूल्यन इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों पर पृथक परिच्छेद लिखे गए हैं।

लेखकों ने पुस्तक लिखते समय इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है कि पुस्तक को अनावश्यक लम्बी (आंकड़ों की) तालिकाओं से बोझिल न किया जावे। साथ ही इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि आधुनिकतम तथ्य और निर्णयात्मक आंकड़े दिए जावें जिससे आर्थिक समस्याओं का ठीक-ठीक अध्ययन करने में सहायता मिले।

भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर देश आज एक भयंकर आर्थिक संकट में से निकल रहा है। आज देश एक कगार पर खड़ा हुआ है, अर्थनीति को निर्धारित करने में तनिक भी भूल होने पर देश पर गम्भीर संकट उपस्थित हो सकता है। ऐसी दशा में प्रत्येक भारतीय, राजनैतिक व्यक्ति और देशभक्त का यह कर्तव्य है कि वह देश की आर्थिक समस्याओं का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करे। देश के असंख्य निवासी अंग्रेजी न जानने के कारण भारत की आर्थिक समस्याओं पर अर्थशास्त्रियों के विचार जानने से वंचित रह जाते हैं। इसी कमी को पूरा करने के लिए लेखकों ने इस पुस्तक को लिखने का प्रयास किया है।

यों भी राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त देश की आत्मा एक विदेशी भाषा की दासता को तिलांजलि देने के लिए छटपटा रही है। यद्यपि अधिकांश विश्वविद्यालयों में बी० ए० तथा बी० काम परीक्षाओं में हिन्दी माध्यम स्वीकार कर लिया गया है किन्तु हिन्दी में भारतीय अर्थशास्त्र पर कोई प्रामाणिक ग्रंथ न होने के कारण विद्यार्थी इस सुविधा से लाभ उठाने से वंचित रहते हैं। लेखक पिछले बीस वर्षों से हिन्दी द्वारा उच्च शिक्षा दिए जाने के समर्थक और प्रचारक रहे हैं। इसी लक्ष्य को लेकर उन्होंने अर्थशास्त्र सम्बन्धी साहित्य का हिन्दी में निर्माण किया है और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वे इस पुस्तक को हिन्दी जगत् के सामने लेकर उपस्थित हुए हैं।

विषय-सूची

परिच्छेद १

परिच्छेद २

परिच्छेद ३

परिच्छेद ४

फिर में

परिच्छेद ५

परिच्छेद ६

परिच्छेद १८

बैंकिंग व्यवस्था

परिच्छेद १३

सार्वजनिक वित्त द्वितीय । **५३४—५६५**

सार्वजनिक वित्त का महत्त्व—भारत में सार्वजनिक वित्त की विशेषतायें—केन्द्र और राज्य का वित्त सम्बन्ध—पहले की स्वायत्तता व वित्त का एकीकरण—केन्द्र और राज्यों में आय व साधनों का विभाजन—ऋण व सम्बन्ध में अधिकार—संचित निधियाँ और लोक लेखे तथा आकस्मिकता निधि—केन्द्र और राज्यों के वित्त सम्बन्ध का इतिहास १९१९ के सुधार के पहले तक का इतिहास, १९१९ के सुधार और वित्त सम्बन्ध, १९३५ का विधान और वित्त सम्बन्ध, निमियर रिपोर्ट, निमियर निर्णय में परिवर्तन, देशमुख निर्णय—भारत सरकार और राज्यों के बजट।

केन्द्रीय वित्त भारत सरकार की आय सीमा शुल्क, आयकर, निगम-कर, अतिरिक्त लाभ-कर, व्यापार लाभ-कर, पूँजीगत लाभ-कर, संघीय उत्पादन शुल्क, नमक शुल्क, व्यापारिक विभागों से आय, आय के अन्य साधन—भारत सरकार का व्यय रक्षा व्यय, राजस्व संग्रह पर होने वाला व्यय, नागरिक व्यय, पूँजीगत व्यय—भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण ऋण का चुकारा, स्टर्लिंग ऋण का 'रिपेट्रियेशन', देश का विभाजन और सार्वजनिक ऋण, मुद्रा-बाजार में ऋण मिलने में कठिनाई।

राजकीय वित्त राज्यों की आय भूमि राजस्व, आबकारी शुल्क, सिंचाई, जंगलात, रजिस्ट्रेशन, स्टैम्प्स, विक्रय-कर, कृषि आयकर, मनोरंजन-कर, पण लगाने (बेटिंग) पर कर, मोटर गाड़ियों पर कर, आयकर, केन्द्र से सहायता—राज्यों का व्यय राजस्व पर प्रत्यक्ष माँग सिंचाई, शान्ति-व्यवस्था, सामाजिक सेवाकार्य, ऋण सेवाएँ, पूँजीगत खर्च, 'बी' राज्यों का खर्च—राज्यों का सार्वजनिक ऋण—केन्द्र और राज्य की वित्त व्यवस्था की वर्तमान स्थिति।

स्थानीय वित्त नगरपालिका वित्त प्रत्यक्ष कर, अप्रत्यक्ष कर, व्यापारिक कार्यों से आय—जिला बोर्डों की वित्त व्यवस्था भूमि उपकर, स्थिर और संपत्ति पर कर, टोल्स, जुर्माना किराया और फीस, अनुदान—स्थानीय वित्त में सुधार की आवश्यकता।

राजस्व और व्यय के बजट भारत सरकार का बजट—उत्तर प्रदेश का बजट—मध्य प्रदेश का बजट—बम्बई का बजट—[illegible] का बजट।

परिच्छेद १

उद्योग-धंधे : साधारण विवेचन

आज के कल और कारखाने के युग में भी औद्योगिक दृष्टि से भारत एक पिछड़ा हुआ देश है और उसके आर्थिक जीवन में खेती की प्रधानता है। देश के आर्थिक जीवन के इस वर्तमान खेती-प्रधान स्वरूप को देख कर यह कल्पना नहीं होती कि कभी इस देश के उद्योग-धंधे भी उन्नत अवस्था में थे और हमारे आर्थिक जीवन में उनका महत्त्व था। पर औद्योगिक कमीशन की रिपोर्ट से लिया गया निम्नलिखित अंश इस संबंध में वस्तु-स्थिति पर समुचित प्रकाश डालता है। औद्योगिक कमीशन का कहना है:—"उस समय, जबकि पश्चिमी यूरोप में जो कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्मस्थान है, असभ्य लोग निवास करते थे, भारत अपने राजा-नवाबों की सम्पत्ति और अपने कारीगरों के कौशल के लिए विख्यात था। और इसके बहुत समय बाद भी, जबकि पश्चिम के व्यापारी पहले पहल यहाँ आए, यह देश औद्योगिक विकास की दृष्टि से पश्चिम के जो अधिक उन्नत राष्ट्र हैं उनसे यदि आगे बढ़ा हुआ नहीं तो किसी प्रकार कम तो नहीं था।"

अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवासी अपने विभिन्न प्रकार के कला-कौशल, जैसे सुन्दर ऊनी वस्त्रों के उत्पादन, अलग-अलग रंगों के समन्वय, धातु और जवाहरात के काम तथा इत्र आदि अर्कों के उत्पादन के लिए संसार-प्रसिद्ध रहे हैं। इस बात का प्रमाण मिलता है कि सन् ई० पू० ३०० में भारत और बेबीलोन में व्यापारिक सम्बन्ध थे। सन् ई० १-२००० तक की पुरानी मिस्र की क़ब्रों में जो 'ममीज़' (शव) हैं, वे भारत की बहुत बढ़िया मलमल में लिपटे हुए पाए गए हैं। लोहे का उद्योग भी प्राचीन भारत में बहुत उन्नत अवस्था में था। उसके द्वारा केवल देश की आवश्यकता ही पूरी नहीं होती थी, बल्कि उसमें उत्पन्न माल विदेशों को भी भेजा जाता था। लगभग दो हजार वर्ष पुराना दिल्ली के पास जो मशहूर लोहे का स्तम्भ है, उससे मालूम पड़ता है कि उस समय की कारीगरी कितनी उच्च थी जिसे देखकर आज का इंजीनियर भी आश्चर्य में पड़ जाता है। भारत का इस्पात फारस, अरब और इंगलैंड तक को भेजा जाता था। सारांश यह है कि बहुत प्राचीन काल में ही भारत का लोहे और इस्पात का उद्योग अत्यन्त उन्नत अवस्था को प्राप्त कर चुका था। वास्तव में यह भारतीय उद्योगों का ही प्रताप था कि उस समय भारत से व्यापार करना बहुत लाभप्रद माना जाता था और यूरोपीय देशों में

भारतीय माल का बड़ा भाग थी। यूरोप के व्यापारी भारत में इसी व्यापार से आकर्षित होकर ही आए। पहले डच और फ्रांसीसी के हाथ में भारतीय व्यापार का एकाधिकार था। उनके पतन के बाद इंग्लैंड और पुर्तगाल निवासी सामने आए। इससे इंग्लैंड के व्यापारियों में प्रतिस्पर्धा पैदा हुई। परिणाम यह हुआ कि भारत के तैयार माल को यूरोप ले जाकर व्यापार करने की दृष्टि से 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' स्थापित की गई।

यद्यपि आज कल के आँकड़ों से तुलना करने का तो प्रश्न नहीं है, फिर भी उस पुराने समय में भारतीय आर्थिक जीवन में विदेशी व्यापार का बड़ा महत्त्व था। विदेशी व्यापार के रूप में फारस की खाड़ी, बर्मा, मलाया प्रायद्वीप और चीन में जो व्यापार होता था उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व था। यह व्यापार पहले अरब के लोगों के हाथ में था। धर्म युद्धों के फल स्वरूप पश्चिमी यूरोप में भारतीय माल पहुँचा और तभी से भूमध्यसागर के पूर्वी तट के साथ जल और थल दोनों ही मार्गों से यथेष्ट व्यापार होने लगा। व्यापार मुख्यतः मसाला, रेशम, जवाहरात और सूती वस्त्र जैसी कीमती चीजों का होता था। पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतीय विदेशी व्यापार का यह भूमध्यसागर का मार्ग, जो अफगानिस्तान और फारस में होता हुआ लेबनान तट तक जाता था, तुर्कों द्वारा बन्द कर दिया गया है। इसके पश्चात दूसरा मार्ग ढूँढ निकालने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों में होड़ चल पड़ी। परिणाम यह हुआ कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में केप होते हुए भारत जाने का समुद्री मार्ग ढूँढ निकाला गया।

इस समय के भारत के विदेशी व्यापार का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण यह था कि भारतीय माल के बदले में विदेशों से भारतवर्ष को बहुत सा सोना चाँदी प्राप्त होता था। यूरोप के लिए भारतीय व्यापार का यह लक्षण एक चिन्ता का विषय बन गया। कारण यह था कि उस समय यूरोप में 'मर्केन्टिलिज्म' नाम की एक ऐसी विचार धारा का प्रभुत्व था जिसके अनुसार किसी भी राष्ट्र की सम्पन्नता उस राष्ट्र के पास जितना सोना चाँदी है उस पर से ही आँकी जा सकती थी। 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने इस बात का प्रयत्न किया कि भारत में विदेशी माल का प्रचार हो, पर यह प्रयत्न विशेष सफल नहीं हुआ। विवश होकर कम्पनी को अपनी पूँजी का उपयोग भारत में उत्पादन करने और उसके तथा पड़ोसी राष्ट्रों के बीच के व्यापार में लगाना पड़ा और जो उन्हें इससे लाभ होता था वही यूरोप को माल की शकल में भेजा जाता था। मसाले का व्यापार बहुत समय तक चलता रहा और बाद में और [illegible] पर और चीन और इंगलैंड के बीच में चाय का

भारतीय उद्योगों के जिस महत्त्व का ऊपर उल्लेख किया गया है वह बहुत समय तक क़ायम नहीं रह सका। यद्यपि आरम्भ में 'ईस्ट इंडिया कंपनी' ने भारतीय उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन दिया क्योंकि उसका निर्यात व्यापार इसी बात पर निर्भर था, पर थोड़े समय के पश्चात ही ब्रिटिश पूंजीपतियों के विरोध के कारण कंपनी को अपनी यह नीति छोड़नी पड़ी। ब्रिटिश पूंजीपति यह चाहते थे कि कंपनी ब्रिटिश कारखानों के लिए आवश्यक कच्चे माल को भारत से निर्यात करने पर जोर दे। अस्तु; बाद में भारतीय उद्योग-धंधों का क्या भविष्य हुआ यह सर्वविदित है। ईस्ट इंडिया कंपनी को जब राजनैतिक सत्ता प्राप्त हुई तो उसका उपयोग भारतीय उद्योगों को नष्ट करने में किया गया। हमारे उद्योगों के ह्रास के अन्य कारण भी थे। सन् १८५८ में भारत का शासन जब सीधा ब्रिटिश सरकार के हाथ में आगया तब भी भारतीय उद्योगों के प्रति जो कंपनी की जान-बूझ कर उदासीनता दिखाने और उनको नष्ट करने की नीति थी उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वही नीति चलती रही, यद्यपि अब उसने अहस्तक्षेप सिद्धान्त का आवरण पहन लिया। यह वह समय था जबकि इंगलैंड में आर्थिक जीवन में राज्य द्वारा कम से कम हस्तक्षेप करने का सिद्धान्त सर्वमान्य था। इंगलैंड अपने आर्थिक विकास की जिस अवस्था में था उसमें अहस्तक्षेप-का यह सिद्धान्त उसके लिए उपयुक्त था। ये वे दिन थे जबकि पूंजीवादी विस्तार के लिए इंगलैंड के सामने पूरा मौका था, उसके तैयार माल के लिए संसार के बाजार का द्वार खुला पड़ा था, और देश अथवा विदेश कहीं के बाजारों में उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। इसलिए अहस्तक्षेप-सिद्धान्त से इंगलैंड को लाभ ही लाभ था। किन्तु भारत की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। इस पर भी वही अहस्तक्षेप का सिद्धान्त उस पर भी लादा गया। यह राजनैतिक पराधीनता की कीमत थी जो इस देश ने उस समय चुकाई और बाद में भी बहुत वर्षों तक बराबर चुकाता रहा। भारत जब तक इंगलैंड के अधीन रहा आर्थिक मामलों में वह कभी भी अपनी स्वतंत्र नीति नहीं अपना सका। उसका भाग्य अपने विदेशी शासकों के साथ बंधा रहा और उनका एकमात्र लक्ष्य अपनी मातृभूमि इंगलैंड के स्वार्थों की रक्षा करना रहा। परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन सरकार ने भारत के नष्ट होते हुए उद्योग-धन्धों की ओर तनक भी ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत सरकार ने इस विचार का लगातार प्रचार किया कि भारत की उपजाऊ भूमि और वहां की जलवायु ही ऐसी है कि वहां कच्चे माल का उत्पादन हो और उसके बदले में बाहर से तैयार माल मंगाया जाए। यह कहा जाता था कि भारतीय मजदूर बहुत ही अयोग्य हैं, वहां की गर्म जलवायु

मनुष्य को शिथिल बनाता है, और लोगों में साहस की कमी है, इसलिए इस देश में आधुनिक उद्योगों का विकास नहीं हो सकता। जनता में यह विश्वास पैदा किया गया कि भारत औद्योगीकरण की दृष्टि से अनुपयुक्त है। ब्रिटिश सरकार के हाथ में शासन आने के बहुत पहले से ही, ईस्ट इंडिया कंपनी भी इसी नीति पर चल रही थी। उदाहरण के लिए कंपनी ने भारत में कपास की खेती के विस्तार और उन्नति में बड़ी दिलचस्पी ली। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में कंपनी ने भारतीय नील उद्योग का पुनर्जीवित करने का निश्चय किया और पश्चिमी द्वीप समूह से इस कार्य के लिए कुशल व्यक्तियों को लाया गया। चाय के बागों का उद्योग, जो भारत का इस प्रकार का प्रमुख उद्योग रहा, सरकार द्वारा ही आरंभ किया गया था। कॉफी के बाग भी कंपनी के कहने से ही कायम किए गए। सारांश यह है कि औद्योगिक उन्नति के प्रति सरकार की उदासीनता होने से तथा कुछ अन्य सहायक कारणों के उपस्थित होते रहने से, उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही भारत का औद्योगिक महत्व समाप्त होने लगा और वह केवल एक कृषि प्रधान देश बना दिया गया। इस प्रकार भारत का आर्थिक पतन अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

आधुनिक उद्योगों का प्रारंभ—अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटेन में आधुनिक फैक्टरी उद्योगों की पूरी तौर पर स्थापना हो चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इंगलैंड संसार का कारखाना बन चुका था। इस समय तक प्राचीन भारतीय उद्योगों का भी ह्रास हो चुका था और धीरे धीरे एक दो आधुनिक उद्योगों का आरंभ भी होने लगा था। जहाजों में भाप का उपयोग करने वाले उद्योग ही सबसे अधिक सफल नए भारतीय उद्योग मालूम पड़ते थे। भारत में एक कोयले की खान में, नौकाश्रय (डॉक्स) में, एक कागज की मिल में, रुपए की टकसाल में, आटा पीसने में, रेशम की रील तैयार करने में और सूती कपड़े के छापने और बुनने में तथा सूत कातने में भी भाप के इंजनों का प्रयोग होने लगा था। ये तमाम आधुनिक उद्योग कलकत्ते के आस पास में स्थित थे, क्योंकि यूरोपीय व्यवसायी इसी प्रदेश में सबसे अधिक थे। कर्नल हीथ नाम के 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के एक कर्मचारी ने मद्रास में आरकट नाम के स्थान पर सबसे पहला लोहे का कारखाना स्थापित किया। आधुनिक ढंग के ये उद्योग अधिक दिनों जीवित नहीं रह सके, क्योंकि इनको मशीनें, मशीनों के विभिन्न भाग और दूसरी आवश्यक सामग्री जहाजों में केप के रास्ते से मँगानी पड़ती थी। इंजीनियर, फोरमैन और कभी कभी तो मजदूर तक इंगलैंड से बुलाने पड़ते थे। भारत में कोयला निकालने का उद्योग सन् १८५४ तक नियमित

रूप से आरंभ नहीं हुआ था। सन् १८५३ तक रेलवे नहीं खुली थी। इसी साल एक छोटी-सी लाइन बंबई से आरंभ की गई और दूसरे वर्ष सन् १८५४ में एक और लाइन हावड़ा से रानीगंज के कोयले की खानों तक शुरू हुई। इसके बाद रेलवे लाइनें जल्दी-जल्दी खोली जाने लगीं और इसके परिणाम स्वरूप कोयले के उद्योग का प्रसार भी हुआ। सन् १८६० तक भारत में कोयले का कुल उत्पादन १० लाख टन से भी अधिक होगया।

कोयले के उद्योग के विकास और रेलवे के विस्तार होने से भारतीय फैक्टरी-उद्योग के मार्ग की कुछ प्रारंभिक कठिनाइयां समाप्त हुईं। कलकत्ते के पास जो 'बाओरेह मिल्स' १९ वीं शताब्दी के आरंभ मे स्थापित हुई वह तो सफल नहीं हुई, पर सन् १८५१ में सी० एन० डावर नाम के एक पारसी सज्जन ने सबसे पहली सफल सूती कपड़े की मिल की स्थापना की। शुरू-शुरू में मिलों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ी। सन् १८६० में कपास के व्यापार में आरंभ होने वाली तेजी जब समाप्त होगई तो कपड़े के मिलों की संख्या काफी बढ़ गई। पटसन कातने की सबसे पहली मिल एक अंग्रेज ने सन् १८५५ में सिरामपुर (कलकत्ता) के निकट रिशरा नामक स्थान में स्थापित की। इसके ठीक चार वर्ष बाद कलकत्ते के पास ही शक्ति से चलने वाली पहली बुनाई की फैक्टरी भी कायम हुई। इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के मध्य तक विदेशियों के प्रयत्न से भारत में एक-दो आधुनिक उद्योगों का आरंभ हुआ किन्तु प्रगति बहुत धीमी और असंतोषजनक थी।

औद्योगिक अवनति की ओर देश का ध्यान:—१९ वीं शताब्दी की पिछली दो दशाब्दियों में राजनैतिक चेतना के साथ-साथ देश के नेताओं और अर्थशास्त्रियों का ध्यान हमारी औद्योगिक अवनति की ओर भी गया। दादा भाई नौरोजी और रानाडे ने तो यहाँ तक कहा कि यह हमारी औद्योगिक अवनति का ही कारण है कि देश को प्रायः अकालों का सामना करना पड़ता है और आम जनता निर्धनता की चक्की में पिसी जा रही है। सन् १८८० के अकाल कमीशन ने भी यही राय दी कि भारत में बार-बार अकाल पड़ने का एक मुख्य कारण यह है कि उसका आर्थिक जीवन एक मात्र खेती पर आश्रित है। सन् १९०१ के अकाल कमीशन ने भी इसी विचार पर जोर दिया और देश के औद्योगीकरण पर आग्रह किया। भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इस विचार की कि प्रकृति ने भारत को एक कृषि-प्रधान राष्ट्र ही बनाया है असत्यता प्रकट करना आरंभ की। थोड़े से समय में जापान में जिस तीव्र गति से औद्योगिक विकास हुआ उसने भी हमारे आर्थिक जीवन की कमजोरी को स्पष्ट कर दिया।

जनता के आर्थिक जीवन के लिए उसके हित का ध्यान रखने वाली सरकार क्या कर सकती है, इसका जापान ने एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया और भारत की सरकार ने भारतीय उद्योगों के प्रति जो अक्षम्य उदासीनता दिखाई वह जापान से सर्वथा प्रतिकूल और दुःखद उदाहरण था। रानाडे ने भारतीय पूँजीपतियों से अनुरोध किया कि वे अपनी अधिकाधिक पूँजी उद्योग में लगाएँ और शिक्षित नवयुवकों से कहा कि हाथ के काम के प्रति अपनी परम्परागत अरुचि का त्याग करें और उद्योग धंधों में काम करने योग्य अपने आप को बनाएँ।

देश में राजनैतिक असन्तोष के साथ साथ यह आर्थिक असन्तोष भी घर करता जा रहा था। और जैसा कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के सहयोग में सन् १९०५ में भारतीय औद्योगिक सम्मेलन की स्थापना से विदित होता है, असन्तोष की इन दोनों धाराओं का पारस्परिक सम्पर्क होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। बंगाल के विभाजन को रद्द कराने के लिए जो देश व्यापी आन्दोलन हुआ उसने भी इस आपसी सम्पर्क को पुष्ट ही किया। १९०५ का स्वदेशी आन्दोलन इसी का परिणाम था, और ब्रिटिश माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी इसी का नकारात्मक स्वरूप था। देश में एक बहुत बड़ी उथल पुथल फैल गई थी। भारतवासियों ने अनेकों नई फैक्टरियाँ स्थापित कीं जिन में कपड़े, साबुन, दियासलाई, पेन्सिल, काँच और छुरी चाकू (कटलरी) की फैक्टरियाँ मुख्य थीं। कई स्वदेशी भंडार भी कायम हुए जहाँ इन फैक्टरियों का माल बेचा जाता था। पर इन नए उद्योगों में से अधिकांश अधिक दिन नहीं चल सके। व्यावहारिक शिक्षा और व्यापारिक अनुभव का अभाव तथा राज्य की उदासीनता व लापरवाही इस असफलता के मुख्य कारण थे। बहुत समय तक राज्य ने सिवा अधूरी सी टेकनीकल और औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था करने, कुछ व्यापार और उद्योग सम्बन्धी जानकारी एकत्रित और प्रचारित करने, कुछ औद्योगिक प्रदर्शिनियों का आयोजन करने और भारतीय उद्योग धंधों के विषय में कुछ साहित्य प्रकाशित करने के और कुछ नहीं किया। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन के सुझाव पर केन्द्र में व्यापार उद्योग का एक प्रथम सरकारी विभाग कायम किया गया पर यह सब कुछ नहीं के बराबर था। यदि कभी किसी प्रान्त ने जैसे मद्रास अथवा संयुक्तप्रान्त के उदाहरण सामने आए हैं औद्योगिक उन्नति के सम्बन्ध में कोई विशेष क्रियात्मक रुचि दिखाई, तो उच्च पदाधिकारियों ने उनके उत्साह को भंग कर दिया। सारांश यह है कि देश में स्वदेशी-आन्दोलन के कारण औद्योगिक उन्नति के लिए जो अनुकूल वातावरण बन गया था, सरकार

ने उसका कोई लाभ नहीं उठाया। यहाँ तक कि विभिन्न रेलवे कंपनियों के माल को लाने-लेजाने के जो अलग-अलग दर थे उनमें भी सरकार ने कोई परिवर्तन नहीं किया; यद्यपि ये दर उद्योग-धंधों की प्रगति में बाधक थे। सरकार ने विदेशी माल की प्रतिद्वन्द्विता रोकने के लिए न तो रक्षात्मक कर लगाए और न और कुछ ही किया। इस सबसे भारतीय जनता का यह विश्वास और भी दृढ़ होगया कि राज्य की क्रियात्मक सहायता और संरक्षण के बिना, खासतौर से प्रारंभिक अवस्था में, देश के उद्योग-धंधों की उन्नति संभव नहीं है।

उपर्युक्त विवरण का सार यह है कि सन् १६१४ के पहले तक भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ राष्ट्र था। हमारी इस धीमी औद्योगिक प्रगति का एक कारण आरंभ में लोगों का अज्ञान और उनमें व्यावसायिक साहस का अभाव, तथा अब तक भी उनमें दूरदर्शिता और प्रतिभा की कमी बताया जाता है। इस बारे में यह अवश्य ध्यान रखने की बात है कि यदि किसी हद तक भारतवासियों में उक्त गुणों का अभाव रहा है या आज भी पाया जाता है तो उसका प्रमुख कारण देश की पराधीनता और उससे उत्पन्न विपरीत परिस्थितियों को ही मानना होगा। देश की स्वतंत्रता के साथ-साथ औद्योगिक क्षेत्र में भी भारतीय प्रतिभा व्यक्त होगी, इस में कोई संदेह नहीं। प्रथम युद्ध से पहले तक भारत में सुव्यवस्थित और बड़े पैमाने पर चलने वाले केवल निम्न-लिखित उद्योग थे:—बंबई का सूती कपड़े का उद्योग, बंगाल का पटसन का उद्योग, बिहार, उड़ीसा और बंगाल का कोयले का उद्योग, बर्मा में तेल का उद्योग और आसाम में चाय का उद्योग। सूती कपड़े के उद्योग को छोड़कर बाकी सब उद्योग विदेशियों के हाथ में थे। प्रथम महायुद्ध के पहले लोहे-इस्पात और सीमेंट के उद्योगों की शुरूआत हो चुकी थी। सन् १६०७ में जमशेदपुर में स्थापित 'टाटा आइरन एण्ड स्टील कंपनी' भारतीय औद्योगिक उन्नति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी और बड़े पैमाने पर इस्पात उत्पन्न करने वाला देश का यह प्रथम कारखाना था। यह पूर्णतया भारतीय उद्योग था। इसी काल में एक और उद्योग की प्रगति के चिह्न दिखाई पड़ने लगे थे—वह था शक्ति और रोशनी के लिए बिजली पैदा करने का उद्योग। इस उद्योग की प्रगति टाटा के ही प्रयत्नों से बाद में हुई। उपर्युक्त उद्योगों के अतिरिक्त छोटे-मोटे और उद्योगों का आरंभ भी देश में हुआ, जैसे पटसन और कपास के पेच, कागज की मिलें, चावल और शकर के उद्योग, चमड़े के उद्योग, इंजीनियरिंग के कारखाने आदि। पर इन उद्योगों की संख्या कम थी और इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था।

प्रथम महायुद्ध-काल में औद्योगिक उन्नति—प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय उद्योग धंधों को अपनी उन्नति करने के लिए एक बहुत अच्छा अवसर मिला। शत्रु राष्ट्रों से और विशेषतया जर्मनी से माल का आना बिल्कुल बंद हो गया। मित्र राष्ट्र भी भारत को माल भेजने में असमर्थ थे, क्योंकि एक तो वे युद्ध सामग्री उत्पन्न करने में लगे हुए थे, और दूसरे शत्रु राष्ट्रों के आक्रमण तथा युद्ध के कारण बढ़ी हुई माँग के फलस्वरूप माल को लाने ले जाने वाले जहाजों की भी कठिनाई थी। इसके अतिरिक्त युद्ध के लिए आवश्यक चीजों की विशेष माँग भी इस समय पैदा हो गई थी। सारांश यह है कि भारत के सामने अपना उत्पादन बढ़ाने का एक बहुत बड़ा अवसर आया। परन्तु भारत इस अवसर का लाभ उठाने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। भारत में न तो मशीन उत्पादन करने वाले कोई उद्योग थे नहीं और विदेशों से मशीन अथवा कच्चा माल मंगाना कठिन था। और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ हमारे मार्ग में थीं, जैसे टेक्निकल विशेषज्ञों की बड़ी कमी थी, तथा रेल के डिब्बों, समुद्री जहाज, कोयला शुद्ध करने की मशीन (कोकिंग प्लाण्ट) और कुशल मजदूरों की भी कमी थी। सदा की भाँति सरकार की उदासीनता भी कायम थी ही। इन तमाम कारणों से युद्ध के समय भारत औद्योगिक क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं कर सका और हमारे देखते देखते जापान तथा अमरिका आदि विदेशी राष्ट्रों ने भारत के साथ अपना व्यापारिक सम्बन्ध बना लिया, तथा हमारे बाजारों पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया।

इतना सब होने पर भी युद्ध ने सरकार और जनता को सावधान अवश्य कर दिया। जनता ने पहली बार यह अनुभव किया कि जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के सम्बन्ध में विदेशों पर निर्भर रहने का अर्थ क्या है? अंग्रेजी सरकार ने भी देखा कि यदि भारत एक औद्योगिक राष्ट्र होता तो पूर्वीय युद्ध-क्षेत्र में उससे अधिक सहायता मिल सकती थी। अस्तु, सरकार को भी देश की औद्योगिक उन्नति के लिए कुछ न कुछ करना अनिवार्य जान पड़ा। सन् १९१६ में सरकार ने औद्योगिक कमीशन की नियुक्ति की। कमीशन ने भारत की औद्योगिक उन्नति के व्यापक प्रश्न पर, और सरकार किस प्रकार इसमें सहायक हो सकती है इस विषय पर पूरी तौर से विचार किया। कमीशन की रिपोर्ट १९१८ में प्रकाशित हुई। उसमें कमीशन ने इस बात पर विशेषतया जोर दिया कि देश के औद्योगीकरण में सरकार को अधिक क्रियात्मक सहयोग देना चाहिए ताकि देश अधिक स्वावलम्बी बन सके। कमीशन ने यह भी राय दी कि इन प्रश्नों पर सरकार को सलाह देने के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति होनी चाहिए।

कमीशन का यह भी सुझाव था कि प्रान्तीय मंडलों (बोर्डों) की स्थापना की जावे। इसी बीच में १९१७ में सरकार इण्डियन म्यूनिशन्स बोर्ड की स्थापना कर चुकी थी। उसका उद्देश्य युद्ध की दृष्टि से भारतीय साधनों का पूरा-पूरा उपयोग करना था। इस बोर्ड ने स्वयं भारत में आवश्यक माल खरीद कर, इंगलैंड तथा दूसरी जगहों से खरीदा जाने वाला माल भी प्राथमिकता और नियंत्रण के आधार पर भारत से खरीदवा कर, और नए उद्योग आरंभ करने वालों को आवश्यक सलाह और जानकारी देकर, भारतीय उद्योग-धंधों की उन्नति में सहायता पहुँचाई। इस प्रकार कई उद्योगों को यथेष्ट प्रोत्साहन मिला। उनमें से खास-खास नाम ये हैं:—सूती कपड़े, पटसन, लोहे-इस्पात, चमड़े, और इन्जीनीयरिंग के उद्योग, तथा कागज, कांच, सीमेंट, छुरी-चाकू, खाद, रंग, वार्निश, डाक्टरी औजार, रासायनिक पदार्थ (केमिकल्स) और मिनरल एसिड्स् तैयार करने वाले उद्योग। औद्योगिक कमीशन की सिफारिश के अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों में सरकारी औद्योगिक विभागों की स्थापना भी हुई। युद्ध कालीन सरकारी व्यय की पूर्ति करने के लिए आयात-करों में भी वृद्धि की गई। पर इन छोटी-मोटी बातों से कोई बड़ा परिणाम आने वाला नहीं था, और युद्ध के कारण जो अवसर आया था भारत उसका लाभ न उठा सका तथा औद्योगिक दृष्टि से वह एक पिछड़ा हुआ राष्ट्र ही बना रहा।

युद्धोत्तर तेजी और मंदी:—युद्ध के समाप्त होते ही थोड़े समय के लिए व्यापार-व्यवसाय में तेजी आई। इस आशा से कि युद्ध कालीन मुनाफे कायम रहेंगे और युद्ध के समय जो मांग दबी रही उसे पूरी करने का अब समय आया है, कई नए-नए उद्योग-धंधे आरंभ किए गए। सन् १९१९ से १९२१ तक यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई पड़ी। परन्तु थोड़े समय के पश्चात् ही व्यापारिक मंदी के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। मंदी के इस युग का आरंभ होते ही बहुत सी कम्पनियाँ और फर्में अपना काम बन्द करती दिखाई पड़ने लगीं। इस मंदी के कई कारण थे। ऊँची कीमतों और बढ़ती हुई मांग संबंधी आशाएँ पूरी नहीं हुईं। कारण यह था कि लड़ाई से जो विनाश हुआ था उसके फल स्वरूप संसार के राष्ट्रों की कमर टूट गई थी, उनमें माल खरीदने की शक्ति बची ही नहीं थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं को युद्ध के पूर्व की स्थिति में पहुँचाने की दृष्टि से जो मुद्रा संकुचन नीति अपनाई, उसका भी जनता की क्रय शक्ति को कम करने का प्रभाव हुआ। साथ ही साथ १९२०-२१ में भारत के रुपये का विनिमय-दर बहुत गिर गया जिससे उन आयात के व्यापारियों के सामने, जिन्होंने ऊँचे विनिमय-दर की आशा लगा रखी थी, एक संकट उपस्थित

जहां तक निर्यात व व्यापारियों का सम्बन्ध था पहले के ऊँचे विनिमय दर का पूरा प्रभाव उनको भी अब मालूम पड़ा। बाद में सन् १९२४ में जब रुपये का विनिमय दर फिर बढ़ गया तो उसका असर भी मंदी को बढ़ाने का ही हुआ, क्योंकि रुपये के विनिमय दर के बढ़ जाने से भारत के बाजारों में विदेशी माल की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ गई। जब सन १९२९ में विश्वव्यापी आर्थिक मंदी की शुरूआत हुई तो भारतीय आर्थिक जीवन पर भारत के कृषि प्रधान देश होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक बुरा असर पड़ा। कृषि-पदार्थों की कीमतें गिर जाने का प्रभाव भारतीय उद्योगों पर भी अच्छा नहीं हुआ। विदेशी राष्ट्रों की अपनी अपनी मुद्राओं के मूल्य घटाने की और दूसरे देशों में कृत्रिम सस्ते भावों पर माल बेचने की नीति के कारण भी भारतीय उद्योगों को विदेशी प्रतिद्वन्द्विता और कठिन समय का सामना करना पड़ा। अस्तु, कुल मिलाकर यह कहना गलत न होगा कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारतीय उद्योग के क्षेत्र में जो मन्दी आरम्भ हुई वह १९२९ के संसारव्यापी मंदी तक बराबर चलती रही। इसका यह अर्थ लगाना तो ठीक नहीं होगा कि इस सारे काल में आर्थिक जीवन के विभिन्न अंगों की स्थिति में सर्वथा समानता थी। विभिन्न उद्योगों की विभिन्न समय विभिन्न परिस्थितियां रही हैं। पर सामान्यतया यह कहना ठीक है कि युद्ध के बाद से भारतीय उद्योग की स्थिति बिगड़ती ही रही और इसी बीच में १९२९ की मंदी का आरम्भ हो गया।

इस प्रथम महायुद्ध के बाद के समय में हमारे देश के औद्योगिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना भारत की तत्कालीन सरकार द्वारा, अक्टूबर १९२१ में स्थापित अर्थ आयोग (फिस्कल कमीशन) की सिफारिश पर, संकुचित औद्योगिक संरक्षण (डिस्क्रिमिनेटिंग प्रोटेक्शन) की नीति को अपनाना था। युद्ध के पूर्व की सरकार की अहस्तक्षेप की नीति में इस प्रकार का परिवर्तन देश की औद्योगिक प्रगति की दृष्टि से कहाँ तक पर्याप्त था यह एक अलग प्रश्न है, जिस पर आगे चल कर विचार किया जाएगा। यहाँ तो इतना सा संकेत कर देना यथेष्ट होगा कि संरक्षण की इस नीति के फलस्वरूप कुछ उद्योगों को संरक्षण मिला और उससे उनको युद्धोत्तर मंदी का सामना करने में सहायता मिली। इस प्रकार के उद्योगों में लोहे और इस्पात का उद्योग, सूती कपड़े का उद्योग, शक्कर का उद्योग, कागज का उद्योग और दियासलाई का उद्योग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मन्दी के उपरान्त स्थिति में सुधार तथा बिगाड़—१९२९ में आरंभ होने वाली आर्थिक मंदी ने समस्त संसार और उसके साथ साथ भारत

आर्थिक जीवन को पूरी तौर से अस्तव्यस्त कर दिया। सन् १६३२ में और उसके बाद इस मंदी के समाप्त होने के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। भारत इस दृष्टि से कोई अपवाद नहीं था। लोहे और इस्पात, सूती कपड़े, सीमेंएट, शकर, पटसन और कागज के उद्योग-धंधों का उत्पादन बहुत कुछ बढ़ा। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस प्रगति में संरक्षण का बड़ा हाथ था। सन् १६३१ से भारत का बहुत-सा सोना विदेशों को जाने लगा और उसके बदले में जो रुपया प्राप्त हुआ वह उद्योग-धंधों में लगाया जाने लगा। इसके अलावा देश में स्वदेशी की जो भावना जाग्रत हो चुकी थी उससे भी हमारी औद्योगिक उन्नति को बहुत सहायता मिली। कृषि-पदार्थों के मूल्य बढ़ने से देश की ग्रामीण जनता की क्रय-शक्ति में वृद्धि हुई और इस कारण से उनमें औद्योगिक पदार्थों की मांग भी बढ़ी। इन सब बातों का असर औद्योगिक दृष्टि से अच्छा हुआ और देश के स्कंध बाजार (स्टाक एक्सचेंजों) के लेन-देन में इस औद्योगिक उन्नति के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इतना ही नहीं, सारी स्थिति अति की ओर जाने लगी और अत्यधिक आशावाद के कारण सट्टे तथा बिना सोचे-समझे व्यापार करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होने वाला था कि देश के आर्थिक जीवन को फिर धक्का लगे। सन् १६३७-३८ में जब सारे संसार को इस प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा तो भारत भी उससे न बच सका। जब सन् १६३६ में दूसरा विश्व-युद्ध आरंभ हुआ तो स्थिति ने पलटा खाया। भारत इस स्थिति का वास्तव में कितना लाभ उठा सका इस विषय में अब विचार किया जाएगा।

दूसरा महायुद्ध और हमारी औद्योगिक उन्नति—जैसा कि स्वाभाविक था, दूसरे महायुद्ध के कारण भारतीय उद्योग-धन्धों के विकसित होने का एक अच्छा अवसर फिर इस देश को प्राप्त हुआ। इस बार की स्थिति प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा भी कुछ अंशों में अधिक अच्छी थी। जापान के युद्ध में शामिल होने से और बर्मा तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया तक उसके बढ़ आने से पूर्वी युद्ध-क्षेत्र को अपने आप में स्वावलंबी होना आवश्यक था, और पूर्वी युद्ध-क्षेत्र में भारत का महत्वपूर्ण स्थान था। इस सबका परिणाम यह होना चाहिये था कि भारत के उद्योग-धंधों में जल्दी से जल्दी और अधिक से अधिक प्रगति की जाती; पर वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। भारत की विदेशी सरकार का अब भी वही पुराना संकुचित दृष्टिकोण था। भारत में १६४० में 'ईस्टर्नग्रुप कान्फ्रेंस' का आयोजन इस उद्देश्य से किया गया था कि पूर्व के देशों को यथा-संभव युद्ध-सामग्री के मामले में स्वावलंबी बनाया जासके। इसी प्रकार डा० ग्रेडी के नेतृत्व में अमरीकन

मोटरें आदि मंगा रही थी। सारांश यह है कि युद्ध के आरंभ में भारत की विदेशी सरकार की नीति देश में बड़े-बड़े उद्योगों को, जो भारतीयों द्वारा संचालित और व्यवस्थित हों, प्रोत्साहित और विकसित करने की नहीं थी। १६४१ के अन्त तक रासायनिक और धातु संबंधी तथा दूसरे भारी उद्योगों का बहुत ही छोटे पैमाने पर आरंभ मात्र हो सका था। औद्योगिक विकास में उपयुक्त मशीनों और टेक्नीकल लोगों की कमी के कारण बराबर कठिनाई होती रही और उनको हल करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। यातायात की कठिनाई भी रही।

द्वितीय महायुद्ध के समय भारत के औद्योगिक विकास के मार्ग में जो कुछ प्रमुख कठिनाइयां उपस्थित हुईं उनका हमने ऊपर उल्लेख किया है। इस कारण से जितनी औद्योगिक उन्नति इस देश में हो सकती थी उतनी अवश्य नहीं हो सकी। पर फिर भी किसी हद तक युद्ध ने औद्योगिक उन्नति में सहायता पहुँचाई, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। कई उद्योग-धन्धों में—जो पहले से ही मौजूद थे—अधिक से अधिक संभव उत्पादन होने लगा और प्रायः एक से अधिक पालों में काम होने लगा। जिन पुराने उद्योगों को प्रोत्साहन मिला उनमें से खास-खास के नाम ये हैं—वस्त्र-उद्योग, जूट-उद्योग, कागज का उद्योग, चाय का उद्योग, शकर का उद्योग, लोहे और इस्पात का उद्योग, कोयले का उद्योग, सीमेण्ट का उद्योग। इनमें से कुछ उद्योगों की स्थिति उतनी अच्छी नहीं रही जितनी दूसरे उद्योगों की। उदाहरण के लिए कोयले तथा शकर के उद्योगों को कई कठिनाइयाँ रहीं। कई उद्योगों में नई मशीनें लगाई गई और कुछ आधार भूत उद्योगों की स्थापना हुई। छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योगों का भी काफी प्रसार हुआ और अनेकों प्रकार का सामान तैयार होने लगा। कई नए उद्योगों का भी, या ऐसे उद्योगों का जो सर्वथा प्रारंभिक अवस्था में थे, युद्ध-काल में विकास हुआ। जैसे—हवाई जहाज तैयार करने वाली हिन्दुस्तान एयरक्रैफ्ट फैक्टरी की १६४० में स्थापना हुई। इसी प्रकार एलूमिनियम उद्योग की शुरुआत भी इसी समय हुई। म्यूनिशन्स (युद्ध-सामग्री) और शस्त्रों के उद्योग को युद्ध के समय काफी प्रोत्साहन मिलना बिल्कुल स्वाभाविक था। रोजर मिशन ने, जो १६४० में भारत में आया, युद्ध-सामग्री संबंधी उद्योग-धन्धों के विकास की सिफारिश की, जिसके परिणामस्वरूप कई करोड़ रुपये खर्च करके मौजूदा कारखानों का विस्तार किया गया और कई नए कारखाने बन्दूकों, गोलों, कारतूसों, बम गोलों और अन्य चीजों का उत्पादन करने के लिये स्थापित किये गए। रासायनिक पदार्थ, जैसे सलफ्युरिक एसिड, क्लोराइन, बोरिक एसिड और

ः कि द्वितीय महायुद्ध का औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से बहुत लाभ
जा सका। और इस असंतोषजनक स्थिति का मूल कारण एक ही
था हमारी पराधीनता।

दूसरे महायुद्ध के उपरान्त हमारी औद्योगिक उन्नति—गत महायुद्ध ने किस हद तक देश की औद्योगिक प्रगति में सहायता दी, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। युद्ध के पश्चात् देश की आर्थिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया जाय और प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्रीय विकास की योजनाएँ लागू की जाएँ, इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी। युद्धोत्तर पुनर्निर्माण की केन्द्रीय और तत्कालीन प्रान्तीय सरकारों ने योजनाएँ तैयार कीं। औद्योगिक उन्नति से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ गैरसरकारी योजनाएँ भी प्रकाशित हुईं—जैसे बिड़ला-योजना जिसे बोम्बे योजना भी कहा जाता है, गांधीवादी योजना, जनता-योजना आदि। यह सब होते हुए भी अभी तक आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से हमारा देश किसी निश्चित मार्ग पर चल पड़ा हो यह नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक औद्योगिक उन्नति का सम्बन्ध है वह भी गत महायुद्ध के बाद एक प्रकार से अवरुद्ध ही रही है।

भारत के विभाजन का प्रभाव—गत महायुद्ध के पश्चात् इस देश के जीवन में दो ऐसी ऐतिहासिक और महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटी हैं जिनका असर हमारे आर्थिक और औद्योगिक जीवन पर बहुत गहरा पड़ा है और आगे पड़ेगा भी। एक घटना है देश के स्वतन्त्र होने की और दूसरी घटना है देश के विभाजन की। जहाँ देश की स्वतन्त्रता के कारण हमारे भाग्य के हम स्वयं निर्माता बन गए हैं और अपनी इच्छानुसार राष्ट्र की प्रगति कर सकते हैं, वहाँ देश के विभाजन के कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन की बड़ी हानि हुई है और उसकी प्रकृति-दत्त संपूर्णता को भारी धक्का लगा है। देश के विभाजन से भारत के आर्थिक जीवन पर क्या क्या असर पड़ा है इसके बारे में हम विस्तार से तो अलग लिखेंगे; यहाँ तो केवल कुछ मोटी-मोटी बातों का संकेत मात्र करेंगे। विभाजन के कारण लाखों आदमी एक देश से दूसरे देश को अत्यन्त अशांति और विवशता की हालत में आये। इसका असर दोनों ही देशों की जनसंख्या के पेशेवार बटवारे पर पड़ा और लाखों मनुष्यों को आर्थिक बर्बादी का सामना करना पड़ा। स्पष्ट है, इसका असर आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से बहुत बुरा पड़ा। देश के बटवारे का दूसरा बुरा असर यह पड़ा कि कपास तथा जूट जैसे महत्त्वपूर्ण कच्चे माल के लिये भारत पाकिस्तान पर बहुत कुछ निर्भर होगया। जूट की सब मिलें हिन्दुस्तान में आगईं पर जूट पैदा करने वाली अविभाजित भारत की केवल एक चौथाई भूमि हिन्दु-

को मिली। इसी प्रकार अविभाजित भारत की ६६% पटसन की मिलें भी हिन्दुस्तान में हैं पर १० लाख बेल लम्बे तथा बारीक रेशे के कपास के लिए भारत पाकिस्तान पर निर्भर है। पश्चिमी पंजाब और सिंध के पाकिस्तान में होने से सिंचाई का कई बड़ी बड़ी नहरें भारत में आज नहीं रहीं और सिंध और पश्चिमी पंजाब जैसे खाद्यान्न उत्पन्न करनेवाले प्रदेशों के भारत से अलग होजाने का असर हमारी खाद्यस्थिति पर बुरा पड़ा। खनिज पदार्थों के उत्पादन का जहाँ तक सम्बन्ध है ६७% भारत और केवल ... पाकिस्तान में होता है। पाकिस्तान में कोयले और लोहे का बड़ा अभाव है। तात्पर्य यह है कि देश के बँटवारे से भारत के औद्योगिक विकास के लिए कई प्रश्न उपस्थित हो गए हैं यद्यपि कुल उद्योग धन्धों ... ९०% कारखाने भारत में और केवल ९% पाकिस्तान में हैं।

देश के इस बँटवारे की पृष्ठभूमि में यदि हम युद्धोत्तर भारत की औद्योगिक प्रगति का विचार करें तो हम देखेंगे कि युद्ध के समय जो उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिला वह बाद में स्थायी नहीं रह सका। कई इसके कारण इकट्ठे होगए जैसे यातायात की कठिनाई, उद्योगपतियों और मजदूरों के आपसी सम्बन्धों में खिंचाव और बिगाड़, कच्चे माल की कमी और उसके प्राप्त करने और बाँटने के तरीकों में पाए जाने वाले दोष, मशीन आदि पूँजी वस्तुओं को प्राप्त करने और इमारत के सामान मिलने की कठिनाई तथा टेकनिकल लोगों की कमी, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश में धीरे धीरे एक औद्योगिक संकट पैदा होने लगा। इसी बीच में १५ अगस्त १९४७ को हम स्वतन्त्र हुए और राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हुआ। उस समय देश की औद्योगिक स्थिति अच्छी नहीं थी और दिसम्बर १९४७ में जो उद्योग धन्धों का सम्मेलन हुआ उसने यह अनुभव किया कि देश में चारों ओर उत्पादन क्रिया में शिथिलता आरही है। इस सम्मेलन ने इस प्रश्न पर विचार किया और राष्ट्रीय सरकार के सामने कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किये। राष्ट्र के नेताओं और मन्त्रियों ने जो वक्तव्य समय समय पर दिये और राष्ट्रीयकरण का जो वातावरण पैदा किया जाने लगा उससे भी देश के आर्थिक जीवन में एक प्रकार की अस्थिरता आ गई थी। विनियोग बाजार में मन्दी का साम्राज्य था और आर्थिक तथा औद्योगिक प्रगति का मार्ग रुक सा गया था। उद्योग धंधों सम्बन्धी सम्मेलन ने इसलिए यह सिफारिश की कि सरकार को अपनी औद्योगिक नीति को स्पष्ट घोषित करनी चाहिये और राजकीय तथा व्यक्तिगत उत्पादन के क्षेत्रों को सुनिश्चित

कर देना चाहिये। इसी उद्देश्य को लेकर ६ अप्रेल, १९४८ को भारत-सरकार ने अपना औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव प्रकाशित किया।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति:—देश की भावी औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से इस प्रस्ताव के महत्त्व को देखते हुए इसके सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से लिखना आवश्यक है। इस प्रस्ताव में सरकार ने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के आदर्श को स्वीकार किया है जिसमें सब व्यक्तियों को समान रूप से न्याय और विकास का अवसर मिल सके। पर तत्काल उनका उद्देश्य लोगों के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाना और इस दृष्टि से देश के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग करना, उत्पादन बढ़ाना और सब को राष्ट्र की सेवा में काम देना है। सरकार ने इसके लिए आर्थिक योजना के महत्त्व को स्वीकार किया और एक प्लानिंग कमीशन नियुक्त करने के अपने विचार का प्रकाशन किया। सरकार ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि देश की मौजूदा अवस्था में उत्पादन बढ़ाने का और खास तौर से उत्पादक वस्तुओं और निर्यात की वस्तुओं की उत्पादन-वृद्धि का बड़ा महत्त्व है। साथ ही साथ न्यायपूर्ण बटवारे की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया। सरकार ने यह भी माना कि भविष्य में औद्योगिक उन्नति के सम्बन्ध में उसको अधिकाधिक क्रियात्मक भाग लेना पड़ेगा ; पर राज्य के पास जो धन और जन सम्बन्धी साधन हैं उनका इस मामले पर बराबर ध्यान रखना होगा। जहाँ तक राज्यकीय और व्यक्तिगत उत्पादन दोनों के बटवारे का प्रश्न है, उद्योग-धंधों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। पहली श्रेणी में वे उद्योग आते हैं जो केवल राज्य द्वारा ही संचालित किये जाएँगे—जैसे शस्त्र और सैनिक सामग्री [एम्यूनिशन] सबंधी उद्योग, एटोमिक शक्ति का उत्पादन और नियंत्रण, तथा रेलवे-यातायात। संकट-काल में राज्य को हमेशा यह अधिकार होगा कि राष्ट्रीय रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण किसी भी उद्योग को वह अपने अधिकार में करले। दूसरी श्रेणी में उन उद्योगों की गिनती होती है जो जहाँ तक उनके क्षेत्र में नए कारखानें खोलने का प्रश्न है राज्य के लिए ही सुरक्षित हैं, यद्यपि राज्य को, यदि राष्ट्र के हित में आवश्यक मालूम पड़े तो, आवश्यक नियंत्रण के साथ व्यक्तिगत उत्पादन का सहयोग लेने का भी अधिकार होगा। कोयला, लोहा, इस्पात, हवाई जहाज-निर्माण, जहाज-निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ और वायरलेस एपरेटस का उत्पादन [रेडियो रिसीविंग सेट के अलावा], और जमीन में से निकलने वाले तेल सम्बन्धी उद्योग इस श्रेणी में आते हैं। इन उद्योगों से सम्बन्ध रखने वाले जो मौजूदा कारखाने आदि हैं उनका दस वर्ष तक राष्ट्रीयकरण नहीं होगा

और उनको भले प्रकार चलने और उचित विस्तार के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ दी जायँगी। दस वर्ष के बाद इस बारे में विचार किया जाएगा और यदि सरकार किसी कारखाने का राष्ट्रीयकरण करेगी तो उचित मुआवजा दिया जायगा। राज्यकीय उद्योगों के प्रबन्ध के लिए राज्य से कानूनी नियंत्रण में पब्लिक कारपोरेशन स्थापित किये जाएँगे जिन पर सरकार का आवश्यक नियंत्रण होगा। बिजली की शक्ति का उत्पादन और वितरण इस सम्बन्ध में बने कानून के अनुसार होगा। इस कानून के अन्तर्गत सेन्ट्रल इलेक्ट्रिसिटी कमीशन कायम किया जा चुका है। तीसरी श्रेणी में बाकी के सब उद्योग शामिल हैं और व्यक्तिगत उत्पादन के लिए उनमें पूरी स्वतंत्रता है, पर राज्य भी इस क्षेत्र में अधिकाधिक भाग लेगा और यदि उद्योग धन्धों की भावी उन्नति के लिए आवश्यक मालूम पड़ेगा तो राज्य को हस्तक्षेप करने में भी संकोच नहीं होगा। इस सम्बन्ध में दामोदर घाटी-योजना, हीराकुंड बाँध आदि का उल्लेख किया गया था।

उपर्युक्त तीनों श्रेणियों के अलावा कई ऐसे आधारभूत धन्धे हैं जिनका आयोजन और नियंत्रण राष्ट्रीय हित में केन्द्रीय सरकार द्वारा होना आवश्यक समझा गया। इन धन्धों में पूँजी बहुत चाहिए, ऊँचे दर्जे का टैकनिकल कौशल चाहिये और उनकी स्थिति का देशव्यापी महत्त्व के आर्थिक कारणों को ध्यान में रखकर निश्चय करना चाहिये। नमक, मोटर ट्रैक्टर, इलेक्ट्रिक एंजीनियरिंग, मशीन टूल्स, भारी रासायनिक पदार्थ, खाद, ऊनी-सूती वस्त्र उद्योग, सीमेन्ट, शकर, कागज, खनिज पदार्थ, रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले उद्योग, हवाई और समुद्री यातायात, अलोह धातु आदि उद्योगों का समावेश इस श्रेणी में होता है। इन उद्योगों के सम्बन्ध में भारत सरकार राज्य की सरकारों, तथा उद्योग-पतियों और मजदूरों के प्रतिनिधियों से भी सलाह करेगी यह भी स्पष्ट किया गया था। औद्योगिक नीति सम्बन्धी इस प्रस्ताव में गृह और छोटे पैमाने के उद्योग धन्धों के महत्त्व को स्वीकार किया गया और केन्द्र में गृह उद्योग मंडल स्थापित करने का विचार किया गया। देश भर में सहकारी आधार पर छोटे छोटे उद्योग स्थापित करने पर जोर दिया गया। मजदूर और मालिक के सम्बन्ध को ठीक करने पर भी जोर दिया गया और इस दृष्टि से मजदूरों को उचित मजदूरी तथा लाभ में हिस्सा और पूँजी को उचित पुरस्कार मिले यह आवश्यक माना गया। एक केन्द्रीय सलाहकार समिति स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया और उसी प्रकार राज्यों में समितियाँ बनाने की बात सोची गई। केन्द्रीय और राज्य की सलाहकार समितियों के नीचे देश भर या राज्य भर के लिए

खास-खास उद्योगों के लिए कमेटी बनाने का निश्चय हुआ। प्रान्तीय समितियों के नीचे हर बड़े कारखाने के साथ एक मजदूर-समिति और एक उत्पादन-समिति कायम करने का प्रस्ताव किया गया। केन्द्रीय और राज्य की समितियों में सरकारी, उद्योग और मजदूर तीनों के प्रतिनिधि और बाकी की दो समितियों में [मजदूर-समिति और उत्पादन समिति] मिल मालिकों और मजदूरों के बराबर प्रतिनिधि रहेंगे, ऐसा निश्चय किया गया। मिल मालिकों और मजदूरों के सम्बन्ध इस तरह से अच्छे रह सकेंगे, यह आशा की गई। स्थायी इण्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल बनाने की कार्रवाई भी की गई। औद्योगिक मकान-व्यवस्था में सुधार करने पर भी जोर दिया गया। विदेशी पूँजी की देश को आवश्यकता है, यह स्वीकार किया गया। इस सम्बन्ध में एक कानून बनाने का प्रस्ताव किया गया जिसमें इस बात का अवश्य समावेश हो कि विदेशी पूँजी लगे उद्योगों का वास्तविक नियंत्रण और स्वामित्व भारतीय हाथों में रहे। अन्तिम बात इस प्रस्ताव में टेरिफ नीति के बारे में कही गई कि अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाएगा और उपभोक्ताओं पर बिना अनुचित भार डाले भारत के साधनों का उपयोग किया जाएगा।

औद्योगिक नीति सम्बन्धी इस प्रस्ताव को ध्यान से देखने पर मालूम होगा कि सरकार के सामने एक ओर तो यह उद्देश्य है कि देश का उत्पादन बढ़े और दूसरी ओर पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित करके एक मिली-जुली अर्थव्यवस्था कायम करने की इच्छा है। मिली-जुली अर्थव्यवस्था का विचार तो कोई नया नहीं है, बल्कि जो व्यवस्था आज चल रही है वह भी मिली जुली व्यवस्था ही है। पर इस प्रस्ताव की विशेषता इस बात में है कि यह पहले से ही निश्चित कर दिया गया है कि अमुक-अमुक धंधे तो राज्य द्वारा ही संचालित होंगे। इस बटवारे के पीछे सरकार का दृष्टिकोण तो यह था कि व्यक्तिगत उत्पादन के लिए एक प्रकार की जो अनिश्चितता अब तक रही है वह दूर हो जाय। पर वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। यद्यपि कुछ उद्योगों के बारे में यह स्पष्ट हो गया कि उनका संचालन सरकार द्वारा ही होगा, पर दूसरे उद्योगों के बारे में यह स्पष्ट नहीं कहा गया कि उनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करेगा। पूँजी-पतियों के लिये अनिश्चितता का यह एक बड़ा आधार हो गया।

भारत सरकार की उपर्युक्त औद्योगिक नीति को घोषित हुए आज तीन साल हुए। पर इन तीन वर्षों में देश में औद्योगिक उन्नति के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुए। यह ठीक है कि जो उद्योग-धन्धे स्थापित हैं वे चल रहे हैं और कुछ उद्योगों को—जैसे सूती कपड़े का उद्योग, ऊनी कपड़े का उद्योग, मशीन-टूल-

उद्योग, जूट उद्योग आदि को छोड़कर बाकी के खास खास उद्योगों का उत्पादन पिछले चार सालों में थोड़ा बहुत बढ़ा है। कोयला सीमेंट, इस्पात, एल्यूमिनियम, रसायन-पदार्थ, बिजली का सामान, शक्कर, कागज के उद्योग इस श्रेणी में आते हैं। सीने की मशीन और बाइसिकलों के उत्पादन में तो काफी वृद्धि हुई है। परंतु चालू उद्योगों के उत्पादन में थोड़ी बहुत वृद्धि होना एक बात है और औद्योगिक प्रगति दूसरी। नए-नए उद्योगों के विकास और मौजूदा उद्योगों में नए कारखानों की स्थापना के लिए आज कोई प्रयत्न नहीं होरहे हैं और विनियोग बाजार में शिथिलता छाई हुई है। औद्योगिक विकास की दृष्टि से इस असन्तोषजनक स्थिति के लिए जिम्मेदार कौन है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

इस सम्बन्ध में एक बात यह कही जाती है कि भारत सरकार की औद्योगिक नीति व्यवहार में सुनिश्चित नहीं रही है और उसमें और राज्य की सरकारों की नीति में सामन्जस्य का अभाव रहा है। कभी कभी भारत सरकार के ही विभिन्न विभागों में सामन्जस्य का अभाव देखने को मिला है। इन बातों के उदाहरण स्वरूप जैसे यह कहा जाता है कि यद्यपि भारत सरकार कहने को यह कहती रही है कि सरकार के पास राष्ट्रीयकरण के लिये आज आवश्यक साधन नहीं हैं, पर व्यवहार में कुछ राज्यों की सरकारों ने बिजली उत्पादन करने वाली कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की दिशा में कदम उठाया है। इसी प्रकार सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की बात है। भारत सरकार की योजना में सड़क-यातायात के राष्ट्रीयकरण को स्थान नहीं होते हुए भी राज्यों की सरकारों ने सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण का कदम उठाया है। भारत सरकार हवाई यातायात-कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर भी विचार कर रही है। इसके अलावा भारत सरकार और राज्य की सरकारों ने सरकारी तौर पर कई उद्योग धन्धे भी स्थापित किये हैं और करने की योजना भी है। जैसे भारत सरकार दो लोहे और इस्पात के कारखाने और मशीन टूल उद्योग का एक कारखाना स्थापित करने की सोच रही है। सिंदरी खाद फैक्टरी की स्थापना भी भारत सरकार ने की है। सारांश यह है कि केन्द्रीय और राज्य की सरकारों की इस नीति के परिणाम स्वरूप व्यक्तिगत उत्पादन के क्षेत्र में एक प्रकार की अनिश्चितता रही है और उसका असर देश की भावी औद्योगिक उन्नति पर बुरा पड़ रहा है। भारत सरकार ने उद्योग धन्धों के नियन्त्रण के सम्बन्ध में जो बिल पार्लियामेंट में पेश किया है उसे भी व्यवसायी वर्ग ने बहुत आपत्तिजनक बताया है। उनके विरोध के कारण उसमें कुछ संशोधन भी किये गए हैं पर पूँजीपति वर्ग अभी संतुष्ट नहीं है। खास तौर से उद्योग धन्धों की स्थिति के नियन्त्रण के बारे में भी उनका विरोध

है। परन्तु हमारा ऐसा विचार है कि सरकारों के ऊपर इस तरह से दोष डालकर पूंजीपति वर्ग अपने दायित्व और दोषों से बचने का प्रयत्न करता है। वास्तविक स्थिति यह है कि इस देश के व्यवसायी वर्ग ने देश के प्रति अपने दायित्व को बिल्कुल नहीं निभाया है। कभी राज्य की नीति की आड़ में और कभी मजदूरों की अनुचित मांगों और उनके कारण बढ़ने वाली उत्पादन-लागत की आड़ में उसने अपने कर्तव्य की बराबर अवहेलना की है। उन्होंने अपने कल-कारखानों में नवीनतम मशीनें लगाने और योग्य टेकनिकल लोगों की सेवाएँ लेने में बराबर ढिलाई की है। आज भी इस देश का पूंजीपति वैज्ञानिक खोज पर रुपया खर्च करना अपव्यय समझता है। प्रबंध, हिसाब और बिक्री के क्षेत्र में जो नई-नई पद्धतियां निकल रही हैं उनका वह उपयोग करने की चिन्ता नहीं करता। साहस-पूर्वक नए-नए क्षेत्रों में उत्पादन करने का वह कोई प्रयत्न नहीं करता और अपनी पूंजी और लाभ का उपयोग परिकल्पनात्मक कामों में करता है। व्यावसायिक नैतिकता का उनका स्तर बहुत ही नीचा है। मजदूरों के साथ आज भी वह उदारता और न्याय का व्यवहार नहीं करना चाहते। इन सब बातों का अर्थ यह है कि भारत का व्यवसायी राष्ट्र निर्माण के काम में अपना उचित योग देने को आज तैयार नहीं है। और जनतंत्रीय शासन में सरकार पर जन-कल्याण की दृष्टि से जो बड़ी हुई जिम्मेदारियां आती हैं और जिनके कारण देश के आर्थिक जीवन में उसे अधिकाधिक क्रियाशील होना पड़ता है, उस परिस्थिति से अभी वह अपना मेल नहीं बिठा सका है। आज तो ऐसा लगता है कि भारत का व्यवसायी वर्ग अपने लाभ को सुरक्षित रखने के लिए सरकार से एक छिपा हुआ संघर्ष कर रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि यह अपने राष्ट्रीय कर्तव्य को समझे और जन-कल्याण और देश के आर्थिक नवनिर्माण में उचित योग दे। इसका यह अर्थ नहीं है कि सरकार की नीति में कोई दोष ही नहीं रहा है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि विभिन्न सरकारें देश के आर्थिक जीवन का जहां तक सम्बन्ध है एक सी नीति बरतें और उनका आपस में पूरा-पूरा सहयोग हो। इसके अलावा विभिन्न कामों के बीच में आज हमें प्राथमिकता निश्चित करने की बड़ी आवश्यकता है। हमारे सामने काम बहुत हैं और हमारे साधन सीमित हैं। ऐसी दशा में हमें किस काम को पहले करना है और किस को बाद में यह सोच-विचार कर निश्चय करना चाहिये। इस बात की भी आवश्यकता है कि सरकार के आर्थिक निर्णय स्थिर हों। इस बात की अभी तक बड़ी कमी रही है। देश की नियंत्रण-व्यवस्था अथवा जो बड़ी-बड़ी बहु उद्देश्यीय योजनाएँ (दामोदर घाटी योजना, हीराकुड बांध आदि) आज चल रही हैं, उनके संबंध

में सरकार की नीति में उतार चढ़ाव आते रहे हैं। इसका असर आर्थिक जीवन पर घातक पड़ता है। इस बात की भी आवश्यकता है कि सरकारी उद्योगों के संचालन का काम साधारण राज्य कर्मचारी वर्ग के लोगों को, जो स्वभाव और शिक्षा तथा अनुभव से केवल दफ्तर का काम करने के अभ्यस्त हैं, न सौंपे, बल्कि इस क्षेत्र के जानकार लोगों के हाथ में यह काम दे। इसके लिए देश में एक नए कर्मचारी वर्ग (इकोनोमिक सर्विस) का निर्माण करना होगा। देश में टेकनिकल आदमियों की भी बड़ी कमी है। इस कमी को भी पूरा करना होगा और यह देखना होगा कि जो टेकनिकल आदमी तैयार होते हैं वे देश की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किये जाते हैं।

उपर्युक्त विवरण का सार यह है कि देश की औद्योगिक उन्नति के लिए एक सुव्यवस्थित और सुनिश्चित योजना की आवश्यकता है और उस योजना को कार्यान्वित करने में राज्य, उद्योगपति और मजदूरों का आपस में पूरा-पूरा सहयोग जरूरी है। देश को एक ओर तो इस बात की जरूरत है कि उसके निवासियों को खाने, कपड़े और मकान आदि की प्रारंभिक आवश्यकताओं की तत्काल पूर्ति हो, दूसरी ओर ऐसे आधार भूत उद्योगों के विकास का प्रश्न है जो आधुनिक ढंग की औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक हैं। और यह सब आज की आर्थिक स्थिति की पृष्ठभूमि में हमें करना है जब कि चीजों के दाम बराबर बढ़ते आ रहे हैं, विनियोग पूंजी का देश में अकाल सा है, टेकनिकल और मशीनों आदि पूंजी वस्तुओं के लिए हम विदेशों पर बहुत निर्भर रहना पड़ता है, जन संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है और खाने-कपड़े का प्रश्न तत्काल हल करने की आवश्यकता है। इन तमाम परिस्थितियों में से निकल कर सफल आर्थिक और औद्योगिक नीति का निर्माण करना हमारी सबसे बड़ी आर्थिक आवश्यकता है। मार्च १९५० में इसी उद्देश्य से भारत सरकार ने योजना आयोग (प्लानिंग कमीशन) की स्थापना की है। इसका काम होगा देश के समस्त जन और धन संबंधी साधनों का अभिनिर्धारण (एसेसमेंट) करना और अपर्याप्त साधनों में अभिवृद्धि की संभावनाओं की जांच करना तथा उन साधनों का सर्वश्रेष्ठ और संतुलित उपयोग करने की दृष्टि से एक योजना तैयार करना। वह यह भी निश्चय करेगा कि इस योजना के विभिन्न अंगों में प्राथमिकता का क्रम क्या होगा और उस आधार पर साधनों का बटवारा कैसे करना होगा। देश की आर्थिक उन्नति में जो बाधाएं आ रही हैं उनके निराकरण का मार्ग भी ढूंढना होगा ताकि उक्त योजना सफलतापूर्वक कार्यान्वित हो सके। योजना को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त व्यवस्था पर भी यह आयोग विचार करेगा।

अन्त में इस योजना-आयोग का काम योजना ठीक-ठीक कार्यान्वित होरही है, इसको देख रेख करना भी होगा और इस बारे में वह सरकार को बराबर आवश्यक सुझाव भी देता रहेगा।

योजना-आयोग की रिपोर्ट शीघ्र ही (मई १९५१) प्रकाशित होने की आशा है। अपने काम को करने के लिए उसने राज्यों से आवश्यक जानकारी प्राप्त की है और उनकी योजनाओं को देश व्यापी आधार से जांचा और उनका समन्वय किया है। हम आशा करते हैं कि इसके प्रयत्नों के फलस्वरूप देश का आर्थिक भविष्य उज्ज्वल होगा। देश को औद्योगीकरण से क्या-क्या लाभ होंगे अब हम इस विषय में थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे और इस सम्बन्ध में जो विचार प्रचलित हैं उनका मूल्यांकन भी करेंगे।

औद्योगीकरण से लाभः—प्रायः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या भारत के लिए औद्योगीकरण लाभप्रद होगा। यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि औद्योगीकरण से तात्पर्य बड़े बड़े उद्योग-धंधों की स्थापना से है। अस्तु, हमें आधुनिक उद्योग-धंधों और भारत की दृष्टि से उनका क्या उपयोग है, इस विषय पर थोड़ा विचार करना चाहिये।

कई बार आधुनिक उद्योग-धंधों की बिना सोचे-समझे विभिन्न कारणों को लेकर बहुत आलोचना होती हुई देखी गई है। इस प्रकार की आलोचनाओं का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए जो मालूम होगा कि विचारों की अस्पष्टता उनका एक बड़ा आधार है। एक उदाहरण लीजिए। जो लोग आधुनिक उद्योगों के पक्ष में नहीं हैं उनकी ओर से एक बात यह कही जाती है कि भारत में पूँजी का अभाव और श्रम का बाहुल्य होने से बड़े पैमाने के उद्योग उसके लिए उपयुक्त नहीं हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि श्रम और पूँजी सम्बन्धी कारणों को इस प्रकार जोड़ना उचित नहीं है। यह एक अलग बात है कि चूँकि भारत में श्रम की अधिकता है इसलिए हम ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन न दें जिनमें अधिकांश काम मशीनों द्वारा ही हो जाता हो और जिनमें मजदूरों के लिए अपेक्षाकृत कम जगह हो। पर भारत जैसे प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न देश के लिए केवल द्रव्य पूँजी (मनी केपिटल) की कमी के कारण यह राय बनाना कि आधुनिक उद्योगों की दृष्टि से उसके पास साधन नहीं हैं, विचार-भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। द्रव्य पूँजी की उपलब्ध मात्रा का असर हमारे देश के औद्योगिक उन्नति की गति पर तो पड़ सकता है पर उसको देश के लिए आधुनिक उद्योगों की उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का आधार बनाना सर्वथा गलत है। चालू पूँजी की स्थिति को

सुधारने का जहाँ तक सवाल है कई उपाय मौजूद हैं। देश की बैंकिंग और साख-व्यवस्था और उस सम्बन्धी नीति में आवश्यक सुधार करने से, उचित शर्तों पर विदेशों से पूँजी उधार ले कर, तथा अनुकूल मुद्रा नीति अपना कर देश की चालू पूँजी की समस्या का हल निकाला जा सकता है। औद्योगिक उन्नति स्वयं ही आगे के लिए अधिक पूँजी प्राप्त करने का एक साधन है। सारांश यह है कि श्रम और पूँजी सम्बन्धी तर्क को एक साथ मिला देना सही नहीं है।

भारत के लिए औद्योगिक प्रसार की आवश्यकता पर विचार करते समय हमारे सामने कई बातें स्पष्ट होनी चाहियें। सबसे मूल बात यह है कि किसी भी देश की आर्थिक व्यवस्था का अंतिम लक्ष्य केवल आर्थिक हित की पूर्ति करना नहीं है बल्कि सम्पूर्ण मानव हित की, आर्थिक हित जिसका एक अङ्ग मात्र है, पूर्ति करना है। हमें अपने समस्त साधनों का इसी दृष्टि से उपयोग करना है। इसी दृष्टि से हमें ये प्रश्न हल करने हैं कि किसी देश में कृषि, गृह उद्योग और बड़े उद्योगों को कितना कितना स्थान मिलना चाहिये। जिसे हम सम्पूर्ण मानव हित कहते हैं उसमें एक तरफ़ तो इस बात का समावेश हो जाता है कि जनता के जीवन यापन का एक स्वस्थ मापदण्ड हो, और दूसरी ओर उसमें यह बात भी आती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास करने का समान और यथेष्ट अवसर हो। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि देश में एक ऐसी न्याययुक्त समाज-व्यवस्था हो जिसमें अधिकतम उत्पादन, न्याययुक्त वितरण और मनुष्यत्व के विकास के लिये उपयुक्त वातावरण—इन तीनों में समुचित सन्तुलन सम्भव हो सके। इसलिए कृषि अथवा उद्योग किसी एक के प्रति पक्ष विपक्ष का भाव लेकर चलना उचित नहीं कहा जा सकता।

दूसरे हमें औद्योगिकवाद और पूँजीवाद के भेद को भी स्पष्ट समझना चाहिये। एक के दोषों को दूसरे के दोषों के साथ न मिलाया जाए। पहले बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग धंधों में क्या-क्या दोष हैं इसी पर विचार किया जाए। बड़े उद्योगों के विरुद्ध एक आम शिकायत यह है कि मिलों में काम करने वाले अधिकांश मजदूरों को ऐसा काम करना पड़ता है जिससे उनकी रचनात्मक शक्ति का विकास नहीं हो सकता और इसलिए उनका काम उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायता नहीं पहुँचाता। पर इस सम्बन्ध में कई बातें स्पष्ट करने की आवश्यकता है। पहली बात तो यह है कि यह दोष केवल बड़े बड़े मशीन-उद्योगों में ही नहीं है। दस्तकारी के एसे बहुत काम हैं जिनके द्वारा काम

करनेवाले की रचनात्मक शक्ति का विकास नहीं होता और जो नीरस होते हैं। इसके अलावा मशीन पर काम करने वालों में मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाने वाले कुछ गुणों का, जैसे बुद्धि, जिम्मेदारी और सावधानी का, अपेक्षाकृत अधिक विकास होता है। उनको इस बात का भी अवसर रहता है कि वर्तमान मशीनों में क्या-क्या सुधार हो सकता है इस विषय में विचार करें। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि आधुनिक मशीन का कई पुरानी हाथ की दक्षताओं और कारीगरियों पर बुरा प्रभाव पड़ा है। पर साथ ही साथ उसने कई ऐसी नई कुशलताओं के लिए रास्ता भी खोल दिया है जिनकी आवश्यकता टेकनिकल योग्यता, विभिन्न प्रकार के उद्योगों में काम कर सकने की उपयुक्तता, नए सुधार सोचने की शक्ति, और निर्णय-बुद्धि के लिए होती है। यह भी सही है कि मशीन के काम में एक हद तक नीरसता है, लेकिन इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि मशीन ने बहुत से थका देने वाले और भारी कामों को अपने ऊपर ले लिया है और एक ही प्रकार की क्रिया को बार-बार दुहराने से जो नीरसता पैदा होती है उसका अन्त कर दिया है। क्योंकि ऐसे कामों को ही मशीन आसानी से कर सकती है। यही कारण है कि इस तरह के नीरस कामों से छुटकारा पाने के लिए मशीन के उपयोग के क्षेत्र को बढ़ाने की आवश्यकता है न कि उसे कम करने की। मशीन से होने वाले कुछ और भी लाभ हैं जैसे काम का जल्दी हो जाना, मनुष्य में कई प्रकार के नए काम करने की शक्ति उत्पन्न होना, श्रम को स्थानान्तर करने की सुविधा बढ़ जाना आदि, जिनको हमें भूलना नहीं चाहिये।

आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों के विरुद्ध सामाजिक हित की दृष्टि से एक आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि उनके द्वारा आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण होता है। इस आपत्ति में बहुत कुछ तथ्य है और यह भी किसी हद तक ठीक है कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण मात्र से यह आपत्ति नहीं मिट जाती। इसका कारण यह है कि जिन व्यक्तियों के हाथ में आर्थिक सत्ता होगी वे उसका अच्छे अथवा बुरे के लिए अवश्य ही उपयोग कर सकेंगे, फिर चाहे वह व्यक्ति स्वतंत्र व्यवसायी हों या समाजवादी सरकार के कर्मचारी। यह भी ठीक ही है कि जब तक मनुष्य-स्वभाव में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हो जाता और मनुष्य राष्ट्र के प्रति अपने नैतिक कर्तव्य की भावना से पूर्णतया ओतप्रोत नहीं होजाता तब तक उसके द्वारा उसके हाथ में केन्द्रित सत्ता के उपयोग की अपेक्षा दुरुपयोग की संभावना अधिक रहेगी। यह ठीक है कि समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत, जबकि मुनाफा-वृत्ति की जगह समाज-सेवा की भावना ले लेगी, समस्त समाज

के वातावरण में एक अवश्य सभावी परिवर्तन होगा जिसका कि प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर अवश्य ही अच्छा होगा। इसके साथ साथ यदि जनसंख्या समाज का समुचित नियन्त्रण भी रहे तो समाजवादी व्यवस्था के अन्दर केन्द्रित आर्थिक सत्ता से उत्पन्न होने वाले खतरे अवश्य ही बहुत कुछ कम हो सकते हैं।

मशीन उद्योगों में कुछ और दोष भी हैं। आज के युग में पाए जाने वाले आर्थिक शोषण, बेकारी और विभिन्न राष्ट्रों के आपसी साम्राज्यवादी झगड़ों का कारण भी आधुनिक उद्योगवाद ही बतलाया जाता है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। यह ठीक है कि आरम्भ में मशीन उद्योगों की स्थापना के साथ साथ मजदूर तथा आम जनता के हितों की रक्षा का ध्यान नहीं रखा जा सका। आर्थिक जीवन का आधार किसी प्रकार की योजना नहीं रही। पर जैसे-जैसे समाज और मजदूर हित के कानून बनने लगे हैं और राज्य ने एक न एक सीमा तक आर्थिक जीवन को आयोजित करने का प्रयत्न करना शुरू किया है, मशीन उद्योगों के साथ साथ उत्पन्न आर्थिक शोषण और बेकारी जैसे दोषों को कम किया जा सका है। यह अवश्य है कि उद्योगों की पूँजीवादी व्यवस्था जिस हद तक समाज में निर्बाध रूप से रहेगी उस हद तक उपर्युक्त दोष भी मशीन उद्योग के साथ बने रहेंगे।

मशीन उद्योगों के बारे में जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उससे इस विचार की पुष्टि होती है कि यह कहना कि मशीन उद्योग सर्वथा बुरे हैं अथवा सर्वथा अच्छे ठीक नहीं है। अच्छाई अथवा बुराई इस बात पर बहुत निर्भर है कि किन परिस्थितियों और किस वातावरण में कौन से उद्योगों की स्थापना होती है। जहां तक भारत का सबंध है उसके बारे में भी हम यह नहीं कह सकते कि उसे मशीन उद्योगों का सर्वथा बहिष्कार ही करदेना चाहिए। इसके कई कारण हैं। भारत अपने आप को संसार से सर्वथा अलग नहीं रख सकता और यह निश्चित है कि दुनिया आधुनिक मशीन-उद्योगों का बहिष्कार नहीं करने वाला है। दूसरे आधुनिक जीवन की आवश्यकताएँ, जिनमें देश की रक्षा का प्रश्न भी आजाता है, ऐसी हैं कि उनकी पूर्ति के लिए भी बड़े पैमाने के मशीन उद्योगों को अपनाना पड़ेगा। तीसरे, हमारे सामने अपनी बढ़ती हुई जन संख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रश्न भी है। मशीन द्वारा उत्पादन थोड़े समय में और अधिक मात्रा में होता है और इसलिए बढ़ती हुई मांग को पूरी करने में उसकी आवश्यकता स्पष्ट है। भारतीय आर्थिक व्यवस्था में बड़े पैमाने के मशीन उद्योगों को स्थान होगा, यह उक्त विवरण से समझ में आ जाता है।

इतना अवश्य है कि समाज के हित में इन उद्योगों का यथेष्ट नियंत्रण होना चाहिये।

जब हम देश के औद्योगीकरण की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य केवल बड़े-बड़े उद्योगों से ही नहीं होता। छोटे और बीच के दर्जे के उद्योगों का भी देश के औद्योगीकरण में स्थान है। बड़े-बड़े उद्योगों से मिलने वाले लाभ के अतिरिक्त, देश के आर्थिक जीवन को औद्योगिक विकास से, जिसमें सब प्रकार के उद्योगों का विकास आ जाता है, और भी कुछ लाभ हैं जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है।

सबसे बड़ी बात तो यही है कि खेती की भूमि पर अत्यधिक जन संख्या के भार को कम करने के लिए देश में नए धंधों के खोलने की आवश्यकता है। देश का औद्योगीकरण इस दिशा में सहायक होगा। इसके अतिरिक्त, देश के आर्थिक जीवन की खेती पर जो अत्यधिक निर्भरता आज पाई जाती है उसको कम करने का उपाय भी देश का औद्योगीकरण ही है। औद्योगिक विकास से हमारी राष्ट्रीय आय भी बढ़ेगी। इसका असर लोगों के जीवन-यापन के माप-दण्ड को ऊँचा उठाना और उनको कर देने की क्षमता को बढ़ाना होगा। इससे राज्य की आय भी बढ़ सकेगी ताकि राष्ट्र-निर्माण के कामों में वह अधिक व्यय कर सके। उद्योग-धंधों के विस्तार से मध्यम श्रेणी के लोगों में भी बेकारी कम हो सकेगी।

देश के औद्योगिक उन्नति से उपर्युक्त आर्थिक लाभ तो होंगे ही पर उसका राष्ट्र के चरित्र पर भी अच्छा असर पड़ेगा। विभिन्न प्रकार की योग्यता और रुचि के लिए अवसर मिलने के साथ-साथ, देश की जनता में औद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप और भी कई गुण पैदा हो सकेंगे। उदाहरण के लिए बौद्धिक जागरूकता, कार्य और विचार की निश्चितता, और रूढ़िवादिता का अभाव कुछ ऐसे गुण हैं जो कि औद्योगिक देशों के रहने वालों में साधारणतया पाये जाते हैं और जो प्रत्येक राष्ट्र के लिए वांछनीय हैं।

देश के औद्योगीकरण के संबंध में हमारा अंतिम निष्कर्ष यही है कि भारत को एक निश्चित योजना के अनुसार अपने उद्योग-धंधों की उन्नति की ओर ध्यान देना चाहिए। यह उन्नति न केवल बड़े उद्योगों के क्षेत्र में बल्कि बीच के और छोटे उद्योगों के क्षेत्र में भी होना आवश्यक है। अब तक राष्ट्र की पराधीनता इस दिशा में एक बहुत बड़ी बाधा थी। इस बाधा के हट जाने के पश्चात् और भारत एक जनतंत्रीय गण राज्य घोषित हो जाने के बाद अब यह आशा रखी जा सकती है कि हमारा देश जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति औद्योगिक क्षेत्र में भी प्रगति करेगा।

परिच्छेद—२

उद्योग-धंधे—प्रस्तुत प्रश्न

योजना की आवश्यकता—पिछले परिच्छेद से यह स्पष्ट है कि हमारे देश की उद्योग धंधों संबंधी वर्तमान स्थिति संतोषजनक नहीं है और देश में औद्योगिक विकास की अत्यन्त आवश्यकता है। बिना देश के औद्योगीकरण के यह संभव नहीं मालूम पड़ता कि आम जनता की जो दयनीय स्थिति आज है उसमें यथेष्ट सुधार हो सकेगा।

देश का औद्योगिक विकास सही और व्यवस्थित ढंग से हो इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे पास विकास की कोई निश्चित योजना हो। देश में अब तक जो भी उद्योग धंधे स्थापित हुए उनकी एक बड़ी कमी यह रही है कि वे किसी निश्चित योजना के अनुसार स्थापित नहीं हुए। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो सकती है, जैसे एक ओर तो हमारे देश में सूती कपड़े, शक्कर आदि के उद्योगों का आवश्यकता से अधिक विस्तार हुआ और दूसरी ओर कई उपयोगी धंधों, जैसे—मशीन और रासायनिक पदार्थ उत्पन्न करने वाले उद्योगों की ओर गत महायुद्ध तक देश का कोई ध्यान ही नहीं गया। आवश्यकता से अधिक विस्तार होने का इतना ही अर्थ है कि माँग की दृष्टि से अमुक उद्योग राष्ट्र की आवश्यकता को पूर्णतया अथवा करीब करीब पूर्णतया संतुष्ट कर सकता है। "यदि कोई उद्योग ऐसा है जिससे कि अच्छा मुनाफा कमाना संभव है, तो उसमें उस समय तक पूँजी बराबर लगती ही जाती है जब तक कि उसमें पूँजी की मात्रा आवश्यकता से अधिक नहीं हो जाती और उस उद्योग से मुनाफे की कोई आशा नहीं रहती।" हमारे देश में अब तक उद्योग धन्धों का जिस प्रकार विकास हुआ है उससे यह भी स्पष्ट है कि कच्चा माल उत्पन्न करने वाले प्रदेश और औद्योगिक केन्द्र में कितनी दूरी है अथवा औद्योगिक केन्द्र और बाजार, जहाँ माल बिकने जाता है, उनमें कितनी दूरी है, इसका भी विशेष ध्यान नहीं रखा गया। और स्थानों का मिलों की अपेक्षा बम्बई की सूती कपड़े की मिलों की कठिनाई का यही कारण है कि बिना बाजार की सुविधा को देखे एक ही जगह नई मिलों का केन्द्रीकरण होता गया। इसी प्रकार की कठिनाई में देश की सीमेंट की मिलें फँस गई थीं। हमारे अव्यवस्थित औद्योगिक विकास का एक प्रमाण यह भी है कि बड़े बड़े उद्योगों का विकास करते समय यह बात बिल्कुल सामने नहीं रखी गई कि उनका संबंधित गृह उद्योगों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा। ऐसे गृह उद्योगों की क्या हानि हो सकती है और उसको किस प्रकार कम किया

जा सकता है इसका हमारे उद्योगपतियों अथवा तत्कालीन सरकार ने कभी विचार ही नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में जो थोड़ाबहुत औद्योगीकरण हुआ उसका भी सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से बुरा असर पड़ा। यदि हमारा औद्योगीकरण किसी योजना के आधार पर होता तो बहुत से उद्योगों को नष्ट होने से बचाया जा सकता था और नए बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योगों का भी एकांगी विकास नहीं होता। अस्तु, भविष्य में सही और व्यवस्थित औद्योगिक प्रगति के लिए किसी निश्चित योजना का होना अत्यन्त आवश्यक है। उद्योग-धंधों सम्बन्धी योजना समस्त राष्ट्रीय योजना का एक अविच्छेद्य अङ्ग होना चाहिये, यह तो स्पष्ट ही है। इसका कारण यह है कि देश के उद्योग-धंधों में और कृषि तथा राष्ट्रीय जीवन के दूसरे आर्थिक और अन्य पहलुओं में एक न एक प्रकार का संतुलन होना तो आवश्यक है ही। राष्ट्रीय जीवन के किसी एक अङ्ग से सम्बन्ध रखने वाली योजना राष्ट्र भर के लिए जो संपूर्ण योजना हो उससे मेल खाती हुई तो होनी ही चाहिये।

राज्य और उद्योग-धंधे—निर्बाध व्यापार बनाम संरक्षण नीति—देश की औद्योगिक उन्नति से सम्बन्ध रखनेवाला एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राज्य की इस बारे में क्या नीति हो। यह नीति दो प्रकार की हो सकती है। एक तो यह कि राज्य देश के उद्योगों को किन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर संरक्षण दे। दूसरी यह कि इस विषय में राज्य कुछ न करे और विभिन्न देशों से जो व्यापार होता है उसे निर्बाध रूप से होने दे। इसी को निर्बाध व्यापार की नीति कहते हैं। देखना यह है कि निर्बाध व्यापार और संरक्षण इन दोनों में से कौन सी नीति सही है। Free Trade

निर्बाध व्यापार के पक्ष में सब से बड़ा तर्क यह है कि इस नीति के अपनाने से प्रत्येक देश के लिए यह संभव हो सकता है कि वह अपने साधनों का उपयोग उन चीजों के उत्पादन में ही करे जिनका उत्पादन वह और चीजों की अपेक्षा दूसरे देशों से अधिक सस्ता कर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक देश वही माल पैदा करेगा जिसके लिए वह सबसे अधिक आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त है और दूसरे देशों से अपनी आवश्यकता की दूसरी चीजें मंगाएगा और दूसरे देशों को अपने यहाँ का तैयार माल भेजेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर एक ऐसा श्रम का विभाजन स्थापित किया जा सकता है जिससे प्रत्येक देश को लाभ होगा और हानि किसी को नहीं होगी। व्यवहार में इसका परिणाम यह होगा कि जो देश भौगोलिक तथा अन्य कारणों से खेती के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त हैं वे अपने उत्पादन-साधनों का उपयोग खेती के लिए ही करेंगे और

अपनी पैदावार के बदले में और देशों से या औद्योगिक धन्धों के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त हैं औद्योगिक माल प्राप्त करेंगे। ऊपर ऊपर से देखने में निर्बाध व्यापार के पक्ष में उपर्युक्त तर्क सही मालूम पड़ता है। पर यदि इस तर्क का हम गहराई से अध्ययन करें तो हमें उसमें कई अपूर्णताएँ मालूम पड़ेंगी। सबसे पहला प्रश्न तो यह है कि किसी भी देश को खेती अथवा उद्योग धन्धों के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्तता का निर्णय हम किस आधार पर करें। क्या यह निर्णय केवल उपयुक्त जलवायु, कच्चे माल और शक्ति की सुविधा आदि जैसे प्राकृतिक कारणों के आधार पर ही किया जाना चाहिए? या हमें और बातों का भी विचार करना चाहिये, जैसे श्रम और यातायात सम्बन्धी सुविधा, सरकार की मुद्रानीति, और इसी प्रकार की अन्य बात। जीवन के अन्य क्षेत्र की भाँति आर्थिक क्षेत्र में भी हम वर्तमान को अतीत से अलग नहीं कर सकते, और जब हम किसी प्रश्न पर विचार करना आरम्भ करते हैं तो वर्तमान स्थिति को आधार मान कर ही चलते हैं। और यही एक विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में जो स्थिति एक समय होती है वह सदा ही नहीं बनी रहती। समय के साथ स्थिति में भी परिवर्तन आता है। जो स्थिति आज एक देश के अनुकूल मालूम पड़ती है वही कल दूसरे देश के अनुकूल बनाई जा सकती है। ऐसी दशा में यह कैसे सम्भव हो सकता है कि यदि कोई व्यवस्था आज किसी देश के प्रतिकूल है तो वह सदा के लिए उस व्यवस्था को स्वीकार कर ले और उसे अपने अनुकूल बनाने का कोई प्रयत्न नहीं करे। एक उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट की जा सकती है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक विदेशी शासन ने हमारे देश के उद्योगों का सर्वनाश सा कर दिया था और एक हद तक इसी सर्वनाश के आधार पर इङ्गलैंड ने अपने उद्योग धन्धों का विकास किया और औद्योगिक संसार के सम्राट का स्थान प्राप्त किया। और इस प्रकार जान बूझ कर जो स्थिति उत्पन्न की गई थी उसी को आधार बना कर निर्बाध व्यापार के समर्थकों ने इस नीति का प्रतिपादन करना आरम्भ किया कि भारत को कृषि पदार्थों के उत्पादन में अपने साधनों का उपयोग करना चाहिये क्योंकि प्रकृति ने भारत को कृषि प्रधान देश ही बनाया है और इङ्गलैंड को उद्योग धन्धों पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिये, क्योंकि वह औद्योगिक विकास की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। यदि भारत अंग्रेज़ों के अधीन देश नहीं होता तो अमेरिका और जर्मनी की भांति वह भी इस नीति का विरोध करता। अर्थ शास्त्र के विद्यार्थी इस बात से भली प्रकार परिचित हैं कि किस प्रकार अमेरिका और जर्मनी ने निर्बाध व्यापार के सिद्धान्त को अस्वीकार करके

अपने उद्योग-धन्धों को विकसित किया और औद्योगिक क्षेत्र में इंगलैंड के प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों के रूप में आ उपस्थित हुए। और आज औद्योगिक संसार का नेतृत्व अमेरिका के पास है न कि इंगलैंड के पास। निर्बाध व्यापार के तर्क की असत्यता का इससे अधिक ज्वलंत उदाहरण और क्या हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक बात और है। अन्तर्राष्ट्रियता की कितनी भी बात हम क्यों न करें राष्ट्रों के स्वतंत्र अस्तित्व को भुलाया नहीं जा सकता। प्रत्येक राष्ट्र आज अपने राष्ट्रीय हित को सामने रख कर चलता है। यहां तक कि स्टेलिन के नेतृत्व में रूस भी अपनी अन्तर्राष्ट्रियता का परित्याग कर चुका है। यह ठीक है कि रूस की यह अन्तर्राष्ट्रियता एक सुदूर आदर्श के अतिरिक्त और कुछ कभी भी नहीं रही। अस्तु, यद्यपि कोई भी राष्ट्र राष्ट्रीय स्वावलंबन के आदर्श का पूर्णतया पालन करना न व्यावहारिक और न उचित ही समझता है, पर फिर भी जहाँ तक सम्भव हो सकता है प्रत्येक राष्ट्र का यह प्रयत्न है कि राष्ट्रीय सुरक्षा तथा जीवन की प्रारम्भिक और आधारभूत आवश्यकताओं और राष्ट्र के प्राकृतिक तथा जन साधन का यथोचित उपयोग करने की दृष्टि से वह अधिक से अधिक स्वावलम्बी बने। इन सब प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार-स्पष्टता की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक राष्ट्र को हर कीमत पर अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध तो करना ही होगा। आर्थिक हित का कोई भी सिद्धान्त इस में बाधक हो, यह कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। सारांश यह है कि सुरक्षा से सम्बन्ध रखने वाले जितने उद्योग हैं उनके मामले में कोई राष्ट्र दूसरों पर निर्भर रहना पसन्द नहीं कर सकता। इस बारे में सापेक्षिक लागत का सिद्धान्त निर्णायक कदापि नहीं हो सकता। जहां तक जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं का सम्बन्ध है उनके बारे में भी यही तर्क लागू होता है। इसी के साथ-साथ राष्ट्रीय साधनों के पूरे-पूरे उपयोग का प्रश्न भी है। निर्बाध व्यापार-सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसके अनुसार सस्ते से सस्ते मूल्य पर उपभोग की वस्तुएं मिल सकना ही आर्थिक हित की कसौटी है। पर सोचने का यह ढंग सही नहीं है। अधिकतम आर्थिक हित की स्थिति उसी समय मानी जाना चाहिये जब समाज में सब काम कर सकने वालों के लिए काम की व्यवस्था हो। निर्बाध व्यापार-सिद्धान्त इस प्रकार की व्यवस्था मौजूद है, यह मान कर ही चलता है। अस्तु, यदि हम यह भी स्वीकार करलें कि उस स्थिति में जब सब काम कर सकने वालों के पास काम है, हमारे साधनों का सबसे अच्छा उपयोग निर्बाध व्यापार-सिद्धान्त के आधार पर ही हो सकता है, तब भी यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि यदि उपर्युक्त स्थिति नहीं है तब इस सिद्धान्त को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। और इस में तो कोई सन्देह नहीं कि निर्बाध

व्यापार के रहते हुए और उसके परिणामस्वरूप भी भारत जैसे पिछड़े हुए और आर्थिक दृष्टि से अविकसित देश म बहुत कुछ बकारी रह सकती है । तात्पर्य यह है कि केवल आर्थिक हित की दृष्टि स विचार करने पर भी निर्बाध व्यापार का सिद्धान्त सब परिस्थितियों म सही नहीं मालूम पड़ता।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि निर्बाध व्यापार के समर्थकों का सैद्धान्तिक आधार भी उतना ठोस नहीं है जितना साधारणतया बताया जाता है। यही कारण था कि मार्शल जैसे इस सिद्धान्त के समर्थकों को भी कुछ अपवाद स्वीकार करने पड़े—उदाहरण के लिए फ्रेडरिक लिस्ट के "धन उत्पन्न करने की क्षमता" और "नए उद्योगों" सम्बन्धी तर्क को मार्शल ने स्वीकार किया। "धन उत्पन्न करने की क्षमता" सम्बन्धी तर्क, जैसा कि प्रो॰ पीगू ने भी माना है, उन कृषि प्रधान देशों के बारे म खास तौर से लागू होता है जो औद्योगिक प्रगति करना चाहते हैं क्योंकि राष्ट्रीय सम्पत्ति को बढ़ाने म ऐसे देशों में औद्योगीकरण का प्रभाव औद्योगिक देशों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

यह सही है कि सब देशों के लिए सब समय के वास्ते निर्बाध व्यापार का सिद्धान्त उपयुक्त नहीं मालूम पड़ता। पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि यह सिद्धान्त किसी भी देश के लिए किसी समय उपयुक्त नहीं माना जा सकता। उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का सारा प्रश्न देश की विशेष परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। आर्थिक सिद्धान्तों की इस सापेक्षिकता के कारण ही, हम देखते हैं कि, इंगलैंड एक समय 'मर्केंटिलिज्म' की नीति को अपनाता है तो दूसरे समय अहस्तक्षेप की नीति का पालन करता है, और फिर आर्थिक संरक्षण-नीति को स्वीकार करता है। इसी सापेक्षिकता का यह प्रभाव था कि लिस्ट और केरे ने आरम्भ से ही जर्मनी तथा अमरिका के लिए संरक्षण नीति का प्रतिपादन किया। 'ये दोनों ही व्यक्ति दो ऐसे देशों के निवासी थे जिनमें औद्योगिक विकास के लिए बहुत क्षेत्र था पर विकास होना बाकी था।' अपने देश के लिए किस आर्थिक नीति को स्वीकार करना चाहिये इसका निर्णय हम भी अपनी परिस्थितियों का ध्यान म रख कर ही करना होगा। यह ठीक है कि जब तक भारत में विदेशी शासन रहा हमारे देश की आर्थिक नीति का निर्णय देश की आवश्यकता को सामने रखकर नहीं किया जा सका।

अब तक हमने निर्बाध व्यापार सिद्धान्त का विवेचना की। पर संरक्षण के सिद्धान्त के विषय म भी पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। भारत के सम्बन्ध म विचार करते समय हम इन तमाम तर्क वितर्कों का ध्यान रखेंगे।

भारत की राजकोषीय नीति—यह हम लिख चुके हैं कि पराधीनता के युग में

में भारत की विदेशी सरकार ने देश की औद्योगिक उन्नति के प्रति न केवल उदासीनता का भाव रखा बल्कि किसी हद तक विरोध का भाव प्रदर्शित किया। जून १६२१ में प्राप्त तथाकथित राजकोषीय (फिसकल) स्वतंत्रता के पहले भारत में सरकार की नीति विशुद्ध निर्बाध व्यापार की रही। पर इस अर्थ नीति सम्बन्धी तथाकथित स्वतंत्रता के मिलते ही भारत सरकार ने अक्टूबर १६२१ में देश के लिए उपयुक्त राजकोषीय (फ़िसकल) नीति के विषय में सरकार को सिफ़ारिश करने की दृष्टि से एक शाही कमीशन की नियुक्ति की। जैसा कि सर्वविदित है पूरी जांच पड़ताल के पश्चात् इस कमीशन ने सरकार से विवेकशील (डिस्क्रीमिनेटिंग) संरक्षण नीति का अनुसरण करने की सिफ़ारिश की। कमीशन ने निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया :—

(i) संरक्षण चाहने वाला उद्योग ऐसा होना चाहिये जिसे प्राकृतिक सुविधाएं प्राप्त हों—उदाहरण के तौर पर कच्चे माल, सस्ती चालक शक्ति, यथेष्ट श्रम-शक्ति और विस्तृत घरेलू बाज़ार की सुविधाएं इस श्रेणी में आती हैं। इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिये कि किसी ऐसे उद्योग को संरक्षण न दिया जाए जो एक निश्चित समय के पश्चात बिना संरक्षण के जीवित न रह सके और बराबरी के आधार पर दुनिया के बाज़ार में सफलतापूर्वक मुकाबला न कर सके।

(ii) संरक्षण पाने वाला उद्योग ऐसा भी होना चाहिए जो बिना संरक्षण के या तो बिल्कुल ही विकसित नहीं हो सकता है या फिर देश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए जिस गति से होना चाहिये उससे नहीं हो सकता है।

(iii) तीसरी शर्त यह है कि संरक्षण प्राप्त करने वाले उद्योग को आख़िरकार बिना संरक्षण के दुनिया के बाज़ार में खड़ा हो सकना चाहिये। उपर्युक्त शर्तों के अलावा, कमीशन की यह भी सम्मति थी कि जिस उद्योग में क्रमगत वृद्धि नियम लागू होता हो, या जिसके सम्बन्ध में यह संभावना हो कि निकट भविष्य में ही वह देश की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा उसका संरक्षण की दृष्टि से विशेष अधिकार माना जाना चाहिये। कमीशन ने यह सिफ़ारिश भी की कि आधारभूत और रक्षा सम्बन्धी उद्योगों को तो बिना किसी शर्त के संरक्षण मिलना चाहिये।

कमीशन ने उन देशी उद्योगों के, संरक्षण के विषय में जिनको विदेशी माल की अनुचित प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा हो, अलग से सुझाव दिये। विदेशों द्वारा माल पाटने की नीति अथवा सरकारी सहायता प्राप्त विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा उपर्युक्त अनुचित प्रतिस्पर्द्धा की मर्यादा में आती

है। फ़िसकल कमीशन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि संरक्षण उन उद्योगों को ही मिलना चाहिए जो सही आधार पर स्थापित हो चुके हैं यद्यपि नए हैं, न कि उन उद्योगों को जो गर्भावस्था में हैं और जो अपनी भावी उन्नति की स्वप्न निराधार आशाओं पर रखते हैं। कमीशन ने यह भी सिफारिश की कि उपर्युक्त शर्तों का ध्यान रखते हुए आधारभूत उद्योगों को सरकार को प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर संरक्षण करना चाहिये और जो दूसरे उद्योग हैं उनका आयात-कर लगाकर संरक्षण किया जाना चाहिये। कमीशन ने एक स्थायी टैरिफ बोर्ड की नियुक्ति की सिफारिश भी की ताकि सरकार संरक्षण की उक्त नीति का भले प्रकार पालन कर सके और बोर्ड विभिन्न उद्योगों की ओर से आने वाली मांगों की बराबर जांच करता रहे और जिन उद्योगों को संरक्षण मिल चुका है उनकी स्थिति का बराबर अवलोकन करता रहे।

फ़िसकल कमीशन द्वारा प्रतिपादित विवेकपूर्ण (डिस्क्रिमिनेटिंग) संरक्षण के सिद्धान्त तथा उसके द्वारा की गई अन्य सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया। फरवरी १९२३ में तत्कालीन केन्द्रीय धारा सभा में इस सम्बन्ध का एक प्रस्ताव भी पास किया गया। जुलाई १९२३ में टैरिफ बोर्ड की स्थापना हुई। इस प्रकार भारत ने संरक्षण की उक्त नीति को स्वीकार किया जिसकी बराबर बहुत कुछ आलोचना की जाती रही है।

कमीशन की उक्त सिफारिशें बहुमत की सिफारिशें थीं। कमीशन के कुछ सदस्य जिनमें कमीशन के अध्यक्ष सर इब्राहीम रहिमतुल्ला और दो अतिरिक्त शेष भारतीय सदस्य शामिल थे, इन सिफारिशों से सहमत नहीं थे। उनकी राय में इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी कि भारत में संरक्षण सिद्धान्त को इस मर्यादित रूप में स्वीकार किया जाय। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिये कि ये लोग इस पक्ष में नहीं थे कि संरक्षण सिद्धान्त का प्रयोग विवेकपूर्वक न किया जाय। पर वे संरक्षण सम्बन्धी अधिक उदार नीति के पक्ष में अवश्य थे और उनका यह मानना था कि कमीशन (बहुमत) ने जिन्हें प्रतिबन्ध संरक्षण चाहने वाले उद्योग पर लागू करने की सिफारिश की है वे देश के औद्योगीकरण में बाधक होंगे। फ़िसकल कमीशन के बहुमत और अल्पमत के विचारों पर अब हम सिद्धान्त तथा वास्तविक अनुभव को ध्यान में रखते हुए निर्णय करेंगे।

कमीशन के बहुमत ने संरक्षण सम्बन्धी जो सिफारिशें कीं। उनका मूल तार्किक आधार यही था कि देश में धन उत्पन्न करने की क्षमता बढ़ाने के लिए और नए उद्योगों को सहायता देने के लिए संरक्षण की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में वे

नए उद्योग जो पुराने और सुसंगठित अपने ही प्रकार के दूसरे उद्योगों का आज केवल नए होनेसे मुकाबिला नहीं कर सकते, यद्यपि कुछ समय पश्चात् वे उनके समान ही आखड़े होंगे, संरक्षण के अधिकारी हैं। इससे स्पष्ट है कि कमीशन आम तौर पर संरक्षण को अपनाने के पक्ष में नहीं था। उसकी राय तो यह थी कि प्रत्येक उद्योग के विषय में उसकी विशेष स्थिति को ध्यान में रखते हुए निर्णय करना चाहिये। लिस्ट के 'नए उद्योग' सम्बन्धी तर्क को ठीक-ठीक नहीं समझने के कारण ही कमीशन ने इस प्रकार की सिफारिश की। लिस्ट का तर्क किसी एक उद्योग पर लागू नहीं होता था। वह तो उस सारे राष्ट्र पर लागू होता था जो उद्योगीकरण के मार्ग पर अग्रसर होना चाहता है। इस सम्बन्ध में लिस्ट की दृष्टि में ऐसे राष्ट्र थे जिनमें औद्योगीकरण के लिए सब प्रकार के साधन मौजूद हैं पर जो दूसरे देशों के मुकाबिले में पीछे रह गए हैं। लिस्ट का कहना था कि इस प्रकार पिछड़े हुए राष्ट्रों को संरक्षण की नीति अपनाकर ही अन्य औद्योगिक राष्ट्रों के बराबर लाया जा सकता है। लिस्ट के सामने विशेषतया जर्मनी का उदाहरण था जो औद्योगिक प्रगति में इंगलैंड से बहुत पीछे रह गया था। सारांश यह है कि फ़िसकल कमीशन के बहुमत ने संरक्षण की जिस संकुचित नीति की सिफारिश की, उसका आधार ही गलत था। आम संरक्षण के विरुद्ध कमीशन ने कई तर्क उपस्थित किए जैसे-राजनैतिक भ्रष्टाचार की संभावना, औद्योगिक एकाधिकार को प्रोत्साहन, अयोग्य उत्पादन को प्रोत्साहन और उपभोक्ताओं की हानि, तथा आम मूल्य वृद्धि की संभावना। पर कमीशन के ये तर्क या तो असत्य थे या असंगत। उदाहरण के लिए संरक्षण से अयोग्य उत्पादकों को प्रोत्साहन तभी मिल सकता है जब कि संरक्षण का दर अत्यधिक हो। और इस बात का कि संरक्षण नीति संकुचित है अथवा नहीं, इससे कोई सम्बन्ध नहीं आता। इसलिए आम संरक्षण नीति के विरुद्ध अपने आप से यह कोई तर्क नहीं हो सकता। क्योंकि वास्तव में देखा जाए तो यह प्रश्न तो संरक्षण से सम्बन्ध नहीं रखता। इसका सम्बन्ध तो संरक्षण किस मात्रा में दिया जाता है, इस बात से है। उपभोक्ताओं पर अनावश्यक बोझ डालने का प्रश्न भी कुछ ऐसा ही है। इसका सम्बन्ध भी संरक्षण के दर और समय से है। इसी प्रकार यह बात भी समझ में नहीं आती कि संकुचित संरक्षण नीति को अपनाने मात्र से राजनैतिक भ्रष्टाचार अथवा औद्योगिक एकाधिकार की संभावना क्यों कर नहीं रहती। कमीशन का यह भय कि आम संरक्षण नीति को स्वीकार करने से मूल्य-वृद्धि होगी और उसका कुपरिणाम हमारे निर्यात पर पड़ेगा जिससे विदेशी-व्यापार का संतुलन हमारे विरुद्ध हो जायगा—निराधार ही मानना

चाहिये। इसके साथ ही साथ याद रखने की बात यह भी है कि यदि राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए कुछ समय तक विदेशी व्यापार का संतुलन हमारे विरुद्ध भी जाता हो तो उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि फिस्कल कमीशन के बहुमत ने संकुचित संरक्षण के पक्ष में जितने भी तर्क उपस्थित किए उनमें कोई तथ्य हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और इसी बात को लेकर अल्पमत का मतभेद था जो आम संरक्षण की अधिक उदार नीति के पक्ष में। इसका यह अर्थ लगाना भूल होगी कि अल्पमत अत्यधिक अथवा अमर्यादित और विवेकहीन संरक्षण के पक्ष में था। अस्तु, हमारी राय में अल्पमत का दृष्टिकोण अधिक सही था और संकुचित संरक्षण नीति की असफलता का एक जीवित प्रमाण यह भी है कि इस नीति के कार्य काल में देश के उद्योग धन्धों का विकास अत्यन्त मन्द गति से हुआ।

संकुचित संरक्षण नीति का एक मात्र दोष यही नहीं था कि यह प्रत्येक उद्योग पर अलग अलग विचार करने के पक्ष में थी। इस नीति के अनुसार तो टैरिफ बोर्ड उन उद्योगों के विषय में भी विचार नहीं कर सकता था जिनके भावी विकास की सम्भावना मानी जा सकती हो। फिस्कल कमीशन ने बहुत स्पष्ट शब्दों में यह मत व्यक्त कर दिया था कि जो उद्योग अब स्थापित ही नहीं हुए हैं उनको किसी प्रकार की सहायता देने का प्रश्न नहीं उठता। यह नीति नए उपजाऊ उद्योगों को विकसित होने से रोकने में सफल हुई। इसके अतिरिक्त कमीशन ने उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में जिस त्रि-सूत्री प्रतिबन्ध की सिफारिश की है वह भी दोषपूर्ण और असंगत है। पहली बात तो यह है कि जो शर्तें उसमें रखी गई हैं वे बहुत कठिन हैं। किसी भी उद्योग को संरक्षण देने का मुख्य आधार उत्पादन लागत होना चाहिये। अगर यह माना जा सकता हो कि कोई उद्योग एक उचित समय में अपने उत्पादन-लागत को इस सीमा में ला सकेगा कि वह उद्योग अपने पांव पर खड़ा हो जाए तो उसे संरक्षण मिलना चाहिये। यह सर्वथा ग़लत है कि संरक्षण पाने के लिए किसी भी प्रकार के प्राकृतिक साधनों—जैसे कच्चा माल, आन्तरिक बाज़ार आदि का होना अनिवार्य माना जाए, जैसी कि फिस्कल कमीशन ने सिफारिश की। इसका यह अर्थ कदापि न लगाया जाय कि इन तमाम सुविधाओं का संरक्षण पाने न पाने से कोई सम्बन्ध नहीं आता है। तथ्य की बात यह है कि इन बातों का महत्त्व वहीं तक है जहां तक ये उत्पादन-लागत पर असर डालते हैं। पर किसी भी उद्योग को संरक्षण देने अथवा नहीं देने का निर्णय अन्ततोगत्वा उत्पादन-लागत के आधार पर होना चाहिये। अगर हम दूसरे देशों के उद्योगों पर दृष्टिपात करें

तो हम देखेंगे कि बिना कच्चे माल अथवा आन्तरिक बाज़ार की सुविधा हुए भी वे खूब उन्नत हैं। इंगलैंड कपास उत्पन्न नहीं करता और फिर भी सूती कपड़े का उद्योग वहां का एक प्रमुख उद्योग है। पश्चिमी देशों के उद्योगों का तैयार माल हजारों मील दूर बाज़ारों में बिकता है यह भी हम जानते हैं। यह भी बात सही है कि जैसे-जैसे औद्योगीकरण की किसी देश में प्रगति होती है उसी के साथ-साथ उस देश की क्रय-शक्ति भी बढ़ती है और देश के अन्दर बाज़ार का निर्माण होता है। इसलिए औद्योगीकरण के लिए बाज़ार (आन्तरिक) की शर्त लगाना अपने आप से भी कुछ उल्टी-सी बात है। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस सारे मामले में फ़िसकल कमीशन का दृष्टिकोण बहुत ही अवैज्ञानिक और कड़ा रहा। इसका परिणाम भारत की औद्योगिक उन्नति के लिए हानिकारक हुआ। फ़िसकल कमीशन ने संरक्षण देने के बारे में जो तीन पूर्व शर्तें लगाई थीं उनमें पारस्परिक विरोध भी है। उदाहरण के लिए एक शर्त यह थी कि संरक्षण उसी दशा में किसी उद्योग को मिलना चाहिये जब कि वह बिना संरक्षण के या तो बिल्कुल ही विकसित न हो सके या जिस गति से विकास होना चाहिये वह संभव न हो। पर विचारने की बात यह है कि यदि किसी उद्योग को वे सब प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हैं जो कि कमीशन की राय में संरक्षण प्राप्त करने के लिए होनी चाहिये, तो उस उद्योग को फिर संरक्षण की आवश्यकता ही क्यों होगी? इसका सीधा अर्थ यह है कि कमीशन की प्राकृतिक सुविधाओं वाली शर्त को कुछ ढीला करना होगा। कमीशन की सिफारिशों की परस्पर की असंगति इससे स्पष्ट है।

कमीशन ने जिस संरक्षण-नीति की सिफ़ारिश की उसकी कमियों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अब हम इस विषय में विचार करेंगे कि उक्त नीति को व्यवहार में लाने के लिए कमीशन ने जो सिफ़ारिश की वह कहां तक ठीक थी। इस बारे में कमीशन की जो सिफारिश थी उसी के अनुसार १९२३ ई० में टेरिफ़ बोर्ड की स्थापना की गई। पहली बात जो इस सम्बन्ध में ध्यान में आती है वह यह है कि जैसा कि अन्य देशों में है, हमारे टेरिफ बोर्ड के विधान, कार्य और कार्य विधि के बारे में सिवा सरकार के व्यापारिक विभाग के एक प्रस्ताव के और कोई कानून नहीं बनाया गया। जहां तक बोर्ड के कामों का सम्बन्ध है सरकार का उपर्युक्त प्रस्ताव बहुत संकीर्ण है। इस प्रस्ताव के अनुसार बोर्ड का एक मात्र काम संकीर्ण संरक्षण नीति को व्यावहारिक रूप देना था। टेरिफ़ बोर्ड के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी कठिनाई रही। फ़िसकल कमीशन की सिफारिशों के यह सर्वथा विपरीत था। फिसकल कमीशन की दृष्टि में टेरिफ बोर्ड का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत होना चाहिए था। व्यवहार

से टैरिफ बोर्ड ने संरक्षण के प्रश्नों के बाहर भी काम किया। जैसे टैरिफ समानता और विदेशी माल से अनुचित स्पर्धा से बाजार पाटने के प्रश्नों पर भी टैरिफ बोर्ड ने विचार किया। फिस्कल कमीशन ने टैरिफ बोर्ड के कामों की जो विस्तृत कल्पना की थी उसमें बहुत सी बातों का समावेश होता था, जैसे आय की दृष्टि से लगाए गए आयात-करों के संरक्षण की दृष्टि से होने वाले प्रभाव पर विचार करना, साम्राज्यान्तर्गत सुविधा (इम्पीरियल प्रिफरेंस) और द्विदेशीय समझौते (बाइलेटरल एग्रीमेन्ट्स) के असर पर विचार करना, मूल्य व्यापार और उत्पादन सम्बन्धी प्रश्नों पर संगठित उद्योगों के विषय में विचार करना, भारतीय उद्योगों पर उत्पादन-कर और आयात-निर्यात-कर के प्रभाव का अध्ययन करना और उपभोक्ताओं के हित दृष्टि से एकाधिकार सम्बन्धी शिकायतों पर विचार करना। इसके अलावा टैरिफ बोर्ड की कार्य पद्धति भी दोषपूर्ण रही। आरम्भ से लेकर अन्त तक टैरिफ बोर्ड को सरकार के तत्वावधान में काम करना पड़ता था और काम करने की यह सारी पद्धति ऐसी थी जिसमें समय बहुत लगता था और असुविधा भी बहुत होती थी। इसका असर संरक्षण चाहने वाले उद्योगों पर बहुत घातक पड़ा था। बोर्ड के काम के बारे में अपर्याप्त प्रचार होने से जांच के विषय की ओर जनमत बहुत कम आकर्षित हो पाता था और प्रतिद्वन्द्वी ब्रिटिश उद्योगों को, नाम मात्र को भारतीय उद्योगों को दी गई समान सुविधा के नाम पर यह मौका देना, कि वे संरक्षण सम्बन्धी होने वाली जांच के सम्बन्ध में संरक्षण चाहने वाले उद्योग से प्रश्नोत्तर कर सकते हैं और अपनी गवाही भी दे सकते हैं और भी अनुचित था। बोर्ड को स्वयं का स्थायित्व नहीं होने से और उसके सदस्यों का स्थायित्व संदिग्ध होने से तथा तत्कालीन सरकार की इच्छा पर बोर्ड का अस्तित्व निर्भर होने से भी बोर्ड की बहुत कुछ उपयोगिता कम हो गई। सारांश यह है कि उन मामलों में सुधार की पूरी आवश्यकता थी। बोर्ड के कार्य-क्षेत्र को विस्तृत होना था, उसको एक स्थायी संगठन का स्वरूप मिलना चाहिये था, उसके सदस्यों को स्थायित्व सम्बन्धी आश्वासन होना चाहिये था और बोर्ड पर सरकारी असर कम होना आवश्यक था।

अब तक के विवेचन से संकुचित संरक्षण-नीति की अनुपयोगिता सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि कुछ अपवादों को छोड़कर संरक्षण की दृष्टि से जो आयात-कर लगाए गए वे उद्योग-धन्धों के समुचित विकास की दृष्टि से अपर्याप्त थे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् समस्त दुनिया और उसके साथ भारत भी, आर्थिक दृष्टि से एक असाधारण परिस्थिति में से होकर गुज़र रहा था। कभी आर्थिक मन्दी का सामना करना पड़ता था तो कभी विदेशों

में सस्ते भावों पर बाज़ार पाटने की दृष्टि से भेजे गये माल का । अनुचित प्रतिस्पर्द्धा और विनिमय-दर के अवमूल्यन के कारण भी कठिनाई आजाती थी। अस्तु, संरक्षण की दृष्टि से जो भी आयकर लगता था उसका प्रभाव तो उक्त कारणों से उत्पन्न स्थिति का सामना करने में ही समाप्त हो जाता था और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए जो विशेष प्रोत्साहन चाहिये था वह नहीं मिल सकता था। "यदि उपर्युक्त असाधारण स्थिति न होती तो या तो हमारे उद्योगों को संरक्षण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती या बहुत कम संरक्षण से उनका विकास सम्भव हो जाता।" अस्तु, संकीर्ण संरक्षण-नीति से भी देश के उद्योग-धन्धों को जो लाभ पहुँचना वह भी विशेष आर्थिक परिस्थिति के कारण नहीं पहुंच सका।

संकीर्ण संरक्षण नीति के व्यवहार के सम्बन्ध में भी कई दोष पाए गए। टैरिफ बोर्ड ने जो-जो जांच की और सरकार ने उन पर जो कार्रवाई की उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार ने सिद्धान्ततः जिस संरक्षण-नीति को स्वीकार कर लिया था उसको व्यवहार में लाने का उसे उतना उत्साह नहीं था । सारी कार्रवाई में जितना समय लग जाता था और बोर्ड की सिफ़ारिशों को सरकार जितना महत्त्व देती थी वह यह बतलाता था कि वास्तव में सरकार देश के औद्योगीकरण और संरक्षण नीति के पक्ष में नहीं थी। और भारत और इंगलैंड के हितों में विरोध पड़ने का प्रश्न तो अन्ततोगत्वा उपस्थित होता ही। यह तो साफ ही था कि भारत का औद्योगीकरण इंगलैंड के उद्योगों के लिए हानिकर साबित होता। फिसकल नीति के सम्बन्ध में भारत को स्वतंत्रता मिलने का यदि कोई अर्थ था तो सबसे पहले यह था कि सर्व प्रथम भारत-सरकार भारतीय दृष्टि से विचार करने के लिए तैयार और स्वतंत्र है और अन्य देशीय दृष्टि, जिसमें इंगलैंड भी आजाता है, इसके बाद आती है। भारत के स्वतंत्र हुए बिना यह सब कुछ असम्भव था। अस्तु, फिसकल नीति सम्बन्धी भारत को दीगई स्वतंत्रता नाममात्र की ही थी। भारत और ब्रिटेन में जो हितों का संघर्ष रहा उसके सम्बन्ध मे श्री अदारकर ने अपनी 'इंडियन फ़िसकल पोलिसी' नामक पुस्तक में लिखा है "(१) जहाँ संरक्षण से मुख्यतः अथवा केवल ब्रिटेन के अलावा दूसरे हितों को हानि पहुँचने की संभावना रही वहां सरकार ने बहुत करके संरक्षण स्वीकार किया । (२) जहां संरक्षण के कारण मुख्यतः ब्रिटिश हितों को हानि पहुँचने की सम्भावना होती वहां संरक्षण के प्रति उपेक्षानीति बरती गई। (३) जहाँ दोनों बातें सम्भव हो सकती थीं, अर्थात् ब्रिटेन के हितों की रक्षा करते हुए दूसरे राष्ट्रों से आने वाले माल को संरक्षण दिया जा सकता था, वहां इस प्रकार की समझौता-नीति का पालन किया गया और संरक्षण का मार्ग-प्रशस्त किया गया । (४) बहुत

थोड़े उद्योगों के मामले में जैसे कागज, टीन की चादर, जहाज निर्माण आदि के उद्योगों के सम्बन्ध में सरकार ने संरक्षण नीति स्वीकार की, क्योंकि भारत में संरक्षण का लाभ उठाने के लिए ब्रिटिश कारखाने मौजूद थे और विदेशी उद्योगों के विरोध का उनके द्वारा निराकरण हो सकता था।" संकीर्ण संरक्षण नीति सम्बन्धी एक बात और रह जाती है जिसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। इस एक बात का सम्बन्ध साम्राज्यान्तर्गत सुविधा (इम्पीरियल प्रिफरेन्स) से है जिसे परिस्थितियों के दबाव से भारत सरकार ने सन् १९३२ में स्वीकार किया। इस समय हम साम्राज्यान्तर्गत सुविधा नीति का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं करेंगे। केवल यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस नीति के कारण संकीर्ण संरक्षण-सिद्धान्त को ठीक ठीक व्यवहार में लाने में भी अड़चनें उपस्थित हुईं। इस कारण भी भारत ने जिस संरक्षण नीति को अपनाया उसकी उपयोगिता कम होगई।

द्वितीय महायुद्ध और राजकोषीय नीति—द्वितीय महायुद्ध के आरंभ होने पर देश के सामने औद्योगिक प्रसार का एक अच्छा अवसर उपस्थित हुआ। यद्यपि हम उस अवसर से पूरा पूरा लाभ नहीं उठा सके, पर फिर भी युद्ध की दृष्टि से तत्कालीन सरकार को इस ओर थोड़ा-बहुत ध्यान तो देना ही पड़ा। जून १९४० के एक सूचनापत्र द्वारा भारत सरकार ने यह घोषणा की कि जो उद्योग युद्ध के लिए आवश्यक होने से स्थापित होंगे उनको युद्ध के बाद भी यदि जरूरी होगा तो बाहरी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण दिया जायगा। नवम्बर १९४५ में एक अन्तरिम काल टेरिफ बोर्ड की भी नियुक्ति की गई ताकि संरक्षण चाहने वाले उद्योगों के बारे में विचार किया जा सके। विभाजन के पश्चात् नवम्बर १९४७ में बोर्ड का दुबारा निर्माण किया गया। उसके कार्य-क्षेत्र को भी पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत किया गया। विदेशी माल के मुकाबले में भारतीय माल की उत्पादन-लागत के अधिक होने के क्या कारण हैं और सस्ता से सस्ता लागत पर देश में उत्पादन-वृद्धि करने के लिए भारत सरकार को क्या करना चाहिये—ये प्रश्न भी अब टेरिफ बोर्ड के विचार-क्षेत्र के अन्तर्गत आगए। टेरिफ बोर्ड में उसके बाद दो सदस्य और बढ़ गए हैं और अगस्त, १९४८ के भारत सरकार के एक प्रस्ताव के अनुसार उसके कार्यक्षेत्र में और अधिक वृद्धि करदी गई है। टेरिफ बोर्ड के नए काम ये हैं—किसी वस्तु का उत्पादन-लागत मालूम करना और उसका थोक, फुटकर तथा दूसरे मूल्यों का निर्धारण करना। विदेशी माल के राशिपातन [डम्पिंग] से भारतीय उद्योगों का संरक्षण करने के उपाय सुझाना, दूसरे देशों के माल पर प्रशुल्क (टेरिफ) सम्बन्धी रियायतें और

आयात-कारों के असर का अध्ययन करना; संरक्षित उद्योगों में एकाधिकार के बारे में और उनके उत्पादन के ह्रास और कीमतों के कायम करने और बढ़ाने के सम्बन्ध में होने वाले असर के बारे में रिपोर्ट करना और निराकरण के आवश्यक उपाय सुझाना, एवं संरक्षित उद्योगों की प्रगति का ध्यान रखना तथा संरक्षण की शर्तें पाली जा रही हैं और कार्य-कुशलता बनी हुई है इस ओर भी ध्यान देना। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा में यह स्पष्ट कर दिया था कि उसकी प्रशुल्क (टेरिफ) नीति का लक्ष्य अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से भारतीय उद्योगों का संरक्षण करना और उपभोक्ताओं पर अनुचित भार डाले बिना भारतीय साधनों का अच्छा से अच्छा उपयोग करना होगा। अप्रैल १६४६ में फिसकल कमीशन की नियुक्ति की गई और १६५० के मध्य में कमीशन की रिपोर्ट भी प्रकाशित होगई। इस कमीशन का भी यही निर्णय है कि द्वितीय महायुद्ध के पहले की प्रशुल्क नीति अपने मर्यादित क्षेत्र में तो काफी हद तक सफल हुई, पर देश की अर्थ व्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों में अभी विकास की बड़ी कमी है, और इस कमी को पूरा करने के लिये बड़े प्रयत्न की आवश्यकता होगी। औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से प्रशुल्क नीति के संबंध में इस कमीशन का भी यही मानना है कि उद्योग-धन्धों का संरक्षण देश के संपूर्ण आर्थिक विकास से सम्बद्ध होना चाहिये नहीं तो संरक्षण का भार असमान और उद्योग-धन्धों की प्रगति असमन्वयित हो सकती है। (फिसकल कमीशन की सिफारिशें परिच्छेद के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दी गई है)।

हमने जो कुछ अब तक लिखा उसका सार यही है कि भारत की औद्योगिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि हमारा देश संरक्षण नीति को स्वीकार करे। लिस्ट का 'धन उत्पन्न करने की क्षमता' और 'औद्योगिक विकास की दृष्टि से सर्वथा नया देश' सम्बन्धी तर्क भारत के सम्बन्ध में इसी नीति को अपनाने के पक्ष का समर्थन करते हैं। मार्शल और पीगू जैसे निर्बाध व्यापार के समर्थकों ने भी इस तर्क को स्वीकार किया है। अस्तु, संरक्षण के विरुद्ध जो तर्क उपस्थित किए जाते हैं और भारत के सम्बन्ध में वे कहां तक लागू होते हैं इस पर अब हम विचार करेंगे।

भारत को संरक्षण-नीति की आवश्यकता—संरक्षण-सिद्धान्त के विरुद्ध जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं उन पर विचार करने के पहले दो बातों की ओर संकेत करना आवश्यक है। एक तो यह कि हमें इस समस्या पर दीर्घ कालिक दृष्टि से विचार करना है। दूसरे यह कि देश के साधनों का पूर्णतया उपयोग हो, इसके साथ-साथ यह भी देखना होगा कि हमारा राष्ट्र आज के हिंसा और

प्रतिस्पर्द्धा के युग में दूसरे राष्ट्रों के मुकाबले में अपना अस्तित्व कायम रख सकें। इस दृष्टि से रक्षा और जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के मामले में हम स्वावलम्बी बनने का ध्येय अपने सामने बनाकर रखना होगा। केवल आदर्शवाद के नाम पर हम राष्ट्रीय स्थिति की मांग की अवहेलना नहीं कर सकते।

संरक्षण के विरुद्ध में एक बड़ा तर्क यह है कि इससे उपभोक्ता को हानि पहुंचा कर भी उत्पादकों को लाभ पहुंचाया है। इस अंश में यह तर्क सत्य है कि संरक्षण नीति के कारण विदेशों से आने वाले आयात पर कर लगने से उनके मूल्य में जो वृद्धि होती है उसको अक्सर विदेशी उत्पादक कर्त्ता यथासम्भव उपभोक्ता पर डालने का प्रयत्न करता है। इस हानि के मुकाबले में संरक्षण से मिलने वाले लाभ का हम विचार करना चाहिये। जहां तक विदेशी माल की मूल्य वृद्धि का सवाल है, यह मूल्य वृद्धि अल्पकालिक हो सकती है। संरक्षण के कारण जब राष्ट्रीय उद्योग भली प्रकार विकसित हो जाएँगे तो यह सम्भव हो सकता है कि वे संरक्षण के पहले जिस भाव पर विदेशी माल बिकता था उसी या उससे भी सस्ते भाव पर उस माल को बेच सकें। यह ठीक है कि विदेशों के मुकाबले में अपने देश में उत्पादन साधन सम्बन्धी क्या स्थिति होगी इस पर यह निर्भर होगा। दूसरे संरक्षण के कारण न केवल संरक्षित किन्तु आम तौर से भी उद्योग धन्धों की प्रगति होगी उससे देश की आय बढ़ेगी और उपभोक्ताओं को बढ़े हुए मूल्य से जो भी हानि सम्भव है उसके मुकाबले में यह लाभ ज्यादा होगा। संरक्षण से मिलने वाला सबसे बड़ा लाभ यह है कि देश के तमाम खाली साधनों का उपयोग हो सकेगा और यदि इस कारण से थोड़ा बहुत मूल्य-वृद्धि हो तो उसके बारे में कोई आपत्ति की बात नहीं हो सकती। संरक्षण के कारण बढ़े हुए मूल्य के रूप में उपभोक्ताओं को अनुचित हानि नहीं उठाना पड़े इस दृष्टि से यह देखना होगा कि संरक्षण-सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार एक सुसंगठित और समन्वयित तथा समस्त राष्ट्र को सामने रखकर बनाई गई औद्योगिक विकास की योजना है। ऐसी स्थिति में यदि राष्ट्र के किसी एक अंग को थोड़ा त्याग भी करना पड़े तो वह करना चाहिये।

संरक्षण के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि उसका देश की कर-व्यवस्था पर बुरा असर पड़ता है। करों का बोझ धनवानों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक बढ़ जाता है। कारण यह है कि उपभोग की वस्तुओं पर कर लगाने का परिणाम अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि करना होता है और अप्रत्यक्ष कर उपयोग की वस्तुओं पर होने से उनका बोझ आम लोगों पर अधिक पड़ता है। यह तर्क वास्तव में किस समय कितना लागू

होगा इसका अनुमान तो इसी से लगाया जासकता है कि जिन वस्तुओं को संरक्षण दिया जाने वाला है वे आम उपभोग की हैं अथवा नहीं। यदि वे किसी वर्ग-विशेष के उपभोग में ही आने वाली हैं तो उनका असर भी आम जनता पर न पड़ उस वर्ग विशेष तक ही सीमित रहेगा। पर वास्तव में विचारणीय प्रश्न तो यह है कि इस तरह का बोझ पड़ने देना उचित है अथवा नहीं। कर-व्यवस्था को प्रगतिशील बनाने का जहाँ तक सम्बन्ध है वह नए प्रत्यक्ष कर लगाकर भी बनाई जा सकती है। और उपभोक्ताओं के बोझ को भी वास्तव में हल्का किया जा सकता है यदि करों से होने वाली आय समाज की भलाई के कामों में व्यय की जा सके।

संरक्षण के विपक्ष में एक दलील यह भी है कि सरकार की आय पर उसका असर अच्छा नहीं पड़ता। यदि वर्तमान आय-कर विदेशी माल को आने से रोकने की दृष्टि से बढ़ाया जाता है तो थोड़े समय के लिए सरकारी आय पर बुरा असर अवश्य पड़ेगा। किन्तु अन्ततोगत्वा संरक्षण राष्ट्र के औद्योगीकरण में सहायक होगा और इस प्रकार उसके द्वारा राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। जब राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी तो सरकारी आय के भी कई नए साधन निकल आवेंगे। अल्प काल में भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि संरक्षण का परिणाम राज्य की आय कम करना ही होगा।

संरक्षण के विरुद्ध जितने भी तर्क उपस्थित किए गए हैं उनमें सब में ही अलग-अलग से विचार करने पर कुछ न कुछ सत्यता का अंश अवश्य है। पर उनके बारे में इस प्रकार से विचार करना सही नहीं है। हमें राष्ट्र के सम्पूर्ण हित की दृष्टि से, न कि केवल आर्थिक दृष्टि से ही, इन बातों पर विचार करना चाहिये। यदि राष्ट्र के सम्पूर्ण हित की दृष्टि से संरक्षण नीति को अपनाना आवश्यक है तो उसे अपनाना चाहिये, फिर चाहे किसी एक दृष्टि अथवा दूसरी दृष्टि से ऐसा करना उचित न मालूम पड़ता हो। संरक्षण के विरुद्ध एक बहुत बड़ी आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि उसके कारण आर्थिक स्थिर हित और राजनैतिक भ्रष्टाचार उत्पन्न होते हैं। हमें यहाँ यह बात नहीं भूलना चाहिये कि आर्थिक स्थिर स्वार्थ पूँजीवादी व्यवस्था के अवश्यम्भावी परिणाम हैं। संरक्षण इन स्थिर स्वार्थों का कारण इस वजह से समझा जाता है कि वह औद्योगीकरण को प्रोत्साहन देता है। यह दोष तो है पर उसका इलाज यह नहीं है कि औद्योगीकरण ही न किया जाए। इस दोष को यथा शक्ति कम से कम करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। इसका एक उपाय यह है कि जनता के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से सरकार संरक्षित उद्योगों पर पूरा नियंत्रण रखे। इतना ही

नहीं, राज्य का नियंत्रण उन उद्योगों पर भी होना चाहिये जिनको संरक्षण प्राप्त नहीं है, बल्कि राष्ट्र के हित में ऐसा करना आवश्यक है। 'ट्रस्ट' और 'कार्टेल' का जन्म केवल संरक्षण के कारण ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। इनके जन्म का जो कुछ भी कारण हो, पर सार्वजनिक हित की दृष्टि से इनका नियंत्रण अवश्य होना चाहिये। प्रो० ज्ञानचन्द की राय में उद्योग-धन्धों को उन्नत करने का संरक्षण कोई अच्छा उपाय नहीं है। उनकी दृष्टि में संरक्षण का मूल आधार यह है कि उसकी आड़ में अनियंत्रित आर्थिक प्रतिद्वंद्विता का बोलबाला रहे। व्यवसायी वर्ग यह तो चाहता है कि विदेशी प्रतिद्वंद्विता से राज्य उनकी रक्षा करे, पर वे यह नहीं पसन्द करते कि वे स्वयं मजदूर, उपभोक्ता और समाज की उनके द्वारा होने वाले आर्थिक शोषण से रक्षा करें। अस्तु, प्रो० ज्ञानचन्द की यह सम्मति है कि औद्योगिक विकास के लिए संरक्षण के स्थान पर दूसरे उपायों को काम में लाना चाहिये—जैसे 'कोटा सिस्टम' (माल के आयात की मात्रा निश्चित करना) विनिमय दर नियंत्रण, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते। इसमें कोई शंका नहीं कि इन दूसरे उपायों को काम में लाने से संरक्षण-नीति को व्यवहार में लाने के कारण जो कई पेचीदगियाँ उत्पन्न हो सकती हैं उनसे बचा जा सकता है। यह पेचीदगियाँ माल के मूल्यांकन करने अथवा दुगुनी, तिगुनी, या कई गुनी टैरिफ की सूची तैयार करने से पैदा होती हैं। इस हद तक संरक्षण-पद्धति की अपेक्षा ये दूसरे उपाय अधिक सुविधाजनक हैं। यह सब होने पर भी प्रो० ज्ञानचन्द का यह मानना तो है ही कि इस प्रकार जिन उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है उनका भी जनहित की दृष्टि से राज्य द्वारा नियंत्रण आवश्यक है। यदि किसी देश में यह सम्भव है कि राज्य इस प्रकार के उद्योगों पर नियंत्रण रख सकता है तो वह संरक्षण द्वारा पोषित उद्योगों पर भी नियंत्रण रख सकता है। सारांश यह है कि पूँजीवाद के दोषों से समाज की रक्षा करने का जहाँ तक प्रश्न है वह इस बात पर निर्भर है कि राष्ट्रीय राजनीति में किस प्रकार की शक्तियों की प्रधानता है। यदि देश में प्रगतिशील शक्तियों का प्रभाव है तो समाज के हित में राज्य द्वारा आर्थिक जीवन का नियंत्रण सम्भव होगा अन्यथा नहीं। इसका यह अर्थ है कि स्वस्थ और सही आधार पर औद्योगिक उन्नति तभी सम्भव है जब कि देश की समाज व्यवस्था प्रगतिशील हो। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में तो औद्योगीकरण का स्वाभाविक परिणाम स्थिर स्वार्थों को जन्म देना होगा ही। इस सम्बन्ध में फिर भी इतना अवश्य कहना होगा कि देश की संरक्षण पद्धति को व्यावहारिक रूप देने में जो कई प्रकार की पेचीदगियाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है उनका ध्यान रखते हुए यह उचित समझा जा सकता है कि

देश की औद्योगिक उन्नति के लिए संरक्षण-पद्धति के स्थान पर दूसरे सरल सीधे और अधिक फलदायी उपायों को काम में लिया जाय। ये दूसरे उपाय आयात की मात्रा निश्चित करना, विनिमय नियंत्रण और द्विराष्ट्रीय समझौते हैं। ये उपाय वास्तव में कितने सरल हैं यह भी एक विवाद का प्रश्न है। पर जो कुछ भी हो, औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए संरक्षण-पद्धति का सर्वथा परित्याग नहीं किया जा सकता।

राजकीय सहायता के अन्य प्रकार—औद्योगिक उन्नति को प्रोत्साहन देने के लिए जिन उपायों का ऊपर विवेचन किया गया है उनके अतिरिक्त कुछ दूसरे उपाय भी हैं। उनका संक्षेप में हम यहां उल्लेख करेंगे।

कच्चे माल को बाहर जाने से रोकने के लिए, ताकि देश के उद्योगों को कच्चा माल आसानी से उपलब्ध हो सके, निर्यात-कर लगाना भी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने का एक उपाय है। इसके बारे में विचारणीय प्रश्न एक ही है और वह यह कि उत्पादन-कर्ता अर्थात् व्यवसायी को थोड़ा-सा लाभ पहुंचाने के लिए कच्चे माल को पैदा करने वालों को बहुत हानि तो नहीं उठानी पड़ती है। औद्योगीकरण में सहायता पहुंचाने का दूसरा उपाय यह है कि उद्योग-धन्धों के काम में आने वाला जो कच्चा माल अथवा मशीन आदि बाहर से आती हैं, उन पर आयात-कर न लगाया जाए।

औद्योगिक उन्नति में राज्य देश की बैंकिंग व्यवस्था को सही आधार पर विकसित होने में मदद पहुंचा कर, रेल और जहाजों के किरायों के सम्बन्ध में उदार नीति बरत कर और बिक्री के लिये अच्छी व्यवस्था खड़ी करके भी सहायता पहुंचा सकता है। व्यापारिक और औद्योगिक सूचना प्राप्त करने की सुव्यवस्था करने का भी बड़ा महत्त्व है। पराधीन भारत में इन सब मामलों में असन्तोषजनक स्थिति रही। आज भी स्थिति पूर्णतया संतोषप्रद नहीं मानी जा सकती। उदाहरण के लिए भारतीय रेलों के किराये सम्बन्धी नीति के बारे में फ़िसकल कमीशन का यह कहना है कि अक्टूबर १९४८ से किराये की जो संशोधित दरें लागू की गई हैं उनके परिणामस्वरूप रेलवे की किराये की दरों का वैज्ञानिकन तो हुआ है और फ़ासले के बढ़ने के साथ-साथ किराये में कमी भी की गई है, पर कुछ दूसरी समस्यायें खड़ी हो गई हैं। कमीशन ने इस प्रश्न पर रेलवे बोर्ड द्वारा दुबारा विचार करने की सिफ़ारिश की है ताकि उद्योगों के विकेन्द्रीकरण और खाद्य या खनिज पदार्थ को अपने ही स्थान तथा प्रदेश में तैयार माल में बदलने में अधिक सहायता मिल सके। इसी प्रकार देश की बैंकिंग व्यवस्था में भी कई प्रकार के सुधार की आवश्यकता है, जैसे व्यापारिक बैंक औद्यो-

गिक पूंजी के बारे में अधिक उदार नीति का व्यवहार करें और विशेष प्रकार के बैंक स्थापित किये जाएं। व्यापारिक और औद्योगिक सूचना के लिए केन्द्रीय सरकार के व्यापारिक सूचना और अंक विभाग के अलावा राज्य की सरकारों के औद्योगिक विभागों में भी सूचना सम्बन्धी शाखाएं काम करती हैं। पर यह व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है। सरकार द्वारा सूचनाएं पुरानी होती हैं और अपूर्ण भी होती हैं।

औद्योगीकरण के लिए अनुकूल वातावरण बनाने में शिक्षा का भी बड़ा महत्त्व है। अंग्रेजों ने देश में जिस शिक्षा पद्धति को प्रचलित किया उसके फलस्वरूप हाथ के काम से देश के नवयुवकों में अरुचि उत्पन्न हुई। पुस्तकीय शिक्षा पर ज़ोर होने से विद्यार्थी कोई उपयोगी ज्ञान नहीं सीख सकते थे। इस स्थिति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता समय-समय पर अनुभव की जाती रही है। तत्कालीन भारत सरकार के निमंत्रण पर नवम्बर १९३६ में भारत में दो शिक्षा विशेषज्ञ एबट और वुड आये थे। सन् १९३७ में उन्होंने अपनी रिपोर्ट पेश की। उसमें भी इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि भारतवर्ष में शिक्षा प्रधानतः पुस्तकीय है जो अनुचित है। फिस्कल कमीशन ने भी यह सिफारिश की थी कि सरकार को टेक्निकल शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए। अन्य कमीशनों और कमेटियों ने भी इस बात को कहा है। उदाहरण के लिए औद्योगिक कमीशन (१९१६-१८) कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन (१९१७-१९), जाकिर हुसैन कमेटी (१९३७) टेक्निकल और औद्योगिक शिक्षा सम्बन्धी बम्बई कमेटी (१९२१) और भारत सरकार द्वारा टेक्निकल शिक्षा पर विशेषतया युद्धकालीन आवश्यकता पूरा करने की दृष्टि से विचार करने के लिए नियुक्त सारजेण्ट कमेटी (१९४०) इन सब ने इसी बात पर ज़ोर दिया कि शिक्षा पुस्तकीय न होकर अधिक व्यावहारिक होनी चाहिए। दो बातों पर विशेषतया ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली में धन्धे की शिक्षा की ओर विशेष झुकाव होना चाहिए। वर्धा शिक्षा प्रणाली इस दृष्टि से एक प्रशंसनीय प्रयत्न है। इस पद्धति का देश में अधिकाधिक प्रचार होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि हमारी आवश्यकतानुसार टेक्निकल शिक्षा देने वाली संस्थाओं की देश में स्थापना होनी चाहिए। ऐसी संस्थाओं की आज भी कमी है। ऊँचे दर्जे के काम करने वालों—जैसे फोरमैन, मैनेजर आदि के लिए आवश्यक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। भारत सरकार और राज्य की सरकारों को मिलजुल कर इस विषय में एक व्यवस्थित योजना के अनुसार काम करना होगा। देश में टेक्निकल शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने

के अलावा, छात्रवृत्ति देकर भारतीय छात्रों को शिक्षा के लिए विदेशों में भेजना होगा। विदेशी कम्पनियों से भी माल खरीदने की एक शर्त यह लगाई जा सकती है कि वे भारतीय विद्यार्थियों को आवश्यक टेकनिकल शिक्षा दें। हमारी केन्द्रीय और राज्य की सरकारों का इस ओर ध्यान है और इस दिशा में वे प्रयत्नशील होने की चेष्टा भी कर रही हैं। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की सिफारिश के अनुसार १६४५ में भारत सरकार ने अखिल भारतीय टेकनिकल शिक्षा कौंसिल की स्थापना की जिसका काम-उच्च टेकनिकल शिक्षा के सम्बन्ध में भारत सरकार को सलाह देना है। युद्धोत्तर-शिक्षा-योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों में टेकनिकल स्कूलों और पोलीटेकनिक तथा औद्योगिक स्कूलों की स्थापना हुई है। भारत सरकार ने भी टेकनिकल शिक्षा के प्रचार की ओर ध्यान दिया है। दिल्ली के पोलिटेकनीक का विस्तार किया गया। हाल ही में हिजली (प० बंगाल) में इन्स्टीट्यूट आव हाइर टेकनालाजी की भारत सरकार ने स्थापना की है। दूसरे स्थानों पर भी ऐसे इन्स्टीट्यूट स्थापित करने का विचार है। बंगलोर के इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्स के विकास में भारत सरकार योग दे रही है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार विदेश में शिक्षा पाने के लिए विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां भी देती है। यहां एक बात का उल्लेख कर देना और आवश्यक है कि टेकनिकल शिक्षा से पूरा लाभ उसी दशा में संभव होगा जबकि उद्योग-धन्धों और शिक्षा-संस्थाओं में निकट का सम्पर्क रहे।

औद्योगिक अन्वेषण का प्रश्न भी बड़ा महत्त्व का है। देश की औद्योगिक व्यवस्था को अन्य उन्नत राष्ट्रों की औद्योगिक व्यवस्था के बराबर रखने की दृष्टि से तथा उस विषय में बराबर उन्नति का द्वार खुला रखने की दृष्टि से भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्र में औद्योगिक अन्वेषण की समुचित व्यवस्था हो। बड़े-बड़े व्यवसायों और राज्य दोनों का ही इस सम्बन्ध में बहुत बड़ा कर्तव्य है। सरकार का कर्तव्य है कि गैर सरकारी प्रयत्नों को आर्थिक सहायता तथा आवश्यक मार्ग दर्शन और समन्वय द्वारा प्रोत्साहन दे। इस क्षेत्र में विश्व विद्यालय भी औद्योगिक अन्वेषण के स्वतन्त्र विभाग स्थापित करके बहुत कुछ काम कर सकते हैं। विश्वविद्यालयों को उद्योग-धन्धों का पूरा सहयोग मिलना चाहिये। सरकार को भी इस क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाएं स्थापित करना चाहिये। साथ ही इस प्रकार के सरकारी तथा गैर सरकारी सब प्रयत्नों में समन्वय की भी बहुत आवश्यकता है। एक या दो अपवादों को छोड़कर भारतवर्ष में औद्योगिक अन्वेषण का अभी तक अभाव ही रहा है। भारत के अधिकांश उद्योग-धन्धे छोटे अथवा बीच के दर्जे के हैं और अच्छे औद्योगिक खोज के केन्द्र स्थापित

करना उनकी शक्ति के बाहर की बात है। इस देश में संगठित औद्योगिक खोज का प्रारंभ हुए बहुत समय नहीं हुआ है। विभिन्न पदार्थों संबंधी समितियों, जैसे भारतीय केन्द्रीय कपास समिति, भारतीय केन्द्रीय जूट समिति और भारतीय केन्द्रीय लाख उपकर (सेस) समिति आदि की जब स्थापना हुई तो इन में से प्रत्येक के साथ एक टेक्नालाजिकल इंस्टीट्यूट भी कायम किया गया। इस देश में संगठित औद्योगिक खोज का यही आरंभ था। पर चूंकि उपर्युक्त समितियां कृषि-पक्ष से सम्बन्ध रखती थीं, इस लिए इनसे सम्बन्ध रखने वाली टेक्नोलाजिकल इन्स्टीट्यूट्स ने औद्योगिक खोज के क्षेत्र में थोड़ा काम किया। देश के विभिन्न भागों में कुछ स्वतंत्र रिसर्च इन्स्टीट्यूशन्स भी कायम हुए हैं, पर उन्होंने आधार भूत वैज्ञानिक और टेक्नालाजिकल प्रश्नों पर अधिक ध्यान दिया है तथा उद्योग धन्धों से सम्बन्ध रखने वाली समस्या विशेष की ओर उनका ध्यान कम रहा है। इस कारण से उनसे भी देश के उद्योग धन्धों को विशेष लाभ नहीं हो सका है। खास तौर से इसका कारण यह भी रहा है कि उनका उद्योग-धन्धों से सम्पर्क भी बहुत कम रहा है। सरकार ने भी इस दिशा में पिछले वर्षों में कुछ प्रयत्न किये हैं और अब तो इस ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। पांचवें औद्योगिक सम्मेलन (१९३४) की सिफारिश के परिणाम स्वरूप 'इण्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो' की अप्रैल १९३५ में स्थापना की गई जिसकी सहायता और सलाह के लिए 'इण्डस्ट्रियल रिसर्च कौंसिल' भी स्थापित की गई। यह रिसर्च ब्यूरो इण्डियन स्टोर्स डिपार्टमेंट से सम्बद्ध है। इसका काम औद्योगिक जानकारी एकत्रित करना और देना, औद्योगिक खोज में उद्योग धन्धों का साथ देना और औद्योगिक प्रदर्शनियों के संगठन में सहायता पहुँचाना आदि है। सन् १९४० में एक नई संस्था 'बोर्ड आव साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' नाम की स्थापित हुई है। इसके तत्वावधान में देश के विभिन्न भागों में कुछ राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ स्थापित की गई हैं। औद्योगिक खोज का क्षेत्र तो बहुत विस्तृत है। पर आवश्यकता इस बात की है कि आने वाले कुछ वर्षों में निम्नलिखित समस्याओं पर ही विशेष ध्यान दिया जाए—उत्पादन क्रिया, फैक्टरियों में काम करने की परिस्थितियाँ और उनका काम करने वालों के स्वास्थ्य और कुशलता पर प्रभाव, बाजार सम्बन्धी खोज, और प्रबन्ध संबंधी खोज। इस प्रकार के खोज कार्य के मुख्य उद्देश्य होंगे कच्चे माल में सुधार करना, तैयार माल में सुधार करना, कच्चे माल से तैयार माल की मात्रा में वृद्धि करना, और उत्पादन क्रिया में सुधार करना ताकि प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ सके। औद्योगिक खोज के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्व की बात यह है कि इस कार्य में सरकार और उद्योग धन्धों को

सम्मिलित प्रयत्न करने चाहिये। अहमदाबाद टेक्सटाइल इण्डस्ट्री रिसर्च एसोसि-एशन द्वारा स्थापित रिसर्च इन्स्टीट्यूट इस सम्मिलित प्रयत्न का एक अच्छा उदाहरण है और सरकार ने जो उसमें सहायता दी है वह प्रशंसनीय है। एक और ध्यान देने की बात यह है कि खोज संबंधी विभिन्न संस्थाओं के कार्य क्षेत्र का उचित बटवारा होना चाहिये और उद्योग-धन्धों तथा सरकार द्वारा जो अलग-अलग प्रबन्ध हों उनमें उचित समन्वय होना चाहिये। जैसे इस समय सरकार द्वारा स्थापित राष्ट्रीय प्रयोगशालाएं, टेकनोलोजिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट्स जो विभिन्न पदार्थ समितियों से सम्बद्ध हैं, इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स (बंगलोर) जैसी विशेष संस्थाएँ, और विश्व-विद्यालयों द्वारा आयोजित खोज-कार्य जो देश में चल रहे हैं उनके क्षेत्रों का समुचित बटवारा होना चाहिये। इसके अलावा खोज-कार्य और उद्योग-धन्धों के पारस्परिक स्थायी सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से एक राय तो यह भी है कि राष्ट्रीय भौतिक शास्त्र प्रयोगशाला और रसायन-विज्ञान प्रयोगशाला (नेशनल फिजिकल लेबोरेटरी और ने० केमिकल लेबोरेटरी) के अलावा अन्य प्रयोगशालाओं को सरकारी विभाग के तौर पर न चला कर स्वतंत्र खोज-सभाओं के रूप में चलाना चाहिये और उद्योग-धन्धों पर उनके सम्बन्ध में यथेष्ट दायित्व डाला जाना चाहिये।

उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने का सरकार के पास एक उपाय यह भी है कि वह अपनी आवश्यकता स्वदेशी माल द्वारा ही पूरी करे। इस विषय में भी पराधीन भारत में सरकार की नीति बराबर आलोचना का विषय रही।यहां तक कि सरकार द्वारा नियुक्त औद्योगिक कमीशन ने भी इस विषय में सरकारी नीति को असंतोषजनक बताया था। सरकार ने भी स्वीकार किया कि उपयुक्त व्यवस्था न होने से यह कमी रही कि जो माल भारत में खरीदा जा सकता था वह भी इंगलैंड से मंगाया गया। तत्कालीन भारत-सरकार की स्वीकृत नीति के भी यह विरुद्ध था। औद्योगिक कमीशन की सिफारिश के अनुसार इस प्रश्न पर विचार करने के लिए १९२१ में 'स्टोर्स परचेज़ कमेटी' की नियुक्ति की गई। उस कमेटी ने भी कमीशन की इस राय का समर्थन किया कि सरकार द्वारा खरीदे जाने वाली वस्तुओं के निरीक्षण के लिए एक केन्द्रीय विशेषज्ञ विभाग की स्थापना होनी चाहिये। अस्तु, इण्डियन स्टोर्स विभाग की स्थापना हुई। इसकी सेवाओं का लाभ केन्द्रीय सरकार के अलावा राज्य की सरकारों तथा स्थानिक शासन संस्था आदि को भी मिलता है। यह विभाग एक सलाहकार के रूप में काम करता है। और खरीदने, और खरीदे जाने वाले माल की जांच करने तथा मूल्य आदि

व्यवस्था करने के वास्ते राज्य का क्या कर्तव्य है यह हम आगे के परिच्छेद में लिखेंगे। यहां हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इन कार्यों में भी राज्य का पूरा सहयोग चाहिये। सारांश यह है कि बिना राज्य के क्रियात्मक सहयोग के देश की औद्योगिक उन्नति संभव नहीं है। प्रथम महायुद्ध ने तत्कालीन भारत सरकार के दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन किया था। द्वितीय महायुद्ध ने इस दृष्टिकोण को और प्रोत्साहन दिया। विभिन्न राज्यों के औद्योगिक विभागों ने भी टेकनिकल और इन्डस्ट्रियल शिक्षा, औद्योगिक सूचना, उद्योग धन्धों को आर्थिक सहायता (छोटे और कुटिर उद्योगों को) और क्रय-विक्रय स्टोर्स और प्रदर्शिनियों की व्यवस्था करके औद्योगिक प्रगति में सहायता देने का बराबर पिछले कई वर्षों से प्रयत्न किया है। जब से देश स्वतंत्र हुआ है तब से केन्द्रीय और राज्य की सरकारों ने इस ओर विशेष ध्यान देना आरंभ किया है। इस सम्बन्ध में अन्यत्र हम विस्तार से लिख चुके हैं। यहां तो इतना दुहराना ही काफी है कि राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद देश की प्रमुख समस्या आर्थिक ही है और वह तभी शान्तिपूर्वक हल हो सकेगी जब सरकारें, जनता, उद्योगपति और मजदूरवर्ग सभी राष्ट्र के व्यापक कल्याण को सामने रखकर पूरी शक्ति और लगन के साथ एक निश्चित योजना के अनुसार काम करना अपना एक मात्र लक्ष्य बनाएंगे।

राजकोषीय आयोग की सिफारिशें

भारत सरकार ने अप्रेल १९४८ में जिस औद्योगिक नीति की घोषणा की थी, उसमें प्रशुल्क (टेरिफ) नीति के बारे में स्पष्ट कर दिया था कि अनुचित प्रतिद्वन्द्विता को रोकने और भारत के प्राकृतिक साधनों के सदुपयोग को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से उस नीति का निर्माण किया जायगा और यह भी ध्यान रखा जायगा कि उपभोक्ता को अनुचित भार उस नीति के परिणाम स्वरूप न उठाना पड़े। इसी घोषणा के अनुसार २० अप्रेल १९४९ को भारत सरकार ने राजकोषीय आयोग की नियुक्ति की। राजकोषीय आयोग का कार्य अन्य बातों के साथ-साथ उद्योगों के संरक्षण और सहायता सम्बन्धी किस नीति को सरकार अपनाये और संरक्षित उद्योगों के क्या कर्तव्य-दायित्व माने जावें, तथा इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए किस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक है—इस संबंध में भी भारत-सरकार के सामने अपना अभिमत प्रस्तुत करना था।

संरक्षण-नीति का निर्णय किस आधारभूत दृष्टि से होना चाहिये इस सम्बन्ध में विवेचन करते हुए राजकोषीय आयोग ने लिखा है कि "संरक्षण नीति का उद्देश्य केवल अमुक प्रकार के उत्पादन को प्रोत्साहन देना न होकर जनसंख्या

भी हुआ कि लोहा-इस्पात, कागज, और सूती वस्त्र के संरक्षित उद्योगों पर जो आधारित उद्योग थे उनकी भी स्थापना हुई। जैसे रासायनिक पदार्थ, स्टार्च आदि के उद्योग। (३) औद्योगिक जनसंख्या की वृद्धि। यद्यपि इस सम्बन्ध में बहुत विश्वासनीय और संपूर्ण आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि गत दो दशाब्दियों में जनसंख्या के धंधेवार बटवारे में गौण और अप्रत्यक्ष सेवा सम्बन्धी धंधों (टेरटियरी) के पक्ष में थोड़ा सुधार हुआ है। इस विषय में सारूप में राजकोषीय आयोग में लिखा है कि "संरक्षित उद्योगों की प्रगति के इस विवरण से यदि हम निष्कर्ष निकालें तो यह कहा जा सकता है कि विवेचन संरक्षण की नीति ने अपने मर्यादित क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है और जनता को मिलने वाले प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लाभ का यदि ध्यान रखें तो उनसे उपभोक्ताओं पर पड़ने वाले भार की पूर्ति हो जाती है।" गत महायुद्ध के बाद की राजकोषीय नीति के परिणामों का पूरा-पूरा अनुमान अभी लगाना कठिन है। यह सब होते हुए भी विवेचन संरक्षण की जो संकुचित नीति अपनाई गई उसके स्थान पर यदि अधिक उदारनीति का पालन किया जाता तो भारत के औद्योगिक नकशे में जो आज अपूर्णताएँ और रिक्तबिन्दु दिखाई देते हैं वे इतनी मात्रा में न दिखाई देते।

राजकोषीय आयोग के इस अभिमत का हम उल्लेख कर चुके हैं कि देश की औद्योगिक रक्षण नीति का निश्चय राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था की भावी रूप-रेखा को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिये। इसी बात को दूसरे शब्दों में आयोग ने यों कहा है कि राष्ट्रीय हित लक्ष्य है और औद्योगिक रक्षण नीति उसका एक साधन मात्र। अस्तु, राजकोषीय आयोग ने देश की भावी आर्थिक व्यवस्था की रूपरेखा का एक चित्र प्रस्तुत किया है जिसकी पृष्ठ भूमि में ही उसने देश की भावी राजकोषीय नीति संबंधी सिफारिशें भी की हैं।

राजकोषीय आयोग ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था में खेती का बड़ा महत्त्व रहने वाला है और उसकी प्रगति पर राष्ट्र को एकाग्र चित्त होकर ध्यान देना चाहिये। हमारे कृषि-उद्योग के विकास से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न समस्याओं में सबसे विषम समस्या खेती में लगे हुए लोगों की जो आज अत्यधिकता है उसे कम करने की है। इस समस्या की विषमता का अन्दाज राजकोषीय आयोग ने जो आंकड़े अनुमान के तौर पर दिये हैं उनसे लगाया जा सकता है। यदि हम कृषि में जो अधिक जनसंख्या है उसे आगामी २० वर्षों में दूसरे धंधों में लगाने की योजना बनाएँ तो हमें वर्तमान कृषि-जनसंख्या में से १५ लाख जनसंख्या प्रतिवर्ष दूसरे धंधों में लगाने की व्यवस्था

समन्वय पर बहुत गंभीरतापूर्वक ध्यान देने की आवश्यकता को स्वीकार किया है। भारत सरकार की औद्योगिक नीति के आधार पर देश के बड़े उद्योग-धंधों के स्वरूप का जो चित्र आयोग ने प्रस्तुत किया है उसके प्रधान अंग इस प्रकार हैं:- (क) रक्षा उद्योग—जिनमें अस्त्र-शस्त्र तथा युद्ध-सामग्री से संबंध रखने वाले उद्योगों के अलावा दूसरे बहुत उच्च दक्षता चाहने वाले ऐसे उद्योग—जैसे हवाई जहाज-निर्माण तथा बेतार के तार आदि के उद्योग भी शामिल हैं। (ख) भारी आधारोद्योग—जैसे यातायात के सामग्री संबंधी उद्योग, जहाज-निर्माण का उद्योग आदि। (ग) भारी प्रमुखोद्योग (बेसिक इन्डस्ट्रीज)—जिनके सहारे दूसरे बड़े पूँजी पदार्थों और उपभोग-पदार्थों के उद्योगों की स्थापना की जा सकती है, जैसे लोहे और इस्पात का उद्योग, यंत्रोपकरण-(मशीन टूल) उद्योग, मोटर-उद्योग आदि। (घ) हल्के प्रमुखोद्योग—जैसे कास्टिक सोडा, अलौह धातु, कृषि-औजार आदि। (ङ) आवश्यक उपभोगपदार्थ-उद्योग—जैसे सूती वस्त्र, ऊनी वस्त्र, सीमेंट, शकर, कागज, आदि। आयोग ने यह भी स्वीकार किया है कि देश के औद्योगिक विकास का उपर्युक्त चित्र सम्पूर्ण होने में समय लगेगा और उसका मानना है कि इस आदर्श की ओर हमें धीरे-धीरे अग्रसर होना चाहिये। इस दृष्टि से उन्होंने राजकीय और व्यक्तिगत दोनों ही क्षेत्रों के लिए प्राथमिकता की एक शृंखला विशेष का सुझाव भी दिया है। देश के इस भावी औद्योगिक चित्र को उपस्थित करते हुए सार रूप में राजकोषीय आयोग का कहना है कि "बड़े उद्योगों के जिस स्वरूप की हम कल्पना करते हैं वह एक प्रकार से अमेरिका और इंगलैंड के जैसे बहुत ही पूंजी प्रधान उद्योगों और भारत की ग्राम्य प्रधान अर्थ व्यवस्था के बीच की सी स्थिति की कल्पना है।" राजकोषीय आयोग ने देश के विदेशी व्यापार के बारे में भी थोड़ा विस्तार से विचार किया है और देश के औद्योगीकरण के भावी स्वरूप की पृष्ठभूमि में विदेशी व्यापार सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति का विवेचन किया है। राज्य को देश के इस भावी आर्थिक ढाँचे के निर्माण और विकास में किस प्रकार और कितना सहयोग देना चाहिये, इस विषय में भी राजकोषीय आयोग ने अपने विचार प्रकट किये हैं। सारांश यह है कि देश के जिस आर्थिक स्वरूप को सामने रखकर राजकोषीय आयोग ने भारत-सरकार के विचारार्थ राजकोषीय नीति सम्बन्धी सिफारिशें की हैं उसकी एक मोटी रूपरेखा आयोग ने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। उसी रूपरेखा का उल्लेख हमने यहाँ करना आवश्यक समझा। अब देखना यह है कि इस आर्थिक स्वरूप को लक्ष्य में रखकर राजकोषीय आयोग ने किस प्रकार की राजकोषीय नीति का प्रतिपादन किया है।

आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हैं तो कच्चे माल की सुविधा रक्षण देने की आवश्यक शर्त नहीं मानी जानी चाहिये। इसी प्रकार रक्षण देते समय भावी निर्यात-बाज़ार की सम्भावनाओं पर भी विचार किया जाना चाहिये। देश की सम्पूर्ण मांग को पूरी कर सकना भी रक्षण-प्राप्त करने के लिए आवश्यक नहीं होना चाहिये, यद्यपि प्रशुल्क अधिकारी की दृष्टि में यह बात तो होनी ही चाहिये कि इस सम्पूर्ण मांग के यथेष्ट अंश की पूर्ति रक्षण चाहनेवाले उद्योग के द्वारा अवश्य ही हो सकेगी। इसी प्रकार जो रक्षित उद्योग किसी दूसरे रक्षित उद्योग द्वारा तैयार माल को कच्चे माल के रूप में प्रयोग करता है उसे अतिरिक्त रक्षण देना आवश्यक हो सकता है। राजकोषीय आयोग ने यह भी स्वीकार किया है कि कई उद्योगों को उनकी स्थापना के पूर्व ही रक्षण का आश्वासन देना आवश्यक हो सकता है। जो उद्योग काफ़ी पूंजी-व्यय चाहते हैं, या जिनको काफी ऊंचे दर्जे के विशेषज्ञ चाहियें और साथ ही जिनको विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़े, उनको इस प्रकार के रक्षण की आवश्यकता हो सकती है। प्रशुल्क अधिकारी को सारी स्थिति की जांच करके सरकार को सिफ़ारिश करना चाहिये। इसी प्रकार राजकोषीय आयोग की यह भी सिफारिश है कि अगर राष्ट्र के हित में आवश्यकता है तो कृषि-पदार्थों को भी रक्षण दिया जा सकता है। पर यथासम्भव कम से कम पदार्थों को रक्षण दिया जाना चाहिये और यह रक्षण अल्प काल के लिये, (एक समय में पांच वर्ष से अधिक के लिए किसी भी दशा में नहीं) मिलना चाहिये। रक्षित उद्योग के पदार्थों पर उत्पाद-कर लगाने के विरुद्ध भी राजकोषीय आयोग ने अपनी राय दी है।

रक्षण-नीति से सम्बन्ध रखनेवाला एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रक्षण के स्वरूप का है। राजकोषीय आयोग ने निम्नलिखित स्वरूपों के बारे में अपनी रिपोर्ट में विचार किया है—(१) प्रशुल्क—दोनों प्रकार के अर्थात् यथामूल्य-कर (एडवेलरम ड्यूटी) और परिमाण-कर (स्पेसिफिक ड्यूटी)। (२) मात्रिक प्रतिबन्ध—अर्थात् सरकार यह निश्चित करदे कि अमुक समय में अमुक मात्रा में ही आयात हो सकेगा। इस के बारे में आयोग का यह मत है कि साधारण स्थिति में रक्षण की इस पद्धति का बहुत कम उपयोग करना चाहिये क्योंकि इस पद्धति में कई प्रकार की कमियां पाई जाती हैं। (३) अर्थ-साहाय्य (सबसिडी)—इस पद्धति के अनुसार सरकार रक्षित उद्योग को सीधी आर्थिक सहायता देती है। (४) एकत्रीकरण (पूलिंग)—अर्थात् सरकार यह व्यवस्था करे कि देश में जो माल-उत्पादन हो और विदेश से जो आयात किया जाए वह एकत्रित कर दिया जायगा और सारा ही माल एक ऐसे निश्चित मूल्य पर बेचा जायगा जोकि देश के

विशेष की स्थिति और प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति दोनों का ही ध्यान रखकर होना होगा। यह ठीक है कि विकास की दृष्टि से रक्षण अधिक समय के लिए आवश्यक होगा, परन्तु किसी तात्कालिक कठिनाई का सामना करने के लिए यदि रक्षण आवश्यक है तो वह अपेक्षाकृत कम समय के लिए होगा। पर राजकोषीय आयोग का यह निश्चित मत है कि रक्षण के समय के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त यही होना चाहिये कि उद्योग-धन्धों को पर्याप्त लम्बे समय के लिए रक्षण दिया जावे ताकि धन्धों में पूंजी भी आकर्षित हो सके और उनके विकास के लिए उचित योजना तैयार की जाकर उसको कार्यान्वित भी किया जा सके। पर्याप्त समय के लिए रक्षण नहीं मिलने से उसका सारा उपयोग ही नष्ट हो जाता है।

जिन उद्योग-धन्धों को समाज की ओर से सहायता और रक्षण प्राप्त हों उन पर इस बात का प्रतिबन्ध भी होना चाहिये कि इस सुविधा के बदले में वे किन्हीं कर्तव्यों का पालन भी करें। राजकोषीय आयोग का यह मत है कि रक्षित उद्योग पर इस बात का दायित्व होना चाहिये कि वह अपनी प्रतिस्पर्द्धात्मक दक्षता बढ़ावे। किस उद्योग पर क्या दायित्व डालना चाहिये इसका निर्णय तो उपयुक्त अधिकारी द्वारा सब सम्बन्धित बातों पर सोच-विचार कर ही किया जाना चाहिये। परन्तु फिर भी उचित मूल्य, उत्पादन मात्रा मे वृद्धि उत्पादित वस्तु के गुण, उत्पादन और वितरण की अधिक से अधिक वैज्ञानिक प्रणाली के उपयोग, अनुसंधान, उच्च श्रेणी के मजदूरों और उम्मीदवार कारीगरों (एपरेंटिसेज़) के शिक्षण, समाज विरोधी कार्य और देश में उत्पन्न कच्चे माल के उपयोग सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें हैं जिनके विषय में रक्षित उद्योगों पर समाज के हित की दृष्टि से आवश्यक जिम्मेदारी डाली जाना चाहिये। इन विभिन्न प्रकार की जिम्मेदारियों का पालन कराने का सबसे अच्छा उपाय राजकोषीय आयोग की दृष्टि में यह नहीं है कि रक्षण सम्बन्धी जो भी कानून बने उसमें इनका समावेश कर लिया जाए। इससे तो एक अनावश्यक कड़ाई आजाने का भय है। आयोग का यह मानना है कि प्रशुल्क अधिकारी की स्थापना सम्बन्धी जो कानून बने उसमें मार्गदर्शक सिद्धान्तों की तरह, जिनका कानून द्वारा पालन नहीं कराया जा सकता, इस प्रकार के दायित्वों का उल्लेख होना चाहिये। फिर यह उस अधिकारी पर छोड़ दिया जावे कि वह किस उद्योग पर कौन सी बातों का और किन शर्तों पर दायित्व डालता है। साथ ही इस अधिकारी का यह भी काम होना चाहिये कि कौनसा उद्योग अपने दायित्व को कहां तक वास्तव में पूरा कर रहा है या नहीं, इसकी वह निगरानी रखे और इस सम्बन्ध में वह सरकार को

भी समय समय पर विचार करता रहे। यदि सरकार यह अनुभव करे कि किसी स्थिति में कानून द्वारा ही इन दायित्वों का पालन कराया जा सकता है तो वह ऐसा कानून भी पास कर सकती है। इन दायित्वों का महत्त्व रक्षित उद्योगों पर किसी प्रकार का बंधन लगाना नहीं है बल्कि देश के औद्योगिक विकास की गति को तेज करने के दृष्टिकोण से ही इन दायित्वों की आवश्यकता समझी गई है।

राजकोषीय आयोग ने प्रशुल्क के अलावा रक्षण के दूसरे उपायों पर भी विचार किया है। पूँजी का संचय, विदेशी पूँजी का महत्त्व, औद्योगिक प्रबंध, औद्योगिक अनुसंधान, प्रमापीकरण (स्टैंडर्डाइजेशन) और गुण नियंत्रण, मजदूर दक्षता, मजदूर शिक्षण, यातायात के साधन और सुविधा, तथा अधिकोषण व्यवस्था सम्बन्धी प्रश्नों पर भी औद्योगिक विकास की दृष्टि से विचार किया गया है। इसने इन तमाम प्रश्नों पर अपने अपने उपयुक्त स्थान पर विचार किया है।

राजकोषीय आयोग ने देश की रक्षण नीति सम्बन्धी प्रश्न का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ (आई० टी० ओ०) की पृष्ठभूमि में भी विचार किया है। उनका यह मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ में शामिल होते हुए भी हम देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक रक्षण नीति को अपना सकते हैं। अस्तु इसने यह सिफारिश की है कि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ की सदस्यता स्वीकार कर लेना चाहिये यदि अन्य आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण देश—जिनमें इंग्लैंड और अमरीका भी शामिल हों—सदस्य होना स्वीकार करें तथा देश की उस समय की आर्थिक स्थिति में ऐसा करना उचित समझा जाए।

राजकोषीय आयोग ने देश की आर्थिक योजना और रक्षण नीति के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में भी अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि रक्षण योजना का एक साधनमात्र है और उसके द्वारा देश की सेवा उसी दशा में हो सकती है जबकि देश के आर्थिक विकास के लिए एक व्यापक आर्थिक योजना तैयार की जाए और उसको कार्यान्वित करने के अन्य साधनों को उपलब्ध किया जाए। आर्थिक नीति से सम्बन्ध रखने वाले केन्द्रीय सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के समन्वयीकरण के महत्त्व पर जोर देते हुए, आयोग ने इंग्लैंड के उदाहरण पर व्यापार उद्योग मंडल की स्थापना करने के प्रश्न पर विचार करने का सुझाव भी उपस्थित किया है।

रक्षण नीति से सम्बन्ध रखनेवाला अन्तिम प्रश्न यह है कि इस नीति

को कार्यान्वित करने का जिम्मा किसका समझा जाए। राजकोषीय आयोग ने इस काम के लिए 'प्रशुल्क आयोग' की स्थापना की सिफारिश की है। यह आयोग एक स्थायी संस्था होना चाहिये जैसी कि भारतीय राजकोषीय आयोग (१६२२) ने भी सिफ़ारिश की थी, यद्यपि तत्कालीन भारत-सरकार ने उन सिफ़ारिशों को स्वीकार नहीं किया। रक्षण-नीति में स्थायित्व और समानता के लिए इस प्रकार के स्थायी आयोग की बड़ी आवश्यकता है। इस आयोग की स्थापना संसद के कानून द्वारा की जानी चाहिये ताकि उसके कार्य के अनुरूप उसको प्रतिष्ठा मिल सके। इसमें पांच सदस्य हों जिनमें से एक अध्यक्ष हो। यह संख्या ७ तक बढ़ाई जाने के इसकी कानून में गुंजाइश होनी चाहिये। विशेष काम के लिए सलाहकारों की नियुक्त करने का भी आयोग को अधिकार होना चाहिये। सदस्यों की नियुक्ति का एक मात्र आधार योग्यता होना चाहिये और किसी भी प्रदेश अथवा हित विशेष के प्रतिनिधित्व का बिल्कुल ध्यान नहीं रखना चाहिये। सदस्यों पर कुछ विशेष प्रतिबन्ध भी होने चाहिऐं जैसे सदस्य होने के समय प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत कम्पनियों में अंशधारी (शेयर होल्डर) की हैसियत से या अन्य किसी प्रकार के अपने हितों की घोषणा करनी चाहिये और सदस्यता समाप्त होने के बाद तीन साल तक बिना सरकार की पूर्व स्वीकृति के किसी व्यक्तिगत उद्योग-धंधे में कोई ज़िम्मेदारी का पद न ग्रहण कर सके, यह प्रतिबंध होना चाहिये।

प्रशुल्क आयोग के निम्नलिखित कार्य होने चाहिये:—

(१) रक्षण और आय सम्बन्धी प्रशुल्क की जाँच करना। इस संबन्ध में रक्षण के लिए आए हुए आवेदनपत्रों और व्यापारिक समझौतों के अनुसार आवश्यक प्रशुल्क में रियायतों विषयक जाँच तो आयोग को सरकार के कहने पर ही करनी चाहिये। परन्तु वस्तु-राशिपातन (डंपिंग) की शिकायत और रक्षण करों में परिवर्तन सम्बन्धी जाँच प्रशुल्क आयोग अपनी इच्छा से अथवा सरकार के कहने से भी कर सकता है।

(२) मूल्यों और देश की अर्थ व्यवस्था पर रक्षण के सामान्य प्रभाव सम्बन्धी जाँच करना। ये जाँच सरकार के कहने पर ही आयोग को करनी होगी और इसमें वस्तु विशेष के मूल्यों, प्रशुल्क का मूल्यों के सामान्य स्तर पर प्रभाव, रहन-सहन के खर्च पर प्रशुल्क का प्रभाव और देश की अर्थ व्यवस्था के अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रशुल्क के प्रभाव सम्बन्धी जाँच का समावेश होगा।

(३) रक्षण-करों का सिंहावलोकन करना। इस श्रेणी में प्रशुल्क के कार्यान्वित होने सम्बन्धी पद्धति, रक्षण-करों का उत्पादन-लागत, उत्पादन-

मात्रा, वस्तुओं के गुण और उत्पादन वृद्धि की सम्भावना की दृष्टि से उद्योग पर पड़ने वाले प्रभाव, रक्षित उद्योगों को [illegible] के समय दी जाती, व्यापार पर किसी के रक्षित उद्योगों से पाए जाने वाले प्रभाव और रक्षित उद्योगों के दायित्व, और रक्षण करने के कारण उत्पन्न [illegible] इत्यादि सम्बन्धी जाँच का समावेश होगा। केवल शुल्क सम्बन्धी नीति और प्रतिकार सम्बन्धी जाँच को छोड़कर अन्य मामलों में प्रशुल्क आयोग अपने आप तब जाँच कर सकता है। इन दो मामलों में सरकार के कहने पर ही आयोग जाँच करेगा। प्रशुल्क आयोग को प्रति वर्ष अपनी कार्यवाही की एक रिपोर्ट सरकार के सामने प्रस्तुत करनी चाहिये जिसमें अन्य बातों के साथ साथ इसका भी उल्लेख होना चाहिये कि रक्षित उद्योगों ने अपने दायित्वों को कहाँ तक निभाया है, उनमें किस किस प्रकार के दोष पाए जाते हैं और उनको और अधिक किस प्रकार की सहायता की आवश्यकता है या नहीं। आयोग अपने कार्य की सालाना रिपोर्ट भी पेश करेगा।

जहाँ तक कि प्रशुल्क आयोग की कार्य पद्धति का प्रश्न है, राजकोषीय आयोग तुरन्त जाँच के पक्ष में [illegible] १९ [illegible] आयोग का [illegible] भी था। जाँच के समाप्त होने ही प्रशुल्क आयोग को अपनी रिपोर्ट सरकार के सामने प्रस्तुत कर देना चाहिये और सरकार को साधारणतया दो महीने के अन्दर अपना निर्णय दे देना चाहिये। सरकार प्रशुल्क आयोग की सिफारिशें स्वीकार करे या न करे, पर उसकी रिपोर्ट प्रकाशित अवश्य होनी चाहिये और सरकार को यदि वह प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों को स्वीकार नहीं करती है तो उसके कारणों का पूरा स्पष्टीकरण करना चाहिये। प्रशुल्क आयोग की रिपोर्ट में विस्तारपूर्वक उन सब बातों को व्यक्त करना चाहिये जिनके कारण वह अमुक निष्कर्षों पर पहुँचा है और उसने अमुक सिफारिशें की हैं। राजकोषीय आयोग ने इस बात पर भी जोर दिया है कि प्रशुल्क आयोग जो अराजकोषीय सहायता की सिफारिशें करे उन पर भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये और इस सम्बन्ध में प्रशुल्क आयोग के सामने एक वार्षिक ब्यौरा भी पेश होना चाहिये जिससे यह मालूम हो सके कि क्या क्या अराजकोषीय सहायता वर्ष भर में दी गई हैं।

राजकोषीय आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है। अस्तु, उसकी मुख्य मुख्य सिफारिशों का विवरण देने का हमने यहाँ प्रयत्न किया है। अभी यह रिपोर्ट सरकार के विचाराधीन है और सरकार का इस समय तक (मार्च १९५१) कोई निर्णय प्रकाशित नहीं हुआ है।

परिच्छेद ३

उद्योग-धन्धे—प्रस्तुत प्रश्न

संगठन की समस्या—औद्योगिक विकास से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों में एक प्रश्न उद्योग-धन्धों के संगठन के प्रकार का है। यह खेद का विषय है कि हमारी औद्योगिक समस्या के इस पक्ष की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया जा सका। आधुनिक औद्योगिक संसार में व्यापारिक संगठन के क्षेत्र में मिश्रित पूंजी वाली कंपनियों की प्रधानता है। व्यापारिक संगठन के दूसरे प्रकार जैसे साझेदारी अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व का महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत कम है। १६वीं शताब्दी के मध्य में (१८५७) भारत सरकार के एक कानून द्वारा मिश्रित पूंजी वाली कंपनियों को भारत में भी कानूनी स्वरूप मिला। तब से हमारे देश में भी नये उद्योगवाद के विकास के चिह्नस्वरूप मिश्रित पूंजीवाली कम्पनियों का महत्त्व बराबर बढ़ा है यह संतोष की बात है, फिर भी मिश्रित पूंजी वाली कंपनियों के संबंध में कुछ ऐसी कमियां रही हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है।

पहला प्रश्न कम्पनी की स्थापना से सम्बन्ध रखता है। यह काम सरल नहीं है और इसकी समुचित व्यवस्था के लिए तीन प्रकार के विशेषज्ञों के सहयोग की आवश्यकता होती है। तीन प्रकार के विशेषज्ञों में पहली श्रेणी आर्थिक विशेषज्ञों की है जिनका काम कच्चे माल सम्बन्धी स्थिति, बाजार और मजदूरों सम्बन्धी स्थिति तथा प्रस्तावित व्यवसाय की आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त आकार (साइज़) के विषय में सलाह देना है। दूसरी श्रेणी में एंजीनियर आते हैं जिनका काम उद्योग सम्बन्धी आवश्यक सामग्री के लागत का अनुमान लगाना, और उपयुक्त मशीनों के बारे में तथा उनको लगाने के बारे में आवश्यक सलाह देना है। अन्तिम श्रेणी में वे आर्थिक विशेषज्ञ आते हैं जिनका काम अर्थ-प्रबन्ध के विषय में सलाह देना है। कम्पनियों की स्थापना करने वाले उपर्युक्त विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग करते हैं जिसके लिए वे उनको उचित पुरस्कार देते हैं। चूंकि कम्पनी की स्थापना में यथेष्ट व्यय होता है और उसमें अनिश्चितता भी रहती है इसलिए कम्पनी स्थापित करने का काम कोई व्यक्ति अकेला अपने पर नहीं लेता। प्रायः कुछ पूंजीपतियों और अधिकोषिकों (Bankers) का एक छोटा-सा संगठन इस काम को करता है। जब कम्पनी का ठीक प्रकार से संगठन हो जाता है तो संगठन करने वालों का काम समाप्त हो जाता है और आवश्यक पुरस्कार पाने के बाद वे क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं। सारांश यह है कि कम्पनियों को स्थापित करने का काम

हिस्सेदारों को हानि उठानी पड़ती है और भविष्य में वे शंकाशील बन जाते हैं। (यह आवश्यक है कि भावी हिस्सेदारों के सामने किसी कम्पनी के बारे में जो भी अनुमान प्रस्तुत किए जाएँ वे किसी मान्य संस्था द्वारा प्रमाणित होने चाहिये। फ़िसकल कमीशन ने इस बारे में यह सिफ़ारिश की है कि भारत सरकार को उपयुक्त मंत्रालय में एक 'ब्युरो ऑव कनसलटेन्ट्स' की स्थापना करनी चाहिये जिन की सेवाओं का उपयोग उद्योगपति कर सकें।)

अब तक हमने स्थापना के सम्बन्ध में विचार किया। दूसरा प्रश्न कम्पनियों के सुप्रबन्ध का है। मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों के वास्तविक स्वामी हिस्सेदार होते हैं। पर संख्या के अधिक होने से, एक विस्तृत प्रदेश में बिखरे होने से तथा आवश्यक टेकनिकल जानकारी की कमी से, किसी कम्पनी की वास्तविक प्रबन्ध की जिम्मेदारी उठाना उसके लिए सम्भव नहीं है। साधारण जनतंत्रीय प्रथा के अनुसार हिस्सेदार एक संचालक मंडल का चुनाव करते हैं। कम्पनी की रीति-नीति का निर्णय यह मंडल करता है पर वास्तविक प्रबन्ध का काम वैतनिक व्यवस्थापक करते हैं। किन्तु ध्यान से देखने पर मालूम होगा कि इस व्यवस्था में व्यवहार में कई प्रकार के दोष हैं। पहली बात तो यह है कि संचालक मंडल सही अर्थ में हिस्सेदारों का प्रतिनिधित्व नहीं करता। वस्तु स्थिति यह है कि वे वैतनिक व्यवस्थापकों पर बहुत कुछ निर्भर रहते हैं। भारत में, जहाँ कि व्यवस्था का काम मैनेजिंग एजेन्सी प्रथा पर होता है, यह बात और अधिक लागू होती है। इसके अलावा संचालकों को कोई टेकनिकल जानकारी नहीं होती और इस कारण से भी वे कुछ अधिक नहीं कर पाते। हिस्सेदारों का यह हाल भारत में नहीं दूसरे देशों में भी है। इस स्थिति का निराकरण तो यही हो सकता है कि संचालकों पर हिस्सेदारों का अधिक नियन्त्रण हो। सन् १६३६ में जो कम्पनी एक्ट पास हुआ उसमें इस बात का ध्यान रखा गया। इस स्थिति में सुधार करने का एक उपाय मत देने की पद्धति में कुछ परिवर्तन करना भी है। वर्तमान पद्धति के अनुसार प्रत्येक हिस्से के पीछे एक मत होता है। अमेरिका में जो पद्धति प्रचलित है उसका यहाँ उल्लेख कर देना उचित होगा। अमेरिकन पद्धति के अनुसार एक निश्चित संख्या तक प्रत्येक हिस्से के पीछे एक मत होता है, उसके पश्चात् कई हिस्सों के पीछे एक मत होता है और इसी के साथ किसी भी एक हिस्सेदार को अधिक से अधिक कितने मत मिल सकते हैं, इसकी संख्या भी निश्चित रहती है। संचालकों की कम्पनी के काम में अधिक रुचि पैदा करने का एक उपाय यह भी है कि उनको उचित पुरस्कार मिले। संचालकों की संख्या चाहे कम करदी जाए पर उनको पारिश्रमिक पूरा मिलना

चाहिये। उदाहरण — लिए सञ्चालकों को लाभ में साझेदार बनाना चाहिये। प्रायः ऐसा होता है कि आर्टिकल्स ऑफ एसोसियेशन में इस आशय की एक धारा रहती है कि सञ्चालकों को किसी मामले में कोई जिम्मेदारी नहीं मानी जायगी सिवाय उन मामलों के जिनको उन पर व्यक्तिगत तौर से लागू किया जाता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सञ्चालक कम्पनी का इस्तेमाल करने में आवश्यक सावधानी नहीं बरतते। कानून में इस बात पर प्रतिबंध होना चाहिये कि सञ्चालकों को [illegible] में इस प्रकार मुक्त न किया जा सके। १९३६ के नये कम्पनी एक्ट पास हुआ उसमें इस प्रकार का प्रतिबंध लगा भी दिया है।

कम्पनियों की व्यवस्था को ठीक करने के लिए उपाय यह भी है कि सञ्चालक मण्डल के अतिरिक्त एक और भी समिति भी हो जिसके निम्न सदस्य हों — प्रबन्ध सञ्चालक, सञ्चालक मण्डल का एक ऐसा प्रतिनिधि जिसे टेकनिकल जानकारी हो और मुख्य मुख्य विभागों के प्रधान। कम्पनी के कामों सम्बन्धी सब प्रकार की तफसीलों वाली बातों पर इस व्यवस्था से समिति को विचार और निर्णय करना चाहिए। यह समिति बड़ी बड़ी बातों पर भी विचार कर सकती है पर उनके सम्बन्ध में निर्णय सञ्चालक मण्डल की स्वीकृति से ही होना चाहिये।

इस सम्बन्ध में करने का एक आवश्यक सुधार यह भी है कि इस प्रवृत्ति को रोका जाय कि एक ही व्यक्ति कई कम्पनियों के सञ्चालक मण्डलों का सदस्य हो। क्योंकि इस प्रकार ऐसा होता है कि सञ्चालक मण्डल मैनेजिंग एजेण्टस के प्रभाव में रहें परन्तु मुट्ठी भर बड़े-बड़े उद्योगपति और व्यवसायी अनेकों व्यापारिक कम्पनियों को सञ्चालकों की हैसियत से अपने प्रभुत्व में रखते हैं। इसका एक परिणाम यह भी आता है कि सञ्चालकों के हाथ में वास्तव में कुछ नहीं रहता और नियन्त्रण का केन्द्रीकरण होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि कानून द्वारा एक ही व्यक्ति को कई कम्पनियों का सञ्चालक होने से रोका जाय।

कम्पनियों पर हिस्सेदारों का वास्तव में नियन्त्रण स्थापित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि आडिटरों पर हिस्सेदारों का नियन्त्रण हो न कि व्यवस्थापकों का। भारत में हिसाबों के निरीक्षण का काम सन्तोषजनक ढंग से नहीं होता। एक बड़ी त्रुटि की बात यह है कि आडिटरों की नियुक्ति तथा उनके पारिश्रमिक और काम का निश्चय व्यवस्थापकों द्वारा ही किया जाता है। व्यवहार में यह सम्भव इसलिए हो जाता है कि हिस्सेदारों के मतों का कोई असर नहीं होता। हिस्सेदारों के हाथों में ही आडिटरों का पूरा नियन्त्रण होना चाहिये। इसका एक उपाय तो यह हो सकता है कि आडिटरों के चुनाव में

संचालकों और व्यवस्थापकों को मत देने का अधिकार ही नहीं रहे। यदि ऐसा प्रतिबन्ध बहुत कड़ा मालूम पड़े, तो कम से कम इतना तो होना ही चाहिये कि जो मतदाता अनुपस्थित रहनेवाले हों उनके मतों को प्राप्त करने का अधिकार संचालकों तथा व्यवस्थापकों को न रहे। वास्तव में तो सभी सुझावों ने पत्र द्वारा मत देने की पद्धति को हटा ही देना चाहिये।

मैनेजिंग एजेन्सी:—कम्पनियों की व्यवस्था में सुधार करने के प्रश्न का मैनेजिंग एजेन्सी के प्रश्न से घनिष्ट सम्बन्ध है। भारत में कम्पनियों की व्यवस्था सम्बन्धी एक विशेष पद्धति मैनेजिंग एजेन्सी की है। इस विषय पर कुछ विस्तार से लिखना आवश्यक है।

भारत में ब्रिटिश व्यवसाय जिन विशेष परिस्थितियों में पनपा मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति उसी का परिणाम है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अंग्रेज पूँजी-पतियों को भारत में पूँजी लगाना लाभदायक मालूम पड़ने लगा। इस काम के लिए इंगलैंड में कम्पनियों की स्थापना होने लगी। भारत में औद्योगिक कम्पनियों की व्यवस्था कर सकने वाले कुशल व्यवस्थापकों का अभाव-सा था। इस समय भारत में कुछ विदेशी फर्म जिनको 'एजेन्सी हाउसेज़' कहते थे, काम करती थीं। इन 'एजेन्सी हाउसेज' का एक काम तो यह था कि विदेशी फर्मों के प्रतिनिधि के रूप में वे ब्रिटिश माल का भारत में आयात करती थीं और भारतीय माल विदेशों को निर्यात करती थीं। इसके अतिरिक्त वह रुपये के लेन-देन का काम भी करती थीं। विदेशी पूँजीपतियों द्वारा स्थापित उद्योगों की व्यवस्था का काम भी इन्होंने अपने ऊपर लेना आरम्भ किया। इन उद्योगों के लिए आवश्यक अर्थ-व्यवस्था भी ये एजेन्सी हाउस करने लगे, क्योंकि रुपये के लेन-देन का काम तो ये करते ही थे। उद्योगों की व्यवस्था सम्बन्धी इस नए काम को आरम्भ करने से इन एजेन्सी हाउसेज़ को 'मैनेजिंग एजेन्सी फ़र्म्स' के नाम से पुकारा जाने लगा। बाद में इन्होंने भारतीय उद्योगों की स्थापना और व्यवस्था का काम भी आरम्भ कर दिया। इन विदेशी एजेन्सी हाउसेज़ का अनुकरण भारतीय व्यापारी वर्ग ने भी करना शुरू किया। इस प्रकार भारतीय मैनेजिंग एजेन्सी फ़र्म्स की भी स्थापना हुई और मैनेजिंग एजेन्सी की यह प्रथा आज तक चली आ रही है। मैनेजिंग एजेन्ट्स को यह काम विशेष रूप से लाभ प्रद साबित हुआ है और वे इसे कदापि छोड़ना नहीं चाहते। मैनेजिंग एजेन्सी-पद्धति का प्रमुख लक्षण वह शर्तनामा है जो मैनेजिंग एजेन्ट और सम्बन्धित फ़र्म के बीच में उसकी स्थापना के समय ही किया जाता है। १६३६ के कम्पनी एक्ट के पास होने के पहले इन शर्तनामों की अवधि २०-४० साल से लेकर अनिश्चित समय तक के लिए

हुआ करता था। व्यवहार में इनके मन में तो यह आता था कि यदि शर्तनामे में कोई समय निश्चित भी होता तो उसका वास्तव में कोई मूल्य नहीं हुआ करता था। मैनेजिंग एजेन्ट्स का जितना प्रभाव होता है उसके कारण शर्तनामे का समय पूरा हो जाने पर उसे दुबारा जारी करा लेना एक आसान सी बात थी। इसीलिए एकबार यदि कोई फर्म मैनेजिंग एजेन्ट के हाथ में आ गई तो फिर उसका उनके हाथ से निकलना असम्भव सी बात थी। मैनेजिंग एजेन्ट्स पारिश्रमिक के रूप में उत्पादन, बिक्री या मुनाफे पर कमीशन लेते हैं। इसके अलावा वे और भी कई प्रकार के कमीशन अनेकों नाम से वसूल करते हैं। १९५६ के कम्पनी एक्ट ने इस स्थिति में कुछ सुधार अवश्य किया है। मशीन तथा कच्चा माल खरीदने और बिक्री तथा चल और अचल पूँजी की व्यवस्था करने के नाम पर इस प्रकार के कमीशन लिए जाते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट्स की आय के कुछ छोटे मोटे साधन और भी हैं। मैनेजिंग एजेन्ट का बराबर यह प्रयत्न रहता है कि जिन फर्मों से उनका सम्बन्ध है वे अथ के मामले में उन्हीं पर निर्भर रहें। इसका कारण स्पष्ट है। क्योंकि इसी प्रकार उन फर्मों पर मैनेजिंग एजेन्ट्स का पूरा नियन्त्रण रह सकता है। मैनेजिंग एजेन्सी-पद्धति का परिणाम कम्पनी व्यवस्था के क्षेत्र में—जैसा कि अन्य व्यवस्था, जैसे दूसरे क्षेत्रों में भी हुआ, हानिकर हुआ है। जिन फर्मों का प्रबन्ध मैनेजिंग एजेन्टों के हाथ में होता है उनके वे वास्तव में मालिक बन जाते हैं। उनके सामने हिस्सेदारों, संचालकों तथा आडिटरों किसी की भी कुछ नहीं चलती। मैनेजिंग एजेन्टों को हटाने सम्बन्धी धारा को व्यवहार में लाना असम्भव सा होता है। ऐसा करने में कई प्रकार की अड़चनों का सामना करना होता है। उदाहरण के लिए मैनेजिंग एजेन्ट को हटाने सम्बन्धी प्रस्ताव लाने के लिए बहुत लम्बा नोटिस—जैसे एक वर्ष का—देना होता है। दूसरे ऐसा प्रस्ताव बहुत भारी बहुमत से ही पास करना होता है। यह भी होता है कि कुल मतों का एक न्यूनतम भाग, जो प्रायः तीन चौथाई होता है, ऐसे प्रस्तावों पर अवश्य ही आना चाहिये। और अंतिम शर्त यह होती है कि एक बार प्रस्ताव पास हो जाने के पश्चात् कुछ महीनों बाद उसकी दुबारा पुष्टि होने पर ही वह अमल में आ सकता है। लम्बे नोटिस और दो बार प्रस्ताव पास करने की ऐसी शर्तें हैं जिनके कारण सम्बन्धित मैनेजिंग एजेन्ट को अपना पक्ष ठीक करने के लिए यथेष्ट समय और अवसर मिल जाता है। और कोई चारा न होने पर वे हिस्से खरीद कर अपने मतों की संख्या बढ़ा लेते हैं। अगर इतना सब करने पर भी मैनेजिंग एजेन्ट को हटना ही पड़े तो उनको काफी भारी मुआवजा देना होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मैनेजिंग एजेन्टस के काम ने कुछ पैतृक काम का रूप ले लिया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यद्यपि प्रारंभ में मैनेजिंग ऐजेन्सी-पद्धति ने एक आवश्यकता की पूर्ति की परन्तु अब उसका कोई उपयोग नहीं बचा है। बल्कि मुव्यवस्था और अर्थ-प्रबन्ध दोनों ही के मार्ग में वह एक बड़ी बाधा होगई। अस्तु, इस पद्धति का इसी स्वरूप में बना रहना किसी दृष्टि से भी आवश्यक नहीं रहा।

१६३६ का कम्पनी एक्ट:—कम्पनी-व्यवस्थासम्बन्धी जो दोष थे वे धीरे-धीरे सामने आने लगे। विशेषतया मैनेजिंग एजेन्सी-पद्धति की बुराइयां, और कम्पनी एक्ट में इसके सम्बन्ध में कुछ भी न होना बहुत ही खटकने लगा। अस्तु, कम्पनी एक्ट में आवश्यक सुधार करने की मॉग बराबर उठने लगी। और १६३६ में एक नया कम्पनी एक्ट पास किया गया।

१६३६ के एक्ट में कई प्रकार के सुधार किए गए हैं। न केवल हिस्सेदारों का नियन्त्रण अधिक दृढ़ किया है बल्कि मैनेजिंग एजेन्सी-पद्धति के दोषों को भी कम करने का प्रयत्न किया गया है।

१६३६ के कम्पनी एक्ट में जहां तक हिस्सेदारों का सम्बन्ध है, कई धाराएँ ऐसी हैं जिनके अनुसार उनको कम्पनी और उसके कारोबार के विषय में पूरी-पूरी जानकारी मिलना आवश्यक है। उदाहरण के तौर पर एक्ट के अनुसार यह अनिवार्य है कि विवरणपत्रिका (प्रोस्पेक्टस) में वे सब सूचनाएँ होनी चाहियें जो कि किसी भी हिस्सा खरीदनेवाले व्यक्ति को हिस्सा खरीदने या न खरीदने के विषय में अपना निर्णय करने के लिए जानना जरूरी है। इसीलिए जिन कम्पनियों में मैनेजिंग एजेन्ट हैं उनमें मैनेजिंग एजेन्टों के नाम और पते के अलावा 'आर्टिकल्स ऑफ असोसियेशन' या उनके अहदनामे में उनकी नियुक्ति और मुआवज़े सम्बन्धी जो धाराएँ हैं वे सभी प्रकट करना होती हैं। कम्पनी के कारोबार सम्बन्धी पूरी-पूरी जानकारी हिस्सेदारों को मिल सके इस उद्देश्य से और भी कई धाराएँ कम्पनी-एक्ट में रखी गई हैं। जो हिसाब हिस्सेदारों को पेश किए जाते हैं वे तफ़सील में होते हैं और लाभ-हानि का हिसाब, डाइरेक्टर की रिपोर्ट तथा आडिटर की रिपोर्ट पेश करना भी अनिवार्य है। पहली बार हिस्सेदारों को यह कानूनी अधिकार मिला है कि विशेष प्रस्ताव पास करके वे डाइरेक्टरों को हटा सकते हैं। मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति- उनका वेतन आदि और एक्ट पास होने के पश्चात् उनके साथ किए गए इकरार में किया जाने वाला कोई भी परिवर्तन हिस्सेदारों की आम सभा में स्वीकृत होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मुआवज़े सम्बन्धी कोई भी शर्त, जो कानून द्वारा निश्चित नहीं है, कम्पनी की स्वीकृति से ही की जा सकती है।

डाइरेक्टरों के विषय में एक्ट का कहना है कि इन कम्पनी में कम से कम तीन डाइरेक्टर होंगे और मैनेजिंग एजेन्ट्स को डाइरेक्टरों की कुल संख्या के एक तिहाई भाग से अधिक नामजद करने का अधिकार नहीं होगा। इसके आगे यह भी है कि आर्टिकल्स में जो कुछ भी हो डाइरेक्टरों का दो तिहाई संख्या हिस्सेदारों द्वारा चुनी हुई होगी। डाइरेक्टरों के अधिकारों पर भी कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। उदाहरण के तौर पर कम्पनी से अगर कोई इकरार किया जाता है तो उसके लिए बोर्ड की स्वीकृति आवश्यक है। इसी प्रकार दिवालिया घोषित हो जाने पर, कम्पनी में कोई लाभभागी अधिकारी का पद स्वीकार कर लेने पर, या निश्चित समय में डाइरेक्टर के लिए आवश्यक हिस्से न प्राप्त कर लेने पर अथवा और ही डाइरेक्टर को अपने पद से अलग होना अनिवार्य है। डाइरेक्टरों को इस प्रकार के दोषों से जैसे असावधानी, कर्तव्यपालन न करने अथवा विश्वासघात (ब्रीच ऑफ ट्रस्ट) से होने वाले नुकसान की जिम्मेदारी से मुक्त करना अब गैरकानूनी करार दिया गया है।

अन्त में मैनेजिंग एजेन्टों के अधिकारों में भी कमी कर दी गई है। उनकी नियुक्ति तथा डाइरेक्टरों को नामजद करने सम्बन्धी अधिकार के बारे में ऊपर लिखा जा चुका है। बाकी के प्रतिबन्धों में से सबसे महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध वो हैं जो मैनेजिंग एजेन्टों पर, सिवाय उन बातों के जो उनके साथ किए गए इकरारनामे में दी गई हैं डाइरेक्टरों का नियन्त्रण स्थापित करते हैं अथवा उनका कार्य काल अधिक से अधिक बीस साल तक के लिए निश्चित करते हैं, न केवल नई नियुक्तियों के सम्बन्ध में बल्कि वर्तमान नियुक्ति के सम्बन्ध में भी। हालांकि वर्तमान नियुक्तियों के लिए बीस साल का समय एक्ट के लागू होने के समय से समझा जाएगा जब तक कि उनके साथ हुए इकरारनामे के अनुसार उनका कार्य काल इससे पहले ही समाप्त न होता हो। इसी प्रकार मैनेजिंग एजेन्टों को मिलने वाले मुआवजे के बारे में भी यह शर्त लगा दी गई है कि उनके मुआवजे का एक मात्र आधार लाभ होगा जो कि किसी निश्चित प्रणाली के अनुसार ही आंका जायगा। एक फर्म द्वारा दूसरी फर्म में रुपया लगाने अथवा मैनेजिंग एजेन्टों को ऋण देने या ऋण के लिए जमानत देने की बुराइयों को भी रोका गया है, क्योंकि नए कानून के अनुसार ऐसे काम गैर कानूनी करार दे दिए गए हैं। नए कानून के अनुसार बिना ऐसे तीन चौथाई डाइरेक्टरों की स्वीकृति के जो कि उपस्थित हैं और जिनको मत देने का अधिकार है कम्पनी के साथ क्रय विक्रय अथवा माल के लेन देन सम्बन्धी किया गया कोई मुआहिदा नियमित

नहीं माना जा सकता। मैनेजिंग एजेन्ट पर यह प्रतिबन्ध भी है कि वह स्वयं कोई ऐसा व्यवसाय न करे जो कि उस कम्पनी के व्यवसाय से प्रत्यक्ष प्रतिस्पर्द्धा में आता हो जिसका कि वह मैनेजिंग एजेन्ट है। इसी प्रकार कोई कम्पनी किसी ऐसी दूसरी कम्पनी के हिस्से अथवा डिबेंचर (ऋण पत्र) नहीं खरीदेगी जो कि पहले वाली कम्पनी के संचालकों द्वारा ही संचालित है। ऐसा खरीद तभी हो सकती है जबकि संचालन-समिति (बोर्ड) ने इसके लिए पहले से ही स्वीकृति दे दी हो।

उपर्युक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट ही है कि नए कम्पनी कानून के अन्तर्गत यद्यपि मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली तो आज भी जारी है पर उस पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गए हैं। इन प्रतिबन्धों के बावजूद भी मैनेजिंग-एजेन्सी प्रथा के बारे में शिकायतों की कमी नहीं हुई है। आज भी वे अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते पाये जाते हैं। भारत सरकार के सामने यह प्रश्न फिर विचाराधीन है और इस सम्बन्ध में आलोचना के लिए उन्होंने कुछ प्रस्ताव भी प्रकाशित किए हैं (देखें इस परिच्छेद के अन्त में परिशिष्ट)। भारत सरकार के सामने प्रश्न केवल इतना ही नहीं है। वह तो सम्पूर्ण कम्पनी एक्ट में संशोधन करने का विचार कर रही। इस सम्बन्ध में सरकार के सामने प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति भी काम कर रही है। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने की है कि पिछले वर्षों में ऐसी नई फर्मों की संख्या बढ़ी है जो कि किसी मैनेजिंग एजेन्सी के तत्वावधान में स्थापित नहीं हुई। यह इस बात का संकेत है कि देश में व्यावसायिक नेतृत्व का विकास हो रहा है। यह शुभ चिह्न है। क्योंकि व्यवस्था में ईमानदारी और कार्यदक्षता केवल कानून के बल पर नहीं लाई जा सकती। कानून से कुछ सहायता मिल सकती है, पर, अधिक जाग्रत जन मत, व्यवसायी वर्ग में अपेक्षाकृत अधिक कर्तव्य-बुद्धि, और अनुभवी, विशेषज्ञ, ईमानदार, और साहसी व्यवसायी-नेतृत्व की भी बड़ी आवश्यकता है। बिना इनकी मदद के व्यवस्था और अर्थ दोनों ही समस्याओं के हल नहीं निकल सकते।

औद्योगिक अर्थ प्रबन्धः—यह बात सर्व विदित है कि आधुनिक उद्योगों के लिए बहुत बड़ी पूँजी चाहिये। अतः, औद्योगिक अर्थ प्रबन्ध के बारे में यथेष्ट जानकारी करना आवश्यक है।

उद्योग-धंधों को दो प्रकार की पूँजी चाहिये। स्थायी (फिक्स्ड) पूँजी और चालू (वर्किंग) पूँजी। स्थायी पूँजी की भूमि, इमारत, मशीनरी और दूसरे स्थायी उपकरणों के लिए आवश्यकता होती है। मौजूदा उद्योगों में नए

विस्तार अथवा प्रतिस्थापन (रिप्लेसमेन्ट) के लिए भी स्थायी पूँजी की आवश्यकता होती है। चालू पूँजी की आवश्यकता कच्चा माल खरीदने और उसे तैयार माल में परिणत करने वाली सामग्री खरीदने, तैयार माल को जमा करने। स्टॉक की व्यवस्था करने, जो माल आया है उसपर आवश्यक खर्च करने और दैनिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए होती है। चालू पूँजी का भी एक अंश लम्बे समय के लिए आवश्यक होता है। क्योंकि प्रत्येक उद्योग में दैनिक खर्च चलाने और कच्चे माल की एक निश्चित मात्रा बराबर बनाए रखने के लिए कुछ न कुछ रकम हमेशा ही लगी रहती है।

भारत में औद्योगिक अर्थ प्रबन्ध का प्रश्न बहुत पुराना नहीं है। आधुनिक अर्थ व्यवस्था की नींव जब तक इस देश में प्रारम्भ नहीं हुई तब तक यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में आधुनिक उद्योगों के आरम्भ हो जाने पर भी काफी समय तक उद्योग धंधों के सामने पूँजी का कोई प्रश्न उपस्थित नहीं था। इसका कारण यह नहीं था कि देश की आर्थिक व्यवस्था बहुत सन्तोषप्रद थी। वास्तव में बात यह थी कि कुछ अपवादों को छोड़कर देश में बहुत थोड़े उद्योग धंधे ऐसे थे जिनके आगे विकास की कोई विशेष सम्भावना समझी जा सकती थी। उद्योग धंधों की दृष्टि से यह समय गतिरोध का था। विदेशी माल की स्पर्द्धा के कारण देशी गृह उद्योगों का प्रायः अन्त सा हो चुका था। राजनैतिक पराधीनता के कारण नये नये उद्योगों की रचना का कोई कारगर उपाय भी हम नहीं कर सकते थे। विदेशी शासन के फलस्वरूप देश को जिस आर्थिक विनाश का सामना करना पड़ रहा था उसे हम असहाय व्यक्ति की भाँति देखते रहने के अतिरिक्त और कुछ कर नहीं सकते थे। किन्तु इस शताब्दी के आरम्भ के साथ परिस्थितियों ने थोड़ा करवट बदला। सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय उद्योगों के विकास के लिए एक अच्छा अवसर उपस्थित किया। अतः आधुनिक अर्थ प्रबन्ध का प्रश्न भी अब सामने आया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उद्योग धंधों से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य प्रश्नों के साथ साथ औद्योगिक अर्थ प्रबन्ध का प्रश्न भी अधिक महत्वपूर्ण बन गया। इस सम्बन्ध में विभिन्न कमीशनों और कमेटियों ने भी समय समय पर विचार किया है। और यद्यपि इस समस्या को हल करने की दिशा में कुछ प्रयत्न भी हुए हैं और आज भी प्रयत्न जारी हैं, परन्तु अभी तक इसका कोई सन्तोषजनक और समुचित हल हो नहीं सका है। हमारे देश के भावी आर्थिक विकास की दृष्टि से औद्योगिक अर्थ प्रबन्ध का प्रश्न आज भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है।

इस प्रश्न की भावी सुव्यवस्था के विषय में विचार करने से पहले यह

जानना आवश्यक है कि भारतवर्ष में स्थायी (ब्लाक) और चालू (वर्किंग) दोनों ही प्रकार की औद्योगिक पूंजी की पूर्ति आज किस तरह से होती है।

देश के प्रमुख उद्योग धन्धे स्थायी पूंजी की व्यवस्था निम्न लिखित उपायों में से किसी एक या अधिक उपायों द्वारा करते हैं:—(अ) हिस्सों और ऋण पत्रकों (डिबेंचर्स) को सार्वजनिक रूप से अथवा सीमित मात्रा में बेच कर, (आ) नकद रुपया हवालगी जमा (डिपोजिट) के रूप में प्राप्त कर, और (इ) किसी व्यक्ति अथवा साझेदारों (पार्टनर शिप) विशेष से रुपया उधार लेकर। वैसे तो उपर्युक्त उपायों में से अलग-अलग उद्योग-धन्धों के लिए अलग-अलग उपायों का विशेष महत्व माना जा सकता है, पर फिर भी कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आज-कल हिस्सों और ऋण पत्रकों (डिबेंचर्स) को बेचकर स्थायी पूंजी प्राप्त करने की प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है। साधारण हिस्सों के अलावा विशिष्ट हिस्सों (प्रिफ़रेंस शेयर्स) तथा ऋण-पत्रकों (डिबेंचर्स) का भी पूंजी प्राप्त करने के लिए उपयोग हुआ है, खास तौर से जूट के उद्योग में। इस सम्बन्ध में एक शुभ परिवर्तन यह भी हुआ है—कि प्रत्येक हिस्सा कम क़ीमत का रखा जाता है ताकि सामान्य स्थिति का व्यक्ति भी आसानी से खरीद सके। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहां स्थायी पूंजी का प्रमुख आधार नकद रुपया जमा के रूप में प्राप्त करना ही है। अहमदाबाद की सूती कपड़ा-व्यवस्था इस प्रकार का एक बड़ा उदाहरण है। मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियों का जब तक प्रचार नहीं हुआ था व्यक्ति अथवा साझेदारी (पार्टनर शिप) विशेष से पूंजी उधार लेने के भी कई उदाहरण मिल जाते थे। नए उद्योगों में—जैसे शकर के, खान के, कागज़ के और दियासलाई आदि के उद्योगों में आज भी ऐसा देखा जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि यह उद्योग अपने अपने क्षेत्र में अगुआ रहे हैं।

चालू पूंजी (वर्किंग केपिटल) के सम्बन्ध में भी यह बात देखने को मिलती है कि पूंजी प्राप्त करने के लिए कई उपाय काम में लिए जाते हैं। मुख्यत. ये उपाय निम्नलिखित हैं —(अ) जमा के रूप में सर्व साधारण से रुपया प्राप्त करना, (आ) व्यवसायियों, उनके मित्रों अथवा मैनेजिंग एजेन्टों से जमा के रूप में रुपया प्राप्त करना, (इ) इन्डजिनिस बैंकर्स से हवालगी के रूप में रुपया प्राप्त करना, और (ई) मिश्रित-पूंजी वाले बैंकों से ऋण लेना। सूती कपड़े के बम्बई और विशेषतः अहमदाबाद स्थित कारखानों में सर्व साधारण से जमा के रूप में रुपया प्राप्त करने का उपाय ही प्रधानतः काम में आता है। ये जमा थोड़े समय के लिए, प्रायः एक वर्ष से लेकर छह महीने तक के लिए, प्राप्त

होती है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि किसी कठिनाई के समय जब रुपये की सबसे अधिक आवश्यकता हो सकती है अचानक रुपया वापस खींच लिया जाए। पिछले वर्षों में अहमदाबाद में यह भी देखा गया है कि इस तरह की जमा पाँच से सात वर्ष तक के लिए हो सकती है। इससे अचानक रुपया खिंच जाने का खतरा तो बहुत कम हो जाता है परन्तु इस प्रणाली की एक बड़ी हानि यह है कि विश्वसनीय औद्योगिक हिस्सों, ऋण पत्रों तथा दूसरे प्रतिभूतों (सिक्योरिटीज) की संख्या में कमी आने से विनियोग (इन्वेस्टमेंट) के बाजार के विकास में बाधा आती है।

बाद के दिनों के और अपेक्षाकृत नए उद्योगों के पूँजी प्राप्त करने का एक मात्र साधन स्थायी दूसरे नम्बर की प्रणाली है। इस प्रणाली के अनेक लाभ भी हैं। जो लोग रुपया उधार देते हैं उस व्यवसाय-विशेष में अपना जोखम भी मानते हैं और इसलिए अचानक रुपया खिंच जाने का डर इसमें नहीं रहता। इसके अलावा देश में ऐसे उद्योगों के लिए समुचित बैंकिंग व्यवस्था न होने से उनके लिए पूँजी प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय है भी नहीं। इस प्रकार के हिस्सा जमा का एक लाभ यह भी है कि मन्दी के समय जब बैंक तक सुरक्षित उद्योगों के सम्बन्धों में भी थोड़ी सतर्कता की नीति बरतने लगते हैं इस प्रकार की पूँजी से बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु उपर्युक्त लाभों के साथ-साथ इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। कई बार इस प्रणाली के कारण किसी एक ही मैनेजिंग एजेन्टों की फर्म पर उस हालत में अत्यधिक भार आ पड़ता है जब कि उसी एक फर्म को कई उद्योगों की आर्थिक व्यवस्था करनी पड़ती है। इसके अलावा विनियोग (इन्वेस्टमेंट) के बाजार के विकास में इस प्रणाली से भी रुकावट उत्पन्न होती है।

पूँजी प्राप्त करने की तीसरी प्रणाली जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है देशी बैंकर्स (इण्डिजिनस बैंकर्स) से दस्तावेजी लेने की है। इस प्रणाली का सहारा ऐसे पूँजी की अभाव अनुभव करने वाले या छोटे उद्योग, जो कागज, शक्कर, दियासलाई के जैसे अपेक्षाकृत नए क्षेत्रों में काम करते हैं लेते हैं। इन उद्योगों के पास दूसरा कोई विकल्प भी नहीं होता। इस प्रणाली का महत्व कम होता जा रहा है, हालाँकि कुछ उद्योगों के लिए और कोई मार्ग नहीं है। इनकी यह विवशता हमारी मिश्रित पूँजीवाली बैंकिंग व्यवस्था और पूँजी के बाजार की अक्षमता का एक प्रमाण है।

हमारे उद्योगों के चालू पूँजी प्राप्त करने का मुख्य साधन मिश्रित पूँजी वाले बैंक हैं जिनमें इम्पीरियल बैंक आव इण्डिया को भी शामिल कर लेना

चाहिये। इन बैंकों के बारे में आम तौर से देश में यह धारणा है कि औद्योगिक पूँजी की व्यवस्था में इनकी नीति अनावश्यक रूप से कड़ी और अनुदार रही है। रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना तक इम्पीरियल बैंक एक हद तक केन्द्रीय बैंक का काम भी करता था और इस कारण से उसे कई प्रकार की मर्यादाओं में काम करना पड़ता था। आज भी इम्पीरियल बैंक पर पहले की कुछ मर्यादाएँ तो हैं जैसे छह महीने से अधिक समय के लिए ऋण अथवा हवालगी नहीं दे सकता, और अपने ही हिस्सों अथवा अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता। परन्तु अन्य सब मामलों में अब वह दूसरे व्यापारिक बैंकों की तरह स्वतन्त्र है। स्वभावतः इस बैंक के पास जैसे साधन और योग्य कर्मचारी हैं उनको देखते हुए इससे औद्योगिक पूँजी के मामले में अधिक सहानुभूति पूर्ण नीति बरतने की आशा की गई। इससे यह अपेक्षित था कि विभिन्न उद्योगों की पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता की जाँच कराई जायगी और जर्मन बैंकों के उदाहरण पर व्यापारिक और औद्योगिक मिला-जुला बैंकिंग का काम शुरू होगा। पर यह आशाएं अभी पूरी नहीं हुई हैं। जो छोटे बैंक हैं, जिनके साधन सीमित हैं और जिनके पास ऊँची योग्यता के कर्मचारी नहीं हैं उनसे अधिक आशा वैसे भी नहीं की जा सकती। साधन सम्पन्न और योग्य कर्मचारी वर्ग की जिनको सेवाएं प्राप्त हैं उन मिश्रित पूँजीवाले बैंकों को इस दिशा में पथ-प्रदर्शन करना चाहिये। फ़िसकल कमीशन ने भी यह सिफारिश की है कि भारत सरकार को रिजर्व बैंक की सलाह का इस प्रश्न पर अच्छी तरह से विचार करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में जर्मन बैंकों की कार्यप्रणाली की जानकारी उपयोगी होगी। जर्मनी में उद्योग-धंधों और साधारण व्यापारिक बैंकों में निकट का सम्बन्ध रहा है। १६ वीं शताब्दी के मध्य में जब जर्मनी में औद्योगीकरण आरम्भ हुआ तो इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई। पैसेवाले लोग न स्वयं उद्योग में लगना चाहते थे और न दूसरों को इस काम के लिए पैसा देने को तैयार थे। पूँजी के इस अभाव की पूर्ति बैंकों ने की। जिन के पास पैसा था उनको बैंकों में विश्वास था और इसलिए बैंकों में वे अपना रुपया जमा करते थे और बैंक उस रुपये का उपयोग उद्योग धंधों के लिए करते थे। इस प्रकार बैंकों और उद्योग-धंधों का आपसी सहयोग आरम्भ हुआ।

बैंकों और उद्योगों का यह सम्बन्ध तीन प्रकार का है। पहला प्रकार चालू खाते का है और साधारणतया जर्मन फर्म न केवल चालू पूँजी, पर स्थायी पूँजी के लिए भी, जब तक कि स्थायी प्रबन्ध नहीं होता, इस आधार पर बहुत निर्भर रहती है। दूसरा प्रकार यह है कि बैंक स्वयं औद्योगिक कम्पनियाँ चालू

करते हैं और उनकी पूँजी लेते हैं तथा बाद में सर्वसाधारण को कम्पनी के हिस्से बेच कर अपना रुपया मय लाभ वसूल कर लेते हैं। इस उद्देश्य से कई बैंक मिलकर जो एक संघ बनाते हैं उसको सिन्डीकेट या 'कनसोरशियम' का नाम दिया जाता है। यह संघ आरम्भ में स्वयं नई कम्पनी के जो इसके द्वारा चालू की गई है हिस्से खरीद लेता है जो बाद में जैसा ऊपर लिखा गया है, जनता को बेच दिए जाते हैं। इसका यह अर्थ भी है कि किसी भी बैंक का किसी उद्योग से कोई स्थायी सम्बन्ध कायम नहीं होता। उद्योगों से सम्बन्ध रखने का तीसरा प्रकार औद्योगिक कम्पनियों के संचालक मण्डलों में बैंक का प्रतिनिधित्व रखना है, ताकि वह अपने हितों की रक्षा कर सकें और कम्पनी की नीति को इस दृष्टि से प्रभावित भी कर सकें। जर्मन बैंकों की इस नीति की सफलता का एक कारण यह है कि वे अपने हर प्रकार के लेन देन का हिसाब अपने पास में बराबर रखते हैं। उदाहरण के तौर पर थोड़े समय के लिए आया हुआ रुपया कभी लम्बे समय के लिए किसी काम में नहीं लगाया जायगा। उसके लिए बैंक की पूँजी और उसके रक्षित कोष का उपयोग किया जायगा। यदि कहीं पूँजी फँस भी जाती है तो वह जोखिम कम रहता क्योंकि बैंक रहता है और इसके अलावा इस दृष्टि से गुप्त रक्षित कोष भी रहते हैं। इस व्यवस्था प्रणाली का एक लाभ तो यह है कि औद्योगिक कम्पनियों को विशेषज्ञों से आर्थिक राय मिल जाती है, और दूसरे यह कि पूँजी लगाने चाहने वाले व्यक्तियों को बैंक के बीच में पड़जाने से विश्वास अधिक हो जाता है। इस प्रणाली की कुछ हानियाँ भी हैं। जो छोटे छोटे पूँजी लगाना चाहने वाले व्यक्ति हैं उनका महत्त्व घट जाता है और साधारण ढंग की जो औद्योगिक कम्पनियाँ हैं उनकी स्वतन्त्रता भी किसी हद तक कम हो जाती है। बैंकों ने औद्योगिक एकीकरण को भी प्रोत्साहन दिया है। अल्पकालिक साख व्यवस्था और व्यापार की आवश्यकता पूर्ति पर भी इस नीति का असर वाञ्छनीय नहीं हुआ है क्योंकि राष्ट्र के तुरन्त काम में आ सकने वाले साधनों का उद्योग में उपयोग होने से जहाँ उनका वास्तव में उपयोग होना चाहिये वहाँ कमी आती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात और हिटलर शासन के पहले बैंकों की इस प्रवृत्ति में कुछ अन्तर अवश्य आया। उद्योग धन्धों की स्वतन्त्रता, प्रथम महायुद्ध के बाद के मुद्रा प्रसार के कारण उत्पन्न बैंकों की कमजोर स्थिति, और दुहरी बैंकिंग से होनेवाली हानियों का ध्यान, इस परिवर्तन के कारण हैं। फिर भी जर्मन बैंकों की इस नीति से औद्योगिक उन्नति में सहायता मिली है और भारत को भी इस दिशा में आगे आना चाहिये।

भारतीय मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के बारे में एक शिकायत उनके अल्प

देने की प्रणाली के बारे में भी रही है। शिकायत यह रही है कि बैंक व्यक्तिगत ज़मानत मात्र पर उधार नहीं देते जैसा कि दूसरे देशों में होता है। इसके लिए बैंकों के साथ-साथ उधार लेने वालों को भी अपने तरीकों में सुधार करना होगा।

उधार लेने वालों को उनके बारे में चाही जाने वाली सारी जानकारी कराना चाहिये। प्रेसीडेन्सी बैंकों और इम्पीरियल बैंक की परम्परा, बैंकों की असफलताओं का ध्यान और मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा गारन्टी देने की हर समय की तैयारी ने भी इस नीति को प्रोत्साहित किया। बिलों के बाज़ार के विकास और गोदामों द्वारा दीगई उनके पास जमा किये गए माल की गोदाम-रसीद का उधार रुपया लेने के लिए उपयोग होने से देश की औद्योगिक पूँजी की समस्या का हल निकलने में सहायता मिलेगी।

औद्योगिक पूँजी की वर्तमान स्थिति का पूरा हाल जानने के लिए इस विषय में मैनेजिंग एजेन्टों का जो योग रहा है उसे भी जानना आवश्यक है। ये प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से आर्थिक सहायता देते हैं। सीधा उधार देने के अलावा कम्पनियों के हिस्से और ऋण पत्रक भी इनके द्वारा खरीदे जाते हैं। अप्रत्यक्ष सहायता कम्पनी के उधार लेते समय बैंक को गारन्टी देने और जिस कम्पनी का उनसे सम्बन्ध है उसके हिस्से आदि बिकने अथवा सर्व साधारण से सीधे जमा प्राप्त करने में उनके नाम से सहायता मिलने से होती है। मैनेजिंग एजेन्सी का काम करने वाली फर्मों पर इस प्रकार की निर्भरता वांछनीय नहीं है पर दूसरे साधनों के अभाव से यह निर्भरता तो रहनेवाली ही है।

अभी तक हमने औद्योगिक पूँजी की व्यवस्था करनेवाली मौजूदा बैंकिंग संस्थाओं के विषय में विचार किया है। अब हमें दूसरे देशों के उदाहरण को सामने रखकर नई संस्थाएँ स्थापित करने के प्रश्न पर भी विचार करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में एक सुझाव पूंजी लगानेवालों के मनो-विज्ञान का अध्ययन और उनका पथ प्रदर्शन करनेवाली संस्थाओं को स्थापित करने का है। इंगलैंड और अमेरिका के 'अन्डर-राइटर्स' और जर्मनी के 'सिन्डीकेट' इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं और उनकी विशेष जानकारी तथा दृढ़ आर्थिक स्थिति से पूंजी लगाने वालों में एक विश्वास पैदा होता है और उसका परिणाम कम्पनी के सफल संस्थापन में आता है। भारत में इस काम के लिए कोई पृथक संस्थाएँ तो नहीं बनी हैं, हालांकि मैनेजिंग एजेन्ट किसी हद तक इस अभाव की पूर्ति करते हैं।

अत नई संस्थाओं को स्थापित करना आवश्यक है जैसे स्वतन्त्र रूप से अथवा रिजर्व बैंक के एक विभाग के रूप में राष्ट्रीय इन्वेस्टमेन्ट बोर्ड नाम की संस्था की स्थापना की जा सकती है। इसी प्रकार की दूसरी संस्था ब्रिटिश अथवा अमरिकन ढंग की इन्वेस्टमेन्ट ट्रस्ट कम्पनी हो सकती है। ब्रिटेन में इन संस्थाओं का १६ वीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में विशेष प्रचार हुआ। ये सब साधारण लोगों से रुपया लेकर उसे एक जगह एकत्रित करती हैं और फिर ये पूँजी कई प्रकार की प्रतिभूतियों (सिक्यूरिटीज़) में लगाई जाती है। इस प्रकार यह क्रम बराबर जारी रहता है। इसका मूल आधार जोखिम को बाँटना है यहाँ तक कि रुपया के एक अंश के द्वारा विभिन्न कम्पनियों के २० से २००० तक स्टाक, हिस्से (शेयर) और ऋण पत्र (डिबेंचर) खरीदे जाते हैं। इसकी सफलता का मूल आधार कुशल व्यवस्था है जिसमें इस बात का बराबर ध्यान रखा जाता है कि बाजार में उनकी कौनसी सिक्यूरिटीज़ बेची और खरीदी जाती हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात इन्वेस्टमेन्ट ट्रस्ट नाम की इन संस्थाओं का ह्रास हुआ। आर्थिक जीवन की विषमताओं का आविष्कार मनुष्य अपनी बुद्धि कौशल से सुलझाता न कर सका। नतीजा यह हुआ कि ब्रिटेन में 'फिक्स्ड ट्रस्ट' नाम की एक नई संस्था का जन्म हुआ। अमरिका में इस प्रकार की संस्थाएँ थीं। इंग्लैंड में सन् १९३१ में इस प्रकार की संस्था कायम हुई। इनवेस्टमेन्ट ट्रस्ट की भाँति इसमें भी जोखिम का बँटवारा रहता है पर इसमें व्यवस्था का भार किसी एक मैनेजर अथवा मैनेजरों के किसी समूह के हाथों में नहीं सौंपा जाता। फिक्स्ड ट्रस्ट जिन सिक्यूरिटीज़ में पूँजी लगाता है उनकी संख्या निश्चित होती है और उनके बारे में सर्व साधारण को पूरी जानकारी कराई जाती है। जानकार लोग कई हिस्सों का एक समूह निश्चित कर लेते हैं और फिर सर्व साधारण को उसमें रुपया लगाने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। रुपया लगानेवालों को यह आज़ादी रहती है कि वे पूरे समूह में अपना रुपया लगावें अथवा उसके किसी एक भाग में। ट्रस्ट का जीवन दस से बीस वर्ष तक का निश्चित किया जाता है और कोई भी बैंक या बीमा कम्पनी निश्चित शर्तों पर अमानतदार (ट्रस्टी) का काम करता है। हिस्सों के समूह को उप-समूहों में विभाजित करने का काम 'मैनेजर' करता है जो मुनाफा भी एकत्र करता है तथा अलग अलग हिस्सेदारों को उनके मुनाफे का हिस्सा बाँटता है। इंगलैंड में इस संस्था का बड़ा प्रचार हुआ है और छोटे छोटे पूँजी लगानेवालों को इससे बड़ी सहायता मिली। इन दोनों प्रकार की संस्थाओं से भारत को भी लाभ होगा। पूँजी लगानेवालों का पथ प्रदर्शन करके और उनमें विश्वास पैदा करके औद्योगिक उन्नति में ये संस्थाएँ

सहायक हो सकती हैं। इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट के नमूने की कुछ संस्थाएँ हमारे देश में कायम भी हुई हैं, जैसे टाटाज़ इन्वेस्टमेंट कॉरपोरेशन, इंडस्ट्रियल इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट लि०, जे०के० इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट लि. आदि। बम्बई और कलकत्ते में कुछ, इश्यू एंड फाइनेन्स हाउसेज़' नाम की संस्थाएँ भी स्थापित हुई हैं जिनका काम सिक्यूरिटीज के बिक्री का जिम्मा लेना अर्थात् अभिगोपन (अन्डर राइट करना) है।

औद्योगिक पूँजी की समस्या को सुलझाने के लिए समय-समय पर यह सुझाव भी रखा गया कि इस काम के लिए अलग से बैंक कायम किए जाने चाहिये। औद्योगिक कमीशन और केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी भी इसी राय की थी। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी की यह सिफारिश थी कि प्रत्येक प्रान्त में एक प्रान्तीय औद्योगिक कॉरपोरेशन की स्थापना होनी चाहिये और उसकी पूँजी की व्यवस्था प्रारंभ में या फिर स्थायी तौर से ही प्रान्तीय सरकारों द्वारा की जानी चाहिये। प्रान्तीय सरकारों को इनके द्वारा जारी किए गए ऋण पत्रक (डिबेंचर्स) भी खरीदना चाहिये या उन पर मिलने वाले ब्याज की गारन्टी देना चाहिये। ये कारपोरेशन दीर्घकालीन जमा—जिनका समय दो वर्ष से कम का न हो—स्वीकार करें। जब तक इनके सम्बन्ध में सरकार का ब्याज या किसी दूसरे प्रकार का जिम्मा रहे उनके संचालक मण्डलों पर सरकार का प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। इनका काम उद्योग-धन्धों को लम्बे समय के लिए पूँजी उधार देना होना चाहिये। किस प्रकार के उद्योगों को ये कारपोरेशन सहायता दें इसका निर्णय बैंकिंग कमेटी की राय में सम्बन्धित प्रान्तीय सरकार पर ही छोड़ना ठीक होगा। केवल इतना ध्यान अवश्य रहना चाहिये कि सहायता पानेवाले उद्योग ऐसे हों जिनसे "जनता का हित होने वाला हो, प्रान्त की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो और लोगों को काम मिले।" प्रान्तीय कॉरपोरेशनों के कामों में समन्वय करने की दृष्टि से एक अखिल भारतीय औद्योगिक कॉरपोरेशन की स्थापना भी आवश्यक मानी गई। इस प्रकार के अखिल भारतीय कॉरपोरेशन की आवश्यकता इसलिए भी मानी गई कि जिन उद्योग-धन्धों का महत्त्व सारे राष्ट्र की दृष्टि से है उनके विकास में सहायता देना इस कॉरपोरेशन का काम होगा। इसके अलावा और भी कई ऐसे काम हैं जैसे उद्योग-धन्धों के लिए सामान लाने-लेजाने के रेल-किराये में रियायत करवाना, केन्द्रीय सरकार की सामान खरीदने की नीति, आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी नीति तथा दूसरी उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखनेवाली नीतियों का औद्योगिक उन्नति को ध्यान में रखते हुए निर्णय कराना, जिनको अखिल भारतीय कॉरपोरेशन ज्यादा अच्छी तरह कर सकता है।

पिछले वर्षों में इस प्रकार की कुछ संस्थाएँ देश में कायम हुई हैं।

'इण्डस्ट्रियल कॉरपोरेशन ऑफ यूनाइटेड प्राविन्स' नाम की संस्था उत्तर प्रदेश में स्थापित हुए काफी समय हो गया। परन्तु इसका उद्देश्य छोटे पैमाने के उद्योगों की सहायता करना है। अन्य प्रान्तों (अब राज्यों) में भी इस प्रकार के प्रयत्नों की बड़ी आवश्यकता है।

इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न केन्द्रीय सरकार द्वारा 'इण्डस्ट्रियल फाइनेंशियल कारपोरेशन' की स्थापना करके किया गया है। फरवरी १९४८ में तत्कालीन पार्लियामेंट ने इस विषय में आवश्यक कानून पास किया। कारपोरेशन का उद्देश्य बीच के समय के लिए और दीर्घकालीन औद्योगिक पूँजी की व्यवस्था करना है। कारपोरेशन की कुल हिस्सा पूँजी १० करोड़ रुपये तक हो सकती है। इसमें से ५ करोड़ की पूँजी के हिस्से फिलहाल जारी किये गये हैं। बाकी के बाद में आवश्यकतानुसार केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से जारी किये जा सकते हैं। पूँजी के वापिस करने और हिस्सेदारों को न्यूनतम लाभ मिलने की गारण्टी केन्द्रीय सरकार ने दी है। कॉरपोरेशन में ४० प्रतिशत हिस्सा पूँजी भारत सरकार और रिज़र्व बैंक की होगी। १० प्रतिशत सहकारी बैंकों का हिस्सा होगा। इसके अलावा इम्पीरियल बैंक, दूसरे बैंक (शेड्यूल्ड बैंक) और इन्श्योरेंस कम्पनियों को ही कारपोरेशन के हिस्से खरीदने का अधिकार है। कोई व्यक्ति विशेष कारपोरेशन में हिस्से नहीं खरीद सकता। नीति सम्बन्धी मामलों में भारत सरकार को यह अधिकार है कि वह बैंक को आवश्यक हिदायत दे सके। इन सब प्रतिबन्धों का लक्ष्य यही है कि कारपोरेशन राष्ट्र के हित की दृष्टि से औद्योगिक उन्नति के लिए काम कर सके।

बैंक के कार्य संचालन का अधिकार १२ व्यक्तियों के एक मण्डल को है जिसमें छह भारत सरकार और रिज़र्व बैंक द्वारा नियुक्त होंगे। शेष छह अन्य हिस्सेदार चुनेंगे। इन बारह में एक मैनेजिंग डाइरेक्टर होगा। कॉरपोरेशन अपनी सहायता के लिए सलाहकार समितियाँ स्थापित कर सकता है जो उसे यह सलाह दें कि अमुक व्यवसाय को ऋण देना ठीक होगा या नहीं। ऋण केवल सहयोगी समितियों और मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों को ही दिया जा सकता है और कोई एक ऋण ५० लाख रुपये से अधिक का नहीं हो सकता। ऋण रुपयों में अथवा विदेशी मुद्रा में जैसी भी आवश्यकता समझी जाए दिया जा सकता है। औद्योगिक उन्नति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और अमरिका के 'एक्सपोर्ट एण्ड इम्पोर्ट कॉरपोरेशन' से ऋण प्राप्त करने के लिए भी हमारा यह कॉरपोरेशन मध्यस्थ का काम कर सकता है। कॉरपोरेशन का सारा कार्य संचालन व्यापारिक

सिद्धान्तों के आधार पर होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है इस बात की आवश्यकता है कि राज्यों में भी इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना की जाए।

उद्योग-धंधों को आर्थिक सहायता पहुँचाने का एक और उपाय जो काम में लाया गया है वह है उद्योग-धंधों को राज्य द्वारा सहायता देने सम्बन्धी क़ानून पास करके उनके अन्तर्गत आवश्यक आर्थिक सहायता करना। सबसे पहले मद्रास ने १९२२ में इस मामले में पहल की और उसके पश्चात कई प्रान्तों ने उसका अनुकरण किया, जैसे तत्कालीन बिहार-उड़ीसा (१९२३), बंगाल (तत्कालीन) (१९३१); मध्य प्रान्त १९३४ और तत्कालीन पंजाब १९३५। उद्योग धंधों को इन कानूनों के अन्तर्गत कई प्रकार की सहायता दी गई, जैसे—ऋण देना, बैंक से प्राप्त कैश क्रेडिट, बैंक ड्राफ्ट और फिक्सड एडवांस की गारन्टी देना, हिस्से अथवा ऋणपत्रक (डिबेंचर्स) खरीदना, पूँजी के किसी अंश पर न्यूनतम मुनाफ़ा की गारंटी देना, 'हायर-परचेज' व्यवस्था के आधार पर मशीनें उपलब्ध करना, और रियायती दामों पर ज़मीन, कच्चा माल, ईंधन पानी, तथा विशेषज्ञों और राज्य कर्मचारियों की सेवाओं की व्यवस्था करना, और अनुसंधान तथा मशीनें खरीदने के लिए आर्थिक सहायता करना। यह स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार जो भी सहायता उद्योग-धन्धों को दी गई उसका अनुभव कुछ संतोषजनक नहीं रहा। सहायता के बावजूद भी कई उद्योग सफलतापूर्वक नहीं चल सके और कइयों ने उधार लिया रुपया नहीं लौटाया। इस असफलता के कारण भी अनेक रहे हैं, जैसे —बिना किसी निश्चित योजना के रुपया लगाना, ग़लत उद्योगों की सहायता कर देना, जोखम का विभिन्न प्रकार के उद्योगों में समुचित बटवारा न करना, समय पर कर्ज नहीं मिलना, और पूरी जांच के बाद सहायता दी जा सके इसकी समुचित व्यवस्था न होना। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने की अवश्य है कि आर्थिक सहायता के ये प्रयोग आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त संकटपूर्ण समय में आरंभ किए गए थे। अस्तु, केवल उपर्युक्त अनुभव के आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचना उचित भी नहीं हो सकता।

अब तक औद्योगिक पूँजी के प्रश्न पर हमने केवल इस दृष्टि से विचार किया है कि देश में जो पूँजी के साधन उपलब्ध हैं उनका अधिक से अधिक उपयोग कैसे किया जाए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वसाधारण में विनियोग की वृत्ति का और विनियोग की वर्तमान सुविधाओं का पूरा-पूरा विकास कैसे संभव हो सकता है, इस विषय में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। पर इस प्रश्न का एक और पक्ष भी है जो अधिक आधारभूत महत्त्व का है। इस पक्ष का

सम्पन्न लोगों की आय से है। अन्ततोगत्वा यह बात सही है कि जितनी अधिक हमारी आय होगी, उसी हिसाब से यदि हम चाहेंगे तो रुपया बचा सकेंगे और औद्योगिक पूंजी में रुपया लगाने की हमारी क्षमता भी इस पर आधारित होगी। इसका अर्थ यह है कि हम अपने उन साधनों में भी अभिवृद्धि करनी चाहिये जो हमारी औद्योगिक पूँजी का स्रोत हैं। यहां राष्ट्र की आय बढ़ाने का प्रश्न आ उपस्थित होता है। पर स्पष्ट है कि इस बारे में तत्काल तो कुछ हो नहीं सकता। दूसरी बात विचारणीय यह है कि हम में अपने धन को स्थिर करने की अपेक्षा पूंजी के रूप में लगाने की प्रवृत्ति कम है। इसमें कई प्रकार की कठिनाइयों का उल्लेख किया जाता है जो हैं—राष्ट्रीयकरण का भय, अत्यधिक आय कर, मैनेजिंग एजेन्टों की बुरी कार्यवाहियां, स्टाक बाजार में सट्टा और उसके परिणाम स्वरूप सिक्योरिटीज के मूल्यों में अस्थिरता, राष्ट्रीय आय के बटवारे में प्रतिकूल परिवर्तन और पूंजी जारी करने के बारे में सरकार की पूर्व स्वीकृति। इस बात की पूरी आवश्यकता बताई जाती है कि जहां तक हो सके इन कठिनाइयों को दूर किया जाए। पर यह ध्यान रखने की बात है कि इनमें से कई कठिनाइयों का वास्तव में कोई बड़ा असर नहीं है।

अपनी राष्ट्रीय आय बढ़ाने और उसका एक अच्छा अंश पूंजी के तौर पर लगाने के लिए जो कुछ किया जा सकता है वह अवश्य ही किया जाना चाहिये। परन्तु औद्योगिक पूंजी को बढ़ाने का एक उपाय और है और वह है विदेशी पूंजी की व्यवस्था। अब हम विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में थोड़ा विचार करेंगे।

विदेशी पूंजी—देश के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में विचार करते समय विदेशी पूंजी का प्रश्न भी बराबर सामने रहा है। विदेशी पूंजी की हमारे देश में जो प्रधानता रही है, और जो इस समय भी समाप्त नहीं हो गई है, उसे देखते हुए उसका व्यावहारिक महत्त्व और भी बढ़ जाता है। १६ वीं शताब्दी के मध्य से ही विदेशी पूंजी का आना आरम्भ हुआ और आज हमारे कई प्रमुख उद्योग धन्धों में, जैसे—बैंक, जहाजी यातायात की कम्पनियां, रेलवे, बीमा कम्पनियां, चाय और काफी के बाग, खनिज उद्योग, चमड़ा कमाने के उद्योग, और पाट बनाने के उद्योगों में विदेशी पूंजी ही लगी हुई है और विदेशी पूंजीपतियों द्वारा ही ये उद्योग संचालित और नियन्त्रित भी होते हैं। हमारे सामने विचारणीय प्रश्न एक ही है कि विदेशी पूंजी की सहायता से अपना आर्थिक विकास करना उचित है या नहीं और इस सम्बन्ध में भारत की स्थिति क्या है?

किसी भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए विदेशी पूंजी की सहायता

तभी चाहिये जब उस देश के पास अपनी पूंजी अपर्याप्त मात्रा में हो। यदि विदेशी पूंजी पर जो व्याज देना पड़े उससे अधिक उसके द्वारा आय हो, और आन्तरिक पूंजी की अपेक्षा सस्ते आधार पर वह पूंजी मिल सके, तो विदेशी पूंजी लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इस पूंजी का सबसे बड़ा उपयोग यह है कि देश आर्थिक उन्नति अधिक तीव्र गति से कर सकता है। और आर्थिक दृष्टि से जैसे-जैसे कोई देश प्रगति करता जाता है, विदेशी पूंजी की उसकी जरूरत भी कम होती जाती है। इस प्रकार एक निश्चित समय में विदेशी पूंजी की आवश्यकता अपने आप कम हो जाती है।

विदेशी पूंजी से कुछ नुकसान भी हैं। एक सबसे बड़ा नुकसान तो यही है कि देश में निहित स्वार्थों की एक ऐसी श्रेणी बन जाती है जो आगे चलकर राष्ट्रीय हित के विपरीत हो। भारत इसका एक अच्छा उदाहरण है। सारांश यह है कि किसी भी देश में विदेशी पूंजी का अबाध प्रवाह उस देश के हित में कभी नहीं हो सकता। सरकार को विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में ऐसी शर्तें लगाना चाहिये जिससे एक ओर तो राष्ट्रीय हितों की रक्षा हो सके और विदेशी पूंजी को देश के आर्थिक जीवन में कोई प्रभुत्व प्राप्त न हो। दूसरी ओर विदेशी पूंजी से मिलने वाले समस्त सम्भावित लाभ भी उस देश को मिल सकें। उदाहरण के तौर पर जो भी विदेशी कम्पनियां भारत में स्थापित हों वे भारत में ही रजिस्टर की जानी चाहिये और उनकी पूंजी भारतीय मुद्रा—रुपये में होनी चाहिये। हिस्सा पूंजी का एक निश्चित अंश भारतीय नागरिकों के लिए सुरक्षित होना चाहिये। संचालक-मंडल में भी भारतीयों के लिए अमुक संख्या में स्थान निश्चित होने चाहियें। और अन्तिम बात यह है कि ऐसी कम्पनियों को भारतीयों को शिक्षा देने की व्यवस्था भी करनी चाहिये। उपर्युक्त प्रतिबन्धों का वास्तव में क्या परिणाम आने वाला है, इस बारे में पहले से ही कुछ निश्चयात्मक रूप से कह सकना यद्यपि कठिन है, पर फिर भी अनुभव से लाभ उठाते हुए इस दिशा में आगे तो बढ़ना ही चाहिये।

भारत को अपने औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूंजी चाहिये इसमें कोई सन्देह नहीं। विदेशी पूंजी की आवश्यकता का केवल यही एक कारण नहीं है कि जितनी पूंजी हमें चाहिये उसकी अपेक्षा जो पूंजी हमें अपने देश में ही उपलब्ध हो सकती है वह कम है। इसका एक दूसरा कारण भी है। देश की औद्योगिक उन्नति के लिए हमें मशीनों आदि जैसा कई प्रकार का सामान आज चाहिये और उसमें से अधिकांश हमें विदेशों से मंगाना होगा जिसके लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी। देश के आयात-निर्यात की जो आज स्थिति है, उसमें

आवश्यक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का हमारे पास या तो यह साधन है कि जो हमारा स्टर्लिंग जमा है उसका हम उपयोग करें, या फिर विदेश से पूँजी उधार लें। और चूँकि जो स्टर्लिंग हम उपलब्ध होगा वह सारा का सारा डालर में परिणत नहीं किया जा सकता इसलिए सिवा विशेष प्रधानतः अमेरिका जैसे दुर्लभ मुद्रा वाले देशों से पूँजी उधार लेने के और कोई उपाय हमारे पास है नहीं। जैसा ऊपर भी लिखा जा चुका है, विदेशी पूँजी से और भी लाभ है। टेकनिकल ज्ञान और औद्योगिक अनुसंधान का लाभ मिल सकता है। साथ ही टेकनीशियनों, मैनेजरों और प्रबन्धकों की आधुनिक ढंग पर ट्रेनिंग की सुविधा भी मिल सकती है।

विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में दूसरा महत्व का प्रश्न यह है कि इस पूँजी का उपयोग किन किन कामों के लिए किया जाय। इस बारे में प्रायः सर्व सम्मति से यह माना जाता है कि विदेशी पूँजी का उपयोग या तो राज्य द्वारा सञ्चालित उन योजनाओं के लिए किया जाए जो विदेशी मशीनों आदि पर निर्भर हैं, जैसे—पानी से बिजली उत्पादन की योजनाएं या उन नए प्रकार के उद्योगों के वास्ते जिनका विदेशी टेकनिकल सहायता के बिना स्थापना नहीं हो सकता। व्यक्तिगत उत्पादन के क्षेत्र में भी विदेशी पूँजी का उपयोग केवल ऐसे नए ढंग के उत्पादन कार्यों में किया जाना चाहिये जिनके लिए देश में पूँजी और प्रबन्ध उपलब्ध न हो। फिसकल कमीशन (१९५०) इस राय से साधारणतया सहमत है। केवल एक संशोधन उनका है कि जहाँ किसी भी चीज़ का देश में उत्पादन उसकी माँग की अपेक्षा कम है और उसमें तत्काल यथेष्ट मात्रा में वृद्धि होने का भी कोई संभावना नहीं है, तो सरकार को उस काम के लिए विदेशी पूँजी की, जो वह उचित समझे, उन शर्तों पर व्यवस्था करने की पूरी आज़ादी होनी चाहिये।

विदेशी पूँजी से सम्बन्ध रखनेवाला तीसरा प्रश्न यह है कि किस रूप में यह पूँजी आनी चाहिये। मोटे रूप से दो प्रकार से यह पूँजी आ सकता है—एक तो सीधे तौर से विनियोग द्वारा और दूसरे अप्रत्यक्ष विनियोग (इनवेस्टमेंट) द्वारा। सीधे विनियोग का अर्थ यह कि विदेशी पूँजी हिस्से आदि की शक्ल में उद्योग धन्धों में लगाई जाए। इसके कई लाभ हैं। जहाँ पूँजी के साथ साथ 'टेकनिकल ज्ञान' (टेकनिकल नो हाऊ) और अनुभव की आवश्यकता है, जैसे नए ढंग के उद्योगों में, जिनसे भारतीय व्यवसायी वर्ग अपरिचित है, या उन राजकीय योजनाओं में जहाँ ऐसे ज्ञान और प्रबन्ध की जो देश में उपलब्ध नहीं है, आवश्यकता है, वहाँ सीधे विनियोग द्वारा विदेशी

पूंजी प्राप्त करना अधिक उपयोगी होगा। देश के लोगों के लिए आवश्यक ट्रेनिंग की व्यवस्था भी इस प्रकार अच्छी और जल्दी हो सकती है। विदेशियों से ऋण सम्बन्धी जो मुआहदे किए जाएँ उनमें भी किसी हद तक परिवर्तन की गुंजाइश इस प्रकार के विनियोग में संभव है। इसके अतिरिक्त एक लाभ यह भी है कि इस प्रकार से देश के विदेशी मुद्रा के जो साधन हैं उन पर कुछ बोझ कम हो सकता है, क्योंकि सीधे विनियोग द्वारा जो विदेशी पूँजी प्राप्त की जाय गी और जिसमें विनियोग के एवज़ में मिलने वाले मुआवज़े का व्यवसाय-विशेष की आय से सम्बन्ध होगा, उसके बारे में विदेशी उधार देने वालों को उनके ऋण के लिए जो कुछ देना पड़ेगा, वह देश की मुद्रा में ही दे दिया जा सकता है, और परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा पर से उतना बोझ कम हो जाता है। अब तक हमने सीधे विनियोग से प्राप्त होने वाली विदेशी पूँजी का ही विचार किया है। अप्रत्यक्ष विनियोग का जहाँ तक प्रश्न है वह उन मामलों में उपयुक्त हो सकता है जहां विदेशी पूंजी की आवश्यकता केवल इसलिए होती है कि विदेशी मशीनों तथा अन्य आवश्यक साधनों और साधारण से साधारण सलाह, जो ऐसे साधनों के उत्पादक देते हैं, का चुकारा करना है। विदेशी मुद्रा की कठिनाई होने से ही इस प्रकार विदेशी पूंजी की आवश्यकता होती है। सरकारी तौर पर या ऐसी अर्द्ध सरकारी संस्थाओं, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक या अमेरिका का आयात-निर्यात बैंक से ही इस प्रकार की विदेशी पूँजी प्राप्त हो सकती है।

विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में जो कुछ हम ऊपर लिख चुके हैं उसका सार यह है कि अपने औद्योगिक विकास के लिए यद्यपि हमें विदेशी पूंजी की सहायता लेनी होगी पर उस सहायता के सम्बन्ध में आवश्यक सावधानी और मर्यादाओं का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा। इसकी आवश्यकता का महत्त्व समझने के लिए पिछले वर्षों में हमारे देश में भारतीय नामों की छत्रछाया में कई विदेशी कंपनियों ने भारत-सरकार की भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने की नीति से लाभ उठाने के वास्ते जो अपना विस्तार फैलाना चाहा है, उसे हमें याद रखना चाहिये। इस प्रकार की कुछ प्रमुख कंपनियों के नाम ये हैं—लीवर ब्रदर्स इंडिया लिमिटेड, डनलप रबर कम्पनी इंडिया लि०, बाटा शू मैन्यूफैक्चरिंग इंडिया लि०, गुडइयर टायर्स एन्ड रबर कंपनी इंडिया लि०। इन सब कंपनियों ने अपने नाम के आगे भारतीय दिखाने के लिए 'इंडिया लिमिटेड' शब्दों का प्रयोग किया है और ये अपने संचालक-मंडल में एक-दो भारतीय को भी स्थान देने की होशियारी बरतती हैं। देशी व्यवसाय की रक्षा के लिए इस प्रकार के प्रयत्नों को किसी न किसी प्रकार रोकने की आवश्यकता तो है।

कम्पनी-क़ानून में सुधार

भारत सरकार के प्रस्ताव

सन् १६२६ में वर्तमान कम्पनी एक्ट पास हुआ था। उसके पश्चात् गत महायुद्ध के समय और बाद में मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। यह अनुभव किया जाने लगा कि वर्तमान कम्पनी क़ानून में सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। विशेष तौर पर मैनेजिंग एजन्सी प्रथा के सम्बन्ध में सुधार की आवश्यकता और भी अधिक सामने आ रही थी। अस्तु १६४६ के नवम्बर महीने में भारत सरकार ने कम्पनी-क़ानून में सुधार करने सम्बन्धी कुछ प्रस्ताव जनता के लिए प्रकाशित किये। संक्षेप में हम इन प्रस्तावों का यहाँ उल्लेख करेंगे। परन्तु मैनेजिंग एजन्सी प्रथा से सम्बन्ध रखनेवाले प्रस्तावों के बारे में लिखना उचित होगा।

मैनेजिंग एजन्सी में सुधार सम्बन्धी प्रस्ताव—इन प्रस्तावों में सबसे पहले यह कहा गया है कि यद्यपि वर्तमान कम्पनी एक्ट में मैनेजिंग एजेन्सी सम्बन्धी कई धाराएँ हैं जिनके द्वारा इस प्रणाली को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया है पर यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका है और इस प्रणाली में आज भी कई दोष ज्यों के त्यों मौजूद हैं। जिन मुख्य मुख्य दोषों का इन प्रस्तावों में उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं—हालांकि समझा यह जाता है कि मैनेजिंग एजेन्ट्स कम्पनी के संचालकों के नियन्त्रण में काम करते हैं, पर वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। संचालकों पर मैनेजिंग एजन्ट्स का प्रभाव होता है और वे जैसा चाहें वैसा संचालकों से करवाते हैं। दूसरी शिकायत यह है कि मैनेजिंग एजन्ट्स अपने स्वार्थ को सामने रखकर—न कि हिस्सेदारों के हित का ध्यान रखकर—कम्पनी के काम का संचालन करते हैं। तीसरी शिकायत यह है कि कम्पनी की आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा मैनेजिंग एजेन्ट्स स्वयं ले लेते हैं और हिस्सेदारों के लिए बहुत कम छोड़ते हैं। भारत सरकार उपर्युक्त शिकायतों को दूर करने की दृष्टि से मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली पर जो प्रतिबन्ध आज हैं उनको और अधिक कड़ा करने की आवश्यकता समझती है। इस उद्देश्य से सरकार ने जो प्रस्ताव प्रकाशित किये हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मैनेजिंग एजन्ट्स कोई ऐसा व्यापार नहीं करेंगे जो उस कम्पनी के, जिसके वे मैनेजिंग एजेन्ट्स हैं, व्यापार के समान है।

(२) मैनेजिंग एजेन्ट्स किसी भी ऐसी दो या दो से अधिक कम्पनियों के मैनेजिंग एजेन्ट्स नहीं होंगे जो एक ही प्रकार का व्यापार करती हैं।

(३) प्राइवेट कम्पनियों में मैनेजिंग एजेन्ट्स नहीं रह सकेंगे।

(४) कम्पनियां मैनेजिंग एजेन्ट्स का कार्य नहीं कर सकेंगी।

(५) मैनेजिंग एजेन्ट्स को शुद्ध लाभ का जो अधिकतम प्रतिशत दिया जा सकता है वह निश्चित होना चाहिये और पर्याप्त लाभ न होने की हालत में जो न्यूनतम मुआवज़ा उनको दिया जाये वह वसूल-पूँजी (पेड अप केपिटल) के प्रतिशत के रूप में एक निश्चित शृंखला के अनुसार होना चाहिये।

(६) मैनेजिंग एजेन्ट्स को जो मुआवज़ा दिया जाए उसमें कार्यालय-खर्च के लिए कोई अलाउन्स नहीं होना चाहिये।

(७) मैनेजिंग एजेन्ट्स के नियुक्त होने के बाद हिस्सेदारों की पृथक साधारण सभा में जो मुआवज़ा उनको दिया जाए वह स्वीकृत होना चाहिये।

(८) नं. ५ में दिये गए मुआवज़े के अलावा और कोई मुआवज़ा देने की यदि शर्त होगी तो वह कम्पनी पर लागू नहीं होगी। मैनेजिंग एजेन्ट्स या अन्य कोई, जिनमें मैनेजिंग एजेन्ट्स का आर्थिक हित है क्रय, विक्रय अथवा टर्नओवर पर कोई कमीशन नहीं ले सकेंगे।

(९) यदि कुप्रबन्ध के कारण अथवा उन हिस्सों के मत से जो मैनेजिंग एजेन्ट्स के पास अथवा प्रभाव में हैं, मैनेजिंग एजेन्ट्स की सेवाएँ समाप्त की जाएँगी तो उनको कोई हर्जाना नहीं मिलेगा।

(१०) प्रथम कार्य-काल के पहले या ठीक उसके समाप्त होने पर दुबारा नियुक्ति प्रधान कम्पनी के विशेष प्रस्ताव से हो सकनी चाहिये। प्रथम पुनः नियुक्त का कार्य काल १० वर्ष का और उसके बाद ५ वर्ष का ही होगा। यदि मैनेजिंग एजेन्ट्स किसी कार्य-काल के प्रत्येक वर्ष में एक निश्चित औसत 'डेविडेन्ट' देते हैं तो उनका कार्य-काल साधारण प्रस्ताव से ही ५ साल के लिये बढ़ाया जा सकेगा और हर कार्य-काल के बारे में यही बात लागू होगी। पर बीस वर्ष तक ही ऐसा हो सकता है।

(११) मैनेजिंग एजेन्टस की परिभाषा को भी इस प्रकार संशोधित किया जाने को है—"मैनेजिंग एजेंट्स से तात्पर्य किसी भी ऐसे व्यक्ति अथवा फर्म से है जो कंपनियों से हुए किसी शर्तनामे के अनुसार और संचालकों के नियंत्रण और मार्ग दर्शन में कंपनी के कारोबार का प्रबन्ध करने का अधिकारी है—कोई भी व्यक्ति या फर्म जो इस प्रकार के पद पर काम करता है, फिर किसी भी नाम से सही, वह इस परिभाषा के अन्तर्गत माने जावेंगे।

(१२) मैनेजिंग एजेंटों संबंधी प्रत्येक सहमति पत्रक (एग्रीमेंट) रजिस्ट्रार के पास पेश होगा।

वसूल करना चाहिये और इसके अलावा कानून के अनुसार जो कुछ किया जा सकता है वह तो किया ही जा सकता है।

(२३) लाभ-हानि के हिसाब के साथ मैनेजिंग एजेन्ट को मिलने वाले मुआवजे के हिसाब का एक ब्यौरा भी होना चाहिये। कंपनी के आडिटर द्वारा यह प्रमाणित होना चाहिये कि मुआवजे का जिस तरह से हिसाब लगाया गया है वह कानून और मैनेजिंग एजेन्ट के मुआवजे सम्बन्धी जो शर्तें हैं उनके अनुसार है।

(२४) केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार होगा कि वह किसी भी समय यह घोषणा करदे कि अमुक धंधों और कंपनियों का जहां तक सम्बन्ध है मैनेजिंग एजेन्सी प्रथा लागू नहीं होगी।

भारत सरकार के उपर्युक्त प्रस्तावों की देश के व्यवसायी वर्ग ने कड़ी आलोचना की है और उसका आधार यह है कि उक्त प्रस्तावों को स्वीकार करने का तो एक ही परिणाम आ सकता है कि मैनेजिंग एजेंसी-प्रणाली का अन्त हो जाए। देश की औद्योगिक उन्नति के लिए यह अत्यन्त घातक निर्णय होगा। भारत वर्ष को आज इनकी (मैनेजिंग एजेन्ट) सेवाओं की आवश्यकता है। यह हो सकता है कि कुछ मैनेजिंग एजेन्ट अपने स्थान और पद का दुरुपयोग करते हों और जिनके बारे में कई प्रकार की शिकायतें सही हों, पर सबके बारे में यह स्थिति ठीक नहीं हो सकती। ऐसी दशा में सबके साथ एकसा व्यवहार करना न्याय संगत नहीं होगा। खास तौर से जो आपत्ति उठाई गई है वह एक तो इस सुझाव के बारे में है कि एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाली दो या दो से अधिक कंपनियों का एक ही मैनेजिंग एजेन्ट नहीं हो सकता। यह कहा जाता है कि इससे कई प्रकार की हानियाँ होंगी। एक ही मैनेजिंग एजेन्ट जब कई कंपनियों का प्रबन्ध करते हैं तो वे सबके लिए मिला जुला बहुत अच्छा टेकनिकल और दूसरा स्टाफ रखते हैं और इससे उनका खर्च भी कम आता है। इसी प्रकार यह प्रस्ताव भी, कि कोई कम्पनी मैनेजिंग एजेन्ट नहीं हो सकती, आपत्तिजनक है। कंपनियाँ इस अर्थ में व्यक्तिगत आधार पर नहीं चलतीं कि पिता के पश्चात् पुत्र ही अधिकारी होगा, चाहे वह योग्य हो या नहीं। ऐसी हालत में कंपनी का प्रबन्ध बराबर अच्छा रह सकता है। उसको मैनेजिंग एजेन्ट बनाने का भी यह लाभ है कि जिस कंपनी की वह मैनेजिंग एजेन्ट है उसकी व्यवस्था भी अच्छे हाथों में बराबर रह सकती है। मैनेजिंग एजेन्टस की दुबारा नियुक्ति के संबंध में समय को मर्यादित करने का जो प्रस्ताव है उसमें दो आपत्तियां उठाई गई हैं, एक तो यह कि २० वर्ष के बाद की स्थिति अनिश्चित रूप में छोड़दी गई है, और दूसरे

यह कि पुनर्नियुक्ति का समय बहुत थोड़ा है। इसका असर बड़े बड़े धंधों को प्रारम्भ करने में बाधा पहुंचाने वाला होगा क्योंकि बड़े-बड़े धंधों का परिणाम तो लम्बे समय के बाद ही आता है। इण्डियन चेम्बर ऑव कॉमर्स के सभापति ने प्रस्तावों के सम्बन्ध में अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं—"ये प्रस्ताव असामयिक तथा विनियोग और औद्योगिक उन्नति जो कि आज की हमारी प्रमुख आवश्यकता है, की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं।" जो आपत्तियाँ इन प्रस्तावों के बारे में ऊपर उठायी गई हैं उनका यह अर्थ नहीं है कि इन प्रस्तावों में कोई अच्छी बात है ही नहीं। मैनेजिंग एजेन्टों के पारिश्रमिक (पुरस्कार), संचालकों के दायित्व के बारे में जो सुझाव किये गये हैं वे उचित ही हैं। इसी प्रकार उधार रुपये लेने और विनियोग के बारे में भी प्रस्ताव किये गये हैं वे भी ठीक हैं। शुद्ध लाभ की जो परिभाषा सुझाई गई है वह भी अधिक वैज्ञानिक और न्यायसंगत है।

इन सबका सारांश यह है कि उपर्युक्त प्रस्तावों में जो बातें व्यवसायी वर्ग की दृष्टि में आपत्तिजनक मानी गई हैं वे वह बातें हैं जिनका सम्बन्ध मैनेजिंग एजेन्टों के कार्यक्षेत्र और कार्यकाल को सीमित करने से है। इस बारे में किसी निश्चित मत पर पहुंचने के पहले हमें इस आधारभूत प्रश्न का उत्तर देना चाहिये कि सिद्धान्ततः हम मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली को देश की आर्थिक व्यवस्था में जारी रखना चाहते हैं अथवा नहीं। यदि हम यह चाहते हैं कि यह प्रणाली यथावत् प्रचलित रहे और देश के आर्थिक विकास में इसका प्रमुख सहयोग हो तब तो जो आपत्तियाँ ऊपर उठायी गई हैं वे अवश्य ही विचारणीय हैं। परन्तु यदि हमारी मान्यता यह है कि मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली का देश के आर्थिक जीवन से समाप्त हो जाना ही श्रेयस्कर है तो उपर्युक्त आपत्तियों का उतना औचित्य नहीं रहता। यह ठीक है कि जब तक देश में मैनेजिंग एजेन्टों का स्थान लेने वाली दूसरी आर्थिक संस्थायें उत्पन्न नहीं होतीं तब तक हम उनकी आवश्यकता होगी और इसलिये हम एक साथ उनका बहिष्कार नहीं कर सकते। परन्तु हमारा प्रयत्न यही हो सकता है कि हम एक ओर तो न केवल मैनेजिंग एजेन्टों के कार्यों पर उचित नियन्त्रण स्थापित करें और दूसरी ओर उनके कार्य क्षेत्र को सीमित करते हुए उनकी सहायता के बिना आर्थिक प्रगति के कार्य में किसी प्रकार की बाधा न हो इसका पूरा पूरा ध्यान रखें। यह एक रहस्य है कि देश में अब बिना मैनेजिंग एजेन्टों की सहायता के भी नये धन्धों की स्थापना होने लगी है। राज्य का कर्त्तव्य है कि इस प्रवृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहन दे। क्योंकि हमारा यह निश्चित मत है कि अन्ततोगत्वा हमारा ध्येय देश के आर्थिक जीवन में मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली का अन्त करना ही होना चाहिये।

कम्पनी क़ानून में दूसरे प्रस्तावित संशोधन—भारत सरकार के व्यापार-मंत्रालय ने कम्पनी कानून में सुधार करने सम्बन्धी जो दूसरे (मैनेजिंग एजेन्सी सम्बन्धी प्रस्तावों के अलावा) प्रस्ताव उपस्थित किये हैं, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। प्राइवेट कम्पनियों को अभी तक अपने काम और स्थिति के बारे में सरकार को और जनता को बहुत कम जानकारी देना होता है। अब यह प्रस्ताव है कि बैलेंसशीट और लाभ-हानि के हिसाब को ऑडिट कराने, कम्पनियों के रजिस्ट्रार के पास सालाना स्टेटमेंट्स ऑव अकाउन्ट्स पेश करने और सब हिस्सेदारों के पास उनको भेजने के बारे में प्राइवेट कम्पनियों पर पब्लिक कम्पनियों के जैसा ही नियंत्रण कर दिया जाए। प्राइवेट कम्पनी अपने रुपए को मन चाहे ढंग से उधार न दे सके इस पर भी नियंत्रण करने का सुझाव है। क़ानून को लागू करने के बारे में भी कुछ संशोधन प्रस्तुत किये गये हैं ताकि क़ानून अधिक कारगर रूप में लागू किया जा सके और कानूनी कार्यवाही में शीघ्रता हो सके। उदाहरण के तौर पर यह सुझाव है कि कम्पनी क़ानून का पालन करती है या नहीं इसकी जिम्मेदारी कम्पनी के किसी एक पदाधिकारी पर, चाहे फिर वह कोई एक संचालक हो, या मैनेजर हो, या मैनेजिंग एजेन्ट हो, या मंत्री हो, डाली जानी चाहिये। और किसी तरह की इस विषय में यदि कमी रहे तो वह उक्त पदाधिकारी की कमी मानी जाएगी। पर दूसरे संचालकों और पदाधिकारियों की जो आज जिम्मेदारी है वह ज्यों की त्यों रहेगी। कम्पनियों के कारोबार के जांच करने के सम्बन्ध में आज सरकार के अधिकार बहुत सीमित हैं। इसलिये यह सुझाव है कि जिस प्रकार केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से बैंकिंग कम्पनी-एक्ट के अनुसार रिज़र्व बैंक किसी बैंकिंग कम्पनी का निरीक्षण कर सकता है, उसी तरह केन्द्रीय सरकार के आदेश से रजिस्ट्रार को या अन्य किसी योग्य इन्सपेक्टर को साधारण कम्पनियों का निरीक्षण करने का अधिकार हो। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को और कई आवश्यक अधिकार देने का प्रस्ताव भी है। पूंजी सम्बन्धी ढांचे में भी कुछ सुधार आवश्यक समझे गए हैं। आज तो स्थिति यह है कि अधिकृत पूंजी (ऑथराइज्ड केपिटल) और प्राप्त पूंजी (पेड अप केपिटल) में बहुत अन्तर रहता है और कुछ श्रेणी के हिस्सेदारों को मताधिकार भी अनुचित अनुपात में प्राप्त हैं। अस्तु, इस स्थिति में सुधार करने की दृष्टि से भी कई संशोधन करने का प्रस्ताव है। जैसे, किसी भी कम्पनी की वितरित (सब्सक्राइब्ड) पूंजी अधिकृत पूंजी से आधी से कम और प्राप्त (पेड अप) पूंजी वितरित पूंजी से आधी से कम नहीं होनी चाहिये। हिस्सेदारों ने वितरित पूंजी का जितना रुपया चुका दिया है, उसी आधार पर उनको मता-

अधिकार प्राप्त होना चाहिये और हिस्से के प्रकार के कारण इसमें कोई भेद नहीं होना चाहिये, यह भी एक सुझाव है। साधारण हिस्सेदारों को जिस दर से लाभ बाँटा जाय उससे दुगुना से अधिक दर से लाभ डेफर्ड हिस्सेदारों को नहीं मिलना चाहिये और प्रिफरेन्स हिस्सेदारों को एक निश्चित दर से ही लाभ मिलना चाहिये। संचालकों के दायित्व के बारे में संशोधन प्रस्तुत किए गए हैं ताकि संचालक मैनेजिंग एजेन्टों के कठपुतली बनकर ही न रहें और अपने दायित्व को भली प्रकार समझें। इसी दृष्टि से यह प्रस्ताव किया है कि मैनेजिंग एजेन्ट के होते हुए भी कानून की यदि कोई अवहेलना होती है तो उसके लिए संचालकों को ही जिम्मेदार माना जाना चाहिये। इसी प्रकार किसी भी कुप्रबन्ध और अनुचित काम के लिए भी संचालकों की जिम्मेदारी समझी जानी चाहिये। संचालकों के सम्बन्ध में कई स्वस्थ प्रतिबन्ध लगाने का भी सुझाव है, जैसे—डाइरेक्टर को मिलने वाला पुरस्कार आय कर से मुक्त नहीं होना चाहिये, ७० वर्ष से अधिक आयु का संचालक नहीं होना चाहिये, संचालक के पास जितने हिस्से हैं और जितने ऋण पत्र (डिबेंचर्स) उसकी पूरी पूरी सूचना रहनी चाहिये, तथा संदिग्ध आचरण के, अथवा जिसे कम्पनी के निर्माण अथवा व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में सजा मिल चुकी है उस व्यक्ति को एक निश्चित समय तक जो पाँच वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिये संचालक नहीं बनाना चाहिये। आडिटर के बारे में जो सुझाव प्रस्तुत किए गये हैं उनका उद्देश्य आडिटर को अधिक स्वतन्त्रता और संरक्षण देना है ताकि वे दलबन्दी के बेजा दबाव से बच सकें। जैसे एक सुझाव यह है कि आडिटर की नियुक्ति सम्बन्धी प्रस्ताव पर संचालक और मैनेजिंग एजेन्ट मत नहीं दें। इसी प्रकार दूसरा सुझाव यह है कि जब तक कि कोई आडिटर दुबारा नियुक्ति के अयोग्य ही नहीं हो, या वह दुबारा नियुक्त नहीं होना चाहता इसकी उसने लिखित सूचना कम्पनी को न दे दी हो, या उसके स्थान पर और किसी की नियुक्ति न हो गई हो, उसकी पुनः नियुक्ति अपने आप हुई समझी जानी चाहिये। बैलेन्स शीट और लाभ हानि के हिसाब के लिए फार्म के बारे में भी सुझाव है ताकि आज से कहीं अधिक सूचना कम्पनी के बारे में उपलब्ध हो सके। अल्पमत में जो हिस्सेदार हैं उनके हितों की रक्षा करने की दृष्टि से भी कुछ संशोधन प्रस्तुत किये गये हैं ताकि जो बहुमत में हैं वे अल्पमत वालों के हितों को आघात न पहुँचा सकें। जैसे इस सम्बन्ध में एक सुझाव यह है कि अल्पमत वालों को या सदस्यों को अमुक संख्या में नियुक्ति करने का अधिकार होना चाहिये। यदि कम्पनी का एक भी सदस्य कम्पनी के कारोबार सम्बन्धी कोई शिकायत करता है तो उस पर आव

श्यक ध्यान दिया जाने की समुचित व्यवस्था हो इस बारे में भी कुछ सुझाव उपस्थित किये गये हैं। विदेशी कम्पनि सम्बन्धी भी कुछ प्रस्ताव किये गये हैं। इस समय तो उन पर कोई नियंत्रण ही नहीं है। केवल इतना ही है कि प्रत्येक ऐसी कम्पनी को, जो विदेश में रजिस्टर हुई है और भारतवर्ष में कोई काम करती है, उस प्रान्त (राज्य) के रजिस्ट्रार के पास जहां वह काम करती है, विधान-संचालकों और कम्पनी के पदाधिकारियों के बारे में कुछ जानकारी भेजनी पड़ती है। रजिस्ट्रार के पास विदेशी कम्पनी के हिसाब भी भेजने पड़ते हैं। यदि विदेशी कम्पनी भारत में अपने हिस्से बेचना चाहे, तो जिस प्रान्त में हिस्से बेचने हैं वहां के रजिस्ट्रार के पास कम्पनी का प्रोस्पेक्टस भी फाइल करना होता है। विदेशी कम्पनी का भारतीय कारोबार भी भारतीय कानून के अनुसार ही समाप्त किया जासकता है। अब यह सुझाव है कि विदेशी कम्पनियों सम्बन्धी सब कागज़ दिल्ली में ही रहें और विदेशी कम्पनियों के रजिस्ट्रार के पास फाइल हों और उनकी नकल उन प्रान्तीय रजिस्ट्रारों के पास, जहां कम्पनी का काम है, भेज दी जाय। इसी प्रकार विदेशी कम्पनी के भारतीय शाखाओं के काम को समाप्त करने सम्बन्धी कार्रवाई भी दिल्ली में ही केन्द्रित करने का सुझाव है। न्यूनतम पूँजी वितरण के बारे में अधिक ब्यौरा प्राप्त करने सम्बन्धी सुझाव भी उपस्थित किया गया है जिससे यह अनुमान लगाया जासके कि आवश्यकता से कम तो न्यूनतम वितरित पूंजी नहीं रखी गई है। अन्तिम बात इस सम्बन्ध में यह है कि कम्पनी क़ानून के संचालन सम्बन्धी सुझावों का भी भारत-सरकार के इन प्रस्तावों में समावेश किया गया है। इस समय यह काम पश्चिमी बंगाल और बम्बई के अलावा अन्यत्र प्रान्तीय सरकारों के द्वारा कराया जाता है। वास्तव में केन्द्रीय सरकार की इस एक्ट को लागू करने के लिए कोई पृथक व्यवस्था है ही नहीं। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। भारत-सरकार के इन प्रस्तावों में रजिस्ट्रार-जनरल ऑव कम्पनीज़ नाम के एक पदाधिकारी के तत्वावधान से ऐसी पृथक मशीनरी स्थापित करने का सुझाव भी किया गया है। इसके अलावा एक सलाहकार बोर्ड, जिस पर उद्योगपति, मज़दूर, स्कन्ध विनिमय बाज़ार (स्टाक एक्सचेन्ज), विनियोग करने वाली जनता आदि के प्रतिनिधि होंगे, की स्थापना का भी सुझाव है।

भारत-सरकार के उक्त प्रस्ताव अभी विचाराधीन हैं। कम्पनी एक्ट में आवश्यक संशोधनों पर विचार करने के लिए भारत-सरकार ने एक समिति भी नियुक्त की है। उस समिति ने अपना कार्य अभी (मार्च १९५१) समाप्त नहीं किया है। वर्तमान कम्पनी-क़ानून में सुधार की आवश्यकता है यह तो स्पष्ट ही है।

परिच्छेद ८

उद्योग धन्धे—श्रम

भारत में श्रमिक वर्ग का उदय—भारत में पहले आधुनिक अर्थ में श्रमिक वर्ग जैसा कोई पृथक वर्ग नहीं था। जाति प्रथा जो भारत की विशेषता रही है, एक सामाजिक आर्थिक रचना है और विभिन्न उद्योग धन्धों में काम करनेवाले लोगों का वर्गीकरण भी हमारे देश में जाति के आधार पर ही होता रहा है। जब इस देश में आधुनिक व्यापार का जन्म हुआ तो उसके परिणामस्वरूप आज के श्रमिक वर्ग का भी उदय हुआ।

हमारे गृह उद्योगों के अध पतन और खेतों के छोटे छोटे टुकड़ों में बटते जाने की प्रवृत्ति का यह असर हुआ कि खेतों में लगे लोगों की या तो आय बहुत कम हो गई या फिर वे बेकार हो गए। ऐसी दशा में इन लोगों ने उजरत पर काम करना आरम्भ कर दिया और एक पृथक भूमि हीन श्रमिक वर्ग पैदा हो गया।

अंग्रेजों के भारत में आने के साथ ही साथ श्रमिक वर्ग की मांग भी उत्पन्न हुई। नील चाय और काफी के बगीचों के लिए बड़ी संख्या में मजदूरों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। ब्रिटिश उपनिवेशों में १८३४ में दास प्रथा के समाप्त होने से भी इन उपनिवेशों में भारतीय मजदूरों की मांग पैदा हुई। रेल, कोयले की खान और सूती कपड़े और पटसन के कारखानों और आधुनिक उद्योगों की भी स्थापना होने लगी। आरम्भ में इन उद्योगों को मजदूर मिलने में कठिनाई हुई। पर जन संख्या में जैसे जैसे वृद्धि हुई यह कठिनाई भी कम होने लगी। शुरू शुरू में कारखानों के लिए मजदूरों की भरती करने के वास्ते कारखानों के प्रतिनिधियों को गांवों में जाना पड़ता था और तब भी मजदूरों की संख्या में बराबर कमी बनी रहती थी। आज तो यह परिस्थिति सर्वथा बदल गई है। पर आसाम के चाय के बागों के लिए जो मजदूर चाहियें, उन्हें तो अब भी जगह जगह जाकर भरती करना पड़ता है। बाकी तो आज मजदूरी करनेवाले स्वयं ही मजदूरी की तलाश में कारखानों तक पहुंच जाते हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि कुल मजदूरों की संख्या भारत और पाकिस्तान में मिलाकर चालीस लाख के लगभग है। इनमें फैक्टरियों, चाय आदि के खेतों, खानों, रेल के कारखानों, डॉक, तथा पानी और बिजली की कम्पनियों आदि सब में काम करनेवालों की संख्या शामिल है। इस मजदूर जन संख्या का लगभग आधा हिस्सा तो बम्बई और कलकत्ते में ही है और बाकी का काफी बड़ा हिस्सा अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर, जमशेदपुर, मदुरा, कोइम्बटूर,

मदरास, नागपुर, और दिल्ली तथा लाहौर (पाकिस्तान) जैसे औद्योगिक केन्द्रों में निवास करता है। खान के मजदूरों के केन्द्र बंगाल और बिहार की खानें और आसाम तथा भारत के दक्षिण के प्लान्टेशन इन खेतों में काम करनेवालों के केन्द्र हैं।

कृषि और ग्राम्य जीवन से सम्पर्क—भारत में मजदूर-वर्ग प्रधानतः गांवों से आता है। पश्चिम के मजदूर-वर्ग से भारतीय मज़दूर-वर्ग इस अर्थ में भिन्न है। पश्चिम का मजदूर नगरों का रहने वाला होता है। ऐसा कहा जाता है कि भारत का मज़दूर स्वभाव से तो किसान है पर मजबूरी में कारखानों में काम करता है। प्रायः अधिकांश भारतीय मज़दूरों का निवास-स्थान शहरों से दूर गांवों में होता है जहां से मजदूरी करने के लिए वे शहरों में आते हैं। उनका यह स्थान परिवर्तन स्थायी नहीं होता। इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय मजदूर इस अर्थ में पूर्णतया अस्थायी और स्थान बदलने वाला है (माइग्रेटरी) कि वह किसी एक स्थान अथवा कारखाने में जम कर काम ही नहीं करता। (लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी प्रधान रिपोर्ट)। इसका तो केवल इतना ही अर्थ है कि मजदूर अपना घर अपने गांव को ही मानता है। उसकी आकांक्षा यही रहती है कि वह अपने गांव को वापिस लौट जाए। जब तक वह शहर में मजदूरी करता है तब तक भी उसका गांव में आना-जाना बराबर बना रहता है। अधिकतर मज़दूरों का तो अपने गांव से सचमुच सम्बन्ध होता है। बाकी कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका यद्यपि वास्तव में सम्बन्ध नहीं होता पर फिर भी भावना से वे अपना सम्बन्ध मानते रहते हैं।

इसका यह अर्थ भी कदापि नहीं है कि भारतीय मज़दूर मूलतः एक किसान है जैसा कि कई लेखक और मिल-मालिक मानते मालूम पड़ते हैं। बात केवल यह है कि उसका पालन-पोषण गांव में हुआ, उसकी परम्पराएं गांव की हैं, और गांव से उसका सम्पर्क बना रहता है। ऐसे मज़दूर बहुत कम हैं जिनका स्वयं खेती के काम से कोई सम्बन्ध होता हो। यह ठीक है कि ऐसे मजदूर बहुत होते हैं जो अपना घर गांव से उठाते नहीं, जिनका परिवार गांव में रहता है, जो अपनी आय का एक अंश अपने गांव को भेजते हैं और समय-समय पर वहां जाते रहते हैं। पर जो कारखाने साल भर न चल कर वर्ष के कुछ महीनों ही चलते हैं उनके मज़दूर खेती के काम से सम्बन्ध रखते हैं। कोयले की खानों में काम करनेवालों में खेती के काम से सम्बन्ध रखने वालों की संख्या यथेष्ट होती है। पर बराबर चलनेवाले कारखानों में काम करनेवाले मज़दूरों का प्रायः खेती से सम्बन्ध नहीं होता। वे गाँव से सम्बन्ध अवश्य रखते हैं और उस दिन की प्रतीक्षा

में रहते हैं जब न अपने गांव को लौट जायेंगे। ऐसे मजदूरों की संख्या बहुत कम, जो स्थायी रूप से औद्योगिक शहरों के निवासी बन गए हैं। इसका कारण यह है कि वहा उनके लिए कोई आकर्षण नहीं है। अहमदाबाद, नागपुर, मद्रास, और जमशेदपुर कुछ ऐसे उद्योग केन्द्र हैं जहा स्थायी मजदूरों की अच्छी संख्या है।

स्थान परिवर्तन के कारण—गांवों से शहरों में जाने की प्रवृत्ति के कई कारण हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जन संख्या में बराबर वृद्धि होने से और ग्रामोद्योगों के नष्ट होने से गांवों में खेती करने वालों की संख्या बढ़ती जाती है। इन खेती करने वालों में भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की संख्या भी काफी है। खेती से यथेष्ट आय न होने से ये लोग शहरों में कारखानों में मजदूरी करने जाना पसंद कर लेते हैं। आय जानने के साधन अन्य उपलब्ध हैं हो। संयुक्त परिवार-प्रणाली भी इसमें सहायक होती है, क्योंकि बिना सारे परिवार का घर छुड़ाए और थोड़ी बहुत यदि खेती है तो उसे बिना छोड़े ही घर के कुछ लोग शहरों में आकर कारखानों में काम कर सकते हैं। कई बार गांव के महाजनों से छुटकारा पाने के लिए भी शहर में लोग चले जाते हैं। हरिजन आदि जाति के लोग जो गांव में कई प्रकार की सामाजिक असमानताओं के शिकार होते हैं, अपनी स्थिति सुधारने की आशा में गांव से शहर में जाकर काम करना पसंद करते हैं। गांवों से शहरों की ओर जो यह प्रवाह है उसकी एक विशेषता यह है कि शहरों में कोई आकर्षण लोगों को नहीं है। वे तो गांवों से परेशान होने के कारण शहर में जाना पसंद करते हैं, और इसलिए जब काम करने के ये अयोग्य हो जाते हैं तो वापिस गांव को ही लौट आते हैं।

गांव से सम्पर्क के लाभ हानि—मजदूर का अपने गांव से जो सम्पर्क बना रहता है उसका उसके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर अच्छा असर पड़ता है। आर्थिक दृष्टि से भी यह लाभप्रद है क्योंकि मजदूर बेकारी, बीमारी अथवा हड़ताल जैसी किसी भी स्थिति में गांव को लौट सकता है और वहा कुछ न कुछ काम भी उसे मिल सकता है। गांव की दुनिया के व्यापक जीवन से सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है और वहा के लोगों में व्याप्त अंधविश्वास और रूढ़िप्रियता को मिटाने में इससे सहायता मिलती है। उपर्युक्त लाभों के मुकाबले में उद्योग धंधों की दृष्टि से कई हानियां भी हैं। मजदूर को अपने काम में स्थाई दिलचस्पी पैदा नहीं हो पाती। इसका उसकी कार्य कुशलता पर बुरा असर पड़ता है और मजदूर संगठन की दृष्टि से भी यह वांछनीय नहीं है। इसके अलावा मजदूर की स्वयं की दृष्टि से भी कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। शहरी जीवन का

उसके स्वास्थ्य और चरित्र पर बुरा असर पड़ता है। जुआ और शराब की बुरी आदतें उसमें आ जाती हैं। कारखाने में जो लगातार कड़े अनुशासन में काम करना पड़ता है वह भी उसके अनुकूल नहीं पड़ता क्योंकि गांवों में वह इस प्रकार के काम करने का अभ्यस्त नहीं होता। ये सब होते हुए भी 'व्हिटले कमीशन' का यह स्पष्ट मत था कि गांवों के इस सम्पर्क से कुल मिलाकर लाभ है और वह भविष्य में बना रहे ऐसा प्रयत्न होना चाहिये। पर इस सम्बन्ध में 'लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी' की राय भिन्न है। उनका मत है कि जहां तक आराम के लिए गांवों से सम्पर्क रखने का सवाल है, मजदूर को भविष्य में भी इस सम्पर्क को बनाए रखने के लिए पूरा प्रोत्साहन और सुविधाएं मिलनी चाहियें। पर जहां तक उसकी आर्थिक सुरक्षा का प्रश्न है उसे गांव पर निर्भर बनाए रखना वांछनीय नहीं है; और न गांव की आज ऐसी स्थिति है कि वह मजदूर की इस अर्थ में कोई विशेष सहायता कर सकता है (प्रधान रिपोर्ट)। इसका अर्थ यह है कि औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों के काम और रहने की परिस्थितियों में सुधार होना चाहिये ताकि मजदूर इन औद्योगिक केन्द्रों के स्थायी निवासी बन जाएं।

हां, यदि बड़े पैमाने के उद्योग गांवों में विकेन्द्रित कर दिए जाते हैं तो कई दूसरे आर्थिक लाभों के साथ-साथ एक यह लाभ भी होगा कि मजदूर के अस्थायी होने की हानियां जाती रहेंगी और गांव के सम्पर्क से होने वाले लाभ और बढ़ जाएंगे। मकान, औद्योगिक बेकारी और ऐसी ही दूसरी समस्याओं का हल भी उस हालत में आसानी से निकल आवेगा।

मजदूरों की भर्ती—मजदूरों की भर्ती के सम्बन्ध में, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अब स्थिति बदल गई है और मजदूरी चाहने वाले लोग स्वयं ही कारखानों तक काम की तलाश में पहुंच जाते हैं। पर मजदूरों का प्रधान स्रोत आज भी गांव ही हैं; यद्यपि पिछले वर्षों में मजदूरों का एक ऐसा वर्ग अवश्य पैदा हो रहा है जो उद्योग पर ही अपने निर्वाह के लिए निर्भर रहने को तैयार है और शहर में स्थायी रूप से बस जाना चाहता है।

मजदूरों की भर्ती के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि मिल के मालिक स्वयं मजदूरों की सीधी भर्ती नहीं करते। इस काम के लिए उनके और मजदूरों के बीच में एक तीसरा व्यक्ति रहता है जो 'जोबर', 'मुक्कदम', 'सरदार', 'टिंडल', 'चौधरी', 'कांगानी' या मिस्त्री के नाम से जाना जाता है। प्रधानतः यह 'चार्जमैन' होता है जो अपने विभाग के उत्पादन के लिए जिम्मेदार है और अपने नीचे काम करने वाले मजदूरों की देख-रेख करता है। भर्ती, बरखास्तगी, छुट्टी, तरक्की या किसी अच्छी जगह पर तबादला, ये सब वास्तव में उसके हाथ

में रहते हैं। इसके अतिरिक्त वह मजदूरों को रुपया भी उधार देता है, उनके रहने के मकान उसके होते हैं, और वह उनके पारिवारिक झगड़ों आदि को निबटाने में भी भाग लेता है। पर उसका सबसे प्रधान काम तो मजदूरों की भर्ती करना होता है। अपने इस काम के लिए वह मजदूरों से रिश्वत लेता है। यहाँ तक कि अस्थायी नौकरी तक के लिए उसे रिश्वत देनी होती है। जौबर के अलावा और बाबू लोगों को (क्लर्क) भी मजदूर को रिश्वत देनी पड़ती है। रिश्वतखोरी भारतीय कारखानों और रेल के कारखानों में काफी प्रचलित है। जौबर एक तरफ तो मजदूरों से रिश्वत लेता है और दूसरी ओर मिल मालिक भी उसे भर्ती के काम के लिए मुआवजा देते हैं। कहीं-कहीं तो 'जाबर' मजदूरों की मासिक आय में से एक अंश खुद ले लेता है।

मजदूरों सम्बन्धी ह्विटले कमीशन ने और बाम्बे टेक्सटाइल लेबर एनक्वाइरी कमेटी ने भी इस प्रश्न पर काफी विचार किया और उन्होंने अपनी राय मजदूरों की भर्ती सम्बन्धी इस पद्धति के विरुद्ध दी। उनकी सिफारिश यह थी कि मिल मालिकों को स्वयं इस काम को सीधे तौर पर अपने हाथ में लेना चाहिये और इसके लिए 'लेबर आफिसर्स' नियुक्त किए जाने चाहियें। ये लेबर ऑफिसर जनरल मैनेजर की सीधी मातहती में काम करेंगे। किसी को भी नियुक्ति अथवा बरखास्तगी सीधे विभागीय अध्यक्ष द्वारा न होकर लेबर आफिसर तक ये मामले जाने चाहियें। इसी सम्बन्ध में 'कानपुर लेबर इनक्वायरी कमेटी' ने 'जौबर्स' द्वारा मजदूरों की भरती की प्रचलित प्रथा के विरुद्ध अपनी राय देते हुए यह सिफारिश की थी कि सरकार के नियंत्रण में एक 'लेबर एक्सचेंज' स्थापित करना चाहिये जो मिलों के माँग करने पर उनके पास नौकरी के लिए जिन लोगों के आवेदन पत्र आए हुए हैं उनमें से भरती करे।

यद्यपि भरती की यही पुरानी पद्धति आज भी अधिकतर प्रचलित है, पर पिछले वर्षों में लेबर आफिसरों द्वारा सीधी भरती करने की व्यवस्था भी कई उद्योगों ने आरम्भ की है। इसके अलावा बम्बई मिल-मालिक संघ ने 'बदली नियंत्रण प्रणाली' भी जारी की है। इस प्रणाली के अनुसार बदली पर काम करने वाले मजदूरों को (सब्स्टीट्यूट्स) अर्थात् उन मजदूरों को जो अस्थायी तौर पर खाली स्थानों पर काम करते हैं, कार्ड दिये जाते हैं, और जिनके पास ये कार्ड होते हैं वे व्यक्ति हर रोज काम की तलाश में मिलों के फाटक पर उपस्थित होते हैं। ज्येष्ठता के आधार पर उनमें से खाली स्थानों पर अस्थायी नियुक्तियाँ की जाती हैं और उनके रहते हुए नए मजदूरों की भरती नहीं होती। पर इस प्रणाली से भी यद्यपि जौबर के अधिकारों में कुछ कमी अवश्य हुई है, पर उससे

सर्वथा मुक्ति नहीं मिल सकती है। बम्बई के मिल-मालिकों के संघ ने इस दिशा में अच्छा कदम उठाया है। उन्होंने लेबर आफिसरों की ट्रेनिंग की व्यवस्था की है और उन लेबर आफिसरों के काम की वे देखरेख भी करते हैं जिनकी नियुक्ति उनके द्वारा की जाती है। कलकत्ता विश्वविद्यालय और 'इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन' के सम्मिलित प्रयत्न से भी 'लेबर वेलफेयर आफिसर्स' की शिक्षा की व्यवस्था चालू की गई है। कानपुर की 'नॉरदर्न इण्डिया एम्पलोयर्स एसोसियेशन' ने भी एक 'एम्पलोयमेंट एक्सचेंज' की स्थापना की है। सारांश यह है कि मजदूरों की भरती सम्बन्धी इस नई पद्धति को अपनाने का देश में प्रयत्न अवश्य आरम्भ हुआ है और यह आशा रखना अनुचित न होगा कि पुरानी पद्धति का स्थान यह नई पद्धति अन्ततोगत्वा ले लेगी।

अब तक हमने मजदूरों की भरती सम्बन्धी प्रश्न का आम तौर पर विचार किया है। अब हम कुछ विशेष उद्योगों—जैसे प्लान्टेशन और खानों तथा सार्वजनिक निर्माण को लेकर इस बारे में जानकारी करेंगे।

चाय के खेत (प्लान्टेशन्स)—चाय की खेती भारत में सबसे अधिक आसाम में होती है। वहां खेतों में काम करनेवाले मजदूर दूर-दूर के प्रान्तों से जाते हैं। आज कल इन मज़दूरों की भरती १६३२ में पास किये 'टी डिस्ट्रिक्ट्स एमिग्रेन्ट लेबर एक्ट' से नियंत्रित होती है। इस क़ानून के पास होने से पहले इन खेतों में काम करनेवाले मज़दूर इकरार (कान्ट्रेक्ट) के आधार पर नौकर रखे जाते थे। अब इस व्यवस्था का अन्त हो गया है।

१६३२ के कानून के बाद किसी भी व्यक्ति को आसाम में जाकर मज़दूरी करने का अधिकार है। पर अपने आप से जानेवाले लोगों की संख्या नगण्य ही मानना चाहिये। इसलिए आज भी इस बात की आवश्यकता है कि आसाम के चाय के खेतों में मज़दूरी करने के लिए लोगों को भेजा जाए। इस प्रकार भेजे जानेवाले मज़दूरों को सहायता प्राप्त 'एमिग्रेन्ट' कहते हैं। इन लोगों की भरती करने का जो लोग काम करते हैं उन्हें 'सरदार' कहते हैं। बहुत थोड़े लोग ऐसे होते हैं जो बिना 'सरदार' की मध्यस्थता के अपने आप को भरती कराने को तैयार हो जाएं। जो लोग भरती होना चाहते हैं, चाहे स्वयं और चाहे 'सरदार' की मध्यस्थता से, वे भरती के डिपो पर पेश होते हैं। वहां से लाइसेंस प्राप्त फ़ारवर्डिङ्ग एजेन्ट उन्हें निश्चित मार्ग से, जहां उनके खाने-पीने, ठहरने और दवा-दारू का प्रबन्ध होता है, आसाम भेजते हैं। १६ वर्ष से कम के बालक अपने माता-पिता के साथ और विवाहित स्त्री अपने पति की स्वीकृति से ही आसाम भेजी जा सकती है। तीन वर्ष पूरे होते ही और विशेष परिस्थिति में उससे पहले

भी इस प्रकार सहायता देकर भेजे गए मज़दूरों को वापस उनके घर भेजने का ज़िम्मा उनके खेत के मालिकों का है। प्रायः जिन प्रदेशों से मज़दूर जाते हैं, उन्हें राज्य की सरकार को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में, १६३२ के कानून के अनुसार, नियन्त्रित भरती के प्रदेश (कन्ट्रोल्ड एमिग्रेशन एरिया) घोषित करने का अधिकार है—जैसे बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, मद्रास और उत्तर प्रदेश। इन्हीं में से किसी प्रदेश अथवा उसके किसी भाग को मर्यादित भरती के प्रदेश (रेसट्रिक्टेड रिक्रूटिंग एरिया) घोषित करने का अधिकार भी राज्य की सरकार को है। इन मर्यादित प्रदेशों में लाइसेंस प्राप्त फारवर्डिंग एजेन्ट या भरती करनेवाला या प्रमाण पत्र प्राप्त 'सरदार' ही आसाम के लिए मज़दूरों को भेजने में सहायता कर सकता है। १६३२ के कानून के अनुसार 'कन्ट्रोलर ऑव एमिग्रेन्ट लेबर' नाम का एक अधिकारी भी नियुक्त है जिसका काम यह देखना है कि उक्त एक्ट का ठीक ठीक पालन किया जा रहा है।

'सरदारों' की मध्यस्थता में मज़दूरों की भरती के काम के विषय में बहुत शिकायतें रही हैं। धोखे से भरती करना, शराब अथवा अन्य किसी नशीली चीज़ का मज़दूरों को सेवन कराना आदि कई शिकायतें इस बारे में पाई गई हैं। १६३२ के कानून के अमल में आने के बाद कुछ सुधार अवश्य हुआ है। पर वास्तविक सुधार तो तभी होगा जब 'सरदारी पद्धति' ही समाप्त हो जाए और स्वतन्त्र रूप से काम करने के लिए आसाम जानेवालों की संख्या इतनी हो जाए कि उससे मज़दूरों की माँग पूरी हो सके।

दक्षिण भारत में चाय के बेंगों के लिए मज़दूर आसपास के प्रदेश से ही आते हैं। भरती करनेवाले मध्यस्थों को कांगनी (Kanganics) कहते हैं। मज़दूरों को लाने के लिए इनको रुपया दिया जाता है। कई बार ये लोग पूरा रुपया मज़दूरों को नहीं देते। और भी शिकायतें इनके बारे में हैं। जैसे मज़दूरों को कर्ज़ देना, बाद में हिसाब साफ़ करते समय उनको धोखा देना, मज़दूरों की उनके द्वारा दी जानेवाली मज़दूरी में से अपने लिए कुछ बचा लेना और मज़दूरों से उनकी मज़दूरी पर १० से १५ प्रतिशत तक कमीशन लेना आदि। इस पद्धति के दोषों के कारण यह प्रश्न भी विचाराधीन है कि कानून से इसका अन्त ही क्यों न कर दिया जाए।

जहाज़ों पर काम करनेवाले—अभी तक जहाज़ी यातायात पर विदेशियों का ही प्रभुत्व रहा है। ये मज़दूरों की भरती गवर्नमेंट लाइसेंस प्राप्त 'शिपिंग ब्रोकरों' द्वारा कराते हैं। इस पद्धति में कई दोष हैं। रिश्वत का खूब प्रचार है। इन मज़दूरों की सबसे बड़ी समस्या बेकारी की है। यह अनुमान लगाया गया है

कि कुल समुद्री मज़दूरों की संख्या—जो काम चाहते हैं—२ लाख है, और लगभग ५० हजार को काम मिलता है।

भारत सरकार ने १६२१ में समुद्री मज़दूरों की भरती सम्बन्धी जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी। इस कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि 'एम्पलोयमेंट ब्यूरो' की स्थापना की जाए जो मज़दूरों की रिश्वत और नौकरी में अस्थायित्व से रक्षा कर सकें। जहाज़ों के मालिकों के विरोध के कारण १६२६ में जाकर सरकार इस रिपोर्ट के सम्बन्ध में अपने आदेश जारी कर सकी। लाइसेंस प्राप्त ब्रोकरों और दूसरे मध्यस्थों की सर्वथा मनाही तो नहीं की गई, पर उनके अधिकारों में अवश्य कमी की गई। पर इससे समुद्री मज़दूरों को कोई राहत नहीं मिल सकी।

१६४७ में भारत सरकार ने एक त्रिदलीय समुद्री मज़दूर सलाहकार समिति (मेरीटाइम लेबर एडवाइज़री कमेटी) की स्थापना की है जो सरकार को इन मज़दूरों की समस्याओं पर सलाह देने का काम करेगी। बेकारी के प्रश्न को सुलझाने के लिए इस कमेटी की सलाह से समुद्री मज़दूरों के दुवारा रजिस्ट्रेशन पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। भरती के सम्बन्ध में सुधार करने की दृष्टि से कलकत्ते और बम्बई में 'मेरिटाइम बोर्डों' की स्थापना की गई है। इन बोर्डों में मज़दूरों के, जहाज़ के मालिकों के और भारत सरकार के प्रतिनिधि शामिल हैं।

खान मज़दूर—यहाँ हम बंगाल और बिहार की कोयले की खानों में काम करने वाले मज़दूरों की भरती के बारे में ही विचार करेंगे। कुछ खानों को छोड़कर, जो अपने मज़दूरों की भर्ती की व्यवस्था स्वयं ही अपने वेतन भोगी जमादार, चपरासी और मज़दूर-सरदारों द्वारा करती हैं, अधिकांश खानों में आज भी मज़दूरों की भर्ती मध्यस्थ के द्वारा होती है। ये मध्यस्थ (ठेकेदार) दो प्रकार के हैं—एक वे जो केवल मज़दूरों को लाने का प्रबन्ध करते हैं और बाद में खान के मालिक उनको काम पर लगाते हैं और उनको मज़दूरी चुकाते हैं; दूसरे वे जो केवल भरती ही नहीं करते पर उनको खान में से कोयला निकालने और उसे डिब्बों में भरने के काम पर रखते हैं और उनको स्वयं ही मज़दूरी चुकाते हैं। इन दूसरी प्रकार के ठेकेदारों को ही 'रेज़िंग कोन्ट्रेक्टर्स' कहते हैं। एक तीसरी प्रकार के ठेकेदार और होते हैं जिन्हें प्रबन्ध-ठेकेदार (मैनेजिंग कन्ट्राक्टर) कहते हैं जो मज़दूरों की भरती और कोयला निकालने के अलावा खानों के विकास और कुछ न कुछ प्रबन्ध के लिए भी ज़िम्मेदार होते हैं। पर इन सब में रेज़िंग कोन्ट्रेक्टर का तरीका ही सबसे अधिक प्रचलित है (लेबर इन्वेस्टीगेशन कमीशन—प्रधान रिपोर्ट)। इन ठेकेदारों और मज़दूरों के बीच में

'सरदार' नाम का एक मध्यस्थ और होता है जो गाँव-गाँव में जाकर मजदूरों को लाता है, उनको हाजिरी रुपया देता है, उन पर निगरानी रखता है और उनको काम करने की सुविधाएं मिलती रहें इस का ध्यान रखता है। मजदूरों को जो औजार आदि काम करने के लिए दिये जाते हैं वे भी इसी की जिम्मेदारी पर दिए जाते हैं। इसी के मार्फत उनको वेतन चुकाया जाता है। उसे अपने इस काम के लिए साप्ताहिक अथवा मासिक वेतन मिलता है या फिर एक आना प्रति टन या दो आने प्रति टन प्रति मजदूर कोयला निकालने के हिसाब से कमीशन मिलता है। 'सरदार' के जरिये ही ठेकेदार मजदूरों को हाजिरी रुपया देते हैं।

ठेकेदारी की पद्धति से मजदूरों की भरती करने के कई दोष हैं। रेलवे की कोयले की खानों में इस पद्धति को समाप्त करने का प्रश्न हाथ में लिया है, जैसा कि 'कोयले की खान से निकालने सम्बन्धी औद्योगिक समिति' (इण्डस्ट्रियल कमेटी ऑन कोल माइनिंग) ने सिफारिश की थी (जनवरी १६४८)। कोयले की दूसरी खानों के सम्बन्ध में इसी कमेटी ने सितम्बर १६४८ की बैठक में विचार किया था और निश्चय किया था कि कुछ समय तक वर्तमान पद्धति ही चलने दी जाए और इस समस्या की ओर ध्यान दिया जाए। खानों में काम करने और रहन सहन की स्थिति में जितना सुधार होगा उतना ही काम करनेवाले मजदूरों में स्थायित्व आएगा और ठेकेदारी प्रथा का अन्त हो सकेगा। जहां और जब तक ठेकेदारी प्रथा रहे तब तक उसका उचित नियंत्रण होना अत्यन्त आवश्यक है ताकि उससे होने वाली हानियां कम से कम की जा सकें।

सार्वजनिक निर्माण—सरकारी सार्वजनिक निर्माण विभाग, और म्युनिसिपल कमेटियां तथा जिला बोर्ड भी निर्माण कार्य के लिए ठेकेदारी-पद्धति से काफी संख्या में मजदूरों की भरती करते हैं। ठेकेदारी प्रथा के सब दोष यहां भी पाए जाते हैं और मजदूरों का शोषण होता है। व्हिटले कमीशन ने भी इस बात का समर्थन किया था और इस पद्धति में सुधार और आवश्यक नियन्त्रण पर पूरा जोर दिया था।

एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज—भारतीय उद्योग धन्धों में मजदूरों की भरती की जिस अप्रत्यक्ष प्रणाली की आज प्रधानता है उसके तथा उससे उत्पन्न दोषों के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं। हमने यह भी देखा कि प्रत्यक्ष भरती के प्रयत्न भी—जैसे लेबर अफसरों द्वारा या फिर बदली नियन्त्रण प्रणाली द्वारा हुए हैं, पर इन प्रयत्नों का अभी कोई बड़ा महत्त्व नहीं है। लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी (१६४६) ने तो यहां तक लिखा है कि लेबर ऑफिसरों द्वारा होने वाली इस प्रत्यक्ष भरती के पीछे भी अप्रत्यक्ष भरती काम करती है, क्योंकि लेबर ऑफिसर

बिना मध्यस्थों की मदद के अपरिचित होने की वजह से गांवों में जाकर भरती के काम में बहुत सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। यही कारण है, कि इस कमेटी ने यह राय व्यक्त की है कि अप्रत्यक्ष भरती की तमाम बुराइयों के बावजूद भी यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है कि भारतीय मज़दूर ऐसी स्थिति में पहुँच गया है जहाँ मध्यस्थ द्वारा भरती की प्रणाली का आसानी से त्याग किया जा सकता है। इसका यह तात्पर्य हरगिज नहीं है कि अप्रत्यक्ष प्रणाली को व्यवस्थित और नियंत्रित ही न किया जाए।

इतना होते हुए भी इसमें कोई संदेह नहीं कि हमें भरती की अप्रत्यक्ष प्रणाली के स्थान पर प्रत्यक्ष प्रणाली स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। 'एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़' की स्थापना इसी प्रकार का एक प्रयत्न है।

ह्विटले कमीशन एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़ के पक्ष में नहीं था। पर बावजूद कमीशन की इस राय के इनके पक्ष में राय बढ़ी है और मज़दूर तथा मालिक दोनों ही इनकी स्थापना के एक़राती हैं। यह ठीक है कि एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़ किसी देश के बेकारी के आधारभूत प्रश्न का हल नहीं निकाल सकते, यद्यपि मांग और पूर्ति में सामञ्जस्य स्थापित कर सकने के कारण इस असामंजस्य से उत्पन्न बेकारी को वे अवश्य कम कर सकते हैं। पर मज़दूरों की भरती से सम्बन्ध रखनेवाली भारत में प्रचलित अप्रत्यक्ष प्रणाली के दोषों को ये अवश्य दूर कर सकते हैं और मिल-मालिकों को भरती के काम में बहुत सहायता दे सकते हैं। इस सम्बन्ध में यूरुप, अमेरिका और जापान का अनुभव भी एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़ के पक्ष में ही है। भारत में सबसे पहला एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़ १६३८ में कानपुर में उत्तरी भारत एम्पलोयर्स एसोशियन के द्वारा क़ायम किया गया था।

लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी ने एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़ के मुख्य काम ये बताए हैं—(१) काम चाहने वालों और काम के बारे में जानकारी देना। (२) खाली स्थानों के लिए मज़दूरों की भरती करना। (३) मज़दूरों की टेकनिकल ट्रेनिंग की क्या आवश्यकताएँ हैं और क्या प्रबन्ध है उसकी जानकारी करना। (४) विभिन्न धन्धों के बारे में जानकारी और मार्गदर्शन कराना। (५) काम के बारे में ऐसी सामान्य जानकारी जो मिल-मालिकों, सरकार और जनता के लिए उपयोगी सिद्ध हो। (६) विभिन्न वर्गों में, जिनमें मिल-मालिक और मज़दूर भी शामिल हैं, सम्बन्ध स्थापित करना और दूसरी सरकारी संस्थाओं से सहयोग करना।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने से कुछ पूर्व (जुलाई, १६४५) भारत-

सरकार ने फौज से लौटे हुए लोगों और अन्य युद्ध के समय में काम करनेवाले बेकार मज़दूरों को काम पर लगाने के लिए एम्प्लायमेंट एक्सचेन्ज का एक स्थानीय संगठन स्थापित किया। पर बाद में इनके कार्य क्षेत्र को अधिक व्यापक बना दिया गया और वे विस्थापित लोगों तथा औद्योगिक मजदूरों को काम पर लगाने का कार्य भी करते हैं। इस संगठन के केन्द्रीय अधिकारी को 'डायरेक्टर जनरल रिसेटलमेंट और एम्प्लायमेंट' कहते हैं। इसके तीन विभाग हैं और प्रत्येक विभाग एक डायरेक्टर के अधीन है। (१) एम्प्लायमेंट एक्सचेन्ज विभाग (२) ट्रेनिंग विभाग (३) प्रशासन विभाग। सारा देश ८ प्रदेशों में विभाजित है जो 'रीजनल डाइरेक्टर' के अधीन काम करते हैं। देश भर में कुल ५४ एम्प्लायमेंट एक्सचेन्ज, २३ डिस्ट्रिक्ट एम्प्लायमेंट एक्सचेन्ज और १२२ एम्प्लायमेंट ब्यूरोज़ हैं। कुछ एक्सचेन्जों के साथ चलते फिरते कार्यालय भी हैं।

मजदूरों का शिक्षण—हमारे कारखानों आदि में काम करने वाले मजदूर प्रायः अशिक्षित और टेकनिकल शिक्षा से शून्य होते हैं। यह एक बड़ी कमी है। अभी देश में इस दिशा में कोई संगठित प्रयत्न हुआ ही नहीं है। अधिकतर होता यह है कि मजदूर नीचे से नीचे स्तर पर काम आरम्भ करते हैं और अनुभव के आधार पर उन ऊँचे स्थानों तक पहुँचते हैं जहाँ कि काम करने में कार्य कुशलता की आवश्यकता होती है। कुछ प्रमुख उद्योग धन्धों में मजदूरों को शिक्षा देने की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य है, खास तौर से उन लोगों की ट्रेनिंग की व्यवस्था है जिनको निगरानी (सुपरवाइज़री) का काम करना पड़ता है। इंजीनियरिंग तथा रेल के कारखानों में एप्रेन्टिसशिप और ट्रेनिंग की समुचित योजनाएँ अवश्य चालू हैं। इस तरह के कुछ प्रमुख उदाहरण के तौर पर जमशेदपुर के टाटा आयरन स्टील वर्क्स, जमालपुर के रेलवे टेकनिकल स्कूल, और देहरादून के रेलवे स्टाफ कालेज के नाम गिनाए जा सकते हैं।

युद्ध के समय सन् १९४० में भारत सरकार ने टेकनिकल ट्रेनिंग की एक योजना जारी की थी, जिसके अन्तर्गत सारे देश में सरकारी और गैर सरकारी कारखानों में टेकनीशियनों को ट्रेनिंग दी गई थी और बेविन स्कीम के अन्तर्गत कुछ भारतीय मज़दूरों की ट्रेनिंग ब्रिटेन में भी हुई थी।

ट्रेनिंग की जो योजनाएँ इस समय काफी बड़े और संगठित पैमाने पर चल रही हैं वे डाइरेक्टर जनरल रिसेटलमेंट और एम्प्लायमेंट (श्रम मंत्रालय, भारत सरकार) के तत्वावधान में जारी की गई हैं। इस प्रकार की तीन योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है—(१) औद्योगिक, व्यावसायिक और एप्रेन्टिसशिप शिक्षा योजना जो फौज से लौटे हुए व्यक्तियों के लिए है, (२) ऐसी

ही दूसरी योजना जो विस्थापितों के लिए है, और (३) इन्सट्रक्टर्स के शिक्षण की योजना। पहली योजना सन् १९४६ में और दूसरी दो सन् १९४८ में आरम्भ हुई थी। पहली दो योजनाओं में अब साधारण लोगों का प्रवेश भी होने लगा है और उनके द्वारा इंजीनीयरिंग और इमारत आदि के धन्धों तथा कुटीर उद्योगों की शिक्षा दी जाती है। जनवरी १९५० के अन्त तक २५००० से ऊपर व्यक्तियों ने इन केन्द्रों से शिक्षण प्राप्त किया। ३० सितम्बर १९४९ को ७४ टेकनिकल, ७६ वोकेशनल और ३१८ एपरेन्टिसशिप केन्द्र इन योजनाओं के अन्तर्गत काम कर रहे थे। श्रम मंत्रालय के अलावा और मंत्रालय भी, जैसे रेल्वे बोर्ड, सार्वजनिक निर्माण और शिक्षा मंत्रालय भी, राज्यों के सहयोग से व्यावहारिक शिक्षा का प्रबन्ध कर रहे हैं। देश में टेकनिकल शिक्षण की जो योजनाएँ चल रही हैं उनमें सबसे बड़ी कमी यह है कि फोरमेन वर्ग के लोगों के शिक्षण का बड़ा अभाव है। इस अभाव की पूर्ति आवश्यक है।

विभिन्न उद्योगों में एपेरेन्टिसशिप की जो योजनाएँ चल रही हैं उनमें भी कई प्रकार के दोष हैं। जिन शर्तों पर ट्रेनिंग दी जाती है वे सुनिश्चित नहीं होतीं और ट्रेनिंग के पश्चात् काम मिलने की कोई गारन्टी नहीं होती। कई बार मिल-मालिक एपेरेन्टिस को या तो मजदूरी देता ही नहीं, या बहुत कम मज़दूरी देता है। यह आवश्यक है कि भविष्य में इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जाए।

मज़दूरों का स्थायित्व:—हमारे देश में मज़दूरों का एक दोष यह है कि उनमें स्थायित्व की बड़ी कमी है, अर्थात् यदि किसी कारखाने के मज़दूरों की कुल संख्या में से उन मज़दूरों की संख्या देखी जाए जो अमुक समय में चले गए और उनके स्थान पर दूसरी भरती होगई तो यह संख्या काफी बड़ी होगी। इसी को अंग्रेज़ी में 'लेबर टर्न ओवर' कहते हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध में जो आंकड़े हमारे देश में उपलब्ध हैं वे बहुत विश्वसनीय नहीं हैं, फिर भी उनसे इतना संकेत तो मिलता ही है कि कुल मिलाकर मज़दूरों में स्थायित्व की काफी कमी है। यह कमी अलग-अलग उद्योगों और अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग है।

भारतीय मज़दूरों में स्थायित्व की इस कमी के मुख्य कारण दो हैं—इस्तीफ़ा और बरखास्तगी। इसका असर मजदूरों की उत्पादन शक्ति पर अच्छा नहीं पड़ता और इसलिए इसमें कमी लाने का प्रयत्न करना चाहिये। भरती की जो अप्रत्यक्ष प्रणाली इस देश में प्रचलित है उससे भी इसमें प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि भरती करने वाले जोबर को तो इसमें लाभ ही है कि पुराने मज़दूरों को निकाल कर नई भरती की जाए ताकि भरती के समय रिश्वत आदि से होने वाली उसकी आय अधिकाधिक हो सके। मज़दूरों की आर्थिक स्थिति और सुरक्षा

म निता सुधार द्वारा और जिस वातावरण में उन्हें काम करना पड़ता है यह जितना आकर्षक होगा उतनी हद तक उनमें स्थायित्व की मात्रा भी बढ़ेगी। भरती की प्रणाली में सुधार होने का भी इस सम्बन्ध में अच्छा असर होगा।

मजदूरों में अनुपस्थिति—भारतीय मजदूरों का एक दोष यह भी है कि उनकी अनुपस्थिति का अनुपात काफी अधिक है। अनुपस्थिति सम्बन्धी आंकड़ों का पूरा ब्यौरा अभी हमारे देश में नहीं है और जहां ये आंकड़े इकट्ठे किए भी गए हैं वहाँ उनके प्रकार का भी ज्ञान कम है। बम्बई सरकार सूती कपड़ा की मिलों और अहमदाबाद के कारखानों के बारे में अनुपस्थिति के आंकड़े लेबर गजट में हर महीने प्रकाशित करती है। इसी प्रकार मैसूर सरकार भी अपने राज्य के सब उद्योग धंधों के बारे में अनुपस्थिति के आंकड़े अपने लेबर गजट में प्रकाशित करता है। पिछले महायुद्ध में भारत सरकार ने मिल मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधियों की सलाह से कई कारखानों के अनुपस्थिति के आंकड़े इकट्ठे करवाने का निश्चय किया था। इसके परिणामस्वरूप लेबर ब्यूरो (भारत सरकार) के डायरेक्टर के कार्यालय में कुछ आंकड़े आते हैं और इनके आधार पर इण्डियन लेबर गजट में अनुपस्थिति सम्बन्धी आंकड़े प्रकाशित भी होते हैं। इसी प्रकार उत्तरी भारत के मिल मालिकों का संघ भी कानपुर की सूती कपड़े, ऊनी कपड़ा और चमड़े के सामान की मिलों में अनुपस्थिति के आंकड़े प्रकाशित करता है। ये उत्तर प्रदेश की सरकार के लेबर बुलेटिन में छपते हैं। लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी ने भी इस बारे में जाँच की जैसे चाय कॉफी और रबर के खेतों तथा अबरक (माइका) की खानों के बारे में। उपर्युक्त आधार पर जो जानकारी हमारे सामने आई है उसका सार यह है कि फैक्टरी उद्योगों में अनुपस्थिति की मात्रा १० से १५ प्रतिशत, प्लान्टेशनों तथा कोयले की खानों में २५ प्रतिशत तक और अबरक की खानों में ४० प्रतिशत तक भी चली जाती है। ऐसा भी मालूम पड़ता है कि अनुपस्थिति उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में कम है।

इन आंकड़ों के सम्बन्ध में एक कमी तो यह है कि अनुपस्थिति के यह आंकड़े किसी एक परिभाषा के आधार पर एकत्रित नहीं किये गए हैं। ऐसा करना बहुत आवश्यक है। अनुपस्थिति की एक सर्वमान्य परिभाषा सर्वदा सुभाव भारत सरकार के श्रम विभाग ने अपने एक परिपत्र में दिया था। इस सुझाव के अनुसार जो व्यक्ति पूर्व निश्चित अवकाश पर होता है उसे अनुपस्थित नहीं माना जाना चाहिये। पर जो व्यक्ति *बिना सूचना* के चला जाता है उसे अनुपस्थित मानना चाहिये। पर हड़ताल के कारण अनुपस्थित रहने वालों को

इस अर्थ में अनुपस्थित नहीं मानना चाहिये। पूर्व निश्चित अवकाश के समय के अलावा जो व्यक्ति छुट्टी चाहता है उसे भी अनुपस्थित मानना चाहिये। दूसरी कमी इन अनुपस्थिति के आंकड़ों के बारे में यह है कि उनको इकट्ठा करने का सब जगह एक ही तरीका काम में नहीं आता। इन कमियों को जब तक दूर नहीं कर दिया, जाता अलग-अलग धंधों के आंकड़ों को आपस में सही तुलना नहीं की जा सकती।

अनुपस्थिति के कारणों का यदि हम अध्ययन करें तो वे कारण खास तौर से मिलेंगे—१. बीमारी, २. औद्योगिक दुर्घटना, ३. सामाजिक और धार्मिक कारण, ४. गांवों को जाना। रात की पाली में अनुपस्थिति अधिक मिलेगी। कई बार नशे अथवा मनोरंजन के कारण भी अनुपस्थति होती है।

अनुपस्थति की मात्रा कम करने का यह उपाय है कि काम करने के वातावरण में सुधार हो, मजदूरी यथेष्ट मिले, औद्योगिक दुर्घटनाओं और बीमारी से रक्षा का अच्छा उपाय हो, और आराम तथा मनोरंजन के लिए निश्चित अवकाश की व्यवस्था हो। मजदूरों के रहने के मकानों का सुप्रबन्ध होने से भी अनुपस्थिति की मात्रा मे कमी होगी।

काम के घंटे—औद्योगिक मजदूर से संबंध रखने वाला एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसके काम करने के घंटों का रहा है। किसी भी देश के औद्योगिक विकास का इतिहास देख लिया जाए; मिल-मालकों में यह प्रवृत्ति मिलेगी कि वे स्वार्थवश मजदूरों से बहुत लम्बे समय तक काम लें। चौबीस घंटों में से १८ घंटे तक काम कराने के उदाहरण मिलते हैं। भारत की स्थिति और देशों से इस अर्थ में किसी प्रकार भिन्न नहीं रही है। मजदूरों से लम्बे समय तक काम कराने की प्रवृत्ति यहाँ भी देखी गई है। यही कारण है कि आज मजदूर कितने घन्टे काम करे इसका कानून से नियंत्रण होता है।

भारत में कानूनद्वारा मजदूरों के काम करने के घंटों का नियंत्रण सबसे पहले १६११ के फेक्टरी क़ानून द्वारा, उन मजदूरों के लिए, जो इस कानून के अन्तर्गत आने वाले कारखानों (फेक्टरीज) में काम करते थे, किया गया। इस क़ानून के अनुसार पुरुषों के लिए दिन भर में काम करने के १२ घंटे निश्चित किए गए थे। इससे अधिक कोई मिल-मालिक कानूनन काम नहीं ले सकता था। इसी प्रकार खानों में काम करने वाले मजदूरों के काम करने के घंटों का सबसे पहले १६२३ के खानों सम्बन्धी क़ानून से नियंत्रण हुआ। रेलों सम्बन्धी मजदूरों में से जो फेक्टरी कानून में नहीं आते, उनके काम के घंटों का नियन्त्रण रेलवे एक्ट के अन्तर्गत होता है। यह नियंत्रण सबसे पहले १८६० के रेल्वे एक्ट

द्वारा किया गया था। चाय, कॉफी और रबर के बागों में काम करने वाले मजदूरों के काम के घंटों का आज भी कोई कानून द्वारा नियन्त्रण नहीं होता है। हां, चाय और रबर के कारखानों पर कारखानों सम्बन्धी कानून अवश्य लागू होता है। उपर्युक्त सब कानूनों में समय समय पर परिवर्तन होता रहा है और यह परिवर्तन काम करने के घंटों के सम्बन्ध में भी हुआ है। इस सम्बन्ध में मौजूदा स्थिति इस प्रकार है।

कारखानों (फैक्टरीज) में काम करने वाले मजदूरों के काम करने के घंटे १६४८ के फैक्टरी एक्ट द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इस कानून के अनुसार कारखाने के मजदूरों से सप्ताह में अधिक से अधिक ४८ घंटे और प्रतिदिन अधिक से अधिक ६ घंटे काम लिया जा सकता है। कारखाना चलने का (स्प्रेड ऑवर) अधिक से अधिक १०॥ घंटे का समय निश्चित किया गया है। सालभर चलने वाले और मौसमी (सीजनल) कारखानों में इससे पहले १६३४ के एक्ट में जो अन्तर था वह अब हटा दिया गया है। स्त्री मजदूर सुबह ६ से शाम के ७ बजे के बीच में ही काम कर सकती हैं। १४ वर्ष की पूरी आयु न हो जाने तक कोई बालक कारखाने में काम नहीं कर सकता। इसके बाद कोई भी बालक दिन में ४॥ घंटे से ज्यादा काम नहीं कर सकता और उसके काम का समय सुबह ६ बजे से शाम के ७ बजे के बीच में ही होना चाहिये। काम के घंटों के संबंध में वस्तुस्थिति भी यही है कि बड़े कारखानों में ८ घंटे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं लिया जाता। जो छोटे-छोटे कारखाने कानून के नियन्त्रण में नहीं आते उनमें काम के घंटे अवश्य अधिक हैं। जैसे रागे कमेटी के अनुसार लाख आदि के कारखानों में १२ घंटे प्रति दिन के हिसाब से भी काम कराया जाता है। नौकाश्रयों, बड़े बड़े इन्जीनियरिंग के कारखानों, और करीब करीब सभी रेलवे कारखानों में सप्ताह में ४८ घंटे काम कराया जाता है, पर प्रतिदिन के काम के घंटों में थोड़ा अन्तर है, जो शनीचर के दिन कितने घंटे यहां काम कराया जाता है उससे निश्चित होता है। सूती कपड़ों की मिलों में लगभग सभी जगह ८ घंटे प्रतिदिन के हिसाब से काम लिया जाता है।

खानों में काम करने वाले मजदूरों का जहाँ तक संबंध है, जो मजदूर जमीन के नीचे काम करता है उसके काम के अधिक से अधिक ६ घंटे प्रतिदिन और ५४ घंटे प्रति सप्ताह माइन्स एक्ट द्वारा निश्चित हैं। खानों में काम करने का अधिक से अधिक समय (स्प्रेड ऑवर) भी ६ घंटा ही है। जमीन के ऊपर काम करने वाले मजदूरों के लिए प्रतिदिन अधिक से अधिक १० घंटे और प्रति सप्ताह यही ५४ घंटे निश्चित हैं। स्प्रेड ऑवर १२ घंटे का निश्चित है। रागे

कमेटी के अनुसार मामूली तौर से खानों में जमीन के नीचे काम करने वाले मजदूर प्रतिदिन ६ से १० घंटे काम करते हैं। स्प्रेड ऑवर जमीन के नीचे काम करने वालों का तो ६ घंटे और ऊपर काम करने वालों का ६ से ११ घंटे तक का होता है।

रेल्वे में काम करने वाले उन लोगों के जो फेक्टरी एक्ट या माइन्स एक्ट के अन्तगर्त नहीं आते, काम के घंटों का निर्धारण १८६० में पास तथा १६३० में संशोधित रेल्वे एक्ट के अनुसार होता है। इस कानून में आने वाले लोगों को दो श्रेणियों में बांटा गया है—लगातार काम करने वाले लोग और लगातार काम नहीं करने वाले लोग। पहली श्रेणी वालों के लिए ६० घंटे प्रति सप्ताह और दूसरी श्रेणी वालों के लिए ८४ घंटे प्रति सप्ताह का महीने भर का औसत अधिक से अधिक काम का समय निश्चित है। विशेष स्थिति में रेल्वे अधिकारी द्वारा थोड़े समय के लिए इस मर्यादा का उल्लंघन भी किया जा सकता है। इस एक्ट के अन्दर सरकार को नियम बनाने का भी अधिकार है। इन नियमों को 'रेल्वे सर्वेन्ट्स अवर्स ऑव एम्पलायमेंट रूल्स' कहा जाता है पर एक्ट और रूल्स दोनों को प्रायः 'अवर्स आव एम्पलायमेंट रेगुलेशन्स' भी कहा जाता है। लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी (रीगे कमेटी) का कहना है कि थोड़े समय के लिए काम के घंटों की मर्यादा उल्लंघन करने, और काम करने वालों को लगातार काम करने वालों और नहीं करने वालों को दो श्रेणियों में बांटने के संबंध में शिकायत रही है। अखिल भारतीय रेल्वेमेन्स फेडरेशन के मांग करने पर भारत-सरकार ने अप्रेल १६४६ में श्री जस्टिस जी० एस० राज्याध्यक्ष को कुछ मामलों का निर्णय करने के लिए निर्णायक नियुक्त किया। इन मामलों में काम के घंटे, आराम के समय, छुट्टी और अवकाश के प्रश्न शामिल थे। श्री राज्याध्यक्ष ने सिफारिश की कि बहुत से रेल्वे-कर्मचारी जो अबतक अवर्स आव एम्पलायमेंट रेगुलेशन्स के अन्तर्गत नहीं आते हैं उनको इसके अन्तर्गत लेना चाहिए और समस्त कर्मचारियों का निम्निलिखित चार श्रेणियों में दुबारा वर्गीकरण करना चाहिये—(१) 'इन्टेन्सिव'—वे लोग जिनका काम अत्यधिक परिश्रम चाहता है, (२) 'इसेंशियली-इन्टरमिटेन्ट'—जिनके काम का स्वभाव ही ऐसा है कि उनको बीच-बीच में आराम मिल जाता है, (३) 'एक्सक्लूडेड'—इसमें कई प्रकार के लोग आ जाते हैं, जैसे हल्का काम करने वाले चपरासी आदि श्रेणी के लोग, विश्वस्त काम करने वाले लोग, सुपरवाइजरी स्टाफ और डाक्टर आदि। (४) 'कन्टीनुअस'—उपर्युक्त तीनों श्रेणियों के अलावा जो लोग रह जाते हैं। श्रीराज्याध्यक्ष ने सिफारिश की थी कि नं० (१) को ४५ घंटे नं० (४) को ५४

घंटे और न० २ को ७५ घंटे सप्ताह में काम करना चाहिए। न० (३) के लिए कोई मर्यादा निश्चित नहीं की। रनिंग स्टाफ के बारे में उनकी सिफारिश यह थी कि उनसे लगातार १० घंटे से ज्यादा काम नहीं लेना चाहिये। भारत सरकार ने काम के घंटों के बारे इन सिफारिशों को अपने १५ जून १९४८ के आदेशानुसार तीन वर्ष के लिए स्वीकार कर लिया। यह आदेश उन्हीं रेलवे पर लागू किया गया जो इन मामलों से सम्बन्धित थे। आराम और छुट्टी के विषय सम्बन्धी जो सिफारिशें की गई थीं वे भी भारत सरकार ने मंजूर कर लीं।

चाय आदि के बागों में काम करने वाले मज़दूरों के काम करने के घंटों का क़ानून में कोई नियन्त्रण नहीं है, यह ऊपर लिख चुके हैं। परन्तु स्थिति यह है कि पुरुष, स्त्री और बालक सभी बराबर समय काम करते हैं। यह अवश्य है कि बालकों को अपेक्षाकृत हल्का काम दिया जाता है। आसाम और बंगाल के चाय के बागों में आम तौर पर 'हजारी' (Hazira) के आधार पर काम होता है। प्रायः ५ या ६ घंटे में मज़दूर अपना हज़ारी खतम कर लेता है और उसके बाद यह उसकी इच्छा पर निर्भर रहता है कि वह अतिरिक्त काम करे या न करे। पत्तियां चुनने के मौसम में मज़दूर १०-११ घंटे तक भी काम करते हैं।

काम के घंटों के सम्बन्ध में जो विवरण ऊपर दिया गया है उससे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि अनियन्त्रित कारखानों के अलावा और जगह स्थिति कुल मिलाकर सन्तोषजनक है।

आराम और अवकाश—काम के घंटों से मिला जुला दूसरा महत्त्व का प्रश्न यह है कि मज़दूरों को काम के घंटों के बीच में आराम करने का समय कितना मिलता है और सप्ताह में अवकाश मिलता है या नहीं। १९४८ के फैक्टरी कानून के अनुसार कोई प्रौढ़ मज़दूर ५ घंटे से अधिक लगातार काम नहीं कर सकता और ५ घंटे के बाद उसे कम से कम आधा घंटे का विश्राम मिलना चाहिये। इसी प्रकार उसे सप्ताह में पूरे एक दिन का अवकाश मिलना भी अनिवार्य है। माइन्स एक्ट में भी यह निर्धारित है कि कोई भी व्यक्ति सप्ताह में छह दिन से अधिक खान में काम नहीं कर सकता। विश्राम के बारे में कानून द्वारा किसी प्रकार की अनिवार्यता तो नहीं है, पर फिर भी व्यवहार में विश्राम का समय दिया जाता है, यद्यपि कहीं कहीं नहीं भी दिया जाता। जो खान मज़दूर ठेके पर काम करते हैं उनका कानून द्वारा तो कोई नियन्त्रण है नहीं और उन्हें कोई साप्ताहिक अवकाश नहीं मिलता। चाय आदि के बागों में काम करने वाले मज़दूरों को दोपहर में एक घंटे का विश्राम देने की व्यवस्था तो है,

पर रीगे कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि मजदूरों को यह आम शिकायत थी कि वास्तव में उन्हें विश्राम मिलता नहीं। काम के स्थान पर ही जल्दी-जल्दी में भोजन करने के लिए ५-१० मिनिट का समय अवश्य मिल जाता है। चाय और कॉफी के बागों में सप्ताह में एक दिन का अवकाश मिलता है, सिवा उन दिनों के जब काम की अधिकता होती है। रबर के बागों में अवकाश नहीं मिलता। रेल्वे-कर्मचारियों को कानून के अनुसार सप्ताह में एक बार इतवार से कम से कम २४ घंटे का लगातार अवकाश मिलना अनिवार्य है। जो 'इसेंशियली इन्टरमिडेन्ट श्रेणी में आने वाले कर्मचारी हैं, या जिनके लिए सरकार ने काम, समय का अवकाश निश्चित कर दिया है उनके बारे में २४ घण्टे के लगातार अवकाश का नियम लागू नहीं होता है। विशेष स्थिति में अवकाश संबंधी नियमों में रेल्वे अधिकारी द्वारा छूट दी जा सकती है। श्री राज्याध्यक्ष ने साप्ताहिक अथवा पाक्षिक अवकाश के बारे में जो सिफारिशें की थीं वह भी सरकार ने तीन वर्ष के लिए (जून १९५१) स्वीकार करली थीं। इसके अनुसार 'इन्टेन्सिव' और 'कन्टीनुअस' श्रेणी के लोगों को सप्ताह में लगातार ३० घण्टे और 'इसेंशियली इन्टरमिटेंट' श्रेणी के लिए लगातार २४ घण्टे (एक पूरी रात्रि सहित) और 'एक्सक्लूडेड' श्रेणी के लिए पंदरह दिन में लगातार २४ घन्टे अथवा महीने में लगातार ४८ घन्टे का अवकाश मिलता है।

कारखानों आदि में काम करने की परिस्थितियां—कारखानों आदि में काम करनेवाले मजदूरों के सम्बन्ध में एक बात जानने की यह है कि जिन परिस्थितियों में वे काम करते हैं वे कैसी हैं। रीगे कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि काम करने की परिस्थितियों के बारे में अधिकांश मिल-मालिक केवल उतना ही ध्यान देते हैं जितना ध्यान देना क़ानून की निगाह से अनिवार्य है। बल्कि कई लोग तो इतना भी करने से बचना चाहते हैं। काम की परिस्थितियों के बारे में मुख्यतः तीन दृष्टियों से विचार करना चाहिये—(१) हवा (२) ताप और (३) प्रकाश

जहां मजदूर काम करते हों वहां शुद्ध हवा आने-जाने का प्रबन्ध होना आवश्यक है, खास तौर से सूती कपड़ों आदि के कारखानों में जहां काम धूल और नम हवा में होता है। हवा के आने-जाने का प्रबन्ध या तो खिड़कियों अथवा वेन्टीलेटरों द्वारा होता है या फिर कृत्रिम रूप से पंखों से या दूसरे साधनों से हवा बाहर निकालने और अन्दर लाने का प्रबन्ध किया जाता है। इसी प्रकार इस बात की आवश्यकता होती है कि काम करने के कमरों में ताप न बहुत अधिक हो न बहुत कम। यथेष्ट प्रकाश की व्यवस्था भी अत्यन्त

आवश्यक है ताकि मजदूरों की आँखों पर बुरा असर न पड़े। रोशनी के लिए खिड़कियाँ आदि का प्रबन्ध होना चाहिये और आवश्यकता होने पर दिन में भी तथा रात में बिजली आदि की रोशनी की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये। रोशनी के प्रबन्ध में इस बात का भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि आँखों पर सीधी रोशनी न पड़े।

रीगे कमेटी का कहना है कि बड़े बड़े कारखानों में तो काम करने की परिस्थितियाँ कुल मिलाकर सन्तोषजनक हैं। पर जो छोटे और अनियन्त्रित कारखाने हैं विशेष कर जो पुरानी इमारतों में चलते हैं उनमें स्थिति संतोषजनक नहीं है और बहुत कुछ सुधार की आवश्यकता है। कई सूती कपड़ों की मिलों में जैसे बम्बई, अहमदाबाद में हवा का ताप मान ठीक रखने के लिए एयर कन्डिशनिंग प्लान्ट की व्यवस्था है। इसी प्रकार कहीं-कहीं कपास से उत्पन्न धूल को बाहर निकालने की भी व्यवस्था है। पर जूट की मिलों में अपेक्षाकृत स्थिति कम सन्तोषजनक है। इन्जीनियरिंग के कारखानों में भी हवा और प्रकाश की व्यवस्था ठीक ठाक ही है। छापाखानों की स्थिति मामूली तौर पर सन्तोषजनक नहीं पाई जाती है। सीसे का पेट में चला जाना बड़ा भयानक है पर छापेखाने के काम करने वालों को इससे बचाने का कोई खास प्रयत्न नहीं होता है। वास्तव में तो इस सम्बन्ध में प्रेस मालिकों और प्रेस में काम करने वालों की जानकारी ही बहुत कम है। खानों के बारे में भी यह बात देखने को मिलती है कि कई जगह काम करने की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है, जैसे अबरक की खानों और मैंगनीज की खानों में हवा और रोशनी का प्रबंध खास तौर से जमीन के नीचे, ठीक नहीं है। १९४८ के फैक्टरी एक्ट में हवा, ताप मान और प्रकाश की समुचित व्यवस्था के बारे में आवश्यक धाराओं का समावेश कर लिया गया है। इसी प्रकार से धूल तथा अन्य बेकार पदार्थों (वेस्ट) आदि से मजदूरों की रक्षा करने सम्बन्धी धारा भी १९४८ के एक्ट में मौजूद है। प्रत्येक मजदूर के लिए कम से कम कितना स्थान होना चाहिये इसका निश्चय भी इस एक्ट में कर दिया गया है। सारांश यह है कि १९४८ के एक्ट में कारखानों में काम करने की परिस्थिति में सुधार करने की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया है।

कारखानों में उपलब्ध अनिवार्य सुविधाएँ—कारखानों आदि में काम करने की जिन परिस्थितियों का ऊपर उल्लेख किया है उनके अलावा कुछ और सुविधाएँ भी मजदूरों की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हैं, ताकि काम करते समय उसके स्वास्थ्य की रक्षा हो सके और उसकी कार्य शक्ति पर बुरा असर न पड़े। इन आवश्यक सुविधाओं में पीने के पानी, पेशाब-घर तथा शौच गृह और विश्राम-गृह

की सुविधाएं प्रमुख हैं।

पीने के पानी की कोई न कोई व्यवस्था तो अधिकांश कारखानों में होती है पर उसमें कई प्रकार के सुधार की आवश्यकता है। जैसे गर्मियों में मज़दूरों को पीने के लिए ठन्डा पानी प्रायः नहीं मिलता। जिन बर्तनों में पानी रखा जाता है वे भी स्वच्छ नहीं होते। पानी पिलाने का ठीक से कोई प्रबन्ध नहीं होता। कई जगह तो पीने के लिए खारा पानी ही उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं तो मज़दूरों को नल पर ही पानी पीना होता है। कई कपास धुनने के और बीड़ी के कारखानों में तो स्थिति यहां तक खराब है कि पीने के लिए पानी ही उपलब्ध नहीं होता। अनियंत्रित खानों और कारखानों में पीने के पानी की विशेष कठिनाई पाई जाती है।

मज़दूरों के स्वास्थ्य और सुविधा की दृष्टि से शौच-गृह और पेशाब-घरों की समुचित व्यवस्था भी अत्यन्त आवश्यक है। पर इस सम्बन्ध में भी हमारे कारखानों और खानों आदि की स्थिति संतोषजनक नहीं है। जहां शौच-गृह आदि हैं वहां उनकी सफ़ाई का ठीक प्रबन्ध नहीं होता और इस कारण से मज़दूर उनका उपयोग करने में हिचकते हैं। शौच-गृह के आस-पास पर्दे का प्रबन्ध भी नहीं होता। आवश्यकता इस बात की है कि मज़दूरों की संख्या को ध्यान में रखते हुए यथेष्ट संख्या में शौच-गृह और पेशाब-घरों की अलग-अलग व्यवस्था हो और उनको साफ़ कराने का अच्छा प्रबन्ध हो। साथ ही पर्दे का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। आज तो कई जगह—जैसे अनियंत्रित कारखानों में या अबरक की खानों में ज़मीन के नीचे तो शौच-गृह आदि की कोई व्यवस्था ही नहीं पाई जाती।

मज़दूरों को विश्राम करने के लिए और दोपहर की छुट्टी में बैठकर भोजन करने के लिए हर फैक्टरी अथवा खान पर विश्राम-गृह की व्यवस्था होना आवश्यक है। ये विश्राम-गृह पुरुष और स्त्रियों के लिए अलग-अलग हों यह भी ज़रूरी है। बैठने के लिए बैंच अथवा चबूतरों आदि का प्रबन्ध भी होना चाहिये और उनकी सफ़ाई की भी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये। आज तो हमारे देश में विश्राम-गृह सम्बन्धी स्थिति भी असंतोषजनक है। सूती कपड़ों की अधिकांश मिलों में इनकी व्यवस्था है, यद्यपि जूट की मिलों में उनका अभाव है। दूसरे बड़े-बड़े उद्योगों में भी विश्राम-गृहों की व्यवस्था है। पर छोटे कारखानों में प्रायः इनका अभाव होता है। मज़दूरों की संख्या की दृष्टि से इन विश्राम-गृहों में स्थान की कमी भी रहती है। सफ़ाई का प्रबन्ध नहीं होता और न बैठने का कोई प्रबन्ध होता है। खानों में आम तौर से विश्राम-गृहों का अभाव है।

१९४८ के फैक्टरी क़ानून में पीने के जल और शौच गृह तथा पेशाबघरों के बारे में समुचित व्यवस्था करने का भार मिल मालिकों पर डाला गया है। राज्य की सरकारों को इस सम्बन्ध में आवश्यक नियम बनाने का अधिकार भी दिया गया है। २५० से अधिक मज़दूर जहां काम करते हों उस कारखाने में गर्मी में ठण्डे पानी की व्यवस्था भी फैक्टरी एक्ट के अनुसार करना अनिवार्य है। इसी प्रकार फैक्टरी एक्ट के अनुसार शौच गृह और पेशाबघरों की आवश्यक संख्या और स्त्री और पुरुषों के लिए अलग अलग बन्द शौच-गृह तथा पेशाबघर बनवाना, साफ़ हवा और रोशनी का ठीक प्रबन्ध करना और २५० से अधिक मज़दूर जहां काम करते हों उन कारखानों में एक निश्चित प्रकार के शौच गृह तथा पेशाबघर बनवाना अनिवार्य है।

सफ़ाई—फैक्टरी में काम करनेवाले मज़दूरों के स्वास्थ्य की दृष्टि से फैक्टरी का साफ सुथरा रहना भी अत्यन्त आवश्यक है। १९४८ के फैक्टरी-एक्ट के अनुसार यह आवश्यक है कि काम करने के कमरों आदि में गंद और गंदगी नहीं जमा होने दी जाय, फर्श को बराबर धोकर सफ़ाई की जाए और फैक्टरी की पुताई इत्यादि भी बराबर समय समय पर होती रहे।

रक्षा—आधुनिक ढंग के कल-कारखानों की एक समस्या मज़दूरों की सुरक्षा की है। जहां शक्ति से चलने वाली मशीनों से काम होता है वहां इस बात का ख़तरा बराबर रहता है कि उन मशीनों पर काम करने वाले मज़दूर मशीन से कट न जावें अथवा उनके हाथ पांव में चोट न आ जावे। मशीनों के अतिरिक्त मज़दूरों को दूसरी प्रकार के ख़तरे भी रहते हैं। उदाहरण के लिए कारखानों में बहुत सी दुर्घटनाएँ सीढ़ियों अथवा खिड़कियों आदि से गिरने से होती हैं। यदि कारखाने की इमारत ठीक तरह से बनी हुई नहीं है तो इस कारण से भी कई दुर्घटनाएं हो जाती हैं। आग लगजाने का डर भी कारखानों में रहता है। कई बार तुरन्त आग पकड़ लेने वाली धूल, गैस अथवा भाप जो उत्पादन क्रिया में अनिवार्यतः उत्पन्न होती है अथवा काम में आती है, उससे भी दुर्घटनाएं होती देखी गई हैं। जैसे कोयले की धूल जल्दी से आग पकड़ लेती है और कोयले की खानों में इससे बहुत सी दुर्घटनाएं होती देखी गई हैं। कई बार आटा, शक्कर आदि जैसी रोज़ काम में आने वाली चीज़ों की धूल भी आग पकड़ती हुई पाई गई है। इसी प्रकार कई ऐसे ख़तरनाक (फ्यूम्स) होते हैं जो यदि किसी कमरे आदि में अधिक मात्रा में हों और उसमें कोई आदमी चला जाए तो उसका दम घुट सकता है। कुछ ऐसी (फ्यूम्स) होती हैं जो आग भी पकड़ लेती हैं। अत्यधिक बोझ उठाने से भी मज़दूर को नुकसान पहुँचता है।

कई औज़ार ठीक नहीं होते और उनका प्रयोग करने से आंखों को नुकसान पहुँचता है, क्योंकि उन औज़ारों से जो धातु के कण अथवा टुकड़े निकलते हैं वे आंखों में जाते हैं और उससे आंखों को नुकसान होता है। सारांश यह है कि आधुनिक कारखानों में अनेक प्रकार से मज़दूरों को जोखम पहुंचने की सम्भावना होती है और उससे उनकी रक्षा करना आवश्यक है।

१९४८ के फैक्टरी-एक्ट में उपर्युक्त सब जोखमों से मजदूरों की रक्षा करने के सम्बन्ध में मिल-मालिकों पर ज़िम्मेदारी डाली गई है। इस अर्थ में यह एक्ट १९३४ के फैक्टरी-एक्ट की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ है क्योंकि १९३४ के एक्ट में फैक्टरी इन्सपेक्टर पर यह ज़िम्मा था कि वह आगे बढ़कर यह बतावे कि मिल-मालिक को मज़दूरों की रक्षा के लिए क्या-क्या करना चाहिये। अब तो मिल-मालिक को एक्ट में दी गई बातों का अपनी ज़िम्मेदारी से पालन करना आवश्यक है। इस एक्ट में रक्षा सम्बन्धी कई नई ज़िम्मेदारियां भी मिल-मालिक पर डाली गई हैं। जैसे ख़तरनाक मशीनरी पर बालकों को क़ाम करने से रोका गया है और अत्यधिक बोझ उठाने से होने वाले नुकसान से, ख़तरनाक (फ्यूम्स) से तथा जल्दी आग पकड़ने वाली धूल से मजदूरों की रक्षा करने की व्यवस्था भी की गई है। कई बातें जो पुराने एक्ट के अनुसार नियमों में शामिल की गई थीं, अब एक्ट में ही शामिल करली गई हैं। रक्षा-सम्बन्धी जो दूसरी मुख्य-मुख्य बातें इस नए एक्ट में दी गई हैं उनमें मशीनरी की घेरेबंदी (फेन्सिंग) करने, नई मशीनरी को सुरक्षित रखने (एन केस करना) और होइस्टस, और लिफ्टस, क्रेन्स तथा प्रेशर प्लान्टस सम्बन्धी नियमों को खास स्थान दिया गया है। इण्डियन माइन्स एक्ट और उसके अन्तर्गत प्रकाशित रेगूलेशन्स और रूल्स में भी रक्षा सम्बन्धी आवश्यक धाराएं हैं। इसके अलावा चीफ इन्सपेक्टर अथवा इन्सपेक्टर को भी यह अधिकार है कि वह इस सम्बन्ध में आवश्यक हिदायतें खान के मालिक अथवा मैनेजर को दे सकता है।

रक्षा के महत्त्व को समझने के लिए और उसके लिए आवश्यक उपाय काम में लाने के लिए मज़दूरों में प्रचार करने की बड़ी आवश्यकता है। इस विषय में पोस्टरों तथा छोटी-छोटी सचित्र पुस्तिकाओं के द्वारा भी बहुत कुछ प्रचार किया जा सकता है, जैसाकि सब रेल्वे कम्पनियां करती हैं। बम्बई के मिल-मालिक-संघ ने भी इस दिशा में बहुत अच्छा काम किया है। भारत की सेफ्टी फर्स्ट एसोसियेशन की सहायता से मिल-मालिक-संघ ने एक सेफ्टी कोड प्रकाशित किया है। कई मिलों में सेफ्टी-फर्स्ट कमेटियां भी स्थापित हुई हैं। भारत

सरकार ने भी पिछले दिनों इस विषय में अधिक ध्यान दिया है और चीफ एडवाइजर फैक्टरी के कार्यालय में रक्षा के सम्बन्ध में समय समय पर साहित्य भी प्रकाशित होता रहता है। मजदूर सभा का भी यह कर्तव्य है कि वे इस काम में मिल मालिकों और सरकार की सहायता करें।

मजदूर हितकर कार्य—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का यह लक्षण है कि उद्योगपति और मिल-मालिक मजदूरों का हर प्रकार से शोषण करना चाहते हैं। यही कारण है कि राज्य को कानून बना कर मजदूर के हितों की रक्षा करनी होती है। जिन परिस्थितियों में मजदूर कारखानों में काम करता है, जो दूसरी अत्यन्त आवश्यक सुविधाएं उसे मिलनी चाहियें, और उसकी रक्षा की जो व्यवस्था आवश्यक है, इन सब बातों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। हमने यह भी देखा कि राज्य ने कानून बनाकर इन सब मामलों में मजदूरों के हितों की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। और यदि हम व्यापक दृष्टि से देखें तो इन सब बातों का समावेश मजदूर हितकर कार्यों में हो जाता है। पर मजदूर हितकर कार्यों में उपर्युक्त बातों का समावेश न करके मजदूरों के हित के लिए जाने वाले दूसरे कार्यों की गिनती ही की जाती है। उदाहरण के तौर पर मजदूरों के लिए जल पान गृह (कन्टीन) और बच्चों के लिए शिशुगृह (क्रेचेज) की व्यवस्था, मजदूरों के स्नान आदि की सुविधा, उनके मनोरञ्जन, शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था, मकान की व्यवस्था, अच्छे स्वच्छ भोजन का प्रबन्ध, सवेतन अवकाश और सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत आने वाली सुविधाओं—जैसे बीमारी और प्रसूति के समय दी जाने वाली सहायता, प्रोविडेन्ट फन्ड, ग्रेच्यूटी और पेंशन की व्यवस्था इन सब कामों की गिनती मजदूर हित के कार्यों में की जाती है। इन कामों की अब तक एक विशेषता यह भी रही है कि मजदूर-कानून में इन बातों का समावेश नहीं था। इसलिए मजदूर हितकर कार्यों में प्राय उन कामों की गिनती होती रही है जो कानून से बाध्य न होने पर भी मजदूरों की भलाई के लिए किये जावें। पर अब यह मर्यादा उपयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि उपर्युक्त कामों में से कई के लिए कानून में भी व्यवस्था की जा चुकी है। १९४८ के फैक्टरी एक्ट को यदि हम लें तो देखेंगे कि मजदूर हित के कार्यों पर एक अलग परिच्छेद है जिसमें जलपान-गृह, शिशुगृह, विश्राम गृह और नहाने धोने की सुविधा, प्राथमिक चिकित्सा की सुविधा, तथा काम करते-करते मौका मिलने पर मजदूर बैठ सके इस बात की सुविधा के विषय में आवश्यक धाराओं का समावेश किया गया है। इसी प्रकार कुछ और कानून भी बने हैं जिनका सम्बन्ध मजदूर हितकर कार्यों से है। जैसे माइन्स मेटरनिटी

बेनिफिट एक्ट (१६४१), माइका माइन्स लेबर वेलफेयर फन्ड एक्ट (१६४६), कोल माइन्स लेबर वेलफेयर फन्ड एक्ट, (१६४७) कोल माइन्स प्रोविडेन्ट फन्ड एन्ड बोनस स्कीम्स एक्ट (१६४८), और एम्पलोईज़ स्टेट इंश्योरेन्स एक्ट (१६४८) इसी प्रकार के कानून हैं।

मज़दूरों के स्वास्थ और कार्यकुशलता की दृष्टि से मज़दूर-हितकर कार्यों का बड़ा महत्त्व है। उनमें अपने कार्य के प्रति तत्परता और लगन पैदा करने, उनके मानसिक स्वास्थ को ठीक रखने और उनमें संतोष उत्पन्न करने की दृष्टि से भी इन कार्यों की बड़ी आवश्यकता है। जलपान-गृह को ही लीजिए। मज़दूर सुबह मिल में काम करने जाता है। प्रायः वह अपने साथ रात का बासी खाना ले जाता है जो दोपहर की छुट्टी में वह खालेता है। इसका असर उसके स्वास्थ्य पर अच्छा नहीं पड़ता। यदि कारखानों आदि में अच्छे जलपान-गृह की व्यवस्था हो, जहां मज़दूर को सस्ता और स्वस्थ भोजन मिल सके तो उसके स्वास्थ और कार्यशक्ति पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा और अन्ततोगत्वा उसका लाभ मिल-मालिकों को भी मिलेगा। इसी तरह शिशुगृह की आवश्यकता भी स्वयं सिद्ध है। मज़दूर स्त्रियां जब मिलों में काम पर आती हैं तो शिशुगृह के अभाव में वे अपने बच्चों को या तो अपने साथ ले आती हैं और मशीनों के पास ही वे उनको रखती हैं, या फिर वे घर पर अफीम खिलाकर उनको छोड़ आती हैं। दोनों ही स्थिति में बच्चों के स्वास्थ्य और विकास पर घातक असर पड़ता है। यदि कारखानों आदि में अच्छे शिशुगृहों की व्यवस्था हो, जहां बच्चों की देख-भाल के लिए किसी नर्स आदि की व्यवस्था हो, और उनके खेलने आदि का प्रबन्ध हो तो मौजूदा स्थिति में बहुत सुधार हो सकता है। जो बात जलपान-गृह और शिशुगृह के बारे में कही जा सकती है वही मनोरंजन के बारे में भी। कारखानों के थका देने वाले काम के बाद मज़दूर को स्वस्थ मनोरंजन की आवश्यकता होती है। उसकी जब व्यवस्था नहीं होती तो वह कई प्रकार की बुराइयों में फंस जाता है। मद्यपान करने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि अपने काम से लौटने के पश्चात् उसको खेलने आदि का समय और साधन प्राप्त हों, रात्रि में अच्छी फिल्में उसे देखने को मिलें, भजन आदि अच्छे गायन का उसके लिए प्रबन्ध हो तथा दूसरे मनोरंजन के साधन भी उपलब्ध हों। चिकित्सा और शिक्षा की उचित व्यवस्था के अभाव में भी मज़दूरों की कार्यशक्ति पर बहुत बुरा असर पड़ता है। चिकित्सा की दृष्टि से तात्कालिक चिकित्सा (फर्स्ट एड) का बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक कारखाने में तात्कालिक चिकित्सा की व्यवस्था होनी चाहिये और इस काम को कर सकने वाले व्यक्ति होने चाहियें। भारत की

मिलों में मजदूर प्राय अशिक्षित आता है। आवश्यकता इस बात की है कि उनकी शिक्षा का प्रबंध किया जाए ताकि अशिक्षित होने से जो अनेक प्रकार की हानियां होती हैं उनसे बचा जा सके। प्रौढ़ों के अलावा मजदूरों के बच्चों की शिक्षा का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। मजदूरों के स्वास्थ्य की दृष्टि से इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि कारखानों तथा काम करने के अन्य स्थानों पर नहाने धोने की पूरी सुविधा हो ताकि छुट्टी के समय मजदूर नहा धो सकें और जरूरत पड़ने पर काम करने के बाद अपने हाथ पांव साफ कर सकें। प्राय मजदूर का इतना समय नहीं रहता कि वह काम पर जाने से पहले अथवा बाद में स्नान करे। इसलिए काम करने के स्थान पर यह सुविधा आवश्यक है। पानी के साथ साथ पाखाना नालियां आदि का प्रबन्ध भी होना चाहिये। मजदूरों के हित में सामाजिक सुरक्षा की समुचित व्यवस्था का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। बीमारी के दिनों में उचित चिकित्सा का प्रबंध होना ही पर्याप्त नहीं है, पर यह भी जरूरी है कि उस समय का मुआवजा भी मजदूर को मिले। इसी तरह से जब मजदूर बेकारी की अवस्था में हो उसे कुछ मुआवजा मिलना चाहिए, ताकि उसका जीवन निर्वाह होता रहे और बेकारी की अवस्था में उसकी कार्य शक्ति क्षीण न हो। प्रसूति के समय मजदूर स्त्रियों को आर्थिक सहायता मिलना उसी तरह आवश्यक है जैसे बीमारी के समय। वृद्ध अवस्था में और परिवार में कमाने वाले की मृत्यु हो जाने पर भी मजदूर की सुरक्षा का प्रबंध होना चाहिये। प्रोविडेन्ट फन्ड, ग्रेच्यूटी, और पेंशन मिलने की व्यवस्था इस दृष्टि से आवश्यक है। सारांश यह है कि मजदूर हितकर कार्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं और मजदूरों के जीवन को सुखी और संतुष्ट बनाने के लिए तथा उनकी कार्य शक्ति में सुधार करने के लिए इन कार्यों का बहुत महत्त्व है।

मजदूर हितकर कार्यों की हमारे देश में जो आज स्थिति है उस पर यदि हम विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि स्थिति सन्तोष-जनक बिल्कुल नहीं है। इस सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से लिखना अनुचित न होगा। सबसे पहले हम जलपान गृह के बारे में ही विचार करें। अधिकांश मिलों और फैक्टरियों में तो इस तरह की कोई व्यवस्था ही नहीं है, और जहां है भी तो उनकी दशा और व्यवस्था अच्छी नहीं है। न वहां सफाई की कोई खास व्यवस्था होती है और न इस बात का प्रबन्ध है कि जो खाने आदि का सामान बेचा जावे वह अच्छा और उचित दामों पर बिके। मौजूदा फैक्टरी एक्ट के अनुसार राज्य की सरकार को यह अधिकार है कि २५० से अधिक व्यक्ति जिस कारखाने में काम करते हैं, उस के मालिक को जलपान-गृह की व्यवस्था करने के लिए बाध्य किया जाए। इसी

प्रकार जिस कारखाने में १५० व्यक्ति काम करते हों उसमें फेक्टरी एक्ट के अनुसार आराम करने और भोजन करने के उपयुक्त स्थान की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया है। पिछले वर्षों में, खास तौर से द्वितीय महायुद्ध के समय से इस दिशा में कुछ प्रयत्न अवश्य हुआ है और भारत-सरकार तथा राज्य की सरकारों ने भी ध्यान दिया है। उद्योगपतियों में बम्बई की ई. डी. सेसून कम्पनी, जमशेदपुर की टाटा आइरन एन्ड स्टील कम्पनी, और इंडियन टी मारकेट एक्सपान्शन बोर्ड ने भी अच्छा काम किया है।

शिशुपालन-गृह के बारे में भी हमारे देश की स्थिति बहुत पिछड़ी हुई है। जिन उद्योगपतियों पर कानूनी बंदिश नहीं है वे तो इस बारे में कोई ध्यान देते ही नहीं, पर जिनको क़ानून की दृष्टि से शिशुगृह की व्यवस्था करनी चाहिये वे भी अपनी जिम्मेदारी से बचने की प्रवृत्ति रखते हैं। जहां शिशुगृह हैं उनकी हालत अच्छी नहीं है। न बालकों को देखने-भालने की उचित व्यवस्था होती है, न उनको रखने का स्थान स्वच्छ और हवादार होता है और न बालकों के खेलने आदि की कोई व्यवस्था होती है। पर कुछ उदार उद्योगपतियों ने इस ओर भी अपना कर्त्तव्य किसी हद तक पूरा करने की चेष्टा की है। इनमें टाटा, बकिंघाम और कर्नाटक मिल्स, मद्रास और मदुरा मिल्स के नाम खास तौर से गिनाए जा सकते हैं। १९४८ के फैक्टरी एक्ट के अनुसार प्रत्येक ऐसे कारखाने में जहां ५० से अधिक स्त्रियां काम करतीं हैं शिशुगृह की व्यवस्था अनिवार्य कर दी गई है और इस सम्बंध में कुछ विशेष सुविधाओं की व्यवस्था कराने का अधिकार राज्य की सरकारों को दे दिया गया है।

मनोरंजन, शिक्षा व चिकित्सा आदि संबंधी अन्य हितकारी कार्यों का जहां तक सवाल है उनमें भी बहुत कुछ करने को बाकी है। यह ठीक है कि पिछले कुछ वर्षों में भारत-सरकार, और राज्य की सरकारों ने भी इस ओर ध्यान दिया है। कुछ मिल-मालिकों और उद्योगपतियों ने भी अपने मजदूरों के लिए चिकित्सा, शिक्षा और मनोरंजन की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया है। जहां तक मिल मालिकों द्वारा चिकित्सा की व्यवस्था का प्रश्न है यह व्यवस्था तात्कालिक चिकित्सा और छोटी-छोटी डिस्पेन्सरी से लेकर अच्छे और बड़े-बड़े अस्पतालों तक की है। उदाहरण के तौर पर टाटा कम्पनी, दिल्ली क्लाथ मिल्स, बकिंघाम और कर्नाटक मिल्स मद्रास, तथा आसाम ऑयल कम्पनी डिगबोई ने काफ़ी अच्छे और सुसंचालित अस्पतालों की व्यवस्था कर रखी है। जितनी भी प्रथम-श्रेणी की रेल्वे हैं उन सबने अपने कर्मचारियों की चिकित्सा का अच्छा प्रबन्ध कर रखा है। टाटा कम्पनी ने कई स्कूलों की व्यवस्था भी कर रखी है और

जिमनाजियम तथा क्लबों का, जिनमें कई प्रकार के मनोरंजन के साधन उपलब्ध हैं, प्रबन्ध भी है। दिल्ली क्लाथ मिल्स, बकिंघम और कर्नाटक मिल्स मद्रास, ब्रिटिश इंडिया कारपोरेशन कानपुर, डग ग्रदर लैंड म्यूर ऑथ मिल्स कानपुर, जे के इंडस्ट्रीज कानपुर, एम्प्रेस मिल्स नागपुर, मदुरा मिल्स, कोलार गोल्ड फील्ड की कम्पनियां, डालमिया सीमेंट कम्पनी, डालमिया नगर, तथा टाटा ऑइल कम्पनी तानापुरम (एरनैकुलम के पास ट्रावनकोर कोचीन में)—ये कुछ ऐसे नाम हैं जिन्होंने अपने अपने मज़दूरों के लिए विभिन्न प्रकार के हितकारी कामों की व्यवस्था की है। इन कामों में शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन और कहीं कहीं नाममात्र दामों, पशुन भत्ते प्राविडेन्ट फन्ड, शिशुगृह, जलपान गृह, अनाज की दूकान, सहकारी समितियां, मातृगृह शिशुहितकारी केन्द्र और विधवागृह आदि कई प्रकार की प्रवृत्तियों का समावेश होता है। प्रथम श्रेणी की रेलों और चाय आदि के बागों में काम करनेवाले लोगों को भी इस तरह की कोई न कोई सुविधा देने की ओर ध्यान दिया गया है। मज़दूर हितकारी कार्यों में नहाने धोने की सुविधा का भी महत्व काफी है। १९४८ के फैक्टरी कानून के अनुसार प्रत्येक फैक्टरी में इस प्रकार की सुविधा होनी चाहिये। पर वास्तव में ऐसी सुविधा बहुत कम है क्योंकि अधिकांश कारखानों में हाथ पांव धोने के पानी का प्रबन्ध तो फिर भी होता है, पर साबुन, तौलिया आदि की व्यवस्था नहीं होती। नहाने की सुविधा तो बहुत कम होती है।

मज़दूर हितकारी कार्यों के बारे में राज्य तथा मज़दूर सभाओं द्वारा जो प्रयत्न अब तक हुए हैं, उनका भी संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। थोड़े समय पहले तक तो भारत सरकार ने इस दिशा में कोई प्रयत्न किया नहीं था, पर पिछले कुछ वर्षों से उसने इस ओर ध्यान दिया है। न केवल स्वयं ने इस सम्बन्ध में कार्य किया बल्कि राज्य की सरकारों और उद्योगपतियों को भी कई प्रकार से इस दिशा में काम करने के लिये प्रोत्साहन और सुविधाएं प्रदान की। भारत सरकार के कारखानों आदि में मज़दूर हितकारी कोषों की स्थापना की गई है ताकि मज़दूरों के खेल और मनोरंजन तथा वाचनालय आदि की व्यवस्था हो सके। कोयले, अभ्रक की खानों में काम करने वाले मज़दूरों के लिए भारत सरकार ने कोल माइन्स वेलफेयर फन्ड और माइका माइन्स वेलफेयर फन्ड की स्थापना की है। कोल माइन्स वेलफेयर फन्ड का उपयोग मकान बनवाने, सफाई और स्वास्थ्य की दृष्टि से अस्पताल बनवाने और मलेरिया तथा तपेदिक निरोधक कार्य करने, पानी की व्यवस्था करने, शिशुगृह, चलते फिरते जलपान गृह और दुकान की व्यवस्था करने में किया जाता है। स्त्रियों और बच्चों के लिए

अलग से हितकारी केन्द्रों की स्थापना भी की गई है जहां शिक्षा, मनोरंजन तथा खेल आदि का प्रबन्ध किया जाता है। इसी प्रकार माइका माइन्स फन्ड के द्वारा माइका की खानों को मज़दूरों की चिकित्सा के लिए अलग डिसपेंसरी बनाने और पानी के लिए कुएं खुदवाने का प्रबन्ध किया जा रहा है। राज्य की सरकारों का जहां तक ताल्लुक है १६३७-३८ में जब पहली बार कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई तो इस ओर विशेष ध्यान दिया गया। बम्बई, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल की सरकारों ने इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयत्न किए हैं। विभिन्न राज्य की सरकारों द्वारा मजदूर-हितकारी केन्द्रों की स्थापना की गई है, जहां मज-दूरों के मनोरंजन, खेल, स्नान तथा शिक्षा आदि के लिए सुविधा करने का प्रयत्न किया जाता है।

मज़दूर-सभाओं में अहमदाबाद टेक्सटाइल मजदूर संघ, रेल्वेमेन्स यूनियन और मजदूरसभा कानपुर ने इस दिशा में थोड़ा ध्यान दिया है। पर रुपयें की कमी की वजह से मामूली तौर पर मज़दूर-सभाएं मज़दूर-हितकारी कार्यों की कोई व्यवस्था नहीं कर पातीं।

मज़दूरों के मकानों की समस्या:—आज के औद्योगिक पूंजीवाद की एक प्रमुख समस्या मज़दूरों के लिए स्वस्थ और सुविधाजनक मकानों की व्यवस्था करने की है। मज़दूर जैसे मकान में रहता है उसका असर उसके रहन-सहन के दर्जे और उसकी कार्य-शक्ति पर पड़ता है। भारतीय मज़दूर की भी एक बहुत बड़ी समस्या रहने के मकानों की है। इस सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति अत्यन्त असं-तोषजनक है, चाहे फिर हम कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों की दृष्टि से विचार करें या खानों और चाय आदि के बागों में काम करने वाले मज़दूरों की दृष्टि से। जो मकान उद्योगपतियों ने बनाए हैं वे भी सब एक दर्जे के नहीं हैं, कुछ अच्छे हैं तो कुछ अच्छे नहीं है। पर जो अन्य व्यक्तियों द्वारा बने हुए मकान हैं, जिनमें कि अधिकांश मज़दूर वर्ग रहता है, उनकी हालत तो एक दम दयनीय है। न मकानों में हवा आने की सुविधा है और न धूप की। शौच आदि की व्यवस्था का पहले तो प्रश्न ही क्या, और यदि कहीं है भी तो वह ऐसी कि वह न होने के बराबर है। पानी आदि की व्यवस्था का भी यही हाल है। मकानों में भीड़ का तो कहना ही क्या। एक ही कमरे में एक से अधिक परिवार के लोग, जिनमें पुरुष-स्त्री-बच्चे सभी होते हैं, रहते हुए मिलेंगे। अधिकांश मकान एक ही कमरे के मिलेंगे। इस एक कमरे में अलग-अलग परिवारों के अलग-अलग चूल्हे मिल जाएंगे, और यदि कोई स्त्री गर्भवती है तो उसकी प्रसूति का प्रबन्ध भी यहीं होता हुआ मिल जाएगा। एकान्त की तो इन एक कमरे के

मकानों में रहना हो क्या हो सकती है। और यदि धूल और धूप से बचने का प्रबन्ध करना है तो वह प्रबन्ध फटी बोरियों के चिथड़ों अथवा कनस्टर के टुकड़ों से ही किया जाता है। कुछ उद्योगपति यह कहते नहीं थकते कि गाव में जिन मकानों में मजदूर रहता है, वह भी कोई अच्छे नहीं होते, किन्तु वह ऐसा कहते समय यह भूल जाते हैं कि यद्यपि गाँव के मकानों में हवा का पूरा प्रबन्ध नहीं होता और गाव की गलियां इत्यादि गन्दी रहती हैं, फिर भी उनमें जो आगन होता है, उसमें धूप रोशनी और हवा यथेष्ट मात्रा में रहती है। फिर किसान खेतों के स्वास्थ्य युक्त वातावरण में काम करता है, जबकि मजदूर को नगर और कारखाने के दूषित और गन्दे वातावरण में रहना पड़ता है।

मजदूरों के रहने के मकानों की जिस शोचनीय स्थिति का वर्णन ऊपर दिया गया है उससे अनेकों प्रकार की बुराइयां पैदा होती हैं। उनके स्वास्थ्य और चरित्र पर इसका अत्यन्त घातक असर पड़ता है। मजदूर नगरों को, जहा वे काम करते हैं, अपना स्थायी घर नहीं मानते, और इसका बुरा असर उनके स्थायित्व और उपस्थिति पर भी बिना पड़े नहीं रहता। अब हम कुछ प्रमुख औद्योगिक नगरों की मज़दूरों के मकानों सम्बन्धी समस्या पर संक्षेप में विचार करेंगे।

बम्बई —भारत का एक बहुत बड़ा औद्योगिक केन्द्र है। वहाँ के मजदूर जिन मकानों में रहते हैं उनको "चालें" कहते हैं। 'चाल' एक लम्बी कोठरियों की पंक्ति को कहते हैं, जिसके सामने पतला बरामदा होता है। यह दो तीन मंजिल की होती है, और एक-दूसरे से सटी हुई बनी होती हैं। मकानों की दो पंक्तियों के बीच में एक गज से अधिक जगह नहीं होती। इससे कमरों में हवा और रोशनी का अभाव सा रहता है। अधिकांश चालों में शौच गृह नहीं होते। दो चालों के बीच में जो पतली सी गली होती है उसमें ही टट्टियां होती हैं। इन टट्टियों में सफाई का प्रबन्ध ठीक न होने से बड़ी गन्दगी रहती है, जिसका असर आसपास भी पड़ता है। कुछ समय पहले बम्बई सरकार ने एक लेडी डाक्टर को मजदूर स्त्रियों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जाच करने के लिए नियुक्त किया था। उसने एक मकान के सम्बन्ध में लिखा है "मैं चाल की दूसरी मंजिल के एक कमरे में गई, जिसकी लम्बाई १५ फीट और चौड़ाई १२ फीट थी। उस कमरे में ६ परिवार रह रहे थे। उनका भोजन पकाने के लिए उस कमरे में ६ चूल्हे थे। उन परिवारों में स्त्री पुरुष बच्चे सभी मिलाकर ३० प्राणी थे और ये सब उसी एक कमरे में रहते थे। छत से डोरियां बाधकर, उनमें बांस बाधकर, उन पर टाट और कम्बल डाल दिये गये थे, जिससे कि प्रत्येक

परिवार पृथक रह सके। उनमें से तीन स्त्रियां गर्भवती थीं और उनके शीघ्र ही बच्चा होने वाला था। मेरे पूछने पर मुझे एक कोने में चार फ़ीट लम्बी और तीन फ़ीट चौड़ी जगह दिखलाई गई जिस पर पर्दा कर दिया गया था। इसी जगह में बच्चा उत्पन्न होने की व्यवस्था थी। यह इस तरह का अकेला कमरा नहीं था। ऐसे बहुत-से कमरे मेरे देखने में आए।" उपर्युक्त वर्णन से बम्बई की चालों के नारकीय जीवन का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। अधिकांश चालों की इमारतें जर्जर अवस्था में हैं। नीचे के मंज़िल में बेहद सीलन होती है। कहीं-कहीं तो चाल की इमारत सड़क के धरातल से ही खड़ी कर दी गई है, उसकी कुर्सी होती ही नहीं। नतीजा यह होता है कि वर्षा की ऋतु में सड़क का पानी कमरों में आ जाता है। सीलन का तो कहना ही क्या? इन चालों के अहातों में कूड़ा-कचरा और यहां तक कि मल के ढेर लगे रहते हैं, जो कि वर्षा के दिनों में बड़ी सड़न और दुर्गन्ध पैदा करते हैं। प्रत्येक चाल में एक स्थान पर पानी के नल की थोड़ी सी टोंटियां होती हैं। चाल के सभी लोग उन्हीं नलों पर नहाते-धोते भी हैं। ये चालें व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति होती हैं और उनका ध्येय अधिक से अधिक किराया वसूल करना होता है। कहीं-कहीं जाबर भी चाल को पट्टे पर ले लेता है और अपने अधीन मज़दूरों को उसमें रखकर मनमाना लाभ उठाता है।

मज़दूरों के रहने के मकानों की उपर्युक्त अवस्था में सुधार करने का बम्बई-सरकार, बम्बई सिटी इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, पोर्ट ट्रस्ट और कुछ मिलों ने प्रयत्न किया है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् बम्बई-सरकार ने एक विशेष डैवलपमेन्ट विभाग स्थापित किया था और उस विभाग ने २०७ कंकरीट की चालें बनाईं। प्रत्येक चाल में ८० कमरे (एक ६४ कमरे की को छोड़कर) हैं। इन चालों में कुल १६२२४ रहने के कमरे और ३०० दुकानें हैं। १६३७-३८ में जब कांग्रेस-सरकार शासन में आई तो उसने भी इस बारे में काफी ध्यान दिया। इन चालों में कमरे बड़े हैं, रोशनी और हवा की सुविधा है। साथ ही फ़्लश, बिजली की रोशनी, पानी की सुविधा है। इन चालों में स्कूल अस्पताल तथा दूसरे मज़दूर-हितकारी कामों का भी म्यूनिसिपैल्टी और दूसरी परोपकारी संस्थाओं द्वारा प्रबन्ध किया गया है। बम्बई-सरकार ने हाल में एक 'हाउसिंग बोर्ड' की स्थापना की है जिसका मुख्य काम मज़दूर आदि कम वेतन पाने वाले लोगों के रहने के मकानों की सुविधा करना है। इस योजना के अन्तर्गत प्रान्त भर के औद्योगिक नगरों में १२५००० मकान बनाने का कार्यक्रम है। मकान सरकार स्वयं तो बनाएगी ही, पर व्यक्तिविशेष भी बनाएँगे और स्वायत्त शासन की संस्थाओं

को सरकार से सहायता भी मकान बनाने में मिलेगी। मिल मालिकों अथवा सहकारी समितियों को कर्ज दिया जायगा। १९४७ के नवम्बर में बम्बई सरकार ने यह योजना स्वीकार की थी। पोर्ट ट्रस्ट ने भी अपने मज़दूरों के लिये मकान बनवाये हैं। हर कमरे में हवा और रोशनी का अच्छा प्रबंध है। स्नानागार, और शौचगृह की व्यवस्था वह मकानों के बीच में है। मज़दूरों की भलाई की देख रेख के लिए एक वेलफेयर सुपरिन्टेन्डेन्ट है। बम्बई इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट और बम्बई म्युनिसिपलिटी ने भी कुछ चाल हैं। इसके अलावा लगभग ३० मिलों ने भी अपने मजदूरों के लिए एक कमरे की चालें बनवाई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह चालें उन चालों से जो व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति होती , अच्छी हैं, फिर भी उनमें स्थान की कमी है।

कलकत्ते —में भी मजदूरों के रहने के मकानों की समस्या बड़ी विकट है। अधिकांश मजदूर बस्तियों में रहते हैं। ये बस्तियां अधिकतर सरदार या अन्य व्यक्तियों की होती हैं। सरदार भूमि को पट्टे पर ले लेता है और जो मजदूर रहने के लिये मकान चाहते हैं, उन्हें बांस तथा फूस इत्यादि देकर स्थान बतला देता है और मज़दूर उसी स्थान पर एक कच्चा मकान खड़ा कर लेता है। कलकत्ते की ये बस्तियां इतनी गंदी और खराब होती हैं कि उसकी कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। हवा, रोशनी और स्वच्छ पानी का अभाव होता है। बस्तियों में जाने के मार्ग दलदल और गंदगी से भरे रहते हैं। हावड़ा की बस्तियों की स्थिति तो और भी भयंकर है। जूट मिलों ने अपने मज़दूरों के लिए कुछ कुली-लाइन बनवाई हैं। इन कुली-लाइनों में एक एक कमरे के लगभग ४०००० क्वार्टर हैं। कमरों के सामने बरामदा होता है। ये लाइनें पक्की हैं और पानी की सुविधा होती है। रोशनी हवा का प्रबंध तो होता है पर बहुत सन्तोषजनक नहीं है। कुली-लाइन क्वार्टरों की एक लाइन होती है। शौच-गृह और पाखाने घर की भी व्यवस्था तो है पर वह भी काफ़ी नहीं है। उन बस्तियों से ये लाइनें अवश्य अच्छी हैं पर इनको भी पूरी तौर से सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। पिछले वर्षों में जूट मिलों में काम करने वालों के लिये कुछ अच्छे मकान बने हैं। बिड़ला जूट मिल्स कॉलोनी बहुत अच्छी कॉलोनी में से है। और मिल मालिकों ने भी अपने मज़दूरों के लिए मकानों की व्यवस्था की है। पोर्ट [illegible] भी मकान बनाये हैं। पश्चिमी बंगाल की सरकार ने भी प्रान्तीय हाउसिंग बोर्ड की स्थापना की है।

मद्रास—में भी मकानों की समस्या इतनी ही गंभीर है। मकानों की इतनी भयंकर कमी है कि सैकड़ों मजदूरों को मकान तक नहीं मिलते। वे सड़कों

के किनारे अपना सामान रखकर पड़े रहते हैं या बंदरगाह के किनारे जो बड़े-बड़े मालगोदाम बने हुए हैं, उनके बरामदों में रहते हैं। मदुरा में तो स्थिति और भी भयानक है। यही हाल कोयम्बटूर तथा तूतीकोरन का है। मद्रास में अधिकांश मज़दूर एक कमरे के मकानों में रहते हैं जिनमें हवा और रोशनी का समुचित प्रबंध नहीं होता। प्रायः कमरों में खिड़की या रोशनदान भी नहीं होता। एक मकान में कई कमरे होते हैं। शौचगृह मकान के सब कमरों के बीच में एक-एक होते हैं। ये मकान व्यक्तिविशेष की संपत्ति होते हैं। कई जगह मकानों की कुर्सी सामने की गली से नीचे होती है और इस कारण वर्षा का पानी कमरों में चला जाता है। मकानों की कमी के कारण मद्रास शहर में मज़दूर खाली स्थानों पर अस्थायी झोंपड़े या कच्ची-पक्की कोठरियां खड़ी कर लेते हैं और जब उन जमीनों के मालिक ज़मीन का किराया बहुत अधिक बढ़ा लेते हैं तो वे उठकर दूसरी जमीनों पर चले जाते हैं। इन अस्थायी बस्तियों को ही चैरी कहते हैं। सफाई आदि की इनमें कोई व्यवस्था नहीं होती। हवा और रोशनी के प्रवेश के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। पानी और शौचगृह की कोई व्यवस्था नहीं होती। इन चैरियों की कोठरियाँ ६ फीट लम्बी और ८ फीट चौड़ी होती हैं। जो चैरियाँ सरकार या म्यूनिसिपैल्टी की जमीन पर हैं उनमें पानी के नल, आम शौचगृह, और सड़कों की सुविधा अवश्य है। अन्य चैरियों में इनका अभाव है।

मद्रास सरकार के मज़दूर विभाग तथा एक-दो सहकारी गृह समितियों ने कुछ मकान मजदूरों के लिए बनाए हैं। बकिंघम, कर्नाटक मिलने लगभग १०% अपने मजदूरों के लिए मकानों का अच्छा प्रबंध किया है। इस कम्पनी ने चार आदर्श मजदूर-ग्राम बसाये हैं। प्रत्येक मकान में एक कमरा, सामने बरामदा एक रसोई घर, एक स्नानागार और आंगन होता है। पक्की सड़कें बनाई गई हैं जिन पर बिजली की रोशनी का प्रबंध है। पानी के लिए नल का प्रबन्ध है। सड़कों की रोशनी, पानी और सफाई का खर्च कंपनी उठाती है। पश्चिमी बंगाल की भाँति मद्रास-सरकार ने भी एक 'प्रोविंशियल हाउसिंग बोर्ड की स्थापना की है।

कानपुर—के तीन चौथाई मज़दूर बस्तियों या अहातों में रहते हैं। यह अहाते व्यक्तियों की सम्पत्ति हैं। लगभग २०० अहातों में यहां की अधिकांश मजदूर-जनसंख्या निवास करती है। इन अहातों में एक कोठरी और कहीं-कहीं सामने बरामदे वाले बहुत से मकान होते हैं। कोठरियाँ १० फीट लम्बी और ८ फीट चौड़ी होती हैं। हवा और रोशनी तथा सफ़ाई का प्रबन्ध अत्यन्त

असंतोषजनक होता है। पानी और शौच के लिए आम पानी के नलों और शौचगृहों की व्यवस्था होना है जो अत्यन्त नाकाफी और स्वास्थ्य तथा मर्याद की दृष्टि से असंतोषजनक होती है।

कानपुर में मजदूरों के लिए अच्छे मकानों की सुविधा का प्रबंध सबसे पहले ब्रिटिश इंडिया कारपोरेशन ने किया। इस कम्पनी ने एलनगंज और मैक्राबर्टगंज में दो बड़े मजदूर उपनिवेश बसाये हैं। इन उपनिवेशों में १६६० क्वार्टर्स हैं। मकरावर्टगंज दोनों उपनिवेशों में अच्छा है। मकानों की हालत अच्छी है, आस पास सफाई है और चिकित्सा और शिक्षा का भी प्रबंध है। पानी और शौचगृह का भी व्यवस्था है। खेलने के लिए मैदान भी है। इसके अतिरिक्त कानपुर इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट ने भी मजदूरों के लिए कुछ क्वार्टर बनवाए हैं। कुछ अन्य मिल मालिकों ने भी इस ओर प्रयत्न करना चाहा है पर जमीन की कमी से उनका प्रयत्न बहुत सफल नहीं हुआ है। संयुक्त प्रान्त की सरकार ने भी इस ओर ध्यान दिया है।

अहमदाबाद—की भी ठीक ऐसी ही दयनीय दशा है। अधिकांश मजदूर एक कमरे के मकानों में रहते हैं। हवा, पानी का अभाव, गंदगी, पानी और शौचगृह की खराब व्यवस्था, इन मकानों की विशेषता है। मिल मालिकों ने 'अहमदाबाद मिल्स हाउसिंग कम्पनी लिमिटेड' के द्वारा मजदूरों के मकानों की व्यवस्था की है। मकान में एक कमरा, एक रसोईघर और एक बरामदा है। इन मकानों की सफाई, पानी सम्बन्धी व्यवस्था और मरम्मत के बारे में काफी शिकायत है। कुछ मिल मालिकों ने अपनी मिलों के निकट ही 'चालें' बनवाई हैं, पर एक दो को छोड़कर उनकी व्यवस्था भी ठीक नहीं है। अहमदाबाद की लेबर एसोसियेशन ने भी एक मजदूर उपनिवेश का निर्माण किया है। हर मकान में दो कमरे, एक बरामदा और एक आंगन है। इस योजना के अनुसार अन्ततोगत्वा २० वर्ष में मजदूर मकान का स्वयं मालिक हो सकेगा और हर महीने एक निश्चित रकम देनी होती है।

नागपुर—में भी मकानों की व्यवस्था उतनी ही बुरी है जितनी दूसरी जगह। परन्तु एम्प्रेस मिल्स नागपुर ने मजदूर उपनिवेश बनाने की जो योजना हाथ में ली है वह उल्लेखनीय है। मिल ने सरकार से इन्दोरा के समीप २०० एकड़ भूमि लम्बे पट्टे पर ली है और उस जगह कम्पनी २५ लाख रुपया व्यय करके १५०० मकान बनवा रही है। मकान कम्पनी बनवाती है पर मजदूर मासिक किश्तें देता है और अन्ततोगत्वा मकान उसका हो जाता है। प्रत्येक घर में शौचगृह और पानी के नल की व्यवस्था होती है। मजदूर कच्चे मकान भी बना

सकता है, पर मकान का नक्शा कंपनी देती है। कंपनी मजदूर को मकान बनाने के लिए पेशगी रुपया देदेती है और मज़दूर मासिक किश्तों में रुपया चुका देता है। इस उपनिवेश में सार्वजनिक उद्यान, बाज़ार, अस्पताल, स्कूल, मजदूरों की इन्स्टीट्यूट तथा दूसरी संस्थाओं के लिए ज़मीन निश्चित करदी गई है।

चाय के बाग़ों—में (आसाम-बंगाल) भी मकानों की समस्या संतोषजनक नहीं है। अधिकांश मकानों मे एक ही कमरा होता है। मकानों की कुर्सी नीची होने से सीलन रहती है, हवा और धूप की कमी मकानों मे रहती है। सबसे बड़ी कठिनाई इन मकानों के बारे में यह है कि जहाँ यह बने हैं वह ज़मीन चूँकि बागों के मालिकों की है इसलिये वहाँ किसी बाहर के आदमी को इस भय से नहीं जाने दिया जाता कि वह मज़दूरों को भड़कावेगा। वहां के मज़दूर कैदियों की-सी अवस्था में रहते आ रहे हैं।

खानों—में काम करने वाले मज़दूरों के रहने के मकानों की समस्या भी उतनी ही जटिल है जितनी कारखानों के मजदूरों की। बंगाल की कोयले की खानों में मज़दूरों के रहने के मकानों को 'धौरा' कहते हैं। इन 'धौरों' में एक १०'×१०' का कमरा होता है और एक कमरे में दो-दो तीन-तीन परिवार रहते हैं। हवा, पानी, सफ़ाई, शौचगृह, नहाने-धोने का स्थान सभी की व्यवस्था संतोष जनक नहीं है।

जशेमदपुर—में मज़दूरों के मकानों की समस्या को हल करने का अच्छा प्रयत्न किया गया है। जिस भूमि पर जमशेदपुर नगर बसा हुआ है वह टाटा कम्पनी की सम्पत्ति है। नगर का प्रबन्ध कंपनी के देख-रेख में ही होता है। रोशनी, नालियों और सड़कों की सफ़ाई, शिक्षा, चिकित्सा तथा जल की व्यवस्था का व्यय कंपनी ही करती है। मजदूरों के रहने के लिए भी कंपनी ने मकान बनवाये हैं। मकान के चारों ओर छोटा-सा बगीचा होता है और साफ़ शौचगृहों की भी व्यवस्था की गई है। मजदूरों को भी कंपनी रुपया कर्ज़ देकर मकान बनाने के लिए उत्साहित करती है।

कोयले की खानों पर काम करने वाले मजदूरों के लिए भारत-सरकार ने जो कोल माइन्स वेलफेयर फन्ड स्थापित किया है उसका एक उद्देश्य मजदूरों के लिए मकानों की व्यवस्था करना भी है। ये मकान बिहार, बंगाल और मध्य प्रदेश और बरार की खानों के मजदूरों के लिए बनेंगे। कुल ५०००० मकान बनाने की योजना है। ये मकान उपनिवेशों की शकल में बनेंगे। खानों के मालिकों को भी अपनी जमीन पर मकान बनाने की स्वीकृति है। मकान बनाने का खर्च फन्ड देगा और जमीन मिल-मालिक।

मजदूरों के रहने के मकानों की समस्या कितनी विकट है, यह उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होगया होगा। देश के बटवारे ने इस प्रश्न को और भयंकर रूप दे दिया है। इस समस्या का हल देश की आर्थिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सामान की कमी का भी एक प्रश्न है, यद्यपि सरकार उचित मुआवजा देकर मजदूरों के रहने के मकान बनाने के लिए कानून से (लैण्ड एक्वीजीशन एक्ट) सामान प्राप्त कर सकती है। यदि मकान मिलों से दूर बनाये जायें तो यातायात का अच्छा प्रबन्ध हो यह अत्यन्त आवश्यक है ताकि मजदूर को मकान से मिल आने जाने में कठिनाई न हो। उन औद्योगिक केन्द्रों में जो पहले से ही घने आबाद हैं नए कारखाने जहां तक सम्भव हो नहीं खोलने दिये जाएं। पर इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्व की बात यह है कि इस समस्या का हल एक देशव्यापी नीति के आधार पर ही हो सकता है। भारत सरकार और राज्य की सरकारों तथा उद्योगपतियों और मजदूरों सभी के सहयोग की इसमें आवश्यकता होगी। यह आशा की जाती है कि प्लानिंग कमीशन जो योजना देश के लिए तैयार कर रहा है उसमें मकानों की समस्या को हल करने को प्राथमिकता दी जायगी।

सामाजिक सुरक्षा—मजदूर वर्ग के लिए सामाजिक सुरक्षा का प्रश्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम देखते हैं कि मजदूर को अनेकों प्रकार की अनिश्चितताओं और खतरों का सामना करना पड़ता है जैसे बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था, मृत्यु, दुर्घटना जिसके कारण अस्थायी अथवा स्थायी तौर पर मजदूर काम करने के अयोग्य हो जाता है और बच्चा पैदा होना [स्त्रियों के लिए]। प्रत्येक औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्र में इस प्रकार की कानून से व्यवस्था है कि जब भी मजदूर को उपर्युक्त खतरों में से किसी एक या अधिक का सामना करने का अवसर आए तो उसकी आर्थिक तथा दूसरे प्रकार से सहायता की जा सके। उपर्युक्त खतरों में से किसी एक के लिए, जैसे बेकारी, बीमारी आदि, अलग से व्यवस्था हो सकती है और यह भी होता है कि कई मिले जुले खतरों की एक साथ व्यवस्था हो, जैसे बीमारी, बच्चा पैदा होना और चोट लग जाना। इनमें चिकित्सा और डाक्टरी सहायता की आवश्यकता होती है और सभी एक योजना के अन्तर्गत ही व्यवस्था की जासकती है। वास्तव में देखा जाय तो सामाजिक सुरक्षा का सीधा साधा अर्थ यह है कि आज के आधुनिक समाज में कुछ खतरों का समय समय पर प्रत्येक व्यक्ति को सामना करना पड़ता है जिनके लिए व्यक्तिशः वह जिम्मेदार नहीं है और इसलिए समाज का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति विशेष की इन खतरों से सुरक्षा करे। यहां यह बात अवश्य ध्यान में

रखने की है कि सामाजिक सुरक्षा का यह ध्येय कदापि नहीं है कि समाज में उत्पादक श्रम और काम का महत्त्व कम हो जाए और व्यक्तिशः लोग यह सोचने लगें कि जब बीमारी, बेकारी, अथवा वृद्धावस्था में सहायता मिल ही जायगी तो अब काम करने की और उत्पादन की चिन्ता क्यों की जाए। समाज के व्यक्तियों की सुरक्षा का भार लेने का यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता है। वास्तव में बात तो इससे सर्वथा विपरीत है। जिस राष्ट्र में उत्पादन और राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होगी उतना ही सामाजिक सुरक्षा का प्रश्न आसानी से हल हो सकेगा। क्योंकि सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं पर जो व्यय होगा उसकी क्षमता उन्नत और साधन-सम्पन्न राष्ट्र में ही हो सकती है। सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में दूसरी विचारणीय बात यह है कि यद्यपि प्रारम्भ सामाजिक सुरक्षा के अलग-अलग खतरों के लिए अलग-अलग योजना बनाकर किया जा सकता है, पर अन्तिम ध्येय यह होना चाहिये कि राष्ट्रव्यापी सामाजिक सुरक्षा की एक सम्पूर्ण योजना हो जो राष्ट्र के सब लोगों पर लागू हो और जिनका एक आधारभूत सिद्धान्त यह हो कि जब एक व्यक्ति काम करने के योग्य किसी कारण से नहीं रहता है तो उसकी आय का ऐसा निश्चित साधन उसे प्राप्त होना चाहिये कि वह अपना शेष जीवन आराम से व्यतीत कर सके। चर्चिल के शब्दों में—"अनिवार्य बीमा सब लोगों के लिए और सब कामों के लिए—जन्म से मृत्यु तक"। ब्रिटेन की बेवरिज सुरक्षा योजना का भी यही आधारभूत सिद्धान्त है कि कार्य न कर सकने की हालत में व्यक्ति को एक निश्चित आय मिल सके जिससे साधारणतया वह अपना निर्वाह करले। सामाजिक सुरक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पहलू उसपर होने वाले खर्च की व्यवस्था करना है। इस संबन्ध में मूलतः दो आधार प्रचलित हैं—एक सामाजिक बीमा का जिसके अनुसार जिन व्यक्तियों को लाभ मिलता है वही प्रधानतः खर्च के लिए ज़िम्मेदार होते हैं, दूसरा सामाजिक सहायता का जिसके अनुसार खर्च का ज़िम्मा समाज अर्थात् राज्य पर होता है। आज तो सामाजिक सुरक्षा की देशव्यापी योजनाओं में इन दोनों आधारों का समुचित समन्वय होना आवश्यक है। न्यूज़ीलैण्ड, डेनमार्क, स्वीडन तथा दूसरे कुछ देशों में ऐसा है भी।

भारत में सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में अभी कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि भारत में अभी उद्योग-धंधों का बहुत विकास नहीं हुआ है। रोयल कमीशन [लेबर] ने बेकारी सम्बन्धी बीमा तो भारत के लिए व्यावहारिक नहीं समझा और बीमारी के बारे में उसने यह सिफ़ारिश की कि इस सम्बन्ध में विचार करना चाहिये और इस दृष्टि से एक

योजना भी प्रस्तावित की। इस प्रश्न पर बोम्बे टेक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी ने भी विचार किया। और श्रम मंत्रियों के प्रथम तीन सम्मेलनों में भी इस बार में विचार हुआ। आखिरकार भारत सरकार ने मार्च १९४३ में प्रो० बी० पी० अदारकर को औद्योगिक मजदूरों के लिए स्वास्थ्य-बीमा की एक योजना तैयार करने के लिए नियुक्त किया। १९४४ में प्रो० अदारकर की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। भारत सरकार के निमन्त्रण पर अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर दफ्तर ने मिस्टर स्टैक और राव नाम के दो विशेषज्ञों को इसलिए नियुक्त किया कि वे प्रो० अदारकर की रिपोर्ट पर विचार करें अपनी राय भारत सरकार को दें। उन्होंने आवश्यक जांच पड़ताल और विचार विनिमय के बाद अदारकर रिपोर्ट पर कुछ सुझाव दिए जो भारत सरकार द्वारा प्रकाशित किए गए। इसी आधार पर फिर भारत सरकार ने नवम्बर १९४७ में एक बिल उपस्थित किया और १९ अप्रैल १९४८ को यह कानून बन गया। इसी का नाम 'एम्पलोयीज स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट' है। यह एक्ट उन सब कारखानों पर जो मौसमी कारखाने नहीं हैं, लागू होगा और ४००) रु० मासिक तक पाने वाले लोग इसके क्षेत्र में आते हैं। 'एम्प्लाइज स्टेट इन्श्योरेंस कारपोरेशन' नाम की एक स्वतन्त्र संस्था को इस एक्ट के अनुसार कार्य-सञ्चालन का भार दिया गया है। एक्ट के अन्तर्गत मजदूरों को जो लाभ,मिल सकते हैं वे ये हैं—बीमारी लाभ,प्रसूति लाभ,कार्य शक्तिह्रास-लाभ, आश्रित लाभ और चिकित्सा लाभ। फिलहाल कुछ चुने हुए उद्योगों में ही इस एक्ट को लागू करने का निश्चय किया गया है क्योंकि अधिक व्यापक आधार पर लागू करने के लिए पूर्ण व्यवस्था अभी तक हो नहीं सकी है। भारत में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में उठाया गया यह पहला महत्वपूर्ण कदम है। इसके अलावा 'वर्कमैन्स कम्पेन्सेशन एक्ट', मेटरनिटी बेनिफिट्स एक्ट्स, और कोल माइन्स प्रोविडेन्ट फण्ड एण्ड बोनस स्कीम्स एक्ट के अन्तर्गत भी सामाजिक सुरक्षा की कुछ व्यवस्था की गई है। व्यक्तिगत उद्योगपतियों और मिलों ने भी कहीं-कहीं अपने मजदूरों के लिए रिटायरमेंट बेनिफिट स्कीम्स [मेसर्स लीवर ब्रदर्स], एन्यूटी स्कीम [टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी] और प्रोविडेन्ट फन्डों की व्यवस्था की है। रेल्वे कम्पनियों ने भी अपने कर्मचारियों के लिए प्रोविडेन्ट फन्ड आदि की व्यवस्था कर रखी है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में अभी प्रारम्भ मात्र हुआ है और करने को बहुत कुछ बाकी है। देश की निर्धनता, मजदूरों की आर्थिक दृष्टि से असामर्थ्य और तथ्यों तथा आँकड़ों की कमी कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण सामाजिक सुरक्षा का प्रश्न

हमारे देश में और भी अधिक जटिल बना हुआ है। पर हमें इन सब कठिनाइयों को जीतना होगा और भारतीय मजदूर के लिए सामाजिक सुरक्षा की अन्ततोगत्वा समुचित व्यवस्था करनी होगी।

आय और रहन-सहन का दर्जाः—मजदूरों सम्बन्धी अन्तिम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनकी आय का है जिस पर उनके रहन-सहन का दर्जा भी बहुत कुछ निर्भर है। इस सम्बन्ध में भारतीय मजदूर की क्या स्थिति है इस पर अब हम संक्षेप में विचार करेंगे।

मजदूरी के कई आधार होते हैं। दो आधार जो सबसे अधिक प्रचलित हैं वे ये हैं—समय का आधार और काम का आधार। अमुक समय तक काम करने पर अमुक मजदूरी मिलेगी; यह समय का आधार है। और अमुक काम की अमुक मजदूरी मिलेगी, यह काम का आधार है। भारत में अधिकांश धंधों में समय के अनुसार मजदूरी दी जाती है। परन्तु कुछ धंधे ऐसे भी हैं जिनमें काम के अनुसार मजदूरी देने की प्रथा बहुत प्रचलित है, जैसे—वस्त्र-व्यवसाय, इंजीनीयरी सम्बन्धी उद्योग तथा कपड़ा सीने के कारखानों में। कहीं-कहीं उपर्युक्त दोनों पद्धतियों का सम्मिश्रण भी कर दिया जाता है। भारत में ऐसा बहुत कम है। वास्तव में तो होता यह है कि न केवल भिन्न-भिन्न उद्योगों में परन्तु एक ही प्रकार के उद्योग में एक ही स्थान अथवा अलग-अलग स्थान में भिन्न-भिन्न मजदूरी की पद्धति देखने को मिल जाती है।

मजदूरी के सम्बन्ध में दूसरा सवाल मजदूरी के दरों का है। इस बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दूसरे महायुद्ध के कारण भारत के औद्योगिक मजदूरी के ढांचे में बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। युद्धकाल में केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारों का बराबर यह प्रयत्न रहा कि उत्पादन अधिक से अधिक हो और इस दृष्टि से मजदूरों को उनकी आय को बढ़ाकर, बराबर संतुष्ट रखने का प्रयत्न किया। मजदूरों के वेतन सम्बन्धी झगड़ों को सुलझाने के लिए औद्योगिक पंचायतें और कचहरियें नियुक्त की गईं और उन्होंने जो फैसले दिये उनसे मजदूरों को अवश्य लाभ भी हुआ। औद्योगिक पंचायतों के निर्णय के लागू करने के पहले बहुत-से उद्योगों में आधार भूत मजदूरी बहुत कम थी। और कई स्थानों पर मंहगाई-भत्ता मूल वेतन से चार से पांच गुना तक था। पर भारत-सरकार द्वारा केन्द्रीय वेतन कमीशन की सिफारिशें मान लेने से और औद्योगिक पंचायतों के निर्णयों को लागू करने से, देश के औद्योगिक मजदूरों का एक अच्छा अंश आज से कुछ वर्ष पहले जो मूल वेतन पाता था उससे कहीं अधिक मूल वेतन पारहा है। इसी प्रकार सन् १९४७ में जब बोर्ड ऑफ

कन्सीलियेशन की सिफारिशें सरकार ने स्वीकार करली तो कोयले के खानों के मज़दूरों की मज़दूरी में भी यथेष्ट वृद्धि हुई। रीगे कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि अधिकांश सुगठित उद्योगों में मज़दूरों के मूल वेतन में बहुत थोड़ा परिवर्तन हुआ पर जो उद्योग सुगठित नहीं हैं अथवा जो युद्ध के समय में काफी बढ़ें हैं जैसे—कांच अथवा इन्जीनियरी के कारखाने, उनमें मज़दूरों के मूल वेतन में काफी वृद्धि हुई है। कहीं कहीं १००% से भी अधिक। युद्ध के समय जो महंगाई हुई उसकी पूर्ति करने के लिए भारत में मज़दूरों के मूल वेतन में वृद्धि न करके उनको महंगाई भत्ते के रूप में अधिक मज़दूरी दी गई। इसके अलावा मज़दूरों को सस्ते दामों पर खाद्यान्न देने की व्यवस्था भी की गई। महंगाई भत्ते का कोई सर्वमान्य आधार अभी तक निश्चित नहीं हुआ है। अलग अलग स्थानों और अलग अलग उद्योगों में ही नहीं बल्कि एक ही स्थान के एक ही उद्योग के विभिन्न कारखानों में महंगाई भत्ते का अलग अलग आधार पाया जाता है। भारतीय मज़दूरों के मूल वेतन सम्बन्धी मुख्य मुख्य उद्योगों के आंकड़ों को देखने से मालूम पड़ेगा कि आज भी न्यूनतम मूल वेतन ३० रु० मासिक से और न्यूनतम महंगाई भत्ता ७० रु० मासिक से अधिक नहीं है। इसका अर्थ यह है कि कुल मासिक आय १०० रु० मासिक से अधिक नहीं है। उदाहरण के लिए सबसे अधिक आय वस्त्र उद्योग में काम करने वाले मज़दूरों की है। बम्बई में न्यूनतम मूल वेतन ३० रु० और महंगाई भत्ता ५२ रु० और अहमदाबाद में न्यूनतम मूल वेतन २८ रु० और महंगाई भत्ता ७० रु० १९४९ में था। खान के मज़दूरों की आय सबसे कम है और उनमें भी अबरक के खान के मज़दूरों की। पश्चिमी बंगाल में कोयले के खान के मज़दूर की १९४९ में न्यूनतम मूल वेतन १३ रु० और महंगाई २० रु० कुल ३३ रु० मासिक आय थी और बिहार के अबरक के खान मज़दूरों की कुल न्यूनतम मासिक आय २८ रु० (११ रु० वेतन और १७ रु० महंगाई) थी। भारत में मज़दूरों के दर आज भी कितने कम हैं इसका इससे अनुमान लग सकता है। इसी के साथ दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि महंगाई को ध्यान में रखते हुए मज़दूरों की आर्थिक स्थिति में कोई वास्तविक सुधार हुआ है या नहीं। इस सम्बंध में कोई एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। मज़दूरों के लिए काम का क्षेत्र पहले से काफी बढ़ा है और इसलिए मज़दूर वर्ग को पहले से अधिक काम मिलने लगा है। पर जहाँ तक प्रति मज़दूर होने वाली आय का सम्बंध है, जिन उद्योगों में महंगाई के अनुपात में महंगाई भत्ता भी बढ़ता रहा है नीचे की श्रेणी के मज़दूरों की वास्तविक आय बढ़ी है। पर ऐसा बहुत कम जगह हुआ है। रीगे कमेटी का कहना है, सारे देश

को सामने रख कर यदि राय बनाई जाए तो यह कहना होगा कि सबसे कम मज़दूरी पाने वाले जो 'अन स्किल्ड लेबरर' हैं, उनको मंहगाई के कारण बहुत नुकसान नहीं उठाना पड़ा है। कुछ संगठित उद्योगों में—जैसे जूट, बाग, खान, मज़दूर की वास्तविक आय निश्चित रूप से कम हुई है। जो अच्छी श्रेणी के मज़दूर हैं उनके बारे में कुछ अपवादों को छोड़कर जहां मंहगाई के अनुपात में मंहगाई-भत्ता मिलता है, साधारणतया यह कहा जा सकता है उनकी वास्तविक आय में कमी हुई है। मज़दूरों की आय का मूल वेतन और मंहगाई के अलावा एक साधन और है। वह है 'बोनस' मिलने का। बोनस मुनाफे के आधार पर भी दिया जाता है, उपस्थिति के आधार पर भी दिया जाता है, और काम के आधार पर भी दिया जाता है। बोनस का हिसाब मासिक वेतन के आधार पर लगाया जाता है, अर्थात् ४ महीने के वेतन जितना रुपया साल भर में बोनस के रूप में मिलेगा। कई भारतीय उद्योग-धंधों-द्वारा अपने मज़दूरों को 'बोनस' भी दिया जाता है। मज़दूरों की आय का एक और साधन लाभ में हिस्सा मिलना है। भारत-सरकार ने इस विषय पर विचार करने के लिए एक कमेटी भी नियुक्त की थी जिससे कुछ सिफारिशें भी की। परन्तु अभी सरकार ने इस बारे में कोई निर्णय नहीं किया। फिर भी टाटा कंपनी जैसे प्रगतिशील उद्योग-पतियों ने अपने मज़दूरों के लिए लाभ-विभाजन की योजना जारी की है जिसके अनुसार कंपनी के सालाना शुद्ध लाभ का २७½ प्रतिशत मजदूरों को उनके द्वारा कमाई गई मज़दूरी के अनुपात में बांटा जाता है।

मज़दूरों को अपने काम के लिए उचित मजदूरी मिले इसकी कानून द्वारा भी व्यवस्था की जा सकती है। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत कई राष्ट्रों में जैसे इंगलैंड अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि में ऐसे कानून हैं। भारत में भी १९४८ में न्यूनतम मज़दूरी एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार खेती तथा कुछ ऐसे दूसरे उद्योगों में जहां मज़दूरों का अत्यधिक शोषण होता है, सरकार द्वारा न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जा सकती है। पर इस एक्ट के अनुसार अभी कोई कार्य नहीं किया गया है।

मज़दूरी के सम्बन्ध में विचार करते समय एक और प्रश्न प्रस्तुत होता है और वह यह है कि मज़दूरी समय पर चुकाई जाती है या नहीं और उसमें से जुर्माना आदि के रूप में कोई अनुचित कटोतरी करली जाती है या नहीं। भारतीय मज़दूरों को इन बातों के बारे में काफ़ी शिकायत थी। पर १९३६ में जब मज़दूरी चुकारा क़ानून पास कर दिया गया तो इस बारे में सुधार हो गया है। अब मज़दूरों को वेतन समय पर मिल जाता है। मज़दूरी चुकारा कानून

(पेमेन्ट ऑफ वेजेज़ एक्ट) में यह भी प्रतिबंध लगाया गया है कि केवल उन्हीं अपराधों के लिए जुर्माना किया जा सकता है जिनके बारे में पूर्व घोषणा की जा चुकी है। जुर्माना रुपये में दो पैसे से अधिक नहीं किया जा सकता और १५ वर्ष से कम आयु के बालक पर जुर्माना नहीं किया जा सकता।

अब तक हमने भारतीय मज़दूर की आय के सम्बन्ध में विचार किया है। परन्तु केवल इतने से ही उसके रहन सहन के दर्जे का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उसके लिए और भी कई बातों का विचार करना आवश्यक है। सबसे पहली बात तो रहन सहन के खर्च के बारे में है। दूसरे शब्दों में, अगर महँगाई है तो उतनी ही आय में रहन सहन का दर्जा नीचा होगा जितना कि सस्तापन अगर होता तो रहन सहन का दर्जा ऊँचा हो सकता था। दूसरी बात जिसका रहन सहन के दर्जे से सम्बन्ध आता है वह यह है कि परिवार में कितने लोग हैं और उनमें कमाने वालों की संख्या क्या है। तीसरी बात जिसका रहन सहन के दर्जे पर असर पड़ता है वह यह है कि आय के अन्य कोई सहायक साधन हैं या नहीं और जो काम व्यक्ति करता है उसमें वेतन के अलावा और किसी प्रकार की सुविधा जैसे—मकान, शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था है या नहीं। और अन्तिम बात जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भी है वह है खर्च सम्बन्धी आदतों की, कि मज़दूर अपनी आय किन बातों में खर्च करता है और वह समझ बूझकर खर्च करता है या नहीं। क्योंकि केवल इसी बात से किसी व्यक्ति के रहन सहन के दर्जे का पता नहीं लग सकता कि वह खर्च कितना करता है, पर साथ में यह भी देखना होगा कि खर्च किन चीज़ों पर किया जाता है। उपर्युक्त तमाम दृष्टियों से यदि हम भारतीय मज़दूर की स्थिति पर विचार करें तो हमें इस नतीजे पर आना पड़ेगा कि उसके रहन सहन का दर्जा सन्तोषजनक नहीं है। उसकी आय और उसके मुक़ाबले में रहन सहन के खर्च का विचार करने पर हमने देखा कि कुल मिलाकर कुछ नीचे की श्रेणी के मज़दूरों को छोड़कर दूसरों का जहाँ तक सम्बन्ध है, आय की अपेक्षा व्यय अधिक बढ़ा है। दूसरे महायुद्ध के बाद से रहन सहन का खर्च तीन गुने से लेकर कहीं कहीं छः गुने तक बढ़ा है। ज़ाहिर है इस अनुपात में आय नहीं बढ़ी है और इसका असर रहन सहन के दर्जे पर बुरा पड़ा है। जहाँ तक परिवार के लोगों की संख्या और उनमें कमाने वालों की संख्या का प्रश्न है, उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि परिवार की संख्या ५ से ७ व्यक्तियों तक मानी जाना चाहिए और उनमें कमाने वालों की संख्या प्रायः १½ से २ आदमी के बराबर की मानना चाहिये। इन परिवारों के मासिक आय सम्बन्धी आंकड़ों से पता चलता है कि

यह आय प्रायः ६० और ७० रु० मासिक के आस-पास है। यद्यपि बम्बई और जमशेदपुर जैसे स्थानों में १०० रु० मासिक के आस-पास और अहमदाबाद जैसे स्थान में १३४ रु० मासिक तक भी यह आय पाई जाती है। अहमदाबाद में चूंकि परिवार के लोगों की संख्या भी ५ से कुछ कम है और उनमें कमाने वालों की संख्या भी १½ से कुछ अधिक ही है और रहन-सहन का खर्च भी लगभग ३½ गुना बढ़ा है [युद्ध के पूर्व समय से], इसलिये यह कहा जा सकता है कि अहमदाबाद में मज़दूरों की स्थिति सब जगह से अच्छी है। जहां तक विभिन्न चीज़ों पर होने वाले खर्च का सम्बन्ध है, यह पता चलता है कि परिवार की आय का ५० प्रतिशत से अधिक और प्रायः ६० प्रतिशत और कहीं-कहीं तो ७० प्रतिशत और ८० प्रतिशत के आस-पास तक भोजन पर खर्च हो जाता है। ईंधन पर प्रायः ७-८ प्रतिशत और कहीं कहीं १०-१२ प्रतिशत तक व्यय होता है। हां, झरिया के खान-मज़दूरों का खर्च ३ प्रतिशत से भी कम आता है। मकान पर व्यय ३ प्रतिशत के लगभग से ७ प्रतिशत तक जाता है। प्रायः ३ प्रतिशत से ५ प्रतिशत खर्च माना जा सकता है। कपड़ों पर अधिकतर खर्च १० प्रतिशत से १२ प्रतिशत के आस-पास है। प्रायः १५ प्रतिशत से २० प्रतिशत खर्च दूसरी बातों पर माना जाना चाहिये। मज़दूर-परिवारों के खर्चों के उपर्युक्त चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज भारतीय मज़दूर अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं पर ही अपनी आय का एक बहुत बड़ा भाग व्यय करता है। इससे उसके रहन-सहन के दर्जे पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका रहन-सहन का दर्जा संतोषजनक नहीं है। यह अवश्य है कि मज़दूरी बढ़ने के कारण कहीं-कहीं मज़दूरों ने पहले की अपेक्षा कुछ ऊँचे दर्जे का अनाज और कपड़ा आदि काम में लाना आरम्भ कर दिया है, पर इससे उसके रहन-सहन के स्तर में कोई मौलिक अन्तर आया हो ऐसा नहीं माना जा सकता। उसकी मकान शिक्षा, स्वास्थ्य, और मनोरंजन सम्बन्धी स्थिति का हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि कुल मिलाकर वह बड़ी असंतोषजनक है। जिस प्रकार का भोजन करने को उसे मिलता है वह भी स्वास्थ्यप्रद नहीं है। प्रायः एक बार तो वह बासी भोजन ही करता है। दूध और साग-सब्ज़ी जैसे पौष्टिक पदार्थों का उसके भोजन में अभाव-सा है। भोजन बनाने का ढंग अच्छा नहीं है। इसके अलावा दिन भर की अपनी थकान उतारने के साधन स्वस्थ मनोरंजन के स्थान पर शराब पीना या अश्लील सिनेमा देखना मात्र है। मज़दूर के जीवन की इन तमाम बातों की जब हम एक साथ कल्पना करें तो समझ सकते हैं कि वास्तव में उसके रहन-सहन का दर्जा कैसा है और

उसमें किनने सुधार की आवश्यकता है। आज तो भारतीय मज़दूर का रहन सहन का स्तर अत्यन्त अस्वास्थ्यकर और नीचा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

ऋण — भारतीय मजदूर के आर्थिक जीवन के चित्र को पूरा करने के लिए उसके ऋण सम्बन्धी स्थिति का भी थोड़ा ज्ञान होना आवश्यक है। भारतीय मजदूर और विशेषतया जो कारखानों में काम करते हैं प्राय कर्ज़दार होते हैं। आय की अपर्याप्तता ही इसका एक मात्र कारण नहीं, है क्योंकि जिनकी आय अपेक्षाकृत अच्छी है, वे अधिक ऋणग्रस्त भी हैं। उदाहरण के तौर पर अहमदाबाद जैसे स्थान में जहां आय अच्छी है, ऋण में कोई कमी नहीं है। मज़दूरों के ऋण सम्बन्धी जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनसे पता लगता है कि बम्बई में ६४ १ प्रतिशत जलगाव में ६० ७, प्रतिशत शोलापुर में ८३ ७, प्रतिशत कलकत्ते में ४१ ५, जमशेदपुर में ६१ २, प्रतिशत और भरिया में २८ ३, परिवार कर्ज़दार हैं और औसत ऋण प्रति परिवार बम्बई में लगभग १२५ रु०, जलगाव में २२७ रु०, कलकत्ते में ११७ रु०, जमशेदपुर में २३५ रु० और भरिया में २८ रु० पाया गया। रॉयल कमीशन का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि मज़दूर की बुरी और फजूल खर्च करने की आदत भी उसके कर्ज़दार होने का एक कारण है, पर मूल कारण उसकी अपर्याप्त आय ही है। जहां तक कि प्रथागत खर्चों का प्रश्न है, रॉयल कमीशन का कहना है कि मज़दूर को ये खर्चे करने ही पड़ेंगे और इसलिए अच्छा यह है कि उनको सामने रखकर ही उसकी आय के बारे में निर्णय करना चाहिये। 'जॉबर' पर मज़दूर की निर्भरता भी उसके ऋण की समस्या को थोड़ा पेचीदा बनाती है। रॉयल कमीशन ने तो यह भी लिखा है कि यदि मज़दूर को ऋण मुक्त करने के प्रयत्न किये जायँ तो वे उसमें सहयोग देते हैं, यदि उनको इसकी आवश्यकता अच्छी तरह से समझाने का प्रयत्न किया जाये। सरकारी साख-समितियों के प्रचार, उचित शिक्षण और उचित क़ानूनी संरक्षण से इस समस्या का हल हो सकता यदि इसी के साथ साथ मजदूरों की आय में आवश्यक वृद्धि करने के प्रयत्न भी किये जायँ।

भारतीय मजदूर की कार्य कुशलता —भारतीय औद्योगिक मज़दूर के विषय में प्राय यह कहा जाता रहा है कि दूसरे देशों के मज़दूरों की अपेक्षा उसमें कार्यक्षमता कम है। अधिकांश भारतीय उद्योगपति तो उसे कम वेतन देने का यही औचित्य उपस्थित करते हैं। भारतीय मजदूर की कार्य-कुशलता की कमी के बारे में अब तक जो कुछ कहा और लिखा जाता रहा है उससे भारतीय मज़दूर के प्रति बहुत बड़ा अन्याय हुआ है। यदि हम मज़दूर की कार्य कुशलता का अनुमान प्रति मजदूर होने वाले उत्पादन से लगाते हैं, तो सबसे पहले तो हमें

यह ध्यान रखना चाहिये कि उत्पादन का परिणाम किन-किन बातों पर निर्भर रहता है। उसके लिये केवल मजदूर ही ज़िम्मेदार नहीं होता। जिन परिस्थितियों में मज़दूर काम करता है, जिस तरह का सामान काम करने के लिये उसे मिलता है, जैसी मशीनों पर उसे काम करना पड़ता है, कारखाने में जैसी व्यवस्था है और जितना वेतन उसे मिलता है—इन सभी बातों का उत्पादन पर असर पड़ता है। फिर मजदूर का भी जहां तक सम्बन्ध आता है उसमें उसकी शिक्षा कैसी हुई है, उसको कैसा भोजन मिलता है, उसके रहने का कैसा मकान है, उसके मनोरंजन की क्या व्यवस्था है, बीमार पड़ने पर उसकी चिकित्सा की कैसी व्यवस्था है और उसके आस-पास का जीवन कैसा है—इन सब बातों का असर पड़ता है। अस्तु, अगर किसी की यह मान्यता हो कि उपर्युक्त सब बातों में भारतीय मज़दूर और दूसरे देश के मज़दूर की परिस्थिति में जो अन्तर है उसके लिए गुंजाइश छोड़ने के बाद भी, भारतीय मज़दूर में कुछ ऐसी प्रकृतिदत्त कमी है कि वह दूसरे देश के मज़दूरों की अपेक्षा कम कार्य-कुशल है तो यह सर्वथा निराधार और भ्रमोत्पादक बात है। सच पूछा जाए तो भारतीय मज़दूर की कार्य-क्षमता के बारे में परीक्षण तो नहीं के बराबर ही हुए हैं और उसकी कार्य-कुशलता की कमी के बारे में जो उदाहरण अबतक दिये जाते रहे हैं, वे बिना उसकी परिस्थिति का ध्यान रखे केवल ऊपर ही ऊपर की बातों के आधार पर दिये जाते रहे हैं। कई उदाहरण तो मजदूरों के शोषण करने के लिए औचित्य स्थापित करने की दृष्टि से ही उद्योग-पतियों द्वारा दिये जाते हैं, जैसे-यह उदाहरण कि लंकाशायर की एक औसत लड़की वस्त्र बुनने का छह भारतीय मजदूरों के बराबर काम कर सकती है। औद्योगिक कमीशन के सामने सर एलेक्ज़ेंडर मैकरोबर्ट ने कहा था कि अंग्रेज मज़दूर भारतीय मजदूर से चौगुना कार्य-कुशल है। सर क्लिमेंट सिम्पसन का अनुमान था कि लंकाशायर मिल का एक मजदूर भारतीय मजदूर से २·६७ गुना कार्य कुशल है। पर डा० गिलबर्ट स्लेटर का यह कहना है कि इस तुलना में भारतीय मज़दूर की अक्षमता अतिरंजित रूप में दिखाई गई है। एक करघे पर भारत और इंगलैंड में कितने मज़दूर काम करते हैं, केवल इसी पर से दोनों देशों के मज़दूरों की कार्यकुशलता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। भारत में मज़दूरी कम होने से अधिक मज़दूर लगाने में लाभ होता है जबकि इंगलैंड में ऐसा नहीं है। भारतीय मज़दूर के बारे मे सर टामस हालैंड लिखते हैं "भारतीय मज़दूर से किसी भी उद्योग में, जो इस देश में चल सकता है. काम लिया जा सकता है। मैंने जमशेदपुर मे उन मजदूरों को देखा है जो कुछ वर्ष पहले जंगलों में रहते थे। अब वे लोहे और इस्पात के कारखानों में उसी योग्यता

परिच्छेद ४

मजदूर-कानून

आज के औद्योगिक राष्ट्रों के आर्थिक जीवन का यदि हम अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि उनमें अनेक प्रकार के मजदूर-कानून मौजूद हैं। मजदूरों सम्बन्धी कानून की आवश्यकता इसलिए होती है कि देश का पूंजीपति-वर्ग अपने तात्कालिक स्वार्थों के वशीभूत होकर मजदूर वर्ग का शोषण न कर सके, और मजदूरों का आर्थिक हित सुरक्षित रखा जा सके। जैसे जैसे मजदूर संगठन शक्ति शाली होता है, इस प्रकार के कानून अधिकाधिक पास होते जाते हैं, क्योंकि मजदूरों की संगठित शक्ति के सामने मजदूरों के हितों की अवहेलना करना किसी भी सरकार के लिए संभव नहीं हो सकता। जो जनतन्त्रीय देश हैं वहां की सरकारों पर तो वैसे ही मजदूर वर्ग का, जो पर्याप्त संख्या में होता है प्रभाव होता है। जबसे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना हुई है, मजदूरों सम्बन्धी कानूनों को ओर भी अधिक प्रोत्साहन मिला है। भारत में भी प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मजदूर कानून की ओर विशेष ध्यान गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ का भारत भी सदस्य है, अस्तु इसका भी असर मजदूर कानूनों को प्रोत्साहन देना हुआ है। भारतीय मजदूरों में अपने अधिकारों के प्रति जो चेतना उत्पन्न हुई और मजदूर संगठन जैसे-जैसे शक्ति शाली बना, मजदूर कानूनों की माग देश में बढ़ने लगी। १९३७ में जब प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें स्थापित हुई तो मजदूर-कानूनों के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रगति हुई। कई प्रान्त, जैसे बम्बई, संयुक्तप्रान्त (उत्तर प्रदेश) बिहार, मध्य प्रान्त में मजदूर कमेटियों की नियुक्ति हुई। इन्होंने मजदूरों सम्बन्धी स्थिति की जानकारी की और उसमें सुधार के अनेक उपाय सुझाये। भारत सरकार ने भी मजदूर जांच कमेटी (रिगे कमेटी) की नियुक्ति की जिसने देश के मजदूरों के सम्बन्ध में गहरा अध्ययन किया और अनेकों रिपोर्टों में अपने इस अध्ययन का परिणाम प्रकाशित किया। इन सब बातों का असर मजदूर कानूनों पर भी पड़ा और पिछले वर्षों में इस दिशा में भारत में काफी प्रगति हुई है। देश की स्वाधीनता ने इस प्रगति के मार्ग को और भी अधिक प्रशस्त कर दिया है। अब हम मुख्य मुख्य मजदूर-कानूनों का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत करेंगे।

फैक्टरी एक्ट १९४८—भारत में प्रथम फैक्टरी एक्ट १८८१ में पास हुआ था। उसके बाद से फैक्टरी-कानून में कई बार परिवर्तन हो चुके हैं और

प्रत्येक नए कानून में पहले की अपेक्षा बहुत कुछ सुधार होता रहा है। इस समय जो कानून देश में लागू है वह १६४८ में पास हुआ था। इस १६४८ के फेक्टरी एक्ट की मुख्य-मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं:—

चेत्र—यह एक्ट उन तमाम औद्योगिक कारखानों पर लागू होता है जहां यदि शक्ति का प्रयोग होता है तो दस या दस से अधिक और अन्यथा बीस या बीस से अधिक मजदूर काम करते हैं। राज्य की सरकारों को यह अधिकार है कि काम करने वालों की संख्या का अथवा शक्ति के उपयोग का ध्यान रखे बिना ही वे किसी भी कारखाने पर इस एक्ट को लागू कर सकती हैं। इस संबंध में एक अपवाद अवश्य है कि यदि किसी कारखाने में परिवार के सदस्यों के द्वारा ही काम होता है तो उस पर यह एक्ट लागू नहीं किया जा सकता। मौसमी और सालभर चलने वाले कारखानों में जो अब तक भेद था वह इस एक्ट में नहीं रहा है।

स्वास्थ्य, रक्षा और भलाई—इस एक्ट में मजदूरों के स्वास्थ्य-सम्बन्धी कई धारायें हैं जिनका उद्देश्य है कारखाने में सफाई-उत्पादन-क्रिया के समय उत्पन्न होने वाली गंदगी को हटाना, शुद्ध हवा और उचित ताप मान का प्रबन्ध करना, गर्मियों में पीने के लिए ठंडे जल की व्यवस्था करना, कृत्रिम उपायों द्वारा पैदा की गई नमी की मात्रा को अत्यधिक न होने देना, प्रकाश, शौचगृह और पेशाब-घरों की व्यवस्था करना, भीड़ को रोकने का प्रबन्ध करना तथा थूकने के लिए जगह-जगह स्पिट्न्स की व्यवस्था करना। भीड़ को रोकने के लिए एक्ट में यह अनिवार्य कर दिया गया है कि एक्ट के लागू होने के पश्चात् जो फेक्टरी बनी हो उसमें प्रति मजदूर ५०० क्यूबिक फिट और दूसरी फेक्टरियों में ३५० क्यूबिक फिट कमसे कम स्थान होना चाहिये।

मजदूरों की रक्षा सम्बन्धी भी एक्ट में कई धाराएं हैं। जैसे मशीन के चारों ओर घेरा करना, जब मशीन चल रही हो और उसके चारों ओर घेरा न हो तो उस पर काम करने अथवा उसके निकट जाने पर रोक लगाना, खतरनाक मशीनों पर बालकों के काम करने पर प्रतिबन्ध लगाना, स्वचालित मशीनों के आस-पास पर्याप्त स्थान छोड़ना ताकि जब वे काम कर रही हों तो जगह की कमी के कारण कोई दुर्घटना न हो सके; नई मशीन को सुरक्षित रखने का दायित्व मिल-मालिक के साथ-साथ मशीन बेचने वाले पर भी डालना। ये कुछ ऐसी बातें हैं जिनका मजदूरों की रक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो फेक्टरी एक्ट में समाविष्ट की गई हैं। इनके अलावा रक्षा संबंधी और भी धाराएं हैं। उत्पादन करते समय कई प्रकार की धूल पैदा होती है या ऐसी गैस आदि काम में आती

और इस सम्बन्ध में तमाम आवश्यक पूछताछ करने और रजिस्टर आदि रखने का भी उनको अधिकार है। भारत सरकार का फैक्टरी एक्ट को पालन कराने का कोई कर्त्तव्य नहीं है, पर फिर भी उन्होंने सलाह प्राप्त करने की दृष्टि से चीफ एडवाइजर फैक्टरीज का एक दफ्तर स्थापित कर रखा है।

१६४८ के फैक्टरी एक्ट की एक विशेषता यह है कि जहां १६३४ के एक्ट में बहुत सा काम राज्य की सरकारों पर, जिन्हें एक्ट के अन्तर्गत नियम बनाने का अधिकार था, छोड़ दिया गया था। इस एक्ट में मजदूरों की स्वास्थ्य रक्षा और भलाई सम्बन्धी कम से कम आवश्यकताओं को एक्ट में ही समावेश कर लिया गया है।

मध्यप्रांत और मद्रास के अनियंत्रित **फैक्टरी कानून**—१६३४ का फैक्टरी कानून उन्हीं कारखानों में लागू होता था जहां २० या इससे अधिक आदमी काम करते हों और यांत्रिक शक्ति का (बिजली, भाप, गैस) उपयोग होता हो। प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार अवश्य था कि वे ऐसे स्थानों पर भी यह एक्ट लागू कर दें जहां १० या उससे अधिक आदमी काम करते हों फिर चाहे यांत्रिक शक्ति का उपयोग होता हो या न होता हो। कई प्रान्तीय सरकारों ने अपने इस अधिकार का उपयोग भी किया। शाही मजदूर कमीशन (१६३१) ने यह सिफारिश की थी कि जिन कारखानों में यांत्रिक शक्ति का उपयोग नहीं होता है उनके नियन्त्रण के लिए एक पृथक कानून ही बन जाना चाहिये। यद्यपि भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में कोई देशव्यापी क़ानून नहीं बनाया, पर मध्य प्रांत की सरकार ने १६३७ में और मद्रास सरकार ने १६४७ में इस प्रकार के कानून अवश्य बनाए। इन कानूनों का उद्देश्य उन फैक्टरियों में जिनमें १६३४ का फैक्टरी एक्ट लागू नहीं होता था काम, करनेवाले मजदूरों की काम करने की परिस्थितियों का नियन्त्रण करना था। मध्य प्रान्त का कानून १६३४ के फैक्टरी एक्ट से बाहर के उन कारखानों में लागू होता है जिनमें ५० या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हों, और जहां बीड़ी बनाना, लाख तैयार करना और चमड़ा कमाने का धन्धा होता हो। सरकार को यह भी अधिकार है कि वह यह क़ानून दूसरे धन्धों में भी लागू कर दे। मद्रास का कानून मध्य प्रांत के कानून की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक है। यह कुछ ऐसे निश्चित धन्धों और दस्तकारियों पर लागू होता है जहां १ या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं और जो १६३४ के फैक्टरी एक्ट के क्षेत्र के बाहर हैं। सरकार को यह अधिकार है कि वह इस कानून का क्षेत्र व्यापक कर दे। मध्य प्रांत के कानून में अधिक से अधिक एक दिन में काम के घण्टे प्रौढ़ों के लिए १०, स्त्रियों के लिए ६ और

बालकों के लिए ७ निश्चित किये गये हैं और पांच घण्टे के लगातार काम के पश्चात् कम से कम आधे घण्टे का विश्राम आवश्यक है। १० वर्ष से कम आयु के बालक को काम पर नहीं लगाया जा सकता और १४ वर्ष की आयु तक वह बालक की श्रेणी में ही गिना जाता है। स्त्रियों और बालकों को किस समय काम पर लगाया जा सकता है इसका भी नियंत्रण किया गया है। साप्ताहिक अवकाश (हौली डे) की भी एक्ट मे व्यवस्था है। मद्रास एक्ट में काम के घण्टे दिन में अधिक से अधिक ६ और सप्ताह में ४८ तथा दिन भर में काम के कुल समय का विस्तार १० घण्टे निश्चित किया गया है। साप्ताहिक अवकाश की भी एक्ट में व्यवस्था है। बारह महीने की लगातार सेवा के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति १२ दिन की सवेतन छुट्टी ले सकता है। १२ दिन की बीमारी की और १२ दिन की आकस्मिक छुट्टी भी साल भर मे हर एक व्यक्ति को मिल सकती है। स्वास्थ्य और रक्षा संबन्धी धाराएं भी एक्ट में दी गई हैं।

चूंकि १९४८ के फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत उन कारखानों का समावेश भी हो गया है जहां यांत्रिक शक्ति का प्रयोग नहीं होता है और २० या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं, इसलिए अलग-अलग राज्यों में इस प्रकार के कानून बनने की आवश्यकता अब नहीं रही है।

भारतीय खान क़ानून—भारतीय खान कानून सबसे पहले १९०१ में पास किया गया था। उसके पश्चात् १९२३ में एक नया क़ानून पास हुआ। इस क़ानून में भी कई बार संशोधन हो चुके हैं। शाही मज़दूर कमीशन द्वारा की गई सिफ़ारिशों को ध्यान में रखते हुए १९३५ में इस कानून में काफी महत्त्व-पूर्ण संशोधन किये गये। उसके पश्चात् भी कई बार इस कानून में संशोधन हो चुके हैं। इस समय जो क़ानून है उसकी मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—

(क) यह क़ानून सब खानों पर लागू होता है। 'खान' की कानून की परिभाषा भी दे दी गई है उसके अनुसार कोई भी खुदाई जो खनिज पदार्थ ढूँढने और प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाए खान की परिभाषा में आ जाती है।

(ख) जो व्यक्ति भूमि पर काम करते हैं वे दिन में अधिक से अधिक १० घण्टे और सप्ताह में अधिक से अधिक ५४ घण्टे काम कर सकते हैं। काम करने के कुल समय का विस्तार अधिक से अधिक १२ घण्टे निश्चित किया गया है जिसमें ६ घण्टे काम करने के पश्चात् एक घण्टा विश्राम का भी शामिल है। जो खान के अन्दर काम करते हैं उनके लिए सप्ताहिक काम के घन्टे तो इतने ही हैं जितने खान के ऊपर काम करनेवालों के लिए, पर दिन भर में काम के घण्टे और कुल

काम के समय के विस्तार में अन्तर किया गया है और इन दोनों का अधिकतम समय ६ घण्टे निश्चित किया गया है। कोई भी व्यक्ति खान में सप्ताह भर में ६ घण्टे से अधिक काम नहीं कर सकता। जो व्यक्ति देख भाल और प्रबन्ध आदि का काम करते हैं उन पर उपर्युक्त प्रतिबन्ध लागू नहीं होते।

(ग) १५ वर्ष से कम आयु के बालक को काम पर नहीं लगाया जा सकता और १७ वर्ष से कम आयु वाला को भूमि के नीचे उसी दशा में काम करने की इजाजत है जब कि वे उसके लिए डाक्टरी जाँच से योग्य ठहराये जायें।

(घ) स्त्रियों को खानों के अन्दर काम करने की मनाही ७ मार्च, १९२९ को बने नियम के अनुसार की गई थी, और १ जुलाई १९३९ तक सब स्त्रियाँ खान के अन्दर काम करना बन्द करदें यह आवश्यक था। परन्तु युद्ध के समय कोयले की कमी के कारण भारत सरकार ने अस्थायी रूप से स्त्रियों को खानों के अन्दर काम करने की फिर आज्ञा दे दी। १ फरवरी १९४६ से यह आज्ञा रद्द हो गई है और अब स्त्रियों को खानों के अन्दर काम करने की आज्ञा नहीं है।

(ङ) खान कानून में पीने के लिए यथेष्ट जल, चिकित्सा के साधन और उपयुक्त सफाई सम्बन्धी व्यवस्था करने के लिए आवश्यक धाराओं का समावेश किया गया है। स्नान के लिए पुरुषों और स्त्रियों के लिए अलग अलग प्रबन्ध करना अनिवार्य है। कानून के अनुसार शिशुगृह के लिए भी व्यवस्था करना आवश्यक है।

(च) खान मजदूरों की सुरक्षा की दृष्टि से एक्ट के तत्वावधान में बहुत से नियम बनाए गए हैं।

(छ) इस एक्ट को पालन कराने का जिम्मा केन्द्रीय सरकार का है जो खानों का चीफ इन्सपेक्टर नियुक्त करती है और उसके अधीन और बहुत से निरीक्षक होते हैं। केन्द्रीय सरकार को नियमादि बनाने का भी अधिकार है। प्रमुख खान प्रदेशों में खान मंडल (माइनिंग बोर्ड) स्थापित किये जा सकते हैं। इन मंडलों में मजदूर, खान मालिक और सरकार तीनों के प्रतिनिधि होते हैं। इनका काम खानों सम्बन्धी नियम आदि बनाना तथा दूसरे मामलों में सरकार के चाहने पर उनकी सहायता करना है।

खान सम्बन्धी कानून में और संशोधन करने की बात सरकार के विचाराधीन है। इस प्रश्न पर कोयले की खानों सम्बन्धी औद्योगिक समिति (इंडस्ट्रियल कमेटी ऑन कोल माइनिंग) ने भी विचार किया था और कुछ सिफारिशें की थीं जो सरकार के विचाराधीन प्रस्तुत की गई थीं। उनके आधार पर कुछ संशोधनों

के साथ दिसम्बर १६४६ में खान-मज़दूरों सम्बन्धी बिल संसद में पेश किया जा चुका है।

बाग़ों में काम करने वाले मज़दूरों सम्बन्धी क़ानून:—आसाम के चाय के बाग़ों में प्रारम्भ से ही मज़दूरों के अभाव की समस्या रही। क़ानून की सहायता से इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया। सन् १८६३ से १९०१ तक इस सम्बन्ध में जो क़ानून पास हुए वे मज़दूरों की अपेक्षा बाग़ों के मालिकों के स्वार्थों की अधिक रक्षा करने वाले थे। उन्होंने अनुबद्ध (इंडेंचर्ड) मज़दूरों की एक ऐसी दूषित प्रथा को जन्म दिया जिसके अनुसार प्रसंविदा भंग (ब्रीच श्राव कान्ट्रेक्ट) के अपराध में मज़दूरों को सज़ा दी जा सकती थी और बाग़ के मालिकों को उन्हें गिरफ़्तार करने का अधिकार था। आखिरकार १६०१ में आसाम-मज़दूर और प्रवासी क़ानून पास किया गया। इसका उद्देश्य आसाम के बाग़ों के लिए अनुबद्ध मज़दूर की भर्ती का नियंत्रण करना था। १६०८ और १९१५ में इस क़ानून में संशोधन किये गये। इन क़ानूनों का एक लक्ष्य अनुबद्ध मज़दूर-प्रणाली का अन्त करना था। पर वास्तव में इस प्रणाली का अन्त १९२६ में हुआ जबकि मज़दूर प्रसंविदा भंग क़ानून (वर्कमेन्स ब्रीच श्राव कन्ट्रेक्ट एक्ट) रद्द कर दिया गया। शाही मज़दूर कमीशन ने भी आसाम के बाग़ों के लिए मज़दूरों को भरती के प्रश्न पर विचार किया था और कई सुझाव भी प्रस्तुत किये। इन सुझावों को ध्यान में रखते हुए ही १६३२ में 'टीडिस्ट्रिक्टस एमीग्रेशन लेबर एक्ट' पास किया गया और १ अक्तूबर १६३३ से यह एक्ट लागू किया गया। यह एक्ट आसाम के बाग़ों में काम करने वाले मज़दूरों की भरती और उन्हें आसाम भेजने के सम्बन्ध में है। चाय के बाग़ों में मज़दूरों के काम करने की परिस्थिति का यह एक्ट नियंत्रण नहीं करता है। इस क़ानून की मुख्य-मुख्य बातें ये हैं—

(क) राज्य की सरकारें केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में किसी भी क्षेत्र को नियंत्रित प्रवास-क्षेत्र (कन्ट्रोल्ड एमीग्रेशन एरिया) घोषित कर सकती हैं। इन क्षेत्रों से सहायता प्राप्त प्रवासी (एसिस्टेड एमीग्रेन्टस) लायसेंस प्राप्त एजेन्टों के द्वारा ही, जो बाग़ के किसी मालिक की ओर से काम करता है, आसाम भेजे जा सकते हैं। ये उन्हीं निश्चित मार्गों से जिन पर एजेन्ट ने भोजन और ठहरने आदि की व्यवस्था कर रखी है आसाम भेजे जा सकते हैं।

(ख) केन्द्रीय सरकार की अनुमति से राज्य की सरकारें किसी भी नियंत्रित प्रवास-क्षेत्र का या उसके किसी भाग को सीमित भर्ती क्षेत्र (रेस्ट्रिक्टेड रिक्रूटिंग एरिया) भी घोषित कर सकती हैं। इस क्षेत्र में लायसेंस प्राप्त

फोरवर्डिङ्ग एजेन्ट, या लायसेंस प्राप्त भर्ती करने वाला, या बागों का सरदार हो, जिसके पास चाय के बाग के मालिक का प्रमाणपत्र हो, किसी व्यक्ति को सहायता प्राप्त प्रवासी के तौर पर आसाम जाने के लिए सहायता दे सकता है।

(ग) १६ वर्ष से कम आयु के बालकों को आसाम जाने के लिए उसी दशा में सहायता दी जा सकती है जबकि उनके साथ उनके माता पिता या अन्य व्यक्ति जिन पर वे निर्भर हैं, हों। विवाहित स्त्री को, जो अपने पति के साथ रहती है, पति की अनुमति के बिना आसाम में जाने को सहायता नहीं दी जा सकती।

(घ) प्रत्येक प्रवासी मजदूर और उसका परिवार इसका अधिकारी है कि आसाम में तीन वर्ष काम कर लेने के पश्चात् चाय के बाग के खर्च पर बाग से अपने घर भेज दिया जाय। विशेष परिस्थिति में उसे जल्दी आने का अधिकार भी है। बाग के मालिक को रेल आदि के किराये के अलावा यात्रा के दिनों का निर्वाह-व्यय भी देना होता है।

(ङ)एक्ट में निश्चित कर्त्तव्यों को पालन कराने का काम भारत-सरकार द्वारा नियुक्त 'कन्ट्रोलर आव एमाग्रेन्ट लेबर' नाम के अधिकारी का है जिसको एक या अधिक सहायक का सहायता भी मिल सकती है। कन्ट्रोलर अपने दूसरे कामों के साथ साथ प्रवासी मजदूरों की भर्ती और उनकी वापसी (रिपेट्रियेशन) पर भी निगरानी रखता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह एक्ट बागों के मजदूरों के काम की परिस्थितियों का निर्यन्त्रण नहीं करता। इस प्रकार के एक कानून बनाने का प्रश्न बागों सम्बन्धी औद्योगिक कमेटी के (जो जनवरी १६४७ में स्थापित की गई थी और जिसका काम बागों के मजदूरों सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करना और भारत सरकार को सलाह देना है) सामने है। बागों सम्बन्धी कानून का एक मसविदा भी तैयार किया गया है और बागों सम्बन्धी औद्योगिक कमेटी ने अपने तीसरे अधिवेशन में (४ नवम्बर १६४८) इस पर विचार किया है। बागों सम्बन्धी तमाम आवश्यक बातों का इस कानून में समावेश होगा, जैसे मजदूरों के काम के घंटे, उनकी भलाई के काम जिनमें उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य चिकित्सा, मातृत्व लाभ, जलपान गृह, शिशुगृह, पीने का पानी, मनोरंजन साधन आदि सभी बातों का समावेश हो जाता है, तथा उनके मकान की व्यवस्था आदि। जहां तक मजदूरी का प्रश्न है वह इस कानून में नहीं आयेगा क्योंकि उसके लिए न्यूनतम मजदूरी एक्ट (१६४८) पहले से ही पास हो चुका है। फेक्टरीज़—जो फेक्टरी कानून के अन्तर्गत आती हैं—इस प्रस्तावित कानून के क्षेत्र से बाहर रहेंगी।

भारतीय रेलवे एक्ट १८६०—रेलवे में काम करने वाले उन व्यक्तियों के अलावा जिन पर फैक्टरी एक्ट या खानों सम्बन्धी कानून लागू होता है, बाक़ी के लगभग सब लोगों पर भारतीय रेलवे एक्ट लागू होता है। यह एक्ट १६३० में संशोधित हुआ था। जिन लोगों पर यह एक्ट लागू होता है उनको दो श्रेणियों में बांटा गया है—एक श्रेणी उन लोगों की है जिनका काम निरंतर चलता रहता है और बीच-बीच में रुकता नहीं है। दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं जिनका काम रुक जाता है। इस एक्ट के अनुसार पहले श्रेणी के लोगों के काम के घंटे महीने के औसत के हिसाब से सप्ताह में ६० और दूसरी श्रेणी के लिए सप्ताह में ८४ निश्चित किये गए हैं। सब रेलवे कर्मचारियों को हर सप्ताह में इतवार के दिन से आरंभ करके कम से कम २४ घन्टे का लगातार विश्राम मिलना आवश्यक है। विश्राम संबंधी यह नियम उपर्युक्त दूसरी श्रेणी के कर्मचारियों और उन दूसरे लोगों पर, जिनके लिए सरकार ने विश्राम का कम समय निश्चित कर रखा है, लागू नहीं होता। विशेष परिस्थिति में सरकार को काम के घन्टे और विश्राम सम्बन्धी नियमों से मुक्ति देने का भी अधिकार है। निर्धारित समय से अधिक काम करने पर सवाई मज़दूरी देना आवश्यक है। सरकार को इस एक्ट के अन्तर्गत नियम बनाने का भी अधिकार है और इन नियमों को 'रेलवे कर्मचारी काम के घन्टों सम्बन्धी नियम' का नाम दिया गया है। एक्ट और नियम दोनों का सम्मिलित नाम 'अवर्स ऑव एम्पलायमेंट रेगुलेशन्स' है।

सन् १६४६ से एक्ट के पालन कराने का काम प्रधान लेबर कमिश्नर (केन्द्रीय) और तीनों प्रदेशों के, जिनमें सारा देश बटा हुआ है, प्रादेशिक लेबर कमिश्नरों को सौंपा हुआ है। इन पदाधिकारियों को रेलवे मज़दूर सुपरवाइज़र्स का नाम दिया गया है और लेबर इन्सपेक्टर्स इनकी सहायता करते हैं।

अप्रैल १६४६ में अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी संघ की मांग पर भारत सरकार ने जस्टिस जी. एस. राज्याध्यक्ष को रेलवे कर्मचारियों की कुछ मांगों पर विचार करने के लिए निर्णायक नियुक्त किया। दैनिक वेतन पाने वाले और छोटे कर्मचारियों के काम के घंटे, विश्राम, अवकाश और उससे सम्बन्धी नियमों के बारे में कुछ मांगें थीं जिन पर विचार किया जाना था। श्री राज्याध्यक्ष ने अपना निर्णय मई १६४७ में दिया। भारत-सरकार ने उनकी काम के घन्टों, विश्राम और अवकाश संचिति [लीव रिज़र्व] संबंधी सिफ़ारिशें १८ जून १६४८ से तीन साल के लिए उन रेलवे कम्पनियों के संबंध में जो शिकायत में शामिल थीं, स्वीकार करलीं।

भारतीय वणिज पोत एक्ट [मर्चेंट शिपिंग एक्ट] १६२३—जहाजों पर काम करने वालों (भारतवासियों) के काम की परिस्थितियों का निर्णय इस एक्ट के अनुसार होता है। इस एक्ट के मुख्य-मुख्य प्रावधान यहां दिये जाते हैं —

(क) इस एक्ट के अनुसार अंग्रेजी या विदेशी जहाज पर काम करने वाले लोगों की भर्ती जहाज के मालिक के द्वारा नौ अधिकारी [शिपिंग मास्टर] की उपस्थिति में एक्ट में वर्णित पद्धति के अनुसार की जाती है। भरती के समय प्रत्येक अथवा जहाज के मालिक और जहाज पर काम करना चाहने वाले में एक संविदा होता है। संविदा में यात्रा के विवरण, काम की शर्तें और भृति [वेतन] आदि के बारे में धाराएं होती हैं। पर ३०० टन से कम के घरेलू व्यापार के ब्रिटिश जहाजों पर काम करने वालों के साथ इस प्रकार का संविदा नहीं करना पड़ता है। विदेशी जहाज के मालिक को अगर किसी भारतीय बन्दरगाह पर विदेश यात्रा के लिए कोई व्यक्ति भर्ती करना होता है तो उसके लिए भी इस प्रकार संविदा करना अनिवार्य है।

यह भी आवश्यक है कि विदेश जाने वाले ब्रिटिश जहाजों पर काम करने वालों को नौ अधिकारी के सामने ही कायमुक्त किया जाय और कायमुक्ति का प्रमाणपत्र दिया जाय। प्रत्येक जहाज के मालिक को जहाज पर काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को एक प्रमाणपत्र भी देना होता है जिसमें उसका काम कैसा रहा और संविदा की शर्तों का उसने पालन किया या नहीं इसका उल्लेख रहता है।

(ख) कुछ अपवादों को छोड़ कर बालकों को काम पर लगाने का एक्ट में मनाही है। १८ वर्ष से कम आयु के तरुण को भारत में रजिस्टर्ड किसी भी जहाज में कुछ निश्चित शर्तों की अवस्था को छोड़ कर ट्रिमर्स या स्टोकर्स का काम नहीं दिया जा सकता।

(ग) एक्ट में जहाज पर काम करने वाले लोगों को समय पर मजदूरी चुकाने, मजदूरी चुकाने में निर्धारित समय से अधिक देर हो जाने पर उसकी क्षति-पूर्ति करने, मजदूरी में से कटौती करने और समय से पहले संविदा समाप्त किये जाने पर मजदूरी मिलने सम्बन्धी बातों का भी उल्लेख रहता है।

(घ) जल तथा दूसरी आवश्यक वस्तुएं मिलने के समुचित प्रबंध, बीमारी अथवा दुर्घटना के समय दवा और चिकित्सा की व्यवस्था और रहने के स्थान के विषय में भी एक्ट में आवश्यक प्रावधान (प्रोविजन्स) हैं।

(ङ) एक्ट में और प्रावधान भी हैं जिनका जहाज पर काम करने वालों के अनुशासन, उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी सम्पत्ति के बारे में निर्णय, और आपत्ति

ग्रस्त जहाज़ पर काम करने वालों की सहायता से सम्बन्ध रखते हैं।

(च) एक्ट के पालन करने का काम नौ-अधिकारियों (शिपिंग मास्टर्स) और उप-नौ-अधिकारियों का है। जहां नौ-कार्यालय (शिपिंग आफ़िस) नहीं होता वहां कस्टम्स कार्यालय को यह काम सौंपा जाता है। नौ-अधिकारियों का यह कर्तव्य है कि जहाज़ पर काम करने वालों की नियुक्ति और बर्ख़ास्तगी के विषय में एक्ट के अनुसार कार्य होता है और समय पर वे जहाज़ पर उपस्थित हो जाते हैं, आदि मामलों की देख-रेख रखें।

(छ) इस एक्ट का १९४९ में जो संशोधन हुआ है उसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को भारत में बन्दरगाहों पर जहाज़ों पर काम करने वालों के एम्पलायमेंट ऑफिसेज़ स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। इनका काम समुद्री मज़दूरों की पूर्ति का उचित नियंत्रण करना होगा ताकि ऐसे मज़दूरों की आवश्यकता से अधिक संख्या होने से सबको ही नम्बरवार काम मिलने की व्यवस्था की जा सके।

नौ निवेश (डाक्स) में काम करने वालों (सेवायुक्ति नियंत्रण) संबंधी एक्ट (१९४८)—नौनिवेश में काम करने वाले मज़दूरों की एक प्रमुख समस्या यह रही है कि उनके काम में निश्चितता और नियमितता का अभाव है। इस समस्या का निराकरण करने की दृष्टि से ही उक्त क़ानून १९४८ में पास किया गया। इस एक्ट के अन्तर्गत बड़े-बड़े बन्दरगाहों के लिये भारत-सरकार को और दूसरे बन्दरगाहों के लिये राज्य की सरकारों को डाक-मज़दूरों के रजिस्ट्रेशन की योजना बनाने का अधिकार दिया गया है ताकि उनके काम में अधिक नियमितता लाई जा सके और उन्हें यह भी अधिकार दिया गया है कि वे सब डॉक मज़दूरों के (रजिस्टर्ड हों या न हों) काम को और काम की शर्तों और परिस्थितियों को नियंत्रित करने की योजना बना सकें। इस प्रकार जो भी योजना बनाई जाए उसमें मज़दूरों की भर्ती के नियंत्रण सम्बन्धी और रजिस्ट्रेशन संबंधी व्यवस्था को अवश्य स्थान होना चाहिये। मज़दूरी की दर, काम के घंटे, सवेतन अवकाश, जिन डॉक-मज़दूरों पर योजना लागू नहीं होती उनको काम में लगाने सम्बन्धी रोक, मर्यादा अथवा नियन्त्रण, डॉक मज़दूरों की शिक्षा और भलाई, उनके स्वास्थ्य और रक्षा की व्यवस्था, और योजना के अन्तर्गत आने वाले डॉक-मज़दूरों को उस समय की जब उन्हें काम अथवा पूरा काम न मिले न्यूनतम मज़दूरी देने संबंधी बातों का भी योजना में समावेश किया जाता है। एक्ट के अनुसार एक ऐसी सलाहकार समिति का निर्माण भी आवश्यक है जो डॉक-मज़दूरों की समस्याओं के बारे में सरकार को सलाह दे सकें। एक्ट का पालन कराने की दृष्टि से निरीक्षकों की नियुक्ति करना होता है।

दुकानों में काम करनेवालों से सम्बन्धित क़ानून—इस दिशा में सबसे पहले १९४० में बम्बई सरकार ने क़ानून बनाया। उसके बाद कई राज्यों में यह क़ानून पास हो चुका है जैसे पंजाब, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मद्रास, मध्य प्रदेश आसाम। बम्बई ने १९४८ में एक नया क़ानून पास किया है और मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश ने इसीसाल अपने क़ानूनों में संशोधन किए हैं। भारत सरकार ने भी १९४२ में साप्ताहिक अवकाश क़ानून पास किया। यह उन्हीं राज्यों में लागू हो सकता है जहाँ की सरकारें उसे लागू करने की घोषणा करदें। इन क़ानूनों का उद्देश्य दुकानों में काम करनेवाले लोगों के काम करने की परिस्थितियों का नियंत्रण करना है। इनकी मुख्य मुख्य बातें ये हैं —

(क) कुछ अपवादों को छोड़कर यह क़ानून कुछ चुने हुए नगरों दुकानों, व्यापारिक स्थानों, जल पानगृहों और मनोरंजन के स्थानों पर लागू होते हैं। सरकार चाहे तो इनको और स्थानों पर भी लागू कर सकती है। जिन लोगों का काम खानगी ढंग का है या जो ऐसा है कि उसे लगातार नहीं करना पड़ता, उन पर ये क़ानून लागू नहीं होते।

(ख) काम के घन्टे, विश्राम का समय, काम शुरू करने और बन्द करने का समय और निर्धारित समय से अधिक कितने समय तक काम किया जा सकता है—इन सब बातों का भी इन क़ानूनों में उल्लेख है। दिन भर में काम के घंटे ८ (उ प्र और मद्रास), ९ (बम्बई, मध्य प्रदेश, आसाम), या १० (पंजाब, प बंगाल) निश्चित किये गए हैं। विश्राम का समय ½ घन्टा (पू० बंगाल, उ प्र, पंजाब) या १ घन्टा (आसाम, बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश) निश्चित है। कहीं कहीं व्यापारिक स्थानों, जल-पानगृहों, और मनोरंजन के स्थानों में काम करने वालों के काम के घन्टों में अन्तर भी है।

(ग) साप्ताहिक छुट्टी (होली डे) करने का भी इन क़ानूनों में उल्लेख है, हालांकि कहीं कहीं, जैसे बम्बई या आसाम में, होटलों, थियेटर आदि को इस धारा से मुक्त रक्खा गया है। रियायती छुट्टी (लीव) की भी इन क़ानूनों में व्यवस्था की गई है। कहीं-कहीं आकस्मिक और बीमारी की छुट्टी की व्यवस्था भी है।

(घ) बालकों की काम करने की न्यूनतम आयु १२ (आसाम, मध्य प्रदेश) और १४ (मद्रास, उत्तर प्रदेश) निश्चित की गई है और उनके काम के घन्टे ६ (बम्बई, उ प्र) या ७ (पंजाब, मद्रास, उत्तर प्रदेश) प्रतिदिन तय किये गए हैं। उत्तर प्रदेश में शाम को ७ बजे पश्चात् और मद्रास, बंबई, और पंजाब में रात को ६ बजे पश्चात् बालकों के काम करने की मनाही है।

(ङ) बम्बई के क़ानून में सरकार को यह अधिकार है कि भारत सरकार

के न्यूनतम मज़दूरी क़ानून को दुकानों आदि पर लागू करदे। मज़दूरी चुकाने का समय कहीं-कहीं अधिक से अधिक १ महीना (मद्रास, उ. प्र.) और कहीं-कहीं अधिक से अधिक १५ दिन (पंजाब) निश्चित है। समय पूरा होने के बाद एक निश्चित समय के अन्दर-अन्दर, जो कहीं ५ (मद्रास), कहीं ७ (उ. प्र.) और कहीं १० दिन (आसाम) तक का है, मज़दूरी चुका देना आवश्यक है। निर्धारित समय से अधिक समय काम करने पर मज़दूरी की दर सवाई (बंगाल), ड्यौढ़ी (बम्बई, म. प्र.), और दुगनी (मद्रास, उ. प्र., पंजाब) तक देनी होती है। मद्रास और उत्तर-प्रदेश के क़ानूनों में अर्थ दंड और मज़दूरी में से कटौती के बारे में भी प्रावधान हैं। काम से मुक्त करने के बारे में भी एक महीने (उ. प्र, पंजाब, मद्रास, म. प्र) पूर्व सूचना या उसका वेतन देना आवश्यक है। बम्बई के क़ानून में १४ दिन का नोटिस या उतने समय का वेतन देना निश्चित है। मद्रास, और बम्बई के क़ानूनों में सफ़ाई, हवा, रोशनी और आग लगने पर उससे बचने के उपायों के सम्बन्ध में भी व्यवस्था है।

साप्ताहिक अवकाश (होली डे) क़ानून (१९४२)—यह क़ानून भारत-सरकार ने पास किया था और उन्हीं राज्यों में, जहां की सरकारों ने ऐसी घोषणा की हो, यह क़ानून लागू होता है। बिहार, अजमेर, कुर्ग, उड़ीसा में यह क़ानून लागू किया भी जा चुका है। जिन राज्यों में दुकानों आदि में काम करनेवाले लोगों के बारे में कोई अपना क़ानून नहीं है उन्हीं के लिए यह क़ानून है। इसके अनुसार सप्ताह में एक दिन दुकानें बन्द रखना आवश्यक है। राज्य की सरकारें यदि चाहें तो आधे दिन की छुट्टी और कर सकती हैं।

भारतीय नौनिवेश-मज़दूर क़ानून (१९३४)—यह क़ानून १९३४ में पास हुआ पर १० फ़रवरी १९४८ को लागू हुआ। इसका उद्देश्य नौनिवेशों में माल उतारने और चढ़ाने का काम करनेवाले मज़दूरों की दुर्घटनाओं से रक्षा करना है। इस क़ानून के अन्तर्गत जो रेगुलेशन्स बने हैं उनमें और बातों के साथ-साथ इन बातों की भी व्यवस्था की गई है:—काम करने के स्थानों और उन तक जाने वाले रास्तों की सुरक्षा; उनकी रोशनी और घेरे बन्दी; जहाज़ों तक आने-जाने के साधन: जल-मार्ग से मज़दूरों को जहाज़ तक सुरक्षित ढंग से आने जाने की व्यवस्था; मशीनों के सुरक्षित ढंग से काम करने की व्यवस्था: मशीनों की घेरा बन्दी; और तत्काल चिकित्सा के लिए आवश्यक साधनों, एम्बूलेंस और डूबते हुए लोगों को बचाने के साधनों का प्रबन्ध। एक्ट का पालन कराने के लिए राज्य की सरकारों द्वारा निरीक्षक नियुक्त किए जाते हैं। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के लिए नौनिवेश-सुरक्षा-निरीक्षकों की नियुक्ति भी की गई है।

कोयले की खान सम्बन्धी सुरक्षा (स्टोविंग) एक्ट—इस कानून का उद्देश्य एक ऐसे कोष का निर्माण करना है जिसमें से कोयले की खानों में से कोयला निकल जाने के बाद जो गड्ढे रह जाते हैं उनको भरने में (स्टोविंग) होने वाले खर्च में सहायता की जा सके। एक्ट में खानों के प्रधान निरीक्षक या निरीक्षकों को यह अधिकार दिया गया है कि वे खान के मालिक को खान के अन्दर स्टोविंग या दूसरे क्या-क्या रक्षात्मक उपाय काम में लाने चाहिये इस विषय में उचित आदेश दे सकें। इस एक्ट के अनुसार 'स्टोविंग सेस' नाम का एक कर भी इस एक्ट के अनुसार लगाया जाता है जिसकी आय इस कोष में जाती है। इस कोष की व्यवस्था का भार "कोल माइन्स स्टोविंग बोर्ड" पर है जिसकी स्थापना इस एक्ट के अनुसार हुई है और जिसमें छः सदस्य हैं।

कोयले और अबरक की खानों के मजदूरों के हित सम्बन्धी कानून—'कोल माइन्स लेबर वेल्फेयर फण्ड एक्ट' सन् १९४७ में पास हुआ। इसके पहले ३१ जनवरी १९४४ को भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में एक अध्यादेश जारी किया था और जब यह एक्ट पास हो गया तो इसने उस अध्यादेश का स्थान ले लिया। इस एक्ट का उद्देश्य कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों की भलाई के कामों के लिए अर्थ प्रबंध करना है। एक्ट के अनुसार 'कोल माइन्स लेबर हाउसिंग और जनरल वेलफेयर फण्ड' की स्थापना की गई है। इस फण्ड के दो स्वतन्त्र विभाग हैं—एक का नाम 'हाउसिंग अकाउन्ट' और दूसरे का 'जनरल वेलफेयर अकाउन्ट' है। खान से भेजे जाने वाले कोयले या कोक के आधार पर एक्ट में एक उपकर (सेस) लगाने की व्यवस्था की गई है और छह आने प्रति टन कोयला या कोक के हिसाब से यह उपकर इस समय लगाया जाता है। इस फण्ड के द्वारा मजदूरों की भलाई के जो-जो काम किये जा रहे हैं उसका विवरण पहले दिया जा चुका है। फण्ड का संचालन भारत सरकार द्वारा होता है और एक सलाहकार समिति—जिसमें सरकार, खान-मालिक और खान मजदूरों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि हैं—सरकार को सलाह देती है। एक 'कोल माइन्स लेबर हाउसिंग बोर्ड' स्थापित करने की भी एक्ट में व्यवस्था है। इस बोर्ड का काम भारत सरकार की स्वीकृति से मजदूरों के लिए फण्ड से मकान बनाने की योजनाएँ तैयार करना और उनको कार्यान्वित करना है। १९४९ में किये गये एक संशोधन के अनुसार हाउसिंग बोर्ड के नियन्त्रण में वे दूसरे इमारत के काम भी आ गए हैं जो जनरल फण्ड से मजदूरों की भलाई के कामों के बारे में कराए जाते हैं, जैसे अस्पताल या मातृगृह बनाना आदि। भारत सरकार का एक कोल माइन्स लेबर वेल्फेयर कमिश्नर तथा अन्य आवश्यक

अधिकारियों की नियुक्ति करने का भी अधिकार है।

अबरक की खान-मज़दूरों के लिए भी 'माइका माइन्स लेबर वेलफेयर फन्ड एक्ट' १६४७ के अन्तर्गत एक फन्ड स्थापित किया गया है। भारत से निर्यात होने वाले अबरक पर उसके मूल्य के आधार पर निराक्रम्य (कस्टम) कर लगाने का भारत-सरकार को इस एक्ट से अनुसार अधिकार है। कर की अधिक से अधिक दर ६½ प्रतिशत निश्चित की गई है और इसी कर की आय से फन्ड का निर्माण किया गया है। दो सलाहकार समितियों की नियुक्ति भी एक्ट के अनुसार की जा सकती है। एक समिति बिहार के और दूसरी मद्रास के लिए है। फन्ड के काम के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

पेमेन्ट आव वेजेज़ एक्ट १६३६—इस कानून का उद्देश्य यह है कि मज़दूरों को समय पर वेतन मिल सके और उसमें से मन-माने तौर पर कटौती न की जा सके। यह कानून आरंभ में फ़ैक्टरियों और रेलों में ही लागू किया गया, पर राज्य की सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे इसे दूसरे धंधों और उद्योगों में भी लागू कर सकते हैं। कोयले की खानों के अलावा दूसरी खानों में भी यह कानून लागू कर दिया गया है। भारत-सरकार की राज्य-पत्र में प्रकाशित एक सूचना के द्वारा यह कानून कोयले की खानों में लागू कर दिया गया है। मद्रास, पंजाब, उत्तरी प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, दिल्ली, कुर्ग और पश्चिमी बंगाल में यह कानून दूसरे उद्योगों—जैसे बागों, मोटर-सर्विस आदि में भी लागू किया गया है। इस कानून के अन्तर्गत वही लोग आते हैं जो २००) मासिक से कम पाते हैं।

कानून में 'वेजेज़' शब्द की जो परिभाषा दी गई है उसके अनुसार बोनस भी इसके अन्तर्गत आ जाता है परन्तु यात्रा-भत्ता, प्रोविडेन्ट फन्ड में दी जाने वाली सहायता आदि की गिनती 'वेजेज़' में नहीं की जाती।

वेतन का समय एक महीने से अधिक नहीं हो सकता, और वेतन नकद रुपयों या नोट में ही (वस्तुओं में नहीं) चुकाया जाना चाहिये। जहाँ एक हजार व्यक्तियों से कम काम करते हैं वहाँ वेतन का समय होने के ७ दिन के अन्दर-अन्दर और जहां एक हज़ार से अधिक व्यक्ति काम करते हों वहां १० दिन के अन्दर-अन्दर सबको वेतन मिल जाना चाहिये। जो व्यक्ति नौकरी से अलग कर दिया गया हो उसको निकाले जाने के दूसरे दिन तक उसका वेतन अवश्य मिल जाना चाहिये। वेतन छुट्टी के दिन नहीं बाँटा जा सकता।

कानून द्वारा जो कटौती स्वीकृत है (जैसे जुर्माना, गैरहाज़री के कारण कटौतरी, मकान का किराया, आय-कर, प्रोविडेन्ट फन्ड की किश्त,

अदालती रुपया जो देना हो, मालिक ने जो रुपया पेशगी दे दिया हो, सरकारी समिति का कर्ज और अन्य कोई सुविधा के कारण कटौती जो कि मालिक द्वारा मजदूर को पहुंचाई जावे) उसके अतिरिक्त वेतन में से और अधिक कटौती नहीं हो सकती। जहां तक जुर्माने का सबंध है, कानून द्वारा उसका इस प्रकार नियंत्रण किया गया है—बालकों पर जुर्माना नहीं हो सकता, जुर्माने की रकम किश्तों में या जुर्माना करने के ६० दिन बाद वसूल नहीं की जा सकती, किसी भी महीने में मजदूरों ने जो वेतन प्राप्त किया है उस पर आध आना प्रति रुपया से अधिक जुर्माना नहीं किया जा सकता, जुर्माने से जो रुपया इकट्ठा हो वह मजदूरों के हित के किसी काम पर ही व्यय किया जा सकता है जिसकी स्वीकृति मालिकों को सरकार से लेना आवश्यक है, जिस दौर में कितना जुर्माना हुआ है उसकी सूचना मालिक का नोटिस बोर्ड पर लगाना चाहिये, मजदूर को जुर्माने के बारे में सफाई देने का अधिकार होना चाहिये और जुर्माना एक रजिस्टर में दर्ज किया जाना चाहिये। कानून की अवहेलना करने पर दण्ड का विधान किया गया है।

फेक्टरियों में फेक्टरी निरीक्षक कानून का पालन कराते हैं। रेलवे तथा दूसरे धंधों के लिए अलग से इन्सपेक्टर नियुक्त किये जा सकते हैं। इस समय भारत सरकार के प्रधान लेबर कमिश्नर पर रेलवे और खानों में इस कानून के पालन कराने का दायित्व है। दूसरे राज्यों में भी इस सम्बन्ध में आवश्यक व्यवस्था है।

न्यूनतम मजदूरी कानून १९४८—इस एक्ट का उद्देश्य जिन धंधों पर यह लागू किया जाए उनमें मजदूर को कम से कम अमुक मजदूरी तो अवश्य ही मिले, इसका निश्चय करना है। एक्ट में केन्द्रीय अथवा राज्य की सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह अमुक समय तक एक्ट के परिशिष्ट में जिन उद्योगों का नाम है उनमें) यह समय खेती के लिए तीन वर्ष (मार्च १९५१) का और अन्य उद्योगों के लिए दो वर्ष (मार्च १९५०) का था। पर बाद में उद्योगों के लिए एक वर्ष का समय (१९५१ मार्च) इसलिए बढ़ाना पड़ा कि अधिकांश राज्यों में एक्ट के अनुसार कार्य नहीं हो सका था। अब फिर यह समय मार्च १९५२ तक बढ़ा दिया गया है।) काम करने वाले मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करदे। पर यदि राज्य भर में किसी धंधे में १००० से कम काम करने वाले हैं तो उसमें न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना आवश्यक नहीं है। परिशिष्ट में जिन धंधों का नाम दिया गया है वे ये हैं—ऊनी गलीचा तैयार करने का धंधा, शाल बुनने का धंधा, चावल, आटा या दाल की चक्की, तम्बाकू बनाने और बीड़ी का धंधा, बाग, तेल की

मिलें, किसी स्वायत्त शासन संस्था द्वारा चलाये जाने वाला काम, सड़क या इमारत का काम, पत्थर तोड़ने का काम, लाख का धंधा, अबरक का धंधा, सार्वजनिक मोटर-यातायात, चमड़े कमाने का तथा चमड़े का धंधा, और खेती। सरकार को यह अधिकार है कि यदि वह किसी और भी धंधे में यह कानून लागू करना आवश्यक समझे तो कर सकती है।

कानून में निम्न प्रकार की मज़दूरी तय करने की व्यवस्था की गई है— न्यूनतम समय-दर, न्यूनतम कार्य-दर, प्रत्याभूत (गारन्टीड) समय-दर, और अतिरिक्त समय-दर। इस कानून में यह भी कहा गया है कि मज़दूरी नकद में ही चुकानी होगी, यद्यपि सरकार को इसमें अपवाद करने का अधिकार है।

एक्ट के अन्तर्गत सरकार को समितियां और उपसमितियां नियुक्त करने का अधिकार भी है जिनका काम सरकार को न्यूनतम मज़दूरी निश्चित करने के संबंध में आवश्यक जांच के बाद सलाह देना है। इस प्रकार निश्चित मज़दूरी में परिवर्तन करने के लिए सलाह देने के वास्ते सरकार को सलाहकार समितियां अथवा उपसमितियां नियुक्त करने का और इन समस्त समितियों, उपसमितियों, सलाहकार समितियों और उपसमितियों के कार्य में समन्वय करने की और साधारण रूप से सलाह देने की दृष्टि से एक सलाहकार-मंडल (बोर्ड) नियुक्त करने का भी अधिकार है। केन्द्रीय और राज्य की सरकारों को सलाह देने और प्रान्तीय सलाहकार-मंडलों में समन्वय करने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार मंडल की नियुक्ति करने का भी भारत-सरकार को अधिकार है। उपर्युक्त तमाम समितियों और मंडलों में सरकार, मालिक और मज़दूरों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि होना आवश्यक है। जिन धंधों में यह एक्ट लागू किया जाए उनमें दिन भर में काम के घन्टे, सप्ताह में एक छुट्टी और अतिरिक्त समय के काम के लिए मज़दूरी आदि का निश्चय करने का भी सरकार को अधिकार है।

निश्चित पद्धति के अनुसार रजिस्टर आदि रखने, और इन्सपेक्टर आदि की नियुक्ति करने का भी कानून में उल्लेख किया गया है।

राज्य की सरकारों के मार्ग दर्शन के लिए केन्द्रीय सरकार ने नियम बना लिए हैं। केन्द्रीय सलाहकार-बोर्ड की कार्यपद्धति और निर्माणसम्बन्धी नियम भी बन चुके हैं। इन नियमों के अनुसार केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की स्थापना भी हो चुकी है। भारत-सरकार और कई राज्य की सरकारों ने कानून के अनुसार एक्ट के अन्तर्गत आनेवाले उद्योगों में काम करनेवाले लोगों के रहन-सहन के खर्च सम्बन्धी जानकारी इकट्ठी करने के लिए कमेटियां आदि बनवाई हैं। पर फिर भी सभी राज्यों में अभी तक मज़दूरी निश्चित करने सम्बन्धी आवश्यक

व्यवस्था नहीं हो सकी है। यही कारण है कि जैसा ऊपर लिखा जा चुका है मजदूरी निश्चित करने का समय उन औद्योगिक मजदूरों के लिए जो एक्ट के अन्तर्गत आते हैं, मार्च १९५९ तक बढ़ा दिया गया है। अभी तक कुछ राज्यों में ही न्यूनतम मजदूरी निश्चित हुई है। जहाँ तक खेतिहर मजदूरों का सम्बन्ध है एक्ट के अन्तर्गत उनकी न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने का समय भी बढ़ा दिया गया है और राज्यों को इस बारे में आवश्यक स्वतन्त्रता देना आवश्यक समझा जा रहा है। अस्तु, इस दृष्टि से कानून में आवश्यक संशोधन किया जायगा। अब तक केवल कच्छ में खेतिहर मजदूरों की मजदूरी निश्चित की गई है। और कई राज्यों ने ऐसा करने की इच्छा प्रकट की है।

मजदूर क्षति पूर्ति कानून, १९२३—यह कानून १ जुलाई, १९२४ को लागू हुआ था। उसके बाद इसमें कई बार संशोधन हो चुके हैं। शाही मजदूर कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए १९३३ में एक संशोधन कानून पास किया गया था। उसके पश्चात् भी इस कानून में कई बार संशोधन हो चुके हैं। इस कानून के मुख्य-मुख्य प्रावधान नीचे दिये गये हैं—

(क) यह कानून उन तमाम लोगों पर, जो दफ्तर में या प्रबन्ध सम्बन्धी काम करते हैं या जिनकी (रेलवे कर्मचारियों के अलावा जिन पर मासिक आय की मर्यादा लागू नहीं होती) मासिक आय ४०० रु० से अधिक है, लागू नहीं होता। मोटे तौर पर धंधों की दृष्टि से इस कानून के अन्तर्गत रेलवे, फैक्टरियाँ, खानें, नौनिवेश (डॉक्स) कुछ खास इमारती काम, सड़कें, पुल, बाँध आदि का काम, तार और टेलीफोन लाइन सम्बन्धी काम, बाग (चाय आदि के), बिजली अथवा गैस पैदा करनेवाले स्टेशन, खुदाई का काम, आग बुझाने का काम, जहाज पर होनेवाला काम जैसे—जहाज में माल लादने, जहाज से माल उतारने, जहाज की मरम्मत करने, साफ करने या रंग करने आदि कामों का समावेश होता है। राज्य की सरकारों को यह अधिकार है कि वे इस कानून को उन लोगों पर भी, जो आज तक उससे बाहर हैं, लागू करदें यदि उनका काम जोखम भरा समझा जा सके। फैक्टरियों के बारे में ध्यान देने की बात यह भी है कि यह कानून या तो वहाँ लागू होता है जहाँ १० आदमी से अधिक काम करते हों और यान्त्रिक शक्ति का उपयोग होता हो, या यदि यान्त्रिक शक्ति का उपयोग नहीं होता है तो जहाँ ५० से अधिक आदमी काम करते हों। जो व्यक्ति 'एम्पलोईज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट, १९४८' के अन्तर्गत आता है और उसके अनुसार लाभ पाने का अधिकारी है वह इस कानून के अन्तर्गत लाभ पाने का अधिकारी नहीं है।

(ख) क्षति पूर्ति का किसी व्यक्ति को जो इस कानून के अन्तर्गत आता है

उसी समय अधिकार है जबकि उसके चोट काम करते समय अथवा उसके फल स्वरूप लगे। परन्तु यदि चोट इस तरह की है कि जिसकी वजह से ७ दिन से अधिक समय के लिये कोई असमर्थ नहीं होता या फिर ऐसी चोट है, जिसका परिणाम मृत्यु नहीं होता, और जिसके लगने में मज़दूर का स्वयं का दोष है तो मजदूर को क्षति-पूर्ति का कोई अधिकार नहीं रहता। शारीरिक चोट के अतिरिक्त कुछ धन्धे से उत्पन्न बीमारियों के होने पर भी क्षति-पूर्ति मिलती है। ये बीमारियां एक परिशिष्ट में दे दी गई हैं। राज्य की सरकारों को यह अधिकार है कि वह बीमारियों की इस सूची में कोई नई बीमारी और जोड़दें। क्षति-पूर्ति करने का दायित्व कानून के अनुसार मालिक का है।

(ग) क्षति-पूर्ति की मात्रा का निर्णय दुर्घटना कैसी है और मजदूर की मासिक आय क्या है—इन दो बातों से निश्चित होती है। क्षति-पूर्ति मृत्यु, स्थायी पूर्ण असमर्थता, स्थायी अपूर्ण असमर्थता, और अस्थायी असमर्थता होने पर मिलती है। किसी मजदूर की मृत्यु होने पर क्षति-पूर्ति का रुपया उसकी स्त्री, नाबालिग पुत्र, अविवाहित पुत्री, विधवा माता या कुछ ऐसे दूसरे व्यक्तियों को जो उस पर आश्रित थे, मिलेगा। दुर्घटना से मृत्यु हो जाने की हालत में वर्कमेन्स कम्पेनसेशन के कमिश्नर के पास सूचना अवश्य भेजी जानी चाहिये। यदि मालिक अपना जिम्मा स्वीकार कर लेता है तब तो क्षति-पूर्ति का रुपया कमिश्नर के पास जमा हो जाना चाहिये। यदि मालिक अपनी जिम्मेदारी नहीं मानता तो कमिश्नर का यह काम है कि आवश्यक जांच-पड़ताल के बाद आश्रितों को वह यह सूचना दे दे कि वे चाहें तो क्षतिपूर्ति की मांग रख सकते हैं। कानून इस बात की इजाजत नहीं देता कि मालिक और मज़दूर दुर्घटना होने पर दी जाने वाली रक़म के सम्बन्ध में आपस में कोई ऐसा समझौता कर लें जिससे कि मज़दूर अपने क्षति-पूर्ति का अधिकार छोड़ दें। किसी भी दुर्घटना के होते ही मालिक के पास तुरन्त ही रिपोर्ट पहुंचाना चाहिये। ऐसा नहीं होने की हालत में कमिश्नर क्षति-पूर्ति सम्बन्धी मांग को सुनेगा नहीं।

(घ) एक्ट के पालन करके का जिम्मा राज्यों पर ही है और इस काम के लिए राज्य की सरकारों को कमिश्नर नियुक्त करने का अधिकार है। कमिश्नरों का काम विवादग्रस्त दावों का फैसला करना, और मृत्यु हो जाने पर क्षति-पूर्ति का रुपया बांटना है। कई राज्यों में—जैसे बंबई, मद्रास और पश्चिमी बंगाल में—कमिश्नरों की नियुक्ति हो चुकी है। दूसरी जगह किन्हीं दूसरे अधिकारियों को यह काम सौंपा गया है।

एम्पलोइज़ स्टेट इनश्योरेंस एक्ट १६४८—यह एक्ट अप्रैल १६४८ में

पास हुआ था। इसकी मुख्य मुख्य बातें ये हैं—

(क) यह क़ानून सब फैक्टरियों पर, जिसमें सरकार की फैक्टरियाँ भी शामिल हैं लागू होता है। मौसमी फैक्टरियाँ एक्ट के अन्तर्गत नहीं आतीं। वे तमाम कर्मचारी जो इनमें फैक्टरियों में काम करते हैं (उनको छोड़ कर जिनकी ४०० रु० मासिक से अधिक की वेतन अथवा मज़दूरी से आय है) फिर चाहे उनकी नियुक्ति सीधे तौर से कारखाने के प्रबंध विभाग द्वारा हुई हो या किसी के द्वारा इस एक्ट के अन्तर्गत आते हैं। क्लर्क लोग भी एक्ट के क्षेत्र के बाहर नहीं हैं। जिन लोगों पर यह एक्ट लागू होता है उनका सबका बीमा कराने की व्यवस्था है। एक एम्पलोइज़ स्टेट इन्श्योरेंस फंड के निर्माण की व्यवस्था भी की गई है। इस फंड का निर्माण मिल मालिक, मज़दूर और सरकार से प्राप्त होने वाले रुपये से किया जायगा। इसके अलावा सरकारों और व्यक्तियों से चन्दा आदि भी आ सकता है। केन्द्रीय सरकार पहले पाँच वर्षों में कॉरपोरेशन का जितना व्यवस्था संबंधी खर्च होगा उसका दो तिहाई वार्षिक सहायता के तौर पर देती रहेगी। मिल मालिक और कर्मचारी दोनों के ही हिस्से का रुपया चुकाने का जिम्मा मिल मालिक का ही है। यदि किसी कर्मचारी ने पूरे सप्ताह भर काम न किया हो और जिसकी मज़दूरी नहीं मिलने वाली हो तो उस सप्ताह का कन्ट्रीब्यूशन का रुपया वसूल नहीं होगा।

नीचे लिखे लाभ इस एक्ट के अन्तर्गत कर्मचारियों को मिल सकते हैं— बीमारी लाभ, मातृत्व लाभ, असमर्थता लाभ, आश्रितों का लाभ, और चिकित्सा लाभ। कर्मचारियों अथवा उनके आश्रितों का जैसा भी हो, उपर्युक्त लाभ किन्हीं शर्तों के साथ मिलने की व्यवस्था है। यदि कोई कर्मचारी जिसका एक्ट के अन्तर्गत बीमा हुआ है बीमार पड़ जाय तो उसे दैनिक मज़दूरी के आधे के हिसाब से बीमारी के दिनों में आर्थिक सहायता मिल सकेगी। साल भर में अधिक से अधिक ५६ दिन के लिए यह लाभ मिल सकता है और बीमार होने के पहले दो दिन का लाभ नहीं मिल सकता जब तक कि १५ दिन में ही दूसरी बार कर्मचारी बीमार न पड़ जाय। इस प्रकार बारह आने प्रतिदिन के हिसाब से १२ सप्ताह का मातृत्व लाभ भी मिल सकता है जिसमें ६ सप्ताह से अधिक समय बच्चा होने से पहले का नहीं होना चाहिये। इसी तरह असमर्थता यदि अस्थायी है तो दैनिक मज़दूरी के आधे के हिसाब से यदि असमर्थता आंशिक और स्थायी है तो दैनिक मज़दूरी के आधे के एक निश्चित प्रतिशत के हिसाब से, (जो मज़दूर क्षतिपूर्ति क़ानून के अनुसार होगा) और यदि असमर्थता पूर्ण और स्थायी है तो दैनिक मज़दूरी का आधा जीवन भर मिलेगा। कर्मचारी की मृत्यु हो जाने पर उसके

आश्रितों को एक निश्चित आधार पर रुपया मिलेगा। कर्मचारियों को मुफ्त चिकित्सा का लाभ मिलने की व्यवस्था भी की गई है। यह लाभ कर्मचारियों के परिवार वालों को भी कोरपोरेशन चाहे तो दे सकता है। जिस व्यक्ति को इस कानून के अन्तर्गत लाभ मिलेगा उसे वही लाभ और किसी कानून के अन्तर्गत नहीं मिल सकेगा। योजना के संचालन करने के लिए एक्ट के अनुसार 'एम्पलोइज स्टेट इन्श्योरेंस कोरपोरेशन' उसकी स्थायी समिति और कोरपोरेशन को सलाह देने के लिए मेडिकल बेनिफिट कौंसिल की स्थापना हो चुकी है। इन तीनों संगठनों में मिल-मालिक, कर्मचारी, डाक्टर, सरकार और संसद के प्रतिनिधि हैं।

उपर्युक्त क़ानून १९४८ में पास हुआ था परन्तु वह आज तक भी लागू नहीं हो सका है। कुछ समय तो क़ानून लागू करने के पहले की आवश्यक तैयारी में लगा। जुलाई १९५० से दिल्ली और कानपुर में प्रयोग के तौर पर इस कानून को लागू करने का निश्चय किया गया था। पर इन स्थानों के मिल मालिकों ने इस आधार पर विरोध किया कि इस कानून के अन्तर्गत स्वास्थ्य बीमा की योजना केवल इन दो स्थानों पर लागू करने से जो जहां के मिल-मालिकों पर इसके फंड में रुपया (लेवी) देने से आर्थिक भार पड़ेगा उसके कारण बाज़ार में उनका माल औरों की अपेक्षा महंगा होगा और दूसरों की प्रतिस्पर्द्धा से उनको हानि होगी। अस्तु, भारत-सरकार इस क़ानून में अब (मार्च १९५१) इस आशय का संशोधन करना चाहती है कि जिससे कोरपोरेशन द्वारा दिल्ली और कानपुर के अलावा जहां कि प्रयोग के तौर पर यह योजना लागू की जायगी देश के दूसरे सब सेवा-योजकों (एम्पलॉयर) से भी कम दर पर लेवी ली जा सकेगी। कानपुर और दिल्ली के सेवायोजकों से उनके द्वारा चुकाई जाने वाली कुल मज़दूरी का १¼% और दूसरे स्थानों के सेवायोजकों से ¾% लेवी के रूप लेने का विचार है। इन दूसरे स्थानों के मजदूरों से उनके हिस्से का रुपया तभी लिया जायगा जब उन स्थानों में योजना लागू होगी। पर दिल्ली और कानपुर के मज़दूरों को तो अपना हिस्से का रुपया देना ही होगा। उक्त संशोधन हो जाने के बाद ही स्वास्थ्य बीमा की योजना दिल्ली और कानपुर में लागू की जायगी। कोरपोरेशन और मद्रास सरकार में भी योजना लागू करने के सम्बन्ध में बातचीत चल रही है।

कोल माइन्स प्रोविडेन्ट फन्ड और बोनस स्कीम्स एक्ट, १९४८—इस एक्ट में केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि कोयले की खानों में काम करनेवाले मज़दूरों के लिए वह बोनस और प्रोविडेण्ट फण्ड की योजना तैयार करे। ये दोनों ही योजनाएँ लागू होगई हैं। इनमें तमाम आवश्यक बातों

का समावेश किया गया है —किन कर्मचारियों पर ये योजनाएं लागू होती हैं, प्रोविडेन्ट फन्ड में मालिकों की ओर का कन्ट्रीब्यूशन क्या होगा, वह किस तरह दिया जायगा, किस दर से दिया जायगा, किस समय दिया जायगा आदि। इसी प्रकार बोनस किन शर्तों पर मिलेगा किस दर से मिलेगा, बोनस का हिसाब कैसे लगाया जायगा, किस समय और किस प्रकार बोनस मिलेगा, और किन परिस्थितियों में बोनस देना रोका जा सकता है—ये सब बातें भी योजना में स्पष्ट कर दी गई हैं।

मातृत्व लाभ कानून—मातृत्व लाभ सम्बन्धी कानून सबसे पहले बम्बई सरकार ने १६२८ में पास किया था। उसके बाद १६३१ में मध्य प्रदेश ने यह कानून पास किया। शाही मजदूर कमीशन की जब रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो इस सम्बन्ध में कमीशन ने जो राय दी थी वह भी सामने आई। इस सम्बन्ध में शाही कमीशन ने जो सिफारिशें की उनके परिणामस्वरूप कई राज्यों में मातृत्व लाभ कानून पास किये गये। मद्रास, आसाम, पंजाब, उत्तर प्रदेश, अजमेर, दिल्ली और पश्चिमी बंगाल में अपने-अपने मातृत्व लाभ कानून इस समय लागू हैं। मूल सिद्धान्त इन सब कानूनों में समान हैं। आसाम का कानून फैक्टरियों और बागों दोनों में और बंगाल का कानून चाय के बागों में लागू होता है। बाकी के सब कानून फैक्टरियों में ही लागू होते हैं। भारत सरकार ने भी एक माइन्स मेटरनिटी बेनिफिट एक्ट १६४१ में पास किया। बाद में इसमें थोड़ा बहुत संशोधन भी हुआ है। इन तमाम कानूनों में आधारभूत सिद्धान्त तो एक से ही हैं। जैसे बच्चा होने के पहले और बाद में एक निश्चित समय के लिए, जो छह से आठ सप्ताह के आस पास होता है, नकद सहायता स्त्री को दी जाती है। सहायता की यह दर अलग अलग राज्यों में अलग-अलग है—जैसे आसाम के बागों में बच्चा होने के पहले १ रु० प्रति सप्ताह और बाद में १ रु० ४ आ० प्रति सप्ताह, तथा दूसरे उद्योगों में औसत साप्ताहिक आय या कम से कम ३ रु० सप्ताह, बंगाल में औसत दैनिक आय या आठ आने प्रतिदिन जो भी अधिक हो, पर चाय के बागों और फैक्टरियों में ५ रु० ४ आ० प्रति सप्ताह, पंजाब में औसत दैनिक आय या १२ आ० प्रतिदिन जो भी अधिक हो, उत्तर प्रदेश और बिहार में आठ आने प्रतिदिन या औसत दैनिक आय जो भी अधिक हो, मद्रास राज्य तथा अहमदाबाद और बम्बई शहर में आठ आना प्रतिदिन और इस बम्बई राज्य में आठ आने या औसत दैनिक आय प्रतिदिन जो भी अधिक है तथा केन्द्रीय एक्ट में १२ आ० प्रतिदिन के हिसाब से सहायता दी जाती है कहीं-कहीं अतिरिक्त सहायता की व्यवस्था भी है जो कि बोनस की शक्ल में द

जा सकती है यदि स्त्री किसी प्रमाणित नर्स आदि की सेवाओं का उपयोग करती है। यह बोनस ३ रु० से (माइन्स मेटरनिटी बेनिफिट एक्ट) ५ रु० (उत्तर प्रदेश और बिहार) तक है। आसाम और पश्चिमी बंगाल में प्रत्येक स्त्री गर्भावस्था, बच्चा पैदा होने के समय और बाद में चिकित्सा और डाक्टरी देख-भाल की अधिकारी है। बच्चा होने के बाद और यदि सूचना दी जाय तो बच्चा होने के पहिले विश्राम का अवकाश भी दिया जाता है। सब कानूनों में मातृत्व लाभ मिलने के लिए यह आवश्यक है कि लाभ पाने वाली स्त्री एक निश्चित समय तक उस कारखाने में काम कर चुकी हो जहां से उसे सहायता मिलेगी। यह काम का समय केन्द्रीय और उत्तर प्रदेश के क़ानून में छह महीने और अजमेर-मेरवाड़ा में एक वर्ष और दूसरे कई कानूनों में ६ महीने का निश्चित है। यदि कोई मिल-मालिक अपने इस ज़िम्मे से बचने के लिए किसी स्त्री मज़दूर को बरखास्त करना चाहे तो कानून में स्त्री की इससे रक्षा करने की व्यवस्था है। मातृत्व अवकाश के समय किसी स्त्री को काम से अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यदि किसी स्त्री को किसी मिल-मालिक से मातृत्व लाभ मिल रहा है तो वह किसी दूसरी जगह काम नहीं कर सकती। ऐसा यदि करती है तो वह दण्ड की भागी होगी। फ़ैक्टरी-निरीक्षक ही सब राज्यों में इन क़ानून का पालन कराने के लिए ज़िम्मेदार हैं। केन्द्रीय माइन्स मेटरनिटी बेनिफिट एक्ट के पालन कराने का खानों के प्रधान इन्सपेक्टर पर ज़िम्मा है।

बालक बंधक क़ानून [चिल्डरन (प्लेजिंग आव लेबर) एक्ट १६३३]—यह एक्ट एक विशेष कुरीति को रोकने के लिए पास किया गया है। शाही मज़दूर कमीशन की जांच के समय यह ज्ञात हुआ कि बहुत से माता-पिता अपने बालकों के श्रम को मालिकों के पास बंधक रख देते हैं। इस क़ानून के अनुसार इस प्रकार का कोई भी सौदा—चाहे वह लिखित हो या ज़बानी—ग़ैर क़ानूनी होगा। परन्तु यदि उचित मज़दूरी पर बिना बालक को हानि पहुंचाये किसी बालक की सेवायें लेने सम्बन्धी कोई प्रसंविदा किया जाता है और अधिक से अधिक सप्ताह भर की सूचना देने पर यदि वह समाप्त किया जा सकता है तो वह प्रसंविदा ग़ैर क़ानूनी नहीं होगा। १५ वर्ष से कम आयु के बालक इस एक्ट में बालक माने गये हैं। क़ानून को भंग करने पर २०० रु० का जुर्माना हो सकता है। लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी की जाँच से मालूम पड़ा कि यह कुरीति दक्षिण भारत के बीड़ी के धंधे और मैसूर राज्य के अलावा अब और कहीं नहीं पाई जाती है। वहाँ पर भी सरकार इस कुरीति का अन्त करने के लिये प्रयत्नशील है।

बालकों को नौकर रखने का कानून, १९३८—इस कानून का उद्देश्य अमुक आयु से कम आयु के बालकों को नौकर रखने से रोकना है। अस्तु, १५ वर्ष से कम आयु के बालक किसी भी काम में, जिसका संबंध रेल से माल, डाक और यात्रियों को लाना ले जाना है या जो किसी भारतीय पोर्ट्स एक्ट [१९०८] द्वारा नियंत्रित बन्दरगाह की सीमा में माल को इधर उधर करने से सम्बन्ध रखता है, नहीं लगाये जा सकते। १९३९ में इस कानून में संशोधन किया गया जिसके अनुसार १२ वर्ष से कम आयु के बालकों को किन्हीं निश्चित उद्योगों में काम पर लगाने की मनाही की गई। राज्य की सरकारों को कानून के क्षेत्र को बदलने और बढ़ाने का अधिकार दिया गया है। एक्ट में जिन धंधों को शामिल किया गया है उनमें बीड़ी बनाने, गलीचा बनाने, सीमेंट तैयार करने, कपड़ा छापने, रंगने, और बुनने, दियासलाई, आतिशबाजी और विस्फोटक पदार्थ तैयार करने, अबरक काटने और अलहदा करने, लाख तैयार करने, साबुन बनाने और चमड़ा कमाने तथा उन्हें साफ करने के धंधे हैं। मद्रास सरकार ने मोटर यातायात कम्पनियों के वर्कशॉप को और उत्तरप्रदेश में पीतल के सामान के धंधे और काँच की चूड़ियों के धंधे को भी इस कानून के अन्तर्गत कर दिया है। १९४८ के फैक्टरी एक्ट में चूंकि १४ वर्ष से कम आयु के बालक को नौकर रखने की मनाही है, इसलिए इस एक्ट में भी १२ वर्ष के स्थान पर १४ वर्ष को कम से कम आयु मानने का संशोधन कर दिया गया है। राज्यों में एक्ट का पालन प्रधान निरीक्षक, फैक्टरियों द्वारा कराया जाता है। केन्द्रीय कारखानों में इस एक्ट का पालन कराने का जिम्मा चीफ लेबर कमिश्नर का है। संघीय रेलवे का जहाँ तक सम्बन्ध है चीफ लेबर कमिश्नर, प्रान्तीय लेबर कमिश्नर और केन्द्रीय लेबर इंस्पेक्टरों को इस कानून के पालन कराने का जिम्मा दिया गया है। बन्दरगाहों के बारे में भारत सरकार द्वारा लेबर इंस्पेक्टर की नियुक्ति की गई है।

औद्योगिक आँकड़ा कानून, १९४२—इस कानून के पास होने से पहले तक मजदूरी, काम करने की परिस्थिति और उद्योगों सम्बन्धी दूसरे मामलों की जानकारी का आधार उद्योग धंधों की सद्भावना और उनकी स्वेच्छा से किये गये प्रयत्न मात्र थे। यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं होने से १९४२ में उपर्युक्त कानून भारत सरकार द्वारा पास किया गया। इस एक्ट के अनुसार निम्नलिखित बातों के विषय में आँकड़े इकट्ठे करने का इजाजत है—चीजों का मूल्य, हाजरी, रहन सहन की परिस्थिति जिसमें मकान, जल और सफाई सम्बन्धी व्यवस्था भी शामिल है, ऋण, किराया, मजदूरी और आय, प्राविडेन्ट और दूसरे फन्ड जो मजदूरों के

लिए क़ायम किये जायं; मज़दूरों को मिलने वाली सुविधायें और लाभ, काम के घन्टे, रोज़गार - और बेकारी, और औद्योगिक तथा मज़दूर संबंधी संघर्ष। यदि कोई व्यक्ति जानकारी देने से इन्कार करे तो उसे दण्ड दिया जा सकता है। 'स्टेटिसटिक्स अधिकारी' (अथॉरिटी) नाम का एक आफिसर राज्य की सरकारों को नियुक्त करने का अधिकार है। एक्ट में फैक्टरियों संबंधी आंकड़े—जैसे उत्पादन आदि के और मज़दूरों की भलाई के मामलों संबंधी आंकड़े इकट्ठे करने का भी अधिकार है। कई राज्यों ने फैक्टरियों सम्बन्धी आंकड़े इकट्ठे करना आरंभ कर दिया है और औद्योगिक आंकड़ों के संचालक ने उत्पादन के संबंध में आंकड़े इकट्ठे करना शुरु कर दिया है। मजदूरों के आंकड़ों सम्बन्धी क़ानून की धाराओं को भी कार्यान्वित किया जा रहा है।

ऋण सम्बन्धी कानून—मिल-मजदूरों की एक समस्या उनके ऋणग्रस्त होने की है। इस संबंध में उनको आवश्यक संरक्षण देने के लिये समय-समय पर कई क़ानून बनाए जा चुके हैं। १९३७ में भारत-सरकारद्वारा एक एक्ट पास करके यह व्यवस्था करदी गई कि उन मजदूरों की जो १०० रु० मासिक से कम वेतन पाते हैं तनखा कुर्क नहीं हो सकती। सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्ध में यह विधान है कि जो १०० रु० मासिक से अधिक भी पाते हैं उनके पहले १०० रु० तथा शेष वेतन का आधा क़ुर्की से मुक्त कर दिया गया है। क़ानून में इस बात का भी विधान है कि मज़दूर के वेतन की कुर्की कुल मिलाकर २४ महीने तक यदि होगई है तो आगे के १२ महीने तक उसकी कुर्की नहीं हो सकती।

भारत-सरकार ने शाही मज़दूर कमीशन की सिफ़ारिश को ध्यान में रखते हुए १९३६ में सिविल प्रोसेज्योर कोड में एक संशोधन किया जिसके परिणाम स्वरूप कर्ज़दार मजदूर को कैद की सजा नहीं दी जा सकती जब तक कि यह न मालूम पड़े कि कर्ज़दार ने अपनी संपत्ति बेईमानी से हस्तान्तरित करदी है या डिग्री के वसूली में कचहरी के अधिकार-क्षेत्र से बाहर जाकर बाधा पहुँचाना चाहता है। पंजाब-सरकार ने भी १९३५ में एक कानून (पंजाब रिलीफ ऑव इंडेटेडनेस एक्ट) लागू करके ऋणग्रस्त मज़दूर को कैद करने पर प्रतिबंध लगा दिया है जब तक कि डिग्री का रुपया अपनी शक्ति के अनुसार उस संपत्ति में से जो कुर्क हो सकती है देने से ही वह इनकार न करदे।

१९३६ के मध्य प्रदेश के 'एडजस्टमेंट एन्ड लिक्वीडेशन आव इन्डस्ट्रियल वर्कर्स डेट एक्ट' के अनुसार जो मज़दूर ५० रु० मासिक तक कमाते हैं उनको किन्हीं परिस्थितियों में (यदि उसकी संपत्ति और तीन महीने के वेतन से ऋण अधिक हो) अपने कर्ज का फैसला कर देने की दरख्वास्त देने का अधिकार है,

और आवश्यक जाच के बाद कचहरी उसका फैसला कर देती है और यह निश्चय कर देती है कि कर्जदार को उसकी मजदूरी और उसके आश्रितों की सख्या को देखते हुए कितना रुपया कितने समय में चुका देना चाहिये।

बगाल सरकार ने १६३४ में बगाल वर्क्समेन प्रोटेक्शन एक्ट पास किया था। इस कानून के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी कारखाने, खान, रेलवे स्टेशन आदि के अन्दर या पास में इस इरादे से कि उस कारखाने के किसी मजदूर से वह कर्ज वसूल करना चाहता है, घूमता फिरता पाया जायगा तो उसे जुर्माना या कैद या दोनों सजा दी सकेंगी। १६४० में एक सशोधन द्वारा मजदूर को धरना और भी कड़ाई से वर्जित कर दिया गया है तथा एक्ट का कार्यक्षेत्र भी बढ़ा दिया गया है ताकि उसमें लोकल आथिरिटीज, और सार्वजनिक उपयोग के धधों में लगे मजदूरों और जहाज पर काम करने वाले मजदूरों को भी शामिल किया जा सके है। १६३७ में मध्य प्रदेश ने भी एक ऐसा ही कानून पास किया। मद्रास सरकार ने १६४१ में इस सम्बन्ध में कानून पास किया है।

विहार वर्कमेंस प्रोटेक्शन एक्ट १६४८ कुछ श्रेणी के मजदूरों से जहा वे काम करते हैं या मजदूरी पाते हैं वहा घेरा डाल कर कर्ज वसूल करने पर रोक लगाता है। कर्जदार मजदूरों को उनके महाजन द्वारा धमका न सकें इसके भी उनको इस कानून में रक्षा की गई है। इन स्थानों पर घेरा डालने के अपराध में जुर्माना या छह महीने तक की सजा या दोनों ही दण्ड दिये जा सकते हैं।

मजदूर जाच कमेटी का यह कहना है कि ऋण सबधी इन कानूनों का बहुत असर नहीं हुआ है। पर फिर भी उसने जहा ऐसे कानून नहीं हैं वहा उनके पास करने के पक्ष में राय दी है।

परिच्छेद ६

औद्योगिक सम्बन्ध

पिछले परिच्छेद में हम मजदूर सम्बन्धी कानूनों का विवरण दे चुके हैं। केवल उन कानूनों का हमने वहां विवरण नहीं दिया जिनका सम्बन्ध मजदूर-मालिक के आपसी सम्बन्धों (औद्योगिक सम्बन्धों) से आता है। इस परिच्छेद में हम मजदूर-मालिक-सम्बन्ध की इस समस्या पर विचार करेंगे और इस सम्बन्धी जो कानून हैं उनका भी यहीं विवरण देंगे।

औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण यह है कि समाज के आर्थिक जीवन में मजदूरों और पूंजीपतियों के दो परस्पर विरोधी वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं और उनमें निरन्तर संघर्ष की पृष्ठभूमि बनी रहती है जो कभी-कभी भयानक संघर्ष के रूप में फूट पड़ती है। ये संघर्ष देश के आर्थिक जीवन को अस्तव्यस्त कर देते हैं और समाज में अशांति और अव्यवस्था का वातावरण उत्पन्न करते हैं। देश के आर्थिक जीवन का सुचारु रूप से संचालन हो सके उसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि मजदूर और पूंजीपति में न केवल प्रत्यक्ष संघर्ष और उसकी पृष्ठभूमि ही न हो, बल्कि पारस्परिक सहयोग हो। बिना इस आपसी सहयोग के राष्ट्र की उत्पादन शक्ति का श्रेष्ठतम उपयोग नहीं हो सकता जिसका अर्थ है आर्थिक जीवन की समृद्धि और प्रगति के मार्ग का अवरुद्ध होना। इसी लिए मजदूर-पूंजीपति-सम्बन्धों या औद्योगिक संबंधों की समस्या का इतना महत्त्व समझा जाता है। हम अब इसी समस्या पर विचार करेंगे।

मजदूर संगठन और औद्योगिक संबंध—औद्योगिक सम्बन्धों की समस्या का एक पक्ष मजदूरों के संगठन से संबंध रखता है। जब आधुनिक उद्योगवाद का जन्म हुआ तो शुरू-शुरू में मजदूरों की स्थिति कमज़ोर थी और वे असंगठित थे। इसलिए मिल-मालिक उनका शोषण आसानी से कर सकते थे। परन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया मजदूरों की स्थिति में भी परिवर्तन आया। एक साथ हजारों आदमी जब काम करते हैं तो उनका आपस में सम्पर्क होना भी स्वाभाविक है। जब वे एक दूसरे के दुःख-दर्द की बात सुनते हैं तो उनमें आपस में सहानुभूति का भाव उत्पन्न होता है। धीरे-धीरे उनके यह समझ में आने लगता है कि यदि वे आपस में एक दूसरे की सहायता करने को तैयार हो जाते हैं और अपना संगठन बना लेते हैं तो फिर मिल-मालिकों के लिए मन चाहे ढंग से उनका शोषण करना आसान नहीं होगा। इसी विचार में से दुनिया के मजदूर-संगठन

का उदय हुआ है और आज तो दुनिया के सभी औद्योगिक देशों में मजदूर-संगठन की बड़ी शक्ति मानी जाती है। मजदूरों के राजनैतिक दल भी हैं और कई देशों में जैसे इंगलैंड में राज्य का शासन-तंत्र भी उनके हाथ में है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज मजदूर संगठन का बड़ा महत्त्व है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना होने से भी दुनिया के मजदूर संगठनों को बहुत शक्ति मिली है और अब वे एक सूत्र में बंध गए हैं।

मज़दूर संगठन का प्रभाव मालिक मज़दूर के सम्बन्धों पर भी पड़ा है। जब तक मजदूर वर्ग असंगठित होता है वह अपने हितों की रक्षा के लिए पूंजीपति वर्ग से संघर्ष मोल नहीं ले सकता और उनकी कृपा पर ही अपने आप को जीवित समझता है। जब मजदूरों में चेतना और संगठन शक्ति का उदय होने लगता है तो उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आता है। वे मालिक को अपना मां-बाप नहीं समझते और अपने हितों की रक्षा के लिए उनसे संघर्ष करने को वे तैयार हो जाते हैं। हड़तालों को मज़दूर अपना एक प्रबल अस्त्र मानने लगते हैं। औद्योगिक संघर्ष जो अन्दर ही अन्दर दबा रहता था, वह अब बाहर फूट पड़ता है और मिलमालिक मजदूर के परस्पर सम्बन्ध की एक समस्या उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से मज़दूर संगठन ही इस समस्या का कारण माना जा सकता है। यही कारण है कि आरम्भ में पूंजीपति वर्ग ने मज़दूर संगठन का हमेशा ही विरोध किया है और उसने यह चाहा है कि मज़दूर संगठन को क़ानूनी संरक्षण न मिले। पर यह तो असम्भव था। मज़दूरों की वास्तविक शक्ति जब बनने लगी तो उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। मज़दूर संगठनों को क़ानूनी मान्यता मिलना आरम्भ हुआ। आज सब देशों में मज़दूर-संगठनों को यह मान्यता प्राप्त है। इधर पूंजी-पति वर्ग के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आने लगा। आज का पूंजीपति संगठित मजदूर वर्ग को अधिक पसन्द करता है न कि असंगठित मजदूर को। वह समझता है कि संगठित मजदूर वर्ग अधिक अनुशासन में रखा जा सकता है, उससे विचार विनिमय करना आसान है, वह अधिक जिम्मेदारी से व्यवहार करता है, और उससे यह आशा की जा सकती है कि वह किसी भी प्रश्न पर संकीर्ण दृष्टि से न सोचकर अधिक व्यापक और समाज की दृष्टि से सोचे। इसलिए मजदूर संगठन औद्योगिक शांति में बहुत कुछ सहायक हो सकता है और यह विचार सही नहीं है कि उसका परिणाम मिल मालिक मजदूर सम्बन्धों में संघर्ष और कटुता उत्पन्न करने का होता है। यह अवश्य है कि संगठित होने से मजदूरों की शक्ति बनती है और मिल मालिक यदि उनके हितों की अवहेलना करते हैं तो वे संगठित रूप से उसका प्रतिकार करने को तैयार हो

जाते हैं। वास्तव में देखा जाए तो मजदूरों में कोई संगठन न हो यह तो असम्भव है। जब वे एक साथ, एकसी परिस्थितियों में, एक ही स्थान पर काम करते हैं और एकसी समस्यायें उनके सामने उपस्थित होती हैं तो उनका संगठित रूप से सोचना और व्यवहार करना तो अवश्यम्भावी है। इसलिए संगठित और असंगठित मजदूर वर्ग में चुनाव करने का प्रश्न तो है ही नहीं। प्रश्न यदि हो सकता है तो वह यही हो सकता है कि समाज और राज्य मजदूरों के संगठन को मान्यता दे या न दे। ऐसी स्थिति में इस बारे में कोई मतभेद नहीं हो सकता कि मजदूर-संगठन को मान्यता देना और उसके अस्तित्व को स्वीकार करके चलना कहीं अधिक अच्छा है। हम यहां तक भी कह सकते हैं कि औद्योगिक शांति के लिए स्वस्थ मजदूर-संगठन का होना अत्यन्त आवश्यक है। अब हम भारतवर्ष के मजदूर-संगठन के बारे में कुछ विचार करेंगे।

भारत में मजदूर-संगठन—भारत में मजदूर आन्दोलन का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण (१८७५ के आस-पास) में होता है। इस आन्दोलन के प्रवर्तकों में श्री सोराबजी सापुरजी बगाली प्रमुख थे। १८६० में श्रीयुत नारायण मेघजी लोखंडे ने, जो भारतीय मजदूर-संगठन के जनक और उसकी आत्मा थे, पहला मजदूर-संगठन बम्बई में स्थापित किया। इसका नाम था 'बम्बई मिल-मजदूर संघ' (बोम्बे मिल-हेन्ड्स एसोसिएशन)। पर वास्तविक अर्थ में यह संघ मजदूर-संघ न था। इसका काम तो बम्बई के मिल-मजदूरों की शिकायतों के समाशोधन गृह (क्लियरिंग हाउस) का था। इसके बाद आने वाले २५ वर्षों में कई मजदूरसभायें स्थापित हुईं—जैसे एमेलगेमेटेड सोसाइटी ऑव रेलवे सर्वेन्ट्स ऑव इन्डिया एन्ड बर्मा (१८६७), प्रिंटर्स यूनियन कलकत्ता (१६०५), बोम्बे पोस्टल यूनियन (१६०७), और कामगार हितवर्द्धक सभा बम्बई (१६०६)। जब भारत में आधुनिक ढंग के कारखाने खुलने लगे और उनमें काम करने वाले मजदूरों का—फिर वे स्त्रियां हों या बालक—शोषण होने लगा तो उनके संरक्षण के प्रश्न को लेकर ही इस मजदूर-आन्दोलन का आरम्भ हुआ था। मैंचेस्टर के वस्त्र-व्यवसायियों ने भी भारत के मजदूर-आन्दोलन को बड़ी सहायता और प्रोत्साहन दिया। बात यह थी कि भारत की मिलों में मजदूरों को कम वेतन देकर और अधिक घन्टों उनसे काम कराकर जो कपड़ा तैयार होता था वह मैंचेस्टर के कपड़े से सस्ता पड़ता था और उससे मैंचेस्टर के वस्त्र-व्यवसायियों को हानि होने का डर था। इसलिए वे चाहते थे कि भारतीय मजदूरों के काम करने की परिस्थितियों पर कानून द्वारा नियंत्रण किया जाये—जैसे उनको ठीक वेतन मिले, काम के घंटे अधिक न हों आदि। इसी दृष्टि से वे यह चाहते थे कि भारत में

या रजिस्ट्री करने के बाद उसे रद्द कर दे। उसके आदेश के खिलाफ हाईकोर्ट में अपील की जा सकती है। कानून में ट्रेड यूनियन की परिभाषा इस ढंग से दी गई है कि उसके अन्तर्गत मजदूरों के अलावा मिल-मालिकों का संघ भी आ सकता है, पर जिस संघ में मजदूर और मिल मालिक दोनों हों वह उसके अन्तर्गत नहीं आ सकता। १५ वर्ष से कम आयु का व्यक्ति रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन का सदस्य नहीं हो सकता।

(ख) रजिस्टर्ड यूनियन को कुछ अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। एक तो यह कि उसके पदाधिकारियों या सदस्यों पर यूनियन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई किसी भी कार्यवाई पर, जैसे हड़ताल के कारण फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इसी प्रकार से वे दीवानी कार्रवाई से भी सुरक्षित हैं।

(ग) रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन पर कई प्रकार की जिम्मेदारियाँ भी हैं। उसे हर साल रजिस्ट्रार के पास सालाना आँकड़े आदि भेजने होते हैं और खर्च तथा जमा का आडिट किया हुआ ब्यौरा भी देना होता है। कोई भी यूनियन का पदाधिकारी या सदस्य यूनियन के हिसाब की जाँच कर सकता है। यूनियन के नाम, विधान और नियमों में अगर कोई परिवर्तन हो तो उसकी सूचना रजिस्ट्रार को मिलनी चाहिये। यूनियन का काम कोष किन किन बातों पर खर्च हो सकता है यह कानून में तय है। इन तयशुदा बातों में औद्योगिक झगड़े, जिनमें यूनियन को पड़ना पड़े, शामिल हैं। अस्तु, इस मद का रुपया इस प्रकार के झगड़ों पर भी व्यय हो सकता है। सदस्यों के राजनैतिक उद्देश्य पूर्ति के लिये यह कोष काम में नहीं आ सकता, पर इस काम के लिये अलग कोष स्थापित किया जा सकता है। इसमें चन्दा देना न देना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर है। इन जिम्मेदारियों को नहीं निभाने में सजा दी जा सकती है चाहे वह जुर्माने की शक्ल में हो या यूनियन की रजिस्ट्रेशन को रद्द करने की शक्ल में।

(घ) यह इस लिये मुख्य है कि १९४७ में ट्रेड यूनियन एक्ट में एक महत्त्व पूर्ण संशोधन हुआ था। इसके अनुसार यदि कोई रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन अपने मिल मालिक को मान्यता के लिए आवेदन पत्र दे और फिर भी उसे मान्यता न मिले तो उस दशा में उस यूनियन को यह अधिकार है कि वह इस विषय में लेबर कोर्ट (जो इस कानून के अनुसार नियुक्त की जा सकती है और जिनमें एक या अधिक जज होते हैं) को लिखे। लेबर कोर्ट यदि जाँच के बाद इस निर्णय पर पहुँचे कि ट्रेड यूनियन उन तमाम बातों को पूरा करती है जो मान्यता प्राप्त करने

के लिए आवश्यक हैं, और जिनमें से एक यह है कि वह यूनियन उस मिल-मालिक के यहां काम करने वाले सब मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करती हो, तो उसे-(लेबर कोर्ट को) मिल-मालिक को उस यूनियन को मान्यता देने के लिए आज्ञा देने का अधिकार है। जो मान्य ट्रेड यूनियनें होती हैं उन्हें नियुक्ति, काम की परिस्थिति और शर्तों आदि मज़दूरी सम्बन्धी सब मामलों में मिल-मालिकों से पूछताछ और फ़ैसला करने का अधिकार होता है। उन्हें मिल के अन्दर अपने नोटिस आदि लगाने का अधिकार भी होता है।

(ङ) दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो १६४७ के संशोधन के अनुसार हुई है वह यह है कि मान्य ट्रेड यूनियनों और मिल-मालिकों के लिए कुछ बातों को अनुचित घोषित कर दिया गया है। यूनियन (मान्य) के लिए जो बातें अनुचित घोषित की गई हैं वे इस प्रकार हैं:—(१) यूनियन के सदस्यों के बहुमत का अनियमित हड़ताल में भाग लेना, (२) यूनियन की कार्य-कारिणी का अनियमित हड़ताल में सहयोग, सलाह या प्रोत्साहन देना, (३) यूनियन के पदाधिकारी द्वारा ग़लत जानकारी देना। मिल-मालिकों के लिए जो बातें अनुचित मानी गई हैं वे ये हैं:—(१) मजदूरों द्वारा ट्रेड यूनियन आदि संगठन बनाने के मार्ग में, उसके काम में तथा उसे आर्थिक सहायता देने में रुकावट पैदा करना, (२) किसी व्यक्ति को जो मान्य ट्रेड यूनियन का पदाधिकारी है, या जिसने मान्य ट्रेड यूनियन के अधिकारों के सम्बन्ध में कोई गवाही आदि दी है बरखास्त करना या उसके विरुद्ध पक्षपात करना, और (३) मान्य ट्रेड यूनियन के पत्रों आदि का उत्तर न देना या उसे मुलाक़ात न देना। यदि कोई यूनियन अनुचित बात करती है तो उसकी मान्यता रद्द की जा सकती है और मिल-मालिक पर एक हज़ार रुपया तक जुर्माना हो सकता है।

(च) एक्ट के पालन कराने का जिम्मा राज्यों पर है और वे इस काम के लिए रजिस्ट्रार ट्रेड यूनियन की नियुक्ति करते हैं। पर रजिस्ट्रार को ट्रेड यूनियन के रजिस्टर आदि जांचने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार क़ानून में संशोधन करके रजिस्ट्रार को दिया जाना चाहिये।

औद्योगिक संघर्ष—मज़दूर-संगठन के सम्बन्ध में लिखते हुए हमने यह लिखा है कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही भारतीय मज़दूर ने अपने आप को संगठित करने का विशेष प्रयत्न आरम्भ किया। औद्योगिक संघर्षों का इतिहास भी हमें यही बतलाता है कि भारतवर्ष में प्रथम महायुद्ध के बाद ही मज़दूरों और मिल-मालिकों के संघर्ष का युग आरम्भ होता है। १६२४ में और १६२५ में और बाद में १६२८ और १६२६ में बम्बई में बहुत बड़ी-बड़ी आम हड़तालें हुई जिनमें

प्रभाव हुआ, यह भी उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है। यदि हम मजदूर सभाओं संबंधी आंकड़े देखें तो हमें और स्पष्ट रूप से यह मालूम होगा कि मजदूर संगठन की प्रगति हमारे देश में किस गति से हुई है। जो आंकड़े हमें उपलब्ध हैं वे केवल उन्हीं सभाओं के हैं जिन्होंने अपने आप को रजिस्टर करवा रखा है और जो अपने बारे में आवश्यक जानकारी प्रतिवर्ष सरकार के सामने पेश करते हैं। जो मजदूर सभाएँ रजिस्टर्ड नहीं हैं उनके आंकड़े हमारे पास नहीं हैं। ऐसी मजदूर सभाओं की संख्या भी पर्याप्त है। रजिस्टर्ड मजदूर सभाओं सम्बन्धी आंकड़ों को देखने से प्रकट होता है कि १९२७-२८ में भारतवर्ष में २९ मजदूर सभाएं थीं, १९३२-३३ में उनकी संख्या बढ़कर १७० हो गई और १९३८-३९ में यह संख्या ५६२ थी। १९४५-४६ में १०८७ मजदूर-सभाएं (रजिस्टर्ड) अविभाजित भारत में (पंजाब के आंकड़े शामिल नहीं हैं) थीं। इससे स्पष्ट है कि युद्ध के समय में मजदूर सभाओं की संख्या लगभग दुगुनी होगई। १९४६-४७ में यह संख्या बढ़ कर १७२५ होगई। ध्यान रखने की बात यह है कि यह आंकड़े विभाजित भारत के हैं और पूर्वी पंजाब के आंकड़े इसमें शामिल नहीं हैं। १९४७-४८ में यह संख्या २६६६ हो गई। इन २६६६ में से केवल १६२८ ने अपने आंकड़े पेश किये जिनके अनुसार इन १६२८ मजदूर सभाओं के सदस्यों की कुल संख्या १६ लाख से ऊपर था। १९२७-२८ में कुल सदस्य संख्या २९ रजिस्टर्ड यूनियनों में से २८ की १ लाख से कुछ ऊपर थी। १९३२-३३ में १७० में से १४७ की सदस्य संख्या २ लाख ३७ हजार से कुछ अधिक थी और १९३८-३९ में ५६२ में से ३९४ की ४ लाख से कुछ कम थी। १९४५-४६ में १०८७ में से ५८४ की ८ लाख ६४ हजार से कुछ अधिक थी और १९४६-४७ में १७२५ में से ९९८ की १३ लाख ३१ हजार से कुछ अधिक थी। इन मजदूर सभाओं में अधिकांश औद्योगिक संघ (इंडस्ट्रियल यूनियन) हैं जो कि किसी भी एक उद्योग में काम करने वाले सब मजदूरों का संगठन करते हैं। इसके अलावा कुछ शिल्प संघ (क्राफ्ट यूनियन) हैं और तीसरी श्रेणी में कुछ सामान्य मजदूर संघ हैं, जिनमें विभिन्न उद्योगों और शिल्पों के मजदूर एक ही संघ में संगठित हो जाते हैं जैसे मजदूर सभा कानपुर या गिरनी कामगार यूनियन, बम्बई। धंधों की दृष्टि से यातायात और वस्त्रोद्योग में मजदूर संगठन ने अच्छी प्रगति की है।

पिछले वर्षों में मजदूर सभाओं की संख्याओं में यथेष्ट वृद्धि हुई है, पर फिर भी यह सत्य है कि हमारे देश का मजदूर संगठन अभी उतना शक्तिशाली नहीं बन पाया है जितना पश्चिम के कई देशों का है। मजदूर सभाओं का नेतृत्व अधिकांश स्वयं मजदूरों के हाथ में न होकर राजनैतिक कार्यकर्ताओं के हाथ में है। यह

स्थिति बहुत स्वास्थ्यकर नहीं कही जा सकती। उनके पास धन की कमी है और हड़ताल के समय वह अपने सदस्यों को सहायता नहीं दे सकतीं। बहुत कम मज़दूर-सभायें ऐसी हैं जो मज़दूरों की भलाई के कामों की ओर ध्यान देती हैं और ध्यान देने की शक्ति भी रखती हैं।

भारत में मज़दूर-संगठन के मार्ग में कई कठिनाइयां रही हैं और आज भी हैं। भारतीय मज़दूर अशिक्षित है, वह अपने आपको स्थायी रूप से मजदूर नहीं समझता और एक स्थान से दूसरे स्थान को वह आता-जाता रहता है, वह निर्धन है और अपने संगठन के लिये अधिक पैसा नहीं दे सकता, मज़दूर-संगठन का नेतृत्व योग्य हाथों में नहीं है और विभिन्न राजनैतिक दल मजदूरों के संगठन का उपयोग अपने राजनैतिक हेतुओं को सिद्ध करने के लिए करना चाहते हैं, और अन्तिम बात यह है कि मिल-मालिक सफल और शक्तिशाली मज़दूर-संगठन का हर प्रकार से विरोध करते हैं और यह प्रयत्न करते हैं कि मजदूरों में फूट डाली जाये और उनका संगठन कमज़ोर बना रहे। अस्तु, भारत में सशक्त मज़दूर संगठन बनाने के लिये उपर्युक्त कमियों को मिटाने की बड़ी आवश्यकता है। अब हम ट्रेड यूनियन एक्ट के बारे में विशेष जानकारी करेंगे।

ट्रेड यूनियन एक्ट १९२६—यह कानून किन परिस्थितियों में पास हुआ इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। १ जुलाई १९२७ को यह एक्ट लागू किया गया। सन् १९४७ तक इस क़ानून में कोई महत्त्वपूर्ण संशोधन नहीं हुआ। पर इसी वर्ष कानून में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन किया गया। इस संशोधन का उद्देश्य प्रतिनिधि मज़दूर-सभाओं को मिल-मालिकों द्वारा अनिवार्यतः मान्यता दिलाना, और मिल-मालिकों तथा मज़दूर-सभाओं को क्या-क्या अनुचित कार्रवाइयां नहीं करनी चाहिये इसकी कानून में व्यवस्था करना था। इस कानून के मुख्य-मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं—

(क) किसी भी ट्रेड यूनियन के सात या सात से अधिक सदस्य यूनियन की रजिस्ट्री करा सकते हैं। कानून के पालन कराने का ज़िम्मा राज्य की सरकारों का होने से हर राज्य में राज्य की सरकार द्वारा ट्रेड यूनियनों के रजिस्ट्रार की नियुक्ति की जाती है जिसका काम ट्रेड यूनियनों को रजिस्टर करना होता है। रजिस्टर होने की कुछ शर्तें हैं जिनको पूरी किये बिना कोई यूनियन रजिस्टर नहीं की जा सकती। उनमें से एक शर्त यह है कि यूनियन की कार्यकारिणी में कम से कम ५०% व्यक्ति जिस उद्योग या धन्धे की यूनियन है उस उद्योग या धंधे में काम करने वाले होने चाहिये। रजिस्ट्रार को यह अधिकार है कि वह किन्हीं कारणों के उपस्थित होने पर किसी यूनियन को रजिस्टर करने से इन्कार कर दे

फूट पड़जाने पर उसने अपने आपको अलग कर लिया और १६३५ तक उससे बाहर ही रहा। अ भा ट्रे यू कांग्रेस में १६३१ में फिर फूट पड़ी और एम बा दश पांड और बा टी रानाविव के नेतृत्व में एक 'अ भा रेड ट्रेड यूनियन काग्रेस' की स्थापना की गई। इस प्रकार देश के मजदूर सगठन में फूट पड़ जाने से मजदूर आन्दोलन को बड़ा धक्का लगा। यद्यपि एकता के प्रयत्न १६३१ में ही शुरू हो गए, परन्तु वास्तव में १६३८ में अ भा ट्रे यू काग्रेस और राष्ट्रीय [नेशनल] ट्रे यू फेडरेशन नाम के एक दूसरे अखिल भारतीय सगठन का नागपुर में एक सम्मिलित विशेष अधिवेशन हुआ और उसमें यह निश्चय हुआ कि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस और नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन मिलकर एक केन्द्रीय सगठन का निर्माण करें। १६४० में अ भा ट्रे यू काग्रस के बम्बई-अधिवेशन में इस निर्णय को पक्का कर दिया गया। इस राष्ट्रीय [नेशनल] ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना १६३१ में मजदूर सगठन में एकता स्थापित करने के फलस्वरूप ही हुई थी जिसमें कम्युनिस्ट प्रभाव के अखिल भारतीय मजदूर-सगठन, अ भा ट्रेड यूनियन काग्रस, के अलावा जो देश में और दो अखिल-भारतीय मजदूर सगठन उस समय थे, उनको शामिल किया गया था। इन दो सगठनों में एक तो १६२६ में स्थापित अ भा ट्रेड यूनियन फेडरेशन था जो ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट पड़ जाने पर सुधारवादी पक्ष के लोगों ने बनाया था, और दूसरा नेशनल फेडरेशन ऑफ लेबर था जो देश की उन मजदूर सभाओं के अखिल भारतीय सगठन के रूप में १६३३ में ही स्थापित किया गया था जिनका कम्यूनिस्टों और सुधारवादियों दोनों से ही सम्बन्ध नहीं था। इधर तो देश के मजदूर सगठन में एकता लाने का प्रयत्न सफल हुआ, पर उसी समय दूसरी ओर १६४० में इसी बम्बई अधिवेशन में द्वितीय महायुद्ध के प्रश्न को लेकर फिर फूट पड़ गई। ट्रे यू काग्रेस ने द्वितीय महायुद्ध के बारे में तटस्थता की नीति रखने का प्रस्ताव पास किया। इस नीति से उन लोगों को जो युद्ध का समर्थन करना चाहते थे असन्तोष हुआ और उनमें से श्री आफताब अली ने तो अपनी जहाजों पर काम करने वालों की यूनियन (सीमैन्स यूनियन) को अलग कर लिया और श्री एम एन राय ने और श्री जमनादास महता ने 'इण्डियन फेडरेशन ऑव लेबर' नाम का एक पृथक अखिल भारतीय सगठन ही कायम कर लिया। इस सगठन का मजदूरों में कोई खास प्रभाव नहीं है। १६४८ के अन्तिम महीनों और १६४६ के प्रारम्भ के महीनों में फिर देश के मजदूर-आन्दोलन में कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं। कम्यूनिस्टों और उग्र विचारों के लोगों में फिर संघर्ष हो गया और अ भा ट्रेड यूनियन काग्रस से बहुत सी यूनियनों ने अपने आपको अलग कर

लिया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कम्यूनिस्टों का प्रभाव रहा पर उसका मजदूरवर्ग में पहला जैसा असर अब नहीं है। १६४७ में एक और महत्त्वपूर्ण अखिल भारतीय मज़दूर-संगठन कांग्रेस नेताओं के मार्ग दर्शन में क़ायम हुआ है। इसका नाम इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस रखा गया। महात्मा गांधी की विचारधारा के अनुसार मज़दूरों में काम करने वाली 'हिन्दुस्तान मजदूर सेवक संघ' नाम की संस्था के प्रभाव में जो मज़दूर-सभायें थीं वे इस भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इ. नै. ट्रे. यू. कांग्रेस) से संबंधित हो गईं। अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन भी इससे सम्बद्ध हो गई। इसी प्रकार जो समाजवादी विचार के मज़दूर कार्यकर्ता थे उन्होंने भी अपना 'हिन्द मज़दूर पंचायत' नाम का एक अलग संगठन बना लिया। दिसम्बर १६४८ में इण्डियन लेबर फेडरेशन और हिन्द मजदूर पंचायत ने मिल कर हिन्द मज़दूर सभा नाम का एक अलग अखिल-भारतीय संगठन स्थापित कर लिया है। मई १६४६ में कुछ मज़दूर सभाओं ने जो कुछ समय पहले अ. भा. ट्रे. यू. कांग्रेस से अलग हो चुकी थीं एक और अखिल भारतीय संगठन 'यूनाइटेड ट्रेड्स यूनियन कांग्रेस' के नाम से स्थापित किया है। अखिल भारतीय मज़दूर संगठनों का जो विवरण हमने ऊपर दिया है उससे यह मालूम पड़ता है कि मोटे रूप से तीन बड़े और प्रमुख अखिल भारतीय संगठन इस समय देश में काम कर रहे हैं इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (कांग्रेस की विचारधारा के अनुसार), हिन्द मजदूर सभा (समाजवादियों की विचारधारा के अनुसार) और आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (कम्यूनिस्ट विचारधारा के अनुसार)।

भारतीय मज़दूर संगठन के सामने एक महत्त्वपूर्ण समस्या क़ानूनी मान्यता प्राप्त करने की भी थी। क्योंकि मजदूर संघों को यदि कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है तो मजदूर-नेताओं के विरुद्ध हड़ताल कराने के अपराध में क़ानूनी कार्रवाही की जा सकती है, जैसा कि १६२१ में बकिंघम मिल्स के मजदूरों और मालिकों में झगड़ा होने पर हुआ भी। वहां के मिल-मालिकों ने श्री. बी. पी. वाडिया तथा दूसरे मज़दूर-नेताओं के विरुद्ध हाईकोर्ट में हर्जाने का दावा कर दिया और उनके विरुद्ध ७००० पौंड और मुक़दमे के खर्च की डिगरी कराली। कोर्ट के इस आदेश का मज़दूर-नेताओं ने बड़ा विरोध किया और पांच वर्ष के लगातार प्रयत्नों के बाद १६२६ में भारतीय ट्रेड यूनियन एक्ट पास हुआ। इसके बारे में विस्तृत रूप से हम आगे लिखेंगे।

प्रथम महायुद्ध के बाद से भारतीय मजदूर आन्दोलन ने किस प्रकार प्रगति की उसका ब्यौरा हम ऊपर दे आये हैं। द्वितीय महायुद्ध का भी यहीं

मज़दूरों का आन्दोलन हो और उसको शक्ति मिले ताकि उसके दबाव से भारत में भी मजदूर-कानून बनें।

प्रथम महायुद्ध तक भारतीय मजदूर संगठन ने बहुत कम प्रगति की थी। परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कई कारण ऐसे उपस्थित हो गए जिनसे मज़दूर संगठन को यथेष्ट बल मिला। एक ओर तो देश में जो राजनैतिक चेतना फैली उसका प्रभाव मजदूर आन्दोलन पर भी पड़ा, और दूसरी ओर युद्ध के कारण उत्पन्न महगाई का असर मज़दूरों के रहन सहन में खर्च को बढ़ाने का तो हुआ पर उनकी मजदूरी में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई। मिल मालिकों ने इसके विपरीत काफी मुनाफा कमाया। इस सारी स्थिति से मज़दूरों के मन में गहरा असंतोष हुआ और इससे मज़दूर संगठन को अधिक सुदृढ बनने में सहायता मिली। जो लोग युद्ध क्षेत्र से लौट कर आये थे वे पश्चिम के विचार और वातावरण का असर साथ लाए और जब उनका यहां के मजदूर से सम्पर्क हुआ तो उसका असर भी उनको उग्र बनाने का ही हुआ। रूस की बोल्शविक क्रान्ति, कांग्रेस द्वारा महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलाया गया असहयोग आन्दोलन, और ब्रिटिश सरकार की दमन नीति—इन सबका परिणाम भी यही हुआ कि राष्ट्रीय जागृति और संगठन की देश भर में एक लहर सी दौड़ गई और उससे देश का मजदूरवर्ग भी अछूता न रह सका। अस्तु १९१८ के उपरान्त देश में मजदूर सभाओं का तेज़ी से संगठन होने लगा। सबसे पहला औद्योगिक ट्रेड यूनियन (मजदूर सभा) १९१८ में मद्रास शहर के सूती कपड़े के कारखानों के मज़दूरों की ओर से वाडिया ने स्थापित की। यह मजदूर सभा बहुत सफल हुई और इससे मजदूरों में बहुत उत्साह उत्पन्न हुआ। १९१९ में मद्रास प्रान्त में चार मज़दूर सभ काम कर रहे थे और उनके सदस्यों की संख्या २० हज़ार थी। मद्रास से मज़दूर संगठन की लहर अन्य प्रान्तों में भी फैली और देखते देखते बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद तथा अन्य औद्योगिक केन्द्रों में मज़दूर सभायें तेज़ी से स्थापित होने लगीं। यहां हम महात्मा गांधी के नेतृत्व में १९२० में अहमदाबाद की सूती कपड़े की मिलों के मजदूरों का जो संगठन किया गया उसका विशेष रूप से उल्लेख करना चाहेंगे। इस मजदूर संगठन का नाम 'टेक्सटाइल लेबर एसोसियेशन, अहमदाबाद' है। यह हमारे देश का एक बहुत ही सबल और सफल मजदूर संघ है। यह कुछ धन्धेवार मजदूर संघों (क्रॅफ्ट यूनियन्स) का एक संघ है। जो मजदूर संघ इसमें शामिल हैं उनके नाम ये हैं—(१) बुनकर संघ (२) थ्रोसल संघ (३) कार्ड रूम, ब्लोरूम और फ्रेम डिपार्टमेंट यूनियन (४) वाइंड यूनियन (५) ड्राइवर्स, आइलमैन्स, और फायरमैन्स यूनियन (६) जॉबर्स और मुकद्दम

यूनियन। इस संघ की सफलता का एक बड़ा कारण यह है कि मजदूरों की भलाई के लिए, जैसे उनकी शिक्षा, चिकित्सा, दुर्घटना के समय आर्थिक सहायता आदि के सम्बन्ध में, इसने बराबर प्रयत्न किया है और इस आधार पर मजदूरों में एकता और संगठन कायम रखा जा सका है। इस मजदूर-संगठन की दूसरी विशेषता यह रही है कि इसने अहमदाबाद मिलमालिक-संघ से मिलकर आपस के झगड़े सुलझाने की नीति को बराबर अपनाया है और उसका परिणाम यह हुआ है कि अहमदाबाद में अपेक्षाकृत मिल-मालिकों और मजदूरों में कम संघर्ष हुये हैं। भारतीय मजदूर आन्दोलन में कम्यूनिस्टों का प्रभाव भी रहा है। यह ठीक है कि यह प्रभाव किन्हीं औद्योगिक केन्द्रों, जैसे बम्बई, कानपुर में विशेष रहा है तो किन्हीं में कम। यह भी ठीक है कि उनके इस प्रभाव में उतार-चढ़ाव भी आते रहे हैं। १६२४ के उपरान्त भारत के मजदूर आन्दोलन में कम्यूनिस्टों का प्रभाव बढ़ने लगा। इसी समय सरकार ने जब कम्यूनिस्टों के दमन की नीति अपनाई तो उसका परिणाम भी यही हुआ कि उनका प्रभाव मजदूरों में बढ़ा। बम्बई में १६२७ में कम्यूनिस्टों ने "गिरनी कामगार यूनियन" की स्थापना की। अपने इस बढ़ते हुए प्रभाव का लाभ उठाने की दृष्टि से ही उन्होंने हिन्दुस्तान भर का जो मजदूर संगठन "ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस" था, उस पर नागपुर के १६२६ के अधिवेशन में आधिपत्य जमा लिया। उसी के फलस्वरूप इस अखिल भारतीय संगठन में फूट पड़ गई और जो सुधारवादी पक्ष था वह अलग हो गया और आ० इ० ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कम्यूनिस्टों का प्रभुत्व कायम हो गया।

भारतीय मजदूर-संगठन में विभिन्न मजदूर-सभाओं के केन्द्रीय संगठन स्थापित करने का प्रयत्न भी प्रथम महायुद्ध के तुरन्त बाद ही आरम्भ हुआ। विभिन्न स्थानों में केन्द्रीय संगठन स्थापित हुए और प्रान्तीय संगठनों की स्थापना भी की गई। १६२० में मजदूर-सभाओं का एक अखिल भारतीय संगठन भी कायम हुआ—इसी का नाम अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस रखा गया। बम्बई में ला० लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि १६२६ में इस संगठन में फूट पड़ गई और उसके परिणामस्वरूप सुधारवादी पक्ष ने श्री एन० एम० जोशी के नेतृत्व में एक दूसरे अखिल भारतीय संगठन, 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन फेडरेशन', की स्थापना की। रेलवे यूनियनों ने मिलकर अपना एक अखिल भारतीय संगठन "अखिल भारतीय रेलवेमैन्स फेडरेशन" के नाम से १६२५ में स्थापित किया था। रेलवे मजदूरों का यह एक प्रबल संगठन है और रेलवे बोर्ड ने इसे स्वीकृत कर लिया है। यह फेडरेशन भी अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में सम्मिलित था, पर १६२६ में

या रजिस्ट्री करने के बाद उसे रद्द कर दे। उसके आदेश के खिलाफ हाईकोर्ट तक अपील की जा सकती है। कानून में ट्रेड यूनियन की परिभाषा इस ढंग से दी गई है कि उसके अन्तर्गत मजदूरों के अलावा मिल मालिकों का संघ भी आ सकता है पर जिस संघ में मजदूर और मिल मालिक दोनों हों वह उसके अन्तर्गत नहीं आ सकता। १५ वर्ष से कम आयु का व्यक्ति रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन का सदस्य नहीं हो सकता।

(ख) रजिस्ट्रेशन कराने को कुछ अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। एक तो यह कि उसके पदाधिकारियों या सदस्यों पर यूनियन की उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई किसी भी कार्यवाही पर, जैसे हड़ताल के कारण फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इसी प्रकार से वे दीवानी कार्यवाही से भी सुरक्षित हैं।

(ग) रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन पर कई प्रकार की जिम्मेदारियाँ भी हैं। उन्हें हर साल रजिस्ट्रार के पास सालाना आंकड़े आदि भेजने होते हैं और खर्च तथा जमा का आडिट किया हुआ ब्यौरा भी देना होता है। कोई भी यूनियन का पदाधिकारी या सदस्य यूनियन के हिसाब की जाँच कर सकता है। यूनियन के नाम विधान और नियमों में अगर कोई परिवर्तन हो तो उसकी सूचना रजिस्ट्रार को मिलनी चाहिये। यूनियन का धन किन किन बातों पर खर्च हो सकता है यह कानून में तय है। इन तयशुदा बातों में आम्दोलित झगड़े जिनमें यूनियन को पड़ना पड़े, शामिल हैं। अस्तु इस मद का रुपया इस प्रकार के झगड़ों पर भी व्यय हो सकता है। सदस्यों के राजनैतिक उद्देश्य पूर्ति के लिए यह कोष काम में नहीं आ सकता, पर इस काम के लिये अलग कोष स्थापित किया जा सकता है। इसमें चन्दा देना न देना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर है। इन जिम्मेदारियों को नहीं निभाने से सजा दी जा सकती है चाहे वह जुर्माने की शक्ल में हो या यूनियन के रजिस्ट्रेशन रद्द करने की शक्ल में।

(घ) यह हम लिख चुके हैं कि १९४७ में ट्रेड यूनियन एक्ट में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन हुआ था। इसके अनुसार यदि कोई रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन अपने मिल मालिक को मान्यता के लिए आवेदन पत्र दे और फिर भी उसे मान्यता न मिले तो इस दशा में उस यूनियन को यह अधिकार है कि वह इस विषय में लेबर कोर्ट (जो इस कानून के अनुसार नियुक्त की जा सकती है और जिनमें एक या अधिक जज होते हैं) को लिखे। लेबर कोर्ट यदि जाँच के बाद इस निर्णय पर पहुँचे कि ट्रेड यूनियन उन तमाम बातों को पूरा करती है जो मान्यता प्राप्त करने

के लिए आवश्यक हैं, और जिनमें से एक यह है कि वह यूनियन उस मिल-मालिक के यहां काम करने वाले सब मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करती हो, तो उसे-(लेबर कोर्ट को) मिल-मालिक को उस यूनियन को मान्यता देने के लिए आज्ञा देने का अधिकार है। जो मान्य ट्रेड यूनियनें होती हैं उन्हें नियुक्ति, काम की परिस्थिति और शर्तों आदि मज़दूरों सम्बन्धी सब मामलों में मिल-मालिकों से पूछताछ और फ़ैसला करने का अधिकार होता है। उन्हें मिल के अन्दर अपने नोटिस आदि लगाने का अधिकार भी होता है।

(ङ) दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो १६४७ के संशोधन के अनुसार हुई है वह यह है कि मान्य ट्रेड यूनियनों और मिल-मालिकों के लिए कुछ बातों को अनुचित घोषित कर दिया गया है। यूनियन (मान्य) के लिए जो बातें अनुचित घोषित की गई हैं वे इस प्रकार हैं:—(१) यूनियन के सदस्यों के बहुमत का अनियमित हड़ताल में भाग लेना, (२) यूनियन की कार्य-कारिणी का अनियमित हड़ताल में सहयोग, सलाह या प्रोत्साहन देना, (३) यूनियन के पदाधिकारी द्वारा ग़लत जानकारी देना। मिल-मालिकों के लिए जो बातें अनुचित मानी गई हैं वे ये हैं:—(१) मज़दूरों द्वारा ट्रेड यूनियन आदि संगठन बनाने के मार्ग में, उसके काम में तथा उसे आर्थिक सहायता देने में रुकावट पैदा करना, (२) किसी व्यक्ति को जो मान्य ट्रेड यूनियन का पदाधिकारी है, या जिसने मान्य ट्रेड यूनियन के अधिकारों के सम्बन्ध में कोई गवाही आदि दी है बरख़ास्त करना या उसके विरुद्ध पक्षपात करना, और (३) मान्य ट्रेड यूनियन के पत्रों आदि का उत्तर न देना या उसे मुलाक़ात न देना। यदि कोई यूनियन अनुचित बात करती है तो उसकी मान्यता रद्द की जा सकती है और मिल-मालिक पर एक हज़ार रुपया तक जुर्माना हो सकता है।

(च) एक्ट के पालन कराने का ज़िम्मा राज्यों पर है और वे इस काम के लिए रजिस्ट्रार ट्रेड यूनियन की नियुक्ति करते हैं। पर रजिस्ट्रार को ट्रेड यूनियन के रजिस्टर आदि जांचने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार क़ानून में संशोधन करके रजिस्ट्रार को दिया जाना चाहिये।

औद्योगिक संघर्ष—मज़दूर-संगठन के सम्बन्ध में लिखते हुए हमने यह लिखा है कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही भारतीय मज़दूर ने अपने आप को संगठित करने का विशेष प्रयत्न आरम्भ किया। औद्योगिक संघर्षों का इतिहास भी हमें यही बतलाता है कि भारतवर्ष में प्रथम महायुद्ध के बाद ही मज़दूरों और मिल-मालिकों के संघर्ष का युग आरम्भ होता है। १६२४ में और १६२५ में और बाद में १६२८ और १६२६ में बम्बई में बहुत बड़ी-बड़ी आम हड़तालें हुईं जिनमें

लाख मज़दूरों ने भाग लिया। १९२९ की हड़ताल में पहली बार कम्यूनिस्टों का प्रभाव प्रकट हुआ था। इन हड़तालों का एक परिणाम यह हुआ कि १९२९ में ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट पास किया गया। इस तथा इस जैसे दूसरे क़ानूनों का विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे। १९३७ में जब राज्यों में लोक प्रिय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए तो फिर हड़तालों की बाढ़ सी आगई। तत्कालीन कांग्रेसी सरकारों ने मज़दूरों की स्थिति की जांच करने के लिए जांच कमेटियां नियुक्त कीं (उ॰ प्र॰, बम्बई, बिहार), लेबर ऑफिसर नियुक्त किये गए और मज़दूरों की स्थिति में सुधार करने की योजनायें भी बनाई गई। परन्तु मज़दूर को सन्तोष न हुआ क्यों कि उनकी आशायें बहुत बड़ी हुई थीं, और वास्तव में मज़दूरों के लिए बहुत हो भी नहीं सका था। इसके अलावा मज़दूर यह जानते थे कि कांग्रेसी शासन में उन पर दमन नहीं हो सकता। कांग्रेस के विरोधी राजनैतिक दल भी इस स्थिति का लाभ उठा कर मज़दूरों को उकसाने में लगे रहते थे। कानपुर की १९३८ की आम हड़ताल, और बंगाल में जूट की मिलों की आम हड़ताल (१९३७) इस समय की ख़ास हड़तालें थीं। जब महायुद्ध के आरम्भ होते ही कांग्रेसी मन्त्रि मण्डलों ने स्तीफा दे दिया और मज़दूर हितकर कार्यों की उनकी योजनाएँ आगे नहीं बढ़ सकीं। महायुद्ध के समय में (१९३९-१९४५) हड़तालों आदि की दृष्टि से देश में अपेक्षाकृत शांति रही। इसका एक कारण यह था कि भारत रक्षा नियम के अंतर्गत मज़दूरों पर कई प्रतिबंध थे, दूसरे कम्यूनिस्ट और रायवादी मज़दूर कार्य-कर्त्ताओं ने युद्ध के समर्थन का मज़दूरों में बहुत प्रचार किया। यद्यपि १९४१ से हड़तालों की संख्या तो ३५९ से बढ़कर १९४२ में ६९४, १९४३ में ७१६, १९४४ में ६५८ और १९४५ में ८२० होगई, पर काम के दिनों में हानि की संख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। १९४१ में जहां ३३ लाख काम के दिनों की हानि हुई थी १९४५ में यह हानि ४० लाख दिन के लगभग थी। परन्तु युद्ध समाप्त हो जाने के उपरान्त जब नये चुनावों के अनुसार अधिकांश राज्यों में कांग्रेसी सरकारें स्थापित होगई तो फिर हड़तालों की संख्या बढ़ने लगी। नतीजा यह हुआ कि युद्ध के समय की अपेक्षा १९४६ और १९४७ में हड़तालों की संख्या और काम के दिनों की हानि दोनों ही दृष्टियों से स्थिति बहुत बिगड़ गई। हड़तालों की संख्या १९४६ में, १९२९ और १९४७ में १८११ होगई, और काम के दिनों के हानि की संख्या क्रमशः १ करोड़ २७ लाख और १ करोड़ ६१ लाख होगई। १९४७ के अप्रेल में हड़तालों की लहर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। उसके बाद उसमें उतार आया जो इस समय तक जारी है। हड़तालों के सम्बन्ध में दो एक बात और उल्लेखनीय हैं जिनका संकेत कर देना उचित है।

यदि हम प्रथम महायुद्ध के बाद से अब तक के इन तीस वर्षों का हड़तालों सम्बन्धी अध्ययन करें तो हमें एक बात तो यह मालूम होगी कि कुल मिलाकर हड़तालें करने की प्रवृत्ति काफ़ी बढ़ी है। हड़ताल में शामिल होनेवाले मज़दूरों की संख्या में भी यह वृद्धि देखी जाती है। हाँ पिछले दो या तीन वर्षों में इन दोनों बातों में सुधार देखने को मिलता है; पर इसका कोई स्थायी महत्त्व मानना ठीक नहीं हो सकता। एक बात और है कि हड़ताल करने की प्रवृत्ति में उसमें शामिल होनेवाले मजदूरों की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है। इसका अर्थ यह है कि अब हड़तालें ऐसे छोटे-छोटे उद्योगों और कामों में भी होने लगी है जिनमें पहले नहीं होती थीं। हड़तालों के समय के बारे में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि अब हड़तालें उतनी लम्बी नहीं होतीं जितनी पहले होती थीं। मजदूर-संगठन के विकास के बावजूद भी मज़दूरों की सौदा करने की शक्ति किसी हद तक कम होती गई है, क्योंकि मज़दूरों की संख्या बढ़ी है, मिल-मालिकों का विरोध कम नहीं हुआ है और राष्ट्र की सहानुभूति में भी कमी आई है। फिर भी सरकार के हस्तक्षेप से मज़दूरों को बल मिला है। इसका असर हड़तालों के कारण मजदूर को होनेवाली हानि में कमी होने का भी हुआ है।

हड़तालों के कारणों का यदि हम विश्लेषण करें तो हमें निम्नलिखित कारण मिलेंगे— वेतन-वृद्धि अथवा बोनस या मँहगाई-भत्ते सम्बन्धी मांग, व्यक्तिगत शिकायतें—जैसे मज़दूरों के साथ मिल-मालिकों का दुर्व्यवहार सम्बन्धी, या बरख़ास्तगी तथा छटनी आदि सम्बन्धी, अन्य कोई विशेष आर्थिक परिस्थिति जैसे आर्थिक मंदी, वस्तुओं की मँहगाई, रोज़गार की स्थिति आदि। पर अधिकतर हड़तालों का कारण मज़दूरों की वेतन वृद्धि सम्बन्धी मांग ही होती है। कभी-कभी राजनैतिक कारणों को लेकर भी हड़तालें हुई हैं, पर ऐसा बहुत कम हुआ है। उद्योग-धन्धों की दृष्टि से यदि हम विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े के उद्योग में सबसे अधिक हड़तालें हुई हैं। राज्यों की दृष्टि से बम्बई, मद्रास और बंगाल तथा उत्तर प्रदेश में हड़तालों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रही है।

औद्योगिक शांति के प्रयत्न—हम यह लिख चुके हैं कि १९४७ में औद्योगिक अशांति बहुत बढ़ गई। उसका परिणाम यह हुआ कि देश में उत्पादन की मात्रा में भी बड़ी कमी आ गई। इस स्थिति की ओर भारत-सरकार का ध्यान गया और दिसम्बर १९४७ में उसने एक त्रिदलीय सम्मेलन बुलाया जिसमें सरकार (केन्द्रीय और राज्यों की), मजदूर और मिल-मालिक तीनों के प्रतिनिधि शामिल थे। इस सम्मेलन में सर्व सम्मति से औद्योगिक शांति संबंधी एक प्रस्ताव पास किया

गया। इस प्रस्ताव में मज़दूरों और पूँजीपतियों के आपस के सहयोग की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया और यह कहा गया कि मज़दूरों को उचित मज़दूरी और काम की परिस्थितियाँ प्राप्त होनी चाहिएँ और पूँजीपतियों को उचित मुनाफ़ा मिलना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्मेलन ने निम्न उपायों के बारे में सिफ़ारिश की—(१) यदि मज़दूरों और मिल मालिकों में कोई झगड़ा पैदा हो तो उन्हें मिल जुल कर शांतिपूर्वक सुलझाना चाहिये और इसके लिए क़ानूनी और दूसरी जो भी व्यवस्था हो उसका उपयोग करना चाहिए। जहाँ ऐसी व्यवस्था न हो वहाँ तुरन्त ऐसी व्यवस्था खड़ी करनी चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो देश भर में एक सी व्यवस्था होनी चाहिए। (२) उचित मज़दूरी और काम की परिस्थितियों और पूँजी के लिए उचित पुरस्कार सम्बन्धी अध्ययन और निश्चय करने के लिए केन्द्रीय, प्रान्तीय और धन्धेवार व्यवस्था रखनी चाहिए और उत्पादन सम्बन्धी मसलों में मज़दूरों का सहयोग प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय प्रादेशिक और कारख़ानेवार उत्पादन समितियाँ स्थापित होनी चाहिएँ। (३) हर एक कारख़ाने में रोज़मर्रा के झगड़ों को सुलझाने के लिए मज़दूर और मिल मालिक के प्रतिनिधियों की 'वर्क्स कमेटियाँ' क़ायम की जानी चाहिएँ। (४) मज़दूरों के मकानों की समस्या हल करने की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए और जहाँ तक खर्च का सम्बन्ध है उसका मज़दूर, मिल मालिक और सरकार में बँटवारा होना चाहिए। मज़दूर का हिस्सा उचित किराये के रूप में वसूल किया जाना चाहिए। अन्त में सम्मेलन ने मज़दूरों और पूँजीपतियों से औद्योगिक शांति क़ायम रखने की अपील की।

भारत सरकार ने तमाम राज्य की सरकारों को उक्त प्रस्ताव के अनुसार कार्रवाई करने के बारे में लिखा। अप्रैल १९४८ में सरकार ने जो औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार किया उसमें भी औद्योगिक शांति सम्बन्धी इस प्रस्ताव को स्वीकार किया गया। इस सम्बन्ध में सरकार ने जो व्यवस्था विभिन्न स्तर पर स्थापित करने का निश्चय किया वह इस प्रकार थी—सारे देश के लिए एक 'केन्द्रीय सलाहकार-समिति' हो और उसके नीचे प्रत्येक प्रमुख उद्योग धन्धे के लिए एक कमेटी हो। इन कमेटियों की कई उप-कमेटियाँ हो सकती हैं जो सम्बन्धित उद्योग धन्धे की अलग अलग समस्याओं के बारे में बनाई जाएँ—जैसे उत्पादन, औद्योगिक सम्बन्ध, मज़दूरी सम्बन्धी निर्णय, और लाभ का बँटवारा आदि। इसी प्रकार राज्यों में प्रान्तीय सलाहकार मण्डल हो जो प्रान्त भर के उद्योग को अपना क्षेत्र माने। उनके नीचे हर प्रमुख उद्योग के लिए प्रान्तीय कमेटियाँ हों और इन प्रान्तीय कमेटियों की और उप कमेटियाँ

भी हो सकती हैं। प्रान्तीय कमेटियों के बाद प्रत्येक बड़े कारखाने में उत्पादन कमेटी और वर्क्स कमेटी भी स्थापित की जानी चाहिये। १६४८ में इंडियन लेबर कान्फ्रेंस में औद्योगिक शांति सम्बन्धी प्रस्ताव को पक्की तौर से स्वीकार कर लिया।

प्रश्न यह है कि उक्त प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए क्या-क्या प्रयत्न अब तक हुए हैं। भारत सरकार ने इसी दृष्टि से एक विशेष पदाधिकारी सितम्बर १६४८ में नियुक्त किया। बम्बई सरकार ने एक ट्रिब्यूनल इसीलिए बनाई कि वह यह देखे कि इस प्रस्ताव का उल्लंघन कहाँ-कहाँ होता है। पश्चिमी बंगाल और मद्रास ने भी औद्योगिक ट्रिब्यूनल की नियुक्ति की है। केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय मजदूर-सलाहकार-परिषद् (सेन्ट्रल लेबर एडवाइजरी कौंसिल) की स्थापना कर दी है। इसमें सरकार, मज़दूर, और मालिक तीनों के प्रतिनिधि हैं। एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् (उद्योग धन्दे) की स्थापना भी की जा चुकी है। इसमें केन्द्रीय और राज्य की सरकारों, पार्लियामेंट, मिल-मालिकों के संगठनों, मजदूर-संगठनों और देश के प्रमुख उद्योग धन्धों के प्रतिनिधि शामिल हैं। इसका काम औद्योगिक उत्पादन और उद्योग-धन्धों संबन्धी दूसरे मामलों में सरकार की सहायता करना है। कुछ प्रान्तों ने भी प्रान्तीय मजदूर-सलाहकार मण्डलों (प्रोविंशियल लेबर एडवाइज़री बोर्ड) की स्थापना की है। केन्द्रीय सरकार के कारखानों के मज़दूरों को उचित मज़दूरी और काम की परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकें इस दृष्टि से भारत-सरकार ने एक विशेष ट्रिब्यूनल (केन्द्रीय कार्यालय कलकत्ता) स्थापित की है। राज्य की सरकारें भी मज़दूर-पूंजीपतियों के झगड़े अस्थायी संस्थाओं, एडजूडीकेटर या ट्रिब्यूनल्स के पास भेजती हैं ताकि मज़दूरों को उचित मज़दूरी और काम की परिस्थितियाँ मिल सकें। न्यूनतम मज़दूरी कानून पास हो चुका है। कोयले की खानों में काम करने वालों के लिए प्रोविडेन्ट फंड की योजना का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। कई बड़े-बड़े उद्योगों के लिए तीनों पक्षों (सरकार, मालिक और मज़दूर) के प्रतिनिधियों की औद्योगिक समितियाँ स्थापित हो चुकी हैं—जैसे सूती कपड़े की मिलें, बाग, कोयला निकालने का उद्योग और सीमेंट-उद्योग। केन्द्रीय सरकार ने वर्क्स कमेटियाँ और उत्पादन कमेटियाँ स्थापित करने के लिए बड़े-बड़े बन्दरगाहों, खानों, तेल निकालने के स्थानों और केन्द्रीय सरकार के कारखानों आदि (रेलवे के अलावा) के मालिकों को आदेश दिये हैं। उत्तर प्रदेश, बम्बई, मद्रास, पश्चिमी बंगाल और मध्य प्रदेश की सरकारों ने भी इसी प्रकार के आदेश उन तमाम कारखानों को, जो १६४७ के औद्योगिक संघर्ष कानून के अन्तर्गत आते हैं, भेजे हैं। केन्द्रीय मज़दूर

सलाहकार परिषद् को उचित मजदूरी, पूंजी पर उचित मुआवजे और अतिरिक्त लाभ में मजदूरों के हिस्से सम्बन्धी मामलों का निर्णय करने में सहायता देने के लिए भारत सरकार ने विशेषज्ञों से पूंजी पर उचित पुरस्कार, मजदूर का अतिरिक्त लाभ में हिस्सा, और वाजिब रक्षित कोष पर प्रारम्भिक अध्ययन कराना उचित समझा। अस्तु इन बातों पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की (कमेटी ऑन प्रौफिट शेयरिंग) जिसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित हो चुकी है। केन्द्रीय सलाहकार परिषद् के सामने जब यह रिपोर्ट पेश हुई (जुलाई १९४९) तो वह इस बारे में कोई निर्णय नहीं दे सकी। हाँ उचित मजदूरी के बारे में जो कमेटी नियुक्त हुई उसकी रिपोर्ट परिषद् ने स्वीकार कर ली। इस समय (मार्च १९५१) उचित मजदूरी सम्बन्धी बिल संसद के सामने पेश है। इस बारे में अन्तिम प्रश्न यह है कि औद्योगिक शान्ति के प्रस्ताव का वास्तव में क्या परिणाम आया। १९४८ के औद्योगिक हड़तालों सम्बन्धी आँकड़े देखने से पता लगता है कि इस स्थिति में यथेष्ट अन्तर हुआ है। १९४८ में कुल १२५६ हड़तालें हुईं और ७८ लाख के लगभग काम के दिनों की हानि हुई जब कि १९४७ में हड़तालों की संख्या यद्यपि १८११ थी पर काम के दिनों का नुकसान एक करोड़ पैंसठ लाख का हुआ जो १९४८ की अपेक्षा बहुत अधिक है। १९४८ के बाद भी यह प्रवृत्ति जारी रही है। औद्योगिक शान्ति के प्रस्ताव के अलावा हड़तालों सम्बन्धी स्थिति में पिछले सालों में जो सुधार हुआ है उसके कुछ कारण और भी हैं, जैसे—मजदूर संगठन पर इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस का प्रभाव, रोजगार की असन्तोषजनक स्थिति, कम्यूनिस्टों का मजदूरों पर गिरता हुआ प्रभाव और अनिवार्य पंच निर्णय की पद्धति का बढ़ता हुआ उपयोग। अब हम औद्योगिक शान्ति के लिए जो-जो कानून पास हो चुके हैं उन पर थोड़ा विचार करेंगे।

केन्द्रीय औद्योगिक संघर्ष कानून—मजदूर और मालिकों के आपसी संघर्ष को सुलझाने के लिए भारत में सबसे पुराना क़ानून १८६० का एम्पलोयर्स और वर्कमैन (डिस्प्यूट्स) एक्ट था। इस क़ानून के अनुसार मजिस्ट्रेट को रेलवे, नहर और दूसरे सार्वजनिक कामों में लगे हुए मजदूरों के मजदूरी संबंधी झगड़ों को सुलझाने का अधिकार था, और प्रसंविदा भंग को फौजदारी अपराध माना गया था। यद्यपि इस क़ानून का उपयोग तो पहले ही बन्द हो गया था, पर यह रद्द १९३२ में हुआ। सन् १९२९ में पाँच वर्ष के लिए औद्योगिक संघर्षों के सम्बन्ध में पहला क़ानून भारत सरकार ने 'ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट' के नाम से पास किया। १९३४ में यह एक्ट स्थायी कर दिया गया। शाही मजदूर कमीशन

ने जो इस सम्बन्ध में सुझाव दिये थे उनमें से भी कुछ इस समय इस क़ानून में शामिल कर लिये गये थे। इस एक्ट में औद्योगिक संघर्ष को सुलझाने के लिए जाँच कचहरियों (कोर्ट ऑव इन्क्वायरी) और समझौता मंडल (कन्सीलियेशन बोर्डस्) स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। सार्वजनिक सेवा से सम्बन्ध रखने वाले कारखानों में अचानक हड़ताल या द्वारावरोध न हो सके, इस उद्देश्य से हड़ताल या द्वारावरोध के लिए इन उद्योग-धन्धों में १४ दिन का नोटिस देना अनिवार्य कर दिया गया था। औद्योगिक संघर्ष के अलावा और किसी उद्देश्य से की जाने वाली हड़ताल या द्वारावरोध ग़ैर क़ानूनी करार दिया गया था। १९३८ में इस क़ानून में संशोधन किया गया। इस संशोधित क़ानून के अन्तर्गत समझौता अफ़सर (कनसीलियेटिंग ऑफ़िसर्स) नियुक्त करने की व्यवस्था की गई जिनका काम मज़दूर-मालिक के संघर्ष में बीच बचाव करना और उनके निपटारे में सहायता देना था। क़ानून का क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा थोड़ा विस्तृत कर दिया गया। ग़ैर क़ानूनी हड़तालों और द्वारावरोध के बारे में व्यवस्था थोड़ी ढीली करदी गई।

गत महायुद्ध के समय इस क़ानून के कुछ दोष ख़ास तौर से सामने आए। इस क़ानून में औद्योगिक झगड़ों को सुलझाने के लिए केवल अस्थायी व्यवस्था की गई थी। दूसरे जाँच कचहरी या समझौता मंडल के निर्णय अन्तिम और अनिवार्यतः लागू होने वाले नहीं थे। गत महायुद्ध के समय भारत रक्षा नियम के नियम ८१ ए के अनुसार जो जनवरी १९४२ में लागू किया गया था, सरकार को यह अधिकार था कि वह किसी भी झगड़े को निर्णय के लिए पेश करदे और जो भी निर्णय हो उसे कार्यान्वित करे। यह नियम अस्थायी था और भारत-सरकार इसे स्थायी बनाना चाहती थी। अस्तु, १९४७ में इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट पास किया गया। इसके मुख्य-मुख्य प्रावधान नीचे दिये गये हैं—

(क) भारत सरकार (संघीय रेलवे, केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित धंधे, बड़े-बड़े बन्दरगाह, खान, तेल निकालने के स्थान) और राज्य की सरकारों को अपने-अपने क्षेत्र में यह अधिकार है कि वह किसी भी झगड़े को जाँच कचहरी के पास जाँच के लिए, समझौता मंडल के पास समझौते के लिए, और औद्योगिक ट्रिब्यूनल के पास निर्णय के लिये भेज दें। यदि किसी झगड़े का संबंध सार्वजनिक सेवा से संबंध रखने वाले धंधे से है और उसका नोटिस दे दिया गया है तो उस झगड़े को ट्रिब्यूनल के पास भेजना अनिवार्य है; जब तक कि सरकार यही न समझे कि ऐसा करना अनुचित होगा या जो नोटिस दिया गया है वह निरर्थक है। यदि किसी झगड़े से संबंधित दोनों पक्ष यह माँग करें कि उनका झगड़ा कोर्ट

बोर्ड या ट्रिब्यूनल के पास भेजा जाना चाहिये तो सरकार को उसे भेजना होगा। जब मामला ट्रिब्यूनल या बोर्ड के पास है तो सरकार हड़ताल या तालाबन्दी जारी रखने की मनाही कर सकती है।

(ख) सम्बन्धित सरकारों को यह भी अधिकार है कि वे किसी भी उद्यम, जहाँ १०० या अधिक व्यक्ति काम करते हैं वर्क्स कमेटी बनाने का आदेश दे दें। इन कमेटियों में मज़दूरों और मालिकों के बराबर प्रतिनिधि होने चाहिये और इनका काम मज़दूर और मालिक में अच्छे सम्बन्ध बनाए रखने का प्रबन्ध करना और किसी भी मामले में इस दृष्टि से आपसी मत भेद को दूर करना है।

(ग) संबंधित सरकार को किसी भी स्थान या उद्योग के लिए स्थायी तौर पर या अमुक निश्चित समय के लिए समझौता अफसर नियुक्त करने का भी अधिकार है। इनका काम झगड़ों को मिलजुल कर सुलझाने का प्रयत्न करना है। समझौता अफसर के लिए यह आवश्यक है कि सार्वजनिक सेवा से सम्बन्ध रखने वाले धंधों में होने वाले झगड़ों को यदि आवश्यक नोटिस दे दिया गया है तो सुलझाने का प्रयत्न करें। समझौता आफिसर का कर्तव्य है कि समझौते के सम्बन्ध में जो भी कारवाई की गई है उसकी सरकार को कारवाई आरम्भ होने से ज्यादा से ज्यादा १४ दिन में रिपोर्ट करे। अगर समझौते की कारवाई असफल रहे तो सरकार उस मामले को चाहे तो बोर्ड या ट्रिब्यूनल के पास भेज सकती है। यदि सरकार ऐसा न करे तो सम्बन्धित पक्षों को ऐसा नहीं करने का कारण बतलाया जाना चाहिये।

(घ) संबंधित सरकार को आवश्यकता होने पर समझौता बोर्ड नियुक्त करने का अधिकार है। समझौता बोर्ड में एक स्वतन्त्र अध्यक्ष और मज़दूर और मालिक के बराबर बराबर प्रतिनिधि, जिनकी मिलाकर संख्या दो या चार हो, होना आवश्यक है। सदस्य संबंधित पक्षों की सिफारिश पर नियुक्त किये जाते हैं। उनका काम वही है जो समझौता अफसरों का। परन्तु समझौते की कारवाई के असफल होने पर बोर्ड को रिपोर्ट में समझौते संबंधी अपनी सिफारिशें भी देनी होती है। यदि सरकार सार्वजनिक सेवा से सम्बन्ध रखने वाले धन्धों के किसी झगड़े को समझौते की कारवाई के असफल होने पर भी ट्रिब्यूनल के पास नहीं भेजती है तो संबंधित पक्षों को इसका कारण बताना होगा। समझौते बोर्ड को साधारणतया दो महीने में अपनी रिपोर्ट दे देनी चाहिये।

(ङ) संबंधित सरकार को आवश्यकता होने पर किसी झगड़े की जाँच करने के लिए कोर्ट नियुक्त करने का अधिकार है। कोर्ट में एक या एक से अधिक स्वतन्त्र व्यक्ति होते हैं और एक से अधिक व्यक्ति होने पर उनमें से एक अध्यक्ष

होता है। कोर्ट का काम जो मामला उसके सामने आवे उसके बारे में जाँच करके छह महीने में सरकार को रिपोर्ट दे देना है।

(च) संबंधित सरकार को औद्योगिक झगड़ों-संबंधी निर्णय देने के लिए ट्रिब्यूनल नियुक्त करने का अधिकार है। ट्रिब्यूनल में एक या एक से अधिक स्वतंत्र व्यक्ति, जो हाई कोर्ट या डिस्ट्रिक्ट कोर्ट के जज हैं या रह चुके हैं, सदस्य होते हैं। हाई कोर्ट की स्वीकृति से वे व्यक्ति भी ट्रिब्यूनल मे नियुक्त किये जा सकते हैं जो हाई कोर्ट के जज बनने की योग्यता रखते हैं। ट्रिब्यूनल का निर्णय दोनों पक्षों के लिए मानना आवश्यक है। यदि सरकार स्वयं किसी झगड़े में एक पक्ष के तौर पर है तो ट्रिब्यूनल का निर्णय धारा सभा के सामने जायगा यदि सरकार उसे लागू करना ठीक नहीं समझती है और धारा सभा का जो भी निर्णय होगा—रद्द करने का, संशोधन करने का या स्वीकार करने का—वह सरकार को मानना होगा।

(छ) कानून में ग़ैर कानूनी हड़ताल और द्वारावरोध की भी व्याख्या की गई है। उदाहरण के तौर पर सार्वजनिक सेवा के धंधों में नियमित नोटिस न देने पर और नोटिस देने के १४ दिन के अन्दर-अन्दर या समझौता कार्रवाई जब समझौता अफ़सर के सामने चल रही है उस समय मे और उस कार्रवाई के समाप्त होने के बाद सप्ताह भर पहले, हड़ताल या द्वारावरोध करना ग़ैर कानूनी है। इसी प्रकार से सब धंधों के बारे में आम प्रतिबंध है कि यदि बोर्ड के सामने समझौते की कार्रवाई चल रही है तो उस बीच में अथवा समझौता की कार्रवाई समाप्त होने के बाद सात दिन से पहले, ट्रिब्यूनल के सामने मामला पेश हो तब और कार्रवाई समाप्त होने के बाद दो महीने पहले, या उस समय में जब कोई निर्णय लागू है, हड़ताल या द्वारावरोध होगा तो वह ग़ैर कानूनी होगा। ग़ैर कानूनी हड़ताल या द्वारावरोध को आर्थिक सहायता देने की भी मनाही है।

कानून में ग़ैर कानूनी हड़ताल या द्वारावरोध करने और उनको प्रोत्साहन देने और निर्णय को भंग करने आदि के अपराधों के लिए दण्ड का विधान भी किया गया है। जब बोर्ड, ट्रिब्यूनल, या समझौता अफ़सर के सामने कोई कार्रवाई चल रही हो तो कोई मालिक किसी मज़दूर को बिना बोर्ड, ट्रिब्यूनल या समझौता अफ़सर की लिखित स्वीकृति के न बरख़ास्त कर सकता और न सज़ा दे सकता है, जब तक कि उसके अनुचित व्यवहार का संबंध झगड़े के अलावा किसी दूसरी बात से न हो।

इस क़ानून को कार्यान्वित करने के लिए सम्बन्धित सरकारों ने नियम भी बनाये हैं।

इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (एपिलेट ट्रिब्यूनल) एक्ट १६५०—इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट १६४७ में एक यह दोष था कि विभिन्न ट्रिब्यूनलों में समन्वय करने वाली देश भर के लिए कोई एक संस्था न थी। जिन उद्योगों का कारबार एक से अधिक राज्यों में फैला था उनको अलग अलग ट्रिब्यूनलों के परस्पर विरोधी और एक दूसरे से भिन्न निर्णयों से विशेष कठिनाई होती थी। अस्तु, इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह क़ानून पास किया गया है। यह देश भर के लिए एक एपिलेट ट्रिब्यूनल की स्थापना करता है।

इन्डस्ट्रियल एम्प्लॉयमेंट (स्टैंडिंग आर्डर्स) एक्ट १६४६—यह कानून सारे देश में लागू होता है और १०० या अधिक व्यक्ति जहाँ काम करते हैं वे स्थान इसके अन्तर्गत आते हैं। जिन उद्योगों पर बम्बई इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट का पाँचवां परिच्छेद लागू होता है उन पर यह एक्ट नहीं लागू होता। केन्द्रीय और राज्य की सरकारों को इसके क्षेत्र को बढ़ाने का और किन्हीं धन्धों को उससे मुक्त करने का अधिकार है। इस कानून का उद्देश्य ऐसे स्थायी नियमों का निर्माण करना है जो सरकार द्वारा स्वीकृत किये जाय और जो मज़दूरों और मालिकों के परस्पर सम्बन्धों और काम की परिस्थितियों का नियंत्रण करते हैं।

राज्यों के औद्योगिक संघर्ष सम्बन्धी कानून—कई राज्यों ने भी औद्योगिक संघर्ष सम्बन्धी कानून अपनी विशेष आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पास किये हैं। बम्बई सरकार ने इस मामले में पहल की थी और १६३४ में एक कानून पास किया था। १६३८ में उसके स्थान पर दूसरा क़ानून पास किया गया। फिर १६४७ में बम्बई औद्योगिक सम्बन्धी कानून पास हुआ जो इस समय भी लागू है। १६४८ में इस कानून में कुछ संशोधन किये गए थे। इस एक्ट का उद्देश्य औद्योगिक शांति स्थापित करना है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक्ट में मालिक और मज़दूर की सम्मिलित समितियाँ (ज्वाइंट कमेटी) स्थापित करने की, झगड़ा होने की हालत में अनिवार्यतः विचार विनिमय और बात चीत द्वारा (जिसके लिए सात दिन का समय निश्चित किया गया है) झगड़ा सुलझाने के प्रयत्न करने की और यदि यह प्रयत्न सफल न हो तो समझौता के लिए समझौता-अफसर और समझौता बोर्ड स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। इसके अलावा एक्ट में अन्तिम प्रयत्न के रूप में पंच निर्णय (आरबीट्रेशन) के लिए भी व्यवस्था है। यह पंच निर्णय दोनों पक्षों के चाहने पर तो अनिवार्य हो ही जाता है, पर सरकार को भी यह अधिकार है कि वह किसी मामले को निर्णय के लिए लेबर कोर्ट या इन्डस्ट्रियल कोर्ट के पास भेजदे। अस्तु, अनिवार्य पंच निर्णय (आरबीट्रेशन) का सिद्धांत इस एक्ट में भी स्वीकार कर लिया गया

है। इन्डस्ट्रियल कोर्ट (कोर्ट फॉर इन्डस्ट्रियल आरबीट्रेशन) मामूली तौर से अपील कोर्ट का काम करती है और रजिस्ट्रार, लेबर कमिश्नर और लेबर कोर्ट के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनती है। यदि कोई समझौता-अफ़सर (कन्सीलियेटर) या समझौता-मंडल इसके पास कोई मामला भेजे तो उसका निर्णय करना भी कोर्ट का काम है। एक्ट में लेबर ऑफिसर और कोर्ट ऑव इन्क्वायरी की नियुक्ति संबंधी धाराएँ भी हैं। १९४८ में जो संशोधन किया गया था उसके अनुसार मजदूर-मंडलों (वेज बोर्ड्स) की स्थापना भी की जा सकती है। इनका काम समस्त उद्योग से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी आम समस्याओं पर विचार करना है जैसे मज़दूरी का प्रमापी करण (स्टेन्डर्डाईज़ेशन), वैज्ञानिकन (रेशनलाईज़ेशन), कार्य की दक्षता आदि। प्रत्येक उद्योग के लिए राज्य भर में एक वेज बोर्ड स्थापित किया जा सकता है और इसमें मज़दूरों और मालिकों के बराबर की संख्या में प्रतिनिधि तथा कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति सदस्य होते हैं। इन्डस्ट्रियल कोर्ट को अधिकार है कि वेज बोर्ड पर सामान्य नियंत्रण रखे। वेज बोर्ड के निर्णयों की अपील इन्डस्ट्रियल कोर्ट के सामने की जा सकती है। एक राज्य भर के लिए वेज बोर्ड नियुक्त करने की भी ऐक्ट में व्यवस्था की गई है। इसका काम सब उद्योगों से सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर विचार करना है। हड़ताल द्वारा विरोध आदि अन्य बातों के बारे में भी इस एक्ट में प्राबधान हैं।

मध्य-प्रान्त और उत्तर-प्रदेश में भी इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट लागू हैं जो १९४७ में पास किये गये थे। मध्य प्रान्त के क़ानून में भी अन्य बातों के अलावा वर्क्स कमेटी, लेबर कमिश्नर, डिस्ट्रिक्ट और प्रोविन्शियल इन्डस्ट्रियल कोर्ट, समझौता और पंच निर्णय [आरबीट्रेशन] संबंधी धाराएँ हैं।

उत्तर प्रदेश के एक्ट में सरकार को हड़तालें और द्वारावरोध रोकने के लिए आम अधिकार दिया गया है और इन्डस्ट्रियल कोर्ट आदि स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह (१) हड़ताल या द्वारावरोध पर आम प्रतिबन्ध लगाने या किसी झगड़े विशेष के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाने, (२) मजदूरी और मिल-मालिकों को काम की अमुक शर्तों और परिस्थितियों को स्वीकार करने, (३) इन्डस्ट्रियल कोर्ट्स नियुक्त करने (४) किसी झगड़े को समझौता या निर्णय के लिए पेश करने (५) सार्वजनिक सेवा के धंधे को काम करते रहने और बन्द न होने देने और उन पर नियंत्रण स्थापित करने (६) तथा दूसरे संबंधित मामलों के बारे में आदेश जारी कर सकें।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि औद्योगिक शांति कायम करने के

लिए केन्द्रीय और राज्य की सरकारों ने क्या-क्या कानून पास किए हैं। अधिकांश राज्यों में केन्द्रीय और राज्य के कानून के अनुसार जो संगठन स्थापित होने चाहिये वह स्थापित किया जा चुका है। परन्तु, आज विभिन्न स्थानों में औद्योगिक झगड़ों को रोकने और सुलझाने के लिए वर्क्स कमेटीज, ज्वाइंट कौंसिल (बम्बई), लेबर आफिसर्स, कन्सीलियेशन आफिसर्स, तथा पंच निर्णय के लिए लेबर कोर्ट्स और इण्डस्ट्रियल कोर्ट्स काम कर रहे हैं। बम्बई में वेज बोर्ड कायम किए गये हैं। केन्द्रीय और राज्य की सरकारों द्वारा अस्थायी इण्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल्स की स्थापना भी की जाती है। स्थायी इण्डस्ट्रियल कोर्ट्स और ट्रिब्यूनल्स की भी कई जगह स्थापना की गई है। केन्द्रीय सरकार ने दो स्टैंडिंग ट्रिब्यूनल्स धानबाद और कलकत्ते में स्थापित किए हैं।

औद्योगिक शान्ति की दृष्टि से पिछले वर्षों में जो कानून पास किए गए हैं उनके सम्बन्ध में मजदूर नेताओं को पूरा सन्तोष नहीं रहा है। औद्योगिक शान्ति का प्रश्न सुलझाने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि कारखानों के अन्दर ऐसी व्यवस्था हो जोकि पूंजीपति और मजदूर के सम्बन्धों में कटुता न आने दे। यदि कोई मत भेद खड़ा होता दिखाई पड़े तो उसे सुलझाने का शीघ्राति शीघ्र प्रयत्न किया जाए। वर्क्स कमेटी की स्थापना इस दृष्टि से एक सही दिशा की ओर उठाया गया कदम है। परन्तु अभी तक इनको भी आशातीत सफलता नहीं मिली है। प्राय मजदूर-संघ इनको अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं और इनको सहयोग नहीं देते हैं। परन्तु जो कानून पास किए गए हैं उनका एक परिणाम यह भी हुआ है कि मजदूरों का हड़ताल करने का अधिकार किसी सीमा तक मर्यादित हो गया है। क्योंकि जब तक समझौते की बातचीत चल रही हो और इस प्रकार के साधनों का पूरा-पूरा उपयोग न कर लिया जाए, हड़ताल करना गैर कानूनी हो जाता है। इसके अलावा इन कानूनों में अनिवार्य पंच निर्णय की भी व्यवस्था की गई है। मजदूर-वर्ग इन बातों का विरोध करता है और इस प्रकार की कानूनी व्यवस्था को मजदूर हित के विरुद्ध मानता है। मजदूरों का यह दृष्टिकोण सर्वथा तथ्यहीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हड़ताल की बहुत कुछ सफलता इस बात पर निर्भर रहती है कि वह एक मनोवैज्ञानिक मौके पर आरम्भ करदी जाए। यदि हड़ताल बहुत समय तक समझौता आदि के चक्कर में टल जाए तो फिर उसकी सफलता की आशा कम हो जाती है। पर इसी के साथ यदि हम व्यापक दृष्टि से विचार करें तो हमें मालूम होगा कि हड़ताल का प्रभाव समाज के आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा पड़ता है। इसलिये इस अस्त्र का आसानी से उपयोग करना भी उचित नहीं हो सकता। इस सब विवाद का सार यह है कि जो

हड़ताल-कानून पिछले वर्षों में हमारे देश में बने हैं वे इस व्यापक दृष्टि से तो उतने आपत्तिजनक नहीं कहे जा सकते जितना कि मज़दूर-नेता उनके बारे में कई बार प्रचार करते मालूम पड़ते हैं। पर यदि हम मज़दूरों की दृष्टि से विचार करें तो उनको असंतोष जनक मानना कोई बहुत अनुचित नहीं है।

ट्रेड यूनियन और मजदूर सम्बन्धों संबंधी प्रस्तावित क़ानून—मजदूरों से सम्बन्ध रखने वाले दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कानून इस समय भारतीय संसद के विचाराधीन हैं। इनमें से एक है 'लेबर रिलेशन्स बिल' और दूसरा है 'ट्रेड यूनियन एक्ट (एमेंडमेंट) बिल'। ये दोनों प्रस्तावित क़ानून १६५० के बजट सेशन में पेश किये गये थे और इस समय इनके सम्बन्ध में सेलेक्ट कमेटियों की रिपोर्ट संसद के सामने है।

इन दोनों प्रस्तावित क़ानूनों को लेकर देश में बहुत अधिक विवाद चला है और सरकार की कड़ी आलोचना की जा रही है। विशेषता यह है कि यह आलोचना मज़दूर और पूंजीपति दोनों ही पक्षों की ओर से की जा रही है। जबकि मज़दूर-पक्ष इन प्रस्तावित कानूनों को मज़दूर-हितों और मज़दूर-संगठन के लिए घातक मानता है, सरकार का यह कहना है कि इनका उद्देश्य मजदूर-हितों की रक्षा करना, उनमें स्वस्थ संगठन को प्रोत्साहित करना, और पूंजीपतियों और उनमें न्याय संबंध स्थापित करना है।

पहले हम लेबर रिलेशन्स बिल के बारे में विचार करेंगे। इसका उद्देश्य मजदूर-पूंजीपति-सम्बन्धों में समस्त देश मे समानता लाने का प्रयत्न करना है। इस समय केन्द्रीय तथा अलग-अलग राज्यों के अलग-अलग क़ानूनों के होने से कई प्रकार की उलझनें और विरोधाभास उत्पन्न हो जाते हैं। अस्तु, इस क़ानून का एक उद्देश्य देश भर में समान आधार पर मज़दूर-सम्बन्धों की स्थापना करना है। और दूसरा उद्देश्य मौजूदा क़ानूनों में जो भी कमियां हैं उनको दूर करना है। इस प्रस्तावित कानून का क्षेत्र बहुत ही व्यापक रखा गया है। न केवल औद्योगिक और व्यापारिक बल्कि सब प्रकार की संस्थाओं (इस्टब्लिशमेंट) पर जिसमें दस या अधिक व्यक्ति काम करते हैं, और सब प्रकार के कर्मचारियों पर (राज-कर्मचारी, फौज में काम करने वाले और घरेलू काम करने वाले लोगों को छोड़कर) यह बिल लागू होता है।

इस बिल की जिन मुख्य-मुख्य धाराओं पर विवाद है वे इस प्रकार हैं। इस बिल में मजदूरों के हड़ताल करने संबंधी अधिकार पर कुछ मर्यादायें लगाई गई हैं। जैसे मज़दूरों और मालिकों दोनों के लिए हड़ताल या द्वारावरोध के पहले नोटिस देना आवश्यक है, और नोटिस आने के बाद सात दिन के अन्दर

जिसको नोटिस मिलता है उस समझौते की बात चीत शुरू कर देनी चाहिए। एक निश्चित समय में यह बात चीत समाप्त कर देना आवश्यक है और इसका नतीजा दोनों पक्षों में समझौता होना है। यदि न आवे तो हड़ताल या तालाबन्दी किया जा सकता है। सार्वजनिक सेवा से सम्बन्ध रखने वाले धन्धों में हड़ताल या तालाबन्दी के लिए १४ दिन का नोटिस देना अनिवार्य है। यदि कोई मामला किसी लेबर कोर्ट या ट्रिब्यूनल के पास भेज दिया जाए तो हड़ताल करना मना है। इसी तरह से यदि किसी पंच निर्णय के लागू होने के समय हड़ताल की जाए तो वह भी गैर कानूनी होगी। दूसरी विवादग्रस्त धारा अनिवार्य पंच निर्णय के सिद्धान्त से सम्बन्ध रखती है। बिल में अनिवार्य पंच निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है जैसा कि इस संबंधी मौजूदा कानून में भी है। तीसरी धारा जिस पर आपत्ति की जाती है यह यह है कि मिल मालिक को यह अधिकार दिया गया है कि 'धीमे काम' की नीति को वह गैरकानूनी झगड़ा घोषित करा दे। पर यह अधिकार मजदूरों को मिल-मालिकों के विरुद्ध भी दिया गया है। बिल में सरकार को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह किसी भी ट्रिब्यूनल के निर्णय को बदल दे या रद्द कर दे। इसका भी बहुत विरोध किया जा रहा है कि यह तो न्याय में सरकार का हस्तक्षेप करना जैसा होता है। यदि किसी उचित कारण से किसी मजदूर को मिल मालिक अलग कर दे या आवश्यकता से अधिक मजदूरों की छंटनी करदी जाए, तो इस बिल में ये दोनों बातें झगड़े के अन्तर्गत नहीं मानी गई हैं। यद्यपि मिल मालिक इससे सन्तुष्ट हैं पर मजदूरों को इसमें विरोध है क्योंकि उनका यह कहना है कि इसका अर्थ तो यह है कि मजदूरों की छंटनी को लेकर तो हड़ताल का ही नहीं जा सकता। उपर्युक्त कारणों को लेकर मजदूरों की ओर से इस बिल का बड़ा विरोध किया जा रहा है। पर कुछ धाराएँ ऐसी भी हैं जिनका पूँजीपति खास तौर से विरोध करते हैं। जैसे वे इस बात का विरोध करते हैं कि इस कानून को औद्योगिक और व्यापारिक संस्थाओं के अलावा दूसरी संस्थाओं पर भी लागू किया जाए और मजदूरों के अलावा दूसरे उच्च वर्ग के कर्मचारी, जैसे-मैनेजर आदि भी इस कानून के अन्तर्गत आवें। पूँजीपतियों को इस बात से भी बहुत आपत्ति है कि ट्रिब्यूनल को किसी भी बरखास्त किए गए कर्मचारी को दुबारा काम पर लगाने का अधिकार हो। इस बिल में यदि कोई हड़ताल गैर कानूनी नहीं है तो हड़ताल के समय का मजदूरों को उनकी मजदूरी का ½ भाग तक अलाउंस के रूप में दिलाए जाने की व्यवस्था है। पूँजीपति वर्ग इसके भी विरोध में है। बिल में सरकार को किन्हीं विशेष परिस्थितियों में यह अधिकार भी दिया गया

है कि वह किसी उद्योग विशेष पर निर्णय को लागू करने की दृष्टि से ही उस उद्योग को अपने नियंत्रण में लेले। ऐसा तभी हो सकता है जब समाज के जीवन के लिये किन्हीं धंधों का चलना आवश्यक समझा जाय। उपर्युक्त विवेचन 'लेबर-रिलेशन्स बिल' से संबंध रखता है।

जहाँ तक ट्रेड यूनियन सम्बन्धी बिल का सम्बन्ध है, कुछ बातों को लेकर विशेष रूप से विरोध किया जा रहा है। एक तो यूनियन की कार्य-कारिणी में बाहर के (ग़ैर मजदूर) लोगों की संख्या के बारे में विवाद है। मजदूर-नेता यह संख्या ५० प्रतिशत तक चाहते हैं जबकि बिल में २५ प्रतिशत या चार-जो भी कम हो उसकी, व्यवस्था है। मजदूर-पक्ष यह भी नहीं चाहता कि यूनियन का रजिस्ट्रेशन रद्द करने का अधिकार रहे। राज-कर्मचारियों को हड़ताल करने के अधिकार से वंचित रखने का जो प्रस्ताव बिल में किया गया है उसका भी विरोध किया जा रहा है। मिल-मालिकों का यह भी कहना है कि मज़दूरों को ग़लत जानकारी देने के अपराध में जेल की सज़ा होनी चाहिये।

इन दोनों महत्त्वपूर्ण बिलों का जितना विरोध किया जा रहा है उनको देखते हुए यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त धाराओं में से किस-किस में कितना संशोधन होगा। सेलेक्ट कमेटी ने इस विवाद का कितना असर लिया है यह अभी मालूम नहीं है। यदि कुछ सिद्धान्त की बातों को स्वीकार कर लिया जाता तो फिर विभिन्न पक्षों में समझौता होना इतना कठिन नहीं है। इन सिद्धान्त की बातों में हड़ताल सम्बन्धी अधिकार पर मर्यादा, अनिवार्य पंच-निर्णय का सिद्धान्त प्रमुख है। अभी जो कानून लागू हैं उनमें भी इन सिद्धान्तों को स्वीकार किया जा चुका है। यदि हम देश के आर्थिक संगठन का एक वर्ग विशेष की दृष्टि से निर्माण नहीं करना चाहते और सरकार पर प्रगतिशील तत्वों का पूरा प्रभाव रहता है, और प्रत्येक वर्ग अपने संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठने के लिये तैयार है तो इसमें कोई संदेह नहीं कि इन प्रस्तावित कानूनों में जो मूल भूत सिद्धान्त है वे आपत्तिजनक नहीं कहे जा सकते।

अन्तर्राष्ट्रीय तथा दूसरी समितियों और सम्मेलनों में भारतीय मजदूर का प्रतिनिधित्व—इस बारे में हमने पहले लिखा है कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संगठन का आरम्भ से ही सदस्य है। इस संगठन की स्थापना प्रथम महायुद्ध के पश्चात् वार्साई की सन्धि के अनुसार की गई थी। इस संगठन के तीन मुख्य अङ्ग हैं—अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-कार्यालय, संचालक मण्डल ('गवर्निंग बोर्ड'), और अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सम्मेलन। संचालक मण्डल में ३२ सदस्य हैं—१६ सरकारी प्रतिनिधियों में से चुने जाते हैं और ८ मिल-मालिकों की ओर से और बाकी ८

मज़दूरों की ओर से। १६ सरकारी स्थानों में से ८ स्थान सबसे प्रमुख ८ औद्योगिक राष्ट्रों के लिए स्थायी तौर से सुरक्षित हैं। इनमें से एक स्थान भारत का भी है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों के सरकार, मिल-मालिक और मजदूर तीनों के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के ६८ कन्वेंशन्स (प्रस्ताव) में से भारत ने अभी तक १७ कन्वेंशन्स स्वीकार किये हैं। पिछले दस वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन में प्रादेशिक मजदूर सम्मेलन करने की नई नीति का विकास हुआ है। १६४७ में भारत सरकार के निमन्त्रण पर जो प्रारम्भिक एशियाई प्रान्तिक सम्मेलन (प्रिपरेटरी एशियन रीजनल कान्फ्रेंस) दिल्ली में हुआ था, वह एशियाई प्रादेशिक सम्मेलन की तैयारी के लिये ही हुआ था। एशियाई प्रादेशिक सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन जनवरी १६५० में लंका में हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के काम को उसके द्वारा स्थापित औद्योगिक समितियों से भी सहायता मिलती है। इनमें से कई समितियों का भारत भी सदस्य है। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ समय समय पर अस्थायी सम्मेलन और समितियाँ भी बुलाता रहता है। इनमें भी भारत हिस्सा लेता है। सामुद्रिक समस्याओं पर विचार करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के विशेष अधिवेशन होते हैं और सामुद्रिक प्रश्नों पर संचालक मंडल को सलाह देने के लिए एक सम्मिलित सामुद्रिक कमीशन है जिस पर जहाज़ के मालिक और जहाज़ पर काम करने वाले मजदूर दोनों के प्रतिनिधि होते हैं।

भारतीय मजदूर सम्मेलन—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन की तरह भारत में भी एक भारतीय मजदूर सम्मेलन हर वर्ष होता है जिसमें सरकार, मज़दूर और मिल मालिक तीनों ही पक्षों के प्रतिनिधि होते हैं। मजदूरों सम्बन्धी सब समस्याओं पर इस सम्मेलन में विचार होता है। इसके अलावा एक स्थायी मजदूर समिति भी है जो वर्ष में भारत सरकार के निमन्त्रण पर एक से अधिक बार मिलती है। इस त्रिदलीय संगठन (ट्रिपारटाइट मशीनरी) का आरम्भ १६४२ में ही हो गया था। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की तरह भारत सरकार ने भी अलग-अलग उद्योग धन्धों के लिए औद्योगिक समितियाँ नियुक्त करने की नीति स्वीकार कर ली है। अस्तु, सबसे पहली कमेटी बागों के बारे में स्थापित हुई थी और उसकी पहली बैठक जनवरी १६४७ में हुई थी। अब तो और उद्योगों के लिए भी इन कमेटियों की स्थापना की जा चुकी है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि किस प्रकार भारत सरकार मज़दूरों की स्थिति में सुधार करने के लिए बराबर प्रयत्नशील है और राज्य की सरकारों का भी इस ओर ध्यान रहा है। राज्य की सरकारों, मज़दूरों और मिल मालिकों से विचार विनिमय करके और उनके सहयोग से भारत

सरकार ने मज़दूरों की स्थिति में सुधार करने के लिए एक पंच वर्षीय योजना सन् १६४६ में बनाई थी। आज उसी योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है, और काफ़ी हद तक वह कार्यान्वित भी की जा चुकी है।

परिच्छेद ७

संगठित उद्योग-धन्धे

सूती वस्त्र मिल उद्योग—भारत के आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योग धन्धों में सूती वस्त्र-मिल उद्योग सबसे प्रमुख उद्योग है। देश के फैक्टरी उद्योग में कुल ३० लाख के लगभग लोग काम करते हैं। इनमें से लगभग ८ लाख आदमी सूती वस्त्र की मिलों में काम करते हैं। इन मिलों की कुल संख्या ३६६ है जिनमें ८८ सिर्फ सूत का उत्पादन करती हैं और शेष २७८ सूत और कपड़ा दोनों का उत्पादन करती हैं। १०० करोड़ रुपये की स्थायी पूंजी (ब्लाक कैपिटल) इस उद्योग में लगी हुई है। और लगभग २५० करोड़ रुपये का सालाना उत्पादन है। देश की कपड़े की कुल मांग का दो तिहाई से अधिक भाग इन मिलों द्वारा ही पूरा होता है। इनकी औसत सालाना पैदावार लगभग ४५८ करोड़ गज़ कपड़ा और १४० करोड़ पौंड सूत है और अधिकतम उत्पादन शक्ति ५०० करोड़ गज़ कपड़े और १५०-१६० करोड़ पौंड सूत का माना जा सकता है। १ करोड़ से अधिक तकुए (स्पिंडल्स) और २ लाख के लगभग करघे इन मिलों में चलते हैं। कपास की साल भर में ५० लाख गांठों का खपत होती है। दुनिया में सूती वस्त्र मिल उद्योग में तकुए और करघों की दृष्टि से भारत का स्थान पांचवां और कपास की खपत की दृष्टि से चौथा है। खाद्य उद्योग के बाद राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान इसी उद्योग का है। सारांश यह है कि सूती वस्त्र मिल उद्योग इस देश का एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण धन्धा है। इसकी एक विशेषता यह है कि यह पूंजी और प्रबन्ध दोनों की दृष्टि से ही आरम्भ से भारतीय हाथों में रहा है। अब हम इसी के विषय में आगे की पंक्तियों में लिखेंगे।

प्रारम्भिक इतिहास—इस धन्धे का इतिहास सौ वर्ष पुराना है। इसका आरम्भ १८५१ में हुआ जब बम्बई में श्री कौवासजी नाना भाई डावर नाम के एक पारसी सज्जन ने एक सूत की मिल की योजना बनाई और १८५४ में इस मिल ने काम करना भी आरम्भ कर दिया। इसके कुछ वर्षों पश्चात् अमरीका का गृह-युद्ध आरम्भ होगया और इंगलैंड में भारत के कपास की मांग बढ़गई तथा कपास का मूल्य भी बढ़ गया। इसलिए कुछ वर्षों तक इस उद्योग की प्रगति धीमी रही। परन्तु अमरीका के गृह युद्धों के समाप्त हो जाने के बाद कपास के निर्यात से जो रुपया कमाया गया था वह देश के उद्योग-धन्धों में लगने लगा और सूती कपड़ों की मिलों की संख्या भी बढ़ने लगी। १८७६ में सूती कपड़ों के मिलों

की संख्या ४७ तक पहुँच गई थी। इस समय के सूती उद्योग के प्रमुख लक्षण ये थेः—कपड़े की अपेक्षा सूत के उत्पादन की प्रधानता; बम्बई शहर और द्वीप में उद्योग का स्थानीयकरण; चीन को निर्यात होनेवाले सूत पर उद्योग की निर्भरता और आन्तरिक बाज़ार की अवहेलना। पूंजी की सुविधा, सस्ते और तेज यातायात के साधन और चीन के बाज़ार की निकटता के कारण इस उद्योग का बम्बई में स्थानीयकरण हुआ।

१८७५-१६००—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश के पहले १५ वर्षों में (१८७५-१८६०) इस उद्योग के मार्ग में कोई कठिनाई नहीं आई और उसका अच्छा विस्तार हुआ। पर बाद के दस वर्षों में कई प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित हुई। इंगलैंड के वस्त्र-उद्योग के (लकाशायर और मेनचेस्टर के) व्यवसायी भारत में इस उद्योग की उन्नति भला कैसे देख सकते थे। उन्होंने इसका विरोध किया। उस समय की विदेशी सरकार पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। विदेशी सूती माल पर से आयात कर धीरे-धीरे हटा लिया गया। बाद में जब सरकार को अपनी आय-वृद्धि के लिए फिर आयात कर लगाना पड़ा तो उसने भारतीय उत्पादन पर उत्पादन कर (एक्साइज़ ड्यूटी) उसी हिसाब से लगा दिया ताकि भारत की मिलों में तैयार माल की प्रतिस्पर्द्धा में विलायती माल महंगा न पड़े। १८६४ में यह दोनों कर (देशी सूती और विदेशी कपड़ा और सूत दोनों पर) ५ प्रतिशत के हिसाब से लगाये गये थे पर १८६६ में घटाकर ३½ प्रतिशत कर दिये गये। आयात कर में तो समय-समय पर वृद्धि होती गई, पर उत्पादन कर (जो २० नम्बर से ऊपर के सूत पर था) इसी हिसाब से लगा रहा। बहुत कुछ प्रयत्न और आन्दोलन के पश्चात् १६२६ में यह कर हटाया गया। सूती वस्त्र-मिल-उद्योग के मार्ग में एक और कठिनाई उपस्थित होगई। १८६३ में रुपये का टंकन (मिन्टेज) बन्द हो गया और उसका परिणाम यह हुआ कि चीन की मुद्रा में, जो चांदी के आधार पर थी, रुपये का मूल्य बढ़ गया और भारत तथा चीन के बीच का विनिमय-दर भारतीय निर्यात की दृष्टि से प्रतिकूल होगया। इसका प्रभाव भारतीय सूत-उद्योग पर, जो चीन पर इतना निर्भर था, बुरा पड़ा। इसके अलावा चीन और जापान में भी वस्त्रोद्योग का विकास होने लग गया था। अकाल और प्लेग का भी इसी समय इस देश को सामना करना पड़ा जिससे लोगों की क्रयशक्ति में और मज़दूरों की पूर्ति में कमी आई। इन तमाम कठिनाइयों के होते हुए भी सूती वस्त्र-मिल-उद्योग की प्रगति जारी रही। १६०० में मिलों की संख्या बढ़ कर १६३, तकुओं की ४६ लाख के लगभग, और करघों की ४० हज़ार के लगभग होगई। इस काल में एक नया

परिवर्तन यह भी हुआ कि जो नई मिलें खुलीं वे बम्बई शहर के अलावा बम्बई प्रान्त और प्रान्त के बाहर के दूसरे स्थानों में भी स्थापित हुई, जैसे अहमदाबाद, शोलापुर, सूरत, बड़ौदा, नागपुर तथा कानपुर। कच्चे माल की निकटता, श्रम और बाज़ार की सुविधा और रेल के यातायात की सुविधा के कारण ही इन स्थानों में कपास के मिलों की स्थापना हुई। अभी तक सूत उत्पादन और चीन को सूत के निर्यात की प्रधानता पहले जैसी ही बनी रही।

(६०८ १६११—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लगा कर प्रथम महायुद्ध के शुरू होने तक सूती वस्त्र मिल उद्योग की प्रगति चलती रही। १६०५ के स्वदेशी आन्दोलन से इसको प्रोत्साहन मिला। हालांकि चीन जापान से सूत का व्यापार घटता गया और दुनिया के कपास के बाज़ार में भी १६०७ में मन्दी आई, पर भारत के कपास उद्योग की प्रगति जारी रही। सन् १६१३ में मिलों की संख्या २७१, तथा तकुओं की ६८ लाख और करघों की १ लाख के लगभग थी। सूत की अपेक्षा अब बुनाई की प्रधानता होगई क्योंकि चीन और जापान ने अब हमारे सूत की मांग नहीं रही। अच्छे दर्जे का कपड़ा भी अब तैयार होने लगा और बम्बई से बाहर उद्योग का विस्तार और भी तेज़ी से होने लगा।

प्रथम महायुद्ध—जब १६१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ तो बाहर से माल का आना कम होगया और देश के अन्दर की खपत बढ़ गई। इसका असर उद्योग के विकास के लिए सहायक हुआ। मिलों के लाभ में खूब वृद्धि हुई और उनके हिस्सों का मूल्य भी बाज़ार में काफ़ी ऊंचा होगया। पर मशीनरी और दूसरा आवश्यक सामान जो करघों की मिलों को चाहिये और जो बाहर से आता था उसके आने में युद्ध के कारण कठिनाई होगई। इस कारण इस उद्योग का जितना विस्तार हो सकता था वह नहीं हो सका। मिलों और स्पिंडल्स की संख्या तो लगभग वही रही पर करघों की संख्या में अवश्य २५ प्रतिशत वृद्धि हुई। कपड़े के उत्पादन की मात्रा बढ़ी, बुनाई की प्रधानता बनी रही और सूत के निर्यात में कमी होगई। बाहर से आनेवाले कपड़े और सूत की पूर्ति में अवश्य कमी हुई पर जापान से आनेवाले माल की मात्रा बढ़गई।

युद्धोत्तर अभिवृद्धि—युद्ध के तुरन्त बाद ही युद्धोत्तर अभिवृद्धि (बूम) का आरम्भ हुआ। बम्बई में तो इसकी शुरुआत १६१७ से ही हो गई। वैसे अभिवृद्धि का समय साधारणतया १६१६ से १६२१ तक युद्ध के पश्चात् तीन साल का माना जाता है। हालांकि १६२१ के बाद भी यह अभिवृद्धि १६२२ में जारी रही। इस समय में देश में मिलों की संख्या बढ़ी यद्यपि बम्बई में तकुए (स्पिंडल्स) और करघों की संख्या को बढ़ाकर ही उद्योग का विस्तार किया गया। कपड़े

और सूत के कुल उत्पादन में वृद्धि हुई, मिलों ने अपनी शक्ति-भर काम किया, और कपड़े और सूत का आयात काफ़ी गिर गया। परन्तु जापान का आयात बढ़ता ही गया।

संकट काल—१६२३ में भारतीय सूती वस्त्र-मिल उद्योग के लिए संकट का समय आरंभ होता है, और एक तरह से १६३७ तक उसकी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं होता। इस संकट की स्थिति का सामना बम्बई की मिलों को अपेक्षाकृत अधिक करना पड़ा। इस संकट के कई कारण थे। कुछ कारण तो विश्व-व्यापी थे। युद्धोत्तर अभिवृद्धि के बाद सारे संसार में स्वाभाविक चक्रवृत्ति के नियम के अनुसार मंदी का युग आया जो १६२२ से १६२४-२५ तक रहा। १६२० के पश्चात् जब मूल्यों का ह्रास होने लगा तो कच्चे माल और खाद्य पदार्थों के मूल्यों में तैयार माल के मूल्यों की अपेक्षा अधिक ह्रास हुआ। भारतीय किसान की क्रय शक्ति इससे गिर गई और उसकी मांग भी कम होगई। इसका भी देश के वस्त्रोद्योग पर बुरा असर पड़ा। इसके अलावा एक बात यह भी हुई कि कपड़े के मूल्य में तो कमी हुई पर कपास की कीमत बढ़ती गई और इससे मिलों को नुकसान हुआ। उपर्युक्त विश्व-व्यापी कारणों के अलावा कुछ कारण ऐसे थे जिनका केवल भारत से सम्बन्ध था। भारतीय मिलों में तैयार कपड़े से विदेशी कपड़े ने फिर प्रतिस्पर्द्धा करना आरम्भ कर दी। यह प्रतिस्पर्द्धा इंगलैंड और खास कर जापान से अधिक थी। जापान के वस्त्रोद्योग को वहां की सरकार से आर्थिक सहायता मिलती थी, वहां का मज़दूर बहुत कम मज़दूरी पर काम करता था, उद्योग का संगठन अच्छा था, अच्छे यंत्रों का उपयोग होता था और वहाँ की विनिमय-नीति निर्यात के अनुकूल थी क्योंकि वहां की मुद्रा का मूल्य कम था। इस बाहरी प्रतिस्पर्द्धा के अलावा भी कुछ और कारण थे जिनका देश के वस्त्रोद्योग पर हानिकर असर पड़ा। भारत-सरकार की विनिमय-दर सम्बन्धी नीति देश के हित में नहीं थी। १६२२ से ही विनिमय-दर को बढ़ने दिया गया और आखिर में जाकर १ रु०=१ शि० ६ पेंस की दर निश्चित करदी गई। यह दर देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए ऊंची थी। बाहर से आनेवाला कपड़ा भारतीय बाज़ार में सस्ता पड़ने लगा और हमारे निर्यात की आमदनी कम हो जाने से भारतीय किसान की क्रय-शक्ति को भी हानि पहुँची। हमारे वस्त्रोद्योग का आन्तरिक संगठन दोषपूर्ण था। उसमें अधिपूंजीयन (ओवर कैपीटेलाइजेशन) था। युद्धोत्तर अभिवृद्धि के समय मिलों ने ऊँचे-ऊँचे मुनाफे बांटे पर रक्षित कोष का निर्माण यथेष्ट मात्रा में नहीं किया ताकि नई मशीनरी आदि की व्यवस्था उसमें से की जासकती। मेनेजिंग एजेन्सी-प्रणाली के

दोनों का भी उद्योग पर बुरा असर पड़ रहा था। इन सब बातों के साथ साथ पूँजी मिलने में भी अड़चन होती थी। नतीजा यह हुआ कि देश के वस्त्र-व्यवसाय को कठिन स्थिति का सामना करना पड़ा। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, बम्बई को इस समय सब से अधिक कठिनाई झेलनी पड़ी। इसके कुछ कारण थे। चीन के बाज़ार में सूत की माँग अब जाती रही थी। देश के अन्य भागों में जो मिलें स्थापित हो गई थीं उनकी प्रतिद्वन्द्विता भी थी। और वे उन कई दोषों से मुक्त थीं जो बम्बई की मिलों में आगए थे। बम्बई में मज़दूरी भी अधिक थी। बम्बई में स्थानीय कर तथा पानी का खर्चा अधिक था और इसी प्रकार बिजली आदि का खर्चा भी बढ़ा हुआ था। इन तमाम कारणों का यह परिणाम आया कि जब दुनिया के दूसरे देशों में आर्थिक मन्दी का अन्त होने लगा और स्थिति सुधार की ओर जाने लगी तब भी भारतीय वस्त्रोद्योग में मन्दी चलती रही। और इसी बीच में फिर दुबारा विश्व-व्यापी मन्दी का चक्र १६२६ में आरम्भ हो गया। सन् १६२८ और १६२६ में बम्बई की मिलों में लम्बी हड़तालें भी हुईं क्योंकि प्रशुल्क मंडल कि सिफारिशों [जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे] के अनुसार मिलों ने काम की दक्षता बढ़ाने की ओर प्रमापीकरण की कुछ योजनाएँ लागू की थीं जिन से मज़दूरों की छटनी होने का भय मज़दूरों में उत्पन्न होगया था। सारांश यह है कि वस्त्रोद्योग में यह मन्दी की अवस्था अभी बनी रही।

सरंक्षण प्रारंभ—इस संकट कि स्थिति का सामना करने के लिये व्यवसायी वर्ग ने संरक्षण की माँग की। अभी तक इस राष्ट्रीय व्यवसाय को सरकार ने कोई संरक्षण नहीं दिया था। १६२७ में प्रशुल्क मंडल ने इस व्यवसाय की स्थिति की जाँच की। मंडल ने उद्योग में कई सुधार सम्बन्धी सिफारिशें कीं। कच्चे माल की व्यवस्थित रूप से खरीद, मज़दूरों की कार्यदक्षता में उन्नति, अच्छे और कीमती कपड़े का अधिक उत्पादन, देश के अन्दर और बाहर बिक्री में बढ़ोतरी आदि बातों की ओर प्रशुल्क मंडल ने ध्यान खींचा। संरक्षण के बारे में प्रशुल्क मंडल के बहुमत और अल्पमत ने अलग अलग सिफारिशें कीं। बहुमत ने सारे विदेशी माल से संरक्षण देने का प्रस्ताव किया पर अल्पमत ने जापानी माल से संरक्षण देने की ही सिफारिश की। पहले तो तत्कालीन भारत सरकार ने कुछ भी करने से इन्कार कर दिया पर बाद में जब बहुत विरोध हुआ तो बाहर से आने वाले सूत पर थोड़ा सा आयात कर लगाने का निश्चय किया और ३१ मार्च १६३० तक की उसकी अवधि निश्चित की गई। बाद में यह अवधि १६३१ तक बढ़ा दी गई। कारण यह था कि १६२७ में जो अपर्याप्त संरक्षण दिया गया था उस से वस्त्रोद्योग

की समस्या हल नहीं हुई थी। इस लिए भारत-सरकार श्री जी. एस. हार्डी (जो कलकत्ते के कस्टम्स-कलेक्टर थे) द्वारा फिर संरक्षण सम्बन्धी जांच कराई। इन्होंने संरक्षण की आवश्यकता बताई और उसके लिए सिफ़ारिश की। इसी के परिणामस्वरूप १६३० में कॉटन टेक्सटाइल इन्डस्ट्री प्रोटेक्शन एक्ट पास किया गया। इसके द्वारा १६२७ में विदेशी सूत पर जो संरक्षण-कर लगाया गया था वह १६३३ तक जारी रखा गया और विदेशी कपड़ों पर अब तक जो ११ प्रतिशत आयात-कर था उसको बढ़ा कर १५ प्रतिशत कर दिया गया और इसके अतिरिक्त ५ प्रतिशत संरक्षण-कर और लगाया गया। यह संरक्षण-कर ब्रिटिश माल पर नहीं लगाया गया। केवल कुछ ब्रिटिश माल पर (प्लेन ग्रे गुड्स) जो भारतीय माल से प्रति-स्पर्द्धा में आता था, अन्य विदेशी माल के समान ३½ आने प्रति पौंड के हिसाब से न्यूनतम संरक्षण-कर लगाया गया। इस प्रकार ब्रिटिश माल के पक्ष में पक्षपात किया गया। यह संरक्षण का समय मार्च १६३३ तक का निश्चित किया गया।

विश्व-संकट—यह हम पहले लिख चुके हैं कि १६२६ में विश्वव्यापी मंदी आरम्भ होगई थी। इसका असर अन्य उद्योगों के साथ वस्त्रोद्योग पर भी पड़ा। पर १६३० में स्वर्गीय महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आरम्भ हुआ और स्वदेशी के पक्ष में देश में जो प्रचार और वातावरण बना उससे वस्त्रोद्योग को अवश्य प्रोत्साहन मिला। आर्थिक मन्दी के कारण भारत-सरकार के बजट में भी घाटा हुआ। उसकी पूर्ति करने के लिए भारत-सरकार ने करों में भी वृद्धि की जिसके परिमाणस्वरूप विदेशी सूती कपड़ों पर भी आयात-कर बढ़ा और विदेशी सूत पर लगनेवाले आयात-कर में भी वृद्धि हुई। इधर आर्थिक मन्दी से रक्षा करने के लिए विभिन्न देशों द्वारा स्वर्णमान का परित्याग किया जाने लगा। इंगलैंड ने २१ सितम्बर, १६३१ को स्वर्ण मान का परित्याग किया और कई देशों ने उसका अनुसरण किया। भारत की मुद्रा का इगलैंड की मुद्रा से सम्बन्ध था, इसलिए स्टर्लिंग के साथ-साथ रुपये का भी सोने से सम्बन्ध-विच्छेद होगया। जापान इस समय स्वर्ण-मान पर था इसलिए विदेशी बाजारों में, जहाँ स्वर्ण मान का त्याग कर दिया गया था, उसका माल महगा पड़ने लगा। भारत में जापानी कपड़ा यथेष्ट मात्रा में आता था। उसे भी कठिनाई होने लगी। अतः दिसम्बर, १६३१ में जापान भी स्वर्ण-मान से अलग होगया और वहां की मुद्रा (येन) का मूल्य तेज़ी से घटने लगा। जापानी कपड़ा फिर भारतीय बाज़ार में बहुत सस्ता होगया। १६३० में जो संरक्षण कानून पास हुआ वह ३१ मार्च १६३३ को समाप्त होनेवाला था। उसके पहले भारत-सरकार सारी स्थिति की

जाँच करा के आगे के लिए निर्णय करना चाहती थी। इसी उद्देश्य से उसने अप्रैल, १६३२ में फिर प्रशुल्क मंडल की नियुक्ति करदी थी। जब जापानी माल भारतीय बाजार में अत्यधिक मात्रा में आने लगा, और भारतीय माल का उसके सामने टिकना कठिन होगया, तो इस प्रशुल्क मंडल ने भारत-सरकार के कहने पर जापानी कपड़े की प्रतिद्वन्द्विता के प्रश्न पर भी विचार किया और उसकी सिफारिश पर ब्रिटिश माल के अलावा दूसरे विदेशी माल पर आयात-कर ५० प्रतिशत कर दिया गया। सभी प्लेन ग्रे गुड्स (ब्रिटिश तथा दूसरे) पर अनिवार्य कर ५¼ आना प्रति पौंड कर दिया गया। जून १६३३ में कर की ये दरें और बढ़ानी पड़ीं जो ५० प्रतिशत की जगह ७५ प्रतिशत और प्लेन ग्रे गुड्स पर अनिवार्य कर ५¼ आ० की बजाय ६¾ आ० प्रति पौंड कर दिया गया। सन् १६३० के संरक्षण क़ानून की अवधि दो बार करके ३० अप्रेल, १६३४ तक के लिये बढ़ा दी गई। क्योंकि १६३२ की टेरिफ़ बोर्ड की रिपोर्ट पर अभी तक सरकार का कोई निर्णय नहीं हो पाया था। भारत और जापान के बीच में सन् १६०४ में हुआ एक व्यापारिक समझौता था जिसके अनुसार भारत सरकार केवल जापानी माल के विरुद्ध संरक्षण नहीं दे सकती थी। १६३३ की अप्रेल में इस समझौते का भी अन्त कर दिया गया। जापान और भारत के बीच में जब व्यापारिक सम्बन्ध बिगड़ने लगे तो फिर समझौते की बात-चीत शुरू हुई और ७ जनवरी, १६३४ को दोनों देशों में फिर व्यापारिक समझौता होगया और ८ जनवरी, १६३४ से ही वह लागू भी होगया। इस समझौते की अवधि ३१ मार्च, १६३७ तक थी। इस समझौते के अनुसार भारत में जापानी कपड़े के आयात की मात्रा और जापान को निर्यात होनेवाले भारतीय कपास की मात्रा भी निश्चित कर दी गई। जापानी माल पर आयात कर ५० प्रतिशत और प्लेन ग्रे गुड्स पर अनिवार्य कर ५¼ आ० प्रति पौंड कर दिया गया। इसी समय भारत और इंगलैंड के बीच में लीज़ मोदी समझौता भी किया गया। इस समझौते की अवधि ३१ दिसम्बर, १६३५ तक था। यह समझौता भारतीय हितों के विरुद्ध और ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा करनेवाला था। इन दोनों समझौतों और १६३० में नियुक्त प्रशुल्क मंडल की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए मार्च १६३४ में इण्डियन टेरिफ़ (टेक्सटाइल प्रोटेक्शन) एक्ट पास किया गया। यद्यपि संरक्षण की अवधि ३१ मार्च, १६३६ तक की स्वीकार की गई थी पर संरक्षण-करों की दरों के बारे में यह निश्चित किया गया कि १६३५ के दिसम्बर में लीज मोदी समझौता, और मार्च १६३७ में जापान-भारत समझौता की अवधि समाप्त होने पर उन पर फिर विचार किया जावे। इस एक्ट में ब्रिटिश कपड़ों

पर २५ प्रतिशत और दूसरे विदेशी कपड़ों पर ५० प्रतिशत आयात-कर लगाया गया था और प्लेन ग्रे गुड्स पर क्रमश ४⅜ आ. और ५⅛ आ. प्रति पौंड कर स्वीकार किया गया। विदेशी सूत पर भी आयात-कर लगाया गया। ब्रिटिश सूत पर ५ प्रतिशत और दूसरे विदेशी सूत पर ६¼ प्रतिशत या क्रमश १⅛ आ. और १⅜ प्रति पौंड अनिवार्यकर (५० और उससे कम नम्बर के सूतपर) की दरें निश्चित की गईं।

१९३५—३७—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के इस महत्त्वपूर्ण उद्योग को संकट के समय किस हद तक सरकार ने संरक्षण दिया। १९३५ से १९३७ तक सूती वस्त्रोद्योग की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इसी बीच में इंगलेंड के माल पर जो आयात-कर लगा हुआ था उस पर लीज़-मोदी समझौते के अनुसार फिर प्रशुल्क मण्डल ने, जो सितम्बर १९३५ में नियुक्त किया गया था, विचार किया। उसकी सिफ़ारिश के आधार पर आयात-कर की दर २५ जून, १९३६ से प्रिन्ट्स को छोड़ कर बाक़ी सब माल पर २० प्रतिशत कर दी गई और प्लेन ग्रे गुड्स पर भी ३⅛ आ. प्रति पौंड अनिवार्य कर की दर कर दी गई। भारत-जापान समझौता भी तीन वर्ष के लिए (मार्च १९४० तक) और आगे बढ़ा दिया गया और करों की दरें पूर्ववत् ही रहीं।

प्रगति की ओर—सन् १९३७ से १९३८ तक वस्त्रोद्योग की अच्छी प्रगति हुई। इसके कई कारण थे। विश्व-व्यापी मन्दी के पश्चात् सुधार होने लग गया था। जापान और इंगलैंड की प्रतिस्पर्धा पर रोक लग गई थी। संरक्षण से भी प्रगति में सहायता मिली। चीन-जापान का युद्ध छिड़ जाने से भी जापान की प्रतिस्पर्धा में कमी आ गई। सन् १९३८ के अन्त में अवश्य प्रगति रुकने के फिर कुछ लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। मज़दूरी में वृद्धि, कपास पर आयात कर में दो पैसे से एक आना प्रति पौंड की वृद्धि (१९३९ में), और बम्बई और अहमदाबाद में संपत्ति-कर का लगाना—ये कुछ ऐसी बातें उत्पन्न हो रही थीं जो कपास के उद्योग के प्रतिकूल जाने वाली थीं। इसके अलावा मार्च १९३९ में ओटावा समझौते (१९३२) के स्थान पर भारत-इंगलैंड का एक नया समझौता हुआ जिसके आधार पर अप्रेल १९३९ में इंडियन टेरिफ़ (थर्ड एमेन्डमेंट) एक्ट पास किया गया। इसकी अवधि १९४२ के मार्च तक थी। इसमें ब्रिटिश माल पर आयात-कर २०% से १५% कर दिया गया। प्रिंटेड माल पर दर १७½% और प्लेन ग्रे गुड्स पर अनिवार्य कर २ आ. ७½ पाई कर दिया गया। ये आधारभूत दरें थीं जिनमें आयात में कमी अथवा आधिक्य के अनुसार कमी या वृद्धि हो सकती थी। १ अप्रेल १९३९ से ये नई दरें लागू हो गई थीं। इस प्रकार ब्रिटिश माल

से जो संरक्षण पहले मिला था उसमें फिर कमी आने लग गई थी। जापान ने भी फिर भारतीय बाज़ार की ओर ध्यान देना चाहा। १९३८ में संसार की आर्थिक स्थिति में जो फिर शिथिलता के चिह्न दिखाई पड़ने लगे थे उनका आन्तरिक माँग पर बुरा असर पड़ा। भारतीय कपास उद्योग का भविष्य उन सब कारणों से फिर एक चिन्ता का विषय बनता हुआ मालूम पड़ने लग गया था। पर इसी बीच में सितम्बर, १९३९ में दूसरे महायुद्ध का आरम्भ हो गया और उसके परिणामस्वरूप सारी स्थिति ही एक दिन बदल गई।

द्वितीय महायुद्ध—इस महायुद्ध के कारण इस उद्योग को भी प्रोत्साहन मिला। जापान और इंगलैंड से माल आना बंद हो गया। भारत के कपड़े की विदेशों में माँग बढ़ने लगी क्योंकि जो देश इंगलैंड, अमरीका और जापान से माल मँगाते थे अब वे भी भारत से कपड़ा मँगाने लगे। भारत के कपड़े का निर्यात एशिया और अफ्रिका के देशों और आस्ट्रेलिया के अलावा इंगलैंड और अमेरिका तक को होने लगा। इस बाहरी माँग के अलावा आन्तरिक माँग भी बढ़ी। एक तो बाहर से कपड़ा आना बंद हो गया। दूसरे सैनिक आवश्यकता के लिए सरकार बहुत सा कपड़ा खरीदने लगी। इस बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए भारतीय मिलों ने शक्ति भर उत्पादन करना आरम्भ किया। मिलों में रात रात पाली काम होने लगा। नई मिलों की स्थापना करना तो कठिन था क्योंकि युद्धकाल में मशीनरी मिलना आसानी से सम्भव नहीं था। इसलिए मिलों ने अपनी मौजूदा उत्पादन शक्ति का ही पूरा पूरा उपयोग किया। मिलों की संख्या में थोड़ी वृद्धि अवश्य हुई। सन् १९३९ में कुल ३८९ मिलें भारत में थीं और १९४५ में यह संख्या बढ़ कर ४१७ हो गई। तकुओं की संख्या १ करोड़ के आस-पास से बढ़ कर १ करोड़ २ लाख के आस पास हो गई और करघों की संख्या लगभग वही दो लाख के आस पास रही। कपड़े की उत्पादन शक्ति में वास्तविक वृद्धि का अनुमान तो करघों से ही लगाना चाहिए। इस दृष्टि से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे महायुद्ध के समय में उत्पादन शक्ति में कोई वास्तविक वृद्धि नहीं हो सकी और अधिक उत्पादन मौजूदा शक्ति के अधिकतम उपयोग से ही किया जा सका। यह उत्पादन वृद्धि युद्ध के इन छह वर्षों में कितनी हुई इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि जहाँ १९३९ में भारतीय मिलों में कुल कपड़ा ४११ करोड़ गज से कुछ अधिक तैयार हुआ वहाँ १९४५ में ४७१ करोड़ गज से कुछ अधिक कपड़ा तैयार किया गया था। १९४४ में तो उत्पादन अपनी चरम सीमा पर (४८० करोड़ गज) पहुँच गया था। कपास की खपत की दृष्टि से यदि हम देखें तो जहाँ १९३९ में

कुल ३८ लाख गांठों की खपत हुई थी वहां १६४५ में ४६ लाख गांठों की खपत हुई। काम करने वालों की संख्या भी ४ लाख ४२ हजार (१६३६) से बढ़कर ५ लाख से कुछ अधिक (१६४५) हो गई। सूत की दृष्टि से उत्पादन १३० करोड़ पौंड के लगभग (१६३८-३६) से बढ़ कर १६५ करोड़ पौंड (१६३८-४५) के हो गया था। कई प्रकार का नया माल जैसे मच्छरदानी, वाटर-प्रूफ खाकी, आदि भी भारतीय मिलों में युद्ध के समय तैयार होने लगा। ऊंचे दर्जे का कीमती कपड़ा तैयार करने की प्रवृत्ति भी बढ़ी। उत्पादन बढ़ने का स्वाभाविक परिणाम मुनाफ़ा बढ़ने का भी हुआ। १६४० में वास्तविक मुनाफ़ा १३ करोड़ था वह १६४३ में २१½ करोड़ तक हो गया था। डिविडेंड की दर १६३६ में १०½ प्रतिशत थी वह १६४२ में २७ प्रतिशत तक हो गई थी। युद्ध के समय में कपास-उद्योग के उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ मांग में भी बहुत वृद्धि हुई और इसलिए कपड़े का मूल्य भी बढ़ने लगा। महायुद्ध के आरम्भ होते ही कीमतों का बढ़ना शुरू हो गया था। पर १६४१ के मध्य तक स्थिति विशेष रूप से चिन्ताजनक नहीं हुई थी। जब अगस्त १६४१ में जापान के परिसंपत् (एसेट्स) को जड़ीकृत (फ्रीज़) कर दिया गया तो वहां से आने वाला कपड़ा सर्वथा बन्द हो गया। इससे कपड़े की कीमतें तेजी से बढ़ने लगीं और १६४२ के अन्त में तो अगस्त १६३६ की चौगुनी-पचगुनी कीमत हो गई। १६४३ के मध्य तक सरकार कीमतों को बढ़ने से रोकने में सफल नहीं हो सकी और अन्तोगत्वा कपड़े का मूल्य नियन्त्रण कर दिया गया। इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार से तो हम आगे लिखेंगे। यहां तो हम इतना ही लिख देना चाहते हैं कि युद्धकाल में भारतीय मिलों का उत्पादन तो एक सीमा से अधिक सम्भव नहीं हो सका और बाहर से भी कपड़े का आना बिल्कुल बन्द हो गया, पर मांग बहुत बढ़ गई—हमारे देश में और देश के बाहर भी। नतीजा यह हुआ कि युद्धकाल में कपड़े की तंगी और महंगाई की समस्या बराबर बनी रही। इसके पहले कि हम युद्ध-काल में किये गए सरकार के उक्त समस्या को सुलझाने के प्रयत्नों का उल्लेख करें एक बात की और जानकारी करना आवश्यक है। वह है कपास-उद्योग सम्बन्धी युद्धकालीन संरक्षण-नीति की।

यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि १६३६ में जो प्रशुल्क कानून लागू किया गया था उसमें इस बात की गुंजाइश थी कि विलायती माल की आयात-वृद्धि अथवा कमी के अनुसार इंगलैंड से आनेवाले माल पर लगने वाले कर में कमी अथवा वृद्धि की जा सके। चूंकि द्वितीय महायुद्ध के कारण इंगलैंड से आने वाले कपड़े की मात्रा में कमी हो गई, इसलिये १७ अप्रैल, १६४० से सब प्रकार के ब्रिटिश

कपड़े पर २३ प्रतिशत कर कम कर दिया गया। सन् १९४२ तक संरक्षण की जो अवधि १९३६ में बढ़ादी गई थी वह बाद में फिर समय-समय पर १९४७ तक के लिए बढ़ादी गई। १९४६ में संरक्षण सम्बन्धी सारे प्रश्न पर प्रशुल्क मण्डल ने विचार किया और यह सिफारिश की कि ३१ मार्च १९४७ से संरक्षण समाप्त कर दिया जाये। जो मौजूदा आयात-कर हैं वे आगम कर (रेवेन्यू ड्यूटी) के रूप में बने रहें। और जब कभी लगातार तीन महीने तक औसत २१ करोड़ गज़ मासिक कपड़ा बाहर से आये तो प्रशुल्क मण्डल संरक्षण के प्रश्न पर विचार करे। अस्तु, भारत सरकार ने १ अप्रैल, १९४७ से सूती कपड़े और सूत पर जो संरक्षण कर थे उनको आगम कर में बदल दिया। आज इस देश का यह महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योग इस अर्थ में अपने पाँव पर खड़ा है।

यह हम पहले लिख चुके हैं कि द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही अन्य वस्तुओं के साथ साथ कपड़े का कीमत बढ़ना भी शुरू हुआ और १९४३ के मध्य में तो स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक हो गई। स्थिति पर क़ाबू पाने के लिये जून, १९४३ में भारत सरकार ने कपड़े और सूत पर नियंत्रण लागू कर दिया और 'टैक्सटाइल कमिश्नर' नामक एक अफसर की नियुक्ति करके नियंत्रण सम्बन्धी व्यवस्था का भार उसे सौंप दिया। पच्चीस सदस्यों की टेक्सटाइल कन्ट्रोल बोर्ड नाम की एक कमेटी भी नियुक्त की गई जिसका काम नियंत्रण सम्बन्धी मामलों में सरकार को सलाह देना था। नियंत्रण की इस व्यवस्था के अनुसार कपड़े और सूत का मूल्य नियंत्रण कर दिया गया, अनावश्यक माल मिल-मालिक या व्यापारी के पास जमा न हो इसका प्रबंध कर दिया गया, कपड़े के लाने लेजाने पर नियंत्रण कर दिया गया, और कपास तथा दूसरी आवश्यक सामग्री के मूल्यों का नियंत्रण भी कर दिया। इस नियंत्रण का परिणाम मूल्यों में कमी होने का हुआ, और जून १९४३ में जहाँ सूती वस्त्र के मूल्य का देशनांक [इनडेक्स नम्बर] १९३९ को आधार [१००] मानकर ५१३ हो गया था वहाँ दिसम्बर १९४५ में २६५ हो गया। पर इसी से जनता की समस्या का पूरा हल नहीं हुआ। कपड़े की तंगी बराबर बनी रही और काला बाज़ार खूब बढ़ा। अस्तु, जनता को नियंत्रित मूल्य पर कपड़ा नहीं मिलने से काले बाज़ार के बढ़े हुए मूल्यों पर अपनी कपड़े की माँग पूरी करनी पड़ती थी। युद्धकाल में कपड़े का उत्पादन बढ़ने पर भी कपड़े की कमी बनी रही जनता की खपत के लिये जो कपड़ा उपलब्ध था उसमें युद्ध के समय में कितनी कमी आ गई इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि युद्ध के पूर्व के दो वर्षों में हाथ के करघों पर तैयार कपड़े को शामिल करके जनता की खपत के लिये ६४० करोड़

गज़ कपड़ा उपलब्ध था वह १६४२-४३ में उसी आधार पर केवल २६० करोड़ गज़ या ४० प्रतिशत ही रह गया था। मूल्य नियंत्रण होने पर भी बढ़े हुए मूल्यों पर कपड़ा बिकता रहा—यह सारी स्थिति का निचोड़ मानना चाहिये।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्:—७ मई १६४५ को जर्मनी के साथ, और १४ अगस्त, १६४५ को जापान के साथ, द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ। आशा यह थी कि युद्ध के पश्चात् कपड़े की तंगी कम हो जायगी और कीमतें भी नीचे उतरेंगी। पर यह आशा पूरी नहीं हुई। मई १६४५ में सरकार ने कपड़े तथा सूत के उत्पादन पर नियंत्रण किया और जुलाई १६४५ में वितरण सम्बन्धी नई योजना जारी की। सूत व कपड़े सम्बन्धी उत्पादन के नियंत्रण की जो योजना लागू की गई थी उसका उद्देश्य उत्पादन बढ़ाना था और इस दृष्टि से मिलों को कौन-सा कपड़ा और सूत कितना उत्पन्न करना चाहिये इस सम्बन्ध में कुछ नियंत्रण किया गया था। इसी के अनुसार 'यूटीलिटी क्लाथ' की योजना भी बनी थी। वितरण सम्बन्धी योजना में राज्य और प्रान्त की सरकारों को बहुत अधिकार दिये गये थे। प्रान्तों का कोटा निश्चित कर दिया गया था। उस कोटा के ठीक-ठीक वितरण का प्रबन्ध करना उनका काम था। देश में कपड़े के आने-जाने पर और कच्चे माल तथा दूसरी आवश्यक सामग्री की उचित व्यवस्था करने के सम्बन्ध में भी नियंत्रण किया गया। परन्तु सरकार के इन तमाम प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं आया। यूटीलिटी क्लाथ की योजना १६४५ के अन्त में समाप्त करदी गई। १६४६ में उत्पादन बहुत गिरगया। जहाँ १६४५ में ४७१ करोड़ गज़ कपड़े का उत्पादन हुआ था वहां १६४६ में ४०२ करोड़ गज का उत्पादन ही हुआ। उत्पादन-लागत में वृद्धि होती रहने पर भी कपड़े के मूल्य नहीं बढ़ाये गये। मज़दूरों के काम के घंटे ५४ से ४८ प्रति सप्ताह कर दिये गये थे। हड़तालों आदि के कारण भी उत्पादन बंद रहा। सांप्रदायिक झगड़े भी देश में हुए। सरकार की नियंत्रण-नीति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। कीमती कपड़े के उत्पादन को बढ़ाने और मोटे कपड़े के उत्पादन को घटाने की दृष्टि से मूल्यों में मई, १६४५ के पश्चात् नवम्बर, १६४५ में कुछ परिवर्तन किये गये थे पर उनके बारे में यह शिकायत तो बनी ही रही कि बढ़ी हुई उत्पादन-लागत को देखते हुए सरकार ने कपड़े के निर्यात में पहले तो कमी की पर फिर कुछ समय के लिये बन्द ही कर दिया। और फिर जब निर्यात जारी हुआ तो उस की मात्रा में कमी करदी। १६४७ में उत्पादन की स्थिति और भी बिगड़ गई और कुल कपड़े का उत्पादन ३८० करोड़ गज ही हुआ। सरकार ने उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से स्टेन्डर्डाईजेशन (प्रमापीकरण) की योजना बनाई जो

१ दिसम्बर, १६४७ को लागू की गई। पर कपड़ों के मूल्यों में कोई वृद्धि नहीं की गई। प्रमापीकरण की उक्त योजना के अनुसार मोटे सूत और कपड़े के उत्पादन पर अधिक ध्यान देने, कपड़े के प्रकारों में कमी करने और अमुक नम्बर तक के ही सूत कातने का निश्चय किया गया। मिल मालिकों और मजदूरों की सम्मिलित कमेटियां प्रदेशों में और अलग-अलग मिलों में उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से स्थापित की गईं। पर इन सब प्रयत्नों का भी कोई अच्छा परिणाम नहीं आया। बाज़ार में कपड़े की तंगी बनी रही और चोर बाज़ारी बढ़ती गई। महात्मा गांधी नियन्त्रण के विरुद्ध थे ही और उनके नेतृत्व में देश में नियंत्रण हटा लेने के पक्ष में वातावरण बन रहा था। इसका नतीजा यह हुआ कि जनवरी, १६४८ में सरकार ने सूत तथा कपड़े पर से नियन्त्रण हटा लिया यद्यपि पूरा नियन्त्रण अभी नहीं हटा था। प्रमापीकरण की योजना अब समाप्त होगई। कपड़े और सूत पर सरकारी नियन्त्रण समाप्त हो गया यद्यपि मिलों ने स्वयं मूल्यों का नियन्त्रण करना स्वीकार किया। कपड़े के वितरण और सूत तथा कपड़े के एक निश्चित क्षेत्र में (ज़ोन) आने जाने पर से भी नियन्त्रण हट गया। इसी प्रकार सूत और कपड़े के निर्यात पर से प्रतिबंध हटा लिया गया। कपास पर से भी मूल्य नियन्त्रण हट गया। केवल सूत के वितरण और कपास के निर्यात पर अवश्य नियन्त्रण रहा। नियन्त्रण व्यवस्था के समाप्त होते ही मूल्य तेज़ी से बढ़ने लगे। मिलों द्वारा मूल्य-नियन्त्रण सफल नहीं हो सका। आखिरकार अप्रैल, १६४८ में सरकार ने रहा सहा नियन्त्रण भी उठा लिया। अब कपड़े और सूत पर मूल्य लिखने की आवश्यकता नहीं रही। सूत के वितरण से नियन्त्रण हटा लिया गया। टेक्सटाइल कन्ट्रोल बोर्ड भी समाप्त कर दिया गया। पर कपड़े और सूत के लाने ले जाने, उन पर उत्पादन की तिथि लिखने और कपड़े और सूत का आसंचय (होर्ड) करने सम्बन्धी नियन्त्रण जारी रखा गया। पर नियन्त्रण के पूरी तौर से हटते ही मूल्यों में और भी वृद्धि आई और मई में तो कीमत बहुत ही बढ़ गई। इस स्थिति से घबराकर जुलाई, १६४८ में भारत सरकार ने फिर नियन्त्रण लागू करने का निश्चय किया। इसके अनुसार भारत सरकार को कपड़े और सूत के मूल्य निश्चित करने और उनको छापने (स्टेम्प करने) का अधिकार प्राप्त हो गया। वितरण की व्यवस्था का भार राज्यों पर छोड़ दिया गया। कपास के मूल्यों का भी नियन्त्रण किया गया। इसके कुछ समय बाद (दिसम्बर १६४८) से उत्पादन पर भी सरकार ने नियन्त्रण लागू कर दिया। उत्पादन पर नियन्त्रण करने का लक्ष्य उत्पादन में वृद्धि करना और अधिक टिकाऊ कपड़ा तैयार करना था। पहनने के काम में आने वाले कपड़े १६ और जो पहनने के काम नहीं आते वे

१२ प्रकार के तय कर दिये गये। मोटे कपड़े के उत्पादन पर अधिक ज़ोर दिया गया। नियंत्रण-व्यवस्था ठीक-ठीक लागू होती है या नहीं इसकी निगरानी रखने के लिये एक एन्फोर्समेंट विभाग खोला गया। १६४८ में उत्पादन में वृद्धि हुई। इस वर्ष ३३३ करोड़ गज़ कपड़ा उत्पन्न हुआ, परन्तु चोर-बाजारी जारी रही। कपास की कमी की समस्या भी देश के विभाजन के कारण उत्पन्न हो गई। मूल्यों के दर कम हैं, यह शिकायत मिल-मालिकों को बराबर बनी रही। कपड़ों के निर्यात के विषय में सरकार ने उदार नीति अपनाना आरम्भ किया और निर्यात-कर में २५ प्रतिशत से नवम्बर १६४८ मे १० प्रतिशत तक की कमी कर दी गई। इससे निर्यात को और इस कारण से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलने की आशा थी। १६४६ का वर्ष फिर वस्त्रोद्योग को दृष्टि से कठिनाई का बीता। उत्पादन १६४८ की अपेक्षा फिर गिर गया। दस महीनों के वास्तविक उत्पादन के आधार पर कुल ३८४ करोड़ गज़ कपड़ा १६४६ में उत्पन्न हुआ। सरकार ने उत्पादन सम्बन्धी नियन्त्रण की व्यवस्था को टेक्सटाइल प्रोडक्शन कन्ट्रोल कमेटी की सिफारिशों के अनुसार कुछ बदला। कीमती कपड़े के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया और उत्पादन नियंत्रण योजना में आवश्यकतानुसार परिवर्तन की गुञ्जाइश रखी। पर बाद में स्थिति और भी अधिक बिगड़ने लगी तो सितम्बर १६४६ में नियन्त्रण सम्बन्धी नई नीति की सरकार ने घोषणा की। उसके अनुसार उत्पादन से नियन्त्रण हटा लिया गया, केवल उतने से नियन्त्रण के अलावा जो मूल्य नियन्त्रण के लिए आवश्यक था। वितरण की योजना में भी सुधार किया गया। एक बार तो केवल इतना ही परिवर्तन किया कि मिलों को, यदि राज्य अपने हिस्से का कपड़ा समय पर न ले सकें तो, उस कपड़े को बेचने की इजाज़त दे दी। पर इसके बाद सितम्बर में सरकार ने वितरण की योजना और भी उदार कर दी। मिलों को ⅓ माल सीधा बेचने का अधिकार मिल गया और बाकी का राज्यों को महीने की १५ तारीख तक खरीदना आवश्यक था। यदि राज्य की सरकारें अपने हिस्से का माल समय पर न खरीद लें तो मिलों को बेचने की इजाज़त मिल गई। इन सब प्रयत्नों से स्थिति सुधरी। मूल्य निर्धारित किस आधार पर किया जाए यह प्रश्न १६४८ में सरकार ने टेरिफ़ बोर्ड के सुपुर्द कर दिया था। टेरिफ़ बोर्ड की सिफारिश के अनुसार हर तीसरे महीने मूल्यों की जाँच करके आवश्यक हेर-फेर करने की नीति सरकार ने जनवरी १६४६ को स्वीकार कर ली और आज भी उसी के अनुसार हर तीसरे महीने मूल्यों में सरकार आवश्यक हेर-फेर करती है। सरकार ने निर्यात को प्रोत्साहन देने की नीति भी अपनाई। अप्रैल १६४६ में बाहर जाने

वाले सब कपड़े का मूल्य नियंत्रित किया गया और १८ प्रतिशत निर्यातकर भी १ जून १९४९ को हटा लिया गया। हालांकि हाल ही में [अप्रैल १९५१] सरकार ने कपड़े के विदेशों में मूल्य बढ़ जाने से १० प्रतिशत कर फिर लगा दिया है। मिलों को उचित मूल्य पर (जो सरकार द्वारा निश्चित है) कपास नहीं मिलने से जो कठिनाई उत्पन्न हो रही थी उसको हल करने के लिए मार्च १९४९ में कपास का निर्यात दुर्लभ मुद्रा के देशों को छोड़कर बाकी के देशों का बन्द कर दिया गया ताकि कपास की स्थिति ठीक हो जाये। सरकार के इन तमाम प्रयत्नों के बाद भी वस्त्रोद्योग की स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं रही। कपास की कमी रही, निश्चित मूल्य पर उसका मिलना कठिन रहा। आरम्भ में नियंत्रण सम्बन्धी व्यवस्था में कई दोष रह जिन में बाद में सुधार किया गया। पर कपड़े के मूल्य नियंत्रण की समस्या तो फिर भी हल नहीं हुई और मिल-मालिकों का बराबर असंतोष रहा। मार्च १९४९ जो उत्पादन कर (एक्साइज ड्यूटी) लगाया गया वह भी मिल-मालिकों के असंतोष का कारण रहा। १९५० में भी इस उद्योग की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। सितम्बर १९४८ से ही नियंत्रण सम्बन्धी कठिनाइयों में तो अवश्य कमी आगई थी, पर और कठिनाइयां बनी रहीं। कपास की कमी और उसके मूल्य की अधिकता, सूत तथा कपड़ों की क़ीमत में नवम्बर १९४९ में की गई ४ प्रतिशत की कमी, जो मिल मालिकों ने स्वेच्छा से सरकार को अवमूल्यन के बाद मूल्य घटाने में सहयोग देने की दृष्टि से स्वीकार की थी, उत्पादन-लागत को देखते हुए कपड़े का क्रय-मूल्य, ये कुछ ऐसी कठिनाइयां थीं जिनका सूती वस्त्रोद्योग को १९५० में सामना करना पड़ा। इसी कारण से १९५० से केवल ३६५ करोड़ गज़ (१० महीने के आंकड़ों के आधार पर) कपड़ा उत्पन्न होने का अनुमान लगाया जाता है। कपड़े के निर्यात को प्रोत्साहन देने की नीति साल भर जारी रही और १०० करोड़ गज़ से अधिक कपड़ा १९५० में निर्यात किया गया। इसी प्रकार कपास के उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिये भी राज्य ने प्रयत्न आरम्भ किया, और आशा की जाती है कि उसका यह प्रयत्न सफल होगा। भारत सरकार यह प्रयत्न कर रही है कि इस वर्ष (१९५१-५२) ४३० करोड़ गज़ कपड़ा उत्पन्न किया जा सके। इसी दृष्टि से भारत सरकार ने फाइन, सुपर फाइन और रंगीन और छपे मोटे और मध्यम श्रेणी के कपड़े को छोड़ कर शेष कपड़े पर से और सूत पर से ४ प्रतिशत की मूल्य की कमी वापस उठा ली है। कपड़ों की क़ीमतों में भी उन्होंने फ़रवरी और अप्रैल १९५१ में वृद्धि की है। मिल-मालिकों का कहना है कि कपड़े का उत्पादन बढ़ाने के लिये सरकार को कपड़े की क़ीमत और बढ़ाना चाहिये और टेरिफ़ बोर्ड

को दुबारा इस प्रश्न पर विचार करने को कहना चाहिये। जिस कपड़े पर से ४ प्रतिशत की मूल्य की कमी अभी नहीं हटाई है वह हटा लेना चाहिये। सुपर फाइन क्लाथ पर जो २८ प्रतिशत उत्पादन-कर है उसे हटा लेना चाहिये। जो मिलें आर्थिक दृष्टि से ठीक ढंग पर नहीं चल रही हैं, उनको उनकी मशीनरी आदि ठीक करके अच्छे स्तर पर लाना चाहिये। हाथ करघों को सहायता पहुँचाने की दृष्टि से जो मिलों पर अमुक प्रकार का कपड़ा नहीं तैयार करने का प्रतिबन्ध है वह हटा लेना चाहिये। युद्धोत्तर-काल सम्बन्धी जो सूती वस्त्रोद्योग का विवरण हमने ऊपर दिया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी स्थिति पिछले ५ वर्षों में संतोषप्रद नहीं रही है। देश के इस प्रमुख उद्योग के मार्ग में दूर दृष्टि से क्या क्या बाधायें हैं जिनको हल किये बिना उसकी भावी प्रगति अवरुद्ध रहेगी, अब इस बारे में संक्षेप से विचार करेंगे।

भविष्य—मिल वस्त्रोद्योग के भविष्य के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसके क्षेत्र का है। मिल के कपड़े के अलावा, हमारे देश में हाथ के सूत से हाथ करघे पर बनी खादी और मिल के सूत से हाथ करघे पर तैयार किया गया कपड़ा भी उत्पन्न होता है। हाथ करघे के उद्योग की स्थिति आज सन्तोषप्रद नहीं है। अब तक खादी के उद्योग का आधार एक आदर्शवाद और भावना रही है। पर केवल भावना के आधार पर कोई आर्थिक कार्यक्रम नहीं चल सकता। इसी के साथ-साथ आर्थिक दृष्टि से भी हम खादी और हाथ करघे पर बने कपड़े के उद्योगों को नष्ट नहीं होने दे सकते। हाथ करघे के उद्योग को सहायता पहुँचाने की सरकार कई प्रकार से कोशिश कर भी रही है। पर आवश्यकता इस बात की है कि इन तीनों प्रकार के वस्त्रोद्योगों में समन्वय किया जाए और उनके क्षेत्रों का बटवारा किया जावे। यह प्रश्न राष्ट्रीय सरकार के निश्चय करने का है और उसका किया हुआ निश्चय सबको मान्य होना चाहिये। खादी और हाथ करघे के उद्योग में वैज्ञानिक उत्पादन विधियों को चालू करना भी अत्यन्त आवश्यक है। इन उद्योगों का सामाजिक और आर्थिक मूल्य उनके विकेन्द्रित होने में है न कि वैज्ञानिक उत्पादन के तरीकों और यांत्रिक शक्ति का बहिष्कार करने में।

दूसरी बात यह है कि हमारे वस्त्रोद्योग का लक्ष्य यह भी होना चाहिये कि हम उचित उपायों से यथासम्भव बाहर के देशों में अपने माल के लिए बाज़ार का निर्माण करें।

इन मूल भूत समस्याओं का उल्लेख करने के बाद अब हम मिल के कपड़े के उद्योग तक ही सीमित कुछ समस्याओं का ज़िक्र करेंगे। पहली समस्या कपास और उसके उचित मूल्य की है। आज हमारे देश में लगभग ३० लाख

गांठ कपास पैदा होता है। खपत हमारी ५० लाख गांठों के लगभग है। लगभग १० लाख गांठ कपास हम पाकिस्तान और दूसरे देशों से प्राप्त कर सकते हैं। सारांश यह है कि बाकी के दस लाख गांठों का उत्पादन इस देश में बढ़ना चाहिये। ये आंकड़े केवल मोटे अनुमान के आधार पर दिये गये हैं। देश के विभाजन के पश्चात् कपास सम्बन्धी समस्या कठिन हो गई है। इसे हल करने का प्रयत्न देश में चल रहा है। इस प्रयत्न में सफलता भी मिल रही है। १९५०-५१ में लगभग ३३ लाख गांठ कपास अधिक उत्पन्न हुआ और १९५१-५२ के लिए ४० गांठ कपास का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। हमें लम्बे रेशे के कपास उत्पन्न करने की ओर भी ध्यान देना है।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न पुरानी के स्थान पर नई मशीनरी और नवीनतम मशीनरी लगाने का है। इस सम्बन्ध में यह याद रखने की बात है कि गत महायुद्ध के समय से मिलों ने बहुत काम किया है इसलिए मशीनों को बदलने की बड़ी आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में दूसरी आवश्यक बात यह भी है कि यह मशीनरी हमारे देश में ही उत्पन्न की जाए। इस दिशा में कुछ प्रयत्न हुआ भी है। हाल में इस उद्योग को सरकार से संरक्षण भी मिला है। मशीनरी के साथ ही दूसरी आवश्यक सामग्री का भी सवाल है। उसकी व्यवस्था भी देश में होना आवश्यक है।

तीसरी समस्या इस उद्योग के विकेन्द्रीकरण की है। छोटे छोटे नगरों और गांवों में बिजली की शक्ति के प्रसार के साथ इस उद्योग का प्रसार होना चाहिये। यह सामाजिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से वाञ्छनीय होगा।

चौथी समस्या उत्पादन-लागत को कम करने की है। इसका उपाय मज़दूरी कम करना नहीं हो सकता। इसका तो एक ही उपाय है कि मज़दूरों की उत्पादन क्षमता बढ़े। जो मिलें इस समय इतनी छोटी हैं कि उनको आर्थिक दृष्टि से नहीं चलाया जा सकता, उनका विस्तार किया जाना चाहिये। इसी दृष्टि से मज़दूरों की कार्य-क्षमता बढ़ाने की आवश्यकता है। पिछले वर्षों में इस विषय में मिल-मालिकों को बराबर शिकायत रही है। इसके लिए कार्य करने में ईमानदारी के अलावा आवश्यक शिक्षा की भी बड़ी आवश्यकता है। इसकी देश में कमी है। इसी के साथ साथ वैज्ञानिक (रैशनलाइज़ेशन) की भी आवश्यकता है। इसी प्रकार मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली को यदि तत्काल खतम नहीं किया जा सकता तो भी उस पर अधिक नियन्त्रण की आवश्यकता तो स्पष्ट है। ये सब बातें होने पर ही उत्पादन लागत में कमी आ सकती है। इस दृष्टि से औद्योगिक खोज का महत्त्व भी बहुत है। इस ओर भी बराबर ध्यान देते रहने की आवश्यकता है।

यदि देश के वस्त्रोद्योग को हमें ठीक और व्यवस्थित स्थिति में लाना है तो उपर्युक्त समस्याओं को हल करना आवश्यक होगा। सन् १६४५ में युद्धोत्तर योजना-समिति ने इस उद्योग के विकास की पंचवर्षीय योजना बनाई थी। उस योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है यद्यपि कपास और पूंजी की कमी और मशीनरी के ऊँचे मूल्यों के कारण जिस गति से विकास हो रहा है वह धीमी है। पिछले साल सरकार ने 'टेक्सटाइल वर्किंग पार्टी' की नियुक्ति की थी। यह एक छह वर्षीय योजना टेक्सटाइल उद्योग के विकास के बारे में तैयार कर रही है। योजना आयोग भी इस प्रश्न पर विचार कर रहा है। इन सब प्रयत्नों में समन्वय की जरूरत है। टेक्स टाइल डेवलपमेंट कमेटी इस उद्योग के विकास सम्बन्धी प्रश्नों पर सरकार और व्यवसायी वर्ग का मार्ग प्रदर्शन करती है।

पटसन [जूट] मिल उद्योग :—कपास के बाद इस देश का दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्योग पटसन का ही है। इस उद्योग में ३ लाख से अधिक आदमी काम करते हैं। यह उद्योग अधिकतर पश्चिमी बंगाल में कलकत्ते शहर, हुगली, हावड़ा और २४ परगना के जिलों में केन्द्रित है। बिहार, मद्रास, उत्तर प्रदेश में भी कुछ मिलें हैं। इसका प्रबन्ध आज भी विदेशी हाथों में है और पूंजी में भी उनका यथेष्ट भाग है। कुल ५० करोड़ की पूंजी [२० करोड़ स्थायी पूंजी और ३० करोड़ चालू पूंजी] इस उद्योग में लगी है। इसने १६५० में १२७ करोड़ रु० का माल पैदा किया। इसके उत्पादन की मात्रा १० लाख टन के लग-भग है। सब मिलों में [कुल ११३] लग-भग ७० हज़ार करघे हैं। ६० लाख गांठों की [कच्चा पटसन] साल में कुल खपत है। दुनिया के (५७ प्रतिशत) करघे भारत में ही हैं। जूट का उद्योग भारत के लिये एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। देश के निर्यात में जूट के माल का बहुत बड़ा स्थान है और इस लिये विदेशी विनिमय प्राप्त करने का यह एक अच्छा साधन है। द्वितीय महायुद्ध के पहले देश के सालाना निर्यात के कुल मूल्य का १६ प्रतिशत, युद्ध के बाद [१६४६-४८] का औसत २८ प्रतिशत और देश के विभाजन के बाद १६४८-४६ में ३५ प्रतिशत तक पटसन के उद्योग का हिस्सा रहा है। १६४८-५० में यह भाग फिर २८ प्रतिशत होगया। विदेशी विनिमय की मात्रा का यदि हम विचार करें तो १६४६-४७ में ७० करोड़ १६४७-४८ में १२७ करोड़ १६४८-४६ में १४६ करोड़ और १६४६-५० में १२७ करोड़ रुपये का विदेशी विनिमय हमें पटसन के माल निर्यात से प्राप्त हुआ। अधिकांश माल अमेरिका जाता है; इस लिए ६० प्रतिशत दुर्लभ मुद्रा हमें इसी से मिलती है। भारत को पटसन के माल के उत्पादन का लगभग एकाधिकार प्राप्त है। अब हम इस महत्त्वपूर्ण उद्योग के बारे में थोड़ा विस्तार से अध्ययन करेंगे।

(आरंभ) प्राचीन भारत में वस्त्र की तरह पटसन के उद्योग का भी विकास हुआ था या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में जूट के माल का यथेष्ट प्रचार था इसमें कोई सन्देह नहीं है। १८२३ से जब डंडी [स्कॉटलैंड] में जूट का उद्योग विकसित हुआ तो उसका प्रभाव भारतीय उद्योग पर बुरा पड़ा। भारत कच्चे जूट का उत्पादन और निर्यात करने वाला देश बन गया। परन्तु १९वीं शताब्दी के मध्य से फिर भारत में जूट के आधुनिक उद्योग का आरम्भ हुआ। बंगाल में सिरामपुर के निकट रिशरा नामक स्थान पर १८५५ में पहली जूट की कताई करने वाली मिल की स्थापना हुई। १८५९ में पहला यांत्रिक शक्ति से संचालित करघा लगाया गया। हाथ करघे का जो अवशेष बचा हुआ था, मिल उद्योग की स्थापना से उसका भी विनाश होगया। पहले पहले उद्योग की प्रगति थोड़ी धीमी रही, क्योंकि नया व्यवसाय था और अनुभवी और जानकार मजदूरों का अभाव था। पर १८८५ तक उद्योग की अच्छी प्रगति हो गई। इस समय गनीबैग की उत्पादन में प्रधानता थी।

प्रथम महायुद्ध तक—१९वीं शताब्दी के अन्तिम दस वर्षों में कच्चे पटसन के मूल्य में वृद्धि होजाने, अकाल पड़ने, महा मारियाँ फैलने और श्रम की कमी होने से इस उद्योग को संकट का सामना करना पड़ा। संकट का आरम्भ तो और भी थोड़ा पहले, माँग के अनुपात से अधिक उत्पादन होने के कारण होगया था। पर धीरे धीरे संकट-काल समाप्त होगया और प्रथम महायुद्ध तक उद्योग की स्थिति संतोष जनक रही। अब 'गनी बैग' के स्थान पर 'हैसियन क्लाथ' का अधिक उत्पादन होने लगा।

प्रथम महायुद्ध और उसके बाद—प्रथम महायुद्ध जैसे ही आरम्भ हुआ पटसन के माल की सैनिक तथा दूसरे कामों में बहुत आवश्यकता होने लगी। यद्यपि शत्रु राष्ट्रों से होनेवाला व्यापार बन्द होगया, माल लाने-लेजाने की कठिनाई होगई, कच्चे और तैयार माल पर मार्च १९१६ से निर्यात-कर लग गया, पर फिर भी युद्ध-जनित बढ़ी हुई माँग के कारण पटसन के उद्योग का अच्छा विकास और विस्तार हुआ। युद्ध के पश्चात् माँग के गिर जाने से और कच्चे माल की कीमत तथा मजदूरी के बढ़ने के परिणामस्वरूप उत्पादन-लागत में वृद्धि हो जाने से युद्धोत्तर मन्दी का इस उद्योग को भी सामना करना पड़ा। पर थोड़े समय बाद वापस स्थिति में सुधार आगया।

विश्व-संकट—१६२६ के विश्व आर्थिक संकट का असर दूसरे उद्योगों की भांति इस उद्योग पर भी पड़ा। परन्तु यह उद्योग अधिक संगठित था। और इसलिये इसने और उद्योगों की, जैसे कपास-उद्योग की, अपेक्षा संकट का सामना अधिक सफलता के साथ किया। जब मूल्य गिरने लगे, गोदाम में माल जमा होने लगा और मांग कम होगई तो इस उद्योग ने उत्पादन कम करने की व्यवस्थित रूप से योजना बनाली। ३१ मार्च, १६३६ तक के दस वर्षों में जूट मिल एसोसियेशन (स्थापित १६३६) ने काम के घन्टे ४० प्रति-सप्ताह के हिसाब से मर्यादित कर दिये थे। पर १ अप्रेल, १६३६ से काम के घन्टे ४८ प्रति सप्ताह से बढ़ा कर ५४ प्रति सप्ताह कर दिये गये और १ मार्च, १६३७ से कोई प्रतिबन्ध ही नहीं रहा। बात यह थी कि जूट-मिल एसोसियेशन की जो मिलें सदस्य नहीं थीं उनके साथ कोई समझौता नहीं होसका। काम के घन्टे अधिक होजाने से १६३७ और १६३८ में उद्योग की स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक होगई। आखिर बंगाल-सरकार ने एक आर्डिनेन्स के द्वारा सितम्बर, १६३८ में काम के घन्टे फिर घटाकर ४५ प्रति सप्ताह कर दिये। जूट मिल एसोसियेशन और एसोसियेशन के बाहर की मिलों में कुछ समय बाद समझौता होगया और १५ मार्च, १६३६ से यह आपस में तय होगया कि काम के अधिक से अधिक प्रति सप्ताह ५४ और कम से कम ४० घन्टे रहेंगे। ३१ जुलाई, १६३६ से काम के घन्टे ४५ प्रति सप्ताह कर दिये गये और यह भी तय हो गया कि २० प्रति शत हेसियन तैयार करने वाले और ७½ प्रतिशत बोरे तैयार करने वाले करघे काम में नहीं लाये जायँगे।

द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद—जैसे ही द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ जूट के माल की देश और विदेश से माँग बढ़ गई। भारत-सरकार ने सैनिक दृष्टि से बहुत माल खरीदना आरम्भ कर दिया। अब काम के घंटों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक नहीं रहा। विशेष आज्ञा से मिलों ने ६० घन्टे प्रति सप्ताह काम करना आरम्भ कर दिया। उद्योग की स्थिति ने पलटा खाया। और १६४० के आरम्भ से १६४१ के आरम्भ तक उद्योग की स्थिति कुछ दबी हुई ही रही। और उसके बाद फिर स्थिति में सुधार आया। सच्ची बात यह है कि लम्बी दृष्टि से देखें तो यह कहना होगा कि अपने जन्म से लेकर आज तक इस उद्योग ने बराबर प्रगति की है। यदि बीच-बीच में कभी कठिनाई की स्थिति आई तो उसने उसका संगठित रूप से सामना किया। द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके बाद भी यही क्रम चला। नीचे के आंकड़ों से इस उद्योग की पिछले कुछ वर्षों की प्रगति का हाल स्पष्ट होजाता है:—

लाख टन में

वर्ष [जुलाई-जून]	उत्पादन हेसियन	सैकिंग	अन्य	कुल उत्पादन	निर्यात	स्थानीय
१९३६ ३७ से १९३८ ३९ का औसत	५·०१	६·२८	०·३६	११·६५	१०·०४	२·४३
१९३९ ४०	५·७६	६·४६	०·४२	१२·६४	११·४३	१·४६
१९४० ४१	४·४९	४·९९	०·३६	९·८४	८·२१	१·४५
१९४१ ४२	५·९१	५·८८	०·४६	१२·२५	८·२५	२·५१
१९४२ ४३	४·८४	६·६२	०·१९	११·०५	६·८९	२·७५
१९४३ ४४	३·९३	५·४१	०·४०	९·५४	६·३५	१·९५
१९४४ ४५	४·१५	५·४५	०·४०	१०·००	६·७३	१·७३
१९४५ ४६	४·६३	५·८१	०·४१	१०·८५	८·०१	१·८८
१९४६ ४७	४·१८	५·१०	०·३४	९·६२	८·००	१·७६
१९४७ ४८	४·८३	५·२०	०·३२	१०·३५	९·५४	१·२०
१९४८ ४९				१०·१८	९·२६	

[भारत पाकिस्तान इयरबुक १९५०]

उपर्युक्त तालिका से कई बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह है कि द्वीतीय महायुद्ध के ६ वर्षों में (१९३९ ४० से १९४४ ४५) कुल मिला कर जूट उद्योग की स्थिति ठीक रही। १९४० ४१ और १९४३ ४४ में उत्पादन काफी कम होगया जबकि १९३९ ४०, १९४१ ४२ और १९४२ ४३ में उत्पादन की मात्रा काफी अधिक रही। युद्ध का अन्तिम वर्ष बीच का सा रहा। इन वर्षों में उत्पादन ९३ लाख टन से लगाकर १२½ लाख टन के बीच में कम-ज्यादा होता रहा जबकि युद्ध के पूर्व चार वर्षों का औसत उत्पादन ११½ लाख टन से कुछ ऊपर था। महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् केवल १९४६ ४७ को छोड़कर बाकी के वर्षों में उत्पादन १० लाख टन से अधिक ही रहा है। यह ध्यान रखने की बात है कि अगस्त १९४७ में भारत का विभाजन हुआ था। और उससे पहले और बाद में देश की राजनैतिक और साम्प्रदायिक स्थिति में बहुत उथल पुथल हुई थी। देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए। इसका प्रभाव उद्योग धन्धों पर पड़ा। १९४८ के फैक्टरी एक्ट के लागू होने से काम के घंटे ४८ प्रति सप्ताह होगये। कोयले की भी कमी रही। १९४७ का वर्ष देश में औद्योगिक संकट का वर्ष था। जूट-उद्योग से भी इस बात का समर्थन मिलता है। इसके बाद दो वर्ष तक स्थिति ठीक सी रही पर १९४९ ५० में फिर उत्पादन में बहुत कमी आगई। कुल उत्पादन ८·२४ लाख टन

से अधिक नहीं हुआ। (कॉमर्स १२ अगस्त १६५० पृष्ठ २६४) जूट की खपत भी ११३ जूट मिलों की ६२ लाख गांठों से घटकर ५० लाख से भी कम गांठे होगई। १६४६-५० में उद्योग की इस संकटमयी स्थिति का मुख्य कारण तो पटसन की कमी ही था। भारतीय पटसन की मिलों के लिये यह समस्या देश के विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हो गई थी। जब सितम्बर १६४६ में भारत ने इंगलैंड के साथ साथ रुपये का अवमूल्यन किया और पाकिस्तान ने अवमूल्यन करने से इन्कार कर दिया तो भारतीय मिलों के लिये एक और समस्या उत्पन्न हो गई। जूट का मूल्य पहले से ही अधिक था और पाकिस्तान से आने वाले जूट में पानी का अंश बहुत होता था जिससे उसकी लागत और बढ़ी हुई हो जाती थी। अवमूल्यन के बाद जब पाकिस्तान ने अपने १००=१४४ [भारत] की दर निश्चित करदी तो कच्चे पटसन का मूल्य ४४ प्रतिशत और बढ़ गया। भारतवर्ष में और पाकिस्तान में पटसन का मूल्य नियंत्रण कर दिया गया पर भारत ने जो मूल्य निश्चित किया वह पाकिस्तान द्वारा निश्चित मूल्य से कम था। इसलिए भारतीय मिलें पाकिस्तान का पटसन खरीदने को तैयार नहीं थीं। कच्चे जूट की इस कमी का सामना संगठित रूप से मिलों के आपसी समझौते के आधार पर उत्पादन में कमी करके किया गया। इस समझौते के अनुसार [जो अप्रैल १६४६ में किया गया था] १२·५ प्रतिशत करघे बन्द करने और सेकिंग का उत्पादन बढ़ाने का निश्चय किया गया। सेकिंग में साधारण दर्जे के पटसन की आवश्यकता होती है। इसलिये उसका उत्पादन बढ़ाने से पाकिस्तान के अच्छे प्रकार के पटसन की आवश्यकता कम की जा सकती है। यह समझौता जुलाई १६४६ में फिर बदल गया और यह निश्चय किया गया कि जुलाई १६४६ से दिसम्बर १६४६ तक महीने में एक सप्ताह मिलें बन्द रहा करेंगी। इसी बीच में रुपये के अवमूल्यन से जो स्थिति उत्पन्न हुई उसका हम उल्लेख कर चुके हैं। इसका सामना करने के लिए पटसन के माल में भावी पयान, पर पश्चिम बंगाल की सरकार ने रोक लगादी। और जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है पश्चिम बंगाल की सरकार की सहमति से इण्डियन जूट मिल एसोसियेसन ने कच्चे जूट और जूट के माल की क़ीमत निश्चित करदीं। इस योजना के अनुसार पाकिस्तान से जूट का आयात करने के लिये इंडियन जूट मिल एसोसियेशन को लाइसेंसिंग अधिकारी नियुक्त किया गया। उसके अलावा पाकिस्तान से दूसरा कोई जूट का आयात नहीं कर सकता था। इसके अनुसार पश्चिम बंगाल की सरकार ने ३० अक्टूबर को जूट [कन्ट्रोल आव प्राइसेज] आर्डीनेन्स जारी किया। भारत-सरकार ने जूट के माल के निर्यात के सम्बन्ध में जूट गुड्स [एक्सपोर्ट कन्ट्रोल] आर्डर, १६४६ के

अनुसार मूल्यों का निर्धारण कर दिया। हेसियन पर निर्यात कर ८० रु० से १५० रु० टन कर दिया गया। राज्य की सरकारों ने भी नवम्बर के दूसरे सप्ताह में जूट के माल के उत्पादन, पूर्ति और वितरण सम्बन्धी आज्ञाएँ जारी कीं। पाकिस्तान में भी कच्चे जूट पर सरकार द्वारा नियंत्रण कायम किया गया। मूल्य निश्चित कर दिये गये। जूट-बोर्ड की स्थापना की गई और बिना इस बोर्ड की स्वीकृति के पाकिस्तान से जूट का निर्यात बन्द कर दिया गया। पर शीघ्र ही पाकिस्तान और भारत में सारी स्थिति पर विचार हुआ और अप्रैल १९५० में भारत-पाकिस्तान-जूट समझौता किया गया, जिसके अनुसार ११ जुलाई, १९५० तक पाकिस्तान से भारत को ४० लाख मन जूट भेजने का निश्चय किया गया। पर जिस क्रम से जूट आना चाहिये था, वह मई और जून में क्रम बदलने के बाद भी, आया नहीं। भारतीय मिलों को जूट सम्बन्धी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि यह कोई पहला अवसर नहीं था जब पाकिस्तान ने अपने वचन के अनुसार कच्चा जूट भेजा नहीं। मई, १९४८ में जो इन्टर डोमिनियन समझौता [जुलाई १९४८ से जून १९४९] भारत पाकिस्तान में हुआ था [विभाजन के बाद यह पहला समझौता था] उसको पाकिस्तान ने भंग किया। दुबारा जब भारत पाकिस्तान कमोडिटी एग्रीमेंट जुलाई १९४८से जून १९४९ तक का हुआ उसका भी यही हाल हुआ। और फिर अवमूल्यन के बाद से तो जूट का पाकिस्तान से भारत में आना ही बन्द हो गया था। उसके बाद ही फिर अप्रैल १९५० में यह समझौता हुआ। उपर्युक्त विवरण से यह सार निकलता है कि १९४९-५० में भारतीय जूट उद्योग को कच्चे माल की बराबर कठिनाई रही और इसी से उसका उत्पादन कम हुआ। अप्रैल १९५० के समझौते के पश्चात् जूट मिलों की कच्चे माल की स्थिति में थोड़ा सुधार अवश्य होने लगा था। अप्रैल १९५० [४० हजार टन] और मई १९५० [७४ हजार टन] की अपेक्षा जून का उत्पादन बढ़ कर ७७ हजार टन से कुछ ही कम था। अप्रैल १९५० के भारत पाकिस्तान समझौते के अनुसार सितम्बर १९५० के पहले-पहले तक जितना जूट भारत को मिलने वाला था वह सब मिल गया। उसके बाद भारत-पाकिस्तान का जूट का व्यापार बन्द हो गया। भारत पाकिस्तान के विदेशी विनिमय के प्रश्न का स्थायी हल निकले बिना भारत पाकिस्तान से और अधिक जूट खरीदने के लिये तैयार नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि १९५०-५१ [जुलाई-जून] के आरम्भ में जूट सम्बन्धी स्थिति अस्पष्ट थी। यह नहीं मालूम था कि पाकिस्तान और भारत का सम्बन्ध कैसा रहेगा, पाकिस्तान से भारत को जूट मिलेगा या नहीं, या भारत

को अपने ही पाँव पर इस मामले में खड़ा होना पड़ेगा। यद्यपि कच्चे पटसन और पटसन के माल के मूल्यों का सरकार द्वारा नियंत्रण जारी था पर इन मूल्यों पर माल मिलता नहीं था और काला बाजार पनप रहा था। दिसम्बर १६५० के मध्य में सेन्ट्रल जूट बोर्ड की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य मिलों को की जाने वाली कच्चे पटसन की बिक्री का नियंत्रण करना था। मिलों को जूट बोर्ड के द्वारा ही कच्चा पटसन खरीदना अनिवार्य था, वे सीधा बेचने वाले से नहीं खरीद सकतीं थी। फरवरी १६५१ के अन्त में भारत-पाकिस्तान व्यापारिक समझौता हुआ। इस समझौते की अवधि १६ महीने की है। जहाँ तक जूट का सम्बन्ध है इस समझौते के अनुसार पाकिस्तान भारत को ३० जून, १६५१ तक १० लाख गाँठें जूट भेजेगा। ३३ लाख गाँठ जूट तो पाकिस्तान-सरकार भारत-सरकार को एक निश्चित मूल्य पर देगी और बाकी की ६३ लाख गाँठ खुले बाजार में से खरीदना होगा। जुलाई-जून १६५१-५२ में पाकिस्तान भारत को २५ लाख गाँठ पटसन भेजेगा। इस समझौते से जूट की कमी की जब आशंका न रही तो जूट पर से ६ मार्च १६५१ से मूल्य-नियंत्रण भी हटा लिया गया है। मूल्य नियंत्रण कच्चे पटसन और पटसन के तैयार माल दोनों पर से ही हटा लिया गया है। जूट बोर्ड बना रहेगा और अब उसका काम मिलों में जूट का उचित और न्यायपूर्ण बटवारा होसके इसकी व्यवस्था करना होगा। १६५०-५१ में जूट के उत्पादन में भी वृद्धि होगी ऐसी आशा है, क्योंकि जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है अब मिलों को कच्चे माल की कठिनाई नहीं होगी। जुलाई १६५० से जनवरी १६५१ तक के जो आँकड़े प्रकाशित हुए हैं [कामर्स ३ मार्च, १६५१ पृष्ठ ३८०] उनसे भी इस बात का समर्थन होता है। इन सात महीनों में [जुलाई १६५० से जनवरी १६५१] कुल उत्पादन ५,११,२०० टन हुआ जब कि १६४६ में इसी समय का उत्पादन ४,६६,१०० टन था।

अब तक हमने इस बात का उल्लेख किया है कि पटसन उद्योग में उत्पादन की दृष्टि से द्वितीय महायुद्ध के समय से आज तक क्या-क्या उतार-चढ़ाव आए। देश के विभाजन और रुपये के अवमूल्यन से कच्चे पटसन और उसके मूल्य की जो समस्यायें पैदा हुईं उनका कैसे सामना किया गया। पर पटसन के उद्योग के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसका बहुत कुछ आधार निर्यात पर है। जो तालिका ऊपर दी गई है उसे ध्यान से देखने से मालूम होगा कि कुल उत्पादन का बहुत बड़ा भाग निर्यात ही होता है। यह भाग लगभग ५५ प्रतिशत (१६४२-४३) से लगा कर ६० प्रतिशत तक रहा है। १६४६-५० में उत्पादन

म कमी होने से निर्यात पर भी असर होना स्वाभाविक था। अवमूल्यन के बाद जूट के माल की नियत संबंधी मूल्यों का नियन्त्रण भी हो ही गया था। इसके पहले भी कितना माल कहां-कहां भेजा जासकता है इस पर सरकार का नियन्त्रण था ही। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब १६४६ के अन्त में जूट के मूल्यों (आन्तरिक और निर्यात सम्बन्धी) पर से नियन्त्रण हटा लिया गया, तब सरकार ने जूट के नियात पर नया नियंत्रण लागू कर दिया था कि किस मात्रा में और किन देशों को जूट का नियात होसकता है। अभी फरवरी १६५१ के अन्त में मूल्य नियन्त्रण हटजाने के बाद भी भारत सरकार को यह अधिकार तो है ही। यह हम पहले लिखचुके हैं कि अवमूल्यन के बाद जूट के माल पर (हेसियन) निर्यात-कर ८० रु० से ३५० रु० टन कर दिया था। कोरिया युद्ध के आरम्भ हो जाने के बाद जब अमरीका म जूट के माल का मूल्य बहुत बढ़ने लगा तो नियात कर में भी पहले ३५० रु टन से ७०० रु टन और बाद में १५०० रु टन (नवम्बर १६५०) तक वृद्धि कर दी गई। ऐसा कहा जाता है कि इतने अधिक निर्यात कर लगा देने से अमरीका ने हमारा माल खरीदना कम कर दिया है। निर्यात सम्बन्धी जो सरकार का नियन्त्रण है उसके कारण इस कमी की पूर्ति दूसरे देशों को माल भेज कर भी नहीं हो सकता।

भविष्य - जूट उद्योग की प्रगति का विवरण हम ऊपर दे चुके हैं। अब प्रश्न यह है कि उसके भविष्य के बारे म क्या अनुमान लगाया जा सकता है। देश के विभाजन से जूट उद्योग के लिए कच्चे माल की बड़ी समस्या पैदा हो गई है। जूट के माल के उत्पादन-लागत का ७० प्रतिशत भाग कच्चे जूट का होता है। इससे इसका महत्त्व स्पष्ट है। भारत की जूट की मिलों को ६० लाख गांठ पटसन प्रति वर्ष चाहिये। इसके अलावा लगभग ६ लाख गांठ निर्यात के लिए और १३ लाख गांठ घरेलू खपत के लिए चाहिये। इस प्रकार कुल १०२ लाख गांठ हमें चाहिये। विभाजन के पहले के आंकड़ों को आधार मान कर यदि हम विचार करें तो १६४५-४६ में भारत म १५.५६ लाख गांठ जूट उत्पन्न हुआ था जब कि पाकिस्तान म ६२.३५ लाख गांठ उत्पन्न हुआ था। युद्ध के पूर्व के चार वर्षों का (१६३६-१७ से १६-८-४६) औसत देखने से मालूम होता है कि भारत म २०.०२ लाख गांठ और पाकिस्तान में ६३.६० लाख गांठ जूट पैदा हुआ था। १६४०-४१ में भारत में २७.५६ लाख गांठ और पाकिस्तान में १०४.१३ लाख गांठ जूट उत्पन्न हुआ। विभाजन के बाद से भारत वर्ष ने कपास के साथ साथ जूट में भी स्वावलम्बी होने का प्रयत्न करना आरम्भ किया। इस प्रयत्न म भारत को सफलता मिला है। ट्रावनकोर, मद्रास और बम्बई में जूट पैदा करने के लिये

जो प्रयोग किये गये वे सफल हुए हैं। पर इन प्रयोगों का देश को पूरा लाभ नहीं मिल सका है। १९४७-४८ में १६·६६ लाख गांठ, १९४८-४९ में २०·२७ लाख गांठ और १९४९-५० में ३१.१७ लाख गांठ पटसन पैदा किया गया। ऐसी आशा की जाती थी कि १९५०-५१ में १२ लाख गांठ जूट का उत्पादन और बढ़ जायेगा। पर यह आशा सफल नहीं हुई। १९५०.५१ में ३२.७ लाख गांठ जूट ही पैदा हुआ। (कोमर्स १४ अप्रेल १९५१) जूट की समस्या केवल उत्पादन-वृद्धि की ही नहीं है, जूट के प्रकार का भी सवाल है। ऊंची प्रकार का जूट भारत में कम होता है और वह हमें पाकिस्तान से मँगाना पड़ता है। लगभग ७० प्रतिशत जूट हमारी मिलों को पाकिस्तान में पैदा होने वाला जूट चाहिये। यदि हम जूट में स्वालम्बन चाहते हैं तो हमें अच्छे प्रकार का जूट पैदा करना होगा या फिर नीचे दर्जे का माल अधिक मात्रा में तैयार करना होगा। इसी विवशता से पिछले वर्षों में हमारी मिलों में हेसियन का उत्पादन कम और सेकिंग का अधिक हुआ है। जहां १९४६-४७ में कुल उत्पादन में हेसियन ४३ प्रतिशत और सेकिंग का ५२ प्रतिशत था वहां १९४८-४९ में हेसियन का भाग ३७ प्रतिशत और सेकिंग का ५४ प्रतिशत हो गया।

दूसरा प्रश्न: जिसका भारत के जूट-उद्योग पर असर पड़ सकता है वह है स्वयं पाकिस्तान में जूट उद्योग के विकास का। इस समय पाकिस्तान में एक भी जूट की मिल नहीं है। पर पाकिस्तान का ध्यान इस ओर है और यह स्वाभाविक भी है। ऐसी स्थिति मे भारत को जूट-उद्योग का जो प्रायः आज एकाधिकार, सा प्राप्त है वह सुदूर भविष्य में भी बना रहेगा यह आशा नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि निकट भविष्य में कोई बड़ा खतरा इस ओर से नहीं माना जा सकता। पर कुछ लोगों का यह विचार है कि अगर भारत का जूट का माल सस्ता नहीं हुआ तो स्पेन, फ्रांस, इटली आदि के जूट की मिलों का माल भारत के माल को अपेक्षा अधिक बिकेगा। आस्ट्रेलिया और इंगलेंड भी आस्ट्रेलिया मे जूट के उत्पादन का प्रयत्न कर रहे हैं।

तीसर प्रश्न है जूट के माल के स्थान पर दूसरे माल के उपयोग का। पिछले वर्षों में यह प्रवृत्ति बढ़ी है। कपास और कागज के थैलों का अमेरिका आदि में जूट के थैलों के स्थान पर उपयोग किया जाता है। रेयोन स्टेपल के थेले भी जूट के थैलों की जगह काम आते हैं। अमेरिका भी इस दिशा में प्रयत्नशील बताया जाता है कि जूट के माल के सम्बन्ध में उसकी भारत और पाकिस्तन पर निर्भरता कम हो जाये। जूट के माल का मूल्य जब बढ़ता है तो यह खतरा अधिक होता है। फिर भी भारी काम के लिये जूट के बोरे ही उपयोगी होते हैं।

निकट भविष्य में इस ओर से कोई बड़ा डर नहीं है, यह जानते हुए भी हमें सतर्क तो रहना ही है। इंडियन जूट मिल एसोसियेशन का इस ओर ध्यान है भी।

जूट उद्योग के भविष्य के बारे में एक बात ध्यान में रखने की और है कि जैसे जैसे दुनिया का व्यापार बढ़ेगा और उत्पादन और आर्थिक स्तर बढ़ेगा वैसे-वैसे जूट के माल की माग भी बढ़ेगी। भारतीय जूट उद्योग के भविष्य के बारे में विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उद्योग के बारे में आगे से हम उतने निश्चिन्त तो नहीं रह सकते जितने आज तक रहे हैं। औद्योगिक क्षेत्र पर हमें विशेष ज़ोर देना होगा ताकि हमारे देश में उत्पन्न होने वाले जूट के मिलों में अच्छा से अच्छा उपयोग हो, कच्चा जूट ज्यादा अच्छा हमारे देश में पैदा किया जाये, उत्पादन विधि में सुधार हो ताकि उत्पादन-लागत कम हो और दूसरे प्रकार के माल से जिस प्रतिस्पर्द्धा की आशका आज हो रही है वह कम से कम हो। निकट भविष्य में तो चाहे नहीं पर सुदूर भविष्य में दुनिया के बाजार में भारत को पाकिस्तान के जूट के माल की प्रतिस्पर्द्धा तो करनी होगा। आज का उसका एकाधिकार अन्ततोगत्वा समाप्त होगा। पर यदि दूसरी आवश्यक बातों की ओर जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है पूरा पूरा ध्यान रहा तो भारतीय जूट-उद्योग के भविष्य के बारे में चिन्ता का कोई कारण नहीं है।

ऊनी मिल उद्योग —कपास और जूट के उद्योगों के मुक़ाबले में ऊनी उद्योग का देश के आर्थिक जीवन में बहुत कम महत्त्व है। यह उद्योग भारत में ही केन्द्रित है और पाकिस्तान में सुसगठित मिल तो एक भी नहीं है। ऊनी उद्योग तीन प्रकार का है —(१) ऊनी मिल उद्योग (२) ऊनी गृह उद्योग (३) ग़लीचे का उद्योग। ग़लीचे का उद्योग, गृह उद्योग और फैक्टरी उद्योग दोनों ही प्रकार का है। ऊनी मिलों में भी तीन प्रकार हैं। पहली प्रकार की वे मिलें हैं जिनमें 'वूलन' [नीचे दर्जे का] और वोर्स्टेड [बढ़िया] दोनों ही प्रकार के कपड़े तैयार होते हैं। दूसरी प्रकार की वे मिलें हैं जिनमें केवल एक प्रकार का कपड़ा तैयार होता है। तीसरी श्रेणी में अमृतसर की मिलें हैं जो तैयार सूत खरीदती हैं और फिर उसकी बुनाई और रँगाई आदि करती हैं। पहली श्रेणी में कानपुर और धारीवाल की ऊनी मिलें आती हैं। ऊनी मिल उद्योग में २५ हजार आदमी काम करते हैं। गृह उद्योग में लगभग १ लाख और ग़लीचे के उद्योग में लगभग ४० हजार आदमी काम करते हैं। मिल उद्योग में वूर्स्टेड तकुओं की सख्या ३७,५००, वूलन तकुओं की ५०,००० और पॉवर लूम्स की २,३०० है। मिलों की उत्पादन शक्ति ३ करोड़ पौंड प्रति वर्ष मानी जा सकती

है। भारत के विभाजन के समय १७ बड़ी और २२ छोटी मिलें थीं। ऊनी मिल-उद्योग में लगभग ४-५ करोड़ रुपये की पूँजी लगी होगी।

प्रारम्भ :—भारत की पहली ऊन की मिल १८७६ में कानपुर में स्थापित की गई। यहाँ कच्चे माल और बाज़ार दोनों की ही सुविधा थी। दूसरी मिल धारीवाल [पंजाब] में १८८२ में स्थापित हुई। बम्बई में १८८८ में और बँगलोर में १८८६ में और मिलें स्थापित हुईं। प्रथम महायुद्ध के समय तक भारत में ५-६ मिलें थीं।

प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात् :—प्रथम महायुद्ध में ऊनी मिल-उद्योग को प्रोत्साहन मिला। बम्बई में खास तौर से कुछ नई मिलें स्थापित हुईं। युद्ध के बाद १६१६-२० में नई मिलें स्थापित हुई थीं। युद्धजनित यह सफलता स्थायी नहीं साबित हुई। इटली और जापान के माल की भारतीय माल से प्रतिस्पर्द्धा होने लगी। इटली के कम्बल, और ट्वीड और जापान का बढ़िया [वोर्स्टेड] कपड़ा भारत के बाज़ार में खूब बिकने लगा। १६३१-३२ में ३७ लाख गज़ माल बाहर से आयात हुआ था। १६३४-३५ में १ करोड़ ६७ लाख गज़ माल बाहर से आया। केवल जापान के माल का हिस्सा ११ लाख गज़ से बढ़कर ७३ लाख गज़ हो गया था। इस पर से ऊनी मिल उद्योग ने संरक्षण की माँग की। प्रशुल्क मंडल ने १६३५ में इस सम्बन्ध में जांच की और संरक्षण की सिफारिश की। पर भारत की विदेशी सरकार ने संरक्षण देने से इसलिये इन्कार कर दिया कि कानपुर और धारीवाल की मिलों ने संरक्षण की मांग नहीं की थी। कानपुर की मिलें अंग्रेज़ों के हाथों में थीं, यह ध्यान रखने की बात है। विश्व संकट और जापानी मुद्रा के विनिमय दर में गिरावट आने से और भारत का विनिमय दर ऊँचा होने से इस उद्योग को विदेशी माल से और खास करके जापान से जो प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ रही थी वह और भी अधिक होगई।

द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद:—द्वितीय महायुद्ध के कारण ऊनी माल की भी माँग बढ़ी और इससे इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। सरकार ने ऊनी माल अधिक मात्रा में खरीदना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम ऊन-मिलों का उत्पादन बढ़ने का हुआ। पर जहाँ बढ़ी हुई माँग के कारण द्वितीय महायुद्ध ने इस उद्योग को प्रोत्साहन दिया वहाँ बाहर से ऊनी यार्न न आने से मिलों को कठिनाई भी हुई। अमृतसर और लुधियाना की मिलों को जहां यांत्रिक शक्ति द्वारा संचालित करघों पर बुनाई का काम होता था बहुत धक्का पहुंचा। परन्तु बाद में भारत-सरकार ने इंगलैंड और आस्ट्रेलिया से यार्न

मँगाने की व्यवस्था पर दी थी और इससे मिलों की कठिनाई कुछ कम हो गई। युद्ध के पहले चार वर्षों का (१९३६-१९३९) औसत उत्पादन ९ करोड़ ११ लाख पौंड था। युद्ध के बाद सन १९४६ में उत्पादन की मात्रा २ करोड़ ७० लाख पौंड थी। सन १९४७ में उत्पादन थोड़ा कम हो गया। इस वर्ष २ करोड़ ४० लाख पौंड माल पैदा हुआ। १९४६ में कीमत की दृष्टि से ६६ करोड़ रुपए का उत्पादन हुआ पर १९४७ में ८२ करोड़ रुपये का उत्पादन हुआ। उत्पादन की मात्रा में कमी होने पर भी मूल्य का बढ़ना ध्यान देने योग्य है।

१९४७ में जब देश का विभाजन हुआ तो उसका असर इस उद्योग पर भी एक हद तक पड़ा। अविभाजित भारत में कच्चे ऊन की कुल पैदावार ८६ करोड़ पौंड थी। भारत के विभाजन से ६ करोड़ पौंड भारत में और २६ करोड़ पौंड पाकिस्तान में पैदा होने का अनुमान लगाया जा सकता है। विभाजन का कच्चे माल की दृष्टि से ऊन उद्योग पर उतना घातक असर नहीं पड़ा जितना कपास अथवा पटसन के उद्योग पर पड़ा। ऊनी माल के उत्पादन का जहाँ तक सवाल है विभाजन से उसमें भी कमी तो आई है। और इसका सबसे बुरा असर पूर्वी पंजाब पर पड़ा है। यहाँ का ऊनी मिल उद्योग सबसे अधिक संगठित था और विभाजन के कारण सबसे अधिक अव्यवस्था भी यहीं हुई। कुछ मिलें जो मुसलमानों के हाथों में थीं वे मुसलमानों के पाकिस्तान चले जाने से दूसरों के हाथों में आ गईं। धारीवाल, अमृतसर और पानीपत की ऊनी मिलों में अधिकांश काम करने वाले मुसलमान थे। उनके पाकिस्तान चले जाने से भी इस उद्योग को बहुत धक्का लगा है क्योंकि ऊन के उद्योग में कुशल मजदूर का विशेष महत्व है। अच्छे प्रकार का ऊन जो पाकिस्तान से आता था उस पर भी विभाजन का असर पड़ा है। पाकिस्तान का बाजार भी अब भारत के हाथ से निकल गया है। ऐसा अनुमान है कि कुल उत्पादन के लगभग ३० प्रतिशत भाग की पाकिस्तान और विशेषतया पश्चिमी पंजाब में खपत होती थी।

भविष्य—अब प्रश्न यह है कि ऊनी मिल उद्योग का भविष्य हमारे देश में क्या है। ऊनी माल का आज भी देश में उत्पादन की अपेक्षा अधिक माँग है, खास तौर से बढ़िया माल का। उदाहरण के लिये दरी और बढ़िया कम्बलों की माँग देश में काफी है। १९४५ में भारत सरकार ने ऊनी उद्योग के लिए जो पैनल नियुक्त किया था उसने यह अनुमान लगाया था कि भारत में (अविभाजित) ३ करोड़ पौंड की माँग थी जब कि उत्पादन १ करोड़ १८ लाख पौंड और विदेशी माल का आयात ८० लाख पौंड के लगभग था। अर्थात १ करोड़ पौंड

की मांग अधिक थी। और यदि विदेशी माल को निकाल दें तो उत्पादन से मांग की अधिकता लगभग १६० लाख पौंड के हो जाती है। विभाजन के बाद इस स्थिति में कोई बहुत परिवर्तन नहीं आया है। आज पाकिस्तान में ऊनी उद्योग नहीं है। हां, भविष्य में उसका विकास हो सकता है। पर उसमें समय लगेगा। इस बीच में मध्यपूर्व और निकट पूर्व के देशों में भारतीय माल के लिये बाजार पैदा किया जा सकता है। देश के अन्दरूनी बाजार का भी, जैसे-जैसे हमारा आर्थिक स्तर ऊपर उठेगा, विस्तार होगा। इसलिये ऊनी उद्योग को बाजार की कोई कठिनाई नहीं आने वाली है। कच्चे माल के बारे में यह स्थिति है कि बढ़िया ऊन की देश में कमी है। आज भी इंगलैंड और आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलेंड से बढ़िया ऊन हमारे देश में आती है। देश के विभाजन से भी बढ़िया ऊन पैदा करने वाला प्रदेश (पश्चिमी पंजाब) भारत से अलग हो गया है। इसलिये इस बात की आवश्यकता है कि बढ़िया ऊन पैदा करने की ओर हमारे देश में अधिक ध्यान दिया जाये। ऊनी माल की उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ बढ़िया माल का उत्पादन आवश्यक है। वह भी बढ़िया ऊन पैदा करने से ही सम्भव हो सकता है। ऊन के मिल उद्योग की भावी प्रगति के लिये मशीनों और कुशल काम करने वालों की भी बड़ी आवश्यकता है। द्वितीय महायुद्ध के समय पुरानी मशीनरी बदलने की सुविधा न होने से आज मशीनरी बदलने की बहुत आवश्यकता है। सरकार इस ओर आवश्यक सुविधा देने के लिये प्रयत्नशील भी है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि भारत में ही मशीनरी का उत्पादन किया जाये। ऊनी उद्योग सम्बन्धी पेनल ने भी इसकी आवश्यकता पर ज़ोर दिया था। कपास के उद्योग सम्बन्धी मशीनरी का उत्पादन इस दिशा में सहायक होगा क्योंकि दोनों उद्योगों में कई बातें समान हैं। ऊन के उद्योग में काम करने वालों की आवश्यक ट्रेनिंग की व्यवस्था भी की जानी चाहिये। यदि उपर्युक्त सब बातों की ओर हमने ध्यान दिया तो इस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है। भारत में गलीचे बनाने के लिए बहुत अच्छा ऊन पैदा होता है। फिर भी इस उद्योग का समुचित विकास नहीं हुआ है इसकी सबसे बड़ी कठिनाई आधुनिक मशीनरी का अभाव है।

रेशम का उद्योग—भारत के आधुनिक उद्योगों में रेशम का उद्योग भी है। ऊनी मिल-उद्योग की भांति भारत के आर्थिक जीवन में इस उद्योग का महत्त्व भी थोड़ा है, यद्यपि यह भारत का अत्यन्त प्राचीन धन्धा रहा है, जैसा कि कपास के उद्योग के बारे में भी कहा जा सकता है। ऊनी उद्योग की भांति रेशम के उद्योग में भी हाथ-करघे का विशेष महत्त्व है और मिल-उद्योग का कम। हम यहां मिल-

उद्योग का ही विचार करेंगे। इस उद्योग में लगभग ५० हज़ार आदमी काम करते हैं। विभाजन से पहले रेशम और नक़ली रेशम के यान्त्रिक शक्ति द्वारा सचालित करघों की कुल संख्या १२ हज़ार थी। इसमें पाकिस्तान का हिस्सा तो नगण्य था—१०० करघों से भी कम। इसका अर्थ यह है रेशम का मिल उद्योग भारत में ही केन्द्रित है। यही बात हाथ के करघों के बारे में भी है। यह उद्योग शहरी उद्योग है और उत्तर प्रदेश, काश्मीर, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, बम्बई, और मद्रास के राज्यों में प्रधानतया पाया जाता है। मिल उद्योग का वार्षिक उत्पादन १५ करोड़ गज़ रेशम और नक़ली रेशम का माना जा सकता है। भारत के विभाजन के समय मिलों की कुल संख्या २८० थी, उसमें से २७४ भारत में और ६ पाकिस्तान में थीं। ३० सितम्बर, १९४९ को रेशम के मिल उद्योग में लगभग १८ हज़ार करघे लगे हुए थे। इसके अलावा लगभग ८ हज़ार हाथ के करघे भी इस उद्योग में लगे हुए हैं।

प्रारम्भ—रेशम के मिल उद्योग का भारत में इसी शताब्दी में आरम्भ हुआ। कई कारणों से इसकी प्रगति धीमी हुई है। इसके उत्पादन में कलात्मक दृष्टि का अधिक महत्त्व है जो आधुनिक ढंग के प्रमापी करण प्रधान कारखानों में सम्भव नहीं हो सकती। कुशल मज़दूर और उपयुक्त मशीनरी का भारत में अभाव रहा है। अलग अलग प्रान्तों (राज्यों) में माँग भी एक सी नहीं है, क्योंकि जगह जगह की पोशाक और रुचि में भी बहुत अन्तर है। पिछले वर्षों में इस उद्योग के मार्ग में कठिनाइयाँ आई हैं। संसार व्यापी आर्थिक मन्दी, स्वर्णमान के परित्याग के बाद मुद्रा के मूल्यों में ह्रास और चीन, जापान तथा युरोपीय माल की प्रतिस्पर्द्धा जो विनिमय दर में गिरावट आने से और भी अधिक घातक हो गई, तथा विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा अपने अपने देश के रेशम के उद्योग को मिलने वाली सहायता के कारण भारत के रेशम के उद्योग को यथेष्ट हानि हुई है। १९३४ में जब इंडियन टेरिफ (टैक्सटाइल प्रोटेक्शन) एक्ट पास हुआ था तो कपास के उद्योग के साथ साथ उसके द्वारा रेशम के उद्योग को भी संरक्षण दिया गया था। कच्चा रेशम, रेशम का तार (धागा) रेशमीन कपड़ा, रेशम का मिलावटी कपड़ा, और नक़ली रेशम का कपड़ा तथा मिलावटी कपड़ा सभी पर आयात-कर लगाये गये थे। नक़ली रेशम के तार पर भी आयात-कर बढ़ाया गया था। पर एक तो यह आयात कर कम थे और दूसरे विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही थी, इस लिए इस उद्योग की स्थिति सुधर नहीं सकी। १९३८ में संरक्षण जारी रखने का प्रश्न फिर टेरिफ बोर्ड के सामने प्रस्तुत हुआ और उसने संरक्षण-कर की दरों में वृद्धि करने की सिफारिश भी की। परन्तु सरकार ने

निर्णय करने से इन्कार कर दिया। उसका कहना यह था कि युद्ध जनित अनिश्चित अवस्था में कोई निर्णय करना उचित नहीं है। पर सरकार की यह नीति दोषपूर्ण थी।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्:—द्वितीय महायुद्ध के कारण इस उद्योग को भी अन्य उद्योगों की तरह प्रोत्साहन मिला। बाहर के माल की प्रतिस्पर्धा कम हो गई। जापान और इटली से तो माल आना बिल्कुल बन्द हो गया। पर जापान से कच्चा रेशम आना बन्द होने का असर रेशम के उद्योग पर अच्छा नहीं पड़ा। फिर भी कुल मिलाकर युद्ध से प्रोत्साहन ही मिला। युद्ध के समाप्त होने ही फिर उद्योग की स्थिति बिगड़ने लगी। १९३४ में जो संरक्षण रेशम के उद्योग को दिया गया था वही १९४२ तक जारी रहा क्योंकि १९३८ की टेरिफ बोर्ड की सिफारिशों पर उस समय सरकार ने कोई कार्रवाई नहीं की थी। १९४२ में इन सिफारिशों के अनुसार सब आयात-करों में वृद्धि की गई। यह संरक्षण १९४९ तक जारी रहा। इस वर्ष फिर टैरिफ़ बोर्ड में इस उद्योग के संरक्षण के प्रश्न पर विचार किया और संरक्षण-कर बढ़ाने की सिफारिश की। सरकार ने इन सिफारिशों के आधार पर नए संरक्षण-करों की घोषणा करदी इसके अनुसार कच्चा रेशम और रेशम को कोकून पर और रेशम के तार [यार्न] पर २५ प्रतिशत मूल्य के अनुसार + १४ आ. प्रति पौंड + १/५ कुल कर का जो अब तक आयात कर था उसे बढ़ा कर अब ३० प्रतिशत + १५ रु. १२ आ प्रति पौंड या कुछ प्रकार के तार पर ३० प्रतिशत + ४ १/२ रु प्रति पौंड या केवल ३० प्रतिशत कर दिया गया। इसी प्रकार रेशमीन कपड़े पर अभी तक जो आयात-कर था [५० प्रतिशत + १ रु० प्रति पौंड + १/५ कुल कर का, या ५० प्रतिशत + १ १/२ प्रति पौंड + १/५ कुल कर का, या ५० प्रति शत + २ रु. प्रति पौंड + १/५ कुल कर का] उसे बढ़ाकर ७५ प्रतिशत + ५ रु. ८ आ. प्रति पौंड या ७५ प्रतिशत + ४ रु० प्रति पौंड कर दिया गया। यह संरक्षण की दरें ३१ मार्च १९५१ तक के लिए तो जारी करदी गईं थी और बाद में ३१ मार्च १९५२ तक उनकी अवधि बढ़ाई जाने का निश्चय था। यह संरक्षण की मात्राएँ पर्याप्त मानी जानी चाहियें। रेशम के तार व कच्चे रेशम पर सरकार को स्पेसिफ़िक ड्यूटी में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने का अधिकार भी है। पर जैसा हम आगे चलकर लिखेंगे केवल संरक्षण के आधार पर ही किसी उद्योग का और इसलिये रेशम के उद्योग का भी विकास नहीं हो सकता। इसके पहले कि रेशम के उद्योग के भविष्य के बारे में हम विचार करें यह जान लेना आवश्यक है कि देश के विभाजन का इस पर क्या प्रभाव पड़ता है। यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि अविभाजित भारत की २८० मिलों में से २७४ जिनमें सभी

[६८] खास रकम मिलों मा शामिल है हिन्दुस्तान में है। कच्चे रेशम का जहाँ तक सम्बन्ध है विभाजन का उस पर भी कोई असर नहीं पड़ा है। अधिकांश कच्चा रेशम मैसूर, मद्रास, पश्चिमी बंगाल और काश्मीर म पैदा होता है। रेशम के उद्योग म पूर्वी पंजाब म काम करने वाले मुसलमान थे। उनके पाकिस्तान म चले जाने से उद्योग पर कुछ बुरा असर अवश्य पड़ा है। पाकिस्तान का बाजार भी अब विदेशी बाजार हो गया है। और उस पर उस तरह से अब हम निर्भर नहीं रह सकते। अस्तु, विभाजन के कारण ये दोनों हानियाँ अवश्य हुई हैं।

भविष्य —अब प्रश्न यह है कि रेशम के उद्योग का इस देश में भविष्य क्या है? इस सम्बन्ध में सबसे पहले एक बात समझ लेने की है कि रेशम का उद्योग दूसरे वस्त्र उद्योगों से अधिक पेचीदा है। रेशम का तार [यार्न] कपड़े बुनने की अवस्था में आये उससे पहले अन्य कई बातों में सुधार करना आवश्यक है। यथा शहतूत की खेती की उन्नति, क्योंकि रेशम का कीड़ा उसी पर पनपता है, बढ़िया बीज की, जो रोग मुक्त हो, पर्याप्त मात्रा, रेशम के कीड़ों का बीमारियों का नियन्त्रण, रेशम के कीड़े पालने, बीज तैयार करने, सगठन और बिक्री का प्रबन्ध, रेशम कातने के उद्योग का विकास और सहायक पदार्थों [बाई प्रोडक्ट] का पूरा पूरा उपयोग, और उपर्युक्त सब मामलों में विभिन्न राज्यों में सहयोग। इन सब दिशाओं में आवश्यक सुधार करने की दृष्टि से भारत सरकार ने एक केन्द्रीय रेशम मण्डल [सेन्ट्रल सिल्क बोर्ड] का हाल में स्थापना की है। इसका कार्यालय बैंगलौर में है। इसका काम कच्चे रेशम के उद्योग की उन्नति के बारे में भारत सरकार को सलाह देना है और इसे इस उद्योग पर उपकर [सेस] लगाने का अधिकार भी है। १९४९ में जब टैरिफ-बोर्ड ने रेशम के उद्योग के संरक्षण के प्रश्न पर विचार किया तो उसने भी इस सम्बन्ध में कई प्रकार के सुधारों की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। रेशम सम्बन्धी खोज के लिये पर्याप्त सुविधा और साधन की व्यवस्था, विदेशी रेशम के कीड़ों के लिए एक केन्द्रीय बीज केन्द्र की स्थापना, रेशम के कीड़ों के रोगों का कानून द्वारा नियन्त्रण, रोग मुक्त बीजों का धीरे धीरे अनिवार्य उपयोग चर्खा द्वारा रेशम की रील तैयार करने के काम में सुधार, विदेशों म विशेषज्ञों की ट्रेनिंग की व्यवस्था, और रेशम के उद्योग के लिए आवश्यक मशीनरी तथा दूसरा सामान प्राप्त करने म सरकार द्वारा सहायता—ये कुछ ऐसी बातें हैं जिनका टैरिफ बोर्ड ने खास तौर से उल्लेख किया है। मैसूर की सरकार तथा दूसरे राज्यों की सरकारों का इन बातों की ओर ध्यान भी गया है। केन्द्रीय रेशम मण्डल, जिसका हमने ऊपर जिक्र किया है, इस दिशा में बहुत काम कर सकता है। यहाँ यह बात याद रखने की है कि

रेशम-मिल-उद्योग की सफलता के लिये आज सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हमारे देश में कच्चे रेशम का उत्पादन बढ़े, उसका प्रकार बढ़िया हो, और उसके मूल्य में कमी हो। हमारे देश में २४ लाख पौंड कच्चा रेशम उत्पन्न होता है। उससे हमारी ६० प्रतिशत माँग पूरी होती है। बाक़ी का रेशम बाहर से, जैसे जापान, इटली आदि स्थानों से आता है। हमारे देश में रेशम पर बहुत ऊँचा आयात-कर होने पर भी बाहर का रेशम सस्ता पड़ता है, और वह बढ़िया भी होता है, इसलिये हमें इन दोनों बातों की ओर भी (अधिक उत्पादन के साथ-साथ) ध्यान देना चाहिये। केन्द्रीय रेशम मण्डल के तत्वावधान में एक टेकनिकल विकास समिति की स्थापना रेशम का उत्पादन दुगुना करने और मूल्य को कम करने सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिये की जा चुकी है। रेशम की रील बनाने का काम आज भी हाथ के चर्खे पर अधिकतर होता है। इसमें सुधार करना चाहिये, पर इसके सुधार की आखिर मर्यादा है। इसलिये 'फिलेचर' पर रील करने के काम को राज्य की सरकारों को प्रोत्साहित करना चाहिये। ऐसा कई राज्य कर भी रहे हैं। सहकारिता के आधार पर भी इस काम को करना चाहिये। सहकारिता का आधार रेशम पालने और बुनने में भी किया जाना चाहिये। उपर्युक्त विवरण का सार यह है कि भारत में रेशम के उद्योग के लिये यथेष्ट गुंजाइश है परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उससे सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं को राज्य की और केन्द्र की सरकारें तत्परता से हल करने का प्रयत्न करें। भारत-सरकार और राज्य की सरकारों का इन ओर प्रयत्न चल रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

रेयॉन उद्योग—रेयॉन [Rayon] एक प्रकार के नक़ली रेशम है, इस तरह की ग़लत धारणा कई लोगों को आज भी है। वास्तव में रेयॉन सेलूलोज या सेलूलोज बेस से रासायनिक ढंग से तैयार किया गया ऐसा रेशा या तार है जो बुना जा सकता है। इसको तैयार करने की चार मुख्य विधियाँ हैं। इनके नाम इन प्रकार हैं:—नाइट्रो-सिल्क, क्युपरएमोनियम सिल्क, विसकोज़ सिल्क, और एसीटेट सिल्क। इनमें विसकोज़ सिल्क-पद्धति ज़्यादा महत्वपूर्ण है। रेयॉन तैयार करने के लिये प्रमुख कच्चा माल सेलूलोज़ है। वे तमाम पदार्थ जिनसे सेलूलोज़ मिल सकता है रेयॉन बनाने के काम में आ सकते हैं, जैसे कपास, बांस, लकड़ी, पटसन आदि। पर लकड़ी की लुब्दी इस काम के लिये अत्यन्त उपयुक्त है और उसमें भी स्प्रूस की लकड़ी ख़ास तौर से। विस्कोज़ पद्धति में तो स्प्रूस की लकड़ी की लुब्दी ही काम में लेते हैं। रेयॉन उत्पादन के लिये दूसरी आवश्यकता रसायन-पदार्थों की है जैसे—कॉस्टिक सोडा, सलफ्यूरिक एसिड, कारबन बाई-

सलफाइड, सोडियम सल्फेट, सोडियम सलफाइड। इस वास्ते रेयोन उद्योग की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि रसायन-पदार्थों का उद्योग पूर्णतया विकसित हो। कोयला, पानी और यांत्रिक शक्ति भी यथेष्ट मात्रा में चाहिये। आरंभ में तो रेयोन का उपयोग असली रेशम की बजाय ही किया जाता था। परन्तु अब तो यह कई कामों में आता है और इसका अपना वस्त्रोद्योग में एक स्वतन्त्र स्थान है। रेयोन के बारे में एक बड़ा भ्रम यह है कि यह टिकाऊ नहीं होता। पर यह धारणा सही नहीं है। द्वितीय महायुद्ध में इसकी उपयोगिता बहुत सिद्ध हो चुकी है। और आज तो रेयोन का दुनिया के बुने जा सकने वाले पदार्थों [टैक्सटाइल्स फाइबर्स] में दूसरा स्थान है। रेयोन का उपयोग असली रेशम, कपास, ऊन आदि के साथ मिलावट करने के लिये भी किया जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक रेशों [नेचुरल फाबर्स] के साथ रेयोन के रेशों की मिलावट करने के लिये यह आवश्यक है कि रेयोन के रेशों की लम्बाई भी उन प्राकृतिक रेशों की लम्बाई के समान हो। नक़ली रेशम के एक निश्चित लम्बाई के छोटे छोटे टुकड़े प्राकृतिक रेशों के साथ मिलाकर कातने की दृष्टि से काट लिये जाते हैं। इनको ही 'स्टपल फाइबर' कहते हैं और इनकी आज बहुत मांग है। सन् १९४९ में रेयोन का कपड़ा तैयार करने वाली मिलों की संख्या हमारे देश में २८ थी और लगभग ८५००० यान्त्रिक शक्ति से काम करने वाले और ७५००० हाथ-करघे इस उद्योग में लगे हुए थे। यह ठीक ठीक नहीं मालूम कि इस उद्योग में कितनी पूंजी लगी है। पर कुछ लोगों का अनुमान है कि लगभग १५ करोड़ रुपये और ३ लाख मज़दूर इसमें लगे हैं। [कामर्स २८४५०] बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, अमृतसर और सूरत में मुख्यतः रेयोन के कपड़े का उद्योग केन्द्रित है। रेयोन के तार का उत्पादन हमारे देश में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आरम्भ हुआ है और इस समय केवल तीन मिलें [ट्रावनकोर, हैदराबाद, बम्बई] स्थापित की जा रही हैं। इनमें से दो मिलों ने काम करना भी आरम्भ कर दिया है और तीसरी मिल १९५२ में काम शुरू करने वाली है। इन तीनों मिलों का उत्पादन १७ टन प्रतिदिन का होने का अनुमान है। इस समय हमारी आवश्यकता लगभग १०० टन प्रतिदिन की है। बिड़ला ब्रदर्स द्वारा स्थापित होने वाला ग्वालियर रेयोन मेन्यूफेक्चरिंग कम्पनी 'स्टेपल फाइबर' का उत्पादन भी शीघ्र ही आरम्भ कर देगी, ऐसा आशा है।

विकास—रेयोन के वस्त्र उद्योग की हमारे देश में स्थापना हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ है। यह उद्योग सगठित आधार पर १९३६ में आरम्भ हुआ था। कारण यह था कि सूती वस्त्रोद्योग को संरक्षण देने के लिये जब

भारत-सरकार ने रेयोन के वस्त्र पर आयात-कर बढ़ा दिया तो भारत के रेयोन-उद्योग को उससे प्रोत्साहन मिला। उसके पहले रेयोन का तार या तो हाथ करघे से बुनकर काम में लाते थे या मिलों में साड़ी का किनारा बनाने के काम में आता था। रेयोन के कपड़े का उत्पादन नाम मात्र को था। १९३६ के बाद रेयोन के वस्त्र-उद्योग ने जो प्रगति की है वह उल्लेखनीय है। आज टैक्सटाइल उद्योग में कपास के उद्योग के बाद इसी उद्योग का नम्बर आता है। द्वितीय महायुद्ध में रेयोन के तार का आयात बहुत कुछ बन्द हो जाने पर भी यह उद्योग जीवित रह सका। १९४७ में जब सूती वस्त्र मिल-उद्योग का संरक्षण समाप्त कर दिया गया था, तब भी सरकार ने इस उद्योग का संरक्षण जारी रखा। अभी अप्रैल १९५१ से दो वर्ष के लिये प्रशुल्क मंडल की शिफारिश के अनुसार सरकार ने इस उद्योग का संरक्षण-काल और बढ़ा दिया है।

भविष्य—रेयोन-उद्योग का भविष्य इस देश में उज्ज्वल है। इस समय इसकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अधिकतर रेयोन का तार हमारी मिलों को बाहर से [जापान, इंगलैंड, हालैंड, स्विटज़रलैंड, इटली] मँगाना होता है। यह कमी आसानी से पूरी हो सकती है। हमारे देश में स्प्रूस तथा दूसरे प्रकार की काफ़ी लकड़ी ऐसी होती है जिसकी लुग्दी से रेयोन का तार उत्पन्न किया जा सके। जो रासायनिक पदार्थ चाहियें वे भी देश में पैदा किये जा सकते हैं। जहाँ तक कि रेयोन के तार के उत्पादन के लिये मशीनरी आदि का प्रश्न है, वह अभी तो अधिकांश में विदेशों से मँगानी पड़ेगी। पर मशीनरी के ऐसे कुछ भाग अवश्य हैं जो देश में तैयार किये जा सकते हैं और इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। रेयोन के तार के उद्योग की एक समस्या टेक्नीशियनों के अभाव से सम्बन्ध रखती है। योग्य नवयुवकों को इस काम की शिक्षा की देश और विदेश में व्यवस्था करना आवश्यक है। रेयोन के वस्त्र की माँग का क्षेत्र काफी व्यापक है। पाकिस्तान को काफ़ी माल जाता है और निकट भविष्य में पाकिस्तान का बाजार कहीं जाने वाला नहीं है। इसके अलावा मध्यपूर्व के देशों में भी इसके लिये अच्छा क्षेत्र है। हमारे देश में भी रेयोन के कपड़े की काफी माँग बढ़ सकती है। कई लोगों का यह कहना है कि भारत में लम्बे रेशे के कपास की बड़ी कमी है। जब देश में अन्न-उत्पादन की इतनी आवश्यकता है तो यह अधिक लाभदायक और हितकर होगा कि कपास के स्थान पर हम अपनी आवश्यकता रेयोन से पूरी करें। इस समय हम विदेश से जितना रेयोन और कपास आयात करते हैं उसकी पूर्ति के लिये सारा रेयोन हम अपने देश में पैदा करें तो हमें १०० टन रेयोन के तार और ४०० टन स्पेशल फ़ाइबर

प्रतिदिन के उत्पादन की आवश्यकता होगी। इसका अर्थ यह है कि जितने के रयोन उद्योग से भी बड़ा रयोन उद्योग हमारे देश में आना चाहिये। पाँच वर्ष के अन्दर अन्दर देश में इस उद्योग का इतना विकास हो सकता है। सारांश यह है कि हमारे देश में रेयोन के कपड़े और तार तथा स्टेपल फाइबर सम्बन्धी उद्योगों का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। आवश्यकता यह है कि इस ओर आवश्यक ध्यान और इस उद्योग को आवश्यक प्रोत्साहन दिया जावे। जैसे सरकार को इस उद्योग के लिये कच्चा माल और आवश्यक मशीनरी मँगाने और बर्मा, लंका, इंडोनेशिया, मध्यपूर्व, सुदूरपूर्व और पूर्वी अफ्रीका आदि देशों में भारतीय माल के लिये बाजार पैदा करने में सहायता करनी चाहिये। इस उद्योग के लिये आवश्यक कच्चा माल—जैसे पल्प और रासायनिक पदार्थ आदि—देश में उत्पन्न करने के वास्ते यह आवश्यक है कि बड़े पैमाने पर रेयोन के तार का उत्पादन करने वाली ऐसी मिलें स्थापित की जायँ जो अपना कच्चा माल भी स्वयं पैदा कर लें। रेयोन के तार उत्पादन की मौजूदा मिलें इस दृष्टि से छोटी हैं। रेयोन के तार पैदा करने वाले उद्योग से कई लाभ हो सकते हैं। देश में बिजली उत्पादन की जो नई योजना चल रही है उससे जब बिजली पैदा होने लगेगी तो उसका इस उद्योग में अच्छा उपयोग हो सकेगा। इसके लिये सल्फ्यूरिक एसिड का जब उत्पादन होगा तो दूसरे उद्योगों के लिये यह आवश्यक पदार्थ उपलब्ध हो जायगा। सल्फ्यूरिक एसिड से सीमेंट का उत्पादन भी बढ़ेगा क्योंकि सीमेंट इसका उपपदार्थ है। इसी प्रकार पल्प और कागज के उद्योग को भी प्रोत्साहन मिलेगा। सारांश यह है कि रेयोन के उद्योग विकास से हमारे कपड़े की आवश्यकता ही पूरी नहीं होगी और लाभ भी होंगे।

शक्कर का उद्योग—देश के उद्योग धन्धों में शक्कर के मिल उद्योग का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। चालू शक्कर की फ़ैक्टरियों की १९५०-५१ में (नवम्बर से अक्टूबर) कुल संख्या हमारे देश में १३४ थी। लगभग ४५ करोड़ रुपये की पूँजी इस उद्योग में लगी हुई है। लगभग लाख सवा लाख आदमी शक्कर की मिलों में काम करते हैं और लगभग २ करोड़ किसान जो गन्ने की खेती करते हैं इस उद्योग पर अपना दारोमदार रखते हैं। इस समय हमारे देश में शक्कर की कुल खपत १३ लाख टन प्रतिवर्ष मानी जाती है और हमारी शक्कर की मिलों की उत्पादन-क्षमता (इन्स्टाल्ड कैपेसिटी फ़िस्कल कमीशन १९५०) ११ लाख टन और वास्तविक उत्पादन १० लाख टन के आस पास है। यहाँ ध्यान रखने की यह बात भी है कि हमारे देश में कुछ शक्कर मिलों के अलावा या तो सीधी गुड़ से या खंडसारी से भी उत्पन्न होती है। पर कुल मिला कर यह उत्पादन की मात्रा

मिल की शकर से बहुत कम है। गुड़ से शकर बनाने का धन्धा तो बराबर गिरता जा रहा है। जहां १६३३-३४ में गुड़ से लगभग ६५ हज़ार टन शकर तैयार होती थी वहां अब केवल ४००० टन शकर इस तरह से तैयार होती है। खंडसारी शकर का उत्पादन भी कम हुआ है। १६३३-३४ में २ लाख टन शकर खंडसारी से उत्पन्न होती थी। आज इसका उत्पादन १ लाख टन से भी कुछ कम है। सारांश यह है कि यदि शकर का देश में कुल उत्पादन ११½ लाख टन के आस पास माना जाय तो उसमें से १० लाख टन उत्पादन मिलों का १ लाख टन से भी कुछ कम खंडसारी का और ½ लाख टन से थोड़ा अधिक गुड़ से सीधी तैयार की जाने वाली शकर का मानना चाहिये। आज मिल की शकर साल भर में लगभग १०० करोड़ रुपये की हमारे देश में उत्पन्न होती है। लगभग ३४ लाख एकड़ भूमि पर आज हमारे देश में गन्ने की खेती होती है। यह देश की कुल खेती की भूमि का केवल २०प्रतिशत भाग है और सारे संसार में जितनी भूमि पर गन्ने की खेती होती है उसका ३५ प्रतिशत है। इससे दुनिया के शकर-उद्योग में भारत का कितना बड़ा स्थान है यह भी स्पष्ट हो जाता है। शकर के उत्पादन की दृष्टि से भी १६४८ के आंकड़ों के अनुसार क्यूबा (६० लाख मेट्रिक टन) और ब्राज़ील (१७ लाख मेट्रिक टन) के बाद तीसरा स्थान भारत का (१२ लाख मेट्रिक टन) ही आता है। उपर्युक्त विवरण से भारत के शकर-उद्योग का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यह उद्योग मुख्यतः उत्तर प्रदेश और बिहार में है। परन्तु अब इसका विस्तार दूसरे राज्यों में भी होता जा रहा है।

विकास—भारत में शकर के उद्योग का विकास पिछले १८ वर्षों में खास तौर से हुआ है। १६३२ में इस उद्योग को सरकार ने संरक्षण दिया और तभी से इसकी प्रगति तेज़ी से होने लगी। वैसे आधुनिक ढंग की शकर की मिलें भारत में १६०३ के आस-पास स्थापित हुई थीं। प्रथम महायुद्ध के समय जब शकर पर आयात-कर बढ़ गया और बाहर से शकर आना कम हो गया तो हमारे शकर के उद्योग को प्रोत्साहन मिला। परन्तु उद्योग-धन्धे की जो भी प्रगति हुई वह बहुत सन्तोषजनक नहीं थी। १६२६ में इम्पीरियल कौंसिल ऑव एग्रीकल्चरल रिसर्च की शकर समिति ने यह भय प्रकट किया कि यदि शकर की मिलों की संख्या नहीं बढ़ती है और शकर का अधिक उत्पादन नहीं बढ़ता है तो बाज़ार में गन्ने की बहुतायात हो जायगी। गन्ना पैदा करने वाले किसानों को इस संकट से बचाने के लिए ही सरकार ने १६३२ में टैरिफ़ बोर्ड की सिफारिश पर शकर-उद्योग को संरक्षण दिया। यह संरक्षण [illegible] वर्ष के लिये स्वीकार किया गया था। १६३७ में टैरिफ़ बोर्ड ने दुबारा जाँच की और संरक्षण जारी रखने की सिफ़ारिश की। सर-

बार ने संरक्षण के बाद उत्पादन बढ़ जाने से १६३४ में जो उत्पादन-कर (फैक्टरी में बनी शकर पर) लगा दिया था उसके बारे में बोर्ड ने यह राय दी कि शकर के उद्योग और गन्ने की खेती करने वालों दोनों ही पर इस उत्पादन-कर का असर अच्छा नहीं पड़ा। संरक्षण द्वितीय महायुद्ध के समय तक चलता रहा। फिर १६४७ में टेरिफ बोर्ड ने दो वर्ष के लिए संरक्षण बढ़ाने की सिफारिश की और १६४६ में फिर दो साल के लिये सिफारिश की। दूसरी बार सरकार ने केवल एक वर्ष के लिये संरक्षण बढ़ाया। और टेरिफ बोर्ड से फिर से विचार करने के लिये कहा। टेरिफ बोर्ड ने इस बार १६५० से संरक्षण समाप्त करने की सिफारिश की और सरकार ने यह सिफारिश स्वीकार कर ली। टेरिफ बोर्ड का संरक्षण समाप्त करने की सिफारिश का मुख्य कारण यह नहीं था कि बाहरी प्रतिस्पर्द्धा का सफलतापूर्वक सामना करने की इस उद्योग की शक्ति हो गई है, परन्तु यह था कि संरक्षण से उद्योग, किसान और सरकार तीनों में ही एक झूठा आत्मसन्तोष का भाव उत्पादन हो गया और उद्योग की कार्यक्षमता बढ़ाने की ओर इस कारण से आवश्यक ध्यान नहीं दिया जा रहा है। चूँकि इस समय विदेशी विनिमय की कठिनाई के कारण भारत सरकार विदेशों से अमर्यादित मात्रा में शकर का आयात नहीं होने देगी, इसलिये विदेशी शकर की प्रतिस्पर्द्धा का कोई डर नहीं है और इसी कारण से टेरिफ बोर्ड ने संरक्षण समाप्त करने का यह उपयुक्त समय समझा।

संरक्षण के कारण शकर के उद्योग ने कितनी प्रगति की इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि १६३१-३२ में भारतवर्ष में केवल ३१ शकर की मिलें और १,५८,००० टन शकर का उत्पादन था और संरक्षण के बाद चार वर्ष के अन्दर-अन्दर मिलों की संख्या १३५ और शकर का उत्पादन ६,१६,००० टन होगया। आरम्भ में (१६३५-३६ तक) जैसे-जैसे भारतीय मिलों का उत्पादन बढ़ा विदेशी शकर का आयात कम होता गया, पर १६३५-३६ में यद्यपि शकर का उत्पादन लगभग ९३ लाख टन से बढ़ गया, पर आयात में उस अनुपात से कमी नहीं हुई। १६३६-३७ में भी गन्ना बहुत पैदा होने से उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकार ने मिलों को उत्पादन कम नहीं करने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में शकर का उत्पादन आवश्यकता से अधिक होगया। माल बहुत जमा होगया, मूल्य गिरने लगा। उस समय 'शुगर सिंडीकेट' की स्थापना की गई ताकि शकर की बिक्री का सिन्डीकेट द्वारा ऐसा नियन्त्रण किया जाये कि शकर का मूल्य गिरने से रोका जाय। सिन्डीकेट अपने इस प्रयत्न में सफल हुआ। शकर का उत्पादन कम किया गया और

१६३८-३६ में केवल ६,५१,००० टन शकर का उत्पादन हुआ।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात—द्वितीय महा युद्ध के समय शकर के उद्योग की स्थिति बहुत सन्तोष जनक नहीं रही। जहां तक उत्पादन का सवाल है उसमें भी उतार-चढ़ाव आता रहा। जहां १६३८-३६ में फेक्टरी में तैयार शकर का उत्पादन केवल ६½ लाख टन के लगभग था वहां १६३६-४० में उत्पादन बढ़ कर १२½ लाख टन हो गया। इसका नतीजा यह हुआ कि फिर बाज़ार में शकर की अधिकता हो गई और उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने उत्पादन में कमी करने की व्यवस्था की। इन दोनों राज्यों में 'शुगर फेक्टरी कन्ट्रोल एक्ट्स' पहले से ही मौजूद थे जिनके अनुसार शकर की मिल चलाने के लिये सरकार से लाइसेन्स लेना आवश्यक है। उत्पादन में दो साल तक कमी हुई और १६४१-४२ में उत्पादन की मात्रा केवल ७·७८ लाख टन थी। शकर की असल आयात की मात्रा भी १६३६-४० से १६४१-४२ तक ३४ हज़ार टन से कम होकर २४ हज़ार टन के लगभग रह गई थी। १६४२-४३ में स्थिति में सुधार हुआ और उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता अनुभव हुई, खास तौर से फौजी आवश्यकता पूरी करने की दृष्टि से। १६४३-४४ में उत्पादन फिर १२ लाख टन से ऊपर पहुँच गया। पर उसके बाद फिर उत्पादन गिरने लगा और १६४६-४७ में कुल उत्पादन ६ लाख टन ही रह गया। १६४७-४८ से स्थिति में थोड़ा-सा सुधार हुआ और कुल उत्पादन ११ लाख टन के आस पास पहुँचा गया। पिछले तीन वर्षों में उत्पादन १० लाख टन से १०½ लाख टन तक रहा है। आयात इन वर्षों में क़रीब-क़रीब बन्द रहा है। देश के विभाजन का इस उद्योग पर कोई खास असर नहीं पड़ा। गन्ने की खेती का लगभग अविभाजित भारत का १७ प्रतिशत भाग और शकर की मिलों का ६ प्रतिशत भाग पाकिस्तान को मिला है।

अन्य उद्योगों की भांति शकर के उद्योग पर भी राज्य द्वारा १६४२ में नियंत्रण किया गया और १६४७ के दिसम्बर तक यह नियंत्रण क़ायम रहा। शकर और गुड़ दोनों के उत्पादन पर सरकार का नियंत्रण था। नियंत्रण मूल्य-वृद्धि को रोकने में तो किसी सीमा तक सफल हुआ पर उत्पादन में वृद्धि नहीं हो सकी यद्यपि नियंत्रण का सरकार की दृष्टि में यह भी प्रधान उद्देश्य था। उत्पादन-वृद्धि नहीं होने के कई कारण थे—जैसे मिलों को गन्ने की कमी क्योंकि बहुत-सा गन्ना गुड़ बनाने के काम में ले लिया जाता है, मिलों का इस कारण से थोड़े समय तक चलना, गन्ने से मिलने वाले रस की अपेक्षाकृत कम मात्रा, मौजूदा मशीनरी आदि से अत्यधिक काम लेना, और मज़दूर-संघर्ष तथा माल लाने ले

दान की कठिनाई। दिसम्बर १९४७ में शक्कर पर से नियंत्रण हटा लिया गया। नियंत्रण हटाने का असर शक्कर के उत्पादन पर अच्छा हुआ। यद्यपि सरकार को क़ानून के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण का अधिकार नहीं था पर अब मूल्य नियंत्रण के हटते ही शक्कर की क़ीमत २१ रु० मन से ५० रु० मन तक पहुँच गई तो शुगर सिन्डीकेट ने, जो उत्तर प्रदेश और बिहार की मिलों का संगठन था [१९४४ से बिहार की मिलों और उत्तर प्रदेश की मिलों में झगड़ा होने से बिहार की कई मिलों ने सिंडीकेट से त्याग पत्र दे दिया और बिहार की सरकार ने भी बिहार की मिलों पर से सिंडीकेट, की सदस्यता सम्बंधी अनिवार्यता हटा ली, तथा १९५० में टैरिफ बोर्ड की सिफारिश के अनुसार उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी सिन्डीकेट से मान्यता वापस ले ली। इस प्रकार सिंडीकेट अब समाप्त हो गया है] शक्कर का मूल्य ३५ रु० ७ आ० मन निश्चित कर दिया और गन्ने की क़ीमत भी १ रु० ४ आ० मन से बढ़ाकर २ रु० मन कर दी। अब मिलों को गन्ने की कमी नहीं रही और शक्कर का उत्पादन बढ़ गया। १९४८-४९ में शक्कर और गन्ना दोनों की क़ीमतों में कमी कर दी गई। शक्कर का मूल्य ३५ रु० ७ आ० मन से घटाकर २८ रु० ८ आ० मन और गन्ने का मूल्य २ रु० मन से घटाकर १ रु० १० आ० [उ प्र] और १ रु, १३ आ [बिहार] कर दिया गया। इसलिये इस वर्ष शक्कर का उत्पादन कुछ कम हुआ। चूँकि पिछले वर्ष की मिलों के पास काफ़ी स्टाक था इस वजह से भी मिलों ने उत्पादन की ओर कम ध्यान दिया। पर भारत शक्कर की अधिक हुई। देश में एक साथ शक्कर की बड़ी कमी अनुभव होने लगी और वातावरण में घबराहट पैदा हो गई। शक्कर का मूल्य आकाश छूने लगा। इस सारी स्थिति से घबरा कर सरकार को फिर शक्कर पर नियंत्रण करने का निर्णय करना पड़ा और सितम्बर १९४९ में भारत सरकार ने शक्कर पर नियंत्रण लागू करने की घोषणा कर दी। शक्कर के मूल्यों का सरकार ने नियंत्रण कर दिया। शक्कर के वितरण पर भी सरकार का नियंत्रण स्थापित हो गया। शक्कर के उत्पादन को बढ़ाने के लिये १९४९-५० के आरम्भ में सरकार ने मिलों को कुछ रियायतें देने की भी घोषणा की। जैसे—पिछले वर्ष से जितना अधिक उत्पादन होगा उस पर उत्पादन-कर माफ़ कर दिया जायगा। उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ने पर जो उपकर (सेस) लगता है उसे कम कर दिया गया। पर फिर भी शक्कर के में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। इसका एक कारण तो यह था कि अक्टूबर १९५० तक शक्कर पर सरकार का नियंत्रण अपूर्ण था, क्योंकि गुड़ और खंडसारी शक्कर पर सरकार का नियंत्रण नहीं था। खंडसारी व गुड़ की

क़ीमतें बहुत ऊँची थीं और इसी कारण से गन्ना मिलों में यथेष्ट मात्रा में न पहुँच कर गुड़ व खंडसारी पैदा करने के काम में आता रहा। नियंत्रण की इस अपूर्णता को पूरी करने के लिये ७ अक्टूबर १६५० को भारत-सरकार ने अपने शकर तथा गुड़ कन्ट्रोल आर्डर के अनुसार गुड़ पर भी नियंत्रण कर दिया। गुड़ का मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित कर दिया गया और गुड़ के उत्पादन पर भी नियंत्रण करने का सरकार ने अधिकार ले लिया। शकर के नियंत्रण सम्बन्धी पूर्व क़ानून के अनुसार राज्य की सरकारों को जो अधिकार मिले हुए थे वे, जिस हद तक इस नये क़ानून के प्रतिकूल थे, वापस ले लिये गये। गुड़ के नियंत्रण सम्बन्धी भारत-सरकार की नीति का बड़ा विरोध हुआ। नतीजा यह हुआ कि गुड़ के उत्पादन पर कोल्हू को लाइसेंस कराने का आदेश निकाल कर जो नियंत्रण करने का सरकार का निश्चय था वह उसे छोड़ना पड़ा। शकर के उत्पादन-कर संबंधी जो रियायत देने का निश्चय किया गया था उसके स्थान पर सीधा मूल्य द्वारा प्रोत्साहन देने का निश्चय किया गया। दिसम्बर १६५० में सरकार ने अपनी शकर और गुड़ के नियंत्रण सम्बन्धी नीति में फिर परिवर्तन किया है। इस नीति के अनुसार शकर, गुड़ और गन्ने के मूल्यों में वृद्धि की गई है और शकर पर नियंत्रण थोड़ा ढीला कर दिया है। अधिक मूल्य सम्बन्धी अधिक उत्पादन के लिये जो रियायत थी वह वापस ले ली गई है। १६५०-५१ में केवल १० लाख टन शकर पर ही नियंत्रण रहेगा और यदि इससे अधिक उत्पादन होगा तो उस पर नियंत्रण नहीं होगा। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सरकार की नीति में स्थिरता का अभाव रहा है। शकर का उद्योग आज भी गिरी हुई अवस्था में है और शकर का उत्पादन बढ़ाना शकर के मिल-उद्योग की सबसे बड़ी समस्या है। अब हम शकर के उद्योग के भविष्य के बारे में विचार करेंगे।

भविष्य—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय शकर के मिल-उद्योग की स्थिति संतोषजनक नहीं है। मौजूदा मिलें जितना उत्पादन कर सकती हैं उतना उत्पादन भी आज हो नहीं रहा है। इस दिशा में सरकार ने पिछले वर्षों में जो प्रयत्न किया है उसका भी कोई बहुत संतोषजनक परिणाम नहीं आया है। यह ठीक है कि पिछले वर्ष [१६४६-५०] से उत्पादन की स्थिति में फिर सुधार होना शुरू हुआ है और इस वर्ष भी यह आशा है कि १० लाख ४० हज़ार टन शकर का उत्पादन हो जायगा। भारत-सरकार ने शकर के उद्योग के विकास की जो योजना बनाई थी उसके अनुसार १६५० में शकर का उत्पादन वर्ष भर में १८½ लाख टन तक पहुँचाने का

लक्ष्य था। देश के विभाजन के बाद १६४८ में यह मात्रा घटाकर १६ लाख टन प्रति वर्ष कर दी गई थी। इस १६ लाख टन के मुकाबले में जब हम यह देखते हैं कि सारी कोशिश के बाद भी इस वर्ष १०३ लाख टन शकर भी तैयार नहीं होगी, यद्यपि इस समय हमारी उत्पादन शक्ति लगभग १२ लाख टन प्रतिवर्ष है, तो शकर के मिल उद्योग की स्थिति का सारा चित्र हमारे सामने आ जाता है। जहां तक कि शकर की माँग का प्रश्न है, १६५० के टैरिफ बोर्ड ने आन्तरिक माग १३ लाख टन प्रति वर्ष की आँकी है। यदि इसमें निर्यात के लिये भी थोड़ी शकर और शामिल कर लें तो तत्काल की माग १६ लाख टन मान लेना अनुचित नहीं है। यह ध्यान रखने की बात है कि जन संख्या की वृद्धि के अलावा उपभोग सम्बन्धी हमारी आदतों का भी असर शकर की खपत बढ़ने का हो आता जा रहा है। इस समय हमारे देश में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष शकर की औसत खपत ७ पौंड है और इसमें २४ पौंड गुड़ की खपत और जोड़ दें तब भी कुल खपत ३०.३१ पौंड प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आती है। इगलैंड में द्वितीय महायुद्ध से पहले शकर की खपत १०६ पौंड प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष थी। दूसरे देशों में भी खपत हमारे देश से कहीं ज्यादा है, जैसे फ्रांस, ५२ पौंड, अमरीका ६७ पौंड, जर्मनी ५८ पौंड, आस्ट्रेलिया ११६ पौंड, जापान ३३ पौंड। इन सब का सार यह है कि यह तो ठीक है ही कि जैसे-जैसे देश का आर्थिक स्तर ऊँचा उठेगा शकर के उद्योग का क्षेत्र भी बढ़ेगा, पर आज की माँग की स्थिति को ध्यान में रखते हुए और हमारी मौजूदा मिलों की उत्पादन क्षमता को देखते हुए भी शकर के उत्पादन बढ़ाने की बड़ा आवश्यकता है। उत्पादन वृद्धि के मार्ग में क्या-क्या कठिनाइयां हैं और उनको कैसे हल किया जा सकता है, अब इस बारे में हम विचार करेंगे।

सबसे पहला कठिनाई तो यह है कि शकर की मिलों को बराबर यह शिकायत रहती है कि उनको पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिलता और जो गन्ना मिलता है वह बढ़िया प्रकार का नहीं होता तथा उसमें से जो रस की मात्रा प्राप्त होती है वह कम होती है। शकर की मिलों का पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिलने का एक कारण यह है कि बहुत सा गन्ना गुड़ पैदा करने में उपयोग में आ जाता है। भारत में गुड़ का उत्पादन शकर से तीन गुना है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी शकर की अपेक्षा गुड़ अच्छा है। गुड़ एक महत्त्वपूर्ण गृह उद्योग है जिसमें बहुत आदमी काम करते हैं। इसलिए गुड़ के कुटीर उद्योग को हानि पहुँचा कर शकर के मिल उद्योग को प्रोत्साहन देने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि गुड़-गृह उद्योग के साथ अनुचित रियायत

की जाय। उदाहरण के तौर पर शकर और गुड़ की क़ीमतों का अनुपात उचित होना चाहिये ताकि इस कारण से शकर की मिलों में गन्ने की कमी न रहे और किसान यह न अनुभव करे कि शकर की मिल को गन्ना बेचना लाभदायक नहीं है। इसके अलावा गन्ने की प्रति एकड़ उपज बढ़ाने की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। इस समय हमारे देश की प्रति एकड़ उपज कम है। क्यूबा की तुलना में ३/५, जावा की तुलना में १/३ और हवाई की तुलना में १/५ हमारे देश में गन्ने की प्रति एकड़ उपज है। इसके लिए खेती के तरीक़ों में तो उन्नति करना आवश्यक है ही, पर यह भी आवश्यक है कि गन्ने की खेती का दक्षिण में अधिक प्रचार हो, क्योंकि दक्षिण भारत की जलवायु गन्ने की खेती के लिये अधिक उपयुक्त है। जब कि उत्तर प्रदेश में एक एकड़ में ११-१२ टन गन्ना पैदा होता है, बम्बई में ३०-३२ टन, और मैसूर में १८-१६ टन तक पैदा होता है। गन्ने की उपज बढ़ाने के साथ उसके प्रकार में उन्नति करना भी अत्यन्त आवश्यक है। हमारे यहां एक एकड़ गन्ने के खेत से १.६ टन शकर मिलती है जबकि हवाई और जावा में ६.४ टन शकर प्राप्त होती है। इण्डियन शुगर केन कमेटी ने इस ओर काफ़ी काम किया है। प्रान्तीय [अब राज्य की] सरकारों ने [उत्तर-प्रदेश, बिहार और बम्बई] शकर पर जो उप कर लगा रखा है उससे मिलने वाले रुपये का उपयोग गन्ने सम्बन्धी खोज में ही होना चाहिये; पर इस बात की शिकायत है कि उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने, जिन्होंने सन् १६४७ से यह उपकर लगा रखा है, इस खोज के काम में बहुत कम रुपया व्यय किया है। यह कमी भविष्य में पूरी होनी चाहिये। बढ़िया गन्ने से अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में शकर मिलती है। एक कमी यह भी है कि शकर की मिलों की दृष्टि से गन्ने की खेती का बटवारा ठीक नहीं है। किन्हीं मिलों के आस-पास आवश्यकता से अधिक गन्ना होता है, तो किन्हीं के पास कम। खेतों से मिलों तक गन्ना ले जाने के लिये यातायात के साधनों की भी कठिनाई रहती है। इसके अलावा पश्चिम के देशों की तरह से हमारे यहाँ बहुत थोड़ी मिलें स्वयं गन्ना उत्पन्न करती हैं। अतः इन बातों की ओर ध्यान देने से भी गन्ने की समस्या हल होने में सहायता पहुँचेगी।

गन्ने सम्बन्धी कठिनाई के अलावा दूसरी कठिनाई मिलों की कार्यक्षमता (एफ़ीशियेन्सी) से सम्बन्ध रखती है। हमारे मिलों की कार्यक्षमता काफ़ी नीची है। इसके कई कारण हैं। मिलों में मशीनरी आदि पुरानी है। मिलों की बनावट, उनकी साइज़ आदि में भी कई प्रकार की कमियां हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए विवेकीकरण (रेशनलाईज़ेशन) की आवश्यकता है। कई मिलों की

स्थिति ही कच्चे माल और बाजार की दृष्टि से ठीक नहीं मालूम पड़ती। बम्बई में शक्कर की खपत सबसे अधिक है जब कि उत्पादन सबसे कम है। इसके विपरीत बिहार में उत्पादन बहुत अधिक है और खपत बहुत कम है। इस समय तो उत्तर प्रदेश और बिहार में ही शक्कर का मिल उद्योग केन्द्रित है। देश की ७५ प्रतिशत मिलें और ८० प्रतिशत के लगभग उत्पादन इन दो राज्यों में पाया जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि शक्कर के मिल उद्योग का दूसरे राज्यों में प्रसार हो और राज्यों में उसका विकेन्द्रीकरण किया जाय। एक और बाधा जिसका प्रायः जिक्र किया जाता है वह उत्पादन-कर और उपकर (सेस) की है जो क्रमशः भारत सरकार या उत्तर प्रदेश, बिहार आदि राज्य की सरकारों ने शक्कर पर लगा रखे हैं। इससे भारत की मिलों में बनी शक्कर की लागत और भी बढ़ जाती है। शक्कर के उत्पादन के परिणामस्वरूप जो 'मोलासेज' उत्पन्न होते हैं उनके समुचित उपयोग की भी कोई व्यवस्था अभी हमारे देश में नहीं है। 'मोलासेज' से पॉवर एलकोहल उत्पन्न किया जा सकता है। पावर एलकोहल पट्रोल में मिलाने के काम में आ सकता है। भारत में साल भर में कुल ४.५ लाख टन मोलासेज उत्पन्न हो जाता है। इसमें खंडसारी शक्कर में मिलने वाला मोलासेज भी शामिल है। ३ लाख टन के लगभग मोलासेज तो शक्कर की मिलों से ही मिलता है। अगर सब मोलासेज का पॉवर एलकोहल तैयार किया जाय तो लगभग ३ करोड़ गैलन पॉवर एलकोहल तैयार किया जा सकता है। परन्तु इस समय केवल ३० लाख गैलन पॉवर एलकोहल ही तैयार होता है। इस दिशा में भविष्य में अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। इसी प्रकार बेगास एक और पदार्थ है जो शक्कर उत्पन्न करते समय हमें मिलता है। आज इसका उपयोग केवल ईंधन के तौर पर शक्कर की मिलों में होता है। पर इसका भी अच्छा उपयोग किया जा सकता है—जैसे कागज बनाने में, तथा प्लास्टिक्स, प्रेस बोर्ड, और स्ट्रॉबोर्ड आदि बनाने में। इन पदार्थों का अच्छा उपयोग होने से शक्कर की उत्पादन-लागत में कमी आ सकती है। उत्पादन-लागत में कमी करने का एक और उपाय यह है कि गन्ना पेलने का समय आज जितना है उससे अधिक हो ताकि शक्कर की मिलें अधिक समय तक काम कर सकें। इसके लिए हमें दोनों तरह का गन्ना पैदा करने की ओर ध्यान देना चाहिये—जो जल्दी पक जाय और जो देर से पके।

ऊपर हमने कुछ उन बातों का उल्लेख किया है जो शक्कर के उत्पादन के में बाधक हैं। वैसे शक्कर के मिल उद्योग का भविष्य हमारे देश में उज्ज्वल है। हमारे पास कच्चा माल है और तैयार माल के लिये अपना बराबर बढ़ने वाला बाज़ार है। आवश्यकता केवल यह है कि आयोजित ढंग से इस उद्योग के

विकास का प्रयत्न किया जाये।' इस दृष्टि से अखिल भारतीय शकर-उद्योग का कोई संगठन यदि स्थापित किया जा सके तो अच्छा हो। शुगर सिंडीकेट के समाप्त हो जाने से इसकी आवश्यकता और अधिक हो गई है। इस संगठन का काम शकर-उद्योग की उन्नति से सम्बन्ध रखने वाली सब बातों की—जैसे योजना, खोज आदि—समुचित व्यवस्था करना होगा। इसके खर्च को रुपया राज्य की सरकारों के पास गन्ने पर लगे उपकर से जो रुपया आया है उसमें से ही मिलना चाहिये। केन्द्रीय सरकार को भी इसमें योग देना चाहिये। और मिलों का भी इस दिशा में काफी बड़ा कर्तव्य है। यदि हमारी सरकारें और व्यवसायी वर्ग अपना-अपना कर्तव्य करें तो इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत में शकर के मिल-उद्योग की अच्छी उन्नति हो सकती है।

लोहा और इस्पात का उद्योग—भारत के आधुनिक उद्योग धन्धों में लोहा और इस्पात के उद्योग का स्थान बहुत महत्त्व का है। फिर भी इस उद्योग का अभी तक बहुत विकास नहीं हुआ है। देश में लोहा और इस्पात का सबसे बड़ा कारखाना जमशेदपुर स्थित टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी है। दक्षिण में मैसूर सरकार का मैसूर आइरन एण्ड स्टील वर्क्स है, परन्तु जमशेदपुर के कारखाने के सामने यह बहुत छोटा है। इन दोनों कारखानों में लोहा और इस्पात दोनों ही तैयार किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त एक कारखाना (इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी कुल्टी और हीरापुर, पश्चिमी बंगाल) केवल लोहा, और इसी से सम्बन्धित दूसरा कारखाना स्टील कोरपोरेशन ऑव बंगाल, केवल इस्पात तैयार करता है। इन कारखानों के अलावा कुछ छोटे-छोटे कारखाने तथा लगभग ५० री-रोलिंग मिल्स और हैं। देश में कई लोहे की फाउण्डरीज़ और रोलिंग मिल्स भी हैं जो लोहे और इस्पात का माल तैयार करती हैं। देश में १६४६ में लोहे का (पिग आइरन) कुल उत्पादन १५ लाख टन और इस्पात (इंगोट्स और कास्टिंगज़) का १३½ लाख टन और फिनिश्ड स्टील का १० लाख टन के लगभग था। देश के इस्पात उद्योग की अधिकतम उत्पादन-शक्ति १२ लाख टन फिनिश्ड स्टील है। टाटा के कारखाने का महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि १० लाख टन के मुकाबले में ७ लाख टन से अधिक इस्पात तो केवल इसी एक कारखाने में तैयार होता है। जहाँ तक पूंजी का सवाल है टाटा के कारखाने में लगभग ४० करोड़, इण्डियन आइरन और स्टील कम्पनी में ११ करोड़, स्टील कोरपोरेशन बंगाल में ८ करोड़ रुपये ब्लाक केपिटल के तौर पर लगे हुए हैं। जहां तक काम करने वालों की संख्या का सवाल है लोहे और इस्पात के उद्योग में लगभग ७० हज़ार आदमी काम करते हैं। इनमें से ४२

हज़ार आदमी तो टाटा के कारखाने में ही काम करते हैं। हमारे देश के लोहे और इस्पात के उद्योग की तुलना दूसरे देशों के लोहे और इस्पात के उद्योगों से करने पर मालूम होता है कि १९३९ के आँकड़ों के आधार पर जहां लोहा और इस्पात कास्टिंग का भारत में ७३ लाख टन का उत्पादन था वहां जापान का ७० लाख टन, ब्रिटेन का १५१ लाख टन, रूस का २०७ लाख टन और अमरिका का ५२७ लाख टन के लगभग था।

प्रारम्भ और ह्रास—इस देश में लोहे को पिघलाने और ढालने का और इस्पात तैयार करने का धन्धा अत्यन्त प्राचीन काल से (कम से कम दो हज़ार वर्ष पहले से) चला आरहा है। भारत न केवल अपनी आवश्यकता पूरी करता था बल्कि विदेश को भी लोहा और इस्पात भेजता था। और भारत के माल का विदेशों में बड़ी प्रशंसा थी। दिल्ली का विख्यात लोहे का स्तम्भ भारत के इस प्राचीन उद्योग का एक ज्वलन्त उदाहरण है। संसार विख्यात डेमस्कस के तलवार और कटार की फालें (ब्लेड्स) भारत के इस्पात की ही बनी होती थीं। आधुनिक ढंग के लोहे और इस्पात के उद्योग के जन्म और विकास के फल स्वरूप भारत के दूसरे प्राचीन उद्योगों की तरह यह उद्योग भी नष्ट होगया और भारत विदेशों से लोहा और इस्पात का आयात करने वाला देश बन गया।

१९ वीं शताब्दी के आरम्भ में इस उद्योग को आधुनिक ढंग से विकसित करने के प्रयत्न भारत में आरम्भ हुए। ये प्रयत्न १८३० में और उसके आस-पास यूरोपियन लोगों ने किये थे। मद्रास के सालेम, आरकट और मालाबार के ज़िलों में, बंगाल में बीरभूम में, और पंजाब में कुमाऊँ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सहायता से ये प्रयत्न किये गये थे। पर वे सब असफल रहे। आखिरकार १८७४ में बाराकर आइरन वर्क्स की स्थापना हुई। झरिया के कोयले की खान के पास (बंगाल में) यह लोहे का कारखाना स्थापित हुआ। १८८९ में कलकत्ते की मार्टिन एण्ड कम्पनी ने इस कारखाने को ले लिया। बाद में इसी का नाम बंगाल आइरन एण्ड स्टील कम्पनी होगया जो हाल में इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी में मिला लिया गया है।

पर इस देश में लोहे और इस्पात के उद्योग का वास्तविक इतिहास तो टाटा के कारखाने की स्थापना के साथ ही आरम्भ होता है और आज भी हमारे इस उद्योग का वास्तविक केन्द्र यही कारखाना है। भारतीय साहस और पूंजी का यह एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। इस कारखाने के प्रवर्तक स्वर्गीय जमशेदजी टाटा थे। पर कारखाने की स्थापना के पहले ही जमशेदजी की मृत्यु होगई। टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना साकची (सिंगभूम) में

हुई। पिग आइरन १६११ में और इस्पात १६१३ में इस कारखाने में सबसे पहली बार तैयार किया गया। इस कारखाने के साकची (जमशेदपुर या ताता नगर) में स्थापित होने के कई कारण थे, जैसे लोहे और कोयले तथा चूना, पत्थर का पास में मिलना तथा पानी और रेल की सुविधा और कलकत्ते के बन्दरगाह का पास में होना। इस कारखाने की विशेषता केवल इतनी ही नहीं है कि यह इस देश का लोहे और इस्पात का सबसे बड़ा कारखाना है। वह इस बात में भी निहित है कि यह कारखाना लोहे और इस्पात से सम्बन्धित कुछ दूसरे कार्यों की भी व्यवस्था करता है। जैसे लोहे और ईस्पात के कारखाने के अलावा इस कम्पनी की लोहे कोयले, चूने पत्थर और मेंगनीज़ की भी अपनी खानें हैं। टाटा कम्पनी के अलावा जो दूसरे प्रमुख उत्पादक हैं उनमें इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना १६१८ में, मैसूर के कारखाने की १६२३ में और बंगाल स्टील कारपोरेशन की १६३६ में हुई।

इस उद्योग का विकास खास तौर से १६२३ से जब इसे सरकार से संरक्षण मिला, होने लगा। प्रथम महायुद्ध के पश्चात और उसके बाद के आर्थिक संकट में इस उद्योग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रथम महायुद्ध के समय संसार के इस्पात उद्योग का बहुत विकास हुआ था। युद्ध समाप्त होते ही भारत के नव जात उद्योग को इस विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा। माँग में कमी आ रही थी, विदेशी विनिमय ह्रास के कारण विदेशी प्रतिस्पर्द्धा और भी विकट होगई थी तथा बाहर से माल भारतीय बाज़ारों में पाटा जा रहा था। आखिरकार टेरिफ बोर्ड के सामने संरक्षण की माँग पेश हुई और उसने तीन वर्ष के लिये संरक्षण देने की सिफारिश की। टेरिफ़ बोर्ड की सिफारिश सरकार ने स्वीकार करली और १६२४ में संरक्षण सम्बन्धी कानून पास किया गया। उसके बाद १६२६ और १६३३ में दो बार तो टेरिफ़ बोर्ड ने इस उद्योग के बारे में स्टेटूटरी (क़ानूनन) जाँच की और संरक्षण जारी रखने की सिफ़ारिश की जो सरकार ने स्वीकार की। इन मुख्य जाँचों के अलावा १६२४, १६२५, और १६३० में तीन बार और टेरिफ बोर्ड ने सहायक जाँचें कीं। क्षतिपूर्ति संरक्षण (कम्पेनसेटरी प्रोटेक्शन) के मामले भी टेरिफ बोर्ड के सामने आए और जहाँ आवश्यक मालूम पड़ा वहाँ संरक्षण दिया गया। १६२४ में जो संरक्षण दिया गया था वह दोनों ही प्रकार का था—कुछ सामान पर आयात-कर के रूप में और कुछ पर नक़द सहायता (बाउन्टी) के रूप में संरक्षण दिया था। १६२६ की स्टेटूटरी जाँच के पश्चात् जो संरक्षण क़ानून पास किया गया (१६२७ में) उसकी अवधि ७ वर्ष के लिये थी। इस कानून के अनुसार नकद

आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया गया। इस संरक्षण क़ानून की दूसरी विशेषता यह थी कि ब्रिटिश माल पर दूसरे देशों की अपेक्षा कम कर लगाया गया था। इसका देश में विरोध किया गया। १६३३ की जाँच के बाद फिर १६३४ में नया संरक्षण क़ानून पास हुआ और उसकी अवधि भी ७ वर्ष ही निश्चित की गई। इस बीच में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होगया। संरक्षण का समय १६४१ से बराबर बढ़ता गया। १६४७ में जब अन्तिम जाँच हुई तो उद्योग ने संरक्षण पर ज़ोर नहीं दिया और टैरिफ बोर्ड के कहने पर २८ वर्ष के पश्चात इस्पात उद्योग से संरक्षण हटा लिया गया, और संरक्षण कर आगम-कर (रेवेन्यू ड्यूटीज़) में बदल दिये गये। संरक्षण-करों में कमी तो १६३४के क़ानून से ही हो गई थी। सरकार द्वारा समय समय पर स्वीकार किये गए इस संरक्षण से इस उद्योग को यथेष्ट सहायता मिली और इसकी अच्छी प्रगति हुई। यह प्रगति उत्पादन में हुई वृद्धि, मज़दूरों की कार्यकुशलता में हुई उन्नति तथा उद्योग में लगे विदेशी लोगों की संख्या में और उत्पादन-लागत में हुई कमी से स्पष्ट है।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात—द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही इस उद्योग के विकास का एक नया परिच्छेद आरम्भ हुआ। सरकार और रेलवे कम्पनियों की इस्पात की माँग बढ़ने से उसके उत्पादन में वृद्धि हुई। इस युद्ध के पहले हमारे देश में साधारण इस्पात का ही अधिकांश उत्पादन होता था। पर द्वितीय महायुद्ध के कारण जब बाहर से इस्पात का आयात बहुत कम हो गया और भारत का सामरिक महत्त्व बढ़ गया तो भारत ने कई नए प्रकार के बढ़िया इस्पात का उत्पादन करना शुरू कर दिया। टाटा कम्पनी में खास तौर से विकास हुआ, और युद्ध की दृष्टि से उपयोगी कई प्रकार का नया और बढ़िया इस्पात तैयार किया जाने लगा। १६३७ में जमशेदपुर में खोज के लिए एक प्रयोगशाला की स्थापना की गई थी। द्वितीय महायुद्ध के समय जो खोज की गई उसी के परिणामस्वरूप खास तौर का 'एलॉय स्टील' का सामान टाटा कम्पनी तैयार कर सकी, जैसे आरमर प्लेट जिस पर गोली का असर न हो सके, मशीन टूल्स के लिए हाइ स्पीड स्टील, सर्जिकल औज़ारों के लिए स्टेनलैस स्टील, हाई कारबन स्टील मिंट डाइज़ के लिये और निकल स्टील प्लेट्स आदि। टाटा कम्पनी में द्वितीय महायुद्ध के समय दो दिशाओं में जो विस्तार हुआ वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १६४१ में जमशेदपुर एक व्हील टायर और एक्सेल प्लांट लगाया गया। इसके दो साल के अन्दर ही अन्दर जमशेदपुर एंजीनियरिंग एंड मशीन मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी ने काम करना आरम्भ कर दिया। इसी प्रकार टाटा लोको मोटिव एंड एंजीनियरिंग कम्पनी में १६४५ से बोइलर्स और एंजिन

तैयार करना आरम्भ किया। व्यक्तिगत साहस का इस दिशा में यह पहला प्रयत्न था। द्वितीय महायुद्ध के समय इस उद्योग का उत्पादन कितना बढ़ा इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि जहां १६३६ में पिग आइरन का उत्पादन १७½ लाख टन, स्टील इन्गोट्स और कास्टिंगज़ का १०½ लाख टन और फ़िनिश्ड इस्पात का ८½ लाख टन था, वहां १६४१ में पिगआइरन का उत्पादन २० लाख टन, स्टील इन्गोट्स और कास्टिंगज़ का १४ लाख टन और फ़िनिश्ड स्टील का ११½ लाख टन से कुछ कम उत्पादन हुआ। १६४१ के पश्चात उत्पादन में कमी आना शुरू हुई। पिगआइरन का उत्पादन १६४७ में १३ लाख टन के आस-पास पहुँच गया हालां कि बाद के दो वर्षों में फिर उत्पादन की मात्रा बढ़ी और १६४६ में १५ लाख टन पिग आरन तैयार हुआ। इसी प्रकार स्टील इन्गोट्स और कास्टिंगज़ का उत्पादन घटते-घटते १६४८ में १२½ लाख टन तक पहुँच गया यद्यपि १६४६ में उत्पादन १३½ लाख टन हुआ। फिनिश्ड स्टील का उत्पादन १६४५ तक तो ११½ लाख और १०½ लाख टन के बीच में घटता-बढ़ता रहा पर उसके पश्चात तो और अधिक कमी होने लगी और १६४८ में ६½ लाख टन तक उत्पादन गिरगया। १६४६ मे अवश्य फिर उत्पादन १० लाख टन से कुछ अधिक हुआ। १६५० में उत्पादन की मात्रा और बढ़े ऐसी आशा है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् लोहे और इस्पात का उत्पादन गिरने लगा। युद्ध में अत्यधिक काम करने के कारण मशीनरी और प्लान्ट बहुत काफी घिस गये हैं, और उन को बदलने की बड़ी आवश्यकता है। उत्पादन के मार्ग में पूंजी की कमी की भी एक बड़ी बाधा रही है पर इसके अलावा और भी कई कारण हैं जिनसे देश के लोहे और इस्पात के उद्योग के विकास में बाधा आती है। यद्यपि भारत-सरकार ने कम से कम १० वर्ष तक मौजूदा लोहे और इस्पात के उद्योगों का राष्ट्रीय करण नहीं करने की घोषणा कर दी है, पर यह दस वर्ष का समय पूंजीपतियों की दृष्टि में भावी विकास के लिये बहुत कम है। इससे इस उद्योग का विकास रुका हुआ है। इसी प्रकार मज़दूरों के उत्पादन में जहां कमी आई है वहां मज़दूरों पर होने वाला खर्च बढ़ा है। एक टन फ़िनिश्ड स्टील पर मज़दूरी की लागत १६३६-४० में ३१½ रु० थी वह १६४८-४६ में ६२ रु० हो गई और प्रति मजदूर उत्पादन २४·३६ टन से गिर कर १६ ३० टन हो गया। इसके साथ ही साथ मज़दूरों की संख्या भी आवश्यकता से अधिक है। ऐसा कहा जाता है कि इतने ही उत्पादन के लिए विदेशों में जितने मज़दूर काम करते हैं, उनसे चार गुने मज़दूर यहां काम करते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस उद्योग में विज्ञानिकन की बड़ी आवश्यकता है।

जहाँ तक मूल्य नियन्त्रण का सवाल है १९३९ में ही भारत-सरकार और टाटा कंपनी में एक समझौता होगया था। यह मूल्य नियन्त्रण एक न एक रूप में आज तक चालू है। १ अक्टूबर १९३९ से ३० जून १९४४ तक केवल उस माल का मूल्य नियन्त्रण था जो सरकार युद्ध के लिये खरीदती थी। व्यापारिक मूल्यों का नियन्त्रण नहीं था। १ जुलाई १९४४ से ३१ मार्च १९४६ तक व्यापारिक मूल्यों का भी नियन्त्रण कर दिया गया पर युद्ध के लिये आवश्यक माल और व्यापारिक आवश्यकता के लिये बचे जाने वाले माल की कीमतें अलग अलग निश्चित होती थीं। १९४६ के बाद युद्ध के लिये आवश्यक माल का मूल्य नियन्त्रण हटा लिया गया है और सिर्फ व्यापारिक मूल्यों पर इस समय नियन्त्रण है। इन मूल्यों के बारे में यह शिकायत रही है कि ये उचित मूल्य नहीं हैं।

भविष्य— लोहे और इस्पात के उद्योग का जो विवरण हम ऊपर लिख चुके हैं उससे यह स्पष्ट है कि इस उद्योग के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ हैं। प्रश्न यह है कि इस उद्योग का हमारे देश में क्या भविष्य है? इस सम्बन्ध में पहली विचारणीय बात कच्चे माल की है। कच्चे लोहे की इस देश में कमी नहीं है। ऊँचे दर्जे का हेमटाइट कच्चा लोहा बिहार और उड़ीसा में ही ८०० करोड़ टन होने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश, मद्रास और बंबई में भी हेमटाइट और मगनेटिक कच्चा लोहा ३०० करोड़ टन के लगभग है। भारतीय कच्चे माल में शुद्ध लोहे का अंश बहुत ऊँचा है। कच्चे लोहे को शुद्ध करने के लिये चूना पत्थर आदि का उपयोग होता है, वह भी हमारे देश में मिलता है। मैंगनीज़ और सिलीकॉन की भी आवश्यकता होती है और ये धातु भी हमारे यहाँ उपलब्ध हैं। रहा सवाल कोयले का। अच्छे कोयले के बारे में हमारी स्थिति यद्यपि बहुत संतोषजनक नहीं है, पर यदि हम सावधानी से चलें तो हमारा काम काफी समय तक (१०० वर्ष के लगभग) चल सकता है। सारांश यह है कि कच्चे माल की हमारे पास कमी नहीं है। जहाँ तक इस्पात की माँग का सवाल है वह भी पर्याप्त मात्रा में है और वह उत्तरोत्तर बढ़ने वाली है। इस्पात की मौजूदा उत्पादन शक्ति १० लाख टन के लगभग है और हमारी माँग २५ लाख टन के लगभग है। फिर जैसे-जैसे हमारे आर्थिक विकास की योजनाएँ कार्यान्वित होंगी हमारी इस्पात की माँग बढ़ेगी। देश की मकानों की समस्या को हल करने के लिये, तथा सिंचाई, बिजली आदि की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये काफी इस्पात की आवश्यकता होगी। इसी के साथ साथ दक्षिण पूर्व एशिया का बाज़ार भी है जहाँ की इस्पात की माँग हम पूरा कर सकते हैं। सारांश यह है कि इस उद्योग का भविष्य हमारे देश में उज्ज्वल हो सकता है। १९४५ में लो

और इस्पात के पेनल ने ५-५ लाख टन की उत्पादन शक्ति के दो बड़े कारखाने स्थापित करने की सिफ़ारिश की थी। भारत-सरकार दो सरकारी कारखानों की योजना भी तैयार करवा चुकी है पर अभी अर्थाभाव के कारण वे कार्यान्वित नहीं हो सकी हैं। भारत सरकार ने स्टील कारपोरेशन बंगाल और इंडियन आइरन एंड स्टील कंपनी को अपनी दो लाख टन से उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए कर्ज अवश्य दिया है। इसी तरह से इंडस्ट्रियल फाइनेंन्स कारपोरेशन ने कई फ़ाउण्डरीज़ को भी उत्पादन बढ़ाने के लिए ऋण दिया है। टाटा और मैसूर के कारखानों को ऋण देने का प्रश्न सरकार के विचाराधीन चल रहा है। अस्तु, मौजूदा कारखाने अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं, यह तो स्पष्ट ही है। इस समय हमारे देश में इस्पात और पिग आइरन (खासकर बढ़िया पिग आइरन) की बड़ी कमी है। यह कमी हो सके वहाँ तक पूरी की जानी आवश्यक है।

सहायक उद्योग—टाटा के इस्पात के उद्योग के आस-पास कुछ दूसरे सहायक उद्योग भी खड़े हो गये हैं। इनमें से मुख्य-मुख्य उद्योगों के नाम ये हैं—जैसे टिन प्लेट, वायर, वायर नेल उद्योग, जमशेदपुर एंजीनियरिंग एंड मशीन मेन्यूफ़ेक्चर, टाटा नगर फ़ाउन्डरी, टाटा लोको मोटिव एंड एंजीनियरिंग कंपनी और खेती के औजार तैयार करने वाली एग्रीको फेक्टरी। देश का एंजीनियरिंग उद्योग का विकास भी बहुत कुछ इस्पात-उद्योग के कारण ही हुआ है। यही कारण है कि टाटा नगर आधुनिक उद्योगों का एक बहुमुखी केन्द्र बनता जा रहा है।

कोयले का उद्योग—भारत का कोयले का उद्योग प्रधानतः बंगाल और बिहार में केन्द्रित है। रानी गंज, झरिया, गिरडीह कोयले के उत्पादन के कुछ प्रमुख केन्द्र हैं। पश्चिमी बंगाल और बिहार के अलावा दूसरे राज्यों में, जैसे आसाम, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, उड़ीसा और राजपूताना में भी कोयला मिलता है। १६४६ में भारत में कोयले का कुल उत्पादन ३½ करोड़ टन के आस-पास था। इसके मुक़ाबले में अमेरिका में ५६ करोड़ टन, इंगलैंड में २१ करोड़ टन जर्मनी में ८ करोड़ टन, जापान में ३½ करोड़ टन, आस्ट्रेलिया में १½ करोड़ टन, पाकिस्तान में २½ लाख टन, दक्षिणी अफ्रिका में २½ करोड़ टन और कनाडा में १½ करोड़ टन का १६४८ का उत्पादन था। देश की कोयले की वर्तमान आवश्यकता भी ३ करोड़ टन के आस-पास है, यद्यपि भविष्य में देश की आवश्यकता बढ़ना निश्चित है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १६५६ तक हमारी मांग ४ करोड़ टन से भी ऊपर निकल जायेगी। इस उद्योग में

२½ लाख से भी अधिक आदमी काम करते हैं। देश के सब खानउद्योगों में ४ लाख से ऊपर आदमी काम करते हैं। इसका अर्थ यह है कि तीन चौथाई से अधिक मजदूर केवल कोयले के उद्योग में लगे हुए हैं।

प्रारम्भ और विकास—इस उद्योग का प्रारम्भ १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। १८६० में कुल कोयले का उत्पादन ३ लाख टन था। धीरे धीरे इस उद्योग का विकास होने लगा। सन् १९०० में कुल उत्पादन ६० लाख टन तक पहुँच गया और उसमें ३० लाख टन केवल रानीगंज में उत्पन्न होता था। धीरे धीरे रानीगंज की अपेक्षा झरिया के कोयले की खानों का महत्व बढ़ने लगा और रानीगंज से भी वहाँ का उत्पादन बढ़ गया। गिरडीह में भी कोयले का उत्पादन होने लगा। देश के दूसरे भागों में भी थोड़ा बहुत उत्पादन हुआ। १९१४ में कुल उत्पादन १ करोड़ ६० लाख टन का था उसमें से ६० लाख टन से अधिक झरिया और ५० लाख टन रानीगंज में उत्पन्न होता था। रेलवे, कपड़े, सन और कपास के उद्योग तथा लोहे और इस्पात के उद्योगों में अधिकांश कोयले की खपत थी। प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात् के कुछ समय में इस उद्योग की अच्छी प्रगति हुई। युद्ध के कारण विभिन्न उद्योग धन्धों के उत्पादन बढ़ने के कारण कोयले की माँग भी बढ़ी और बढ़ी हुई माँग की पूर्ति करने के लिए उत्पादन बढ़ाया गया। परन्तु उत्पादन माँग के बराबर न बढ़ सका। १९१४ में कोयले का कुल उत्पादन जहाँ १ करोड़ ६० लाख टन के लगभग था वहाँ १९१९ में उत्पादन की मात्रा २ करोड़ टन से ऊपर हो गई। बोकारो खान का विकास इसी समय हुआ। इसी समय में कोयले की खानों में बिजली लगाने की दिशा में भी यथेष्ट प्रगति हुई। युद्ध के समय की इस प्रगति में इस कारण से कुछ बाधा अवश्य उत्पन्न हुई कि विदेश से मशीनरी आदि का आना कठिन था। और जब यह कठिनाई दूर हुई तो कोयले की माँग में कमी आने लग गई। कोयले की माँग में यह कमी १९२० से आरम्भ हुई और इस कारण से उत्पादन में भी कमी आने लगी। १९२८ में कोयले का उत्पादन ६० लाख टन से कुछ कम होगया। १९२० से १९२६ का समय इस उद्योग के लिये अत्यन्त कठिन समय था। इसके कई कारण थे। युद्ध के समय की माँग में युद्ध समाप्त होने के पश्चात कमी आना स्वाभाविक था। कोयले की माँग में कमी आने का एक कारण यह भी था कि बम्बई में यांत्रिक शक्ति के तौर पर बिजली और तेल का उपयोग होने लग गया था। हमारा निर्यात व्यापार भी गिरता जा रहा था। युद्ध के समय में जहाज़ों की कमी निर्यात व्यापार की कमी का प्रमुख कारण था। हमारा निर्यात व्यापार यहाँ तक गिर गया था कि १९१८ में केवल ७४ हजार टन कोयला बाहर भ

गया जब कि युद्ध के पूर्व लगभग ७ लाख टन कोयला निर्यात होता था। युद्ध समाप्त होने के बाद एक बार तो निर्यात व्यापार बराबर बढ़ा। १६२० में लगभग १२ लाख टन कोयला निर्यात हुआ। पर भारत सरकार ने यह सोच कर कि देश के अन्दर की मांग पूरी नहीं होगी कोयले के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया जो जनवरी १६२३ तक रहा। हमारा कोयला घटिया होने से भी विदेशों में उसकी मांग कम हुई। इसके अलावा विदेशी कोयले जैसे अफ्रिका के कोयले की प्रतिस्पर्द्धा भी हमारे बाज़ारों में बढ़ने लगी। बम्बई और कराची में यह प्रतिस्पर्द्धा विशेष तौर पर थी। हमारे कोयले का घटिया होते हुए भी मूल्य अधिक था। इसका असर भी विदेशों की मांग पर और विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा की दृष्टि से अच्छा नहीं हुआ। इसी समय में कोयले के उद्योग को मज़दूर संघर्ष का भी सामना करना पड़ा। सारांश यह है कि उपर्युक्त अलग-अलग कारणों से १६२०-१६२६ तक का समय कोयले के उद्योग के लिये अच्छा प्रमाणित नहीं हुआ। १६२३ तक कोयले के मूल्यों में वृद्धि होती रही पर १६२३ से १६२६ तक मूल्यों में गिरावट आती रही। एक कारण तो इसका यह था कि उत्पादन की मात्रा में वापस सुधार होरहा था और दूसरा कारण युद्धोत्तर मंदी का था।

निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए कोयले के प्रकार का भी एक सवाल था। इस का ठीक-ठीक वर्गीकरण करने के लिये भारत-सरकारने [१६२५ में] कोल ग्रेडिंग बोर्ड की स्थापना की। कोयले की कीमत कम करने की दृष्टि से भी कुछ प्रयत्न किये गए। इन प्रयत्नों के फल स्वरूप विदेशों में भारत के कोयले का खोया हुआ स्थान फिर प्राप्त होगया। उद्योग की आन्तरिक स्थिति को ठीक करने का सरकार ने कोई प्रयत्न नहीं किया। सम्भवतः इसका एक कारण यह था कि उद्योग का संकट काल समाप्त हो चुका है ऐसा भारत-सरकार का विचार रहा हो। क्योंकि १६२७ से १६३० तक का समय कोयले के उद्योग की दृष्टि से संतोषप्रद रहा। १६३० में उत्पादन २ करोड़ ४० लाख टन हो गया था। निर्यात व्यापार की बहुत कुछ खोई हुई स्थिति फिर सुधर गई थी।

सन् १६३० से फिर विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का असर कोयले के उद्योग पर भी पड़ने लगा। कोयले की खपत जैसे-जैसे कम होने लगी वैसे-वैसे मूल्य गिरने लगे। इसका परिणाम उत्पादन की कमी का होना स्वाभाविक था। सीमान्त खानों ने अपना उत्पादन बंद कर दिया और दूसरी खानों ने अपना लागत खर्च कम करने की दृष्टि से उत्पादन को हर तरह से बढ़ाने का प्रयत्न किया। चूंकि कोयले की मांग के मुकाबले में उत्पादन अधिक था। इसलिये मूल्य गिरने ही गये। यद्यपि उत्पादन की मात्रा २ करोड़ ४० लाख टन से कम होकर १६३३ में

२ करोड़ टन के नीचे पहुँच गया थी, पर फिर भी खपत की अपेक्षा यह कमी थोड़ी ही रही। कोयले के उद्योग की यह स्थिति १९३६ तक चलती रही। १९३६ से लगा कर द्वितीय महायुद्ध आरम्भ तक स्थिति में उत्तरोत्तर सुधार होता गया। कोयले की आन्तरिक मांग बढ़ने लगा। निर्यात भी बढ़ा। लंका को कोयला जाने लगा और चीन जापान की लड़ाई के कारण सुदूर पूर्व के बाज़ार भी भारतीय कोयले के लिये खुल गये।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात—द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में भी कोयले के उद्योग की स्थिति में सुधार आता गया। पर १९४२ से यह दिखने लगा कि कोयले के उत्पादन में फिर कमी आरही है और देश में कोयले का अकाल सा अनुभव किया जारहा है। मांग बढ़ने से मूल्य बढ़ने लगे थे पर विशेष वृद्धि १९४२ के बाद से ही हुई। यातायात की कठिनाई और समुद्रतटीय जहाज़ों की कमी तथा मज़दूरों की कमी का भी असर उत्पादन पर बुरा पड़ा। सरकार और खानों ने उत्पादन बढ़ाने का पूरा पूरा प्रयत्न किया, जैसे खानों में काम करने के लिये बाहर से मज़दूरों की भर्ती की गई और उत्पादन में वृद्धि करने के लिए बड़े आर्थिक प्रलोभन जैसे उत्पादन बोनस, अतिरिक्त लाभ कर में छूट आदि दिये गये। बहुत सी मशीनरी भी बाहर से मगाई गई। इन तमाम प्रयत्नों का असर हुआ और उत्पादन में जो कमी आगई थी वह क़रीब क़रीब पूरी हो गई। कोयले का कुल उत्पादन १९४२ में २ करोड़ ९४ लाख टन के लगभग था वह १९४३ में २½ करोड़ टन ही रह गया। १९४४ में बहुत थोड़ी वृद्धि हुई पर १९४५ में उत्पादन २ करोड़ ९० लाख टन के लग भग पहुँच गया। मूल्यों का जहां तक सवाल है जब उनमें बराबर तेजी आती गई तो १९४४ में सरकार ने मूल्य नियन्त्रण लागू कर दिया। कोयले के वितरण पर भी आवश्यक नियन्त्रण किया गया। यह नियन्त्रण आज तक लागू है। कोल के उद्योग का उत्पादन द्वितीय महायुद्ध के पश्चात भी बराबर बढ़ता रहा है। वर्तमान उत्पादन ३ करोड़ २० लाख टन के लगभग मानना चाहिये। पाकिस्तान में ३० लाख टन के आस पास की जो खपत होती थी उसमें देश के विभाजन के कारण असर आना सर्वथा स्वाभाविक है। अस्तु आज कोयले के उद्योग के सामने फिर यही समस्या है कि उत्पादन मांग से अधिक न हो जावे।

भविष्य—कोयले के उद्योग का किसी भी आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र के लिये बहुत बड़ा महत्व है। इसकी सफलता के मार्ग में भारत में जो-जो कठिनाइयां हैं उन पर अब हम विचार करेंगे। सब से बड़ी बात तो यह है कि अच्छे कोयले की मात्रा हमारे देश में बहुत नहीं है। अच्छे कोयले की मात्रा का

एक अनुमान यह है कि खपत के वर्तमान आधार पर लगभग ७० वर्ष में सब कोयला [७५ करोड़ टन] खर्च हो जायगा। परन्तु सन् १९४७ में श्री ई. आर. सी ने यह अनुमान लगाया कि बढ़िया कोयले की मात्रा २२९ करोड़ टन है। और यदि कोयले को संचय करने की समुचित व्यवस्था की जाय तो २०० वर्ष से अधिक हमारा कोयला चल सकता है। कोयले के रिजर्व की मात्रा का जो कुछ भी हमारा अनुमान हो, इतना तो साफ़ ही है कि बढ़िया कोयला जो लोहे और इस्पात के उद्योग में काम आता है अधिक से अधिक समय तक संचित रहे [कनज़र्व हो] इसका पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिये। १९४६ की कोयला समिति [कोल कमेटी] ने भी राष्ट्रीय हित में इस बात पर बहुत ज़ोर दिया था कि बढ़िया कोयले के संचय [कन्ज़रवेशन] की पूरी-पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। जहां-जहां घटिया कोयले से काम चलसकता हो, जैसे रेलवे में, तथा कपास उद्योग में, वहां बढ़िया कोयले का खर्च बन्द करदेना चाहिये। १९४९ में इस समस्या पर विचार करने के लिए भारत-सरकार ने एक समिति भी [मेटे-लरजिकल कोल कंज़रवेशन कमेटी] नियुक्त की है। इसकी रिपोर्ट अभी प्रकाशित नहीं हुई है। कई प्रकार के कोयलों को कारबनाइज़ेशन के लिये मिलाने से भी बढ़िया कोयला उत्पन्न हो सकता है। कोक बनाने के लिये भी घटिया कोयला काम में आसकता है, ऐसी खोज हाल में कौंसिल ऑव साइन्टिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च ने टाटा स्टील कंपनी की सहायता से की है। इससे भी बढ़िया कोयले में बचत हो सकी है। कोयले के उद्योग से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी समस्या यह है कि कोयला खोदने की वर्तमान पद्धति को अधिक वैज्ञानिक बनाया जाये। कोयला खोदने की जो पद्धति [पिलर एंड स्टाल] आज हमारे देश की खानों में अधिकतर प्रचलित है और जिस के कारण कोयला खराब होता है और जो पद्धति सुरक्षित भी कम है, उसके स्थान पर अधिक वैज्ञानिक [लोंग वाल] पद्धति काम में लानी चाहिये। बड़ी खानों में इस पद्धति का युद्ध के समय से उपयोग भी किया जाने लगा है। कोयले के उद्योग की तीसरी समस्या यह है कि चूंकि इस समय खान में काम करने वाले मजदूरों की संख्या उत्पादन के मुकाबले में कहीं अधिक है, इसलिये अब उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिये। कोयले को लाने-लेजाने की कठिनाई भी कई बार उपस्थित हो जाती है। अतः यातायात सम्बन्धी कठिनाई को हल करने का भी बराबर ध्यान रखना आवश्यक है। अन्तिम बात कोयले के निर्यात के बारे में है। यद्यपि आज भारत का कोयला हांगकांग, न्यूज़ीलेंड, आस्ट्रेलिया आदि देशों को भी जाता है, पर लंका, सिंगापुर, मलाया प्रायद्वीप, और बर्मा तो भारतीय कोयले के स्थायी

बाजार माने जा सकते हैं। परन्तु आवश्यकता है इस बात की कि बढ़िया कोयला वाजिब दाम पर नियात किया जाए। यदि उपर्युक्त बातों का हम पूरा-पूरा ध्यान रख सकें तो कोयले व उद्योग का भविष्य उज्ज्वल माना जा सकता है। भारत सरकार ने १९४६ में कोयले व उद्योग की समस्याओं पर विचार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी। इसने यह सिफारिशें कीं जिन में से एक प्रमुख सिफारिश यह थी कि एक राष्ट्रीय कोयला आयोग नियुक्त किया जाय जो कोयले सम्बन्धी समस्त प्रश्नों का संचालन करे और विभिन्न मन्त्रालयों की बजाए एक ही मन्त्रालय से सब समस्याओं का सम्बन्ध रहे। इन सिफारिशों पर विचार न करके भारत सरकार ने एक वर्किंग पार्टी 'फॉर दी कोल इन्डस्ट्री', हाल में नियुक्त की है जो इस उद्योग सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर अपनी राय देगी। इन समस्याओं में कोयले का उत्पादन-वृद्धि, उत्पादन-लागत में कमी, मजदूरों, व्यवस्था और संगठन की कार्य-कुशलता में वृद्धि, वैज्ञानिक, क्रय विक्रय और कोयले के प्रकार में सुधार की समस्या व प्रमुख हैं।

एञ्जीनियरिंग उद्योग—एञ्जीनियरिंग उद्योग किसी एक उद्योग का नाम नहीं है पर कुछ उद्योगों का सामूहिक नाम है। एञ्जीनियरिंग उद्योगों में निम्न उद्योगों का समावेश किया जाता है—स्ट्रक्चरल एंजीनियरिंग जिसके अन्तर्गत पुल बनाना, तथा हैंगर्स ट्रांसमिशन टावर्स, तेल के कुएं, आदि दूसरे इस्पात के कामों का निर्माण करना आता है औद्योगिक प्लान्ट और मशीनरी के निर्माण का उद्योग, एंजिन बनाने का उद्योग, मोटर (ओटोमोबाइल) आदि बनाने का उद्योग, हवाई जहाज़ बनाने का उद्योग, मशीन-टूल्स का उद्योग जिसके अन्तर्गत व तमाम यान्त्रिक उपकरण (मैकेनिकल कन्ट्राविसेज़) आ जाते हैं जो लकड़ी या धातु के काटने, पॉलिश करने, या उन पर काम करने के लिये आवश्यक होते हैं सिलाई की मशीनों, बाइसिकिल और हरीकेन या लालटेन के उद्योग जो हल्की एञ्जीनियरिंग के नाम से जाने जाते हैं, बिजली के सामान आदि सम्बन्धी उद्योग जिसमें पंखे, लैम्प, मोटर्स, तार और केबल्स, एक्यूमूलेटर्स और ड्राइसेल्स, बिजली का सामान जैसे स्विच, प्लग, सोकेट आदि, ट्रान्सफार्मर्स, डीज़ल एंजिन सम्बन्धी उद्योग, पावर प्लान्ट्स रेडियो रिसीवर्स का उद्योग और टेलीफोन के सामान का उद्योग। एञ्जीनियरिंग उद्योग में स्टील फोर्जिङ्ग का काम जिसके द्वारा कच्चे इस्पात से फ़िनिश्ड इस्पात बनाया जाता है और स्टील फेब्रीकेशन की तमाम क्रियायें जैसे पेंट करना, मशीनिंग, ड्रिलिंग (छेद करना), रिवटिंग आदि जिनके द्वारा 'रोल्ड स्टील' को जिस काम में वह आने वाला हो उसके योग्य बनाया जाता है, भी आ जाती हैं। एञ्जीनियरिंग

उद्योगों की गिनती आधार भूत उद्योगों में होती है और इनकी प्रगति लोहे और इस्पात के उद्योग पर बहुत कुछ निर्भर होती है, क्योंकि लोहा और इस्पात ही इन उद्योगों का सबसे प्रमुख कच्चा माल है। भारत में एंजीनियरिंग उद्योगों का अभी यथेष्ट विकास नहीं हुआ है यद्यपि पिछले वर्षों में इस दिशा में प्रगति अवश्य हुई है। जब १६२४ में इस्पात को संरक्षण मिला तो उसका असर एंजीनियरिंग उद्योग को प्रोत्साहन देने का भी हुआ। परन्तु विश्वव्यापी मंदी के कारण इन उद्योगों को भी कठिनाई का सामाना करना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के समय से फिर इन उद्योगों को प्रोत्साहन मिला है। जैसे-जैसे देश का आर्थिक और औद्योगिक विकास होगा वैसे-वैसे इन उद्योगों का विकास होना भी अवश्यम्भावी है। वास्तव में बात तो यह है कि इन उद्योगों की उन्नति पर ही बहुत कुछ हमारे देश का औद्योगिक विकास आधारित है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् देश में जो औद्योगिक मंदी आई और देश के विभाजन से जो हमारे माल के लिये बाज़ार की हानि हुई उसका असर भी एंजीनियरिंग उद्योगों पर पड़ा। इन उद्योगों की प्रगति के लिये निम्नलिखित सुविधाओं की आवश्यकता है—मजदूरों की ट्रेनिंग खास तौर से ट्रेन्ड मिस्त्री की व्यवस्था, यातायात की सुविधा, रेलवे-किराये में सहानुभूतिपूर्ण नीति, उदार कर-नीति, अच्छे कोयले की व्यवस्था सस्ते दामों पर, मजदूरी का उत्पादन के साथ संबंध। कुछ खास-खास एंजीनियरिंग उद्योगों के सम्बन्ध में देश की वर्तमान स्थिति क्या है, इसका हम अब अत्यन्त संक्षिप्त विवरण यहां देंगे।

स्ट्रकचरल एञ्जीनियरिंग उद्योग:– इस उद्योग से सम्बन्ध रखने वाली फ़र्मों में से ख़ास-ख़ास फर्में कलकत्ते [१६], बम्बई [६] और मद्रास [३] में है। इनके काम की मांग प्रधानतः सरकारों की ओर से ही होती है। देश में विकास सम्बन्धी योजनाओं को जैसे-जैसे कार्यान्वित किया जायगा वैसे-वैसे इन उद्योगों की मांग भी बढ़ेगी।

औद्योगिक प्लान्ट सम्बन्धी उद्योग:—मशीन-उत्पादन का उद्योग भी देश के औद्योगिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अब तक हम मशीनें विदेशों से मँगाते रहे हैं। लगभग १०० करोड़ रु० की मशीनें हमारे देश में हर साल आती हैं। इस उद्योग के लिये सब कच्चा माल [लोहा-इस्पात, पीतल, कांसा, एलोम्यूनियम एलोये, रिवेट्स, पाइप्स, ट्यूब्ज़, फोर्जेड स्टील के पदार्थ] हमारे देश में उपलब्ध हैं और जैसे-जैसे टेकनोलोजिकल स्कूल आदि की संख्या देश में बढ़ेगी, टेकनिकल स्किल की कमी का प्रश्न भी हल हो सकेगा। इस क्षेत्र में सबसे प्रमुख फ़र्म टेक्सटाइल मशीनरी कोरपोरेशन लि० है, जो करघों

और नकुओं का उत्पादन करता है। टेक्सटाइल मशीनरी का उत्पादन करने वाला कुछ और फर्में भी हमारे देश में हैं।

एन्जिन उद्योग —रेलवे यातायात के विस्तार और विकास के मार्ग में एक बड़ा कठिनाई पर्याप्त संख्या में एंजिन नहीं मिलने की रही है। हमारे देश में दो रेलवे वर्कशापों में (अजमेर और जमालपुर) एंजिन तैयार करने का काम हुआ है। पर जमालपुर में एंजिन बनाने का काम १६२६ में बन्द हो गया। टाटा लोकोमोटिव एण्ड एन्जीनियरिंग कंपनी वैयक्तिक आधार पर आरम्भ किया गया एंजिन तैयार करने का प्रथम व्यवसाय था। १६४६ में भारत सरकार ने भी यह निश्चय किया कि एंजिन तैयार करने का एक कारखाना स्थापित किया जाय। इसी निश्चय के अनुसार पश्चिम बंगाल में चितरंजन [मिहीजाम] नाम के स्थान पर इंडियन रेलवे मैन्युफैक्चरिंग वर्क्स नाम के कारखाने की स्थापना की जा चुकी है और नवम्बर १६५० में उसके द्वारा पहला एंजिन तैयार भी किया जा चुका है। अभी तो बाहर से एंजिन के भागों का आयात करके एंजिन तैयार किये जाते हैं, पर धीरे धीरे इन भागों का निर्माण भी इस कारखाने में शुरू किया जा रहा है और ऐसी आशा है कि १६५४ तक सब भाग यहीं बनने लगेंगे और इस प्रकार पूरा चितरंजन में बना एंजिन १६५४ में तैयार होने की संभावना मानी जा सकती है। यह भी आशा है कि १६५४ तक १२० स्टीम एंजिन और ५० अतिरिक्त बोइलर्स, जो इस कारखाने का अधिकतम उत्पादन का लक्ष्य है, बन सकेंगे।

मोटर उद्योग —मोटर उद्योग भी एक आधारभूत उद्योग है जिसका शांति और युद्ध दोनों ही समय में बहुत महत्व है। आरम्भ में कुछ विदेशी फर्मों की शाखाएँ यहाँ स्थापित हुई जैसे बम्बई में 'जनरल मोटर्स एसम्बलिंग प्लांट' जिन्होंने विदेश से आये हुए विभिन्न हिस्सों को मिलाकर मोटर तैयार करने का काम शुरू किया। १६४६ में प्रीमियर ऑटोमोबाइल्स लि० नाम के एक भारतीय फर्म की बम्बई में स्थापना हुई। इसी प्रकार पुराने बड़ौदा राज्य में हिन्दुस्तान मोटर्स की स्थापना की गई। १६४६ में कुल ३६८५४ मोटर गाड़ियाँ अलग अलग हिस्से मिला कर तैयार (एसम्बलिंग) की गई। हाल में विदेशी फर्मों के सहयोग से कुछ नई फर्में भी स्थापित हुई हैं। मोटर एक्सेसरीज़ को सरकार से भी मिला है। इस उद्योग के विकास के लिये इस बात की सबसे बड़ी है कि मोटर के विभिन्न हिस्सों का उत्पादन भी हमारे देश में ही अधिकाधिक हो। इस विषय में प्रयत्न अवश्य हो रहा है पर इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। इसका एक उपाय यह है कि कोई भी मोटर

तैयार करने वाली फ़र्म अधिक से अधिक अमुक मूल्य तक के हिस्से ही बाहर से मँगा सकती है, यह निश्चित कर दिया जाए, और यह मर्यादा धीरे-धीरे कम की जाए। इसका असर मूल्य में कमी होने का भी होगा। दूसरी बाधा इस उद्योग के मार्ग में यह बताई जाती है कि विभिन्न रूपों में इस पर कुल मिलाकर करों का भार अत्यधिक होजाता है—जैसे आयात कर, बिक्री कर, रजिस्ट्रेशन फीस, पेट्रोल पर लगने वाला कर तथा टायर आदि दूसरे सामान पर लगने वाला कर। ये सब ही मिलकर मोटर पर होने वाले खर्च को बहुत बढ़ा देते हैं। मोटरों आदि पर लगने वाले करों से सरकार को २८ करोड़ रुपये की आय होती है जबकि सड़कों को पूंजीगत (कैपीटेलाइज़) क़ीमत २०० करोड़ रुपये के लगभग है। इसका अर्थ है पूंजी पर १४ प्रतिशत आय। जब रेलवे में लगी पूंजी पर सरकार ४ प्रतिशत से संतोष मानती है तो मोटर पर १४ प्रतिशत अवश्य ही बहुत है। इसमें कमी करना आवश्यक मालूम पड़ता है। मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण का परिणाम भी मोटर-उद्योग के प्रतिकूल हुआ है क्योंकि मोटरों की मांग पर इसका बुरा असर पड़ा है। पर राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर इस प्रकार तात्कालिक और संकीर्ण दृष्टि से विचार करना गलत है और उसके मार्ग में जो बाधायें मालूम पड़ें उनको हल करने की ओर ध्यान देना चाहिये न कि राष्ट्रीयकरण के विचार का ही परित्याग कर दिया जाये।

हवाई जहाज़ उद्योग—अभी इस उद्योग का हमारे देश में अभाव ही है। हिन्दुस्तान एयर क्रैफ्ट लि० नाम की एक फेक्टरी १९४० में स्थापित की गई थी जहां बाहर से आये सामान से हवाई जहाज़ तैयार किये जाते हैं। युद्ध के समय इस फेक्टरी का महत्त्व बढ़ गया और इसने प्रधानतया एक सरकारी फेक्टरी का रूप ले लिया। भारत में एलूमिनियम और उसकी निश्चित धातु होती है जो हवाई जहाज के उद्योग के लिये आवश्यक है। अतः इस उद्योग का हमारे देश में विकास हो सकता है। हिन्दुस्तान एयर क्रैफ्ट फेक्टरी की अच्छी प्रगति हो रही है।

मशीन टूल्स—द्वितीय महायुद्ध के पहले अधिकांश मशीन टूल्स विदेश से आते थे। पर फ्रान्स के पतन और जापान के युद्ध में शामिल होने के बाद जब बाहर से माल का आना बन्द-सा होगया तो हमारे देश के उद्योग को प्रोत्साहन मिला। हमारा वार्षिक उत्पादन ११ हज़ार मशीन टूल्स तक पहुँच गया। कलकत्ता, बम्बई, सतारा, हरीहर, बटाला, और लुधियाना इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र हैं। १९४६ में कुल उत्पादन ६१ करोड़ रुपए तक पहुँच गया था। पर युद्ध के बाद से इस उद्योग की स्थिति मांग कम हो जाने के कारण संतोष-

जनक नहीं रही है। १६४६ में कुल उत्पादन ४८ लाख रुपये का ही रह गया था। माँग की कमी के कई कारण हैं, जैसे विकास की योजनाओं के कार्यान्वित नहीं होने से माँग की कमी होना, विदेशी मशीनों की कम कीमत पर बिक्री और युद्ध कालीन सामान की सरकार द्वारा सस्ते दामों पर बिक्री। इधर तो वर्तमान फैक्टरियों की यह हालत हो रही थी, उधर भारत सरकार ने एक फैक्टरी काफी बड़े पैमाने पर स्थापित करने का निश्चय कर लिया था। जब सरकार से इस निश्चय का विरोध किया गया और उसका ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया कि इस समय माँग में गिरावट आती जा रही है तो भारत सरकार ने अपने निर्णय में आवश्यक परिवर्तन कर दिया। अब भारत सरकार १८ करोड़ रुपये की बजाय ६३ करोड़ का पूँजी लगायगी और उत्पादन ८ करोड़ की जगह ४ करोड़ रुपये का ही किया जायगा। इसके अलावा सरकारी फैक्टरी में वे मशीनें तैयार होंगी जो अब तक वैयक्तिक फैक्टरियों में तैयार नहीं होती हैं, ताकि आपस में प्रतिस्पर्धा न हो। यह आशा है कि पाँच वर्ष में यह फैक्टरी की योजना कार्यान्वित हो सकेगी। सरकारी फैक्टरी में हाइस्पीड लेथ्स, हाई स्पीड शेपिंग मशीनें, और ड्यूटी ड्रिलिंग मशीनें खास तौर से तैयार की जायगी। देश के आर्थिक विकास में इस उद्योग का बड़ा महत्त्व है। पिग आइरन, रोल्ड स्टील के पदार्थ और अलोह धातु तथा कोयला, कोक, चूना पत्थर और लकड़ी का इस उद्योग में कच्चे माल के रूप में आवश्यकता होती है। ये सब चीजें हमारे देश में उपलब्ध हैं।

सिलाई की मशीनें—भारत में लगभग १ लाख सिलाई की मशीनों का वार्षिक खपत है। १६४६ में भारत में २५००० मशीनें तैयार की गई। अधिकतम उत्पादन शक्ति साल में ३७००० मशीनों के लगभग है। पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब और मद्रास में इन मशीनों के बनाने के कारखाने हैं। १६४७ में ४६ लाख की पूँजी इनमें लगी हुई थी।

बाइसिकिल—इस उद्योग का प्रारंभ कलकत्ते में १६३८ में हुआ और कुछ मार्गों के उत्पादन के साथ इसने कार्य आरंभ किया। युद्ध में इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। भारत में साइकिलों की वार्षिक माँग ३ लाख है और हमारी उत्पादन शक्ति ६० हजार के लगभग है। १६४७ में ११ फैक्टरियाँ इस उद्योग में थीं जिनमें १६०० आदमी काम करते थे और ७ लाख के लगभग पूँजी लगी थी।

हरीकेन लेंटर्न—इस उद्योग में ६ संगठित फैक्टरियाँ हैं। देश की कुल माँग ५० लाख लालटेनें प्रतिवर्ष है। १६४६ में १७ लाख लालटेनें हमारे देश में

तैयार हुई। हमारी उत्पादन क्षमता ३३ लाख लालटेनें हैं।

बिजली का सामान—हमारे देश में २८ बिजली के पंखे, ६ बिजली के लैम्प, और ६ एक्सेसरीज़ जैसे स्विच प्लग आदि और ५ फ्लेश लाइट्स की फैक्टरियां हैं। इनके अलावा वायर और केबल्स, मोटर्स और एकुमूलेटर्स और ड्राई सेल्स तथा ट्रान्सफोर्मर्स भी हमारे देश में थोड़े बहुत तैयार होने लगे हैं।

डीज़िल एंजिन—अपनी सादा बनावट, और संचालन और सस्तेपन के कारण डीज़िल एंजिन का बड़ा प्रचार हो रहा है। पानी निकालने, और खेती के काम में तथा रेल और सड़क के यातायात में इनका उपयोग हो सकता है। सतारा, देहली और कोल्हापुर इनके मुख्य उत्पादन-केन्द्र हैं। भारत में लगभग ५००० डीज़िल एंजिन हर साल चाहियें। हमारे कारखानों की उत्पादन-शक्ति १६४६ में ५२०० एंजिन थी पर वास्तव में केवल २१०० एंजिन तैयार किये गये। बाहर से बहुत से एंजिन अभी आयात होते हैं। भारत-सरकार एक फ़ैक्टरी स्थापित करने के प्रश्न पर विचार कर रही है।

पावर प्लान्ट्स—बिजली उत्पादन के काम में ये पावर प्लान्ट आते हैं। हमारे देश में अभी यह बिल्कुल तैयार नहीं होते हैं। भारत-सरकार ने इस संबंध में एक योजना बनाई थी पर वह आर्थिक कठिनाई के कारण स्थगित करदी गई।

रेडियो रिसीवर्स—पिछले वर्षों में रेडियो रिसीवर्स के उद्योग में यथेष्ट प्रगति हुई है। १६४७ में भारत की उत्पादन क्षमता ८००० सेट्स की थी। १६४६ में रेडियो रिसीवर्स की उत्पादन शक्ति ६० हज़ार सेट्स प्रति वर्ष थी और १६ हज़ार सेट्स का वास्तविक उत्पादन था जबकि १६४७ में उत्पादन २००० हज़ार सेट था।

टेलीफोन इक्विपमेंट—बम्बई, कलकत्ता और देहरादून में टेलीफोन के सामान तैयार करने की एक-एक फ़ैक्टरी है। जुलाई १६४८ में बंगलोर में इंडियन टेलीफोन इन्डस्ट्रीज़ नाम का एक कारखाना भारत-सरकार ने स्थापित किया था। बाद में इसमें मैसूर सरकार और इंगलैंड की ओटोमेटिक टेलीफोन एण्ड इलेक्ट्रिक कंपनी की साझेदारी भी स्वीकार करली गई। १६४६ के आरंभ में इस फैक्टरी ने काम करना आरंभ कर दिया। इसकी उत्पादन-शक्ति ५० हज़ार टेलीफोन और ३५ हज़ार एक्सचेंज लाइन्स प्रतिवर्ष है।

रासायनिक उद्योग—कई उद्योगों का सामूहिक नाम रासायनिक उद्योग है। ये उद्योग दो प्रकार के होते हैं—(१) भारी रासायनिक पदार्थ, जैसे—

सलफ्यूरिक एसिड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, नाइट्रिक एसिड, विभिन्न प्रकार के सल्फेट, एलकेलीज़ जैसे कास्टिक सोडा, सोडा एश, एमोनिया और एलकेलाइन पदार्थ जैसे ब्लीचिंग पाउडर, क्लोरीन, पोटेशियम क्लोरेट, और रासायनिक खाद जैसे एमोनियम सलफेट, सुपरफोसफेट पोटेशियम नाइट्रेट आदि। (२) कीमती रासायनिक पदार्थ (फाइन केमिकल्स) में फ़ोटोग्राफी के काम में आने वाले रासायनिक पदार्थ, ड्रगज़ और फार्मेस्यूटिकल पदार्थ, पेन्टस, वार्निश और रंग के पदार्थ गिने जाते हैं। भारतीय रासायनिक पदार्थ कृषि और उद्योग धन्धों में काम में आते हैं और इसलिये उनकी गिनती आधारभूत उद्योग में होती है। ये पदार्थ बड़ी मात्रा में और सस्ते दामों पर तैयार किये जाते हैं। कीमती रासायनिक पदार्थ कम मात्रा में उत्पन्न किये जाते हैं और उनके उत्पादन में कौशल की अधिक आवश्यकता होती है। अब हम भारी रासायनिक पदार्थों के उद्योग के बारे में संक्षेप में कुछ लिखेंगे।

प्रथम महायुद्ध के पहले तक रासायनिक उद्योगों का हमारे देश में बहुत विकास नहीं हुआ था यद्यपि बहुत सा कच्चा माल हमारे यहाँ उपलब्ध था। प्रथम महायुद्ध के समय विदेश से आने वाले रासायनिक पदार्थों का आयात कम होगया और देश में माँग बढ़ गई। इससे इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। पर युद्ध समाप्त होजाने के बाद विदेशी प्रतिस्पर्द्धा फिर बढ़ गई। अब सरकार द्वारा संरक्षण देने का प्रश्न उपस्थित हुआ। टैरिफ बोर्ड ने १९२८-२९ में जांच करके संरक्षण के पक्ष में राय दी और भारी रासायनिक उद्योग संरक्षण कानून १९३१ में पास किया गया। मैगनेशियम क्लोराइड के अलावा जिसकी अवधि मार्च १९३९ तक भी और जो बाद में १९४६ तक के लिये बढ़ादी गई थी, बाकी के पदार्थों को संरक्षण मार्च १९३३ तक ही दिया गया। संरक्षण के बाद ही एलकेलाइज़ का उत्पादन इस देश में वास्तव में प्रारम्भ हुआ। इम्पीरियल केमीकल्स लि० और टाटा केमीकल्स लि० नाम की दो बड़ी कम्पनियाँ सोडा एश तथा कास्टिक सोडा के उत्पादन के लिए स्थापित भी की गईं। द्वितीय महायुद्ध के समय से इन उद्योगों को काफी प्रोत्साहन मिला है। भारत सरकार ने भी इनके विकास में काफी रुचि दिखलाई क्योंकि युद्ध की दृष्टि से इन उद्योगों का बहुत महत्व था। कौंसिल ऑव साइंटीफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च बोर्ड ने भी इस उद्योग की प्रगति में अच्छा योग दिया। कई रासायनिक पदार्थ जो पहले बाहर से आते थे अब हमारे यहाँ तैयार किये जाने लगे—जैसे कोपर सलफेट, सोडियम सलफाइड, ब्लीचिंग पाउडर क्लोरिन आदि। कई का उत्पादन पहले से बहुत बढ़ गया जैसे सलफ्यूरिक एसिड का उत्पादन पिछले दस वर्षों

तीन गुना बढ़ गया। इसी प्रकार हाईड्रोक्लोरिक एसिड और नाइट्रिक एसिड का उत्पादन युद्ध के पहले ३५० टन और ५०० टन अब क्रमशः था, १५०० टन हाईड्रोक्लोरिक एसिड का और २७५० टन नाइट्रिक एसिड का उत्पादन होगया। यही बात कास्टिक सोडा और ब्लीचिंग पाउडर के बारे में है, यद्यपि आजकल इन उद्योगों की स्थिति फिर कठिन होगई है। सोडा एश बाईक्रोमेट्स, मेगनेशियम और मेगनेशियम सलफेट आदि का उत्पादन भी बढा है। रासायनिक खाद और सुपर फोस्फेट के उद्योगों की भी प्रगति तो हुई है पर अपेक्षाकृत कम। सारांश यह है कि अधिकांश रासायनिक पदार्थों के उद्योगों को द्वितीय महायुद्ध के समय प्रोत्साहन मिला और तब से उनका विकास हुआ है। देश के विभाजन का असर इन उद्योगों के लिए इस अर्थ में हानिकर हुआ कि पाकिस्तान के बाजार के बारे में अनिश्चतता आगई। युद्ध समाप्त होने के बाद कई रासायनिक उद्योगों ने संरक्षण की माँग की और उनको संरक्षण मिला भी। कास्टिक सोडा और ब्लीचिंग पाउडर के उद्योगों ने भी संरक्षण की मांग की थी पर उनकी मांग नामन्जूर करदी गई है। द्वितीय महायुद्ध के समय इन उद्योगों का जो विस्तार हुआ उसमें एक बड़ा दोष यह था कि वह विस्तार किसी योजना के आधार पर नहीं हो सका।

अबतक हमने भारी रासायनिक पदार्थों सम्बन्धी उद्योगों के बारे में ही विचार किया है। कीमती रासायनिक पदार्थ, ड्रग्ज, और फार्मास्योटिकल्स के बारे में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि यद्यपि इन उद्योगों को भी गत महायुद्ध के समय प्रोत्साहन मिला परन्तु अभी ये अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। इन उद्योगों पर भी विभाजन का असर इसी रूप में पड़ा है कि पाकिस्तान का बाजार अब अपना बाजार नहीं रहा है।

जहाँ तक भावी प्रगति का सवाल है दूसरे देशों के मुकाबले में हमारे रासायनिक उद्योगों का (भारी और कीमती दोनों) विकास बहुत कम हुआ है। पर भविष्य में विकास के लिये काफी गुंजाइश है। भारी रासायनिक पदार्थों सम्बन्धी उद्योग का विकास बहुत कुछ उन दूसरे उद्योगों के विकास के साथ बँधा हुआ है जिन में इन पदार्थों का उपयोग होता है। कीमती रासायनिक उद्योगों में भारी रासायनिक पदार्थों का उपयोग होता है। इसलिये एक हद तक इनका भी पारस्परिक सम्बन्ध है। फाइन केमीकल्स के लिए जहाँ तक इन ओरगेनिक हेवी केमीकल्स का प्रश्न है वे हमारे देश में आज भी मिलते हैं, पर ओरगेनिक हेवी केमीकल्स अभी हम बाहर से मंगाते हैं। अतः इस कमी को पूरा करने की ओर हमें ध्यान देना होगा। इसी प्रकार सिंथेटिक ड्रग्ज़ के लिये

आवश्यक फाइन केमीकल्स अभी बाहर से आते हैं। यह कमी भी पूरी होनी चाहिये। सिंथेटिक डाइस्टफस अभी हमारे देश में पैदा नहीं होते, पर इनका उत्पादन हो सकता है। इसके लिए कोलतार के उद्योग का विकास करना जरूरी है। कोलतार से ही सिंथेटिक ड्रग्ज और बड़े विस्फोटक पदार्थ पैदा होते हैं। इसी प्रकार इन ऑरगेनिक केमीकल्स (सल्फ्यूरिक एसिड आदि) की अपनी आवश्यकता पूर्ति भी इस उद्योग को अलग से करना पड़ेगी, क्योंकि मौजूदा उत्पादन मौजूदा उपभोग में समाप्त होजाता है। उपर्युक्त बातों के अलावा कुछ बातें दोनों ही प्रकार के रासायनिक उद्योगों की प्रगति के लिए आवश्यक हैं। सबसे बड़ी बात तो विदेश से आवश्यक मशीनरी आदि के मँगाने की है। बाहर के टेक्नीशियनों की भी हमें कुछ समय के लिये सहायता लेनी होगी और यह प्रबन्ध भी बिठाना होगा कि हम अपने लोगों को आवश्यक ट्रेनिंग दे सकें। आवश्यक इक्विपमेंट और प्रिसीशन इन्स्ट्रूमेंट्स का भी हमारे देश में उत्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी के साथ हमें मजदूरों को भी आवश्यक ट्रेनिंग देनी होगी। हमें अपने रासायनिक उद्योग के लिए ऐसे मैनेजर चाहियें जो ऊँचे दर्जे के टेक्नोलोजिकल इन्स्टीट्यूट में तैयार किये जायें, और सुपरवाइजर और स्किल्ड मजदूर भी चाहियें। इन सब बातों के अलावा कर, रेल के किराए और आयात कर सम्बन्धी सरकार की नीति भी अधिक सहानुभूतिपूर्ण होनी चाहिये। सस्ती और पर्याप्त बिजली की शक्ति की भी इन उद्योगों के लिये बड़ी आवश्यकता है। उपर्युक्त सब बातों की ओर यदि हम पूरा ध्यान दें तो हमारे देश में रासायनिक उद्योगों का अच्छा विकास हो सकता है। इस समय की स्थिति का अनुमान तो इससे लगाया जा सकता है कि इस क्षेत्र में कुल ४७१ उत्पादन केन्द्र हैं जिनमें केवल ३५ बड़े पैमाने पर काम करते हैं। इस उद्योग में कुल पूँजी ५ करोड़ रु० के लगभग लगी हुई है जो तमाम उद्योगों में लगी पूँजी का केवल २.५ प्रतिशत होती है।

अब हम कुछ प्रमुख रासायनिक पदार्थों के उद्योगों के विषय में संक्षिप्त जानकारी करेंगे।

सलफ्यूरिक एसिड — भारी रासायनिक पदार्थों में सलफ्यूरिक एसिड का बहुत महत्त्व है क्योंकि न केवल यह दूसरे उद्योगों [धातु, कपास उद्योग, चमड़ा और इन्जीनियरिंग] में काम आता है पर दूसरे रासायनिक पदार्थों में भी इसका उपयोग होता है। हमारे देश में इस समय लगभग ४३ फर्में सलफ्यूरिक एसिड तैयार करती हैं और उनकी उत्पादन शक्ति १½ लाख टन है, और वास्तविक वार्षिक उत्पादन १९५० में १ लाख टन के आस-पास हुआ था।

हमारी वर्तमान मांग १ लाख टन प्रति वर्ष है। इस उद्योग के मार्ग में एक बड़ी कठिनाई यह है कि गंधक [सलफर] हमें बाहर से मंगाना पड़ता है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे देश में मिलने वाले गंधक वाले दूसरे पदार्थों का इस उद्योग में उपयोग किया जाये जैसा कि कई पश्चिम के देशों में होता है। राजस्थान में केलशियम सलफेट यथेष्ट मात्रा में होता है। उससे सलफ्यूरिक एसिड तैयार करने के प्रश्न पर विचार किया जारहा है। जिपसम में भी गंधक होता है। इसके अलावा यह भी प्रयत्न किया जाना चाहिये कि कई उद्योगों में सल्फ्यूरिक एसिड के उपयोग के बिना ही काम चल जाय। जैसे खाद पदार्थों में एमोनियम सलफेट और सुपर फोस फेट और हाईड्रोक्लोरिक और नाइट्रिक एसिड बिना सलफ्यूरिक एसिड के भी तैयार किये जासकते हैं। पर भारत में अभी ऐसा होना जल्दी संभव नहीं होसकता। खाद-उद्योग के विकास के साथ-साथ सल्फ्यूरिक एसिड का उत्पादन भी बढ़ेगा।

एलकलीज़:—एलकलीज़ में कास्टिक सोडा एक प्रमुख पदार्थ है। यह साबुन, टेक्सटाइल्स, कागज़ तथा लगभग सब बड़े उद्योगों में काम आता है। इसकी उत्पादन क्षमता इस समय १८००० टन वार्षिक है। कुल छह कारखाने इस उद्योग के हैं। वास्तविक उत्पादन १६५० में ११ हजार टन के लगभग हुआ था और हमारी वार्षिक मांग ६५,००० टन है। इस उद्योग के संरक्षण की मांगको सरकार ने अस्वीकार कर दिया है। यह आशा है कि नए प्लान्ट की स्थापना और मौजूदा के विस्तार से शीघ्र ही इस पदार्थ में हम स्वावलंबी हो सकेंगे। कास्टिक सोडा तैयार करने का एक तरीका तो लाइम-सोडा से है और दूसरा तरीका इलेक्ट्रोलिटिक पद्धति का है जिससे सहायक-पदार्थ के तौर पर क्लोरीन भी पैदा होता है। हमारे देश में आज भी क्लोरीन जितनी मात्रा में पैदा होता है उसका पूरा-पूरा उपयोग नहीं होता है। क्लोरीन की वर्तमान उत्पादन शक्ति ६५०० टन है। १६५०में ४ हज़ार टन क्लोरीन पैदा किया गया। क्लोरीन ब्लीचिंग पाउडर, हाइड्रो क्लोरिक एसिड और डी. डी. टी. तैयार करने में काम आता है। इसके उपयोग के और नये मार्ग ढूंढ निकालने की आवश्यकता है। ब्लीचिंग पाउडर तैयार करने के देश में तीन कारखाने हैं जिनमें १६५० में ३ हजार टन के लगभग ब्लीचिंग पउडर तैयार किया गया। हमारी क्षमता ५ हजार टन तैयार करने की है। साल मे १२ हज़ार टन के आस पास देश में मांग है जिसका अधिकांश भाग बाहर से आता है। इसकी संरक्षण की मांग भी सरकार ने अस्वीकार करदी है।

सोडा एश भी एक दूसरा एलकेली है जो शीशे, टेक्सटाइल्स, कागज़

आदि के उद्योग में काम में आता है। हमारी वार्षिक माँग १,२०,००० टन के लगभग है और वर्तमान उत्पादन क्षमता देश के दोनों सौराष्ट्र स्थित प्लाटों की ५४००० टन है। उचित दाम पर औद्योगिक नमक की कमी इस उद्योग के मार्ग में प्रमुख बाधा है। यही कारण है कि पूरा उत्पादन शक्ति का उपयोग नहीं किया जाता। १९५० में कुल उत्पादन लगभग ४५ हजार टन के था। शेष माँग आयात से पूरा होता है।

रासायनिक खाद—हमारे देश में अन्न उत्पादन का कितना महत्त्व है यह सब जानते हैं। इसी से रासायनिक खाद का महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है। रासायनिक खादों में एमोनिया फोस्फेट, एमोनियम सलफेट, पोटेशियम क्लोराइड पोटेशियम नाइट्रेट, सुपरफोसफेट आदि आते हैं। आज से दस वर्ष पहले भारत में रासायनिक पदार्थों का उत्पादन नहीं के बराबर था और आज भी हमारी अधिकांश माँग बाहर से ही पूरा होता है। इस क्षेत्र में पहला प्रयत्न मैसूर सरकार ने बेलागूला नामक स्थान में फैक्टरी (उत्पादन शक्ति ७५०० टन) स्थापित करके किया था। दूसरी फैक्टरी १९४८ में ट्रावनकोर में अलवई स्थान में स्थापित हुई थी इसकी उत्पादन शक्ति ४८५०० टन वार्षिक था। सबसे बड़ी योजना सिन्दरी (बिहार) में ३½ लाख टन उत्पादन शक्ति का फैक्टरी स्थापित करने की है। यह फैक्टरी भारत सरकार द्वारा स्थापित की जा रही है। ये तीनों ही फैक्टरियाँ एमोनियम सलफेट का उत्पादन करेंगी। हमारे देश में एमोनियम सलफेट का वर्तमान उत्पादन बहुत कम है। पिछले वर्षों में प्रगति अवश्य हुई है। देश की ६ फैक्टरियों में जिनकी उत्पादन क्षमता ७८ हजार टन प्रति वर्ष है। १९५० में ४८ हजार टन एमोनियम सलफेट तैयार किया गया था। एमोनियम सलफेट के अलावा हमारे देश में कुछ फैक्टरियाँ सुपरफोसफेट की भी हैं। सुपर फोसफेट का १९५० में ५२ हजार टन का उत्पादन हुआ था। इस समय देश में सुपरफोसफेट तैयार करने के १४ कारखाने हैं जिनका कुल उत्पादन क्षमता १,२००० टन है। यह रोक फास्फेट से तैयार होता है। रोक फोस्फेट हमें बाहर से खास तौर से मोरक्को से मँगाना पड़ता है। एमोनिया खाद की हमारे देश में वार्षिक माँग ८० लाख टन के है, पर उसके मुकाबले में हमारा वर्तमान उत्पादन लगभग १ लाख टन ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रासायनिक खादों के उत्पादन में वृद्धि करने की हमारे देश में कितनी आवश्यकता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि भारतीय किसान इनके उपयोग से परिचित हो, इनका मूल्य उसकी पहुँच के अन्दर हो और आसानी से ये खाद उस तक पहुँच सकें।

हमारे रासायनिक उद्योगों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कास्टिक सोडा, सोडा एश और ब्लीचिंग पाउडर में भारत स्वावलंबी नहीं है। सलफ्यूरिक एसिड, लिक्विड क्लोरीन, बाइक्रोमेट्स, केलशियम क्लोराइड, मैगनीज़ क्लोराइड और फ़ोटोग्राफ़ी में काम आने वाले तीनों रासायनिक पदार्थों में भारत स्वावलम्बी है। सलफ्यूरिक एसिड और फोटोग्राफी में काम में आने वाले रासायनिक पदार्थों को छोड़कर, बाक़ी के सब रासायनिक पदार्थ हमारे देश में उपलब्ध कच्चे माल से ही तैयार होते हैं।

चमड़े का उद्योग—गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशुओं के शरीर से, उसकी मृत्यु के बाद, जब खाल हटाई जाती है तो उसे कच्चा चमड़ा कहते हैं। गाय-भैंस के चमड़े के लिये अंग्रेज़ी में 'हाइड' शब्द और भेड़ बकरी के चमड़े के लिये 'स्किन' शब्द का प्रयोग होता है। चमड़े के लिये ही जानवरों को मार कर जो खाल उतारी जाती है वह बढ़िया होती है और मरे हुए जानवरों के शरीर से जो खाल उतरती है वह घटिया होती है। धार्मिक भावना के कारण भारत में गाय-भैंसों को चमड़े के लिये प्रायः मारा नहीं जाता। इसलिये इस प्रकार का चमड़ा बहुत कम होता है। भेड़-बकरी के चमड़े के बारे में यह बात लागू नहीं होती। वह चमड़ा अधिकांश में उन जानवरों का ही होता है जो मांस के लिये मारे जाते हैं। भारत में गाय का चमड़ा १ करोड़ ६५ लाख टुकड़े, भैंस का चमड़ा ५० लाख टुकड़े, बकरी का चमड़ा ३ करोड़ टुकड़े और भेड़ का चमड़ा १ करोड़ १८ लाख टुकड़े पैदा होता है। देश के विभाजन से बढ़िया चमड़े की देश में कमी आगई है। भैंस के बढ़िया चमड़े की मात्रा में यह कमी ख़ास तौर से आई है।

जानवरों के शरीर से जो चमड़ा मिलता है वह या तो कच्चे चमड़े के रूप में विदेशों को भेज दिया जाता है या फिर वह देश में कमाया जाता है। चमड़ा कमाने के काम को ही 'टेनिंग' कहते हैं। कमाये हुए चमड़े से ही फिर चमड़े का सामान तैयार होता है। इसको 'लेदर इन्डस्ट्री' कहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के ठीक पहले भैंस के चमड़े का लगभग १० प्रतिशत, गाय के चमड़े का लगभग २२.५ प्रतिशत, भेड़ के चमड़े का लगभग ६.५ प्रतिशत और बकरी के चमड़े का लगभग ८० प्रतिशत विदेशों को कच्चे चमड़े के रूप में भेज दिया जाता था, और बाकी का भारत ही में कमाया जाता था। पिछले वर्षों में निर्यात की मात्रा में और भी कमी आई है क्योंकि भारत में टेनिंग-उद्योग का विस्तार हुआ है। भारत से कमाया हुआ चमड़ा भी विदेशों को भेजा जाता है।

टेनिंग या चमड़ा कमाने का उद्योग—भारत में चमड़ा कमाने के उद्योग

को चार भेणियों में बाँटा जा सकता है—(१) गाव का पुराने ढंग से चमड़ा कमाने का उद्योग—इस धंधे में लगे हुए लोगों की संख्या का कोई अनुमान नहीं है। पर भारत के प्रत्येक गाँव में चमारों के घर होते हैं जो इस धंधे को कुटीर उद्योग के आधार पर करते हैं। ऐसा अनुमान है कि लगभग ८० से ६० लाख टुकड़े गाय भैंस के चमड़े के और ४० लाख टुकड़े भेड़ बकरी के चमड़े के गावों में फैले हुए चमारों द्वारा प्रतिवर्ष कमाये जाते हैं। (२) चीनी क्रोम चमड़ा पैदा करने वाले—देश में लगभग २५० ऐसी क्रोम चमड़ा तैयार करने वाली टेनरीज़ हैं। ये चीनी लोगों के हाथ में हैं और प्रधानतः वे ही इसमें काम भी करते हैं। जूते के ऊपर के भाग में लगाने वाला क्रोम चमड़ा इन टेनरीज़ में तैयार किया जाता है और लगभग २५ लाख चमड़े के टुकड़े के कमाने की इनकी शक्ति है। इन में ३००० के लगभग व्यक्ति काम करते हैं। कलकत्ता इनका प्रधान केन्द्र है। (३) ईस्ट इंडिया टेन्ड लेदर—यह चमड़ा मद्रास और बम्बई स्थित अर्द्ध कुटीर उद्योग के आधार पर चलने वाली टेनरीज़ में तैयार किया जाता है। 'ईस्ट इंडिया टेन्ड लेदर' के नाम से यह अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में मशहूर है। यह प्रायः विदेशों को भेजा जाता है। विदेशों में यह फिर से कमाया जाता है और तब चमड़े का सामान आदि बनाने के काम में लिया जाता है। इन कुटीर उद्योगों की संख्या लगभग ५०० के है और लगभग १ करोड़ टेन्ड 'हाइड' और १ करोड़ ६० लाख टेन्ड 'स्किन' इनमें तैयार होते हैं। (४) यन्त्र चालित टेनरीज़—इनकी संख्या लगभग ३४ के है जिनमें से २६ बड़ी टेनरीज़ हैं। इनमें 'वेजिटेबल टेन्ड बफेलो लेदर' और 'क्रोम टेन्ड अपर लेदर' तैयार होता है। एक पाली काम करने की हालत में इनकी उत्पादन शक्ति लगभग १२ लाख 'वेजिटेबल टेन्ड' चमड़े और लगभग २० लाख 'क्रोम टेन्ड' चमड़े की है। लगभग ८००० हज़ार व्यक्ति इन टेनरीज़ में काम करते हैं। कानपुर, कलकत्ता, और मद्रास इनके प्रधान केन्द्र हैं। १६४६ में ६ लाख के लगभग क्रोम टेन्ड चमड़ा और १८ लाख के लगभग वेजिटेबल टेन्ड चमड़ा इन टेनरीज़ में तैयार हुआ था।

चमड़े का सामान तैयार करने का उद्योग—इस उद्योग में सबसे महत्वपूर्ण धंधा जूते बनाने का है। ये हाथ से कुटीर उद्योग और फक्टरी उद्योग दोनों के आधार पर तैयार किये जाते हैं। हाथ से फैक्टरी के आधार पर जूते बनाने का सबसे बड़ा केन्द्र आगरा है जहाँ लगभग १५० जूते तैयार करने की फैक्टरियाँ हैं। आगरे के बाद बम्बई और कलकत्ते का नम्बर आता है। कुटीर उद्योग के आधार पर जूते बनाने का काम सारे देश में फैला हुआ है। आगरा,

कलकत्ता और बम्बई कुटीर उद्योग के भी प्रधान केन्द्र हैं। राजस्थान में जयपुर और जोधपुर की जूतियाँ मशहूर हैं। ऐसा अनुमान है कि लगभग ७ करोड़ जोड़ी जूते और १ करोड़ २० लाख जोड़ी बूट जूते इन कुटीर और छोटे पैमाने के कारखानों में हाथ से तैयार होते हैं। हमारे देश में यंत्र से चलने वाली जूते बनाने की केवल ६ फैक्टरियां हैं—कलकत्ता, बाटानगर, मद्रास,बम्बई, और बंगलोर में एक-एक और आगरा और कानपुर में दो-दो। इनमें ४७ लाख जोड़े जूते तैयार किये जा सकते हैं। जूतों के अलावा चमड़े का और सामान भी हमारे देश में बनने लगा है—जैसे चमड़े के बेल्ट, पिकर्स, रोलर स्किन्स आदि तथा व्यक्तिगत सामान और यात्रा का सामान। चमड़े के काम के दो बड़े केन्द्र बम्बई और कलकत्ते हैं। इनके अलावा और कई जगह भी यह उद्योग चलता है।

टेनिंग और चमड़े के उद्योग की प्रगति—टेनिंग और चमड़े के उद्योग की प्रगति पहले महायुद्ध के समय से विशेष रूप से हुई। द्वितीय महायुद्ध के समय इन उद्योगों को और प्रोत्साहन मिला। भारत के टेनिंग उद्योग की प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई टेनिंग पदार्थों की खास तौर से बाटल की छाल की कमी की है। देश के विभाजन से कच्चे चमड़े की खास तौर से पाकिस्तान के बढ़िया चमड़े की भी कठिनाई होने लगी है। 'बाटल वृक्ष' की पैदावार हमारे देश में बढ़ाने की आवश्यकता है। जो कच्चा माल बाहर से ही मंगाना आवश्यक है, उसके आयात की सुविधा होनी चाहिये और जो देश में पैदा किया जा सकता है उसे यहाँ पैदा करने का प्रयत्न होना चाहिये। चमड़े को बढ़िया बनाने के लिये भी कई सुधार आवश्यक हैं। टेनिंग के काम में आने वाली कई मशीनें हमारे देश में बनती हैं। पर जो ज्यादा पेचीदा मशीनें हैं उन्हें बाहर से मंगाना होता है। जूते बनाने की मशीनें भी बाहर से ही आती हैं। टेकनिकल कामों के लिये लोगों को शिक्षा देने की कई राज्यों की ट्रेनिंग इंस्टीट्यूटस में सुविधा है। एक केन्द्रीय चमड़ा अनुसंधान संस्था भी स्थापित होने वाली है।

पिछले वर्षों में गत महायुद्ध के समय से चमड़े के उद्योग का उत्पादन कम हुआ है। कच्चे चमड़े, टेनिंग में काम में आने वाले पदार्थ और रासायनिक पदार्थ की, और देश के विभाजन से होने वाली माँग की कमी इस कम उत्पादन के खास-खास कारण हैं। उद्योग की भावी प्रगति की दृष्टि से यह आवश्यक है कि टेनेरीज़ गांवों में जहां कच्चा माल पैदा होता है, स्थापित की जावें। गाँवों में रहने वाले चमारों को नए ढंग के काम की शिक्षा दी जानी चाहिये। योजना आयोग इस उद्योग के विकास की योजना पर विचार कर रहा है। देश में इस

उद्योग को भारी प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि कच्चे चमड़े, रासायनिक पदार्थ, रंग और मशीनों के मामले में हमारी विदेशों पर निर्भरता कम हो। यूरोप और अमेरिका के मुकाबले में हमारा यह उद्योग अभी कम उन्नत है।

तेल का मिल उद्योग—भारत में तिलहन का अच्छी पैदावार होती है, यद्यपि पिछले कई वर्षों में उसमें कोई वृद्धि नहीं हुई है। भारत और पाकिस्तान दोनों का तिलहन का सम्मिलित उत्पादन ७० ८० लाख टन का माना जाता था। भारत में तिलहन का कुल उत्पादन कितना होता है, इस सबंध में बहुत पक्के आंकड़े तो उपलब्ध नहीं हैं पर अनुमान यह है कि लगभग ५० लाख टन तिलहन इस समय हमारे देश में उत्पन्न होता है। खास-खास तिलहन जो भारत में पैदा होते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—अलसी (लिनसीड), मूँगफली (ग्राउंड नट), तिल (सिसेमम सीड), बिनौला (कोटन सीड), सरसों (मस्टर्ड), नारियल (कोपरा), अंडी (केस्टर सीड) और महुआ। देश के विभाजन से तिलहन के उत्पादन पर कोई खास असर नहीं हुआ है।

द्वितीय महायुद्ध के समय तक भारत से काफी तिलहन विदेशों को निर्यात होता था। इससे देश को आर्थिक हानि होती थी। द्वितीय महायुद्ध के समय से तिलहन के निर्यात में काफी कमी आई है। सन् १९३८ ३९ में १६ करोड़ रुपये के तिलहन हमारे देश से बाहर निर्यात हुए थे। इसके मुकाबले में १९४८ ४९ में मूल्य में तीन गुनी वृद्धि हो जाने के बाद भी कुल ११ करोड़ रुपये के तिलहन का ही निर्यात हुआ था।

हमारे देश में तिलहन से तेल कई प्रकार से तैयार किया जाता है, जैसे देशी घानियों द्वारा जो बैलों से चलती हैं हाथ से चलाये जाने वाले स्क्रू प्रैसेज द्वारा, रोटरी मिल्स द्वारा जो शक्ति से चलती हैं, एक्सपेलर्स द्वारा, और हाइड्रौलिक प्रेसेज द्वारा। उपर्युक्त तरीकों में से घानी का देश में सर्वत्र प्रचार है। तेल के उद्योग को सबसे पहले प्रथम महायुद्ध के समय में प्रोत्साहन मिला। दूसरे महायुद्ध ने इस उद्योग को और अधिक प्रोत्साहन दिया। भारत सरकार ने पिछले कुछ वर्षों में तेल उद्योग की प्रगति की ओर कुछ ध्यान दिया है। घानी से तेल तैयार करने के तरीकों में काफी सुधार की गुंजाइश है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्थापित ग्रामोद्योग संघ इस में सुधार करने का बराबर प्रयत्न करता आ रहा है। इंडियन ऑयल सीड्स कमेटी ने भी देशी घानी को लोकप्रिय बनाने का कुछ प्रयत्न किया है पर इस प्रयत्न को बराबर आगे बढ़ाते रहने की आवश्यकता है।

देश में तिलहन का उपयोग तेल-उत्पादन में अधिक से अधिक होना

चाहिये इस में कोई संदेह नहीं। तेल उद्योग की उन्नति से हमें कई लाभ हैं। देश में काम की सुविधा बढ़ती है। खली और तेल दोनों का लाभ हमें मिलता है। खली जानवरों के लिये बहुत उपयोगी भोजन है। तेल भी अनेकों कामों मे आता है—जैसे भोजन में, साबुन, पेंट, वार्निश आदि तैयार करने में और मशीनों आदि के लगाने में।

तेल उद्योग की उन्नति के मार्ग में अबतक जो अनेकों कठिनाइयां अनुभव की गई हैं वे ये हैं—तिलहन के आयात पर विदेशों में कोई कर नहीं लगता, तेल और खल के मुकाबले में तिलहन पर लाने-लेजाने का किराया कम लगता है, मशीन में तैयार खल के उपयोग करने में भारतीय किसान को झिझक रहती है, न वह जानवरों को खिलाना पसंद करता है और न खाद के रूप में उपयोग करता। पर जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, गत महायुद्ध के समय हमारे तेल-उद्योग ने प्रगति की है। भविष्य में इसे अधिक उन्नत बनाने की आवश्यकता है।

तेल-उद्योग के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हाथ की घानी के उद्योग को प्रोत्साहन देने से सम्बन्ध रखता है। लाखों परिवार आज इस उद्योग पर निर्भर हैं। उनकी भी स्थिति दूसरे कुटीर उद्योगों में लगे लोगों की तरह अच्छी नहीं है। उनकी स्थिति को सुधारने और शुद्ध तेल की उत्पत्ति को बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि इस उद्योग को जीवित रखा जाये और मिल-उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा से इसकी रक्षा की जावे। भारत सरकार और राज्य की सरकारों को इस ओर अधिक व्यवस्थित प्रयत्न करना चाहिये।

वनस्पती घी का उद्योग—पिछले १५-२० वर्षों में वनस्पती घी का इस देश में बहुत प्रचार हुआ है और यह बड़ा वाद-विवाद का विषय बना हुआ है कि वनस्पति घी स्वास्थ्य के लिये हानिकर है या नहीं। विशेषज्ञों में मतभेद है और इस उद्योग से लाभ उठाने वाले पूँजीपति इसके पक्ष में खूब प्रचार कर रहे हैं, और वैज्ञानिकों की इसमें सहायता ले रहे हैं। इतना तो वनस्पती के पक्ष के लोग भी स्वीकार करते हैं कि जितना रुपया इसमें आदमी खर्च करता है उसके अनुपात में उसे बहुत कम उपयोग मिलता है। एक बड़ी अजीब दलील यह दी जाती है कि शुद्ध घी तो मिलता नहीं है, इसलिये इस वनस्पती घी का ही उपयोग करना अच्छा है। वास्तव में वनस्पती घी स्वास्थ्य के लिये हानिकर हो या न हो, पर उसमें वे तत्व नहीं मिलते जो घी में मिलते हैं। इसका उत्पादन देश में कानून से बन्द होना चाहिये। शुद्ध घी के लिये वनस्पती घी एक बड़ा खतरा साबित हुआ है। वनस्पती घी की अपेक्षा शुद्ध तेल का उपयोग करना

कहीं अच्छा है। इससे देश का नष्ट होता हुआ उद्योग जीवित रह सकेगा और यह स्वास्थ्य के लिये लाभदायक होगा।

हमारे देश में इस उद्योग का आरम्भ १६३० में हुआ था। १९४६ में ३८ फैक्टरियाँ वनस्पती घी का उत्पादन करने वाली थीं और लगभग १३ लाख टन वनस्पती घी इस देश में बिका था। भारत सरकार की नीति इस उद्योग के बारे में स्पष्ट नहीं है। यह नीति स्पष्ट होनी चाहिये और इस उद्योग को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये।

कागज का व्यापार—भारत में काग़ज़ दो तरह से बनता है—हाथ से और मिल से। यहाँ हम मिल में बने कागज के उद्योग के सम्बन्ध में विचार करेंगे। हमारे देश में १५ मिलें कागज (लुग्दी से) तैयार करती हैं। इनमें से तीन मिलों में लुग्दी से सख्त कागज़ (पल्प बोर्ड) भी तैयार किया जाता है। इनके अलावा १७ मिलें स्ट्रॉ बोर्ड (स्ट्रॉ से तैयार किया जाने वाला सख्त काग़ज़) तैयार करती हैं। मोटे रूप से तीन प्रकार का कागज़ होता है—लुग्दी से बना साधारण कागज़ और सख्त काग़ज़, स्ट्रॉ से बना सख्त काग़ज़, और अख़बार का कागज। हमारे कागज के मिल उद्योग की सब प्रकार के कागज़ की वर्तमान उत्पादन क्षमता १,१५,००० (एक लाख पन्द्रह हजार) टन है। १९४६ में कुल उत्पादन १ लाख ३ हजार टन के आस पास था और १९५० का उत्पादन इससे भी अधिक हुआ है। हमारी आवश्यकता से कुछ कम लुग्दी हमारे देश में पैदा होती है। इसलिये कुछ लुग्दी ख़ास कर रासायनिक लुग्दी, बाहर से मँगानी पड़ती है। पिछले तीन साल के आँकड़ों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि हमारे देश में प्रति वर्ष १ लाख ७५ हज़ार टन काग़ज़ की खपत है। भारत बाहर से सब तरह का कागज मँगाता है। अख़बार का कागज़ तो सब का सब ही विदेश से आता है। १९४९-५० में कुल ६३ हज़ार टन के लगभग काग़ज़, जिसकी क़ीमत ५ करोड़ ३६ लाख रुपया थी, बाहर से भारत में आया। बाहर से आयात की गई कागज़ बनाने के काम में आने वाली चीज़ों की मात्रा १४ हज़ार टन के लगभग थी और उनकी क़ीमत ६४ लाख रुपये के आस पास थी। इसी वर्ष में भारत से ५० लाख रुपये से ऊपर का नौ हजार टन काग़ज़, पेपर बोर्ड, और कागज के काम में आने वाली चीज़ों का निर्यात भी हुआ। कागज़ का अधिकांश मिलें पश्चिमी बङ्गाल में हैं जहाँ कुल उत्पादन का लगभग ५० प्रतिशत कागज तैयार होता है। देश के विभाजन का इस उद्योग पर कच्चे माल की दृष्टि से थोड़ा असर पड़ा है। जहाँ तक कागज़ की मिलों का प्रश्न है सभी मिलें भारत में ही रहा हैं। सरास ऑव मैन्यूफैक्चरस (१९४६) के हिसाब से २२

हजार आदमी इस उद्योग में काम करते थे और ७ करोड़ रुपये की पूँजी इस उद्योग में लगी हुई थी।

भारत में काग़ज़ का मिल उद्योग १८६७ में आरम्भ हुआ। इसी साल हुगली नदी के किनारे वाली मिल स्थापित हुई पर वह मिल असफल रही। बाद में १८८२ में काग़ज़ की मशहूर टीटागढ़ मिल्स स्थापित हुई। इसी समय के आस पास लखनऊ, पूना, रानीगंज, बम्बई आदि स्थानों में भी कुछ मिलें स्थापित हुईं। प्रथम महायुद्ध के समय तक इस उद्योग को विशेष सफलता नहीं मिली थी। विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा इसके मार्ग में सब से बड़ी कठिनाई थी। जब प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ तो बाहर से काग़ज़ का आना कम हो गया और देश के उद्योग को इससे प्रोत्साहन मिला। १९२५ में जब बेम्बू पेपर प्रोटेक्शन एक्ट पास हुआ तो इस उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिला। बाँस की लुग्दी का काग़ज़ बनाने के काम में ख़ास तौर से उपयोग होने लगा और बाहर से कागज बनाने के लिये लकड़ी की लुग्दी का आयात बहुत कम हो गया। द्वितीय महायुद्ध के शुरू होते ही बाहर से आने वाला कागज़ करीब करीब बन्द हो गया। हमारी मिलों ने अपने उत्पादन को बढ़ाया, और अपने देश की आवश्यकता को पूरी करने का उन्होंने प्रयत्न किया। कई प्रकार का नया काग़ज भी तैयार होने लगा। आज हमारे देश में विभिन्न प्रकार का काग़ज़ तैयार होता है, जिसमें टिश्यू, एयर मेल, बैंक, बॉंड, लेजर, कारट्रीजेज, क्रैफ्ट और बोर्डस का कागज़ भी शामिल है। १९४७ के अप्रैल से कागज़ उद्योग से संरक्षण हटा दिया गया है।

काग़ज़ के मिल-उद्योग के भविष्य के बारे कई बातें विचारणीय हैं। सब से पहली बात कच्चे माल की है। इस समय लकड़ी की लुग्दी, घास, बाँस, चिथड़े, रद्दी कागज़, रद्दी जूट, बेगेसी और फूस काग़ज़ बनाने के काम में हमारी मिलों में आता है। कुछ समय भारत में पाया जाने वाला 'सबाई घास' काग़ज बनाने के लिये सब से अधिक काम में आता था। पर अब बाँस ने उसका स्थान ले लिया है। बाँस का बना कागज़ घास के बने काग़ज़ से अच्छा और टिकाऊ होता है। लकड़ी की लुग्दी अभी बाहर से ही आती है। पर भारत में पाइन, स्प्रूस, और फर की ऐसी लकड़ी हैं जो इस काम में आ सकती है। रद्दी कागज और बेगेसी का भी अधिकाधिक उपयोग करने का प्रयत्न किया जाना आवश्यक है। काग़ज़ की मिलों को पर्याप्त मात्रा में गन्धक और कास्टिक सोडा भी प्राप्त नहीं होता है। इस कठिनाई को दूर करने की भी आवश्यकता है। हमारे काग़ज़ उद्योग के सामने एक समस्या अख़बार के काग़ज़ तैयार करने की है। हमारे देश में

इस समय लगभग ३०-४० हजार टन न्यूज़ प्रिंट प्रति वर्ष खर्च होता है और वह सब का सब बाहर से आता है। न्यूज़ प्रिंट तैयार करने की ओर अब हमारे देश में भी ध्यान गया है। मध्य प्रदेश में इस सम्बन्ध में एक योजना तैयार की गई है और उसे कार्यान्वित किया जा रहा है। न्यूज़ प्रिंट के लिये सिल्वर फर और स्प्रूस कच्चे माल के रूप में काम आ सकता है और इनकी देश में पर्याप्त मात्रा है। परन्तु सलनरी से भी न्यूज़ प्रिंट तैयार किया जा सकता है, यह फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट देहरादून में किये गये प्रयोगों से प्रमाणित हो चुका है। हैदराबाद का सिरपुर पेपर मिल में भी न्यूज़ प्रिंट तैयार करने के लिए प्लांट लगाया जा रहा है जो १५ हजार टन न्यूज़ प्रिंट प्रति वर्ष तैयार कर सकेगा।

भारत में कागज़ की माँग भविष्य में बढ़ने वाली है। ऐसा अनुमान है कि १९५६ तक २ लाख टन कागज़ का प्रति वर्ष हमें आवश्यकता होने लगेगी। मौजूदा मिलों में से कुछ में उत्पादन शक्ति बढ़ाने की योजना है। इससे यह आशा है कि १९५२ के अन्त तक भारत में १ लाख ८० हजार टन कागज प्रति वर्ष तैयार किया जा सकेगा। कागज और न्यूज़ प्रिंट तैयार करने के लिए चार नई मिलों की स्थापना करने की योजना है। इनमें से एक ने तो काम करना प्रारम्भ भी कर दिया है, एक इस वर्ष और एक अगले वर्ष में काम शुरू कर सकेंगी, और चौथी मिल न्यूज़ प्रिंट ही तैयार करेगी। इस देश में कागज़ के उद्योग की उन्नति के लिये कितना गुंजाइश है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ भारत में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष १ पौंड कागज़ खर्च होता है, वहाँ अमरिका में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष ३०० पौंड, कनाडा में १८५ पौंड और यूनाइटेड किंगडम में १५७ पौंड का खर्च है। जैसे-जैसे देश में शिक्षा का प्रचार होगा कागज़ की माँग भी बढ़ेगी। इसका परिणाम कागज़ के उद्योग के लिये अच्छा आयगा। हमारे देश में कागज के उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है।

दियासलाई का उद्योग—दियासलाई का उद्योग कुटीर उद्योग और फैक्टरी उद्योग—दोनों के आधार पर चलता है। कुटीर उद्योग का हिस्सा भी काफी बड़ा है। जहाँ तक दियासलाई की फैक्टरियों का सवाल है भारत में कुल २६ फैक्टरियाँ हैं। इन में सब से प्रमुख फैक्टरी 'विमको' है। यह स्वेडिश फर्म है जिसकी भारत के बड़े-बड़े शहरों में शाखायें भी हैं। सेंसस आफ मेन्यूफेक्चरर्स के अनुसार जिसमें केवल ६४% उद्योग के आँकड़ों का समावेश है, इस उद्योग में लगभग १२ हजार आदमी काम करते थे, और २ करोड़ ११ लाख की पूँजी लगी हुई थी। इस उद्योग का वर्तमान उत्पादन-क्षमता ७ लाख केस [६० तीलों के ५० गॉस बक्स एक केस में होते हैं। प्रति वर्ष है। पर यह आँकड़े बहुत

विश्वसनीय नहीं माने जा सकते। इस देश में दियासलाई तैयार करने वाली सबसे बड़ी कंपनी 'विमको' [वेस्टर्न इंडिया मेच कंपनी], जिसकी ५ फेक्टरियाँ हैं, कुल उत्पादन शक्ति के ⅔ भाग के लिये जिम्मेदार है। यह कंपनी दियासलाई तैयार करने के काम में आने वाली कुछ चीजें, जैसे पोटेशियम क्लोरेट और ग्लू का भी उत्पादन करती है। पोटेशियम क्लोरेट का कुछ भाग दियासलाई तैयार करने वाली दूसरी फेक्टरियों को भी इस कंपनी से मिलता है। प्रति वर्ष दियासलाई का उत्पादन ५५ लाख केसेज़ के आस पास है और देश की आवश्यकता भी ५ लाख केसेज़ की है। इसका अर्थ यह है कि हमारी आवश्यकता के अनुसार दियासलाइयां हमारे देश में ही तैयार करली जाती हैं।

हमारे देश में दियासलाई का उद्योग खास तौर से प्रथम महायुद्ध के बाद १६२२ से आरंभ होता है। इस वर्ष दियासलाई पर जो आयात-कर लगता था उसे दुगुना कर दिया गया था और इसी कारण इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला था। यह आयात-कर प्रति ग्रोस बक्स १ रु० ८ आ० कर दिया गया था। इसके पहले अहमदाबाद की गुजरात इस्लाम मेच फेक्टरी ही देश की एक मात्र सफल दियासलाई तैयार करने वाली फेक्टरी थी। १६३२ में जब दियासलाई पर आयात-कर बढ़ गया तो उससे लाभ उठाने के लिये स्वेडिश फर्में इस देश में स्थापित की गईं और दियासलाई के उद्योग में आज भी उनकी प्रधानता है। इसके अलावा बाहर से आने वाली स्वेडिश मेचेज की प्रतिस्पर्द्धा भी हमारे उद्योग के लिये एक बड़ी समस्या के रूप में पैदा हो गई। भारतीय दियासलाई-उद्योग ने संरक्षण की मांग की और १६२८ में संरक्षण स्वीकार किया गया। पर यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि संरक्षण की मांग दियासलाई के उद्योग के उस भाग ने की थी जो भारतीयों के हाथ में था और वह संरक्षण न केवल बाहर से आने वाली दियासलाइयों के खिलाफ चाहते थे बल्कि भारत में ही जो स्वेडिश फेक्टरियां काम कर रहीं थीं उनके विरुद्ध भी संरक्षण चाहा गया था। पर टेरिफ़ बोर्ड के सामने तत्कालीन सरकार ने समस्या के इस पक्ष को उपस्थित नहीं किया था और इसलिये जो संरक्षण मिला उसका लाभ समान रूप से भारत स्थित सब फ़ेक्टरियों को मिला फिर चाहे वे भारतीयों के हाथ में हों अथवा विदेशियों के हाथ में। इसका नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश कंपनियों की प्रधानता इस उद्योग में बराबर बढ़ती गई। आज स्थिति यह है, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, कि १६४८ में विमको की पाँचों फ़ेक्टरियों का उत्पादन १ करोड़ ८० लाख ग्रोस मेचेज था जब कि बाकी के २०० दियासलाइयों के उत्पादन करने वालों का कुल उत्पादन केवल ८० लाख

ग्रोस मजेज़ के लगभग था। इसका सीधा सादा अर्थ यह है कि इस देश के दियासलाई-उद्योग पर विदेशियों का प्रभुत्व कायम है।

दियासलाई उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है। ऐसी आशा है कि आगामी पाँच वर्षों में इस देश की खपत में ५ प्रतिशत वृद्धि (२५००० ग्रोस) हो सकती। इस उद्योग को भी दूसरे उद्योगों की तरह सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि कच्चा माल उचित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होता। दियासलाई के कच्चे लकड़ी और रासायनिक पदार्थ खास तौर से पोटासियम और गंधक की बड़ी कठिनाई अनुभव हो रही है। इनका मूल्य और मजदूरों का वेतन बढ़ता जा रहा है और इस कारण से उत्पादन लागत भी बढ़ती जा रही है। दियासलाई की कीमत सरकार निश्चित करती है और यह शिकायत है कि इस कीमत में मुनाफे की गुंजाइश बहुत कम है। इस उद्योग की दृष्टि से पर्याप्त लकड़ी मिलने के लिए समुचित व्यवस्था करना भी जरूरी है। हमारे देश में हिमाचल प्रदेश के नार्थ-ईस्टर्न जंगलों और बम्बई तथा मद्रास राज्य के जंगलों का इस उद्योग के लिए उपयोग किया जा सकता है। उपर्युक्त बातों की ओर आवश्यक ध्यान देने पर हमारे देश का दियासलाई का उद्योग और भी उन्नत हो सकता है। भारतीय और स्वदेशी कंपनियों के बीच में जो प्रतिस्पर्धा है वह तो ज्यों की त्यों बनी ही हुई है।

काँच का उद्योग—हमारे देश में काँच के सामान बनाने के कारखानों की संख्या १०१ है। इसके अलावा ३२ कारखानों ने पिछले दो वर्षों में उत्पादन शुरू कर दिया है। पहले १०१ कारखानों का उत्पादन क्षमता १ लाख ८३ हजार टन के आस पास है और बाकी के ३२ कारखानों की उत्पादन क्षमता २८ हजार टन है—इस प्रकार कुल उत्पादन क्षमता २ लाख ११ हजार टन के लगभग है। इन कारखानों में कई तरह का काँच का सामान तैयार होता है, जैसे—बोतल जार, लैम्प का सामान, बल्ब, टम्बलर, लेबोरेटरी का सामान, आदि। इसके अलावा ७ कारखाने काँच की चद्दरें (शीट ग्लास) तैयार करते हैं और उनकी उत्पादन क्षमता २ करोड़ ३४ लाख वर्ग फीट है। लगभग १०० कारखाने चूड़ियाँ बनाने के हैं जिनमें से अधिकांश कुटीर उद्योग के रूप में काम करते हैं। चूड़ी के कुटीर उद्योग का सबसे बड़ा केन्द्र उत्तर प्रदेश में फीरोज़ाबाद है। काँच के फैक्टरी उद्योग के प्रमुख केन्द्र उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद और नैनी, कलकत्ता, बंबई, जबलपुर, अम्बाला आदि हैं। जहाँ तक वास्तविक उत्पादन का सवाल है काँच का विभिन्न प्रकार के सामान का १९५० का उत्पादन ८१ हजार टन था। काँच के चद्दर का १९५० का उत्पादन लगभग ९५ लाख

वर्ग फ़ीट था। १९४४-४५ में काँच के चद्दरों का उत्पादन १ करोड़ ३० लाख वर्ग फीट तक पहुँच गया था। काँच और काँच के सामान की देश में कुल खपत १० करोड़ रुपये से ऊपर की होती है जिसमें से ८ करोड़ रुपये का माल हमारे देश में पैदा होता है।

भारत में काँच का उद्योग बहुत पुराने ज़माने से चला आ रहा है। आधुनिक ढंग के उद्योग का गत शताब्दी के अन्तिम दस वर्षों में आरम्भ करने के कई प्रयत्न हुए पर उनको सफलता नहीं मिली। स्वदेशी आंदोलन के समय भी कई काँच के कारखाने स्थापित हुए, पर उनमें से कुछ ही जीवित रह सके। प्रथम महायुद्ध के समय इस उद्योग को वास्तविक प्रोत्साहन मिला। इस उद्योग ने संरक्षण की १९३२ में मांग की थी। पर उसकी यह मांग अस्वीकार कर दी गई। हां, सोडा एश पर लगने वाले आयात-कर में अवश्य यह रियायत की गई कि जो सोडा एश काँच के उद्योग के काम में आएगा उस पर लगा आयात कर वापस कर दिया जायगा। यह रियायत गत वर्ष बंद कर दी गई। गत महायुद्ध के समय इस उद्योग को फिर प्रोत्साहन मिला क्योंकि विदेशों से माल आना बन्द या बहुत कम हो गया। गत वर्ष काँच के चद्दर के उद्योग को संरक्षण भी दिया गया है।

काँच के उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल में कोयला, रेत और चूना पत्थर तो भारत में मिलता है। रिफ्रैक्टरीज़ भी हमारे देश में तैयार तो होता है पर काँच के उद्योग की दृष्टि से वह हल्के दर्जे का होता है। भारी सोडा एश भी बाहर से ही मँगाना पड़ता है और काँच-उद्योग की भारी सोडा एश पर लगने वाले आयात-कर में वापिस रियायत मिलने की मांग है। इस बारे में यह भी विचारणीय है कि काँच के कारखाने अपने प्लान्ट में ऐसा परिवर्तन करलें कि जिससे देश में तैयार होने वाला हल्का सोडा एश उनके काम में आ सके। कुछ और रासायनिक पदार्थ भी काँच उद्योग को विदेशों से मंगाने पड़ते हैं, जैसे बोरेक्स, आरसनिक ऑक्साइड, सोडियम नाइट्रेट आदि। हमारे देश में तैयार होने वाला काँच का सामान बढ़िया दर्जे का हो इसके लिये सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि रेत को ठीक प्रकार से तैयार किया जाये और उसे साफ किया जाये। सेन्ड-वाशिंग प्लान्टस की हमारे बड़े-बड़े कारखानों में स्थापना होनी चाहिये। जो छोटे कारखाने हैं उनको मिलकर यह व्यवस्था करनी चाहिये। ट्रावन्कोर में जो रेत होती है वह बढ़िया होती है और उसे साफ़ करने की आवश्यकता नहीं है। सेन्ट्रल ग्लास एंड सिरेमिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता में खोज के जो साधन उपलब्ध हैं उनका कच्चे और तैयार माल को वहाँ भेज कर पूरा पूरा लाभ

उठाना चाहिये। हमारे काँच उद्योग के सामने एक सवाल ऑटोमेटिक मशीनों को लगाने का है। इस समय केवल तीन कारखानों में ऑटोमेटिक मशीनरी हैं। ऑटोमेटिक मशीनों को ज्यादा समझ सोच कर लगाने की जरूरत है क्योंकि ऐसी मशीनरी में बड़े पैमाने पर तैयार माल का बाज़ार हमारे देश में सीमित है। इस मशीनरी के कुछ लाभ भी हैं जैसे कच्चे माल में किफायत होती है।

देश के विभाजन से हमारे काँच के उद्योग को कोई खास हानि नहीं पहुँची। कुछ तो कच्चे माल पर असर पड़ा, जैसे सोडा से बम्बई के काँच के कारखाने सोडा ऐश बंगाल से और पश्चिमी पंजाब से पोटेशियम नाइट्रेट भी हमारे ... के कारखानों के लिए आता था। पर यह कमी अब पूरी कर ली गई है। पाकिस्तान में काँच के सामान के लिये बाज़ार भी है। इस बाज़ार पर हम आज कितना निर्भर रह सकते हैं यह कहना कठिन है। इसके अलावा जब पाकिस्तान अपना काँच उद्योग विकसित कर लेगा तब तो हमारा यह बाज़ार समाप्त ही हो जायगा। पाकिस्तान में काँच बनाने का रेत और सोडा ऐश जैसे कच्चे माल के होने से काँच के उद्योग का विकास होना स्वाभाविक है।

हमारे देश में काँच का सामान बाहर से भी काफी आता है। लंका और मलाया के देशों को हमारे देश से काँच का सामान निर्यात भी होता है। इस समय हमारा निर्यात व्यापार बहुत थोड़ा है। इंगलैण्ड जैसे देशों की स्पर्द्धा इसका एक कारण है।

सीमेंट का उद्योग—हमारे देश में सीमेन्ट तैयार करने के २१ कारखाने हैं जो देश भर में फैले हुए हैं। एसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनीज़ और डालमिया सीमेन्ट, सीमेंट तैयार करने वाले प्रमुख उत्पादक हैं। सीमेन्ट के उपर्युक्त २१ कारखानों की उत्पादन क्षमता २६ लाख टन के आस पास कूती जाती है और १९४९ में वास्तविक उत्पादन २१ लाख टन हुआ था।

हमारे देश में सीमेंट का पहला कारखाना १९०४ में मद्रास में स्थापित हुआ था पर प्रथम महायुद्ध के समय तक इस उद्योग का हमारे देश में विकास नहीं के बराबर हुआ था। प्रथम महायुद्ध और उसके बाद की तेजी के कारण इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। १९२४ के आस पास सीमेन्ट के कारखानों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ हुई। बाहर से आने वाले सीमेन्ट की प्रतिस्पर्द्धा भी थी ही। इस का मुकाबला करने के लिये सरकार से संरक्षण की माँग की गई पर यह नामंजूर हो गई। आपसी प्रतिस्पर्द्धा के रोकने की दृष्टि से विभिन्न कारखानों ने मिलकर काम करने का प्रयत्न किया और—डालमिया के कारखानों

के 'एसोसियेशन' स्थापित किये गये। इन्हीं प्रयत्नों का अन्तिम परिणाम १९३५ में 'एसोसियेटेड सीमेन्ट कंपनीज़ लिमिटेड' की स्थापना के रूप में आया। उस समय की सीमेंट की सब कंपनियां इस एसोसियेशन में मिल गईं। इस से देश का सीमेन्ट उद्योग सुसंगठित हो गया। बाहर के माल की प्रतिस्पर्द्धा कम हो गई, सस्ते दाम पर सीमेंट तैयार होने लगा और बिक्री भी बढ़ गई। १९३८ में इस उद्योग के सामने फिर कठिनाई उपस्थित हुई। डालमिया ग्रुप की सीमेंट की कम्पनियाँ क़ायम हुईं और उन्होंने 'एसोसियेटेड कंपनीज़' के साथ प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ कर दी। १९४० में डालमिया ग्रुप और एसोशियेटेड कंपनीज दोनों का माल एक ही केन्द्रीय संगठन के द्वारा बेचने का तय हो गया और 'सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी आव इण्डिया लि०' की स्थापना हुई। इसी बीच में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो चुका था। कच्चे माल की कीमत बढ़ने से सीमेंट की कीमत भी बढ़ी। निर्यात और देश के अन्दर की सीमेंट की मांग भी बढ़ी और युद्ध के समय में मध्य और सुदूरपूर्व के लिये भारत से सीमेंट जाने लगा। युद्ध समाप्त होने के बाद सरकार की मांग कम हो गई पर सरकार और जनता की सम्मिलित मांग में काफ़ी वृद्धि हुई है। मार्च १९४८ से डालमिया ग्रुप और एसोशियेटेड कम्पनीज फिर अलग हो गये हैं और अब वे अपना-अपना माल अलग से बेचते हैं। सीमेंट देश का एक बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण उद्योग है और उसका भावी विकास देश के लिये ज़रूरी है।

इस उद्योग के मार्ग में कुछ कठिनाइयां हैं। कोयले और जलाने के काम में (फ्यूल) आने वाले तेल तथा गनी बेग और बाहर से आने वाले कागज के बेग इन तमाम चीज़ों की कीमतें बढ़ी हुई हैं और उनके मिलने में भी कठिनाई होती है। रेल का किराया भी अधिक है और माल को लाने-लेजाने की सुविधा भी पूरी नहीं मिलती। जिपसम के बारे में भी सवाल तो है, पर यह अनुमान है कि इसकी सीमेंट उद्योग को कमी नहीं रहेगी। जहां तक सीमेंट की मांग का सवाल है उसका क्षेत्र काफी है। सार्वजनिक निर्माण के कामों में, मकानों में सीमेंट की मांग बराबर बढ़ने ही वाली है। दूसरे देशों में, खास तौर से एशिया के देशों में भी हमें अपने सीमेंट के लिये बाजार तैयार करना चाहिये। इस बात की भी आवश्यकता है कि सीमेंट के लिये आवश्यक मशीनरी और उसके विभिन्न भाग भी हमारे देश में ही तैयार किये जाय। एक खोज करने वाली संस्था की भी आवश्यकता है। इस बात की बड़ी ज़रूरत है कि टेरिफ बोर्ड जैसी कोई संस्था सीमेंट-उद्योग के हर पहलू की अच्छी तरह से जांच करे। इस जांच के आधार पर ही उपर्युक्त कठिनाइयों का ठीक-ठीक हल निकालना संभव होगा।

एलूमिनियम-उद्योग के विकास के लिए भारत में प्रायः सब सुविधायें हैं। आज के युग में एलूमिनियम का सुरक्षा तथा औद्योगिक दोनों ही दृष्टि से बहुत महत्त्व है। इसी वास्ते सरकार ने इस उद्योग को आधारभूत उद्योग घोषित किया है। भारत के एलूमिनियम-उद्योग की एक विशेषता यह है कि जब कि यूरोप और अमेरिका में केवल ५% एलूमिनियम बर्तन बनाने के काम में आता है और ९५% दूसरे औद्योगिक उपयोग मे आता है, हमारे यहां केवल ५% दूसरे औद्योगिक उपयोग में आता है। भारत सरकार ने इस उद्योग को संरक्षण दिया है। पर इस सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि संरक्षण का ध्येय इन्गोट के उत्पादन को प्रोत्साहन देना नहीं है, बल्कि भारतीय-इन्गोट से तैयार माल की विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से रक्षा करना है। १९५० में फिर टेरिफ बोर्ड ने इस उद्योग के बारे में जांच आरम्भ की है। आशा है अब संरक्षण के इस पक्ष पर भी पूरा ध्यान दिया जायगा।

अन्य नॉन फेरस धातु उद्योग—भारत में तांबे का वर्तमान उत्पादन ७ हजार टन के आस पास है। और देश की वर्तमान आवश्यकता ५१ हज़ार टन है। घटिया कच्चे तांबे का उपयोग करने पर तांबे का उत्पादन बढ़ सकता है।

भारत में सीसे का वर्तमान उत्पादन ६०० टन है जब कि हमारी वर्तमान वार्षिक आवश्यकता २४,३०० टन है। उदयपुर की जावर की खान मे सीसा और जस्त दोनों ही पाये जाते हैं। सीसा पिघलाने का कारखाना बिहार में कटरासगढ़ में है और उसकी उत्पादन क्षमता ७ हज़ार टन प्रतिवर्ष है। यद्यपि उसका वर्तमान उत्पादन जैसा कि ऊपर बताया गया है केवल ६०० टन है। इस उत्पादन में वृद्धि हो सकती है यदि आवश्यक पूंजी की व्यवस्था की जा सके।

भारत में अभी जस्त और टिन का उत्पादन नहीं होता है। हमारे देश में एन्टिमोनी का उत्पादन द्वितीय महायुद्ध के समय आरम्भ हुआ। इस समय हमारा वार्षिक उत्पादन २५० टन है जब कि हमारी वर्तमान मांग ६०० टन की है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होजाता है कि नॉनफेरस धातु उद्योग का अभी हमारे देश में बहुत कम विकास हुआ है। एलूमिनियम के अलावा नॉनफेरस धातु-उद्योग का जो विवरण ऊपर दिया गया है उसका सम्बन्ध शुद्ध धातु के उत्पादन से ही है। पर एलूमिनियम की तरह दूसरे धातुओं से भी चद्दरे आदि तैयार करने का काम हमारे देश में होता है। सन् १९३९ से इस दिशा में ही सबसे अधिक प्रगति भी हुई है। बम्बई में तांबे और पतली की चद्दरें तैयार करने वाले कई रोलिंग प्लान्ट स्थापित किये गये हैं।

इसी प्रकार सीसे की चद्दरें भी कलकत्ते में आजकल तैयार की जाती हैं। ताँबे पीतल आदि के ट्यूब, राड और बार भी हमारे देश में तैयार होने लगे हैं। ईंटे के पाइप तथा बिजली के तार भी तैयार किये जाते हैं। विभिन्न प्रकार के अलौह धातुओं के एलॉय भी भारत में तैयार किये जाने लगे हैं। जो रद्दी (स्क्रैप) धातु होती है उसे दुबारा सुधारने का काम भी अब हमारे देश में होने लगा है। सरकार ने जून १९४८ में अलौह धातु में तैयार होने वाले उपर्युक्त वस्तुओं को संरक्षण देना स्वीकार कर लिया है।

जहाज निर्माण उद्योग—जहाज बनाने का उद्योग देश के आधारभूत उद्योगों में है। देश के व्यापार और सुरक्षा दोनों ही की दृष्टि से इस उद्योग का बड़ा महत्त्व है। भारत में प्राचीनकाल में जहाज बनाने का उद्योग मौजूद था। पर इस्पात के युग के आरम्भ के साथ इस उद्योग का पतन आरम्भ हुआ और आखिरकार इस उद्योग का अन्त हो गया।

आधुनिक ढंग के जहाज बनाने के लिये जहाज निर्माण गृह की स्थापना सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी ने १९४१ में विजगापट्टम में की। जहाज निर्माण गृह के निर्माण का कार्य युद्ध के कारण पूर्ण तेजी से नहीं चल सका। आखिरकार १९४७ में कम्पनी ने दो बर्थ ८००० से १०००० टनस की निर्माणशक्ति की तैयार करली। इस यार्ड में बना पहला जहाज जल ऊषा था जिसका पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा मार्च १९४८ में जल प्रवेश किया गया। अभी तक सिंधिया कम्पनी के लिये ८००० टन के सामान ले जाने वाले चार जहाज और एक यात्रियों को ले जाने वाला छोटा जहाज विजगापट्टम यार्ड में तैयार किये जा चुके हैं। जहाजों की मरम्मत भी की गई है। यहाँ के बने जहाज अच्छे से अच्छे दर्जे के जहाजों में माने गये हैं। एक जहाज सरकार के लिये भी बनाया जा चुका है विजगापट्टम यार्ड में आठ बर्थ की गुंजाइश है यद्यपि इस समय तक केवल दो बर्थ तैयार की गई हैं। १५००० टन तक के जहाज यहाँ तैयार किये जा सकते हैं। इस उद्योग में अबतक लगभग ४ करोड़ रुपया सिंधिया कम्पनी का लग चुका है। इस जहाज निर्माणगृह के भावी विकास के लिए पूंजी की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस बात की भी जरूरत है कि जहाज बनाने का काम बराबर मिलता रहे। सिंधिया कम्पनी अब अधिक रुपया लगाने की स्थिति में नहीं है। सरकार का विचार इस यार्ड को खरीदने का था पर आर्थिक कठिनाई के कारण यह सम्भव नहीं हो सका है। इस यार्ड में जहाजों के तैयार करने के लिये ८-१० करोड़ रुपये की आवश्यकता और बताई जाती है। जो जहाज इस यार्ड में बनते हैं वे विदेशी जहाजों का

अपेक्षा अधिक खर्चीले पड़ते हैं। इसलिये सरकार से यह मांग की गई है कि वह इस उद्योग को आवश्यक सहायता दे ताकि जहाज़ के निर्माण में जो अधिक खर्च लगे वह सरकार उठा ले। इस यार्ड के सामने तत्काल यह समस्या है कि वह जहाज़ किसके लिये बनावे। इस समय भारत-सरकार के लिये वह तीन जहाज़ बना रहा है। यह काम शीघ्र ही समाप्त होने की आशा है। उसके बाद उसके पास कोई काम नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार कुछ जहाज़ बनवाने का और आदेश दे और इस उद्योग को पूरी आर्थिक सहायता देकर इसकी रक्षा करें।

परिच्छेद ८

व्यापार

भारत का विदेशी व्यापार —अत्यन्त प्राचीन काल से भारत का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भारत और बबीलन में व्यापार होता था। भारत और मिस्र में भी व्यापारिक सम्बन्ध था। और भारत की कलापूर्ण चीजें मिस्र ले जाई जाती थीं। ईसा से २००० वर्ष पुरानी मिस्र की समाधियों में बढ़िया भारतीय मलमल में लिपटी हुई पाई गई हैं। "रोम में भारत में तैयार माल की बहुत खपत थी। एल्डर प्लिनी भी इस बात का समर्थन करता है। उसको यह शिकायत थी कि भारत से व्यापार करने के कारण प्रतिवर्ष बहुत सा रुपया भारत को चला जाता है।" पंडित मालवीय ने औद्योगिक कमीशन की रिपोर्ट में अपने मत भेद सूचक नोट में यह लिखा था कि ढाका की मलमल से यूनान के निवासी परिचित थे और उस 'गैंगेटिका' के नाम से वे जानते थे। बाद में चीन, फारस और अरब से भी भारत का व्यापार होने लगा। उन दिनों विदेशी व्यापार कीमती और बढ़िया वस्तुओं में होता था जैसे बढ़िया कपड़ा, धातु और हाथी दांत का सामान, इत्र, रंग, मसाला आदि। भारत में बाहर से सोना और चांदी ज्यादा तर आता था। इसका अर्थ यह है कि भारत दूसरे देशों को जितने मूल्य का माल निर्यात करता था उस से कम मूल्य का माल दूसरे देशों से वह मंगाता था और इस प्रकार जो अन्तर रह जाता था वह सोना चांदी जैसे कीमती धातु मंगा कर पूरा किया जाता था। भारत बाहर से सीसा, पारा, टिन और कई प्रकार की शराब और घोड़े भी मँगाता था।

मुसलमानों के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण विदेशी व्यापार को बड़ा धक्का लगा। बाद में भारत के उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग से विदेशी व्यापार होने लगा। एक मार्ग लाहौर से काबुल का था और दूसरा मुल्तान से कंधार का। काबुल भारत और पश्चिमी चीन तथा यूरुप के प्रमुख मार्ग पर स्थित था और वहां भारत, फारस और दूसरे पड़ौसी देशों के व्यापारी आपस में मिला करते थे। कंधार भारत से फारस जाने का प्रवेश द्वार था। इन दोनों ही मार्गों से काफी व्यापार होता था। भारत में मुगल शासन के समय यातायात के साधनों में उन्नति तथा उदार व्यापारिक नीति होने से, और उद्योग धंधों को राज्य का संरक्षण मिलने से देश के विदेशी

सागर की यथेष्ट प्रगति हुई। समुद्र तटीय व्यापार की भी इस समय अच्छी प्रगति हुई। भारत के पास अच्छा व्यापारिक समुद्रीय बेड़ा था जिसमें विदेशों से भी व्यापार होता था।

भारत का यह विदेशी व्यापार स्थल और जल-मार्ग से भूमध्य सागर के किनारे तक होता था और वहां से वेनिश और जेनेवा के व्यापारी भारतीय माल को यूरुप के बाजारों में बेचते थे। इस व्यापार के कारण वेनिस और जेनेवा के व्यापारी माला-माल हो गये थे। इससे दूसरे देश के रहने वालों के मन में भी लालच पैदा हुआ और भारत से व्यापारिक संबंध स्थापित करने की दृष्टि से नए मार्ग की खोज में वे लग गये। इसी का नतीजा था कि पुर्तगाल के निवासियों ने केप आव होप गुड हे कर भारत पहुंचने का समुद्री मार्ग ढूँढ निकाला। इस मार्ग के मालूम होते ही विभिन्न यूरुप के देशों के रहने वाले भारत से व्यापार करने में एक दूसरे से होड़ करने लगे। पुर्तगाल, इंगलैंड, हॉलैण्ड और फ्रान्स के निवासियों में जो प्रतिद्वन्द्विता हुई वह सुविख्यात है। इस संघर्ष में आखिरकार इंगलैंड की विजय हुई। और भारत तथा पूर्व के दूसरे देशों के साथ व्यापार का एकाधिकार ईस्ट इंडिया कंपनी को प्राप्त हो गया। अब भारत से भारी माल में भी व्यापार होने लगा था।

ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति आरंभ में अपने व्यापार को बढ़ाने के लिये भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की रही। पर बाद में इंगलैंड के औद्योगिक विकास के फल स्वरुप वहां के पूंजीपतियों के दबाव से भारत के उद्योग-धंधों को नष्ट किया गया, और भारत से यूरुप को कच्चा माल जाने लगा और तैयार माल वहां से आने लगा।

स्वेज नहर का निर्माण—१८६६ में स्वेज नहर का मार्ग खुल जाने से भारत के विदेशी व्यापार में एक नये युग का प्रारंभ हुआ। भारत और यूरुप के बीच का फ़ासला अब लगभग ४५०० मील के कम हो गया और इस कारण से माल के लाने-लेजाने में कम समय लगने लगा। इसी समय कुछ और कारण भी ऐसे उपस्थित हो गये थे जिनसे हमारे विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला। जैसे भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो जाने से राजनैतिक अशांति का अब अन्त हो गया, यातायात के साधनों का विकास होने लगा, बम्बई और स्वेज के बीच में समुद्री तार से संबंध स्थापित हो गया और जहाज़-निर्माण के उद्योग में बड़ी प्रगति होने से व्यापारिक जहाज़ी बेड़ों का भी इसी समय विकास हुआ। अब कम क़ीमत की भारी चीजें भारत से विदेश जाने लगीं। भारत अन्न और कारखानों के लिये कच्चा माल निर्यात करने वाला और विदेशों से कारखानों

म तैयार माल—जैसे कपड़ा, मशीनरी, चाकू छुरी आदि, रेलवे का सामान और काँच का सामान मंगाने वाला देश हो गया। भारत का विदेशी व्यापार इंगलैंड और बाद म जर्मनी, अमेरिका और जापान से खास तौर से होने लगा। यद्यपि कहने के लिये भारत से व्यापार करने की सब देशों को स्वतन्त्रता थी पर वास्तव में इंगलैंड का भारत के विदेशी व्यापार पर प्रभुत्व था। १६ वीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैंड की यह प्रमुखता बनी रही।

भारतीय बाजार के लिये प्रतिस्पर्द्धा—उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी म इंगलैंड को जर्मनी और फिर जापान की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा। इन देशों की सरकारों का अपने व्यापारियों को भारत से व्यापार बढ़ाने के काम म पूरा पूरा सहयोग और समर्थन था। इन देशों ने अपने अपने जहाजों का निर्माण किया, भारत म इन्होंने अपने बैंकों की शाखायें खोलीं, और भारत के प्रमुख नगरों में व्यापारिक गद्दों की इन्होंने स्थापना की। अमेरिका ने शुरू शुरू म भारत के साथ सीधा व्यापारिक संबंध कायम नहीं किया और लन्दन के द्वारा यह भारत से व्यापार करता रहा। पर प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका ने भी भारत के साथ सीधा व्यापार करना शुरू किया।

प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने के समय तक भारत के विदेशी व्यापार में काफी वृद्धि हो चुकी थी। १६१४ के पहले पाँच वर्षों का औसत वार्षिक निर्यात २२४.२३ करोड़ रुपये का और आयात १५१.६० रुपये का था। इसकी तुलना म १८६६ से १६०४ तक का औसत निर्यात १२४.६८ करोड़ रुपये का और आयात ८४.६८ करोड़ रुपये का ही था। प्रथम महायुद्ध के समय म देश के विदेशी व्यापार म कमी आना स्वाभाविक था। शत्रु राष्ट्रों के साथ व्यापार बन्द हो गया। माल लाने-ले जाने के लिये जहाजों की कमी से मित्र राष्ट्रों के साथ के व्यापार में भी कमी आई। तटस्थ देशों के साथ के व्यापार में भी कमी आ गई थी क्योंकि इस बात की सम्भावना रहती थी कि कहीं उनके द्वारा शत्रु राष्ट्रों के पास हमारा माल न पहुँच जाय। जहाजों के किराये में वृद्धि होने से भी विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल असर पड़ा। युद्ध के आखिरी सालों म मित्र राष्ट्रों में युद्ध सामग्री के लिये भारत के माल की माँग बढ़ी और इससे भारत के निर्यात म वृद्धि हुई। भारत के आयात व्यापार में जापान और अमेरिका ने इस समय अपना अच्छा स्थान जमा लिया। जर्मनी से व्यापार बन्द था। ब्रिटेन ब्रिटेन युद्ध सामग्री तैयार करने में लगा हुआ था। भारत स्वयं औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ राष्ट्र था। इसलिये जापान और अमेरिका के लिये यह एक अच्छा मौका आ गया और उन्होंने इसका लाभ भी उठाया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात्—प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के समय से दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने तक भारत के विदेशी व्यापार में कई प्रकार के उतार-चढ़ाव आये। युद्ध के तुरन्त बाद भारत के निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई, क्योंकि युद्ध कालीन प्रतिबन्ध हट गये। किराया कम हो गया और युद्ध के समय में जिन राष्ट्रों से व्यापार बन्द हो गया था वह फिर से चालू हो गया। पर यह स्थिति शीघ्र ही समाप्त हो गई। देश का निर्यात व्यापार कई कारणों से घटने लगा। यूरोपीय देश क्रय शक्ति के अभाव में भारतीय माल विशेष मात्रा में नहीं खरीद सकते थे। ब्रिटेन, अमेरिका और जापान में भी पहले ही से इतना भारतीय माल खरीद लिया गया था कि अब उनके पास भी माल खरीदने की अधिक गुञ्जाइश नहीं थी। भारत में लगातार [१६१८-२१] वर्षों की कमी होने से अनाज की कमी हो गई थी और अनाज के भाव बढ़ गये थे। इसलिये अनाज का निर्यात रोकना पड़ा था। जापान भी आर्थिक संकट में फँस जाने के कारण अधिक माल नहीं मँगा सकता था। भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य को बढ़ा देने से भी निर्यात पर बुरा असर पड़ा था। इधर आयात में वृद्धि होने लगी। युद्ध के कारण जो आयात रुका हुआ था वह अब होने लगा। रुपये का विदेशी विनिमय बढ़ जाने से भी आयात को प्रोत्साहन मिला। नतीजा यह हुआ कि व्यापार संतुलन भारत के प्रतिकूल हो गया। १६२०-२१ में भारत का निर्यात से आयात ७६.८ करोड़ रुपये का अधिक था। पर धीरे-धीरे यह स्थिति बदली और निर्यात-आयात अपनी सामान्य स्थिति में पहुँच गये। यूरोपीय मुद्राओं में अब स्थिरता आ गई थी और यूरोपीय देशों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो गया था। १६२६ तक स्थिति संतोषजनक रही।

पर १६२६ में विश्व-व्यापी मंदी आरम्भ हो गई। विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी आर्थिक सुरक्षा करने की दृष्टि से विदेशी व्यापार पर अनेकों प्रकार के प्रतिबन्ध लगाना शुरू कर दिये। दुनिया के विदेशी व्यापार की मात्रा घटने लगी। भारत कृषि प्रधान देश था और कृषि पदार्थों का मूल्य अधिक गिरा था, इसलिये भारत के विदेशी व्यापार को खास तौर से अधिक हानि हुई। निर्यात की मात्रा बहुत कम हो गई यहां तक कि १६३२-३३ में केवल १३६ करोड़ रुपये का माल भारत से निर्यात हुआ। आयात में भी कमी आई, पर निर्यात के मुकाबले में कम। विश्व-मंदी का असर १६३२ तक रहा। १६३३ से स्थिति में सुधार आने लगा और १६३६ तक स्थिति सामान्य अवस्था में पहुँच गई। पर आयात पर प्रतिबन्ध लगे रहे और इसलिये भारत के विदेशी व्यापार में

के देशों में सबसे अधिक माल हमारे देश से इंग्लैंड को जाता था। आयात की स्थिति इससे भिन्न रही। कामनवेल्थ के देशों का हिस्सा १९२०-२५ में ६५.४% था, वह १९३५-४० में ५३.८% रह गया और दूसरे देशों का हिस्सा इन वर्षों में ३४.६% से बढ़कर ४६.२% हो गया। १९३१-३२ में तो कामनवेल्थ के देशों का हिस्सा ही रह गया था। दूसरे देशों में जापान, जर्मनी और अमेरिका के हिस्सों में बराबर वृद्धि हुई। यद्यपि इम्पीरियल प्रीफेरेंस' के कारण कामनवेल्थ के देशों के आपसी व्यापार प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक था, पर हमारे आयात सम्बन्धी बदली हुई आवश्यकताएँ ऐसी थीं जिनकी पूर्ति इंगलैंड अपेक्षाकृत कम कर सकता था। अब हमारी कच्चे माल और उत्पादन पदार्थों की माँग बढ़ती जा रही थी। इंगलैंड भारत को पहले की अपेक्षा अब कम मात्रा में पूँजी भेजने लगा था और द्विपक्षीय व्यापार का प्रचार हो रहा था, इसका असर भी यही हुआ कि हमारे आयात व्यापार में कामनवेल्थ के देशों का भाग कम होने लगा।

भारत के विदेशी व्यापार का जो विवरण ऊपर दिया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक हमारे विदेशी व्यापार के वही लक्षण थे जो कृषि-प्रधान और औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश के विदेशी व्यापार के होते हैं। हमारे निर्यात व्यापार में कुछ चीजों की प्रधानता थी जैसे कपास, जूट का तैयार माल, अनाज दाल और आटा, कच्चा जूट, कच्चा चमड़ा और तैयार चमड़ा, चाय, बीज, धातु और कच्चा धातु और सूती कपड़ा। आयात में मशीनरी और उपभोग में आने वाली चीजों की प्रधानता थी। हमारा निर्यात व्यापार मुख्यतः कुछ देशों तक ही सीमित था। ब्याज की शकल में हमें विदेशों को बहुत रुपया हर साल चुकाना पड़ता था। प्रति व्यक्ति विदेशी व्यापार की मात्रा बहुत थोड़ी थी और दुनिया के निर्यात व्यापार में जो हमारा हिस्सा १९२८ में ३.७% था वह १९३८ में २.९% ही रह गया था। साधारणतया व्यापार का संतुलन हमारे पक्ष में ही रहता था यद्यपि इसकी मात्रा बराबर कम होती जा रही थी। १९२०-२१ से १९२४-२५ में हमारा निर्यात ३०० करोड़ रुपये के और आयात २६१ करोड़ रुपये के लगभग था। पर १९३५-३६ से १९३९-४० में निर्यात केवल १८० करोड़ रुपये के और आयात १५० करोड़ रुपये के लगभग ही रह गया। विश्वव्यापी मन्दी के कारण जब हमारे माल का निर्यात कम होने लगा तो उसकी पूर्ति हमने सोना निर्यात करके की। सन् १९३१ से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने तक हमारे यहाँ से सोना बाहर जाता रहा। इन वर्षों में भारत से ३६२ करोड़ रुपये का सोना बाहर गया।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात—१९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ तो उसका हमारे विदेशी व्यापार पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। युद्ध के कारण कीमतें बढ़ने लगी और भारत के कच्चे माल की विदेशों में माँग भी बढ़ने लगी, हालाँकि दमी के साथ शत्रु राष्ट्रों के साथ हमारा व्यापार बन्द हो गया और निर्यात और आयात पर राज्य का नियंत्रण स्थापित हो गया। कई देशों में जहाँ युद्ध होते रहने के कारण हमारे माल की बिक्री बन्द हो गयी जैसे नार्वे, हालैंड, डनमार्क, बेल्जियम, फ्रांस, और बर्मा, हिन्दचीन मलाया तथा सुदूर पूर्व के अन्य देशों पर मध्य पूर्व के देशों से हमारा व्यापार बढ़ भी गया और मित्र राष्ट्रों में भी हमारे माल की माँग बढ़ गई जैसा कि ऊपर संकेत किया है। माल लाने-लेजाने के लिये जहाज़ों की कठिनाई, बढ़ा हुआ जहाज़ों का किराया और बढे हुए दर पर बीमा के चार्जेज़ के कारण भी विदेशी व्यापार के मार्ग में कठिनाई उपस्थित हुई। लड़ाई के समय में इंगलैंड और अमेरिका लड़ाई का सामान तैयार करने में लगे हुए थे। इसलिए भारत को इन देशों से तैयार माल मँगाने में भी कठिनाई होने लगी। इन तमाम परिस्थितियों का नतीजा विदेशी व्यापार की मात्रा कम करने का हुआ। किन्तु जहाँ तक कि मूल्य का सवाल है, चीजों की कीमतें बढ़ जाने से आयात और निर्यात दोनों ही में युद्ध के पहले वर्षों की अपेक्षा युद्ध काल में वृद्धि हो गई। यह वृद्धि आयात में कम हुई थी और निर्यात में अधिक हुई थी। केवल माल का ही हम विचार करें तो युद्ध के समय में हमारे निर्यात का अधिक से अधिक मूल्य १९४५-४६ में २६६ करोड़ रुपये तक पहुँच गया था और कम से कम १९४२-४३ में १९५ करोड़ रुपये तक रह गया था। आयात के आँकड़े बतलाते हैं कि १९४२-४३ में केवल ११९ करोड़ रुपये का माल हमारे देश में और १९४५-४६ में अधिक से अधिक अर्थात् २९२ करोड़ रुपये का माल बाहर से आया। इससे युद्धकालीन विदेशी व्यापार के बारे में एक तो यह बात सिद्ध होती है कि आयात और निर्यात पर सरकारी नियंत्रण की कड़ाई अथवा ढिलाई का सीधा असर पड़ता था। जब नियंत्रण कम होता था तो विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़ जाता था, अगर नियंत्रण अधिक हो जाता था तो मात्रा कम हो जाती थी। दूसरी बात यह है कि विदेशी व्यापार का सतुलन १९४३-४४ तक बराबर हमारे पक्ष में बढ़ता गया। १९४०-४१ में आयात से निर्यात लगभग ५४ करोड़ रुपये का अधिक था। १९४२-१९४३ में व्यापारिक सतुलन ८८ करोड़ रुपये तक हमारे पक्ष में पहुँच गया था। इसी वजह से स्टरलिंग पावना हमारे पास बहुत जमा हो गया। हमारे पास स्टरलिंग पावना जमा होने के दो कारण और भी थे। मित्र राष्ट्रों की फौजें भारत में जो माल खरीदती थीं उसके बदले में हमें

स्टरलिंग पावना मिलता था। इंगलैंड की सरकार से भारत को युद्ध का जो खर्च वापस मिला वह भी स्टरलिंग पावने की शकल में ही मिला। इस स्टरलिंग पावने का उपयोग देश में विदेशियों ने जो पूंजी लगा रखी थी उसे चुकाने में भी किया गया। इस प्रकार ३२ करोड़ पौंड की विदेशी पूंजी ४२५ करोड़ रुपया खर्च करके वापस की गई। युद्धकाल में जिन चीजों में विदेशी व्यापार होता था उनमें भी अन्तर आया। हमारे देश का तैयार कपड़ा काफी मात्रा में विदेशों को खास तौर से मध्य पूर्व और अफ्रिका के देशों को भेजा जाने लगा। युद्ध के पहले केवल ६ करोड़ रुपये का कपड़ा बाहर जाता था। १९४२-४३ में ४६ करोड़ रुपये का कपड़ा बाहर भेजा गया। चाय का निर्यात भी बढ़ा। इसके मुकाबले में मूंगफली का निर्यात घटा क्योंकि अब हमारे देश में ही तेल उद्योग का विकास होने लगा था। सारांश यह है कि युद्धकाल में भारत से तैयार माल बाहर अधिक जाने लगा और आयात में कच्चे माल का अनुपात बढ़ा और तैयार माल का अनुपात घटा। यह देश की औद्योगिक प्रगति का लक्षण था, हालांकि युद्ध-काल भारत ने औद्योगिक दृष्टि से उतनी प्रगति नहीं की थी जितनी कि करनी चाहिये थी और दूसरे देशों ने की थी। १९३५-४० के निर्यात के पंच वर्षीय औसत के आंकड़ों के अनुसार खाद्य-पेय पदार्थ और तम्बाकू कुल निर्यात का २१.८%, कच्चा माल ४९.७% और तैयार माल ३०% था। यही आंकड़े १९४०-४५ में क्रमशः २३.८%, २५.४% और ४९.१% हो गये। अर्थात् तैयार माल का निर्यात बढ़ा और कच्चे माल का निर्यात घटा। कपास और पटसन का तैयार माल बाहर अधिक जाने लगा और तिलहन, कच्चा कपास और जूट का निर्यात कम हो गया। आयात के आंकड़ों से मालूम पड़ता है कि उस समय के ब्रिटिश भारत में समुद्री मार्ग द्वारा १९४०-४२ में ४२ करोड़ रुपये का कच्चा माल बाहर से आया।

जहां तक विदेशी व्यापार की दिशा का प्रश्न है युद्ध काल में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों के साथ हमारा निर्यात व्यापार बढ़ा। आस्ट्रेलिया, कैनाडा मिस्र, इराक और दूसरे मध्यपूर्व के देशों के साथ हमारा व्यापारिक संबंध पहले से अधिक हो गया। १९३६-४० में समाप्त होने वाले पांच वर्षों में कामनवेल्थ के राज्यों और दूसरे देशों का हमारे निर्यात व्यापार में लगभग बराबर का हिस्सा था। पर १९४०-४५ के पांच वर्षों में कामनवेल्थ के देशों का हिस्सा ६४% से कुछ अधिक होगया और दूसरे देशों का हिस्सा ३६% से भी कम रह गया। जहां तक आयात का सवाल है कामनवेल्थ के राज्यों का हिस्सा १९३५-४० में ५३.८% से १९४०-४५ में ५१.५% हो गया और दूसरे देशों का हिस्सा

प्रतिबन्ध लग गया। १९४९ के मई महीने तक हमारी स्थिति और भी बिगड़ गई। विदेशी व्यापार संबंधी इस बिगड़ती हुई स्थिति की ओर भारत सरकार का ध्यान गया। उसने १९४९ में आयात के बारे में जो जुलाई १९४८ में उदार नीति स्वीकार की थी उसे रद्द करके अब कड़ी नीति बरतने का निर्णय किया। मई १९४९ में ४०० चीजों के ओपन जनरल लाइसेंस की बजाय थोड़ी चीजों का ओपन जनरल लाइसेंस की श्रेणी में मंजूर किया गया। जन १९४९ में दुर्लभ मुद्रा प्रदेश से आयात की स्वीकृति देना स्थगित कर दिया गया। जुलाई १९४९ में लन्दन में कामनवेल्थ के वित्तमन्त्रियों का सम्मेलन हुआ। उसमें दुर्लभ मुद्रा प्रदेशों से १९४८ के मुकाबले में २५ प्रतिशत आयात में कमी करने का निश्चय किया गया और भारत ने भी इस निश्चय को मंजूर किया। भारत-इंगलैंड के बीच के आर्थिक समझौते (फाइनेन्शियल एग्रीमेंट) पर जब अगस्त १९४९ में विचार किया गया तब फिर आयात पर और अधिक नियंत्रण करने का निश्चय किया गया। एक तरफ तो आयात को कम करने के ये प्रयत्न किये गये, दूसरी ओर निर्यात को बढ़ाने का भी सरकार ने प्रयत्न किया। १९४९ की जुलाई में 'एक्सपोर्ट प्रोमोशन-कमेटी' की नियुक्ति की गई जिसने देश के निर्यात बढ़ाने संबंधी कई सिफारिशें कीं। जो कर निर्यात को रोकने वाले थे उनको हटाने, निर्यात के माल सम्बन्धी अत्यधिक कड़े पर नियंत्रण करने, और निर्यात होने वाले माल का देश में उत्पादन बढ़ाने की इस कमेटी ने सिफारिश की। सरकार ने कमेटी की सिफारिशों के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न भी किया। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप आयात पर रोक लग गई और निर्यात में थोड़ा सुधार हुआ। जैसा कि हमें मालूम है सितम्बर १९४९ में रुपये का अवमूल्यन हो गया। उसके परिणामस्वरूप आयात में कमी और निर्यात में वृद्धि की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। पर इस सबके बावजूद भी १९४९ में विदेशी व्यापार का सन्तुलन हमारे विपक्ष में ही रहा। पर इसके बाद स्थिति में सुधार आने लगा और १९५० में कई वर्षों के बाद पहली बार विदेशी व्यापार का सन्तुलन हमारे पक्ष में रहा। आज भी वह प्रवृत्ति जारी है। इस सुधरती हुई स्थिति के मुख्य कारण रुपये का अवमूल्यन, निर्यात के प्रति प्रोत्साहन की नीति और निर्यात की वस्तुओं की बढ़ी हुई कीमत, और कोरिया के युद्ध के कारण उत्पन्न हमारे माल की युद्ध की तैयारी की दृष्टि से बढ़ती हुई मांग है। युद्ध के बाद हमारे विदेशी व्यापार के सन्तुलन की जो स्थिति रही है उसका अनुमान भारत के विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीचे की तालिका से अच्छी तरह लगाया जा सकता है :—

[करोड़ रुपयों में]

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल	व्यापार का सन्तुलन
१९४६	३१६ ३८	३०५ ७१	६१२ ०९	— १० ६७
१९४७	४४२ ३७	४२६ ७८	८६९ १०	— १५ ५४
१९४७ ४८ [अप्रैल मार्च]	४४५ ८०	४०८ २६	८५४ ०५	— ३७ ५८
१९४८ ४९	५४४ ६१	४२३ ३४	९६६ २३	— १२१ ५६
१९४९ ५०	५६० ५५	४८५ ४०	१०४५ ७१	— ७५ ३१
१९५० ५१	५२५ ४६	५८६ ८८	१११२ ३४	+ ६१ ४२

१९४६ और १९४७ के आँकड़े करेन्सी फाइनेंस की १९४७-४८ की रिपोर्ट के स्टेटमेंट नं० ३ से, १९४७ ४८ व १९४८ ४९ की रिपोर्ट के स्टेटमेंट नं० २ से और बाद के आँकड़े कामर्स ७ जून पृष्ठ १०८८ पर से लिए गये हैं।

उक्त तालिका से यह भी साफ हो जाता है कि युद्ध के बाद हमारे विदेशी व्यापार का मूल्य बराबर बढ़ा है। १९४६ में कुल आयात और निर्यात ६१२ करोड़ रुपये का था वह १९५० ५१ में ११५० करोड़ रुपये के पास पहुंच गया। इसी के साथ यह भी है कि आयात की अपेक्षा निर्यात में वृद्धि ज्यादा हुई है।

विदेशी व्यापार के बारे में दूसरी जानने योग्य बात यह है कि हमारे निर्यात व्यापार में तैयार माल का स्थान बढ़ता जा रहा है। और आयात व्यापार में अन्न और कच्चे माल का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। देश के विभाजन से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। आज भारत को कपास तथा जूट विदेशों से, खास कर पाकिस्तान से मँगाना पड़ता है। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि आयात में कच्चे माल का हिस्सा १९४८ ४९ में २३ ६%, १९४९ ५० में २५ ७% और १९५० ५१ में २६ ७% रहा है। असल निर्यात में १९४८-४९ में तैयार माल १९ ०६ करोड़ का था वह १९४९ ५० में २४९ ६१ करोड़ और १९५० ५१ में ३०७ ५५ करोड़ रुपये का हो गया। कुल असल निर्यात के अनुपात को अगर हम लें तो अनुपात १९४८ ४९ में ५५%, १९४९ ५० में ५२% और १९५० ५१ में ५६% आता है। (कॉमर्स ७ जुलाई १९५१ से)

हमारे विदेशी व्यापार में युद्ध के बाद वर्षों में जहाँ तक आयात का ताल्लुक है कामनवेल्थ राष्ट्रों का और इंग्लैंड का भी आनुपातिक भाग कम हुआ है। कामनवेल्थ के बाहर के देशों में खास तौर से अमेरिका का महत्त्व बढ़ा है। इसी प्रकार निर्यात के सम्बन्ध में भी कामनवेल्थ का महत्त्व घट रहा है। पर यदि हम पाकिस्तान के साथ स्थल मार्ग से होने वाले व्यापार का भी विचार करें

तो कामनवेल्थ की स्थिति में थोड़ा सुधार हो जाता है। १६३८ में ब्रिटिश कामनवेल्थ से हम अपने कुल आयात का ५७·२% और केवल इंगलैंड से ३१·७% माल मँगाते थे। १६४५ में ब्रिटिश कामनवेल्थ का भाग ३७·६% और केवल इंगलैंड का २१·१% था। १६४६ में ब्रिटिश कामनवेल्थ का भाग ५६·६% और इंगलैंड का २८·४% हो गया। उसके बाद १६४७ में ब्रिटिश कामनवेल्थ का भाग ४६·१% और केवल इंगलैंड का ३०% रह गया। १६४८-४६ में यूनाइटेड किंगडम से १५२·६६ करोड़, १६४६-५० में १४६ ४१ करोड़ और १६५०-५१ में १५१·७४ करोड़ रुपये का माल भारत में आया। दूसरे देशों में अमेरिका का हिस्सा १६३८ में ७४% था वह १६४५ में बढ़कर २६·६%, १६४६ में २७·७% और १६४७ में २८·८% हो गया। १६४८-४६ में १०८·७१ करोड़, १६४६-५० में ८७ ६१ करोड़ और १६५०-५१ में ११५·८१ करोड़ रुपये का माल अमेरिका से भारत में आया। इसी प्रकार निर्यात व्यापार में ब्रिटिश कामनवेल्थ का हिस्सा १६३८ में ५१·७%, १६४५ में ५६·७%, १६४६ में ५०·८% और १६४७ में ५१·३% था और इंगलैंड का हिस्सा क्रमशः ३४·१%, २६·३%, २५·२% और २७·५% था। देश के निर्यात व्यापार में अमेरिका का हिस्सा १६३८ में ८·३%, १६४५ में २३·२%, १६४६ में २५·२% और १६४७ में १६·२% था [करेंसी-फाइनेंस रिपोर्ट १६४७-४८ टेबिल १४]। यदि करेंसी प्रदेशों के आधार पर संकलित आंकड़ों को लें तो हम देखेंगे कि पाकिस्तान के अलावा स्टरलिंग प्रदेश का हिस्सा हमारे आयात में १६३८-३६ में ५८% था वह १६४७-४८ में ४२% और १६४८-४६ में ४४% था। इसी प्रकार निर्यात में १६३८-३६ में ५३%, १६४७-४८ में ४८% और १६४८-४६ में ४२% था [करेंसी और फाइनेंस रिपोर्ट १६४८-४६ टेबिल १८]। १६४६-५० के व्यापार के संतुलन संबंधी आँकड़ों को जिनमें पाकिस्तान के आंकड़े भी शामिल हैं, देखने से मालूम होता है कि स्टरलिंग प्रदेश का हमारे कुल आयात में ५३·६% भाग था। जहां तक निर्यात का सम्बन्ध है १६४६-५० में कुल निर्यात का ५०% भाग स्टरलिंग प्रदेश का था। [स्टेटमेंट ६४ करेंसी-फाइनेन्स रिपोर्ट १६४६-५० में दिये आँकड़ों पर से तैयार आँकड़े]

विदेशी व्यापार की आज की स्थिति:—भारत के विदेशी व्यापार का जो ऐतिहासिक विवेचन ऊपर किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि देश की आर्थिक स्थिति में जैसे-जैसे परिवर्तन आया उसका प्रभाव हमारे विदेशी व्यापार पर भी पड़ा। जब देश में औद्योगिकरण की ओर क़दम बढ़ने लगा तो हमारे निर्यात

में तैयार माल का और आयात में कच्चे माल का महत्त्व बढ़ गया। इसी के साथ-साथ इसी कारण हम स्वयं कच्चा और अन्न के निर्यात करने वाले न रहकर आयात करने वाले बन गए। देश के औद्योगीकरण और द्वितीय महायुद्ध के समय की परिस्थितियों का यह नतीजा आया कि हमारे देश के तैयार माल की मांग दूसरे पूर्व के देशों में बढ़ने लगी और अपने निर्यात के लिए, केवल कुछ देशों पर अब हम पहले की तरह से निर्भर नहीं रहे हैं। कामनवेल्थ के अलावा दूसरे देशों में हमारा व्यापार बढ़ने लगा। आज कामनवेल्थ और दूसरे देशों का महत्त्व बराबर सा हो गया है जबकि पहले कामनवेल्थ के देशों की प्रधानता थी। हमारे विदेशी व्यापार के मूल्य में भी बराबर वृद्धि होती गई है। हमारे विदेशी व्यापार का संतुलन द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हमारे विरुद्ध में चला गया था। यह अब फिर १९५० ई० में हमारे पक्ष में हुआ है। हमारे विदेशी व्यापार की आज की स्थिति का यह कुछ दिग्दर्शन है। हमारे देश से दूसरे देशों को जाने वाले मुख्य पदार्थों के नाम इस प्रकार हैं—सूती वस्त्र, कच्चा जूट, जूट का तैयार माल, चाय, मूंगफली का तेल, कमाया हुआ चमड़ा, मसाला—मुख्यतः कालीमिर्च कच्चा कपास, कच्चा ऊन, सूत, अबरक तैयार कोयर लाख, तथा मैंगनीज़। इसी प्रकार दूसरे देशों से आने वाले मुख्य-मुख्य पदार्थों के नाम ये हैं — कच्चा कपास, गेहूँ, चावल नकली रेशम का थान, कागज जलाने का तेल वरक्षित, दवाइयाँ, रासायनिक पदार्थ, पट्रौल, इलेक्ट्रिक मशीनरी और अन्य मशीनरी। देश का निर्यात व्यापार मुख्यतः अमरीका, युनाइटेड किंगडम, आस्ट्रेलिया, लंका, इटली, चीन, ईरान बर्मा, फ्रांस और कनाडा के साथ होता है। अमेरिका हमारे जूट के माल का आस्ट्रेलिया, लंका, सुडान, मलाया स्ट्रेट्स, रूस, अरब, कीनया, जंजीबार, स्ट्रेट्स सेटलमेंटस हमारे सूती कपड़े के अमरिका, बल्जियम, जर्मनी कच्चे जूट के, अमेरिका यूनाइटेड किंगडम, आस्ट्रेलिया चीन, नेदरलैंड्ज़, बल्जियम और जापान, हमारे कच्चे कपास के, अमेरिका और इंगलैंड चमड़े के, अमरिका अबरक और मैंगनीज़ के यूनाइटेड किंगडम और अमेरिका हमारी चाय के प्रमुख खरीदार हैं। आयात में यूनाइटेड किंगडम अमरिका और ज़ेकोस्लोवेकिया से हमें मशीनरी मिलती है। हमारे आयात और निर्यात में किन चीज़ों का कितना महत्त्व है इसका अनुमान आगे दी गई तालिका से लगाया जा सकता है —

आयात के मुख्य पदार्थ रुपये करोड़ में

	माल पदार्थ	जन० दिसं० १९४९	अप्रैल १९४९ मार्च १९५०
प्रथम श्रेणी	फल और तरकारी	६·५५	६·६६
	अनाज, दाल और आटा	१०५·४२	६६·५५
	प्रोविजन्स और ओइलमेन्स स्टोर्स	६·२८	७·६६
	तम्बाकू	२·१६	२·२३
	कुल प्रथम श्रेणी	१३१·०७	१२२·३६
द्वितीय श्रेणी	अधातु खान से निकलने वाले पदार्थ आदि	२·६१	२·७०
	तेल, सब प्रकार के—वनस्पति, खनिज और पशु संबंधी	५८·८६	५६·१६
	कपास, जूट और नारियल	६०·६४	५६·८४
	कच्चा ऊन	३·८०	३·०३
	अन्य	५·६६	७·०२
	कुल द्वितीय श्रेणी	१४२·८८	१३७·८८
तृतीय श्रेणी	रासायनिक पदार्थ, दवा और दवाइयाँ	११·२५	१६·२३
	चाकू छुरी आदि	१६·३६	१५·४२
	रंग	१२·४२	११·११
	बिजली का सामान	१५·०८	१३·०२
	सब प्रकार की मशीनरी	१०३·६४	१०५·५२
	धातु, लोहा और इस्पात	१४·०७	१०·७०
	धातु—अन्य	२१·४२	१८·१६
	कागज़, पेस्ट बोर्ड और स्टेशनरी	१४·७२	६·७१
	मोटर आदि	२६·३२	२३·४६
	कपास का सूत और तैयार माल	२५·२१	१८·४१
	ऊन का सूत और तैयार माल	७·४३	५·६८
	दूसरे टेक्सटाइल्स	२१·१६	१६·०५
	अन्य	१६·२३	१५·५७
	कुल तृतीय श्रेणी	३३५·४४	२८८·५८
	कुल तीनों श्रेणी	६०७·६३	५४७·५७

(करेंसी-फ़ाइनेन्स रिपोर्ट १९४९-५० स्टेटमेंट ६७)

विदेशी व्यापार और सरकार का नियंत्रण—यह हम लिख चुके हैं कि गत महायुद्ध के समय से आजतक विदेशी व्यापार पर भारत सरकार का नियंत्रण चला आ रहा है। इस विषय में अब थोड़े विस्तार से विचार करेंगे। जब तक लड़ाई चलती रही विदेशी व्यापार पर सरकारी नियंत्रण का एक मात्र उद्देश्य यही रहा कि युद्ध संचालन में सरकार को सहायता मिले। आयात और निर्यात दोनों पर कई प्रकार के प्रतिबंध और नियंत्रण लगाये गये। निर्यात पर जो नियंत्रण लगाये गये थे उनका उद्देश्य शत्रु राष्ट्रों को माल भेजने पर रोक लगाना, कुछ चीजों का जो शत्रु राष्ट्र नहीं थे उनको भेजने से भी मना करना, कुछ चीजें जो शत्रु राष्ट्र नहीं थे उनको लाइसेंस द्वारा ही भेजने की स्वीकृति देना, और कुछ देशों को कुछ चीजें बिना लाइसेंस या 'ऑपन जनरल लाइसेंस' के मातहत भेजने की स्वीकृति देना था। मार्च १६४० से विदेशी विनिमय पर सरकार का नियंत्रण हो जाने से भी निर्यात पर नियंत्रण हो गया। जब तक निर्यात से मिलने वाले विदेशी विनिमय का सरकार के नियंत्रण संबंधी नियमों के अनुसार उपयोग करने का प्रमाणपत्र नहीं पेश किया जाता था निर्यात करने की स्वीकृति नहीं दी जाती थी। इस सब के पीछे प्रयोजन यह था कि निर्यात के कारण जो विदेशी मुद्रा प्राप्त हो उस पर सरकार का पूरा नियंत्रण रह सके। आयात पर नियंत्रण युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् किया गया। शुरू-शुरू में शत्रु राष्ट्रों को छोड़ कर किसी भी देश से माल मँगाने की पूरी आजादी थी। पर मई, १६४० में विदेशी विनिमय और खास तौर से दुर्लभ मुद्रा का संचय करने की दृष्टि से आयात का लाइसेंस देने की व्यवस्था चालू की गई। बिना आयात लाइसेंस प्राप्त किये विदेशों को माल का चुकारा करने पर रिजर्व बैंक ने प्रतिबंध लगा दिया था। मई १६४० में ६८ चीजों के आयात पर नियंत्रण किया गया। बाद में यह संख्या बराबर बढ़ती गई। जनवरी १६४२ तक लगभग आयात की सब चीजों पर नियंत्रण कायम हो गया था। विदेशी विनिमय के नियंत्रण हो जाने से निर्यात की तरह आयात का भी नियंत्रण हो गया।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के काल में निर्यात और आयात पर नियंत्रण चलता रहा। युद्ध के समाप्त होने के बाद स्थिति में परिवर्तन आया। आयात के बारे में १६४६ और १६४७ के पहले सात महीनों में भारत-सरकार ने नरम नीति का पालन किया। दुर्लभ मुद्रा के बारे में भी सरकार की नरम नीति ही रही। पर अगस्त १६४७ के बाद सरकार की नीति कड़ाई की हो गई यहाँ तक कि भारत—यूनाइटेड किंगडम के बीच में हुए समझौते (जनवरी-जून १६४८) के अनुसार हमारे जमा पौंड पावने के फंड में से जो पौंड पावने की रकम खर्च

करने के लिये हमें मिली थी वह भी हम खर्च नहीं कर सके। स्टर्लिंग मुद्रा क्षेत्र या डालर क्षेत्र से आने वाले माल के बारे में विशेष कड़ी नीति बरती गई। डालर क्षेत्र से कुछ माल के आयात को तो बिल्कुल ही रोक दिया गया। उन पूंजी पदार्थों के आयात की भी स्वीकृति नहीं दी जाती थी जो यूनाइटेड किंगडम में उपलब्ध थे। पर वास्तव में यूनाइटेड किंगडम से माल आता नहीं था। सार इसका यह निकला कि देश में माल की कमी आ गई और आयात बहुत गिर गया। आयात सम्बन्धी इस कड़ी नीति का कारण डालर की कठिनाई को हल करना था पर उसका असर महँगाई बढ़ने का भी हुआ। यह वह समय था जब देश के विभाजन के फलस्वरूप देश में बहुत अव्यवस्था फैली हुई थी, यातायात की कठिनाई के कारण उत्पादन घट रहा था और नियंत्रण हटाने की नीति का प्रयोग किया जा रहा था। इन सब बातों का असर यह हुआ कि देश में माल की हर तरह से कमी हो गई और 'होलसेल प्राइसेस' का इन्डेक्स नम्बर जो दिसम्बर १९४७ में ३०२ था वह जुलाई १९४८ तक ३८९.९ तक पहुँच गया। आयात में नरम नीति बरतने का वास्तव में यही उपयुक्त समय था। इस विपरीत अनुभव के कारण जुलाई १९४८ से भारत सरकार की आयात नीति में फिर नरमी आई। 'ओपन जनरल लाइसेंस' के अन्तर्गत आने वाली चीजों की संख्या में काफी वृद्धि की गई और ४०० के लगभग यह संख्या पहुँच गई। कई चीजें जिनका आयात बिल्कुल बन्द था उनको इस श्रेणी से हटा लिया गया। इस नीति का असर यह हुआ कि हमारा आयात बहुत बढ़ गया और व्यापार का सन्तुलन हमारे बहुत विपक्ष में जाने लगा। हालांकि महँगाई पर इस नीति का अच्छा असर हुआ। पर विदेशी विनिमय की हमारे सामने कठिनाई आ उपस्थित हुई। जो पौंड पावना हम पहले खर्च नहीं कर पाये थे वह सब खत्म हो गया और उसके अलावा जितना हमने कमाया उससे कहीं अधिक स्टर्लिंग और डालर हमने खर्च कर दिया। नतीजा यह हुआ कि फरवरी १९४९ में भारत सरकार की आयात नियंत्रण सम्बन्धी नीति में फिर कड़ाई आ गई। डालर प्रदेश से आयात कम करने की कोशिश की गई। 'ओपन जनरल लाइसेंस' के अन्तर्गत आने वाली चीजों की संख्या बहुत कम कर दी गई। १ अगस्त, १९४९ से भारत, यूनाइटेड किंगडम के साथ के आर्थिक समझौते में फिर आवश्यक संशोधन हुआ और यूनाइटेड किंगडम ने भारत को जो डालर का घाटा हो रहा था उसे पूरा करने का वचन दिया। इसके बदले में भारत 'एम्पायर डालर पूल' का पूरा सदस्य बन गया। सरकार ने अपनी आयात नीति को और अधिक कड़ा करने का निश्चय किया। 'ओपन जनरल

लाइसेंस के अन्तर्गत चीज़ों की संख्या अब केवल २० रह गई। सितंबर १६४६ में जो आयात-नीति सरकार ने घोषित की उसके अनुसार आयात को तीन श्रेणियों में बांटा गया—(१) वे चीजें जिनके लिये साधारणतया लाइसेंस नहीं दिये जायंगे। (२) वे चीजें जिनके लिये एक निश्चित परिमाण के आधार पर लाइसेंस दिये जायेंगे (३) वे चीजें जिनका समय-समय पर लाइसेंस दिया जा सकेगा। बशर्ते कि उनके आयात का हर समय उचित कारण बताया जासके। दुर्लभ मुद्रा प्रदेश से आयात करने की स्वीकृति उसी हालत में मिलने वाली थी जब कि स्टरलिंग प्रदेश में वह या उसकी जगह काम में आ सकने वाला दूसरा माल न मिलता हो। अगर किसी चीज़ के आयात की व्यवस्था किसी द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते में की जा चुकी है तो उनको दूसरी जगहों से आयात करने की स्वीकृति नहीं दी जाती थी। रिज़र्व बैंक ने जनवरी १६४८ से अनधिकृत आयात का चुकारा करने के लिये विदेश रुपया भेजने की जो सुविधा दे रखी थी वह भी अब वापस लेली गई। इसके बाद भी जैसी-जैसी ज़रूरत आई अलग-अलग चीज़ों के आयात के बारे में कुछ फेर-फार होता रहा पर मूल नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस बीच में रुपये का भी सितंबर १६४६ में अवमूल्यन हो चुका था और उसका हमारे विदेशी व्यापार के संतुलन पर अनुकूल असर भी पड़ रहा था। पर २५ फरवरी १६५० को जनवरी-जून १६५० के लिये जो आयात नीति घोषित की गई थी वह पहले की अपेक्षा थोड़ी सी उदार थी। कच्चा कपास, कच्चा रेशम और रेशम के तार, अलौह धातु, भारी रासायनिक पदार्थ, और दवाइयाँ आदि जैसे आवश्यक उपभोग के पदार्थों को सुलभ मुद्रा प्रदेशों से मँगाने की स्वीकृति दी गई। कच्चे कपास का आयात दुर्लभ मुद्रा प्रदेशों से करने की भी इजाजत थी। जुलाई १६५० से दिसंबर १६५० के समय के लिये भी आयात नीति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। लगभग ३७ से ४० करोड़ रुपए प्रति मास के आयात की व्यवस्था की गई। लगभग इतनी व्यवस्था ही पिछले जनवरी-जून १६५० के समय के लिये की गई थी। जनवरी १६५१ से जून १६५१ के लिये घोषित आयात नीति के बारे में भी कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं थी। पर हाल में जुलाई-दिसंबर १६५१ के समय के लिये सरकार ने अपनी आयात नीति की घोषणा की है। इसके अनुसार आयात को प्रोत्साहन देने का खास तौर से प्रयत्न किया गया है। अब जुलाई-दिसंबर के बीच में जो लाइसेंस दिये जायेंगे वे सालभर के लिये होंगे। अभी तक लाइसेंस छह महीने के लिये होता था। बाहर से आने वाले माल के परिमाण और मूल्य दोनों में ही वृद्धि की गई है और नई चीज़ों को भी आयत की सूची में जोड़ा गया है। उपर्युक्त

विवरण का सारांश यह है कि भारत सरकार की आयात नीति में युद्ध समाप्त होने के बाद का भी हम विचार करें तो देखेंगे कि बराबर परिवर्तन होता रहा है। युद्ध समाप्त होने के बाद जुलाई १९४७ तक आयात नीति नरम रही। पर अगस्त १९४७ से जून १९४८ तक हमारी आयात नीति कड़ी हो गई। फिर जुलाई १९४८ में नरम नीति अपनाई गई। फरवरी १९४९ में फिर कड़ाई की नीति शुरू हुई। फरवरी १९५० में यह नीति नरमी की ओर बदली और आज तक वही नीति चल रही है।

भारत सरकार की निर्यात सम्बन्धी नीति पहले तो प्रतिबंधात्मक थी। पर जब हमारा विदेशी व्यापार का सन्तुलन बिगड़ने लगा और विदेशी विनिमय की तंगी आगई खासकर १९४८-४९ के अन्त में जब हमारा विदेशी व्यापारिक सन्तुलन बहुत प्रतिकूल हो गया तो भारत सरकार की नीति निर्यात को प्रोत्साहन देने की हो गई। बढ़ी हुई कीमतें, बढ़ा हुआ देश के अन्दर की माँग और देश के विभाजन के कारण पड़ा प्रतिकूल असर हमारे निर्यात व्यापार के मार्ग में बाधक हुए। पर भारतसरकार ने इन सब बाधाओं के बावजूद भी १९४८-४९ में निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति जारी रखी। कई चीज़ों को नियन्त्रण से मुक्त कर दिया गया और बहुत सी चीजें आसानी से लाइसेंस मिलने वाली श्रेणी में ले लिया गया। इस सबके बावजूद भी १९४९ के पहले छः महीने में हमारे निर्यात व्यापार की स्थिति पहले से भी गिर गई। जनवरी १९५० में भारत सरकार ने एक्सपोर्ट प्रमोशन कमेटी की नियुक्ति की। इस कमेटी ने निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए कई सिफारिशें कीं। उदाहरण के लिए निर्यात सम्बन्धी नियन्त्रण को अधिक से अधिक सीमित करना, खास तौर से तैयार माल के निर्यात पर से प्रतिबन्ध हटाने की इस कमेटी ने सिफारिश की। इस कमेटी की सिफारिशों को सरकार ने मंजूर किया। कई चीजें जिनका निर्यात मना था लाइसेंस के बाद निर्यात होने वाली वस्तुओं की श्रेणी में आगई। 'ओपन जनरल लाइसेंस' के अन्तर्गत जो बिना लाइसेंस के सब देशों को निर्यात की सुविधा देता है चीजों की संख्या बढ़ गई। लाइसेंस देने की पद्धति को पहले से सरल करने का प्रयत्न किया गया और व्यापार मन्त्रालय से ही निर्यात लाइसेंस मिलने की व्यवस्था की गई। पहले जो खाद्य पदार्थ के लाइसेंस खाद्य मन्त्रालय से मिलते थे अब व्यापार मन्त्रालय से मिलने लगे। जो कर निर्यात में बाधक थे उन्हें कम किया गया या हटाया गया। जैसे प्रान्तीय बिक्री कर से निर्यात पदार्थों को मुक्त कर दिया गया। रुपये के अवमूल्यन का भी निर्यात पर असर पड़ा। कोरिया की लड़ाई के कारण आगामी युद्ध की तैयारी की दृष्टि से दुनिया के देशों ने कच्चे

माल का संचय करना शुरू कर दिया उसका भी निर्यात पर असर पड़ा। इन सब कारणों का सम्मिलित असर यह हुआ कि हमारे निर्यात में वृद्धि हुई और १९५०-५१ में गत महायुद्ध के बाद पहली बार व्यापार का संतुलन हमारे पक्ष में हुआ।

भारत सरकार के आयात और निर्यात की नियन्त्रण नीति का ऊपर विवेचन किया गया है। भारत सरकार को इस काम में 'एक्सपोर्ट एडवाइजरी कौंसिल' और 'इम्पोर्ट एडवाइजरी कौंसिल' सलाह और सहायता देती है। भारत सरकार की आयात नियंत्रण नीति की कई बातों को लेकर आलोचना की जाती थी। उदाहरण के लिये लाइसेंस मिलने में होनेवाली अनावश्यक देरी, लाइसेंस पद्धति की पेचीदगी, तथा आयात नीति की अस्थिरता आदि कुछ ऐसी बातें थीं जिनको लेकर सरकार के प्रति असन्तोष था। सरकार ने १९५० में सारी आयात नीति पर विचार करने के लिए 'इम्पोर्ट कन्ट्रोल एन्क्वायरी कमेटी' की नियुक्ति की। इस कमेटी ने ४ महीने में ही अपनी रिपोर्ट अक्टूबर १९५० में पेश करदी। सरकार ने जनवरी १९५१ में इस कमेटी की सिफारिशों पर अपना निर्णय भी दे दिया। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में सब से ज्यादा इसी बात पर जोर दिया था कि आयात सम्बन्धी नीति और संचालन में स्थिरता होनी चाहिये और स्वीकृत नीति का शीघ्र और क्षमता के साथ पालन होना चाहिये। कमेटी ने यह सिफारिश की कि आगामी दो वर्षों में ४०० करोड़ रुपये वार्षिक का आयात भारत में होना चाहिये। आयात की चीजों की प्राथमिकता के बारे में भी इस कमेटी ने अपनी राय दी। आयात सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए कमेटी की यह राय कि हमें अपने आयात की मर्यादा विदेशी विनिमय की स्थिति के अनुसार ही तय करनी चाहिये, और बाहर से आने वाली चीजों की प्राथमिकता इस दृष्टि से निश्चित होनी चाहिये कि जिससे देश के कृषि-उद्योग के विकास और उपभोक्ताओं की आवश्यक वस्तुओं की मांग का लिहाज रखा जा सके। इसी के साथ-साथ किन्हीं वस्तुओं के मूल्य में अत्यधिक उतार-चढ़ाव को कम करने का भी प्रयत्न किया जाना चाहिये, पर यह उसी हद तक जिस हद तक कि विदेशी विनिमय सम्बन्धी मर्यादा और हमारे कृषि-उद्योग के विकास तथा उपभोक्ताओं की आवश्यकता के साथ इसका मेल बैठ सके। उपर्युक्त सिफारिशों के अलावा कमेटी ने कुछ अन्य विषयों पर भी सिफारिशें की थीं जैसे— लाइसेंस के समय को बढ़ाना, लाइसेंस-पद्धति का विकेन्द्रीकरण करना, नए आयात के व्यापारियों को सुविधायें देना, सुलभ मुद्रा प्रदेश के किसी देश से माल मँगाने की अधिक आजादी, और किसी हद तक दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र से माल मँगाने

को अधिक से अधिक मात्रा में कम करने और उस व्यापार का विस्तार करने का रहा है।

भारत की उक्त नीति का एक प्रमाण तो भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (इन्टरनेशनल ट्रेड ओरगेनाइजेशन) और जी. ए. टी. टी. (जनरल एग्रीमेन्ट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ्स) के विषय में जो सहायता और समर्थन दिखाया है उसी से मिल जाता है। इस सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से लिखने की आवश्यकता है।

द्वितीय महायुद्ध जब चल रहा था उसी समय यह अनुभव किया जा रहा था कि विश्व शान्ति के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न देशों का राजनैतिक आधार पर ही नहीं बल्कि आर्थिक आधार पर भी आपस में सहयोग हो। इसी विचारधारा ने यह बताया था कि जिस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ (यू. एन. ओ.) की स्थापना की गई उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी कई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कायम करने का प्रयत्न किया गया। विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, खाद्य और कृषि संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की इसी आधार पर स्थापना की गई। इसी प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ स्थापित करने का विचार भी बना। सबसे पहले हवाना (क्यूबा) में २१ नवम्बर १९४७ और २४ मार्च १९४८ के बीच में संसार के ५७ राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में 'प्रिपरेटरी कमेटी' ने जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का एक मसविदा तैयार किया था उस पर विचार हुआ। इस 'प्रिपरेटरी कमेटी' की स्थापना १९४६ में उस समय हुई थी जब इस विषय में अमरीका ने कुछ प्रस्ताव प्रकाशित किये थे और उनके बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस में विचार करने से पहले एक छोटी कमेटी द्वारा विचार करना उचित समझा गया था। इस कमेटी में १८ राष्ट्र थे और भारत भी उनमें से एक था। रूस ने इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया था। हवाना सम्मेलन में ५४ राष्ट्रों ने जो मसविदा विचार विनिमय के बाद तय किया था उस पर हस्ताक्षर कर दिये गए। हस्ताक्षर करने वालों में भारत भी था। विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों की स्वीकृति मिलने पर ही यह चार्टर अमल में आने वाला था। हाल ही में (फरवरी १९५१) अमरीका ने हवाना चार्टर को स्वीकार नहीं करने का अपना विचार प्रकट किया है और इस पर से ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा कर दी है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ के कायम होने की आशा नहीं है।

हवाना में जो चार्टर स्वीकार किया गया था उसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रसार करना और पिछड़े हुए और अविकसित देशों के आर्थिक विकास

में सहायक होता है। जो व्यापारिक नीति इस चार्टर ने स्वीकार की गई है उसके अन्तर्गत इन बातों का समावेश किया गया है—(१) एक देश किसी दूसरे देश को आयात-निर्यात-कर अथवा विदेशी व्यापार संबंधी किसी प्रतिबंध के बारे में अगर कोई रियायत देगा तो वह बाकी के सब देशों को भी अपने आप मिलेगी। इसी को 'मोस्ट फ़ेवर्ड नेशन' का व्यवहार कहते हैं। इसमें कुछ अपवाद किये गये हैं। एक अपवाद किसी देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से भी किया गया है, अर्थात् आर्थिक विकास के कारण इस सिद्धान्त के विपरीत व्यवहार करने की स्वीकृति मिल सकती है। पर यह अपवाद इतनी शर्तों के साथ किया गया है कि वास्तव में इस से होने वाला लाभ सन्देहास्पद है। (२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ के सदस्यों से यह अपेक्षा की गई है कि वे आपसी समझौते से आयात-निर्यात-कर और उस सम्बन्धी विशेष व्यवहार में कमी करें। इसमें भी कुछ अपवादों के लिये गुंजाइश है और एक अपवाद यहां भी पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास से सम्बन्ध रखता है। (३) आयात और निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाने अथवा प्रवेश निषेध करने की मनाही की गई है। इसमें भी कुछ अपवाद हैं। (४) चार्टर में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जिन देशों में विदेशी-व्यापार राज्य द्वारा होता है उनके साथ न कोई विशेष रियायत होगी न कोई विपरीत व्यवहार होगा। आर्थिक विकास और पुनर्निर्माण के बारे में चार्टर में एक अलग ही परिच्छेद है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ का यह कर्त्तव्य है कि इस काम में वह अपने सदस्यों को सहायता दे और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ इस काम में सहयोग दे।

चार्टर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की सर्वोपरि सत्ता 'कान्फ्रेंस' में निहित है जो एक व्यवस्था मंडल का चुनाव करेगी। साधारणतया कान्फ्रेंस वर्ष में एक बार होगी, यह माना गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का संबंध सहयोग का होगा और इस बात का ध्यान रक्खा जायगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ की राजनीति में इसका हस्तक्षेप न हो। चार्टर की उक्त धाराओं की कई कारणों से आलोचना भी हुई। आलोचना का एक बड़ा आधार यह रहा है कि पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास का चार्टर में पर्याप्त ध्यान नहीं रखा गया है। विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़े, इसी पर अधिक महत्त्व दिया गया है। इस समय तो इस संगठन का भविष्य अन्धकार में मालूम पड़ता है।

अब हम 'जनरल एग्रीमेंट ऑन टैरिफ्स ऐण्ड ट्रेड' के विषय में कुछ लिखेंगे। यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के चार्टर

में एक धारा यह भी थी कि इस संगठन के सदस्य आपसी समझौते के आधार पर आयात-निर्यात-कर और विदेशी व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों में कमी करें। इसी उद्देश्य को सामने रखकर विभिन्न देशों में जनेवा में अप्रैल १० १९४७ से अक्टूबर ३० १९४७ तक समझौते की चर्चा चली और जो निश्चय हुए उनका समावेश उक्त एग्रीमेंट में कर लिया गया। अस्थायी आधार पर यह एग्रीमेंट १ जनवरी १९४८ से अमल में आया। भारत भी इसमें शामिल था। इस एग्रीमेंट में निपटारा कमेटी के १८ सदस्यों के अलावा पाकिस्तान, सीरिया, बर्मा, लंका और दक्षिणी रोडेशिया भी शामिल थे। १२३ द्विपक्षीय समझौते इन देशों के बीच में हुए। इसके पश्चात् अप्रैल सन् १९४९ से अगस्त २७, १९४९ को एनेसी (फ्रांस) में फिर कान्फ्रेंस हुई जिसमें डेनमार्क, फिनलैंड, यूनान, हेटी, इटली, स्वीडन, डामिनिकन रिपब्लिक, लाइबेरिया, निकारागुआ और उरुग्वे ये दस नये देश और शामिल हुए। ये नवम्बर १९४९ तक इन नए सदस्यों को उक्त एग्रीमेंट में शामिल करने के लिए एक 'प्रोटोकोल' पर हस्ताक्षर किये गये और [illegible] मई १९५० से यह लागू किया गया। भारत ने इन दोनों ही सम्मेलनों में भाग लिया और विभिन्न देशों के साथ समझौते किये। इन समझौतों के अनुसार भारत ने रियायतें दीं और उसे रियायतें मिली भी। इसके बाद टार्के (इंगलैंड) में तीसरी बार कान्फ्रेंस हुई जो २१ अप्रैल १९५१ को सात महीने के बाद समाप्त हुई। इस कान्फ्रेंस में विभिन्न देशों में ४०० के लगभग समझौते करने का प्रयत्न हो रहा था, पर भाग लेने वाले ३८ देशों में केवल १४७ समझौते ही हो सके। भारत भी इसमें शामिल था। इस कान्फ्रेंस की सफलता मर्यादित ही रही। छह नए देश इस एग्रीमेंट में इस सम्मेलन में शरीक किये गये। पुराने समझौतों की (जनेवा और एनेसी) मियाद दिसम्बर १९५३ तक कर दी गई। पुराने समझौतों में कुछ देशों ने संशोधन और परिवर्तन कराया और उनके अनुसार दी गई कुछ रियायतें वापस ली गईं। कुछ नई रियायतों के बारे में भी समझौते हुए। जी ए टी टी के सिद्धान्त के अनुसार ३ साल के बाद इस प्रकार का संशोधन परिवर्तन हो सकता है। इसी लिए १९४८ के बाद अब यह कार्य हुआ था। 'एनेसी' की कान्फ्रेंस इस प्रकार की नहीं थी। जिन ३८ देशों ने इस सम्मेलन में भाग लिया वे दुनिया के सम्पूर्ण विदेशी व्यापार के ८०% भाग के लिए जिम्मेदार हैं।

भारत की व्यापारिक नीति का पिछले तीन वर्षों में एक महत्वपूर्ण अंग हमारे विभिन्न द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते से संबंध रखता है जो विभिन्न देशों के और भारत के बीच में हुए हैं। ये अल्पकालिक व्यापारिक समझौते हैं।

इनका उद्देश्य दुर्लभ मुद्रा की स्थिति में सुधार करना, युद्धोत्तर आर्थिक निर्माण में सहायता देना, अनाज की कमी की पूर्ति करना, दूसरी आवश्यक चीजों की जैसे मशीनरी, रासायनिक, पदार्थ, खाद आदि की कमी की पूर्ति करना और निर्यात को प्रोत्साहन देना रहा है। जर्मनी और जापान के साथ इसलिये व्यापारिक समझौते करना आवश्यक थे कि इन देशों के विदेशी व्यापार पर राज्य का नियंत्रण है और जिन विदेशी राज्यों का इन पर आधिपत्य है उनके द्वारा निश्चित विदेशी व्यापार की योजना के साथ उसका मेल बैठना आवश्यक है। यही बात रूस और पूर्वी युरुप के देशों—जैसे युगोस्लेविया, पोलेंड, जेकोस्लोवेकिया के बारे में लागू होती है, क्योंकि वे अपने विदेशी व्यापार का नियंत्रण सरकारों के बीच में ही करना पसंद करते हैं। इन व्यापारिक समझौतों का एक लाभ यह भी है कि भारत का इन देशों के साथ सीधा व्यापारिक संबंध स्थापित हो जाता है और लंदन एमस्टरडम आदि दूसरे देशों की मध्यस्थता समाप्त हो जाती है। भारत ने इन पिछले वर्षों में कई देशों से व्यापारिक समझौते किये हैं। भारत का पाकिस्तान के साथ भी कई बार व्यापारिक समझौता हुआ है। इस समय भी एक व्यापारिक समझौता इन दोनों देशों के बीच में चालू है। यद्यपि इन व्यापारिक समझौतों के कारण हमारे विदेशी व्यापार को आशातीत सफलता नहीं मिली है और समझौते के अनुसार आयात और निर्यात नहीं हुआ है, पर फिर भी ये द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते सही दिशा में उठाया गया एक कदम हैं। इनका भविष्य में और अच्छा परिणाम आ सकता है।

विदेशी व्यापार की भावी दिशा—देश के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में अन्तिम प्रश्न यह उठता है कि उसकी भावी दिशा क्या होने की संभावना है? किसी भी देश का विदेशी व्यापार उस देश के आर्थिक संगठन पर निर्भर होता है। हमारे देश में जिस प्रकार का आर्थिक संगठन हम स्थापित करेंगे उसी प्रकार का हमारा विदेशी व्यापार होगा। देश के भावी अर्थ-व्यवस्था के बारे में आज विभिन्न विचारधाराओं में संघर्ष चल रहा है। एक व्यवस्था गांधीजी के विकेन्द्रित उत्पादन और स्वावलंबी गांवों पर आधारित हो सकती है। दूसरी व्यवस्था समाजवादी आधार पर स्थापित हो सकती है। तीसरी व्यवस्था उस मिले-जुले आर्थिक संगठन की है जो वर्तमान सरकारों की नीति है। जहां तक विदेशी व्यापार का संबंध है, चाहे समाजवादी व्यवस्था हो चाहे मिलजुली अर्थ-व्यवस्था हो, जब तक आधुनिक उद्योगवाद उसका आधार है, उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। हां, गांधीजी की सुझाई अर्थ व्यवस्था की बात अलग है। यह अर्थ व्यवस्था विकेन्द्रित और स्वावलंबन के आधार पर होगी, इसलिये

इसमें विदेशी व्यापार की मात्रा कम होगी। विदेश से थोड़ासा सामान जो हमारे दैनिक जीवन के लिए अनिवार्य न हो आ सकता है और इसी प्रकार का सामान यहाँ से बाहर जा सकता है। देश के अन्दर बड़े उद्योगों का विकास बड़े पैमाने पर होगा और ऐसी दशा में बाहर से मशीनें आदि बहुत मँगाने की हमें आवश्यकता नहीं होगी। हाँ बिजली सिंचाई विद्युत्शक्ति आदि के उत्पादन के लिए जो मशीनरी आदि आवश्यक होगी उसे तो मँगाना ही होगा। पर उपभोक्ता पदार्थों का अधिकतर उत्पादन गृह उद्योग के रूप में होगा। इसका अर्थ यह है कि गांधीजी द्वारा सुझाई हुई अर्थ-व्यवस्था यदि हम स्थापित करते हैं तो हमारे विदेशी व्यापार का सारा ढाँचा ही बदल जाता है। देश इस प्रकार की व्यवस्था स्वीकार करेगा इसमें बड़ी शंका है। इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे गृह उद्योगों का विकास नहीं होगा। पर बड़े पैमाने के उद्योगों का भी पूरा महत्त्व रहेगा ऐसा लगता है। ऐसी हालत में हमारे विदेशी व्यापार की भावी दिशा के बारे में अल्पकालिक और दीर्घकालिक दोनों आधार पर सोचना आवश्यक है। पिछले वर्षों में हमारे विदेशी व्यापार की सबसे बड़ी समस्या विपरीत व्यापारिक संतुलन की रही है और जिसके कारण से विदेशी विनिमय खास तौर से दुर्लभ मुद्रा की हम कठिनाई रही है। हमारा अल्पकालिक विदेशी व्यापार सम्बन्धी उद्देश्य यह होना चाहिये कि हम विदेशी विनिमय की अपनी तात्कालिक आवश्यकता पूरी करने में कठिनाई न हो। यह तात्कालिक आवश्यकता मौजूदा उद्योगों को चालू रखने, उनमें मशीनरी आदि का आवश्यक परिवर्तन करने और आवश्यक उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करने से सम्बन्ध रखता है। इन बातों की कमी को पूरा करने के लिये हम अपने व्यापारिक संतुलन को ठीक करना होगा। उसके लिये देश में माल की कीमतों को कम करना, मुद्रा का अवमूल्यन करना, उत्पादन के स्तर में परिवर्तन करना और द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते करना—ये उपाय हैं जो काम में लिये जाते हैं। भारत भी इस दिशा में प्रयत्नशील रहा है। इससे हमारा व्यापारिक संतुलन सुधरा भी है।

हमारी दीर्घकालिक विदेशी व्यापार की नीति ऐसी होनी चाहिये जिससे हम अपने आर्थिक विकास में सहायता मिले। इस दृष्टि से आवश्यक माल हम विदेश से मँगा सकें जो माल हम बाहर भेज सकें उसके उत्पादन में विशेषता प्राप्त करें और अनुकूल बाजारों में उस माल को बेचने की व्यवस्था करें—यह हमारे विदेशी व्यापार का लक्ष्य होगा। इस दृष्टि से आर्थिक विकास की प्रथम अवस्था में पूँजीमाल हम बाहर से मँगाना होगा और इस लिये हमारा आयात बढ़ेगा और कच्चे माल का निर्यात घटेगा। दूसरी अवस्था में जब देश में आधार

भूत उद्योगों का उत्पादन बढ़ेगा और राष्ट्रीय आय भी बढ़ेगी तो पूँजी-माल का आयात कम होगा और उपभोग की वस्तुओं के आयात की प्रवृत्ति बढ़ेगी, अगर उसे रोकने का प्रयत्न न किया गया। अन्तिम अवस्था में उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ेगा। इससे इन चीजों का आयात कम होगा पर पर्याप्त उत्पादन होने पर निर्यात बढ़ सकता है। हां, विशेष प्रकार की और कीमती उपभोग की चीजें बाहर से मँगायी भी जा सकती हैं। यह तो हुआ व्यापार का स्वरूप। जहां तक इस व्यापार में विभिन्न देशों के स्थान का प्रश्न है उसके बारे में हम यह कह सकते हैं कि हमें पूँजी-माल यूरोप-अमेरिका से और कच्चा माल पड़ौसी एशिया के राष्ट्रों से मँगाना होगा। हमारा निर्यात व्यापार भी इन देशों और एशिया तथा अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों के बीच में बट जायगा।

विदेशी व्यापार का जो चित्र ऊपर उपस्थित किया गया है उससे केवल दिशा मात्र का अनुमान लगाना चाहिये।

हमारे भावी विदेशी व्यापार का एक प्रश्न यह भी है कि विदेशी व्यापार राज्य द्वारा संचालित होना चाहिये या व्यक्तियों के हाथ में ही रहना चाहिये। भारत सरकार ने १९५० में इस विषय में एक समिति नियुक्त की थी जिसने इस प्रश्न की पूरी जाँच-पड़ताल करके विदेशी व्यापार के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में अपनी रिपोर्ट दी थी। पर इसका कोई नतीजा नहीं आया। यह प्रश्न फिलहाल तो भारत सरकार की ओर से स्थगित ही कर दिया गया है।

स्थल द्वारा विदेशी व्यापार—देश के विभाजन से पहले भारत का स्थल मार्ग से अफगानिस्तान, ईरान, मध्य एशिया, नेपाल और तिब्बत से व्यापार होता था। देश के विभाजन के बाद पश्चिम के देशों से तो हमारा सीधा संपर्क हो गया है। अब तो पाकिस्तान के साथ हमारा पश्चिम और पूर्व दोनों ही ओर से स्थल मार्ग से सीधा सम्बन्ध है। भारत और पाकिस्तान के बीच में काफी व्यापार स्थल मार्ग से ही होता है। १९४८-४९ में कुल ७० करोड़ का भारत से पाकिस्तान को माल निर्यात हुआ था। उसमें ४९·६१ करोड़ का माल समुद्र के मार्ग से और २०·३६ करोड़ का माल स्थल मार्ग से निर्यात हुआ था। १९४९-५० में कुल २९·६६ करोड़ के निर्यात व्यापार में से १३·८७ करोड़ का माल समुद्री मार्ग से और १५·८२ करोड़ का स्थल मार्ग से निर्यात हुआ था। आयात के आंकड़ों को देखने से मालूम होता है कि १९४८-४९ के २०९·३९ करोड़ में से १२४·३९ करोड़ का माल समुद्री मार्ग से और ८५ करोड़ का स्थल मार्ग से तथा १९४९-५० में कुल ४३·६३ करोड़ में से ११·४६ करोड़ का समुद्री मार्ग से और ३१·४७ करोड़ का स्थल मार्ग से पाकिस्तान से भारत

को आया था। समुद्री व्यापार अधिकतर पश्चिमी पाकिस्तान से, और स्थल भाग से अधिकतर व्यापार पूर्वी पाकिस्तान से होता है।

भारत का 'पुनर्द्वीपी' व्यापार—भारत के विदेशी व्यापार का एक भाग ऐसा है कि दूसरे देशों से भारत में माल आता है और फिर यहाँ से वह वापस निर्यात कर दिया जाता है। इसी को 'पुनर्द्वीपी व्यापार' कहते हैं। इसका कारण किसी भी देश की दो देशों के बीच में ऐसी भौगोलिक स्थिति होना है जिससे कि इस तरह का व्यापार आसानी से सम्भव हो सके। पृथ्वी भूमण्डल के बीच में स्थिति होने से पूर्व और पश्चिम के बीच में होने वाले व्यापार के लिए भारत एक अच्छा विश्राम स्थल है। यही कारण है कि प्राचीन काल से भारत इस तरह के व्यापार में भाग लेता आया है। प्राचीन समय में भारत के 'पुनर्द्वीपी' व्यापार की मुख्य चीजें रेशमी कपड़ा, चीनी का सामान, सोना, जवाहरात, काँच का सामान (विनिमय का) और मसाला था। तिब्बत, नेपाल, अफगानिस्तान आदि ऐसे देश हैं जिनका अपना कोई समुद्र तट नहीं है। उनका आयात निर्यात भी भारत के द्वारा ही होता है। बम्बई इस प्रकार के व्यापार का प्रमुख बन्दरगाह है। ऊन और चमड़ा पश्चिम के देशों को जाता है और वहाँ से शक्कर, चाय, मसाला, कपड़ा, रासायनिक पदार्थ, कच्ची धातु, आदि आता है। इस प्रकार के व्यापार का कुल विदेशी व्यापार के मुकाबले में बहुत महत्त्व नहीं है। विदेशों से आया हुआ माल १९४८–४९ में ७ ६ करोड़ का, १९४९–५० में १३.२६ करोड़ का और १९५०–५[illegible] में ४७.८४ करोड़ का भारत से दुबारा निर्यात हुआ था। १९३९–४० में दुबारा निर्यात १० करोड़ रुपये का हुआ था।

भारत का आन्तरिक व्यापार—भारत के आन्तरिक व्यापार के दो भाग हैं (i) समुद्रतटीय व्यापार और (ii) आन्तरिक व्यापार।

जब बर्मा भारत का अंग था तो भारत और बर्मा के बीच बहुत-सा समुद्र तटीय व्यापार होता था। यही बात कराची के बारे में भी है। आज कराची के साथ हमारा व्यापार विदेशी व्यापार की गिनती में आता है। समुद्र तटीय व्यापार की गिनती में नहीं। अब तो कलकत्ता, मद्रास, बम्बई आदि बन्दरगाहों के बीच का व्यापार ही समुद्र तटीय व्यापार की श्रेणी में आता है। कंडाला (कच्छ) का नया बन्दरगाह बन जाने पर इस व्यापार में वृद्धि होगी। पिछले वर्षों में देश के समुद्र तटीय व्यापार में कमी आई है। १९३९ में कुल समुद्र तटीय व्यापार का अनुमान ७० लाख टन था। दस साल बाद यह घट कर ५० लाख टन ही रह गया और इस समय तो असल समुद्र तटीय व्यापार

की (जिसमें विदेशी व्यापार शामिल नहीं है) मात्रा ३० लाख टन से भी कम है। यद्यपि यह व्यापार गिरा है पर इस पर भी भारतीय जहाज इस माल को लाने ले जाने के लिये पर्याप्त संख्या में नहीं हैं। समुद्र तटीय व्यापार की उन्नति के लिये भारतीय जहाजी बेड़े की प्रगति अत्यन्त आवश्यक है। रेलवे और जहाज़ी यातायात में समुचित मेल बैठाने और बन्दरगाहों के विकास का भी समुद्र तटीय व्यापार की दृष्टि से बड़ा महत्व है।

समुद्र तटीय व्यापार के अलावा जो हमारे देश का आन्तरिक व्यापार है उसका विदेशी व्यापार की अपेक्षा देश के आर्थिक जीवन में बहुत बड़ा स्थान है। पर अभी तक आन्तरिक व्यापार के सम्पूर्ण और विश्वसनीय आंकड़े हमारे देश में प्राप्त नहीं हैं। भारत सरकार का व्यापार-मंत्रालय जो आन्तरिक व्यापार सम्बन्धी आंकड़े प्रकाशित करता है वे भी प्रान्त का प्रान्त से और मुख्य बन्दरगाह के उस प्रान्त के जिसमें वह स्थित है या दूसरे प्रान्तों के साथ के व्यापार के आंकड़े होते हैं। इसका यह अर्थ है कि बहुत-सा व्यापार इसके बाहर रह जाता है। इस स्थिति को सुधारने की आवश्यकता तो है पर इतने बड़े देश में समस्त लेन-देन के आंकड़े एकत्रित करना असंभव-सा है। फिर भी इस दिशा में जितना सुधार हो सके वह करना चाहिये। इस व्यापार की मात्रा देश के विदेशी व्यापार से आज भी कई गुनी (२-३ गुनी) है और देश के आर्थिक विकास के साथ यह मात्रा बढ़ने वाली है।

यातायात

यातायात का महत्त्व—मानव सभ्यता के विकास में यातायात के साधनों का कितना महत्त्व है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं। यह महत्त्व समाज के आर्थिक जीवन तक ही सीमित नहीं है। मानव समाज के राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिये भी इसका महत्त्व है। आज सारा विश्व यदि एक सूत्र में बँध सका है, मानव सहानुभूति का क्षेत्र यदि संसार व्यापी हो सका है, और सारा संसार एक परिवार के समान है, यह आदर्श यदि वास्तव में चरितार्थ होता है—तो यातायात के उन्नत साधनों के आधार पर ही। आज तक भी ऐसा हुआ है और आगे भी होगा। यातायात के महत्त्व की याद दिलाने के लिये इतना लिखना ही पर्याप्त है कि जो देश यातायात की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं वे हर दृष्टि से—आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक—पिछड़े हुए मिलेंगे। समाज के विकास का एक बड़ा आधार मनुष्य का मनुष्य से संपर्क है और यह यातायात के बिना संभव नहीं। इसी लिए प्राचीन सभ्यताओं के केन्द्र स्थान गंगा और सिंध, नील, यांगत्सी, ह्वांगहो और यूफ्रेटीज आदि नदियों की घाटियाँ रहा है। आज भी पिछड़े हुए देशों की आर्थिक और दूसरे प्रकार की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि उनके यातायात के साधनों में समुचित उन्नति हो।

यातायात की सुविधा से हमारी कठिनाइयाँ और संकट एक दृष्टि से बढ़े हुए भी मालूम पड़ सकते हैं। संसार के किसी एक कोने की आपत्ति और कठिनाई का असर सारे संसार में फैल जाता है। मानव की संहार शक्ति को भी इससे प्रोत्साहन मिला है और उसका क्षेत्र व्यापक हुआ है। पर यह तो सभी बात है कि अच्छी से अच्छी चीज़ का भी बुरे हाथों में पड़ कर दुरुपयोग हो जाता है। यदि मानव समाज चाहे तो उन्नत यातायात के साधनों से उत्पन्न हमारे संपर्क का मानव कल्याण के लिये उपयोग हो सकता है—इसी में यातायात का वास्तविक महत्त्व है।

भारत और यातायात के प्रमुख साधन—भारत के यातायात के साधनों का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम रेल यातायात, सड़क यातायात, जल यातायात, वायु यातायात सभी का अलग अलग से अध्ययन करें।

रेल यातायात-आरम्भ—उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (१८४१) नवम्बर मैकडानल्ड स्टिफेन्सन ने दिमाग में भारत में कलकत्ते से उत्तर पश्चिम की

(५) कम्पनी के प्रबन्ध में राष्ट्र के हित की अपेक्षा तत्काल के लाभ का अधिक ध्यान रहा है।

(६) रेलों में लगी पूँजी का बहुत थोड़ा अंश कम्पनियों का है। उनका आर्थिक स्वार्थ कम होने से अच्छी व्यवस्था करने की उनको विशेष चिन्ता नहीं हो सकती। राज्य को यथेष्ट मात्रा में नियंत्रण रखना ही पड़ता है। ऐसी हालत में सारा-प्रबन्ध राज्य के हाथ में आ जाने से कोई बड़ी कठिनाई नहीं होने वाली है।

एकवर्थ कमेटी ने इन सब बातों पर विचार करके राज्य द्वारा रेलों के प्रबन्ध किये जाने के पक्ष में अपनी राय दी। रेलवे फाइनेन्स कमेटी और इंडियन रिट्रेंचमेंट कमेटी ने भी, जिन्होंने १६२१-२३ तक की रेलवे स्थिति पर विचार किया था, इसी पक्ष में राय दी थी। सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप १ जनवरी १६२५ को राज्य ने ई० आई० और १ जुलाई १६२५ को जी० आई० पी० रेलों का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। इसके बाद भारत सरकार ने बराबर इसी नीति का पालन किया और आज भारत की सब रेलवे राज्य के प्रबन्ध में हैं। १ अप्रैल १६५० से देशी राज्यों के भारतीय संघ में शामिल हो जाने के कारण उनकी रेलवे भी भारत सरकार के प्रबन्ध में आगई। इस प्रकार लगभग ७५६० मील लम्बा रेल मार्ग भारत सरकार के पास और आगया। अब भारत की तमाम रेलें भारत सरकार की रेलवे मिनिस्ट्री के नियंत्रण में हैं।

रेलों का शासन-प्रबन्ध—भारतीय रेलों पर हमेशा से ही भारत सरकार की देख-रेख और नियंत्रण रहा है। आरम्भ में भारत सरकार के सार्वजनिक निर्माण विभाग के पास रेलों की देख-रेख का काम था। पर जब रेलों का काफी विस्तार होगया तो यह व्यवस्था अपर्याप्त साबित होगई। परिणाम स्वरूप १६०५ में एक रेलवे बोर्ड की स्थापना की गई। बोर्ड में बोर्ड के अध्यक्ष के अतिरिक्त दो और सदस्य थे। बोर्ड भारत सरकार के व्यापार-उद्योग विभाग के अधीन था। बोर्ड के विषय में समय-समय पर साधारण परिवर्तन होते रहे हैं। १६०८ में, भारत सरकार के व्यापार-उद्योग विभाग के हस्तक्षेप को अपेक्षाकृत कम करने की दृष्टि से बोर्ड के अध्यक्ष के अधिकारों में थोड़ी वृद्धि करदी गई। अब उनको भारत सरकार के मंत्री का पद मिल गया और वाइसराय तक उनकी सीधी पहुँच होगई। १६२० में बोर्ड के वित्त सलाहकार का एक नया पद कायम किया गया। जब एक वर्थ कमेटी रेलवे सम्बन्धी जाँच करने के लिये नियुक्त हुई तो उसने भी इस प्रश्न पर विचार किया, और १६२४ में फिर रेलवे बोर्ड का

बोर्ड का अतिरिक्त मेम्बर बना रहेगा।

रेलवे एकाउन्टस का काम भी १९२५ से रेलवे बोर्ड के पास आगया है। पहले वित्त मंत्रालय, भारत सरकार के पास यह काम था। आडिट का काम अकाउन्टस से अलग है और भारत के आडिटर जनरल के पास है।

आपसी मामलों को सुलझाने के लिये १८७६ में ही रेलवे कान्फ्रेन्स की स्थापना की गई थी। १९०३ में इंडियन रेलवे कान्फ्रेंस एसोसियेशन के नाम से इसे स्थायी बना दिया गया। यह एसोसियेशन रेलों के नीचे नियंत्रण में है और इसने काफी उपयोगी काम किया है।

रेलवे वित्त व्यवस्था—रेलवे की वित्तव्यवस्था भारत सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से अलग हो, यह प्रश्न एक अर्से से चल रहा था। जब एक वर्थ कमेटी के सामने यह प्रश्न आया तो उसने पृथकीकरण के पक्ष में राय दी। रिट्रेंचमेंट कमेटी ने भी इस प्रश्न पर विचार किया और उसकी भी यही राय रही। २० सितवर १९२४ को भारत सरकार व भारतीय धारा सभा ने इस संबंध में एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव द्वारा भारत सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से रेलवे वित्त व्यवस्था को अलग करने का निश्चय किया गया। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि प्रति वर्ष रेलवे बजट से भारत सरकार को एक निश्चित रकम मिला करेगी। यह निश्चित रकम कंपनियों अथवा देशी राज्यों द्वारा लगाई हुई पूंजी को छोड़ कर व्यापारिक रेलवे में लगी हुई बाकी सब पूंजी पर १% और इसके अलावा रेलवे से भारत सरकार को मिलने वाली उक्त निश्चित रकम काटने के बाद जो असल मुनाफा बचे उसका ⅕ भाग के बराबर होगी। भारत सरकार को रेलवे से मिलने वाली वह निश्चित रकम रेलवे की असल आय पर पहली देन द्वारा मानी गई थी। यदि किसी वर्ष रेलवे आय उपर्युक्त १% चुकाने के लिये काफी न हो तो अगले वर्षों की आय में से यह रकम सबसे पहले चुकाई जावे और उसके बाद ही मुनाफा का बटवारा किया जाय—यह भी निश्चित किया गया था। सामरिक महत्त्व की रेलों में लगी हुई पूंजी पर ब्याज और उनमें होने वाली हानि भारत सरकार को मिलने वाली निश्चित रकम में से कम करली जायगी और बाकी की रकम भारत सरकार को दी जायगी, यह भी साफ कर दिया गया था। यह भी तय था कि भारत सरकार को दी जाने वाली निश्चित रकम चुकाने के बाद जो बच जाये वह रेलवे रिजर्व में जमा हो। अगर यह रकम किसी साल ३ करोड़ रुपए से ज्यादा हो तो तीन करोड़ से ज्यादा रकम का ३।३ रेलवे रिजर्व को और बाकी का १।३ भारत सरकार को दिया जाय। रेलवे रिजर्व का नीचे लिखे अनुसार उपयोग होना

निश्चित हुआ था—भारत सरकार को दी जाने वाली वार्षिक रक़म चुकाने के लिये, घिसावट की बढ़ी हुई रक़म चुकाने के लिये पूंजी को कम करने या बेबाक करने के लिये, और रेलवे की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये ताकि जनता को अधिक सुविधायें दी जा सकें और किराये में कमी की जा सके। रेलवे को भारत सरकार द्वारा निश्चित शर्तों के अनुसार किसी खर्च के लिये उस साल की आमदनी में गुंजाइश न होने पर अस्थायी क़र्ज़ लेने का अधिकार भी दिया गया। यह क़र्ज़ पूंजी या रिज़र्व से लिया जा सकता है और आगामी सालों की आय में से चुकाया जा सकता है, यह भी इस प्रस्ताव में कहा गया था। इस प्रस्ताव में केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की 'स्टैंडिंग फाइनेंस कमेटी फार रेलवेज़' बनाने का नियम भी था।

रेलवे वित्त व्यवस्था के अलग हो जाने के पश्चात और भी कई महत्वपूर्ण सुधार किये गये। घिसावट कोष का निर्माण हुआ जिसमें हर साल रेलवे आय से कुछ रक़म जमा होती थी। रेलवे के लिये बिना वित्त विभाग के हस्तक्षेप के, कई वर्षों के आधार पर अपनी योजना बना सकना अब सम्भव हो गया। आर्थिक वर्ष के समाप्त होने पर रुपया लैप्स हो जाने का अब भय नहीं रहा।

मार्च, १९४३ में, रेलवे की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हो जाने से, उक्त प्रस्ताव के उस हिस्से में जिसका सम्बन्ध भारत सरकार को दी जाने वाली वार्षिक रक़म और रेलवे के मुनाफे में उसके हिस्से से था यह संशोधन कर दिया गया कि संशोधन प्रस्ताव स्वीकार होने तक हर साल की स्थिति देख कर इस रक़म का निश्चय किया जायगा। यह संशोधित प्रस्ताव (कन्वेन्शन) दिसम्बर १९४९ में भारतीय संसद द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इस प्रस्ताव की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) रेलवे वित्त व्यवस्था भारत सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से अलग बनी रहे। साधारण कर दाता को भारतीय रेलों का एक मात्र हिस्सेदार माना जाय और रेलवे में लगी पूंजी पर ४% डिविडेन्ड मिलने की उसे गारंटी दी जाय।

(२) डिप्रीसियेशन रिज़र्व फंड में प्रति वर्ष कम से कम १५ करोड़ रुपया जमा किया जाय।

(३) रेवेन्यू रिज़र्व फंड का उपयोग नीचे लिखे अनुसार ही किया जावे—

(i) भारत सरकार को निश्चित डिविडेन्ड देने के लिये। और

(ii) बजट के घाटे को पूरा करने के लिये।

(४) नीचे लिखे उद्देश्यों से एक रेलवे डेवलपमेंट फंड खोला जाय—

(i) मुसाफिरों को सुविधायें देना।

(ii) मज़दूर-हितकारी कार्य करना।

(iii) उन रेलों का निर्माण करना जो आवश्यक हों पर निर्माण के समय लाभप्रद न हों। जो 'बेटरमेंट फन्ड' है वह इस फन्ड में इस शर्त के साथ मिला दिया जावे कि आगामी पांच वर्षों तक तीन करोड़ रुपये प्रति वर्ष के हिसाब से मुसाफिरों की सुख-सुविधा पर खर्च किये जायंगे।

(५) 'लोन अकाउन्ट' और ब्लाक अकाउन्ट' को अलग-अलग कर दिया जाये। "लोन अकाउन्ट' रेलवे में लगी पूंजी का रहे और 'ब्लाक अकाउन्ट' जो 'एसेट्स' हैं उनका रहे, चाहे वे रेलों की आय में से खरीदे जायें और चाहे ऋण से।

(६) कौनसा खर्च पूंजी से हुआ माना जावे और कौनसा चालू आय में से इसके नियमों में भी परिवर्तन किये गये हैं। जैसे रिप्लेसमेंट का सुधार सहित बढ़ी हुई क़ीमतों को मान कर पूरा खर्चा डिप्रीसियेशन फंड से होना चाहिये। साधारण सुधार और नये काम २५००० तक का खर्च मामूली आय में से होना चाहिये। लाभ नहीं देने वाली लाइनों पर उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने सम्बंधी खर्च जो तीन लाख रुपये से अधिक न हो साधारण आय से और तीन लाख से जितना अधिक व्यय हो वह रेलवे डेवलपमेंट फंड से होना चाहिये। जो नई लाइनें बनाना आवश्यक हैं पर लाभदायक नहीं उनके निर्माण का खर्च हो सके वहां तक रेलवे डेवलपमेंट फंड से किया जाना चाहिये। जो स्ट्रेटेजिक रेलों पर जिनसे लाभ नहीं मिलता है खर्च हो वह पूंजी के नाम से होना चाहिये पर इस पूंजी पर कोई डिविडेन्ड नहीं दिया जायगा।

रेलवे की आर्थिक स्थिति—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय रेलें हानि का सौदा ही रहीं। धीरे-धीरे माल और मुसाफिरों का आना-जाना बढ़ने लगा। पंजाब में नहरों के निर्माण से खेती की तरक्की हुई और उनसे भी रेलवे की आय बढ़ी। सन् १६०० में पहली बार रेलवे से राज्य को थोड़ा सा लाभ हुआ। १६०८-१६०६ के साल को छोड़कर १६२०-२१ तक रेलों को बराबर मुनाफ़ा होता रहा। १६२१-२२ में फिर हानि का सामना करना पड़ा। जैसा पहले लिखा जा चुका है १६२४ से रेलवे की वित्त व्यवस्था भारत सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से अलग कर दी गई थी। १६१६-२० से १६२६-३० तक का समय कुल मिलाकर भारतीय रेलों के लिये आर्थिक सफलता का समय रहा। कुल आय १६१६-२० में ८६.१५ करोड़ रुपये से १६२६-३० में ११६ ०८ करोड़ रुपये तक पहुंच गई थी। इसी प्रकार चालू खर्च भी ५०.६४ करोड़ से

द्वितीय महायुद्ध के बाद रेलों की आर्थिक स्थिति फिर बिगड़ी। युद्ध का असर तो था ही पर देश के विभाजन से भी कई समस्यायें खड़ी हो गई थीं। शांति-व्यवस्था के भंग होने से भी बहुत हानि हुई। इसका असर आर्थिक स्थिति पर पड़ना स्वाभाविक था। रेलवे की आय कम हो गई। खर्चा बढ़ गया। देश के विभाजन के बाद १५ अगस्त १९४७ से ३१ मार्च १९४८ के बीच में रेलवे बजट में २·७४ करोड़ का घाटा हुआ जिसकी पूर्ति रिजर्व फन्ड से करनी पड़ी। इसके बाद १९४८-४९ में स्थिति थोड़ी सुधरी और रेलवे की कुल आय की दृष्टि से तब से स्थिति में बराबर सुधार आता जा रहा है। रेलवे की कुल आय १९४७-४८ में १०१ करोड़, १९४८-४९ में २१३·१० करोड़, १९४९-५० में २३६·३५ करोड़ थी। १९५०-५१ के संशोधित आंकड़े के हिसाब से कुल आय २६३·४० करोड़ थी और १९५१-५२ में २७९·५० करोड़ की कुल आय का अनुमान किया गया है। रेलवे की असल आय (नेट रेवेन्यू) के आंकड़े (रुपये में) इस प्रकार हैं:—१९४७,४८ में १०·५३ करोड़, १९४८-४९ में ४२·३४ करोड़, १९४९-५० में ३७·७७ करोड़, १९५०-५१ में संशोधित अनुमान ४६·८१ करोड़ और १९५१-५२ के बजट के अनुसार ५५·२२ करोड़। पिछले तीन वर्षों के अनन बचत के तुलनात्मक आंकड़े इस प्रकार हैं—१९४९-५० में १४·५६, १९५०-५१ (संशोधित अनुमान) १४·२४ और १९५१-५२ (बजट अनुमान) में २१·८५ करोड़ रुपये। डिप्रिसीयेशन फंड, रिजर्व फन्ड और डेवेलमेंट फंड तीनों मे १९४९ ५० के आखिर में कुल मिला कर १२९·९३ करोड़ रुपये थे वह १९५०-५१ के आखिर में संशोधित अनुमान से १५०·६४ करोड़ और १९५१-५२ के आखिर में बजट अनुमान से १६०·८८ करोड़ रुपये हो गये। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पिछले वर्षों में रेलवे की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है।

रेलवे जॉच कमेटियां—सन् १९२०-२१ में रेलवे संबंधी प्रश्नों की जांच करने के लिये भारत सरकार ने एक वर्थ कमेटी की नियुक्ति की थी। उसके विषय में पहले जिक्र आ चुका है। पिछले बीस वर्षों में तीन और कमेटियां नियुक्त हुईं। संक्षेप में इनके बारे में हम यहां लिखेंगे।

पहली कमेटी १९३२ में पोप कमेटी के नाम से नियुक्त हुई थी। विश्व मंदी के समय जब रेलवे की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी तो इस कमेटी की नियुक्ति हुई। पोप एक अंग्रेज़ रेल विशेषज्ञ थे। इन्होंने यात्रियों की संख्या बढ़ाने और माल के आयागमन को बढ़ाने संबंधी कई सिफारिशें कीं। जहां मोटर की प्रतिद्वन्द्विता कड़ी थी सस्ते सिंगिल और वीक-एंड रिटर्न टिकिट जारी किये गये, माल का भाड़ा कम किया गया, पार्सल लेने देने के लिये शहरों में दफ्तर खोले

गये। तीर्थ स्थानों के लिये स्पेशल ट्रेनें चलाई गई। पोप कमेटी का एक महत्त्व पूर्ण सिफारिश 'जोब एनेलिसिस' से सम्बन्ध रखती था। खास-खास रेलवे में 'जोब एनेलिसिस' के लिये संगठन कायम किये गये। इनका काम रेलवे के प्रत्येक काम को इस निगाह से जाँच करना था कि वे यह बता सकें कि कार्यक्षमता में सुधार करने के लिये और किफायत करने के लिए क्या करना चाहिये। जब काम के तरीकों में सुधार हो गया तो यह संगठन समाप्त कर दिये गये। इस कमेटी ने एञ्जिन, बैठने की गाड़ियां, मशीनरी और माल का पूरा पूरा उपयोग करने, बरार बगन को निकाल देने, विभिन्न रेलों के सामानों का एकीकरण करने, बिना टिकिट की यात्रा पर रोक लगाने और आमदनी बढ़ाने के बारे में भी सिफारिशें की थीं।

दूसरी कमेटी वेजवुड कमेटी थी जो १६३७ में नियुक्त हुई थी। इसी साल इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट पेश की। इसकी मुख्य मुख्य सिफारिशें ये थीं—

भारत सरकार को रेलवे से जो सालाना रकम दी जाती है वह नहीं देना चाहिये। डिप्रीसियेशन और जनरल रिजर्व फन्ड में वृद्धि करनी चाहिये। मोटर से होने वाली प्रतिस्पर्द्धा का दम सर्विस जारी करके और ट्रैफिक की गति बढ़ा करके तथा अन्य उपायों से मुकाबला करना चाहिये। एनजिनियरिंग स्टाफ में यूरोपियन लोगों की संख्या बढ़ानी चाहिये ताकि वे रोलिंग स्टाक से अधिक काम ले सकें। समाचारपत्र, कर्मचारियों आदि से अधिक सम्पर्क रखना चाहिये। एक प्रकाशन कार्यालय की स्थापना होनी चाहिये। यूरोपियन स्टाफ बढ़ाने और भारत सरकार को दी जाने वाली रकम रोकने सम्बन्धी सिफारिशों का देश में बहुत विरोध हुआ। सरकार ने इन सिफारिशों को अस्वीकार कर दिया। पोप कमेटी की किफायत सम्बन्धी सिफारिशों का भी इस कमेटी ने समर्थन किया था। इस कमेटी की स्थापना १६३५ के विधान लागू होने के पहले रेलवे की स्थिति की जाँच करने के लिये हुई थी।

तीसरी कमेटी कुँजरू कमेटी के नाम से विख्यात है जो १६४७ में नियुक्त हुई थी। देश का विभाजन होजाने से यह कमेटी अच्छी तरह से अपना काम नहीं कर सकी। इस कमेटी ने रेलवे के राष्ट्रीयकरण की समस्या को फिलहाल स्थगित कर देने और रेलवे बोर्ड की जगह यूनियन रेलवे अथोरिटी की स्थापना करने की सिफारिश की था। मजदूरों की कार्यक्षमता में कमी आजाने की भी इस कमेटी की रिपोर्ट थी। इस की राय में मजदूरों को शिक्षा देने से ही यह कमी पूरी हो सकती है।

रेल भाड़ा नीति—भारतीय रेलों से सम्बन्ध रखनेवाला एक विवादा

स्पष्ट प्रश्न यह रहा है कि भारतीय रेलों की भाड़ा नीति देश की आर्थिक उन्नति में सहायक नहीं रही है। इसके अलावा यूरोपियनों के साथ पक्षपात करने की भी शिकायत रही है। कच्चे माल और खाद्यान्न के निर्यात और तैयार माल के आयात को भारतीय रेलों ने बराबर प्रोत्साहन दिया है। औद्योगिक कमीशन (१६१६), फ़िसकल कमीशन (१६२१) और एकवर्थ कमेटी १६२०-२१ के सामने भी इस तरह की शिकायतें की गई थीं। एग्रीकलचरल कमीशन (१६२७) ने भी इस प्रश्न पर विचार किया था। इन सबकी यह राय थी कि इस बारे में सुधार की आवश्यकता है। एकवर्थ कमेटी इंगलैंड के १६२१ के रेलवे एक्ट के तहत में जैसी रेलवे रेट्स ट्रिब्यूनल है उसी तरह की ट्रिब्यूनल की भारत के लिये भी सिफ़ारिश की। भारत सरकार ने इस तरह की स्वतन्त्र ट्रिब्यूनल तो नियुक्त नहीं की पर एक रेलवे एडवाइज़री कमेटी अवश्य १६२६ में बनाई। इसकी सिफ़ारिशें सरकार के लिये मानना अनिवार्य नहीं थीं। इसलिये इससे कोई खास लाभ नहीं हुआ। पर भारत के स्वतन्त्र होने के बाद नई रेलवे रेट्स ट्रिब्यूनल १६४६-५० में नियुक्त हो चुकी है।

पूरी जाँच पड़ताल के बाद अक्टूबर १६४८ से भाड़ा सम्बन्धी नई व्यवस्था जारी की गई है। पहले की अपेक्षा यह व्यवस्था अधिक सरल है। अपवादों को हटा दिया गया है। पहले की फ़्लेट क्लास रेट्स के बजाय अब 'टेलेसकोपिक क्लास रेट्स' जारी की गई हैं जिसके अनुसार दूरी के बढ़ने के साथ-साथ भाड़े के दर में कमी आती है। कई प्रकार के कच्चे माल, जैसे कच्चे खनिज पदार्थ, जिपसम- चूना, चूना पत्थर, रेत, पिग आइरन, रद्दी (स्क्रेप) लोहा और इस्पात, कोयला, गन्ना, आदि पर भाड़ा कम कर दिया गया है। कुछ कच्चे माल के लिये, जैसे चमड़ा, तिलहन, नमक आदि, वेगन की दरें कम करदी गई हैं। भारतीय कारखानों में तैयार माल—जैसे सीमेन्ट, रासायनिक खाद, शक्कर, लोहा-इस्पात, कॉस्टिक सोडा आदि पर भी भाड़ा कम किया गया है। रेलवे के जिम्मे पर जानेवाली चीजों की संख्या में वृद्धि करदी गई है। भेजने वाले के जिम्मे पर जाने वाली और रेलवे के जिम्मे पर जानेवाली चीजों के भाड़े में पहले की अपेक्षा ज्यादा वाजिब अन्तर कर दिया गया है। भाड़े की इस नयी व्यवस्था से निर्यात-आयात व्यापार को अनुचित प्रोत्साहन देने की और देश के औद्योगिक विकास में बाधक होने की शिकायत तो अब नहीं रही है। पर 'टेलिसकोपिक प्रणाली' और संशोधित भाड़े की दरों का सम्मिलित असर यह हुआ है कि बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के बन्दरगाहों में स्थित कारखानों को पहले की तरह अब भी अनुचित रियायत मिल जाती है। नई भाड़ा व्यवस्था का

परिणाम थोड़े दूर की अपेक्षा अधिक दूर जानेवाले माल को प्रोत्साहन देने का भी हुआ है। इसका असर कच्चे माल को नजदीक में ही उपयोग में लाने के प्रतिकूल पड़ा है। थोड़ा दूर आने जानेवाले माल पर भाड़ा बढ़ने की भी शिकायत है। इसके जवाब में यह कहा जाता है कि चीज़ों का दामन जिस मात्रा में बढ़ा है उसके अनुपात में भाड़े में हुई वृद्धि नगण्य है। फिसकल कमीशन (१९५०) ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की है कि औद्योगिक विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन देने के लिये रेलवे अधिकारियों को भाड़ा नीति में आवश्यक संशोधन करने के प्रश्न पर विचार करना चाहिये ताकि कच्चे माल को जहां वह पैदा होता है उसके पास ही तैयार माल की शकल में बदलने में सुभीता हो। कच्चे माल और तैयार माल के लिये स्टेशन से स्टेशन के बीच में जो भाड़े की विशेष दरें निश्चित करने की नीति अपनाई गई है उसका अधिक उदारता के साथ पालन करने की भी फिसकल कमीशन ने सिफारिश की है।

रेलवे द्वारा आवागमन की स्थिति—पिछले वर्षों में रेल यात्रा करने की जितनी कठिनाइयां बढ़ गई थीं उनसे सब परिचित हैं। यहां हम संक्षेप में इस सम्बन्ध में विचार करेंगे। कुछ वर्षों को अपवाद के रूप में यदि छोड़ दिया जाय तो पिछली दो दशाब्दियों में रेलें अपने 'मेन्टेनेन्स और रिन्यूअल्स' (टूट फूट सुधार और मरम्मत) पर पर्याप्त मात्रा में खर्च नहीं कर सकी हैं। आज तो स्थिति यह है कि १९५० में एक तिहाई एंजिन और एक चौथाई माल के और मुसाफिरों के डिब्बे अपनी आयु पूरी कर चुके थे। विश्व मन्दी के समय में आर्थिक समस्या मुख्य थी। रेलों की आय कम हो गई थी। परिणामस्वरूप उनको पूंजीगत व्यय (कैपिटल आउट ले) कम करना पड़ा। दूसरे महा युद्ध के समय और युद्ध के बाद रेलों की समस्या एक तो यात्रियों की संख्या बढ़ जाने की और दूसरा सामान आदि नहीं मिलने की रही है। जब जापान लड़ाई में शामिल हो गया तो समुद्रतटीय आवागमन बहुत कम हो गया और वह सारा बोझ खास तौर से कोयले का लाने लेजाने का रेलों पर आ पड़ा। इससे साधारण जनता के लिये उपलब्ध डिब्बों की कमी आ गई। रेलवे वर्कशाप युद्ध सामग्री बनाने के काम में लग गये। इसका भी असर रेलों की कार्यक्षमता कम करने का हुआ। रेल के यात्रियों की संख्या आज युद्ध के पहले की अपेक्षा २½ गुनी होगई है। १९३८-३९ में जितना रेलों में यात्रियों को स्थान मिलता था उसी को माप-दण्ड मान लें तब भी मौजूदा डिब्बों की संख्या को दुगनी कर देने से भी आज काम नहीं चल सकता। सामान लाने ले जाने के डिब्बों की भी भारी कमी आ है। युद्ध के समय में जो लाइनें नष्ट करदी गई थीं उनको दुबारा बनवाना

है। और भी कई प्रकार के सुधार करने की आवश्यकता है। मुसाफिरों की, खास तौर से तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की, सहूलियतों को बढ़ाने का भी सवाल है। इधर रेल किराये में बराबर वृद्धि होती जा रही है। इन सब बातों का सार यह है कि युद्ध के वर्षों में रेल द्वारा आवागमन की स्थिति काफी बिगड़ गई थी। देश विभाजन ने इस स्थिति को और भी गंभीर बना दिया। नोर्थ वेस्टर्न रेलवे और आसाम-बंगाल रेलवे का अधिकांश भाग पाकिस्तान में चला गया है। सांप्रदायिक झगड़ों के कारण भारत और पाकिस्तान में रेलवे स्टाफ़ का बड़े पैमाने पर परिवर्तन होने से भी अव्यवस्था फैली। बहुत कुछ अंग्रेजी स्टाफ भी स्वतन्त्रता आजाने के साथ-साथ चला गया। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा कि युद्ध के समय की स्थिति का तो फिर भी जैसे-तैसे मुक़ाबला कर लिया गया था, पर १९४७ और १९४८ में तो रेलों की व्यवस्था बिल्कुल ही बिखरने की सीमा तक पहुँच गई थी। पर यह संतोष की बात है कि पिछले दो-तीन वर्षों में स्थिति में लगातार सुधार होता जारहा है। बाहर से नए एंजिन मँगाये गए हैं और आगे भी मँगाये जायँगे। डिब्बों की कमी को पूरा करने का प्रयत्न भी जारी है। चितरंजन लोको मोटिव वर्कशाप ने २६ जनवरी, १९५० से काम करना शुरू कर दिया है और १९५१-५२ के आर्थिक साल में ३६ नए एंजिन वहाँ तैयार होने की आशा है। माल के डिब्बे और मुसाफिरों के डिब्बे तैयार करने के लिये और कारखाने शुरू करने की भी योजना है। युद्ध के समय में जो माल ले जाने-लाने के बारे में प्राथमिकता पद्धति (प्रायरटी सिस्टम) जारी की गई थी वह अब हटा ली गई है। केवल रेलवे बोर्ड को प्राथमिकता की स्वीकृति देने का अधिकार है पर यह अधिकार बहुत कम काम में लाया जाता है। रेलवे गाड़ियों की संख्या बढ़ा कर, और तीसरे दर्जे के मुसाफिरों के लिये जनता एक्सप्रेस चालू करके भीड़ को कम करने का प्रयत्न किया जारहा है। हालाँ कि इस समय भी स्थिति में काफी सुधार की आवश्यकता है। मीटर गेज की रेलों पर अब तक बहुत कम ध्यान दिया जाता रहा है। अब इस दिशा में भी अधिक ध्यान देना शुरू हुआ है। रेलवे स्टोर्स के बारे में विचार करने के लिये एक कमेटी की सितम्बर १९५० में नियुक्ति की गई थी जिसने सारी स्थिति पर विचार करने के लिये एक कमेटी अप्रेल १९५१ में पेश करदी है। कमेटी ने यह सिफारिश की है कि स्टोर्स खरीदने की वर्तमान व्यवस्था जिसमें रेलवे के अलावा भारत सरकार के दूसरे मंत्रालय भी रेलवे स्टोर्स खरीदते हैं, असंतोषजनक हैं, और उसमें आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है। 'रेलवे स्टोर्स' की उपयुक्त व्यवस्था करने के लिये रेलवे बोर्ड के तहत में एक केन्द्रीय स्टोर्स संगठन कायम

करने, और सामान के स्टेन्डर्डाईजेशन की ओर विशेष ध्यान देने की कमेटी ने सिफारिश की है। वैज्ञानिक खोज की अधिक अच्छी सुविधा पर भी कमेटी ने जोर दिया है। कमेटी की सिफारिशों को रेलवे मंत्रालय ने स्वीकार कर लिया है और उसके अनुसार कारवाई करने का प्रयत्न आरम्भ हो गया है। मज़दूरों के हितों की ओर ध्यान किया जा रहा है यद्यपि मज़दूरों की मांगे संतुष्ट नहीं हो सकी हैं और संघर्ष का वातावरण जब तब उत्पन्न होता रहता है। रेल दुर्घटनाओं को कम करने का भी प्रयत्न किया गया है। दो फ्रेंच विशेषज्ञों को इसलिये बुलाया गया था कि वे नए एंजिन और रेल मार्ग के बारे में जांच करके अपनी रिपोर्ट दें। उनकी रिपोर्ट भारत सरकार के विचाराधीन है। तीसरे दर्जे के मुसाफिरों को अधिक सुविधा की व्यवस्था करने का एक उपाय तो भीड़ को कम करने का ही है, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसके अलावा तीसरे दर्जे के डिब्बों और मुसाफिरखानों में बिजली के पंखों तथा स्टेशन पर ठंडे पानी की सुविधा करने की ओर भी ध्यान दिया गया है। स्टेशनों पर बिजली की रोशनी का प्रबन्ध भी किया जा रहा है, और प्लेटफार्मों पर छाया कराई जा रही है। डिब्बों में बैठने की अच्छी सुविधा, सफाई का अच्छा प्रबन्ध, टिकट बांटने की अधिक सुविधा आदि बातों की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। पर इस सम्बन्ध में रेलवे अधिकारियों को अधिक समझ बूझ से काम लेने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये तीसरे दर्जे के मुसाफिरों को रेफ्रीजरेटर के ठंडे पानी की और मुसाफिरखानों में बिजली के पंखों की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी डिब्बों की गुंजाइश बढ़ाने, बैठने की दृष्टि से उनको अधिक सुविधाजनक बनाने, डिब्बों में अन्दर चलने फिरने के लिये यथेष्ट गुंजाइश करने और सामान रखने की अधिक अच्छी व्यवस्था करने की जरूरत है। इसके अलावा तीसरे दर्जे का जो किराया बढ़ाया गया है वह बहुत ही आपत्तिजनक है। इस सम्बन्ध में दूसरे देशों से तुलना करना सर्वथा हास्यास्पद है। अगर इंगलैंड में तीसरे दर्जे का किराया यहां से पांच गुना और अमरिका में चार गुना है तो यह भी याद रखने की ज़रूरत है कि इंगलैंड की औसत आय यहां से १४ गुनी और अमरिका की २४ गुनी है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि पिछले तीन वर्षों में रेल द्वारा आवागमन की स्थिति सुधार की ओर जा रही है पर अभी बहुत कुछ करना बाकी है। और तीसरे दर्जे के मुसाफिरों के लिये अधिक विवेक से काम लेने की ज़रूरत है।

रेलवे का फिर से समूहीकरण—इस समय भारतीय रेलों की व्यवस्था

अलग-अलग कंपनियों के आधार पर होती है, हालांकि सब में प्रबंध का जिम्मा भारत सरकार का ही है। कुछ समय से इस व्यवस्था की बजाय देश की समस्त रेलों को प्रदेश के आधार पर बांटने का प्रस्ताव चल रहा था। रेलवे बोर्ड की एक उपसमिति भी इस प्रश्न पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई थी। इस कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार करने के पहले राज्य की सरकारों, व्यापारिक संस्थाओं, रेलवे मजदूरसंघों की राय भी जानली गई। सबने कमेटी की सिफारिशों का सामान्यतया समर्थन किया है। प्रस्ताव यह है कि भारतीय रेलों को छह बड़े ज़ोनों में संगठित किया जाये। ज़ोन बनाते समय एक तो इस बात का ध्यान रखा जाये कि प्रत्येक ज़ोन में आर्थिक एकरूपता हो और दूसरा यह कि ट्रैफिक की स्वाभाविक दशा क्या है? जिन छह ज़ोनों में समस्त रेलों को बांटने का प्रस्ताव है वह इस प्रकार है—(१) मध्यवर्ती रेलवे (५३१५ मील) जिसमें बी० बी० एंड० सी० आई० की बड़ी लाइन, जी० आई० पी० का अधिकांश भाग, और सिंधिया और धौलपुर राज्य रेलों का समावेश होगा (२) पश्चिमी रेलवे (५५२२ मील) जिसमें बी० बी० एंड० सी० आई० की छोटी लाइन (कानपुर आगरा अछ के अलावा) और सौराष्ट्र राजस्थान और कच्छ की रेलों का समावेश होगा। (३) दक्षिणी रेलवे (५७२४ मील) जिसमें एम० आई० एम० एंड० एस० एम० और मैसूर रेलों का समावेश होगा। (४) पूर्वी रेलवे (५०१६ मील) जिसमें निजाम राज्य और जी० आई० पी०, एम० एंड० एस० एम० और बी० एन० रेलों के भागों का समावेश होगा। (५) उत्तर-पूर्वी रेलवे (६३३६ मील) जिसमें बी० एन०, ई० आई०, ओ० टी० रेलों के भाग, और आसाम तथा दार्जिलिंग-हिमलियन रेलों का समावेश होगा। (६) उत्तर-पश्चिमी रेलवे जिसमें कानपुर-लखनऊ के पश्चिम की रेलवे लाइनें और बी० बी० एंड० सी० आई०, ई० आई० और ओ० टी० के कुछ भाग तथा ई० पी० रेलवे का समावेश होगा।

उपर्युक्त व्यवस्था से कई प्रकार के लाभ होने की आशा है। कार्य क्षमता में उन्नति, खर्च में किफ़ायत और शासन प्रबंध में सुधार होने की पूरी आशा की जाती है। दो या अधिक रेलों के एक ही ज़ोन में हो जाने से ऊंचे दर्जे का शासन प्रबंध का एकीकरण हो जायगा। इससे खर्च कम होगा। अलग-अलग रेलों के बीच में जो आज बहुत सा पत्र-व्यवहार होता है और आपस में जो कई तरह का मेल बिठाना होता है वह सब कम हो जायेगा। इससे काम भी जल्दी होगा, स्टाफ की कम आवश्यकता रहेगी और इससे खर्च में कमी आयेगी। व्यापारी-व्यवसायी वर्ग का भी अलग-अलग कंपनियों की बजाय एक बड़े प्रदेश

में एक अधिकारी वर्ग से ही काम पड़ेगा। इससे उनको सुविधा होगी। इंजिन तथा डिब्बे आदि का बड़े प्रदेश में समूहीकरण होने से अधिक अच्छा उपयोग हो सकेगा। रेलवे वर्कशाप का भी अधिक अच्छा उपयोग हो सकेगा। 'स्टोर्स' को बड़ी मात्रा में एक केन्द्रीय व्यवस्था द्वारा खरीदने आदि का प्रबंध भी किफायत से हो सकेगा। एक विचारधारा ऐसी भी है जो इस प्रकार के सुविधा का कोई लाभ नहीं समझती। इस विचारधारा के अनुसार खर्चे में किफायत तो कुछ बातों में होगी पर वृद्धि अधिक बातों में हो जायगी। नए हेडक्वार्टर्स, वर्कशाप और स्टोर क्वार्टर बनाने में खर्च लगेगा। स्टाफ का दूर दूर तबादला होने लगेगा क्योंकि एक जोन में कई रेलें आ गईं। इससे स्टाफ की असुविधा बढ़ेगी। इसका असर काम पर भी पड़ेगा। प्रबंध के मामले में स्थानीय स्वतन्त्रता कम हो जाने से भी कार्यक्षमता पर असर पड़ेगा। हमारे विचार से यह आपत्तियाँ बहुत ठोस आधार पर उठाई हुई नहीं हैं। इसके अलावा याद रखने की बात यह है कि वास्तव बनते समय चालू आन्तरिक व्यवस्था को जो की त्यों रखने का विचार है। इस समय अधिकांश रेलों की व्यवस्था विभागीय आधार पर है न कि प्रादेशिक आधार पर। इस व्यवस्था को जिस हद तक वैसी ही बनती रहने देना ठीक होगा। इससे स्टाफ की इधर से उधर परिवर्तन भी अधिक नहीं होगा और नई व्यवस्था का काम आसानी से शुरू हो जायगा।

उपर्युक्त सब बातों पर विचार करके १९५१-५२ में दक्षिण ज़ोन का निर्माण करने का भारत सरकार का विचार है। विभागीय आधार तो जारी रहेगा, पर केन्द्रीकरण को कम करने के लिए सारे ज़ोन के काम को दृष्टि से तीन सहायक प्रदेशों में बाँटने का इरादा है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक विभाग में डिस्ट्रिक्ट (विभाग के आधार पर जो कम से कम क्षेत्र तय कर रखा है) अफसर, सहायक प्रादेशिक अफसर, विभागीय अध्यक्ष और जनरल मैनेजर का क्रम रहेगा।

रेलों का आर्थिक प्रभाव—हमारे देश के आर्थिक विकास के लिये रेलों का महत्त्व है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि विदेशी शासन-काल में भारतीय रेलों के विकास होने से उनके द्वारा कई प्रकार की राष्ट्र की हानि हुई है। हमारे औद्योगिक विकास में रेलों का भाड़ा नीति बाधक हुई। हमारे गृह उद्योगों के विनाश में वे सहायक हुई। हमारे जंगलों को उन्होंने अपने ईंधन की आवश्यकता पूरी करने के लिए बर्बाद किया। पर यह सब तो अब इतिहास की बातें हैं। आज तो भारत एक स्वतन्त्र देश है और भारतीय रेलें राष्ट्रीय सरकार की उनके द्वारा संचालित सबसे बड़ा उद्योग हैं। भारत के भावी

आर्थिक विकास के लिये रेलों का विस्तार आवश्यक है। देश के किसी प्रदेश में अकाल पड़ने पर रेलों से ही वहां अनाज पहुँचाया जा सकता है। रेलें ही कारखानों तक कच्चा माल और बाज़ार तक तैयार माल लातीं और ले जातीं हैं। लोगों को आने-जाने की सुविधा रेलों के कारण बहुत कुछ हुई है। रेलों से भारत सरकार को काफ़ी आय होती है। इसी तरह के और लाभ भी गिनाये जा सकते हैं। रेलों का देश के आर्थिक जीवन में बड़ा महत्त्व है यह एक सर्वमान्य तथ्य है।

सड़क यातायात—हमारे देश में सड़कों की वर्त्तमान स्थिति संतोषजनक नहीं है। देश में चार तो बड़ी 'ट्रंक रोड' हैं। ये सड़कें बहुत पुरानी हैं। इनमें सब से महत्त्वपूर्ण सड़क ग्रांड ट्रंक रोड है जो कलकत्ता से दिल्ली और दिल्ली से खैबर तक जाती है। एक सड़क कलकत्ते से मद्रास, एक मद्रास से बंबई और एक बंबई से दिल्ली को जाती है। इन सड़कों के अलावा फिर सहायक सड़कें हैं जिनमें से कई इन ट्रंक रोडों से मिली हुई हैं। पर न तो ये सड़कें काफ़ी हैं और न जो हैं उनकी हालत ही अच्छी है। इस असंतोषजनक स्थिति के कई कारण हो सकते हैं। पर सबसे बड़ी बात यह रही है कि रेलों की अपेक्षा सड़कों पर ध्यान ही बहुत कम दिया गया। देश के विभाजन के बाद की भारत की सड़क-संबंधी स्थिति यह है कि १९४९ में कुल २३९,०८१ मील पक्की (मेटल्ड) और कच्ची (आन मेटल्ड) सड़कें हमारे देश में थीं। इनमें ८५,७८८ मील पक्की और १,५३,२९३ मील लंबी कच्ची सड़कें थीं। अगर मोटर चल सकने न चल सकने की दृष्टि से देखें तो १८१४०६ मील लंबी मोटर चल सकने योग्य और ५७५७५ मील लंबी मोटर नहीं चल सकने योग्य सड़कें थीं। सड़कों संबंधी हमारी इस स्थिति का दुनिया के कुछ दूसरे देशों से मुकाबला करने पर नीचे लिखी स्थिति सामने आती है :—

देश का नाम	वर्ष	जन सं० करोड़	क्षेत्रफल ला०व०मी०	मोटर योग्य सड़क मील	मोटर अयो० सड़क मील	कुल मील
सं० रा० अमे०	(१९४०)	१३.२	३०	२७	१,०००,००० २,००६,०००	३,००६,०००
यूना० किंग०	(१९३९)	४.६	००.८६	१६०,१२०	१६,१३०	१७६,२६०
फ्रान्स	(१९३९)	४.२	२.१३	—	—	४०५,०२८
भारत	(१९४९)	३१.९	१२.१७	१८१,४०६	५७,५७५	२३९,०८१
पाकिस्तान	(१९४९)	७.१	३.६५	५,५६६	४८,११६	५५,६१३

उपर्युक्त तालिका से यह मालूम पड़ता है कि भारत और पाकिस्तान में क्रमशः प्रतिवर्ग मील ०.१९ मील और ०.१५ मील लम्बी सड़क है, जब कि अमे-

रिका १ मील, ब्रिटेन में २ ०२ मील, और फ्रांस में १ ६ मील है। प्रति १००० व्यक्ति के पीछे भारत और पाकिस्तान में क्रमशः सड़क की लंबाई ० ३५ मील और ० ७६ मील है, जब कि अमेरिका में ८८ ७ मील, युनाइटेड किंगडम में २ ६ मील, और फ्रांस में ६ मील है। यदि हम विभिन्न प्रदेशों की दृष्टि से विचार करें तो दक्षिण भारत में सड़कों की स्थिति सब से अच्छी और उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान तथा पंजाब के कुछ हिस्सों में स्थिति सब से अधिक खराब मिलेगी। हिमालय की निचली पहाड़ियों की भी सड़क संबंधी स्थिति काफी असंतोषजनक है।

सड़कों का वर्गीकरण—हमारे देश में सड़कों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है —(१) राष्ट्रीय सड़कें (नेशनल हाइवेज) (२) प्रान्तीय सड़कें, (३) जिला सड़कें, (४) गांव की सड़कें। राष्ट्रीय सड़कों द्वारा राज्य की राजधानियां, बड़े बड़े शहर और मुख्य मुख्य बन्दरगाह आपस में एक दूसरे से मिलाये गये हैं। भारत को बर्मा, नेपाल और तिब्बत से भी ये ही सड़कें मिलाती हैं। १ अप्रैल, १९४७ से इन सड़कों को बनाने और इनको ठीक दशा में रखने का जिम्मा भारत सरकार ने ले लिया है। इस समय इन सड़कों की कुल लंबाई १३,००० मील है जिसमें से लगभग ११८[illegible] मील लम्बी सड़कें तो बनी हुई हैं और लगभग १६०० मील लम्बे बीच बीच के टुकड़े छूटे हुए हैं। प्रान्तीय सड़कें प्रान्त की प्रमुख सड़कें हैं और राष्ट्रीय सड़कों के साथ ये मिली हुई हैं। जिले की सड़कें जिलों के विभिन्न हिस्सों को आपस में जोड़ती हैं और बड़ी सड़कों से तथा रेलों से भी उनका संबंध है। गांवों को आपस में मिलाने वाली गांव की सड़कें हैं। प्रायः ये पगडंडियां मात्र हैं।

सड़कों का प्रबन्ध—प्रबन्ध की दृष्टि से राष्ट्रीय सड़कें भारत सरकार का विषय हैं। इनके अलावा बाकी की सब सड़कें राज्य की सरकारों का विषय हैं। राज्य का सार्वजनिक निर्माण विभाग सड़कों के चार्ज में रहता है। इसके अलावा जिला बोर्ड और म्युनिसिपैल्टी की सड़कें भी हैं। म्युनिसिपल सड़कों को छोड़कर लगभग ८० प्रति शत सड़कें स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं के तहत में ही हैं। सड़कों के विकास सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिये प्रति वर्ष 'इंडियन रोड कांग्रेस' भी होती है।

सड़कों का विकास—हमारे देश में सड़कों के विकास की अत्यन्त आवश्यकता है, यह दुहराने की जरूरत नहीं। एक अर्थ में देश का सारा विकास ही इस पर निर्भर है। प्रथम महायुद्ध के बाद जब मोटर द्वारा आवागमन की मात्रा बढ़ गई तो सड़कों का महत्त्व खास तौर से सामने आया। १९२७ में डा०

एम० आर० जयकर के सभापतित्व में 'रोड डेवलपमेंट कमेटी' की नियुक्ति हुई। इस कमेटी की सिफ़ारिश पर भारत सरकार ने मार्च, १६२६ को सेन्ट्रल रोड डेवलपमेंट फ़ण्ड का निर्माण किया। मोटर स्प्रिट पर मार्च १६२६ में जो आयात और उत्पादन-कर बढ़ाया गया था उस बढ़े हुए भाग की आय से यह फण्ड बना था। इस फ़ण्ड में से राज्यों को सड़कों के निर्माण के लिये आर्थिक सहायता दी जाती है। इस फ़ण्ड में ३१ मार्च, १६४० तक २७ ०३ करोड़ रुपया एकत्रित हो चुका था। इसमें से ५.०६ करोड़ रुपया तो रिज़र्व में रखा गया था और २१.६४ करोड़ रुपया राज्यों में बाँटने के लिये उपलब्ध था। इसमें से १८.५ करोड़ रुपया ३१ मार्च १६४७ तक वास्तव में बाँटा जा चुका था। रोड फण्ड के निर्माण के बाद प्रान्तों और राज्यों की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। आज तक भी यही हालत चली आ रही है। इसलिये प्रान्त और राज्य की सरकारें अपनी आय में से जो रुपया सड़कों पर खर्च करना चाहती थीं और करती थीं उसमें उन्हें कमी करनी पड़ी। पहले रोड फ़ण्ड का रुपया अन्तर्राज्य और अन्तर-जिला के महत्त्व की सड़कों पर ही खर्च हो सकता था। पर बाद में भारत सरकार को यह मंज़ूर करना पड़ा कि रोड फण्ड से राज्य को मिलने वाले रुपये का २५ प्रतिशत सहायक सड़कों पर खर्च किया जा सकता है। जो सड़कें रेलों के मुक़ाबिले में आती हैं उन पर भी अपने हिस्से के २५ प्रतिशत से अधिक रुपया राज्य की सरकारें खर्च नहीं कर सकतीं। रुपये की कठिनाई के कारण सड़कों का विकास नहीं हो सका। हमारे देश में सड़कों का विकास कितने धीमे हुआ है इसका अनुमान इसी से लग जाता है कि १६००-१६४५ तक ४५ वर्षों में हमने जितनी मील सड़कें बनाईं उतनी मील सड़कें संयुक्त राज्य अमेरिका ने १३ वर्ष में ही बना ली थीं। सन् १६०० में उस समय के अंग्रेज़ी भारत में १७६००० मील कुल सड़कों की लम्बाई थी। १६४५ में यह लम्बाई बढ़कर २,३६५३५ मील लम्बी हो गई थी—यानी केवल ६०,५३५ मील लम्बी सड़क इन ४५ वर्षों में बनी। यदि हम केवल पक्की सड़कों को ही लें तो सन् १६०० में ४०००० मील सब सड़कों की लम्बाई थी वह १६४५ में ७८६६० मील हो गई—यानी ३८६६० मील लम्बी नई पक्की सड़कें ४५ साल में ब्रिटिश भारत में बन पाई। सड़कों पर जो खर्च होता रहा है उससे भी इस धीमे विकास का पता चलता है। रोड फण्ड बनने के बाद सड़कों पर होने वाला कुल खर्च द्वितीय युद्ध के समय तक बढ़ने की अपेक्षा उल्टा कम ही हुआ, क्योंकि प्रान्तों और राज्यों ने अपनी आय में से सड़कों पर बहुत कम खर्च किया। हालांकि इन वर्षों में मोटर यातायात पर लगने वाले करों में बहुत अधिक वृद्धि हुई। प्रान्त की सरकारों और केन्द्र की सरकार—सभी ने करों

में यह योजना कार्यान्वित होनी चाहिये इस बारे में विचार भेद रहा। आखिरकार १० वर्ष के आधार पर ३०० करोड़ रुपये के खर्च की एक योजना बनी। पर आर्थिक कठिनाई, ट्रेन्ड व्यक्तियों के अभाव और सामान की कमी के कारण इस योजना के अनुसार प्रगति नहीं हो सकी। १९४७ की अप्रैल से १९५० की मार्च तक के तीन सालों में 'ए' श्रेणी के राज्यों में २३·८३८ करोड़ 'बी' श्रेणी के राज्यों में ३·७०२ करोड़ और 'सी' श्रेणी के राज्यों में ०·५७२ करोड़ —कुल २७·११२ करोड़ रुपया सड़कों पर खर्च हुआ है। नागपुर योजना के अनुसार इन वर्षों में राष्ट्रीय सड़कों के अलावा, जो भारत सरकार के जिम्मे हैं, ६११ करोड़ रुपया खर्च होना चाहिये था। इसके मुकाबिले में केवल २७ ११ करोड़ रुपया खर्च हुआ। अर्थात् ५% प्रगति हुई। यह स्पष्ट है कि नागपुर योजना के अनुसार कार्य नहीं हो सकता है। सड़कों के भावी विकास के लिये वैज्ञानिक खोज का बड़ा महत्त्व है। इसी उद्देश्य से सितम्बर १९५० में सड़कों सम्बन्धी एक केन्द्रीय अनुसंधान संस्थान [सेंट्रल रिसर्च इन्स्टीट्यूट] का शिलान्यास किया गया है। इसका काम स्थानीय अनुसंधान संस्थानों का जैसे मद्रास, कलकत्ता, पटना, लखनऊ आदि में जो स्थित हैं उनके कामों का समीकरण करना और उनका मार्ग दर्शन करना होगा।

पाँच साला योजना:—भारत सरकार द्वारा नियुक्त योजना आयोग ने पहले पाँच साल के लिए एक प्रस्तावित योजना प्रकाशित की है [जुलाई, १९५१]। सड़कों के विकास के बारे में योजना आयोग ने अपनी रिपोर्ट में वह कहा है कि सड़कों संबन्धी योजना आर्थिक जीवन के अन्य क्षेत्रों, जैसे कृषि, उद्योग आदि सम्बन्धी योजनाओं की आवश्यकता को ध्यान में रखकर बनाई जानी चाहिये। उत्पादन में जो सड़कें सहायक हों उनको आज प्राथमिकता देने की जरूरत है। उत्तर प्रदेश में इस बात का ध्यान रखा गया है। जो सड़कें रेलों के सहायक या पूरक का काम करती हैं और किन्हीं स्थानों पर भीड़ को कम करती हैं उनको पहले बनाना चाहिये।

इस योजना में राष्ट्रीय सड़कों के बारे में इस प्रकार से प्राथमिकता का निर्णय किया गया है:—(१) सड़कों के बीच-बीच में जो टुकड़े छूटे हुए हैं उनको बनाना। (२) सड़कों की ऊपर की सतह में सुधार करना ताकि अधिक ट्रैफिक बर्दाश्त कर सकें। और (३) पुराने पुलों में सुधार करना ताकि भारी बोझ ले जाने योग्य बन सकें। राज्य को अपनी सड़कों की योजना समझ-सोचकर केन्द्रीय सड़क संगठन की सलाह से बनानी चाहिये। गाँवों की सड़कें बनाने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसमें गाँव वालों का सहयोग

बढ़ी है इसमें कोई संदेह नहीं। व्यक्तिगत हाथों में जब मोटर यातायात था उससे यदि आज किराया कुछ अधिक है और लाभ कम भी है तो इसे राष्ट्रीयकरण की असफलता मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इसका एक कारण यह भी है कि पहले की अपेक्षा यात्रियों और काम करने वाले दोनों ही को अब अधिक सुविधा दी जाती है। सरकार के हाथ में जो व्यवसाय है उसका एक मात्र दृष्टि-कोण शोषण द्वारा अनुचित लाभ कमाना नहीं हो सकता। फिर भी जहाँ कार्य-क्षमता की कमी हो और अपव्यय हो वहाँ बराबर सुधार करने का प्रयत्न करने चाहियें। राष्ट्रीयकरण की सफलता के लिये यह आवश्यक है। इसके अलावा यह भी जरूरी है कि राज्य की ट्रान्सपोर्ट सर्विसेज जिन मोटर गाड़ियों को काम में लें उनका स्टैंडर्डाइज़ेशन हो, और देश के मोटर उद्योग के विकास से पुरानी के स्थान पर नई गाड़ियां बदलने और उनकी संख्या बढ़ाने की योजना का मेल बिठाया जाये। मोटर गाड़ी सुधारने के कारखानों की स्थापना करने और 'टेक्निकल मेन' को शिक्षा देने की व्यवस्था करने की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिये।

पाँच वर्षीय योजना में राज्य द्वारा चलने वाली मोटर सर्विसेज के लिए 'अ' श्रेणी के राज्यों के लिए ५.६ करोड़ रुपया, 'ब' श्रेणी के राज्यों के लिये १.६ करोड़ रुपया और 'स' श्रेणी के राज्यों के लिये २० लाख रुपया—इस प्रकार कुल ७.४ करोड़ रुपया रखा गया है।

आन्तरिक जल यातायात—जल यातायात दो प्रकार के हैं—एक तो नदी यातायात और दूसरा समुद्र तटीय यातायात। पहले हम नदी यातायात के बारे में विचार करेंगे।

नदी यातायात—भारत में नदी यातायात अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। लिखित इतिहास के पहले से नदी यातायात का इस देश में विकास हो चुका था। 'युक्ति कल्पतरु' नाम की एक प्राचीन संस्कृत की पुस्तक है, जिसकी प्राचीनता का ठीक-ठीक अनुमान लगाना भी कठिन है, उसमें समुद्र और नदी में चलने योग्य नावों की निर्माणकला का उल्लेख आता है। साँची के स्तूप में भी एक नाव का चित्र खुदा हुआ है। मेगस्थनीज़ ने भी नदी द्वारा यातायात का ज़िक्र किया है। १४ वीं शताब्दी में भी नदी यातायात उन्नत दशा में था। पर वह तो प्राचीन इतिहास की बात हुई। वर्तमान युग में भाप से चलने वाले स्टीमर का सबसे पहले १८२३ में उपयोग हुआ। १८४२ में कलकत्ता और आगरे के बीच में यमुना नदी में नियमित रूप से पाक्षिक यात्रा का प्रबन्ध था। पर स्टीमर का महत्त्व नदी यातायात में कभी बहुत अधिक नहीं

हुआ। देशी नावों द्वारा कहीं अधिक मात्रा में यातायात होता था।

देश में नदी यातायात का ह्रास रेलों के विकास के साथ साथ १८५५ से आरम्भ हुआ। सिंचाई के लिये जब बड़ी बड़ी नहरें बनने लगीं तो उनका असर भी नदी यातायात पर बुरा पड़ा क्योंकि नदियों से स्थानों में उनके ऊपरी हिस्सों से नहरों में पानी चले जाने से पानी की कमी होने लगी। बाद में नदी यातायात की मात्रा थोड़ी बढ़ी है पर फिर भी इस समय नदी यातायात देश के उत्तरी-पूर्वी भाग में—गंगा-ब्रह्मपुत्रा भाग पर—ही सीमित है। देश के विभाजन के कारण और भारत पाकिस्तान के सम्बन्ध अच्छे नहीं होने से भी नदी यातायात में अड़चन उत्पन्न हुई है और यह आवश्यक समझा जा रहा है कि हमारे नदी यातायात की इस तरह पुनर्व्यवस्था हो जाय कि पाकिस्तान में से होकर कम से कम आना-जाना पड़े।

भारत में साल भर जारी रह सकने वाले जल मार्गों की लम्बाई ४१ ००० मील के लगभग है। इस पर स्टीमरें और देशी बड़ी बड़ी नावें चल सकती हैं। इसके अलावा ऐसे जलमार्ग भी कई हैं जहाँ छोटी छोटी नावें चल सकती हैं। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में ६०० मील लम्बी नहरों पर यातायात होता था। १९३८-३९ में इनकी ४ ०५ मील की लम्बाई हो गई थी। कुल किश्तियों की संख्या इस शताब्दी के आरम्भ में ०८ ००० थी। यह संख्या द्वितीय महायुद्ध के पहले २ ०६ ००० हो गई थी। इस काल में जल यातायात से आने जाने वाले माल की मात्रा २ लाख टन से १०७ लाख टन (१९३८-३९) होगई थी और यात्रियों की संख्या ६ लाख से १६ लाख होगई थी। विभाजन के बाद जल यातायात के लिए उपलब्ध नहरों की लम्बाई ५७ ४ मील, आने जाने वाले माल की मात्रा १६७ लाख टन और यात्रियों की संख्या ३ ८० ००० है। (दिसंबर १९५० तक के) गंगा ब्रह्मपुत्रा जलमार्ग पर स्टीमर से होने वाले ट्रैफिक की मात्रा साल भर में ६ करोड़ टन मील है। इन्हीं नदियों में देशी नावों से इससे दुगना ट्रैफिक होता है। कलकत्ते से आने जाने वाले कुल माल का मुश्किल से १/१२ वाँ हिस्सा जल मार्ग से आता जाता है। दक्षिण में बकिंघम नहर जो मद्रास और बेजवाड़ा को मिलाती है गोदावरी और कृष्णा नदी की नहरें और कुम्मगुन्न नहरें जल यातायात के प्रमुख साधन हैं। दक्षिण भारत की नदियाँ उत्तर भारत की नदियों की अपेक्षा आवागमन के लिये कम उपयोगी हैं। इस प्रदेश की प्राकृतिक बनावट नदी द्वारा यातायात के मार्ग में एक बड़ी बाधा उत्पन्न करती है।

भारत में नदी यातायात को विकसित करने की बड़ी आवश्यकता है।

पिछले महायुद्ध के समय इसका महत्त्व खासतौर से सामने आया था। जल-यातायात सबसे सस्ता साधन है। उसमें मार्ग बनाने का, और स्टेशन बनाने का और स्टेशनों आदि पर इतना प्रबन्ध रखने का प्रश्न ही नहीं उठता, और इस सम्बंध का सारा खर्च बच जाता है। जलयातायात अभी तक प्रान्तीय सरकारों का विषय रहा है, इस कारण से भी इसके देशव्यापी विकास की कोई योजना नहीं बन सकी। अब स्वतन्त्र भारत का जो विधान बना है उसमें अन्तर्राज्य की नदियों और जल मार्गों का यातायात भारत सरकार का विषय कर दिया गया है। और 'सेन्ट्रल वाटर पावर इर्रीगेशन और नेवीगेशन कमीशन' के ज़िम्मे देश के नदी यातायात को एक योजना के आधार पर विकसित करने का काम दिया गया है।

इस प्रश्न पर यह कमीशन दो दृष्टियों से विचार कर रहा है। एक तो मौजूदा जल मार्गों का सुधार और नए जल मार्गों की स्थापना करना। दूसरे संगठन और व्यवस्था में सुधार करना। जलयातायात का प्रबन्ध राज्य को स्वयं ही करना चाहिये। मि० ओटो पोपर नाम के एक विशेषज्ञ की सेवाएँ भी 'इकोनोमिक कमीशन एशिया फॉर ईस्ट' से इस विषय में जाँच पड़ताल करने और भारत सरकार को सलाह देने के लिये ली गई थीं। उनकी यह सलाह है कि देशी नावों को सहकारिता के आधार पर संगठित करना चाहिये और उनका पूरा-पूरा उपयोग किया जाना चाहिये। मि० पोप ने इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है कि गंगा के ऊपरी हिस्से में नावों के ठहरने के स्थान (रिवर पोर्ट) और सामान उतारने चढ़ाने के क्रेन आदि यांत्रिक साधनों की कमी है और उसकी पूर्ति करना आवश्यक है। क्रेन की यह कमी कलकत्ते तक में बताई गई है। नदी के किनारों को स्थान छोड़ने से रोकने के लिये किनारों पर झाड़ियाँ लगाने की आवश्यकता पर भी उन्होंने जोर दिया है ताकि ज़मीन की घिसावट से किनारों का स्थान न बदले और उससे होने वाली हानि न हो सके।

नदी यातायात के मार्ग में, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, एक कठिनाई यह है कि सिंचाई की नहरों के कारण पानी की कमी आ जाती है। इसका उपाय यह है कि जल संचय (रिवर कंजरवेन्सी) की उचित व्यवस्था की जावे। यह व्यवस्था बड़ी खर्चीली होती है और केवल जल यातायात के लिये इतना खर्च करना सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये नदी के उपयोग की बहु-उद्देशीय (सिंचाई, बिजली, बाढ़ नियंत्रण और यातायात) योजनाओं के बनने पर ही यह व्यवस्था सम्भव है। इसीलिये भारत-सरकार ने नदियों की बहु-उद्देशीय योजना की नीति को स्वीकार किया है। इससे जल यातायात को यह

कठिनाई दूर हो सकेगी।

इस समय जो नदी घाटी योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं उनमें से कई एक के पूरी होने पर देश के जल यातायात में भी विस्तार होगा। उदाहरण के लिये उड़ीसा की हीराकुण्ड बाँध योजना पूरी होने पर महा नदी का ३०० मील का टुकड़ा जल यातायात के योग्य हो सकेगा। इसी प्रकार दामोदर घाटी योजना के फलस्वरूप रानीगंज की निचली कोयले की खानों को हुगली नदी से एक जल यातायात की नहर के द्वारा मिलाया जा सकेगा। गंगा बैरेज प्रोजेक्ट के अन्तर्गत भी एक नहर बनाने की योजना है जो भागीरथी से कासीपुर के पास मिलेगी। गंगा और घागरा नदी को भी यातायात के योग्य बनाने का विचार चल रहा है। 'सेन्ट्रल वाटर पावर इरीगेशन एण्ड नेवीगेशन कमीशन' की अब तक की जाँच से यह मालूम होता है कि पूर्वी और पश्चिमी घाट को भी जल यातायात से जोड़ना सम्भव है। पर यह योजना बहुत व्यय की हो सकती है। इसी प्रकार आसाम और पश्चिमी बंगाल के बीच में भी जल यातायात की स्थापना सम्भव है। सारांश यह है कि भारत में जल यातायात के विकास के लिये बहुत गुंजाइश है। यह विकास आवश्यक है। इस ओर सरकार का ध्यान भी है।

समुद्र तटीय यातायात — प्राचीन काल में भारतीय जहाजों द्वारा समुद्री व्यापार होता था, यह बात प्रसिद्ध है। सिकन्दर की फौजें जब लौटने लगीं तो २००० जहाजों और बेड़े का उन्होंने अपनी समुद्री यात्रा के लिए उपयोग किया था। अकबर के शासनकाल में ४०००० जहाज तो केवल सिंध नदी के व्यापार में लगे हुए थे। जब वास्को डी गामा पहली बार भारत में आया तो उसे यहाँ ऐसे नाविक मिले जो जल यातायात के बारे में उससे कहीं अधिक जानकारी रखते थे। उन्नीसवीं सदी तक भारतीय जहाज विदेशी और समुद्रतटीय व्यापार में अच्छा हिस्सा लेते रहे। पर बाद में अंग्रेजी जहाजों की अनुचित प्रतिस्पर्द्धा और अनुचित उपायों से भारतीय जहाजी यातायात को प्रायः नष्ट सा कर दिया। अंग्रेजी जहाजों के मालिकों का ब्रिटिश सरकार पर काफी असर था। उन्होंने 'नेवीगेशन लाज़' पास करवाये। इन कानूनों के बाद भारतीय जहाज ब्रिटिश बन्दरगाहों में जा नहीं सकते थे। जहाजों के निर्माण में वैज्ञानिक तरीकों के उपयोग और लोहे के जहाज बनने से भी भारतीय जहाजी यातायात को बहुत धक्का पहुँचा। इसका नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापार में तो भारतीय जहाजों का कोई स्थान बचा ही नहीं, पर समुद्र तटीय व्यापार में भी ब्रिटिश जहाजों का प्रभुत्व कायम हो गया। ब्रिटिश नेवीगेशन कम्पनी ने 'कान्फ्रेंस' क

रूप में अपना एक संगठन बना लिया था। यह संगठन हर प्रकार से भारतीय जहाज़ों का विरोध करता था। भारतीय जहाजों का विरोध करने के दो उपाय खास तौर से काम में लाये जाते थे। तरीक़ा एक तो यह था कि पहले तो किराये को कम करके भारतीय जहाज़ों को इस क्षेत्र से हटा दिया जावे और फिर किराया बढ़ा दिया जावे। यही किराये की लड़ाई का तरीका था। दूसरा तरीक़ा यह था कि यदि माल भेजने वाले 'कान्फ्रेंस' के जहाज़ों से ही अपना माल भेजते हैं तो उन्हें भाड़े का एक अंश, प्रायः १०%, एक निश्चित समय के बाद वापस मिल जाता था। अब तो इस 'कान्फ्रेंस' में दो भारतीय जहाजी कंपनियाँ भी शामिल करली गई हैं। भारतीय जहाजों के मार्ग में और भी कई कठिनाइयाँ थीं। जैसे ब्रिटिश और यूरोपियन बीमा कम्पनियाँ उनके विरुद्ध पक्षपात का व्यवहार करतीं, और समुद्रतटीय व्यापार और मुसाफ़िरों के आवागमन को ब्रिटिश जहाज़ प्रोत्साहन नहीं देते।

मरकेन्टाइल मेरीन कमेटी:—प्रथम महायुद्ध के बाद भारत में राष्ट्रीय जहाज़ी बेड़े के निर्माण की माँग की जाने लगी। देश की आर्थिक विकास की दृष्टि से तो यह आवश्यक था ही पर देश की सुरक्षा के लिये भी इसका महत्त्व था। भारत सरकार ने १९२३ में एक मरकेन्टाइल मेरीन कमेटी की नियुक्ति की। कमेटी ने भारतीय युवकों को जहाज़ी शिक्षा देने की व्यवस्था करने, भारतीयों को विदेशी जहाज़ों पर अनिवार्य रूप से काम देने, समुद्रतटीय बेड़े का भारतीयकरण करने, और जहाज़ निर्माण के उद्योग को सहायता देकर पुनर्जाग्रत करने की सिफ़ारिशें कीं। तत्कालीन भारत सरकार ने इन सिफारिशों में से एक सिफ़ारिश को स्वीकार किया। भारतीय युवकों की जहाज़ी शिक्षा के लिए 'डफरिन' जहाज़ की स्थापना की गई।

समुद्रतटीय व्यापार के भारतीयकरण के प्रयत्न:—समुद्रतटीय व्यापार भारतीय जहाज़ों के लिये सुरक्षित रखने की मांग भी देश में उठी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में १९२८ में इस आशय के बिल भी पेश किये गये। पर तत्कालीन भारतसरकार के विरोध के कारण इन बिलों का कोई नतीजा नहीं आया।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्:—जब गत महायुद्ध आरम्भ हुआ तो भारत सरकार को यह अनुभव हुआ कि भारतीय जहाज़ी बेड़े की कितनी आवश्यकता है। १९४५ में जहाज़ों सम्बन्धी 'रिकन्स्ट्रक्शन पोलिसी सब-कमेटी' की भारत-सरकार ने नियुक्ति की। इस कमेटी ने जनवरी १९४७ में अपनी रिपोर्ट पेश की और सरकार द्वारा राष्ट्रीय जहाजी नीति अपनाने की सिफारिश की। आगे

साले पाँच से सात सालों में २० लाख टन का जहाजी बेड़ा खड़ा कर लेने का लक्ष्य इस कमेटी ने देश के सामने उपस्थित किया। समुद्रतटीय व्यापार पूर्णतया भारतीय हाथों में ले लेने की इस कमेटी ने सिफारिश की। इसी प्रकार दूसरे देशों के व्यापार के बारे में भी इसने कुछ अनुपात निश्चित किये। भारतीय शिपिंग बोर्ड की स्थापना करने की भी कमेटी की राय थी।

अगस्त १६४७ में भारत स्वतन्त्र हो गया। तभी से भारत सरकार भारतीय जहाजी बेड़े के निर्माण के लिए आवश्यक प्रोत्साहन दे रही है। जहाजी यातायात के एक नये सरकारी विभाग की स्थापना की जा चुकी है जो डाइरेक्टर जनरल इंडियन शिपिंग के तहत में काम करता है। १६४७ के अगस्त में भारत सरकार ने तीन नए शिपिंग कॉरपोरेशनों स्थापित करने की घोषणा की थी। इनमें से प्रत्येक की १० करोड़ की पूंजी मानी गई थी जिसका ५१% भाग भारत सरकार से मिलने की बात थी। प्रत्येक कॉरपोरेशन का अपना निश्चित मार्ग और निश्चित टनेज हो, यह भी तय किया गया था। इन कारपोरेशनों का उद्देश्य था भारतीय टनेज की शीघ्रातिशीघ्र मात्रा बढाना और जहाजी यातायात का विकास करना। पर भारत सरकार आर्थिक और अन्य कठिनाइयों के कारण अभीतक केवल एक कारपोरेशन की ही स्थापना कर सकी है। इसका काम आस्ट्रेलिया, सुदूरपूर्व और निकट पूर्व के साथ व्यापार करना है और इसका मैनेजिंग एजेंसी सिंधिया स्टीम नेवीगेशन लिमिटेड के पास है।

जनवरी १६५० में जो शिपिंग कान्फ्रेंस हुई थी उसमें समुद्र तटीय व्यापार की भारतीय मांगों को और अधिक बढ़ाने के प्रश्न पर विचार किया गया था। मौजूदा ब्रिटिश जहाजों में से कुछ के लाइसेंस रद्द करने और आगे नए लाइसेंस नहीं देने का कान्फ्रेंस में निर्णय किया गया। भारतीय कम्पनियों को सरकार ने यह आश्वासन दिया कि जहाँ तक सम्भव होगा सरकारी माल लाने ले जाने का काम वह उन्हीं से लेगी। विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में भी यह निर्णय किया गया कि आगे से विदेशी व्यापार सम्बन्धी सरकारी समझौतों में यह धारा रखी जाय कि ५०% माल भारतीय जहाजों में लाया-ले जाया जायगा। अगस्त १६५० में भारत सरकार ने समुद्रतटीय यातायात केवल भारतीय जहाजों के लिए ही सुरक्षित रखने का निर्णय कर लिया है। सरकार की इस नीति को कहाँ तक सफलता मिली है इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि समुद्र तटीय व्यापार में जहाँ आज से दो साल पहले १,७८,००० विदेशी टनेज था वहाँ अब केवल ४८००० टन ही है। विदेशी व्यापार का जहाँ तक सम्बन्ध है १६४६-४७ में इस क्षेत्र में एक भी भारतीय जहाज काम नहीं करता था, पर आज २५ जहाज काम कर रहे हैं।

इनमें से अधिकांश सामान ले जाने वाले हैं और कुछ मुसाफिर ले जाने वाले भी हैं। सन् १९४७-४८ में समुद्र तटीय व्यापार का ४३% और १९४८-४९ में ५३% भाग भारतीय जहाजों का था।

पाँच सालाना योजना:—हमने ऊपर यह लिखा है कि १९४७ में शिपिंग सब कमेटी ने भारतीय जहाजों के लिये आगामी ५-७ वर्षों में २० लाख टन का लक्ष्य उपस्थित किया था। इस लक्ष्य तक हम पहुँच नहीं सके हैं। युद्ध के पहले भारतीय टनेज २,४५,००० था और १९४६ में १,२७,०८८ ही रह गया था, वह १९५० के अन्त में ३,७७,५०० हो गया है। इस समय ७१ जहाज ३,०५,७१७ टनेज के भारतीय समुद्र तट पर हैं और उनमें से आधे से ज्यादा २० वर्ष से अधिक आयु के हैं। भारतीय जहाजों की संख्या में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना न समुद्र तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के हाथ में पूर्ण तौर से आसकता है और न पुराने जहाजों को बदला जा सकता, और न विदेशी व्यापार में ही हम अपना योग्य हिस्सा ले सकते हैं। इसीलिए पांचवर्षीय योजना में इस काम के लिये १४.९ करोड़ रुपया खर्च करने का प्रस्ताव है। ८०००० टन तो समुद्रतटीय व्यापार के लिये और १,२५,००० टन विदेशी व्यापार के लिये और ६०००० टन ईस्टर्न शिपिंग कोरपोरेशन के, जो भारत सरकार ने स्थापित किया है, लिये प्राप्त करने की योजना है। चूंकि टनेज बढ़ाने के लिये भारत सरकार कम्पनियों को आर्थिक सहायता देगी इसलिये वह कम्पनियों पर अपनी देख-रेख भी रक्खेगी ताकि उचित भाड़ा वसूल किया जाये, प्रबन्ध अच्छा हो और मुनाफा वापस इसी काम में लगे। मेरीन इन्जीनियरिंग और मर्चेंट नेवी-रेटिंग की शिक्षा के लिए भी योजना में व्यवस्था की गई है।

हवाई यातायात—भारत में हवाई उड़ान १९११ में आरंभ हुई। इस समय कुछ स्थानों में केवल प्रदर्शन की दृष्टि से हवाई उड़ान की व्यवस्था की गई थी। पहली बड़ी लड़ाई के बाद हवाई यातायात की हमारे देश में वास्तविक शुरूआत हुई। भारत सरकार ने कुछ लैंडिंग ग्राउन्ड की व्यवस्था की। १९२७ में सीविल एविवेशन डिपार्टमेंट की स्थापना की गई। सीविल एरोड्रोमस बनवाए गए और हवाई जहाज चलाना सिखाने के लिये फ्लाइंग क्लबें कायम हुईं। १९२९ में भारत और लंदन के बीच में नियमित रूप से हवाई यातायात आरंभ हुआ। १९३२ में भारत में ही कुछ स्थानों के बीच में हवाई यातायात की सुविधा हो पाई। विदेशी कंपनियों द्वारा भी भारत में होकर पश्चिम और पूर्व के बीच हवाई यातायात की शुरूआत की गई।

गत महायुद्ध के समय हवाई यातायात को अच्छा प्रोत्साहन मिला। और

इस समय तो हवाई यातायात का देश के यातायात में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत के स्वतंत्र होने के बाद हवाई यातायात ने अच्छी प्रगति की है। भारत सरकार ने बराबर प्रोत्साहन दिया। 'इंटरनेशनल सीविल एवियेशन ओरगेनीज़ेशन' में भी भारत सरकार क्रियात्मक भाग लेती रही है।

वर्तमान स्थिति—१ जनवरी, १९५० को भारत में दस हवाई यातायात की कंपनियां थीं—एयर इंडिया, बंबई इन्डियन नेशनल एयरवेज़, नई दिल्ली, एयर सरविसेज़ आव इंडिया, बंबई डेकन एयर वेज, बेगम पट, इंडियन ओवर सीज़ एयर लाइन्स, बंबई, एयर वेज़ (इंडिया), कलकत्ता भारत एयरवेज़, कलकत्ता, एयर इंडिया इंटर नेशनल, बंबई, हिमालया एवियेशन, कलकत्ता, कलिंगा एयर लाइन्स, कलकत्ता। इनमें से एयर इंडिया इन्टरनेशनल (१९४७ में स्थापित) बंबई, लंदन तथा बंबई अदन, नरोबी के बीच में चलता है। इसमें भारत सरकार का भी हिस्सा है। भारत एयरवेज़ कलकत्ता बेंगकोक के बीच में भी चलता है। संसार के हवाई यातायात की दृष्टि से भारत की भौगोलिक स्थिति कुछ अच्छी है, क्योंकि पूर्व और पश्चिम के बीच में यह स्थिति है। बी० ओ० ए० सी०, के० एल० एम०, टी० डब्ल्यू० ए० तथा पैन एमरिकन एयर वेज आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की हवाई यातायात की कंपनियों द्वारा हवाई यातायात की व्यवस्था भारत में होकर है।

१९४९ में हवाई जहाजों ने १६१६३ मील की यात्रा की और ३,५७,४१५ यात्रियों ने इन यात्राओं से लाभ उठाया। १९४६ में हवाई जहाज़ से १०,१२३ मील की यात्रा १,०५,०५१ यात्रियों ने की थी। हवाई जहाज़ के अन्दरूनी और बाहरी दोनों मिलाकर ४६ मार्ग इस समय काम करते हैं और २५८०० मील इनकी कुल लंबाई है। हवाई जहाज़ों से यात्रियों के अलावा सामान और डाक भी लाई लेजाई जाती है। शरणार्थियों को लाने-ले जाने में, आसाम में बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों में सहायता पहुंचाने में और दूसरे ऐसे मौक़ों पर हवाई जहाज़ों से बहुत मदद मिली है।

सिविल एवियेशन डिपार्टमेंट के नियंत्रण में इस समय ६९ एरोड्रोम हैं। इसमें से दिल्ली, बम्बई और कलकत्ते के अन्तर्राष्ट्रीय एरोड्रोम्स हैं। कुछ बड़े एरोड्रोम्स हैं, कुछ बीच के दर्जे के और कुछ छोटे हैं। कुछ ऐरोड्रोमों पर—लगभग ३१ पर—रात को उड़ने की व्यवस्था भी है।

एरो नोटिकल कम्यूनिकेशन के इस समय ५१ अच्छे स्टेशन हैं। ट्रेनिंग की चेष्टा करने के लिये भी पिछले वर्षों में प्रयत्न हुए हैं। इलाहाबाद में सीविल [illegible] ट्रेनिंग सेंटर है जिनमें चार विभागों की शिक्षा दी जाती है—उड़ना

एरोड्रोम, एंजीनियरिंग और कम्यूनिकेशन। सहारनपुर में भी सीविल एवियेशन ट्रेनिंग सेन्टर है जहाँ रेडियो टेकनीशियन्स को तैयार किया जाता है।

पूना में इंडियन ग्लाइडिंग एसोसियेशन है। इसे भारत सरकार से आर्थिक सहायता मिलती है। इसका काम 'ग्लाइडिंग' को प्रोत्साहन देना है।

इंडियन एरो नोटिकल सोसाइटी की भी दिसम्बर १९४८ में स्थापना हो चुकी है। इसका उद्देश्य एरो नोटिकल साइन्स और एंजीनियरिंग की उन्नति में सहायक होना है।

अनुसंधान और विकास के लिये भी सफदरजंग एरोड्रोम, नई दिल्ली में कुछ व्यवस्था की गई है। बंगलोर, इंडियन इंस्टीट्यूट आव साइन्स में एरो नोटिकल एंजीनियरिंग की पोस्ट ग्रेजुएट शिक्षा भी दी जाती है।

बंगलोर में एयर क्रेफ़्ट फैक्टरी कई वर्षों से काम कर रही है। यह भारत सरकार के अधिकार में है। भारत सरकार का उद्देश्य इसे पूर्णतया हवाई जहाज बनाने के कारखाने का रूप देना है।

भावी विकास—भारतवर्ष में हवाई यातायात के विकास के लिये यथेष्ट गुंजाइश है। युद्धोत्तर विकास योजना के अन्तर्गत, भारत सरकार ने हवाई यातायात के विकास और नियंत्रण की भी एक योजना बनाई। इस योजना के अनुसार हवाई यातायात का क्षेत्र व्यक्तिगत व्यवसाय के लिए खुला छोड़ने का निश्चय किया गया। एयर ट्रांसपोर्ट लाइसेंसिंग बोर्ड की स्थापना का फैसला किया गया और कोई भी हवाई यातायात की कम्पनी बिना इससे लाइसेंस लिये कार्य नहीं कर सकती यह भी तय किया गया। हवाई यातायात की सब लाइनें केवल चार कंपनियों द्वारा चलाई जानी चाहिये, और सरकार हवाई यातायात की कंपनियों को आर्थिक सहायता दे सकती है—ये भी इस योजना के अन्तर्गत था। दूसरे महायुद्ध के बाद एयरट्रांसपोर्ट लाइसेंसिंग बोर्ड के पास देश में हवाई यातायात की व्यवस्था करने के लिए कंपनियाँ खोलने के कई आवेदनपत्र आये और कई कंपनियाँ खुलीं भी। पर तुरन्त ही यह अनुभव किया जाने लगा कि इन कंपनियों की आर्थिक हालत संतोषजनक नहीं है। फ़रवरी १९५० में भारत सरकार ने एयर ट्रांसपोर्ट इनक्वायरी कमेटी की, सारी स्थिति की जांच करने और हवाई यातायात की भावी उन्नति के लिये उपयुक्त सुझाव देने के लिये नियुक्ति की। कमेटी की रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि हवाई यातायात उद्योग की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है, और इसका मुख्य कारण यह है कि देश में हवाई यातायात की वर्तमान मांग की दृष्टि से हवाई यातायात की कंपनियों की संख्या कहीं अधिक है। इसका नतीजा यह है कि अनावश्यक और अधिक खर्च होता है, आपस में

अनुचित प्रतिद्वंद्विता होती है, और कंपनियों की आय में कमी आती है। कंपनियों के पास हवाई जहाज और उनके अतिरिक्त भाग भी आवश्यकता से कहीं अधिक हैं। लाइसेंसिंग बोर्ड ने आवश्यकता से अधिक लाइसेंस जारी करके भी किसी हद तक इस स्थिति को बिगाड़ने में सहायता पहुँचाई है।

हवाई यातायात के लिये कमेटी ने जो सिफारिशें की हैं उनमें से मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—(१) मौजूदा स्थिति में केवल चार हवाई यातायात की कंपनियाँ होनी चाहियें—बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता और हैदराबाद में। इसके लिये मौजूदा कंपनियों को मिला देना चाहिये। डेक्कन एयरवेज और एयर सर्विसेज को मिलाने की उन्होंने सिफारिश की है। (२) किराये के बारे में उन्होंने इस मत का समर्थन नहीं किया है कि जो किराया कंपनियाँ इस समय लेती हैं वह अनुचित है। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया है कि स्थायी एसेटस पर १०% की आय होना ही चाहिये और इसी आधार पर किराया तय होना चाहिये, हालांकि वह अत्यधिक न हो जाय यह भी ध्यान रखना आवश्यक है। (३) भारत सरकार हवाई यातायात कंपनियों को जो आर्थिक सहायता दे रही है वह उस समय तक (१९५२ दिसम्बर) जारी रखने की भी कमेटी की सिफारिश है। यह सहायता पट्रोल पर लगने वाले आयात-कर पर रिबेट के रूप में दी जाती है। (४) मुनाफे पर सरकार द्वारा नियंत्रण रखने की भी कमेटी की सिफारिश है। (५) कमेटी ने यह भी कहा है कि आने वाले पांच साल तक तो कम से कम इस उद्योग में से व्यक्तिगत व्यवसाय को समाप्त नहीं करना चाहिये। पर अगर सरकार राष्ट्रीयकरण का निश्चय करे ही तो कमेटी की राय में स्टेटूटरी कारपोरेशन के द्वारा ही हवाई यातायात का संचालन होना चाहिये।

कमेटी की सिफारिशें सरकार के विचाराधीन हैं। हाल में ही संसद में भारत सरकार की ओर से यह बताया गया था कि सरकार डेक्कन एयरवेज का राष्ट्रीयकरण करने का प्रायः निश्चय कर चुकी है और कमेटी की सिफारिश के अनुसार स्टेटूटरी कारपोरेशन द्वारा इसका संचालन किया जायेगा।

पाँच वर्षीय योजना—प्रस्तावित पाँच वर्षीय योजना में हवाई यातायात पर पहले दो वर्ष में १८५ करोड़ प्रतिवर्ष के हिसाब से खर्च करने का सुझाव है। बाकी के तीन सालों में कुल ६.९७ करोड़ रुपये खर्च करने की योजना है। पहले दो वर्षों में १३ करोड़ 'वर्क्स' पर और बाकी का 'एक्विपमेंट' पर खर्च करने की सिफारिश है। इसी तरह से पिछले तीन वर्षों में भी ७०% पर वर्क्स और ३०% एक्विपमेंट पर खर्च करने की योजना है। इसके अलावा मौजूदा हवाई जहाजों के स्थान पर अधिक आधुनिक ढंग के हवाई जहाज खरीदने की

आवश्यकता है। इसके लिये ५ करोड़ रुपये की अतिरिक्त पूंजी की ज़रूरत होगी। इस सम्बन्ध में भारत सरकार को कंपनियों को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता हो सकती है। इस काम के लिये योजना में २½ करोड़ रुपया रखा गया है। भारत सरकार यह आर्थिक सहायता कर्ज के रूप में या पूंजी में भाग लेकर या और किसी प्रकार से दे सकती है।

यातायात के साधनों में समन्वय—यातायात के विभिन्न साधनों, रेल, सड़क, जलयातायात, समुद्र तटीय यातायात और हवाई यातायात पर ऊपर विचार किया जा चुका है। हम देख चुके हैं कि भारत में सभी प्रकार के यातायात के लिये यथेष्ट गुंजाइश है। पर यहाँ इस विषय में इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि यातायात के इन विभिन्न साधनों में समुचित समन्वय की आवश्यकता है। समन्वय के अभाव में अनुचित प्रतिस्पर्द्धा होने से सिवा सब पक्षों की हानि होने के और कोई नतीजा नहीं आ सकता। अब तक इस समन्वय नीति का हमारे देश में अभाव रहा है। यही कारण है कि रेल और मोटर की प्रतिस्पर्द्धा ने १९२९ के बाद एक समस्या का रूप ले लिया था और उस पर विचार करने के लिये रेल-रोड कम्पीटीशन कमेटी (मिचेलकर्कनेस कमेटी) की १९३२ में भारत सरकार को स्थापना करनी पड़ी थी। इस कमेटी ने कई सिफ़ारिशें की थीं। पर उसकी एक मुख्य सिफारिश यह थी कि एक सेन्ट्रल बोर्ड ऑव कम्यूनिकेशन्स की स्थापना होनी चाहिये जो सब प्रकार के यातायात के साधनों का समुचित समन्वय करे। कुंजरू कमेटी ने भी इसी उद्देश्य से 'नेशनल ट्रान्सपोर्ट अथोरिटी' स्थापित करने की सिफ़ारिश की थी। मोटर यातायात को नियन्त्रित करने के लिये ही १९३९ में मोटर विहिकिल्स एक्ट पास किया गया था। १९३५ मे सेन्ट्रल ट्रान्सपोर्ट एडवायजरी कौंसिल की स्थापना की गई। भारत सरकार ने रेल-रोड समन्वय की एक योजना प्रकाशित की जो सब प्रान्तों के पास भेजी गई। कुछ प्रान्तों ने इसके अनुसार काम भी किया है। यातायात के विभिन्न साधनों के बीच में समन्वय नहीं होने का दूसरा उदाहरण रेलों और समुद्र तटीय जहाज़ी यातायात के बीच का है। समुद्र तटीय जहाजी यातायात और रेलों के बीच में भाड़ा नीति में पारस्परिक सम्बन्ध, तथा सम्मिलित यातायात, और सम्मिलित भाड़ों की व्यवस्था होनी चाहिये। अब तक रेलवे की भाड़ा नीति से समुद्र तटीय यातायात को हानि पहुंची है। इसी प्रकार रेलवे और जल-यातायात तथा हवाई यातायात में भी समन्वय की आवश्यकता है। अब तक हमारे देश में रेलों की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया है। इसका परिणाम जल यातायात और सड़क यातायात के लिये हानिकर हुआ है। अब इस कमी

को पूरा करना है। प्लानिंग कमीशन ने अपनी प्रस्तावित रिपोर्ट में लिखा है—"यातायात व विकास की तमाम स्थानीय योजनाएँ एक केन्द्रीय संस्था द्वारा जाँची जानी चाहियें ताकि उचित समन्वय हो सके।"

यातायात के भावी विकास के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि देश का औद्योगिक और कृषि विकास की सम्भावनाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही यातायात का विकास योजना बनाना चाहिये। यातायात के उन साधनों का उन स्थानों में पहले विकास होना चाहिये जो औद्योगिक और कृषि उन्नति में सहायक हो सकें। देश में उद्योग धंधों के विकेन्द्रीकरण के लिये यातायात का विस्तार आवश्यक है यह स्पष्ट है।

एक तीसरी बात और है जो सड़क यातायात से सम्बन्ध रखती है। आज भी हमारे देश में सड़क यातायात का बैलगाड़ियाँ बहुत बड़ा साधन हैं। हमें बैलगाड़ियों के साधन का विकसित और उन्नत करना है न कि इनको नष्ट हो जाने देना है। भारतीय कृषि की दृष्टि से भी यह एक उपयोगी सहायक धंधा है। बैलगाड़ियों का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि लगभग १० करोड़ टन माल उनके द्वारा लाया-ले जाया जाता है—अर्थात् जितना माल रेलों द्वारा ले जाया लाया जाता है उतना ही बैलगाड़ियाँ लाती लेजाती हैं। बैलगाड़ियों में देश की कुल २६१ करोड़ की पूंजी लगी हुई है और लगभग ८५ लाख उनकी संख्या है। भारत के यातायात के विकास की कोई योजना यातायात के इतने व्यापक और सुलभ साधन की ओर से उदासीन नहीं होसकती।

परिच्छेद १०
बैंकिंग व्यवस्था

आधुनिक अर्थ व्यवस्था में बैंकिंग (अधिकोषण) व्यवस्था का बड़ा महत्त्व है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। आज की अर्थ व्यवस्था मुद्रा प्रधान अर्थ व्यवस्था है। मुद्रा के माध्यम से सारा आर्थिक जीवन संचालित होता है, फिर चाहे उत्पादन का प्रश्न हो या उपभोग का या वितरण का। मुद्रा व्यवस्था का यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि उसमें साख (क्रेडिट) का बड़ा स्थान है। जब तक मुद्रा (मनी) और साख (क्रेडिट) व्यवस्था का किसी देश में समन्वय न हो तब तक वहां के आर्थिक जीवन का समुचित संचालन असंभव हो जाता है। ऐसी हालत में आज के आर्थिक जीवन में साख-व्यवस्था का बड़ा महत्त्व है। साख की व्यवस्था करने का काम बैंकों का है। तात्त्विक दृष्टि से यही देश की बैंकिंग व्यवस्था का महत्त्व है।

इस प्रश्न पर हम सरल और प्रत्यक्ष ढंग से भी विचार कर सकते हैं। कोई व्यापार और व्यवसाय बिना साख के या उधार के नहीं चल सकता। कारण यह है कि जब उत्पादन बेचने के लिये होता है तो उत्पादन में पूंजी तो आज लगानी पड़ती है और उसकी बिक्री से आय बाद में होती है। इस बीच के समय के लिये मुद्रा का (मनी) उपयोग करने से कोई लाभ नहीं और यह व्यावहारिक भी नहीं, क्योंकि उस हालत में आज से कई गुनी अधिक मुद्रा की आवश्यकता होगी। बैंक इस काम को बड़ी आसानी से साख की व्यवस्था करके कर देते हैं। इसलिये आज के आर्थिक जीवन में बैंकिंग व्यवस्था का ठीक-ठीक विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। भारत की बैंकिंग व्यवस्था के विषय में अब हम विचार करेंगे।

देशी बैंकर (Indigenous Bankers)—भारत वर्ष में बैंकिंग व्यवसाय अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। वैदिक युग के साहित्य (ईसा से २००० वर्ष पूर्व से १४०० वर्ष पूर्व तक) में इसका उल्लेख मिलता है किन्तु बैंकिंग के सम्बन्ध में विस्तृत और क्रमबद्ध विवरण ईसा के ५०० वर्ष पूर्व के पहले नहीं मिलता। ईसा के ५०० वर्ष पूर्व से आगे हमें भारतीय प्राचीन बैंकिंग व्यवसाय का पूरा विवरण प्राप्त है। उस समय भारत का बैंकिंग व्यवसाय उन्नत दशा में था। तत्कालीन साहित्य के पढ़ने से हमें ज्ञात होता है कि उस समय के देश के सभी व्यापारिक केन्द्रों में 'श्रेष्ठी' या 'बैंकर' होते थे और उनकी व्यापारिक तथा औद्योगिक संघों और व्यापारी, समाज में बहुत प्रतिष्ठा और

का काम करना उसका मुख्य लक्षण है। अस्तु हुंडी का कारबार करना देशी बैंकर का मुख्य लक्षण है।

साहूकारी और महाजनी का काम (अर्थात् लेन देन करना) तो सभी जाति के लोग करते हैं। किन्तु बैंकिंग का काम कुछ विशेष जातियाँ ही करती हैं। उनमें मारवाड़ी वैश्य, जैनी, चेट्टी, खत्री और शिकारपुरी मुलतानी प्रमुख हैं। मारवाड़ी राजपूताना के मारवाड़ प्रदेश से निकल कर भारत के प्रत्येक प्रमुख औद्योगिक तथा व्यापारिक केन्द्र में फैल गए हैं। उनका कारबार कलकत्ता, बम्बई के अतिरिक्त सभी केन्द्रों में फैला हुआ है। चेट्टियों का बैंकिंग कारबार मुख्यतः मद्रास तथा बर्मा में है। खत्री पंजाब में अपना कारबार करते हैं और शिकारपुरी मुलतानी सिंध और बम्बई प्रान्त में अपना कारबार करते हैं। बोहरे गुजरात और उत्तर प्रदेश के उत्तर पश्चिमीय भाग में बैंकिंग का कारबार करते हैं। देशी बैंकर कोठीवाल, सर्राफ, शाह, तथा चेट्टी आदि नामों से पुकारे जाते हैं।

इनमें से बड़े बैंकर अपने कार्यालय और एजेंसियाँ बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, देहली, रंगून, इत्यादि प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में भी रखते हैं। इन शाखाओं का उनके मुनीम या गुमाश्ते चलाते हैं। इन मुनीमों को बहुत अधिक अधिकार होते हैं और वे अत्यन्त कुशल, ईमानदार और परिश्रमी होते हैं। ये लोग अपने प्रधान कार्यालय को कारबार का हिसाब भेजते रहते हैं और वहाँ से आज्ञा लेते रहते हैं। समय समय पर बैंकर स्वयं आकर हिसाब की जाँच करता है।

यद्यपि अधिकांश देशी बैंकर स्वतन्त्र रूप से काम करते हैं किन्तु उनमें से कुछ अब भी श्रेणी (Guilds) के सदस्य हैं जिन्हें 'महाजन' कहते हैं और जो उत्तर और दक्षिण भारत में अब भी पाये जाते हैं। यद्यपि इन 'महाजनों' अर्थात् श्रेणी का मुख्य कार्य धार्मिक तथा सामाजिक होता है किन्तु वे दो बैंकरों के आपसी झगड़े को निबटाने और दिवालिया अदालत का काम भी करते हैं। पिछले दिनों में देशी बैंकरों ने अपनी कुछ परिषदें (Associations) स्थापित की हैं। उदाहरण के लिए बम्बई, कलकत्ता और अहमदाबाद में श्राफ एसोसियेशन और मारवाड़ी चैम्बर ऑव कामर्स स्थापित हो गई हैं और बम्बई में मुलतानी और शिकारपुरी एसोसियेशन स्थापित है। रंगून में भी एक मारवाड़ी एसोसियेशन है और देहली में बैंकर्स एसोसियेशन है। इन एसोसियेशनों द्वारा इन बैंकरों के आपसी झगड़े तय हो जाते हैं तथा उनका संगठन दृढ़ हो गया है। कभी कभी आवश्यकता पड़ने पर दो एसोसियेशनों की सम्मिलित सभा होती है,

क्योंकि एक एसोशियेशन का सदस्य दूसरे एसोसियेशन के सदस्य से कारबार करता है। इसके अतिरिक्त देशी बैंकरों का ऐसा कोई संगठन नहीं है जिसके द्वारा उन्हें ग्राहकों की साख सम्बन्धी जानकारी का आदान-प्रदान हो और वे साख अथवा सूद के सम्बन्ध में एक-सी नीति निर्धारित कर सकें। भिन्न-भिन्न बैंकरों में कोई सहयोग नहीं होता। हाँ मारवाड़ी और चेटियर बैंकरों में जातीय सहयोग अवश्य होता है और वे समय पड़ने पर एक-दूसरे की सहायता करते हैं।

इन बैंकरों का कारबार पारिवारिक होता है और पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। अतएव इनको बैंकिंग की व्यावहारिक शिक्षा अनायास ही अपनी फर्म का काम देखने से प्राप्त हो जाती है। हाँ उन्हें बैंकिंग की सैद्धान्तिक शिक्षा प्राप्त नहीं होती। देशी बैंकर का कारबार सरल और झंझटों से मुक्त होता है, इस कारण देशी बैंकर से काम करने में देरी नहीं लगती और न कोई विशेष झंझट ही होता है। ग्राहक हर समय बैंकर के पास जा सकता है। उसके काम का समय कोई निश्चित नहीं होता, वह हर समय काम करता है। उसके काम करने का ढंग बहुत कम खर्चीला और उसके दफ्तर इत्यादि का खर्चा बहुत कम होता है। उसके कार्यालय में कोई विशेष फरनिचर या बहुत से क्लर्क नहीं होते। केवल मुनीम और एक-आध तिजोरी होती है। उनका हिसाब रखने का ढंग सरल और कम खर्चीला होता है, किन्तु हिसाब बहुत ठीक रहता है उसमें कोई गड़बड़ नहीं होती। हिसाब की जाँच की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती, और न कभी लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) ही तैयार किया जाता है। देशी बैंकर बैंकिंग के साथ और भी व्यापार करता है किन्तु दोनों के हिसाब पृथक नहीं रहते और न दोनों का रुपया ही अलग रक्खा जाता है। इन बैंकरों का कारोबार भी अधिकतर पुश्तैनी पुराने ग्राहकों से ही होता है। ऐसे व्यापारी अधिक मिलेंगे जिनकी कई पुश्तें एक ही बैंकर की फर्म से कारबार करती रही हों।

ये बैंकर अपने पुराने ग्राहकों के परिवार से, उनकी आर्थिक स्थिति और उनके व्यापार की दशा से भली भाँति परिचित होता है। इस कारण उन्हें इस बात का निश्चय करने में देरी नहीं लगती कि किस ग्राहक को कितना ऋण देना चाहिए अथवा नहीं देना चाहिए। ऋण देने के उपरान्त भी वह बैंकर अपने कर्जदारों के कारबार को समीप से देखभाल सकते हैं जैसा कि व्यापारिक बैंकों के लिए सम्भव नहीं है। यही कारण है कि उनका रुपया बहुत कम मारा जाता है। देशी बैंकरों से जब भी जमा किया हुआ रुपया वापस मांगा जाता है, वे तुरन्त ही वापस

कर देते हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि कोई बैंकर मांगने पर जमा किया हुआ रुपया तुरंत वापस न करे। यह नहीं वे अपनी फर्म की साख और प्रतिष्ठा को बचाने के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहते हैं। इससे यह पता चलता है कि वे यथेष्ट नकद कोष (Cash Reserves) रखते हैं। वे अपने ग्राहकों को उनका लिखित हिसाब समय समय पर देते हैं। यह बैंकर अपने उत्तरदायित्व को निबाहने और ईमानदारी से कारबार करने के लिए प्रसिद्ध होते हैं। यही कारण है कि इनकी साख (Credit) बहुत ऊँची होती है और व्यापारी इन पर विश्वास रखते हैं।

यह बैंकर चालू जमा (Current Deposits) और मुद्दती जमा लेते हैं। सूद की दर मौसम, रकम और कितने समय के लिए जमा की जा रही है इसके अनुसार भिन्न भिन्न होता है। परन्तु यहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि आधुनिक ढंग के बैंक जितना जमा (डिपाजिटों) पर निर्भर रहते हैं उतने देशी बैंकर निर्भर नहीं रहते। वे अपनी पूँजी पर ही अधिक निर्भर रहते हैं। मुलतानी और मारवाड़ी बैंकर तो साधारणतः जनता से डिपाजिट स्वीकार ही नहीं करते। वे अपनी पूँजी (Capital) से ही कारबार करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अपने जातिभाइयों से जो शिकारपुर तथा राजपूताना में रहते हैं ऋण ले लेते हैं। मुलतानी इम्पीरियल बैंक से भी अधिकतर आवश्यकता पड़ने पर ऋण ले लेते हैं। पिछले दिनों में सहकारी बैंकों (Co operative Banks), मिश्रित पूँजी वाले व्यापारिक बैंकों (Joint Stock) तथा सरकार की प्रतिस्पर्द्धा के कारण देशी बैंकरों को कम डिपाजिट मिलने लगा है। पोस्टआफिस, कैश सर्टीफिकेट, सरकारी ऋण, नेशनल सेविंग्स सर्टीफिकेट, तथा सहकारी बैंकों तथा मिश्रित पूँजी वाले व्यापारिक बैंकों की कार्यपद्धति अधिक आकर्षक है। वे डिपाजिट आकर्षित करने के लिए विज्ञापन का सहारा लेते हैं। इस कारण जनता उनकी ओर अधिक आकर्षित होती है और उन्हें डिपाजिट अधिक मिल जाती है। यह देशी बैंकर जिन लोगों की डिपाजिट लेते हैं उन्हें माँगने पर नकदी में ही रुपया निकालने की सुविधा नहीं देते। कुछ देशी बैंकर अवश्य ही चेक बुक और पास बुक देते हैं कि तु व्यापारिक बैंक तथा इम्पीरियल बैंक उनके चेकों को स्वीकार नहीं करते इस कारण उन पर काटे गए चेकों का चलन सीमित ही होता है। जब सीज़न आने पर इन्हें अधिक रुपये की आवश्यकता होती है तो वे एक दूसरे से उधार ले लेते हैं और बड़े बड़े बन्दरों और शहरों में वे कुछ हद तक इम्पीरियल बैंक तथा अन्य मिश्रित पूँजी वाले व्यापारिक बैंकों से प्रामिसरी नोट पर ऋण ले लेते हैं या फिर हुँडिया का बैंकों से भुना कर अधिक कोष (Fund) प्राप्त करते हैं।

देशी बैंकर किसानों को सीधे ऋण नहीं देते परन्तु स्थानीय महाजन अथवा साहूकार को आवश्यकता पड़ने पर ऋण देते हैं। यह महाजन किसानों को ऋण देते हैं। यही नहीं, देशी बैंकर व्यापारियों और आढ़तियों को भी ऋण देते हैं जो खेती की पैदावार को खरीदते हैं। देशी बैंकर व्यापारियों और व्यवसायियों को साख देने का कार्य विशेष रूप से करते हैं। वे हुंडी भुनाते हैं, हुंडियाँ खरीदते हैं, पैदावार पर ऋण देते है और डिपाज़िट स्वीकार करते हैं। कुछ औद्योगिक केन्द्रों में देशी बैंकर मिलों में अपना रुपया जमा कर देते हैं। रुपया मुद्दती जमा (Fixed Deposit) के रूप में जमा किया जाता है। इसके अतिरिक्त देशी बैंकर बड़े-बड़े कारखानों को और कोई आर्थिक सहायता नहीं देते। हां अलबत्ता कारखानों के डिबेंचर खरीद कर, तथा कम्पनियों के शेयरों को अपने पास रख कारखानों को अधिक समय के लिए ऋण देते हैं।

देशी बैंकर बहुधा प्रामिसरी नोट पर ऋण देते हैं। यदि रक़म बहुत अधिक हुई तो प्रामिसरी नोट पर ज़मानती के हस्ताक्षर ले लेते हैं, नहीं तो बहुत अधिक सूद लेते हैं। एक दूसरा तरीका यह है कि ऋण लेने वाला प्रामिसरी नोट लिखने के स्थान पर ऋण को स्वीकार करते हुए एक रसीद लिख देता है जिसमें सूद की दर का भी उल्लेख रहता है। एक तीसरा तरीका स्टाम्प पर पुर्ज़ा लिखाकर ऋण देने का है। इस बॉंड में ऋण के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक सभी शर्तों का उल्लेख रहता है। एक चौथा तरीका ऋण देने का यह भी है कि ऋण लेने वाला बैंकर की बही में हीं हस्ताक्षर करदे और उस पर स्टाम्प लगा दिए जावे। जब बैंकर बहुत बड़ी रक़म ऋण देते हैं तो भूमि तथा इमारत इत्यादि को बंधक रख लेते हैं किन्तु उस दशा में सूद की दर कम कर दी जाती है।

ऋण देने के अतिरिक्त देशी बैंकर हुंडी का कारबार बहुत अधिक करते हैं। हुंडियाँ कई प्रकार की होती हैं। (१) दर्शनी हुंडी का भुगतान तुरन्त करना पड़ता है। मुद्दती हुंडी की एक अवधि होती है (११, २१, ३१, ४१ दिन इत्यादि ३६१ दिन तक)। धनीजोग और शाहजोग हुंडियाँ भी होती हैं। उनका भुगतान करने से पूर्व बैंकर को यह निश्चय कर लेना पड़ता है कि वह जिस व्यक्ति को भुगतान कर रहा है वही उस हुंडी का न्यायोचित स्वामी है। यदि वह ग़लत व्यक्ति को भुगतान कर देता है तो वह वास्तविक स्वामी के लिये फिर भी देनदार रहेगा। किन्तु दर्शनी हुंडी और मुद्दती हुंडी को जो भी व्यक्ति उपस्थित करे उसे भुगतान कर देने से बैंकर का कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता। हुंडियाँ देखनहार (Bearer) और फरमान जोग (Payable to Order) भी होती कभी-कभी यह लोग हुंडियों को अपने एजेंट तथा अन्य व्यापारियों

इसलिये लिख देते हैं जिससे उन्हें रुपया प्राप्त हो जाय। उदाहरण के लिए एक व्यापारी को दस हज़ार रुपये की आवश्यकता है। वह अपने एजेंट तथा किसी अन्य व्यापारी पर, जिससे उसका सम्बन्ध है दस हज़ार का हुंडी लिख देता है और उसको किसी देशी बैंकर से भुना कर रुपये प्राप्त कर लेता है। जिस दर की दर पर देशी बैंकर हुंडी भुनाते हैं उसको बाज़ार दर कहते हैं। यह बाज़ार दर घटती बढ़ती रहती है और भिन्न भिन्न व्यापारिक केन्द्रों की बाज़ार दर में बहुत भिन्नता रहती है। हुंडियों के द्वारा देशी बैंकर रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजते हैं।

बैंकिंग का काम करने के अतिरिक्त देशी बैंकर अन्य व्यापार भी करते हैं। उनकी जो पूंजी बैंकिंग के कारोबार में लगी होती है उसमें तथा व्यापार में लगी हुई पूंजी में कोई भेद नहीं किया जा सकता। जब भी आवश्यकता हुई इधर की पूंजी उधर लगा दी जाती है। केवल मद्रास प्रान्त के नट्टकोटाई चेट्टी और बम्बई प्रान्त के मुल्तानी ही ऐसे देशी बैंकर हैं जो बैंकिंग के साथ अन्य व्यापार नहीं करते हैं। नहीं तो अधिकांश देशी बैंकर अनाज, कपास, जूट तथा अन्य खेती की पैदावारों, कपड़े और सोना चाँदी का व्यापार या सट्टा या फाटका करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जनरल मर्चेण्ट, आढ़त ब्रोकर, एक्सचेंज (नक़द का) का भी काम करते हैं। व्यापार के साथ साथ वे शक्कर, तेल, आटे के कारखानों तथा कपास, जूट, धान, रेशम तथा शीशे के कारखानों को भी चलाते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि देशी बैंकर बैंकिंग के साथ और भी व्यापार तथा व्यवसाय करते हैं और बहुधा उनको अपने व्यापारिक तथा व्यावसायिक कारबार से बैंकिंग की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि पिछले दिनों में देशी बैंकरों का बैंकिंग कारबार कम होता जा रहा है इस कारण उन्होंने अपना ध्यान व्यापार तथा व्यवसाय की ओर अधिक लगाना आरम्भ कर दिया है।

देशी बैंकरों की अवनति के कारण—देशी बैंकरों की क्रमशः अवनति हो रही है। उसके नीचे लिखे कारण मुख्य हैं :—

(१) इम्पीरियल बैंक, मिश्रित पूँजी के व्यापारिक बैंकों (Joint Stock Banks) तथा सहकारी बैंकों (Co operative Banks) की बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा। इम्पीरियल बैंक को रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए बहुत सुविधा है। इस कारण देशी बैंकर रुपये एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में उससे होड़ नहीं कर सकते। सहकारी बैंकों का सरकार से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण वे सरलतापूर्वक डिपाजिट आकर्षित कर लेते हैं और

मिश्रित पूँजी वाले वैंक ऋण देने में उनसे होड़ करते हैं। इस बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा के होते हुए भी देशी वैंकरों ने अपनी कार्यपद्धति में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया जिससे वे इस प्रतिस्पर्द्धा का सामना कर सकते।

(२) उनकी अवनति का दूसरा कारण यह है कि हुंडियों पर स्टाम्प-ड्यूटी बहुत अधिक है इस कारण हुंडियों का चलन और कारबार कम होता है। (३) वैंकर्स साक्षी एक्ट (Bankers Evidence Act.) में जो वैंकों को कानूनी सुविधायें प्राप्त हैं वे देशी वैंकरों को प्राप्त नहीं हैं।

(४) वस्तुओं का निर्यात (Export) करने वाली फर्में अब प्रमुख मंडियों और व्यापारिक केन्द्रों में अपनी शाखायें स्थापित करने लगी हैं। वे अभी तक इनको ही अपना एजेंट बना देती थीं। इस परिवर्तन का फल यह हो रहा है कि देशी वैंकरों का एजेंसी का कारबार भी कम होता जा रहा है।

(५) देश में व्यापार का विस्तार होने के कारण देशी वैंकरों को व्यापार में अधिक लाभ दिखलाई देने लगा है अतएव वे सट्टा और व्यापार की ओर अधिक ध्यान देने लगे हैं।

पिछले कुछ वर्षों से कुछ ऊँचे दर्जे के देशी वैंकर अपनी कार्य-पद्धति को बदलने लगे हैं और आधुनिक वैंकिंग के ढंग को अपनाने लगे हैं। वे चेक और पास बुक का उपयोग करते हैं और सेविंग्स डिपाजिट भी स्वीकार करते हैं।

देशी वैंकरों तथा उनके ग्राहकों का सम्बन्ध—सभी वैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों ने देशी वैंकरों की सच्चाई और ईमानदारी की भूरि-भूरि प्रशंसा की [illegible] कि ग्राहक उनका बहुत आदर करते हैं और उन्हें अपना हितू और मित्र [illegible]ते हैं। वे केवल अपने ग्राहकों से वैंकिंग का कारबार ही नहीं करते वरन् [illegible] व्यापार सम्बन्धी सलाह और परामर्श भी देते हैं। वे अपने ग्राहकों के [illegible]बार पर दृष्टि रखते हैं और इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि वे किस [illegible]कार का कारबार करते हैं। अपने ग्राहकों से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उन्हें उनकी आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक पता रहता है जिसका वे अपने वैंकिंग कारबार में पूरा लाभ उठाते हैं।

देशी वैंकरों का व्यापारिक वैंकों (Commercial Banks) से सम्बन्धः—यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि साधारणतः देशी वैंकर अपनी पूँजी और डिपाजिटों से ही काम चलाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे एक दूसरे से रुपया ले लेते हैं। किन्तु जब व्यापार की तेजी होती है और उनके ग्राहक ऋण की माँग करते हैं तो उनके यह साधन पर्याप्त नहीं होते। उन्हें इम्पीरियल वैंक, विनिमय वैंक (Exchange Banks) तथा व्यापारिक वैंकों

के पास आर्थिक सहायता के लिए विवश होकर जाना पड़ता है। किन्तु यह बैंक उन्हीं बैंकरों को ऋण देते हैं जिनका नाम उनकी स्वीकृत सूची में है। इम्पीरियल बैंक तथा प्रत्येक व्यापारिक बैंक उन देशी बैंकरों की एक स्वीकृत सूची रखता है जिनको वह ऋण देना उचित समझता है। यही नहीं, उस सूची में यह भी निर्धारित रहता है कि किस बैंकर को अधिक से अधिक कितना ऋण दिया जा सकता है। अधिकतर यह बैंक देशी बैंकरों की हुण्डियाँ भुनाकर ही उन्हें ऋण देते हैं।

राष्ट्रीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी तथा प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों के सामने गवाही देते हुए देशी बैंकरों के प्रतिनिधियों ने बार बार यह शिकायत की थी कि इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंक उनके साथ वैसा सहानुभूति का व्यवहार नहीं करते जैसा कि एक बैंकर होने के नाते उनके साथ होना चाहिए। जब वे इम्पीरियल बैंक से ऋण लेते हैं तो इम्पीरियल बैंक उनके कारबार की जिस भद्दे ढंग से जाँच-पड़ताल करता है वह उनको बहुत अखरता है। फिर भी इम्पीरियल बैंक उन्हें वह सुविधायें प्रदान नहीं करता जो व्यापारिक बैंकों को प्रदान करता है। यही स्थिति बड़े व्यापारिक बैंकों की है। कभी-कभी बहुत ऊँचे दर्जे के प्रतिष्ठित देशी बैंकरों को भी ऋण देना अस्वीकार कर दिया जाता है। इन आक्षेपों के उत्तर में इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंकों का कहना है कि देशी बैंकर हमारे साथ कोई हिसाब नहीं रखते और वे बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यापार तथा सट्टे में इतने अधिक फँसे रहते हैं कि उनको अधिक ऋण देना जोखिम का काम है। उनकी ठीक ठीक आर्थिक स्थिति को जान सकना कठिन होता है, क्योंकि वे कभी अपनी लेनी देनी का लेखा (Balance Sheet) तैयार नहीं करते। इस कारण उनको ऋण देने में सावधानी बरतना आवश्यक है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऊपर लिखे आक्षेपों में बहुत तथ्य है। जब इम्पीरियल बैंक तथा व्यापारिक बैंक को किसी देशी बैंकर की अच्छी आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में विश्वास और भरोसा हो जाता है तो वे उसकी सब प्रकार आर्थिक सहायता करते हैं। उदाहरण के लिए मदरास के चेट्टियों और बम्बई के मुलतानी बैंकरों को इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंकों से ऋण प्राप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं होती। बैंकिंग के सिद्धान्त के भी यह सर्वथा विरुद्ध है कि जो देशी बैंकर सट्टे तथा अन्य व्यापार में अधिक फँसा हो उसको अधिक ऋण दिया जावे।

देशी बैंकरों के संगठन के दोष और गुण—यदि हम ध्यानपूर्वक देशी

बैंकरों के कार्यों का अध्ययन करें तो हमें उनके संगठन में निम्नलिखित दोष दिखलाई पड़ेंगे :—

(१) उनमें से अधिकांश दकियानूसी और रूढ़िवादी हैं और आपस में एक दूसरे से ईर्ष्या करते हैं। उनमें समय के साथ अपनी कार्यपद्धति को बदलने की क्षमता नहीं है और न वे नई दिशाओं में अपने कारबार को बढ़ाने की ही क्षमता रखते हैं। वे अपना कारबार पुराने ढंग से अकेले और बहुधा गुप्त रूप से करने के अभ्यस्त हैं। इस कारण सर्वसाधारण की दृष्टि को वे आकर्षित नहीं कर पाते और न उनका जनता पर अधिक प्रभाव ही पड़ता है। इसका सम्भवतः एक कारण यह है कि देशी बैंकिंग का कारबार केवल कुछ परिवारों में ही सीमित है इस कारण उसमें नया रुधिर नहीं आता। इस कारण उनमें नये विचारों का समावेश नहीं हो पाता। इनके दकियानूसी होने तथा पुराने ढंग से चिपटे रहने का एक कारण यह भी है कि वे आधुनिक बैंकों के सम्पर्क में बहुत कम आते हैं।

(२) उनके संगठन का दूसरा दोष यह है कि वे बहुत कम जमा (डिपाजिट) लेते हैं जो आधुनिक संगठित बैंकों का मुख्य कार्य है। इसका फल यह होता है कि देशवासियों की बचत डिपाजिट के रूप में आकर्षित नहीं होती और न उसका उपयोग अधिक उत्पादन के लिए हो पाता है। बहुत-सी पूँजी देश में बेकार पड़ी रहती है।

(३) वे व्यापार में हुंडियों का उपयोग कम करते हैं। नक़द रुपये का उपयोग अधिक करते हैं।

(४) उनका व्यापारिक बैंकों से कोई सम्बन्ध नहीं होता इस कारण देश में दो द्रव्य-बाज़ार (Money Markets) साथ-साथ एक दूसरे से पृथक रहकर काम करते हैं और दो सूद की दरें प्रचलित रहती हैं। यही नहीं, रिज़र्व बैंक का भी इन पर कोई नियंत्रण नहीं है। इस कारण देशी बैंकिंग असंगठित रहता है।

यद्यपि देशी बैंकरों के संगठन में ऊपर लिखे दोष हैं, परन्तु फिर भी उनकी देश को बहुत आवश्यकता है, क्योंकि देश में बड़े-बड़े नगरों को छोड़ कर छोटे स्थानों और मंडियों में व्यापारिक बैंकों की शाखायें नहीं हैं। वहाँ केवल देशी बैंकर ही बैंकिंग की सुविधायें प्रदान करते हैं। यद्यपि पिछले वर्षों में देश में मिश्रित पूँजीवाले व्यापारिक बैंकों का विस्तार बहुत तेजी से हुआ है, नये बैंक खोले गए और पुराने बैंकों ने अपनी शाखाओं का खूब ही विस्तार किया, फिर भी देश के विस्तार को देखते हुए बैंकिंग की सुविधा कम है। और भारत जैसे

कृषि प्रधान देश में इस बात की तो कभी सम्भावना ही नहीं हो सकती कि बड़े गाँवों, कस्बों और मंडियों में बैंकों की शाखें स्थापित हो सकें। वहाँ तो देशी बैंकर ही काम कर सकते हैं।

उनके पास शताब्दियों का बैंकिंग अनुभव है जो पीढ़ी दर-पीढ़ी उनको मिला है। उनके काम करने का ढंग कम खर्चीला है और उनका बैंकिंग अनुभव बहुमूल्य है। अतएव उसको नष्ट न होने देना चाहिए और उसका उपयोग करना चाहिए। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर सेन्ट्रल बैंकिंग कमेटी ने देशी बैंकरों के सुधार के लिए सुझाव रक्खे थे। सेन्ट्रल बैंकिंग कमेटी ने इस बात पर जोर दिया था कि जब रिज़र्व बैंक की स्थापना हो जावे तो देशी बैंकरों का सम्बन्ध रिज़र्व बैंक से स्थापित कर देना चाहिए।

देशी बैंकर और रिज़र्व बैंक का सम्बन्ध—यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि सेन्ट्रल बैंकिंग कमेटी ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि रिज़र्व बैंक के स्थापित हो जाने पर देशी बैंकरों का उससे सम्बन्ध स्थापित हो जाना चाहिए। अस्तु, जब रिज़र्व बैंक की स्थापना हो गई तो रिज़र्व बैंक ने नीचे लिखी शर्तों पर देशी बैंकरों को अपने से सम्बन्धित करने का प्रस्ताव रक्खा —

(१) जो भी देशी बैंकर रिज़र्व बैंक से सम्बन्धित होना चाहेगा और रिज़र्व बैंक से सुविधायें प्राप्त करना चाहेगा उसे शुद्ध बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यापार को छोड़ देना होगा।

(२) उन्हें अपना हिसाब ठीक प्रकार से जिस प्रकार रिज़र्व बैंक कहे उस प्रकार—रखना होगा। अपने हिसाब की नियमित रूप से आय-व्यय परीक्षकों से जाँच (आडिट) करवानी होगी।

(३) रिज़र्व बैंक आवश्यकता समझने पर उनके हिसाब और कारबार का निरीक्षण कर सकेगा। उन्हें रिज़र्व बैंक को समय समय पर अपने कारबार के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी और सूचनाएं देना होंगी। रिज़र्व बैंक जिस प्रकार जानकारी उनसे चाहेगा उन्हें देनी होगी और रिज़र्व बैंक को उनके बैंकिंग कारबार का नियन्त्रण करने का अधिकार होगा।

(४) प्रत्येक देशी बैंकर की निजी पूँजी कम से कम पाँच लाख रुपये होगी और उनको अपनी जमा का एक निश्चित प्रतिशत रिज़र्व बैंक के पास जमा करना होगा। रिज़र्व बैंक ने उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित न करके अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने के प्रस्ताव भी रक्खे थे, और उसकी अपनी राय अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में ही अधिक थी।

ऊपर लिखा प्रस्ताव केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के मत के विरुद्ध था। केन्द्रीय

बैंकिंग जाँच कमेटी (Central Banking Committee) का यह मत था कि आरम्भ में देशी बैंकरों के साथ नरमी का व्यवहार करना चाहिए, उन पर कड़ी शर्तें न लगाना चाहिए। उदाहरण के लिए आरम्भ में कुछ वर्षों तक देशी बैंकरों को रिज़र्व बैंक में अनिवार्य रूप से जमा (Deposit) रखने पर विवश न करना चाहिए। किन्तु पहली गश्ती चिट्ठी में रिजर्व बैंक ने जो ऊपर लिखी शर्तें लिखकर भेजीं वे इतनी कठोर थीं कि कोई देशी बैंकर उनको स्वीकार करने के लिए तैयार न था।

इस पहले प्रस्ताव का ऐसा घोर विरोध हुआ कि रिज़र्व बैंक को २६ अगस्त १६३७ को एक दूसरी योजना उपस्थित करनी पड़ी जो केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी की सिफारिशों के अनुरूप थी और उसमें देशी बैंकरों का रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध हो जाने की व्यवस्था थी। जिन शर्तों पर रिजर्व बैंक देशी बैंकरों को अपने से सम्बन्धित करने के लिये तैयार था वे नीचे लिखी थीं :—जो देशी बैंकर रिज़र्व बैंक से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं उन्हें अपने कारबार को शुद्ध बैंकिंग तक ही सीमित रखना होगा, वे दूसरे प्रकार का व्यापार न कर सकेंगे। उन्हें अपने हिसाब को ठीक-ठीक रखना होगा और रजिस्टर्ड अकाउन्टेन्ट से उसकी जाँच करवानी होगी और जब रिज़र्व बैंक चाहेगा तो उनके हिसाब का निरीक्षण कर सकेगा। रिजर्व बैंक उनकी आर्थिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए जो भी सूचना चाहेगा वह देनी होगी। शिड्यूल बैंक जो भी विवरण-पत्र (Statement) अपने कारबार के सम्बन्ध में समय-समय पर रिज़र्व बैंक को भेजते हैं वे उन्हें भी भेजने होंगे और लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) इत्यादि जो कंपनी एक्ट के अनुसार बैंकों को प्रकाशित करना अनिवार्य है वे उन्हें भी प्रकाशित करने होंगे। जब देशी बैंकरों की जमा (Deposit) उनकी पूँजी से पाँच गुना अधिक हो जावे तभी उन्हें रिज़र्व बैंक में अनिवार्य जमा (Compulsory Deposit) रखनी होगी अन्यथा उन्हें रिज़र्व बैंक मे अनिवार्य जमा रखने की कोई आवश्यकता न होगी। प्रत्येक देशी बैंकर को कम से कम २ लाख की पूँजी (Capital) रखनी होगी जिसे ५ वर्षों में बढा कर पाँच लाख करना होगा। जो देशी बैंकर इन शर्तों को पूरा करेंगे रिज़र्व बैंक उनकी हुण्डियों और बिलों को भुनावेगा, सरकारी सिक्यूरिटी की जमानत पर ऋण देगा और रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए वही सुविधायें देगा जो वह शिड्यूल (Scheduled) बैंकों को देता है।

इस प्रस्ताव को भी देशी बैंकरों ने स्वीकार नहीं किया। वे न तो अन्य व्यापार को छोड़ना ही चाहते हैं और न अपने हिसाब का निरीक्षण ही कराने

के लिए तैयार है। रिज़र्व बैंक का इस प्रस्ताव से उद्देश्य यह था कि देशी बैंकर अन्य कारबार को छोड़कर अधिकाधिक डिपॉजिट बैंकिंग की ओर आवें और जिस प्रकार से मिश्रित पूँजी वाले बैंक (Joint Stock Banks) कारबार करते हैं वैसा ही कारबार करें। किन्तु देशी बैंकर अपने पुराने ढंग को छोड़ने को तैयार न थे और न वे यही पसन्द करते थे कि वे किसी को अपना हिसाब दिखावें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रश्न में देशी बैंकरों का रिज़र्व बैंक से [illegible] होगा किन्तु रिज़र्व बैंक के अधिकारियों को यह समझना चाहिये था कि देशी बैंकर एक दिन में अपनी पुरानी पद्धति को छोड़कर आधुनिक बैंकिंग पद्धति को किस प्रकार अपना सकते हैं। रिज़र्व बैंक को आरम्भ में थोड़ा कष्ट उठाना था। इस प्रकार अभी तक रिज़र्व बैंक और देशी बैंकरों का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका। यद्यपि रिज़र्व बैंक ने अपनी ओर से ऊपर लिखी शर्तों पर देशी बैंकरों को सम्बन्धित करने का प्रस्ताव वापस नहीं लिया है।

रिज़र्व बैंक का कहना यह है कि यदि देशी बैंकर रिज़र्व बैंक से सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं करते तो भी भारतीय द्रव्य-बाजार (Indian Money Market) में उनका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है यदि देश में एक खुला बिल बाज़ार (Open Bill Market) स्थापित हो जाय और उन्नति कर जाय। उस बिल बाज़ार में देशी बैंकरों के बिल भी स्वतन्त्रतापूर्वक बिना रोक टोक के प्रचलित हों और भुनाये जावें। रिज़र्व बैंक इस स्थिति को लाने के लिये स्वीकृत देशी बैंकरों के बिलों तथा हुंडियों को स्वीकार कर लेगा यदि वे किसी शिड्यूल बैंक के द्वारा उपस्थित की जावेंगी। किन्तु रिज़र्व बैंक की यह आशा कि इस देश में खुला बिल बाज़ार स्थापित हो जावेगा संदेहात्मक है क्योंकि इसमें बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। हम इस सम्बन्ध में आगे विचार करेंगे।

१ अक्टूबर १९४० को रिज़र्व बैंक ने रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान भेजने की एक नई योजना निकाली। उस योजना के अनुसार रिज़र्व बैंक रुपया एक से दूसरे स्थान को रियायती दर पर भेजने की उन देशी बैंकरों और गैर शिड्यूल (Non Scheduled) बैंकों को सुविधा देगा जो कुछ शर्तों को पूरा करेंगे, और जो रिज़र्व बैंक की स्वीकृत सूची पर हैं। अभी तक जिन देशी बैंकरों ने इस सुविधा से लाभ उठाने का प्रयत्न किया है और जिन्हें रिज़र्व बैंक ने स्वीकृत किया है उनकी संख्या अँगुलियों पर गिनी जाने लायक है।

अन्त में हमें यह न भूलना चाहिए कि देशी बैंकरों का भविष्य उन्हीं के

हाथ में है। उनके स्वार्थ में यही है कि वे अपने कारबार के ढंग में सुधार करें और व्यापारिक बैंकों के अनुसार ही अपनी कार्य पद्धति बनालें। साथ ही उन्हें अपने कारबार को भी मिश्रित पूँजी वाली कंपनियों (Joint Stock Companies) के रूप में संगठित करना चाहिये। अथवा जैसा कि रिजर्व बैंक का मत है उन्हें बट्टा कंपनियों (Discount Companies) में संगठित हो जाना चाहिए और बिलों के भुनाने का कार्य विशेष रूप से करना चाहिए तभी वे पनप सकेंगे।

देशी बैंकरों का देशी व्यापार के लिए बहुत उपयोग है अतएव उनका संगठन उनके लिये तथा देश के व्यापार के लिए हितकर होगा। किन्तु जब तक इस प्रकार की व्यवस्था नहीं होती कि शुद्ध बैंकिंग व्यापार से ही उन्हें यथेष्ट लाभ हो तब तक उनसे यह आशा करना व्यर्थ है कि वे अन्य व्यापार छोड़ देंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें बड़े व्यापारिक बैंक अपना एजेंट बनालें। इस प्रकार उन स्थानों पर भी बैंकिंग सुविधा उपलब्ध हो जावे जहाँ बैंकों की ब्रांच कभी लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकती, और देशी बैंकर बिलों तथा हुंडियों को भुनाने का अधिकाधिक काम अपने हाथ में ले। यह तभी हो सकता है जब देश में बिल बाजार उन्नत हो।

(२) मिश्रित पूंजी वाले बैंक या व्यापारिक बैंक—(Joint Stock Banks) अथवा (Commercial Banks) एजेंसी गृह (Agency Houses)—यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि बैंकिंग व्यवसाय भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है, किन्तु आधुनिक ढंग के बैंक अभी थोड़े समय से ही यहाँ स्थापित हुए हैं। वास्तव में बम्बई और कलकत्ते में जो एजेंसी गृह (Agency Houses) थे वही इन बैंकों के जनक थे। इन एजेंसी गृहों की स्थापना अंग्रेज व्यापारियों ने की थी। बम्बई और कलकत्ते के यह एजेंसी गृह वास्तव में व्यापार करते थे। वही उनका मुख्य कार्य था, किन्तु वे व्यापार के साथ बैंकिंग का कारबार भी करते थे। उनके पास निज की पूँजी (Gapital) नहीं होती थी। वे जनता से डिपाज़िट (जमा) आकर्षित करके ही कार्यशील पूँजी (Working Capital) इकट्ठी करते थे। यह एजेंसी गृह ईस्ट इंडिया कम्पनी के अवकाश प्राप्त कर्मचारियों ने स्थापित कर लिए थे। जिन कर्मचारियों ने देखा कि भारतीय व्यापार में धनोत्पत्ति का असीम क्षेत्र है उन कर्मचारियों ने ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी छोड़कर व्यापार करना आरम्भ कर दिया। यों तो यह एजेंसी गृह मुख्यतः व्यापार करते थे किन्तु अंग्रेज व्यापारियों के लिए साख का प्रबंध करने के लिए उन्होंने बैंकिंग विभाग भी खोल रक्खे थे। देशी

बैंकिंग की ही अवनति की ओर थी, फिर वे अँग्रेजों द्वारा किये जाने वाले विदेशी व्यापार के लिए साख का प्रबंध कर सकने में असमर्थ थे। इसका मुख्य कारण यह था कि उन्हें अँग्रेजी ढंग के विदेशी व्यापार का न तो कुछ ज्ञान ही था और न अँग्रेज व्यापारी उनकी भाषा को ही समझते थे।

यह एजेंसी गृह दुकानदारी करते थे, जहाजों के मालिक थे, शराब बनाने, चमड़े के कारखानों, कपास, आटा, और लकड़ी की मिलों के मालिक थे तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा सरकारी कर्मचारियों और अँग्रेज व्यापारियों के एजेंट तथा बैंकर का काम करते थे। ये अधिकांशतः सरकारी लोगों से डिपाजिट आकर्षित करते थे। इसके अतिरिक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी भी अपनी बचत तथा लूट का रुपया इन एजेंसी गृहों के बैंकिंग विभागों में जमा कर देते थे। डिपाजिट द्वारा प्राप्त रुपये को यह एजेंसी गृह अँग्रेज व्यापारियों को कम्पनी की मवाद के लिए तथा अफीम, नील, कपास तथा रेशम के व्यापार के लिए बहुत ऊँचे सूद पर उधार देते थे। उनमें से कुछ एजेंसीगृह कागजी मुद्रा (Paper money) भी निकालते थे। इनमें से कुछ एजेंसी गृहों ने भारत में सर्व प्रथम योरोपियन ढंग के बैंक स्थापित किये। उदाहरण के लिए, मैसर्स एलेक्जेंडर एण्ड कम्पनी ने १७७० में 'बैंक आव हिंदोस्तान' स्थापित किया, मैसर्स पामर एण्ड कम्पनी ने 'कलकत्ता बैंक' स्थापित किया, और मैसर्स मैकिन्टाश एण्ड कम्पनी ने 'बैंक आव कलकत्ता' स्थापित किया। 'बंगाल बैंक' तथा 'जनरल बैंक आव इंडिया' १७८५ के लगभग स्थापित किए गए थे। इन्हें भी कलकत्ते के एजेंसी गृहों ने स्थापित किया था। यह एजेंसी गृह अपने व्यापार के साथ साथ बैंकिंग का कारबार भी करते थे अतएव उनको व्यापारिक लाभ के अतिरिक्त बैंकिंग विभाग से सूद और कमीशन की आमदनी भी होती थी। अस्तु, भारतवर्ष में प्रथम योरोपियन ढंग के बैंक न सीमित पूँजी के बैंक थे और न वे केवल शुद्ध बैंकिंग कारबार ही करते थे। कामस या फिडले जैसी साधारण व्यापार करने वाली योरोपियन फर्में और पेनिनसुलर और ओरियंटल जैसी जहाजी कम्पनियाँ भी बैंकिंग कारबार करती थीं। इस बैंकिंग और साधारण व्यापार के मिश्रण का जो परिणाम होना था वही हुआ। इसके अतिरिक्त इन एजेंसी गृहों ने डिपाजिट किए हुए रुपये से सट्टा (Speculation) करना आरम्भ किया, इमारतों, कोयले की खानों, जहाजों, कहवा तथा गरम मसाले के बागों तथा भूमि के खरीदने और आटे, कपास और रेशम की मिलों को चलाने में अनाप शनाप रुपया लगाया। इस सब का परिणाम यह हुआ कि १८२८-३२ में यह एजेंसी-गृह डूब गए। एजेंसी गृहों के डूबने के साथ ही उनके बैंकिंग विभाग तथा उनके

स्थापित किए हुए बैंक भी डूब गए क्योंकि बैंकों का रुपया उन एजेंसी गृहों के कारबार में लग गया था। कलकत्ता बैंक १८२६ में, बैंक आव हिन्दुस्तान १८३२ में, और कमर्शियल बैंक आव कलकत्ता १८३३ में डूब गए।

इन बैंकों ने सर्व प्रथम भारत में कागज़ी मुद्रा (Paper Currency) का चलन आरम्भ किया। हिन्दुस्तान बैंक के प्रचलित नोटों का मूल्य २५ लाख रुपये था। बंगाल बैंक के नोटों का चलन ८ लाख रुपये के लगभग था। इनमें से प्रत्येक बैंक यह चाहता था कि उनके नोट सरकारी दफ्तरों तथा खजानों में स्वीकार हों। सरकार ने पहले जनरल बैंक के नोटों को स्वीकार किया किन्तु १७९३ में उसके बन्द हो जाने पर 'बैंक आव कलकत्ता' के नोटों को स्वीकार किया। १८७० में इस बैंक के ४३ लाख रुपये के नोट प्रचलित थे। इसी प्रकार का एक बैंक मदरास (१६८८) और दूसरा बैंक बम्बई (१७२४) में स्थापित हुआ किन्तु १८२६-३० में एजेंसी गृहों के साथ ही वह बैंक भी डूब गए। इस प्रकार योरोपियन ढंग के बैंकों की स्थापना का पहला युग समाप्त हुआ।

इस बैंकिंग संकट के उपरान्त १८६० तक बहुत कम बैंक स्थापित हुए। इस काल में १२ बैंक स्थापित हुए जिनमें आधे बैंक डूब गए। यह सब योरोपियनों द्वारा स्थापित हुए थे। डूबने वाले बैंकों ने जनता को धोखा दिया और डिपाज़िट करने वालों का रुपया मारा गया। किन्तु इस काल में तीन प्रेसीडेंट बैंक भी स्थापित हुए जिनका विशेष महत्त्व था।

प्रेसीडेंसी बैंक—प्रेसीडेंसी बैंक तीन थे जो कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के चार्टर द्वारा स्थापित हुए थे। बैंक आव बंगाल १८०६ में, बैंक आव बम्बई १८४० में और बैंक आव मदरास १८४३ में स्थापित हुआ। बैंक आव बंगाल १८०६ में बैंक आव कलकत्ता के नाम से स्थापित हुआ था। १८०६ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उसे चार्टर दे दिया। तब से वह बैंक आव बंगाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इन तीन प्रेसीडेंसी बैंकों की स्थापना ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार की बैंकिंग आवश्यकताओं को पूरा करने तथा देश के भीतरी व्यापार को आर्थिक सहायता देने के लिए की गई थी। जब कि बैंक आव बंगाल की स्थापना की गई थी तो उससे यह आशा की गई थी कि जब सोने या चाँदी की माँग होगी तो वह जनता को उचित मूल्य पर देगा तथा सरकारी सिक्यूरिटियों और सरकारी हुँडियों (Treasury Bills) के मूल्य को गिरने से बचावेगा तथा कागजी मुद्रा को निकालेगा। उस समय बंगाल में करेंसी (मुद्रा) की दशा बड़ी खराब थी। इस कारण वहाँ कागजी मुद्रा चलाने की बहुत बड़ी आवश्यकता थी।

आरम्भ में प्रेसीडेन्सी बैंक सरकार के कोष (Funds) भी रखते थे, किन्तु अठारहवीं शताब्दी के अन्त में सरकार ने रिजर्व खजाने (Reserve Treasuries) तथा जिला और तहसील में खजाने स्थापित किए। इस कारण प्रेसीडेन्सी बैंकों का सरकारी कारबार से उतना सम्बन्ध नहीं रहा। परन्तु सरकार के इस निश्चय से द्रव्य बाजार में द्रव्य की कमी कभी बहुत अनुभव की जाती थी। लगान तथा मालगुजारी के रूप में बहुत सा द्रव्य इन खजानों में आकर बेकार हो जाता था क्योंकि द्रव्य बाजार के लिए वह अप्राप्य था। ठीक उसी समय द्रव्य बाजार (Money Market) को द्रव्य की बहुत अधिक आवश्यकता होती थी क्योंकि मंडियों में वह समय खरीद बिक्री का होता था। फिर भी सरकार ने प्रेसीडेन्सी बैंकों के पास एक न्यूनतम द्रव्य राशि रखने का निश्चय कर लिया था। इस न्यूनतम द्रव्य राशि पर प्रेसीडेन्सी बैंक कोई भी सूद नहीं देते थे। यदि उस न्यूनतम द्रव्य राशि से कम रुपया सरकार प्रेसीडेन्सी बैंकों के पास रखती तो सरकार को उस कमी पर सूद देना पड़ता था। किन्तु व्यवहार में सरकार ने निर्धारित न्यूनतम राशि से सदैव अधिक रुपया प्रेसीडेन्सी बैंकों के पास रक्खा। इसके अतिरिक्त प्रेसीडेन्सी बैंक सरकारी ऋण का निकालना तथा उसका प्रबन्ध करते थे। सरकार ने उन पर कुछ नियंत्रण भी स्थापित कर रक्खा था। उनके आय-व्यय निरीक्षण पर सरकारी नियंत्रण था, सरकार उनसे समय-समय पर उनके कारबार के सम्बन्ध में पूछताछ करती थी तथा उन्हें अपना हिसाब का साप्ताहिक लेखा निकालना पड़ता था।

१८७६ के प्रेसीडेन्सी बैंक ऐक्ट के अन्तर्गत प्रेसीडेन्सी बैंकों पर कुछ बन्धन भी लगा दिए गए थे। प्रेसीडेन्सी बैंक विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का काम नहीं कर सकते थे, वे भारत के बाहर डिपाजिट नहीं ले सकते थे। वे ६ महीने से अधिक के लिए ऋण नहीं दे सकते थे और न वे अचल सम्पत्ति की जमानत पर ही ऋण दे सकते थे। वे प्रामिसरी नोटों पर भी वे ऋण नहीं दे सकते थे जिन पर दो स्वतंत्र व्यक्तियों से कम के हस्ताक्षर हों। व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नहीं दिया जा सकता था और माल की जमानत पर तभी ऋण दिया जा सकता था कि जब वह माल या उसके स्वामित्व सम्बन्धी कागज पत्र (Titles) जमानत के रूप में जमा कर दिये गए हों।

बैंक आव बंगाल की आरम्भ में ५० लाख पूँजी थी जिसमें १० लाख सरकार के हिस्से थे। बाद को बैंक की पूँजी बढ़ा दी गई। करेंसी की अस्त-व्यस्त दशा को सुधारने के लिए बैंक आव बंगाल ने कागजी मुद्रा निकाली। सरकार केवल बैंक आव बंगाल के ही नोटों को स्वीकार करती थी, इस दृष्टि से

बैंक आव बंगाल प्रमुख प्रेसीडेन्सी बैंक था। बैंक आव बाम्बे की हिस्सा पूँजी ५२,२५००० रु० थी जो कि ५२२५ हिस्सों में बँटी हुई थी। इसमें ३ लाख रुपये के हिस्से बम्बई सरकार ने लिए थे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में गृह-युद्ध होने के कारण संसार में कपास का अकाल पड़ा और भारतीय कपास की माँग और मूल्य बेहद बढ़ गया। उसके कारण बम्बई में नये कारखाने इत्यादि स्थापित हुए और वहां शेयरों का सट्टा बहुत हुआ। बैंक आव बाम्बे का रुपया इस सट्टे में डूब गया। इस कारण यह बैंक १८६८ में टूट गया। किन्तु उसी वर्ष तक एक नया बैंक १ करोड़ रुपये की पूँजी से स्थापित किया गया। बैंक आव मद्रास ३० लाख रुपये की पूँजी से स्थापित किया गया। मदरास सरकार ने उसमें ३ लाख रुपये के हिस्से लिए थे। इस बैंक की कार्य-पद्धति वही थी जो अन्य दो प्रेसीडेन्सी बैंकों की थी।

आरम्भ से ही सरकार तथा प्रेसीडेन्सी बैंकों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। सरकार ने इन बैंकों के केवल हिस्से ही नहीं लिये थे किन्तु सरकार इनके संचालक बोर्ड में अपने डायरेक्टर भी नियुक्ति करती थी। इन बैंकों को सरकारी बैंकिंग कारबार करने का एकाधिकार प्राप्त था। १८६२ तक उन्हें कागजी मुद्रा (Paper money) निकालने का भी अधिकार था, किन्तु १८६२ के उपरान्त उनसे यह अधिकार छीन लिया गया और सरकार ने कागजी मुद्रा निकालना आरम्भ किया। १८६२ में जब प्रेसीडेन्सी बैंकों से नोट निकालने का अधिकार ले लिया गया तो उनकी हानि को पूरा करने के उद्देश्य से सरकार ने यह निश्चय किया कि प्रेसीडेन्सी नगरों (कलकत्ता, बम्बई, मदरास) में सरकार अपनी सारी रोकड़ (Cash Balances) प्रेसीडेन्सी बैंकों के पास रक्खेगी। वास्तव में प्रेसीडेन्सी बैंकों ने कागजी नोट बहुत अधिक कभी भी नहीं निकाले क्योंकि सरकार ने इस सम्बन्ध में प्रेसीडेन्सी बैंकों पर कड़े बन्धन लगा दिये थे। उदाहरण के लिए एक प्रतिबन्ध तो यह था कि सब चालू जमा (Current Deposit) तथा कागजी नोट जो चलन में हैं बैंकों के नगद कोष (Cash Reserve) के तीन गुने से अधिक नहीं हो सकते। बाद को इसको बढ़ा कर चार गुना कर दिया गया।

१८७६ में सरकार ने एक प्रेसीडेन्सी बैंक एक्ट बनाया जिसने इन बैंकों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस कानून के अनुसार सरकार ने इन बैंकों में अपनी हिस्सा पूँजी निकाल ली। हिस्सा पूँजी निकालने के साथ ही सरकार ने डायरेक्टरों तथा बैंक के सेक्रेटरी तथा खजांची को नियुक्त करने का भी अधिकार छोड़ दिया। साथ ही बैंकों के पास सरकारी रुपया रखने की सुविधा

भी समाप्त कर दी गई। आगे से यह बैंक जनता से डिपाजिट ले सकते थे तथा सरकारी सिक्यूरिटियों तथा कुछ अन्य प्रकार की सिक्यूरिटियों में रुपया लगा सकते थे। बिलों को खरीद सकते थे उनको भुना सकते थे, स्वीकृत बिलों तथा प्रामिसरी नोटों के आधार पर कर्ज दे सकते थे। सिक्यूरिटियों को अपने पास धरोहर के रूप में सुरक्षित रखने के लिए स्वीकार कर सकते थे। तथा सोने और चाँदी की खरीद बिक्री का काम कर सकते थे। किन्तु जैसा ऊपर हम बता चुके हैं कि इन बैंकों को भारत के बाहर डिपाजिट लेने तथा विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का काम करने की मनाही थी। इसका मुख्य कारण यह था कि विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks) नहीं चाहते थे कि प्रेसीडेन्सी बैंक उनसे प्रतिस्पर्धा कर सकें। सरकार ने कुछ प्रतिबन्ध तो बैंकों को ठीक राह पर रखने के लिए लगाये थे किन्तु यह प्रतिबन्ध विशेष कर विदेशी विनिमय बैंकों के आग्रह के कारण लगाये गए थे। प्रेसीडेन्सी बैंकों को लंदन द्रव्य बाजार में डिपाजिट न लेने का परिणाम यह होता था कि जहाँ द्रव्य बाजार (Money Market) में द्रव्य की कमी होती थी तो सूद की दर बहुत ही ऊँची हो जाती थी और बाजार को हानि पहुँचती थी। इन प्रतिबन्धों से प्रेसीडेंसी बैंकों की उपयोगिता तथा कारबार पर बुरा प्रभाव पड़ता था।

इन सब रुकावटों के होते हुए भी प्रेसीडेन्सी बैंकों ने बहुत उन्नति की। उन्होंने देश में बहुत सी शाखायें स्थापित कीं तथा उन शाखों पर सरकारी करेंसी नोटों को भुनाने की सुविधा देकर सरकारी करेंसी नोटों के चलन को बहुत अधिक बढ़ाया। यही नहीं उन्होंने डिपाजिट बैंकिंग की उन्नति की। सरकार से सम्बन्धित होने के कारण देश में इनकी प्रतिष्ठा थी और भारतीय बैंकों में उनका प्रमुख स्थान था। प्रथम महायुद्ध के समय इन बैंकों ने सरकार को सरकारी ऋण निकालने तथा सरकारी हुण्डियाँ (Treasury Bills) बेचने में बहुत सहायता की। इस प्रकार १९२१ तक यह प्रेसीडेन्सी बैंक सफलतापूर्वक बैंकिंग कार्य करते रहे। सन् १९२१ में इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई और उसने इन तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों का काम ले लिया। इस प्रकार ये समाप्त हो गए।

मिश्रित पूँजी वाले बैंक (Joint Stock Banks)—ये सभी बैंक जो कि भारत में इण्डियन कम्पनी एक्ट के अन्तर्गत रजिस्टर हुए हैं इस श्रेणी में आते हैं। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि १८६० तक भारत में बैंकों का प्रारम्भिक काल था। सीमित उत्तरदायित्व (Limited Liability) का सिद्धान्त उस समय तक कानून द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ था। अस्तु उस समय तक जो भी बैंक यहाँ स्थापित हुए वे असीमित दायित्व (Unlimited Liability)

के आधार पर थे। केवल 'जनरल बैंक आव इंडिया' जो १७८६ में स्थापित हुआ इसका अपवाद था। अधिकांश लोगों का विचार है कि अलकजैंडर एण्ड कंपनी एजेंसी गृह द्वारा स्थापित बैंक आव हिन्दुस्तान, भारत में सबसे पहला बैंक था किन्तु ऐसी बात नहीं है। भारत में संभवतः सबसे पहला बैंक मदरास सरकार ने १६८८ में स्थापित किया। दूसरा बैंक १७२४ में बम्बई प्रान्त में स्थापित हुआ। बैंक आव हिन्दुस्तान तीसरा बैंक था। यह तो हम ऊपर लिख चुके हैं कि १८२६-३० में एजेंसी गृहों के डूबने से यह बैंक संकट में आ गए और उसके उपरान्त १८६० तक जो १२ बैंक स्थापित हुए वे भी डूब गए। केवल तीन प्रेसीडेंसी बैंक ही इस काल के बैंकों में सफलतापूर्वक कार्य करते रहे। इस काल के बैंकों का केवल एक ही उल्लेखनीय कार्य हुआ अर्थात् उन्होंने भारत में सर्व प्रथम कागज़ी मुद्रा को प्रचलित किया।

भारतीय बैंकिंग के विकास का दूसरा काल १८६० से १९०० तक था। इस काल में परिमित दायित्व (Limited Liability) का सिद्धान्त अपना लिया गया था फिर भी इन ४० वर्षों में बैंकों का विकास बहुत धीरे हुआ। उत्तर प्रदेश अमेरिका के गृह-युद्ध के फल स्वरूप बम्बई में जो सट्टे का बाज़ार गरम हुआ उसमें अवश्य बम्बई में कई बैंक स्थापित हुए किन्तु वे शीघ्र ही डूब गए और पीछे कटु अनुभव छोड़ते गए। १८७० में भारत में केवल दो मिश्रित पूँजी वाले बैंक थे जिनकी पूँजी (Capital) और रक्षित कोष (Reserve Fund) पाँच लाख से अधिक था। १९०० तक इस प्रकार के बैंकों की संख्या ६ हो गई। उनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण बैंक नीचे लिखे थे—इलाहाबाद बैंक (१८६५), एलाइस बैंक आव शिमला (१८७४) जो १९२३ में डूब गया, अवध कमर्शियल बैंक (१८८१), यह पहला बैंक था जो भारतीयों द्वारा स्थापित हुआ था। पंजाब नेशनल बैंक (१८९४), यह बैंक मुख्यतः लाला हर किशन लाल के प्रयत्नों से स्थापित हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम २० वर्षों में बैंकों का विकास शीघ्रतापूर्वक हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के दस वर्षों में उनकी डिपाज़िट में ५ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई जब कि विनिमय बैंकों (Exchange Banks) की डिपाज़िट में केवल ३ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई और प्रेसीडेंसी बैंकों की डिपाज़िट में १॥ करोड़ की कमी हुई। परन्तु यदि हम समस्त काल (४६ वर्षों) पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि बैंकों का विकास बहुत धीमी गति से हुआ और उनकी उन्नति संतोषजनक नहीं हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि इस काल में देश की आर्थिक उन्नति नहीं हुई, साथ ही

वस्तुओं का मूल्य गिरता गया। यही कारण था कि बैंकों की उन्नति की गति बहुत धीमी रही।

तीसरा काल १६०० से १६१३ तक कहा जा सकता है जिसके बाद का समय (१६१३-१८) भारतीय बैंकों के लिए बहुत ही संकट का था। इस काल में भारतीय बैंकों की उन्नति की गति तीव्र रही और उनके मार्ग में कोई रुकावट नहीं आई। इस काल में बैंकों की उन्नति का एक कारण स्वदेशी आन्दोलन भी था। १६०५ के उपरान्त स्वदेशी आन्दोलन की लहर के साथ देश में बहुत से धंधे और उनके साथ ही बैंक भी स्थापित हुए। १६०१ में लाला हरकिशन लाल के प्रयत्न से पीपुल्स बैंक स्थापित हुआ किन्तु उसके उपरान्त स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव से जो बैंक स्थापित हुए उनमें बैंक आव बर्मा (१६०४) सब प्रथम था। इसके उपरान्त उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में कई बैंक स्थापित हुए। इनमें बैंक आव बर्मा के अतिरिक्त बैंक आव इंडिया, बैंक आव मैसूर, बैंक आव बड़ौदा, दी इंडियन स्पेशी बैंक तथा सेन्ट्रल बैंक आव इंडिया अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें से कुछ तो आज बड़े पाँच की श्रेणी में हैं। १६०६ तक भारतीय मिश्रित पूँजी के बैंकों की डिपाजिट में ११ करोड़ रुपए की वृद्धि हुई जबकि विनिमय बैंकों की डिपाजिट में १२ करोड़ रुपये और प्रेसीडेंसी बैंकों की डिपाजिट में ६ करोड़ की वृद्धि हुई। इस काल में (१६००-१३) उन बैंकों की संख्या जिनकी पूँजी और रक्षित कोष (Reserve Fund) पाँच लाख रुपये से अधिक था, ६ से बढ़ कर १८ होगई। इनके अतिरिक्त उस काल में छोटे-छोटे बैंकों की संख्या बहुत अधिक हो गई। बहुत से नये छोटे बैंक स्थापित किये गए।

१६१३-१४ के बीच भारतीय बैंकों को भयंकर संकट का सामना करना पड़ा। इस संकट काल में ६५ बैंक डूब गए और उनकी २ करोड़ रुपये की पूँजी डूब गई। डूबने वाले बैंकों में अधिकांश छोटे छोटे बैंक थे किन्तु आधे दर्जन के लगभग बड़े बैंक भी थे जो डूब गए। इसका भारत के बैंकिंग कारबार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और जनता का उन पर से विश्वास उठ गया। भारत में यह सबसे बड़ा बैंकिंग संकट था। १८२६-३२ में एजेंसी गृहों के डूबने से, १८५७ में विद्रोह के कारण, तथा १८६४-६६ में अमरिकन गृह-युद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न सट्टे के कारण जो बैंकिंग संकट हुए वे इसके सामने नगण्य थे। सबसे पहले १७ सितम्बर १६१३ को पीपुल्स बैंक ने अपना कारबार बन्द किया और फिर स्थिति बिगड़ती ही गई। पंजाब, उत्तर प्रदेश और बम्बई में विशेष रूप से बहुत बैंक डूबे। अकेले १६१३-१४ में ५५ बैंक डूब गए। यद्यपि इस काल में पीपुल्स

बैंक, बैंक आव-अपर इंडिया तथा इंडियन स्पीशी बैंक जैसे बड़े-बड़े बैंक भी डूब गये, किन्तु अधिकांश डूबने वाले बैंक बहुत छोटे थे। यों भारतवर्ष में व्यक्तिगत निर्बलता के कारण कभी-कभी एक दो बैंक डूब जाते हैं किन्तु ऐसा बड़ा संकट कभी भी नहीं आया। इस सम्बन्ध में हमें एक बात न भूल जानी चाहिए कि केवल भारत के ही बैंक डूबे हों ऐसा नहीं था। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि सभी देशों में बैंकों पर संकट आये हैं और वे डूबे हैं। अस्तु, इस संकट-काल को लेकर जो बहुत से पाश्चात्य विद्वान इस बात की घोषणा करते हैं कि भारतीयों में आधुनिक ढंग के बैंक चलाने की योग्यता ही नहीं है, गलत है। इन बैंकों के डूबने के मुख्य कारण नीचे लिखे हैं।

बहुत से बैंक नक़द कोष (Cash Reserve) कम रखते थे, बहुत से डूबने वाले बैंकों का प्रबन्ध खराब था और उनके संचालक ईमानदार नहीं थे, हिस्सेदारों ने कभी बैंकों के प्रबन्ध में दिलचस्पी नहीं ली। वे उसकी ओर से उदासीन रहे। इन बैंकों ने अपने रुपये को लगाने में बैंकिंग सिद्धान्तों की नितान्त अवहेलना की, रुपये को उद्योग में लम्बे समय के लिए अटका दिया। यह बैंक जब अपना लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) निकालते थे तो उस समय दिये हुए ऋण को वापस बुला कर नकद कोष को अधिक दिखला देते थे, किंतु वास्तव में नक़द कोष बहुत कम होता था। यह बैंक लाभ न होते हुए भी लाभ बाँटते थे। इन बातों से जमा करने वाले धोखे में आ जाते थे। सरकार ने भी बैंकों के इन दोषों को दूर करने का कोई प्रयत्न न किया और न देश में कोई केन्द्रीय बैंक (Central Bank) ही था कि जो बैंकों को बैंकिंग के सिद्धान्तों की अवहेलना करने से रोकता और उनका नियंत्रण करता। इसके अतिरिक्त इन बैंकों में आपस में कोई सहयोग नहीं था वरन् ये एक दूसरे से ईर्ष्या रखते और परस्पर हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते थे। इसके अतिरिक्त इन बैंकों के डूबने का एक और भी कारण था। अधिकांश डूबने वाले बैंकों की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) बहुत अधिक थी, किन्तु उनकी चुकती पूँजी (Paid up Capital) बहुत कम थी। इस कारण उन्हें ऊँची दर पर सूद देकर डिपाज़िट आकर्षित करनी पड़ती थी। और जब वे अपने ग्राहकों को उनकी डिपाज़िट पर अधिक सूद देते थे तो उन्हें अपने रुपये को जोखिम के कारबार में लगाना पड़ता था, क्योंकि तभी वे उस पर अधिक सूद कमा सकते थे और डिपाज़िटों पर अधिक सूद दे सकते थे। ऊपर लिखे कारणों से ही देश में बैंकिंग संकट उपस्थित हुआ था। इस बैंकिंग संकट का एक अच्छा परिणाम भी हुआ। राज्य तथा जनता सभी को एक केन्द्रीय बैंक (Central

Bank) की आवश्यकता का अनुभव होने लगा कि जो देश में बैंकिंग कारबार का नियन्त्रण कर सके, और साथ ही इस बात का भी आवश्यकता का अनुभव हुआ कि एक बैंकिंग ऐक्ट बनाया जावे जिससे बैंक सुव्यवस्थित और अच्छे ढंग से चल सकें। रिजर्व बैंक की स्थापना से पहली कमी दूर हो गई और बैंकिंग कानून बन जाने से दूसरा। यही नहीं, मिश्रित पूँजी वाले बैंकों को भी अनुभव ने यह बतला दिया कि आरम्भ में जबकि बैंकों का किसी देश में स्थापना हो तो अधिक द्रव्य कोष (Cash Reserve) रखने की जरूरत है। तब से भारतीय व्यापारिक बैंक सतर्क हो गए और अधिक नकद कोष रखने लगे।

यद्यपि भारतीय बैंकिंग व्यवसाय को १९१३ के संकट से धक्का लगा किन्तु युद्ध के कारण उनकी अवनति और पतन अधिक नहीं हुआ। १९१४ से १९२० तक युद्ध काल में तथा १९२१ का आर्थिक तेज़ी (Boom) में इन बैंकों की संख्या तथा उनकी डिपाज़िट दोनों में ही वृद्धि हुई। १९१८ में ताता औद्योगिक बैंक की स्थापना हुई तथा अन्य बैंक भी स्थापित हुये, किन्तु १९२० से आर्थिक मंदी (Depression) तथा मुद्रा संकोचन (Deflation) दोनों ही आरम्भ हुए और बैंकों को फिर संकट का सामना करना पड़ा। यह आर्थिक संकट १९२४ तक रहा। बैंकों की कुल डिपाज़िट जो १९२१ में ८० करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी, गिरने लगी और १९२४ में केवल ५५ करोड़ रह गई। यद्यपि संकट उतना तीव्र नहीं था फिर भी कुछ बैंक डूब गए। १९१९ से १९२५ के बीच में ८४ बैंक डूब गए जिससे ४ करोड़ ८० लाख रुपये की पूँजी की हानि हुई। १९२३ सबसे बुरा वर्ष था। उस एक वर्ष में २० बैंक जिनकी चुकता पूँजी (Paid up Capital) चार करोड़ ६५ लाख रुपये थी डूब गए। १९२३ में डूबने वाले बैंकों में ताता औद्योगिक बैंक तथा एलाइन्स बैंक आफ शिमला मुख्य थे। अन्त में ताता औद्योगिक बैंक को सैंट्रल बैंक आफ इंडिया ने लिया।

१९२३-२४ की आर्थिक मंदी (Depression) के उपरान्त भारत में व्यापारिक बैंकों के इतिहास को तीन कालों में बाँटा जा सकता है। पहला काल १९२४-२५ से १९३० तक का है। यद्यपि इस काल में बैंकों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ किन्तु उन्नति सन्तोषजनक नहीं हुई। डिपाज़िट १९२१ से (अर्थात् ८० करोड़) बहुत कम रहे। १९३० में कुल डिपाज़िट ६८ करोड़ रुपये थी। इस सुधार के पश्चात् १९३१ में फिर बैंक डिपाज़िट २ करोड़ कम हो गई और बैंकों को थोड़ी मंदी का सामना करना पड़ा। फिर १९३२ से १९३७ तक दूसरा काल माना जा सकता है। इस काल में बैंकों की स्थिति में पहले की अपेक्षा तेज़ी से सुधार हुआ। १९३७ में बैंकों का डिपाज़िट बढ़ कर १०८ करोड़ रुपये हो गए।

इस काल के उपरान्त १६३८ में फिर आर्थिक मंदी का सामना करना पड़ा और बैंकों की कुल डिपाज़िट २ करोड़ रुपये घट गई यद्यपि छोटे बैंकों की डिपाज़िट में वृद्धि हुई। इस काल में छोटे-छोटे बैंक डूबे किन्तु ट्रावंकोर नेशनल एण्ड किलन बैंक, बनारस बैंक तथा बंगाल नेशनल बैंक उल्लेखनीय हैं। इसके उपरान्त १६३६ के उपरान्त आश्चर्यजनक तेजी से बैंकों की संख्या तथा डिपाज़िट में वृद्धि हुई।

नये बैंकों में नीचे लिखे बैंक उल्लेखनीय हैं: भारत बैंक, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, जयपुर बैंक, हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक, बैंक आव बीकानेर, जोधपुर बैंक, हबीब बैंक, एक्सचेंज बैंक आव इंडिया एण्ड अफ्रीका, हिन्द बैंक, डिस्काउन्ट बैंक आव इन्डिया, हिन्दुस्तान मरकैंटाइल बैंक, नेशनल सेविंग्स बैंक। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से बैंक स्थापित हुये। यही नहीं कि इस काल में सैकड़ों छोटे बड़े बैंक स्थापित हुए और उन्होंने अपनी शाखायें तेज़ी से स्थापित करना आरम्भ कर दिया वरन् पुराने बैंकों ने भी अपनी पूँजी बढ़ाई तथा अपने कारबार के क्षेत्र का विस्तार किया और ब्रांचों की वृद्धि करना आरम्भ कर दिया। सेठ रामकृष्ण डालमियाँ के द्वारा भारत बैंक की स्थापना होते ही प्रत्येक बड़े व्यवसायी ने अपना-अपना बैंक स्थापित करना आरम्भ कर दिया और देश में बैंकों की एक बाढ़ सी आ गई। इनमें छोटे-छोटे बैंकों की संख्या ही अधिक थी। जहाँ १६३६-४० में देश मे केवल ५५ शिड्यूल बैंक थे वहाँ १६४६-४७ में ६६ शिड्यूल बैंक हो गये और १६४७-४८ में यह संख्या १०१ हो गई। देश के विभाजन के बाद १६४६-५० में भारत में शिड्यूल बैंकों की संख्या ६४ थी। इसी प्रकार जहाँ १६३८ में शिड्यूल बैंकों की १२७८ ब्रांचें थीं वहाँ ३१ मार्च १६४६ में उनकी संख्या ३००८ हो गई। पर १६४६-५० से शिड्यूल बैंकों की ब्रांचों में १२८ ब्रांचें कम हो गईं। क्योंकि आर्थिक दृष्टि से जो ब्रांचें सफल नहीं हो रहीं थीं वे बन्द कर दी गईं। द्वितीय महायुद्ध के समय से जो बैंकिंग में विस्तार हो रहा था उसका यह स्वाभाविक परिणाम था। बैंकों की डिपाज़िट में भी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। जहाँ १६३६-४० में शिड्यूल बैंकों की कुल डिपाज़िट २३४·५६ करोड़ थी वहाँ १६४७-४८ में शिड्यूल बैंकों की डिपाज़िट १०५०·५४ करोड़ के लगभग हो गई और देश के विभाजन के बाद १६४६-५० में केवल भारत के बैंकों की डिपाज़िट ८७०·३८ करोड़ थी। जुलाई १३,१६५१ को भारत के शिड्यूल बैंकों की कुल डिपाज़िट लगभग ८६७·७६ करोड़ के थी। नोन-शिड्यूल बैंकों की ३१ मार्च १६५० को कुल डिपाज़िट ३६ करोड़ रुपये के लगभग थी। बैंकिंग कम्पनीज़ एक्ट के तहत में जो नोन-शिड्यूल

...व पेश करते हैं उनकी संख्या बराबर कम होती जा रही है ... इसी से उनके डिपाज़िट में भी कमी होती जा रही है। मार्च १९४९ में इनके डिपाज़िट ४७ करोड़ थे जो मार्च १९५० को कम होकर ३९ करोड़ तक पहुँच गए।

युद्ध काल और उसके उपरान्त बैंकों की यह बाढ़ मुद्राप्रसार (Inflation) का परिणाम था। सरकार के आदेश पर रिज़र्व बैंक ने जो तेज़ी से कागज़ी मुद्रा छापनी आरम्भ कर दी उसके ही परिणामस्वरूप बैंकों की बाढ़ आ गई और डिपाज़िटों में वृद्धि हुई। परन्तु बहुत से बैंकों ने बिना यह समझे कि उनके पास यथेष्ट योग्य और कुशल कर्मचारी हैं ब्रांचें खोलनी आरम्भ कर दीं। ब्रांचों के खोलने में उन्होंने इस बात का भी ध्यान नहीं रक्खा कि कहाँ ब्रांच खोलना लाभदायक होगा और कहाँ ब्रांच खोलना लाभदायक नहीं होगा। बहुत से बैंकों का पूँजी बहुत ही कम था किन्तु उन्होंने भी ब्रांचें स्थापित कर दीं। इसका परिणाम यह हुआ कि १९४६-४७ में बहुत से छोटे-छोटे बैंक जो कि शिड्यूल बैंक नहीं थे (विशेषकर बंगाल के) टूट गए। १५ अगस्त १९४७ के उपरान्त जो भारत में भीषण लूट-मार और नर संहार हुआ उसमें भी पंजाब के बैंकों की बहुत बड़ी हानि हुई। सन् १९४८ के मध्य तक बैंकों ने देश के विभाजन के असर से अपने आपको सँभाल लिया था। युद्ध और युद्ध के बाद बैंकिंग के विस्तार की प्रवृत्ति का भी अब अन्त हुआ। डिपाज़िट की मात्रा में कमी आई। कुछ शिड्यूल बैंक और बड़े नॉन शिड्यूल बैंक सितम्बर अक्टूबर १९४८ में डूब गए। फिर भी बैंकों के बहुत अधिक हो जाने के कारण कहीं-कहीं बहुत अनुचित प्रतिस्पर्द्धा दिखलाई पड़ती है। भविष्य में बहुत से छोटे छोटे बैंकों को बड़े बैंकों से मिल जाना होगा नहीं तो वे खड़े नहीं रह सकते। यद्यपि लड़ाई के उपरान्त अभी तक आर्थिक मंदी (Depression) का भारतीय बैंकों को सामना नहीं करना पड़ा है फिर भी यह कहा जा सकता है कि रिज़र्व बैंक के नेतृत्व में भारतीय बैंक उन्नति कर रहे हैं और *शिड्यूल बैंकों की स्थिति* अच्छी है।

मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के कार्य —अब हम मिश्रित पूँजी वाले बैंकों (*Joint Stock Banks*) के कार्यों का विवेचन करेंगे। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि मिश्रित पूँजी वाले बैंक व्यापारिक बैंक (Commercial Bank) होते हैं और वे उन सभी कार्यों को करते हैं जो कि व्यापारिक बैंक करते हैं। इन बैंकों का मुख्य कार्य चालू (Current), मुद्दती (Fixed) और सेविंग्स डिपाज़िट आकर्षित करना तथा थोड़े समय के लिए ऋण देना है,

बिलों को भुनाना या खरीदना, (यद्यपि भारतीय बैंक यह कार्य कम करते हैं, क्योंकि यहाँ बिल-बाज़ार का उदय नहीं हुआ है) सरकारी सिक्यूरिटियों (प्रतिभूति) में अपना रुपया लगाना, नकद साख (Cash Credit) देना, खेती की पैदावार को गाँव से नियत बन्दरगाहों तक और बन्दरगाहों से विदेशों से आए हुए माल को देश के भीतरी बाजारों तक पहुँचाने में आर्थिक सहायता देना है। इसके अतिरिक्त यह बैंक और भी छोटे-मोटे कार्य करते हैं, उदाहरण के लिये रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना इत्यादि।

यह बैंक कृषि के धंधे को सीधी आर्थिक सहायता नहीं देते। वे केवल बड़े जमींदारों, चाय इत्यादि के बगीचों के मालिकों तथा ऐसे व्यक्तियों को ही ऋण देते हैं जो कि बाज़ार में शीघ्र बिक सकने योग्य जमानत (Security) देते हैं। पहले तो यह बैंक मुद्दती जमा (Fixed Deposits) पर ४ से ५ प्रतिशत वार्षिक सूद देते थे और चालू खाते (Current Account) पर $1\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत सूद देते थे किन्तु अब अधिकांश बैंक चालू खाते पर कुछ भी सूद नहीं देते और मुद्दती जमा पर भी २ प्रतिशत से अधिक सूद नहीं देते।

बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में जहाँ स्टाक बाजार की सिक्यूरिटी अधिक मिलती है वहाँ यह बैंक उनको जमानत पर ऋण देते हैं। किन्तु जिन मंडियों तथा बाज़ारों में स्टाक बाज़ार की सिक्यूरिटी अधिक नहीं मिलती वहाँ खेती की पैदावार को रख कर यह बैंक ऋण दे देते हैं। भारतवर्ष में सार्वजनिक गोदाम नहीं हैं इस कारण बैंक अपने गोदाम रखते हैं जहाँ ग्राहक का माल रख कर उसकी ज़मानत पर उसे ऋण दे दिया जाता है। ऐसा भी होता है कि बैंक ग्राहक के गोदाम पर ही अधिकार कर लेते हैं और वहीं माल बंद करके ग्राहक को ऋण दे देते हैं। वे सोना चाँदी, कपड़ा इत्यादि वस्तुओं को रखकर भी ग्राहकों को ऋण दे देते हैं। कारखानों को उनको तैयार माल के विरुद्ध तथा अन्य सिक्यूरिटियों के विरुद्ध ऋण देते हैं। कभी-कभी बैंक इमारतों तथा अन्य स्थावर सम्पत्ति को गिरवी रखकर कर्ज़ दे देते हैं किन्तु इस प्रकार का कर्ज़ा अधिक नहीं दिया जाता। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की सम्पत्ति शीघ्र ही बेची नहीं जा सकती।

बैंक व्यक्तिगत जमानत पर भी कर्ज़ दे देते हैं। ऐसी दशा में कर्ज़दार जो प्रामिसरी नोट लिखता है उस पर दो अच्छे हस्ताक्षर ले लिए जाते हैं। सर्राफ तथा मैनेजिंग एजेंटों के हस्ताक्षर होने पर बैंक आसानी से कर्ज़ दे देते हैं। हुंडी जो कि आज भी भारतीय बाज़ारों में प्रचलित है (यद्यपि पहले से उसका प्रचार कम है) वास्तव में दो हस्ताक्षरों वाला पत्र है, क्योंकि उस पर देशी बैंकरों

का बेचान (Endorsement) होता है। किन्तु व्यापार की मात्रा को देखते हुए तथा व्यापारियों की आवश्यकताओं को देखते हुए जितने दो हस्ताक्षर वाले पत्रों को यह बैंक स्वीकार करके व्यापारियों को कर्ज या साख देते हैं वे अपेक्षाकृत कम ही होते हैं।

कर्ज देने का सबसे अधिक प्रचलित ढंग यह है कि कर्जदार बैंक को प्रामिसिरी नोट लिख देता है और कम्पनियों के हिस्से माल या बॉंड अथवा अन्य कोई सिक्यूरिटी बैंक के पास जमानत के रूप में रख देता है और बैंक उस कर्जदार के नाम नकद खाता खाता (Cash Credit Account) खोल देता है। यह ढंग दोनों पक्षों के लिए सुविधाजनक है। कर्जदार जितना रुपया वास्तव में निकलता है उस पर ही उसे सूद देना पड़ता है। फिर उसे यह भी सुविधा रहती है कि वह जब भी चाहे तो उस खाते में रुपया जमा करदे अर्थात् कुछ कर्ज चुकादे। किन्तु कर्जदार को जितनी नकद साख दी गई है उसकी आधी रकम पर अवश्य सूद देना होगा। कर्ज देने का यह ढंग भारत में बिल-बाजार को विकसित नहीं होने देता। किन्तु यह अधिक प्रचलित है, क्योंकि बैंक और व्यापारी दोनों ही उसे पसन्द करते हैं। बैंक को सुविधा यह है कि जब चाहे तो नकद साख (Cash Credit) की इस सुविधा को वापस ले सकता है अर्थात् कर्जदार को अधिक कर्ज या साख देना अस्वीकार कर सकता है और कर्ज लेने वाले को यह सुविधा होती है कि उसे निश्चित रकम पर ही सूद देना पड़ता है, पूरी रकम पर सूद नहीं देना पड़ता।

यह बैंक अधिकतर देश के भीतरी व्यापार के लिये अल्पकालीन साख (Short Term Credit) का प्रबन्ध करते हैं। विदेशी व्यापार, उद्योग धन्धे तथा कृषि को यह बहुत कम साख देते हैं। पिछले कुछ वर्षों से भारत के कुछ बड़े बैंकों ने विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का कारबार करना आरम्भ किया है परन्तु अभी तक वह नहीं के बराबर है। उद्योग-धन्धों को यह बैंक थोड़े समय के लिये नकद साख के रूप में या कर्ज के रूप में सहायता देते हैं। अधिक समय के लिये स्थायी पूँजी (Block Capital) के रूप में यह बैंक उद्योग धन्धों को सहायता नहीं देते।

भारतीय व्यापारिक बैंकों की कार्यपद्धति की एक विशेषता यह है कि बिलों की अपेक्षा सरकारी सिक्यूरिटियों में अपना रुपया अधिक लगाते हैं। इसका कारण यह है कि देश में व्यापारी बिलों तथा बैंक के स्वीकार योग्य पत्र (Papers) की कमी या अभाव है। अस्तु, बैंक अपना अधिकतर रुपया सरकारी सिक्यूरिटियों में लगाते हैं।

इनके अतिरिक्त भारतीय बैंक और भी सहायक बैंकिंग कार्य करते हैं। उदाहरण के लिये वे अपने ग्राहकों को अर्थ सम्बन्धी सलाह देते हैं, उन्हें व्यापार सम्बन्धी जानकारी कराते हैं, अपने ग्राहकों के लिए सरकारी सिक्यूरिटी तथा कम्पनियों के हिस्से खरीदते और बेचते हैं, अपने ग्राहकों के एवज में रुपया चुकाते हैं और वसूल करते हैं, अपने ग्राहकों के एजेंट या प्रतिनिधि का काम करते हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त वे यात्रियों की सुविधा के लिए साख-पत्र (Letter of Credit) देते हैं, रुपये को दूसरे स्थान पर भेजने के लिए बैंक ड्राफ्ट देते हैं तथा सरकार, कम्पनियों तथा म्यूनिसिपैलिटी तथा कारपोरेशनों द्वारा निकाले हुए ऋण का अभिगोपन (Underwriting) करते हैं। वे अपने ग्राहकों की साख, आर्थिक स्थिति तथा प्रसिद्ध के सम्बन्ध में अन्य व्यापारियों को अपना मत देते हैं। वे अपने ग्राहकों की मूल्यवान वस्तुओं को सुरक्षित रूप से रखते हैं।

भविष्य में भारतीय बैंकों को अधिकाधिक विदेशी व्यापार की ओर ध्यान देना होगा। भारतीय बैंकों ने 'ट्रस्ट' का कारवार भी करना आरम्भ नहीं किया है और वे ग्राहकों के लिए शेयरों की खरीद-बिक्री का भी काम बहुत कम करते हैं। भविष्य में उन्हें इस ओर अधिक ध्यान देना होगा।

भारतीय व्यापारिक बैंकों के दोष तथा उनकी कठिनाइयाँ:—(१) भारतीय बैंकों को अभी तक सरकार से प्रोत्साहन नहीं मिला। म्यूनिसिपैलटियों, विश्वविद्यालय, पोर्ट ट्रस्ट, कोर्ट आव वार्डस ट्रस्टों इत्यादि का रुपया उनमें नहीं रक्खा जाता। यद्यपि अब धीरे-धीरे स्थिति बदल रही है। १९३५ के पूर्व देश में कोई केन्द्रीय बैंक न होने के कारण उन्हें कठिनाई के समय ठीक नेतृत्व तथा सहायता नहीं मिलती थी और न उनमें आपस में सहयोग ही स्थापित हो पाता था। किन्तु रिज़र्व बैंक की स्थापना से अब यह कठिनाई दूर हो गई है।

(२) विदेशी विनिमय बैंकों (Exchange Banks) तथा इम्पीरियल बैंक की प्रतिस्पर्द्धा तथा आपसी सहयोग और सहानुभूति का अभाव भी उनकी उन्नति के मार्ग में एक रुकावट है। यह भी विचार है कि भविष्य में सहकारी बैंक (Co-operative Banks) भी उनसे होड़ करेंगे। जहाँ तक इन बैंकों की एक्सचेंज बैंकों तथा इम्पीरियल बैंकों से स्पर्द्धा का प्रश्न है, हम उन बैंकों से सम्बन्धित अध्यायों में लिख चुके हैं। और जहाँ तक उनमें आपस में तथा द्रव्य बाज़ार (Money Market) के अन्य सदस्यों में सहयोग तथा सद्भावना उत्पन्न करने का प्रश्न का है उसके लिए अखिल भारतीय बैंकर्स एसोसियेशन की स्थापना की आवश्यकता है।

(३) अभी तक बहुत से भारतीय धन तथा भारतीय व्यापार विदेशियों के हाथ में हैं और वे स्वभावतः अपने देश के बैंकों को प्रोत्साहन देते हैं इस कारण भी भारतीय बैंकों की उन्नति तेजी से नहीं हुई। किन्तु अब भारत स्वतंत्र हो गया है और यह कठिनाई अब क्रमशः दूर हो जावेगी।

(४) यही नहीं कि विदेशी व्यवसायी तथा विदेशी व्यापारी फर्में अपने देश के बैंकों से अपना कारबार करती हैं वरन् जो भारतीय व्यापारी इनके ब्रोकर या एजेंट का काम करते हैं अथवा जिनका विदेशी बीमा कम्पिनियों तथा विदेशी जहाजी कम्पनियों से कारबार होता है उनको भी यह विदेशी फर्में और कम्पनियाँ विदेशी विनिमय बैंकों से कारबार पर विवश करते हैं।

(५) पिछले बैंक संकट के कारण जो बैंक टूट गए उनसे बैंकों की स्थापना में कठिनाई होती थी, लोग बैंकों में हिस्से नहीं लेते थे और उनमें रुपया जमा करने से हिचकिचाते थे, किन्तु अब यह कठिनाई दूर हो गई है। पिछले वर्षों में बैंकों की संख्या तथा डिपाज़िट में जैसी तेज़ी से वृद्धि हुई है उसे देखते यह कहना पड़ेगा कि बैंकों के विरुद्ध अब अविश्वास जाता रहा है।

(६) भारत की आर्थिक उन्नति न होने के कारण भी भारतीय बैंकों की उन्नति रुकी रही। अस्तु, भारत की आर्थिक उन्नति के साथ साथ भारत में बैंकिंग कारबार का विकास होना तथा जनता में बैंकिंग की आदत बनना अनिवार्य है। अभी तक जनता में बैंकिंग की आदत कम है।

(७) इनके अतिरिक्त बैंकों को कुछ अन्य कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए हिंदू तथा मुसलमानों के पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून इतने उलझे हुए हैं कि इस प्रकार की सम्पत्ति की ज़मानत पर ऋण देना बैंकों के लिए खतरे से खाली नहीं है। अस्तु बैंक उस सम्पत्ति की ज़मानत पर ऋण देने से हिचकते हैं।

थोड़े समय के लिए सबसे अच्छा तरीका यह है कि व्यापारी अपनी सम्पत्ति के प्रलेख (Documents) बैंक के पास बिना बंधक पत्र (Mortgage Deeds) लिखे और उसकी रजिस्ट्री कराये रख दें और उन प्रलेखों (Documents) का बैंकों के पास जमा कर देना ही बंधक मान लिया जावे। किन्तु भारत में यह सुविधा केवल बम्बई, कलकत्ता, मदरास जैसे नगरों में दी गई है। अन्य स्थानों में यह सुविधा बैंकों को प्राप्त नहीं है।

(८) व्यापारिक बैंक इस आशा से सरकारी सिक्यूरिटियों में अपना रुपया लगाते हैं कि संकट काल में सरकारी सिक्यूरिटियाँ शीघ्र ही नकदी में परिणित की जा सकती हैं। किन्तु कभी-कभी उसमें कठिनाई पड़ जाती है। ऐसा बहुत बार हुआ

कि बैंक इम्पीरियल बैंक से सरकारी सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण प्राप्त न कर सके। अभी हाल में रिज़र्व बैंक ने भी इसी आशय की घोषणा की है कि यदि किसी बैंक की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है तो यह आवश्यक नहीं है कि सरकारी सिक्यूरिटी के आधार पर उन्हें ऋण दे ही दिया जावेगा।

(६) भारत में बहुत बड़ी संख्या में ऐसे बैंक हैं कि जिनके पास अपनी निज की यथेष्ट पूँजी नहीं है, इस कारण उन्हें बहुत कठिनाई पड़ती है। वे डिपाजिट अधिक आकर्षित करने के लिए सूद अधिक देते हैं और इस कारण उन्हें अपना रुपया जोखिम के कारबार में लगाना पड़ता है, तभी वे अधिक सूद कमा सकते हैं। डिपाजिट आकर्षित करने के लिए यह छोटे-छोटे बैंक दूर-दूर अन्य प्रान्तों में ब्रॉचें स्थापित करते हैं, इस कारण उनकी देख-भाल और व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं हो पाती और उन्हें बड़े बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा को सहन करना पड़ता है। इस प्रकार के बैंक स्वभावतः निर्बल होते हैं और संकट के समय वे नहीं ठहर सकते।

(१०) इसके अतिरिक्त बहुत से बैंकों के डाइरेक्टर योग्य और अनुभवी नहीं हैं और योग्य बैंकिंग कर्मचारियों की कमी है। यही नहीं, नये बैंकों को समाशोधन गृह अर्थात् क्लियरिंग हाउस (Clearing House) का सदस्य बनने में बड़ी कठिनाई होती है। क्लियरिंग हाउस पर विदेशी बैंकों का बहुत प्रभाव है और वे नये बैंकों को उसका सदस्य नहीं बनने देना चाहते। किन्तु अब क्रमशः यह कठिनाई दूर हो जावेगी।

(११) भारत के सभी बैंक अंग्रेज़ी में अपना कारबार करते हैं। उनके चेक, रसीदें, तथा हिसाब सभी अंग्रेज़ी में होता है। केवल कुछ ही बैंक ऐसे हैं कि जो हिन्दी में लिखे गए चेकों को तथा हिन्दी में किये गए हस्ताक्षरों को स्वीकार करते हैं। भारत में व्यापारियों तथा जनता का एक बहुत भाग अंग्रेज़ी नहीं जानता। भारतवर्ष की स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त अंग्रेजी का महत्त्व अब घटने जा रहा है अतएव अब बैंकों को अपना कारबार हिन्दी में अथवा प्रान्तीय भाषा में करना चाहिए।

(१२) भारतीय बैंकों के सामने एक यह भी कठिनाई है कि यहाँ बिलों तथा ऐसे पत्रों (papers) की बहुत कमी है जिन्हें बैंक स्वीकार कर सकें। इस कारण बैंकों को विवश होकर अपना अधिकांश कोष सरकारी सिक्यूरिटियों में लगाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भारत में बिना किसी सम्पत्ति की ज़मानत पर अथवा दूसरे हस्ताक्षर लिए हुए व्यक्तिगत साख पर ऋण देने की परिपाटी नहीं है, जबकि अन्य देशों में यह बहुत प्रचलित है और अधिकांश ऋण इसी

प्रकार दिये जाते हैं। इसका एक कारण यह है कि पश्चिमीय देशों में 'एक व्यक्ति एक बैंक' का चलन है अर्थात् एक व्यक्ति अपना सारा कारबार केवल एक बैंक से ही करता है। दूसरा कारण मैनेजिंग एजेंट हैं। बैंक जब किसी कंपनी को ऋण देते हैं तो वे कंपनी के डायरेक्टर के अतिरिक्त मैनेजिंग एजेंट के हस्ताक्षर अवश्य लेते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि कंपनी के वास्तविक कर्ता धर्ता तो मैनेजिंग एजेंट ही हैं। एक तीसरा कारण यह भी है कि अभी तक इस देश में ऐसी व्यापारिक एजेंसियाँ नहीं हैं जो व्यक्तियों की साख के सम्बन्ध में बैंकों को सारी जानकारी दे सकें।

(१३) भारतीय बैंकों ने अभी तक भारतवर्ष की परिस्थिति के अनुसार अपने संगठन को नहीं बनाया। वे ऐक्सचैंज बैंकों तथा इम्पीरियल बैंकों की नक़ल मात्र करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रबन्ध-व्यय अधिक होता है फिर भी उनके कर्मचारियों में न तो वह कुशलता है और न वह योग्यता। भारतीय बैंकों ने न तो विदेशी ऐक्सचैंज बैंकों की कुशलता ही प्राप्त की और न देशी बैंकरों की सादगी और मितव्ययिता ही वे अपना सके। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय बैंक भारत के अनुकूल बैंकिंग संगठन की नवीन पद्धति निकालें जो कि कम खर्चीली हो। क्योंकि भारत में ऐसे स्थान बहुत हैं कि जहाँ इतना कारबार प्रारम्भ में तो नहीं मिल सकता कि एक आधुनिक शाखा का खर्च निकल सके परन्तु फिर भी वहाँ बैंकिंग की सुविधा की आवश्यकता है।

(१४) बहुधा लोग भारतीय बैंकों पर यह दोष लगाते हैं कि वे अपने वास्तविक लाभ का बहुत बड़ा अंश हिस्सेदारों को इसलिये बाँट देते हैं कि जिससे जनता में उनके प्रति विश्वास बना रहे। क्योंकि भारतीय जनता की यह धारणा है कि जो बैंक जितना अधिक लाभ बाँटता है वह उतना ही अच्छा है। जहाँ तक बड़े और पुराने बैंकों का प्रश्न है यह आरोप निराधार है, किन्तु छोटे बैंक यह करते हैं और इसका मुख्य कारण भारतीय जनता की यह भ्रमपूर्ण धारणा है।

अब परिस्थिति बदल गई है। यद्यपि भारत के विभाजन से पाकिस्तान में जिन बैंकों की अधिक शाखें थीं उन्हें बहुत हानि उठानी पड़ी है, परन्तु फिर भी बैंकों का तेज़ी से विस्तार हुआ है और बड़े बैंक उन दोषों को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

बैंकों का वर्गीकरण—भारतवर्ष में बैंकों का वर्गीकरण दो प्रकार से हुआ है। एक वर्गीकरण सरकार का है और दूसरा रिज़र्व बैंक का है। भारत

सरकार जो बैंक सम्बन्धी आंकड़े छापती है उसमें दो प्रकार के बैंकों का उल्लेख होता है (१) पहली श्रेणी तो उन बैंकों की होती है कि जिनकी चुकता पूँजी (paid up Capital) तथा रक्षित कोष (Reserve Fund) पाँच लाख रुपये से अधिक है। दूसरी श्रेणी उन बैंकों की है जिनकी चुकता पूँजी और रक्षित कोष १ लाख रुपये से अधिक है और पाँच लाख रुपये से कम है। १६३६ के उपरान्त बैंकिंग सम्बन्धी आंकड़े रिज़र्व बैंक छापने लगा है तब से दो अन्य श्रेणियाँ और जोड़ दी गई हैं। तीसरी श्रेणी के बैंक वह हैं जिनकी चुकता पूँजी और रक्षित कोष ५० हजार रुपये से अधिक तथा १ लाख से कम है और चौथी श्रेणी में वे बैंक आते हैं जिनकी पूँजी तथा रक्षित कोष ५० हजार रुपये से कम है।

रिज़र्व बैंक बैंकों को दो श्रेणियों में बाँटता है—(१) शिड्यूल बैंक (Schedule Banks) और गैर शिड्यूल बैंक (Non-Schedule Banks)। जिस बैंक की चुकता पूँजी और रक्षित कोष ५ लाख रुपये से अधिक हो तथा वह कुछ अन्य शर्तें पूरी करे तो वह शिड्यूल बैंक बन सकता है। किन्तु सभी इस प्रकार के बैंक शिड्यूल बैंक नहीं बन गए हैं।

भारतवर्ष में इंगलैंड के आधार पर बैंकिंग विषय पर लिखने वाले पाँच प्रमुख बैंकों को 'बड़े पाँच' के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि भारत के बड़े पाँच तथा ब्रिटेन के बड़े पाँच में कोई समानता नहीं है, परन्तु फिर भी अध्ययन की दृष्टि से इस प्रकार का विभाजन किया जाता है। वह 'बड़े पाँच' नीचे लिखे हैं (१) बैंक आव इंडिया, (२) सेंट्रल बैंक आव इंडिया, (३) इलाहाबाद बैंक, (४) पंजाब नेशनल बैंक, (५) बैंक आव बड़ौदा। इनमें इलाहाबाद बैंक तो विदेशी बैंक है और शेष चार भारतीय बैंक हैं। इनमें सेंट्रल बैंक आव इंडिया तथा बैंक आव इन्डिया के साधन बहुत अधिक हैं, वे 'दो बड़े' कहलाये जा सकते हैं।

नये बैंक जो कि १६४१ के उपरान्त स्थापित हुए उनमें नीचे लिखे 'बड़े पाँच हैं (१) भारत बैंक, (२) यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, (३) हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक, (४) जयपुर बैंक तथा (५) हबीब बैंक। अब भारत बैंक पंजाब नेशनल बैंक द्वारा ले लिया गया है।

(३) विनिमय बैंक या एक्सचेंज बैंक (Exchange Banks)—एक्सचेंज बैंक वास्तव में व्यापारिक बैंक हैं किन्तु उनमें तथा भारतीय मिश्रित पूँजी वाले व्यापारिक बैंकों (Indian Joint Stock Banks) में केवल इतना ही अन्तर है कि एक्सचेंज बैंकों के प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं और

उनकी शाखायें भारतीय बदरगाहों और मुख्य व्यापारिक केन्द्रों में हैं तथा ये मुख्यत विदेशी व्यापार में आर्थिक सहायता और विनमय (Exchange) का सुविधा प्रदान करते हैं। वास्तव में भारतवर्ष ने बैंकिंग सगठन की एक विचित्र विशेषता है कि शोद से विदेशी बैंकों के एक समूह ने भारत के विदेशी व्यापार पर प्राय अपना एकाधिपत्य सा जमा लिया है। भारतीय व्यापारिक बैंकों का अभी तक इस क्षेत्र में बहुत थोड़ा प्रवेश हो पाया है। बात यह थी कि ईस्ट इडिया कपनी के शासन काल म अविभक्त भारत का विदेशी व्यापार ब्रिटेन से होता था। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि लदन में ऐसे बैंक स्थापित हों जो कि दोनों देशों में विनिमय (Exchange) का काम करें। किन्तु आरम्भ में तो ईस्ट इडिया कपनी और एजेंसी हाऊस जो भारत में व्यापार तथा बैंकिंग का कारवार करते थे इसके विरुद्ध थे कि इस प्रकार के बैंक स्थापित हों। किन्तु १८५३ म ईस्ट इडिया कपनी ने इस प्रकार के बैंकों की स्थापना का विरोध करना छोड़ दिया और एजेंसी हाऊसों के समाप्त हो जाने से उस प्रकार के बैंकों की स्थापना और भी आवश्यक हो गइ है।

१८५३ के पूर्व केवल ओरियटल बैंक विनिमय (Exchange) का काम करता था किन्तु १८५३ में चारटड बैंक आव इडिया, आस्ट्रेलिया और चीन तथा मारकैंटाइल बैंक इगलैण्ड म स्थापित हुए। १८८४ म ओरियटल बैंक फेल हो गया। १८६३ म नेशनल बैंक आव इडिया कलकत्ता बैंकिंग कारपोरेशन के नाम से स्थापित हुआ किन्तु बाद को इसका नाम बदल दिया गया और इसका प्रधान कार्यालय लदन ले जाया गया। इसके उपरान्त फ्रांस, जरमनी, हालैंड, पुर्तगाल, रूस सयुक्त राज्य अमेरिका और जापान ने भी इसी नीति को अपनाया और भारत तथा अन्य एशियाई राष्ट्रों से अपने व्यापार को बढ़ाने के उद्देश्य से अपने बैंकों की शाखायें भारतीय बन्दरगाहों म स्थापित कर दीं। शीघ्र ही इगलैंड के तीन अन्य बैंकों ने भी अपनी शाखायें यहाँ स्थापित कर दीं (लायड्स, नेशनल प्राविंशियल तथा थामस)। १९१४ में जब प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ जरमन बैंक (Deutsch Asiatische Bank) तथा रूसी एशियाटिक बैंक की भारतीय शाखायें बन्द हो गईं और फिर नहीं खुलीं। १९४१ में जब जापान मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध म सम्मिलित हुआ तो तीन जापानी बैंकों की शाखायें (याकोहामा स्पीसी बैंक, मित्सुइ बैंक तथा तैवान बैंक) बन्द हो गइ।

एक्सचैंज बैंकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। एक तो वे बैंक जिनका अधिक कारबार भारत से होता है अर्थात् उनको डिपाज़िट का २५

प्रतिशत से अधिक भारत में है। दूसरी श्रेणी में वे बैंक आते हैं कि जो बहुत बड़े बैंक हैं और जिनका कारबार अन्य देशों में अधिक फैला हुआ है, अर्थात् भारत में उनकी कुल डिपाज़िट का २५ प्रतिशत से कम है। किन्तु यह श्रेणी-विभाजन बहुत उपयुक्त नहीं है क्योंकि दूसरी श्रेणी के बैंक लायड बैंक, हांगकांग शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन तथा अमेरिका का न्यू-सिटी बैंक बहुत बड़े बैंक हैं, और यद्यपि भारत में उनकी डिपाजिट उनकी कुल डिपाज़िट की २५ प्रतिशत से कम है परन्तु उनकी भारतीय डिपाज़िट पहली श्रेणी के बैंकों की डिपाज़िट से कहीं अधिक है। १९३९ तक प्रथम श्रेणी में ६ बैंक थे किन्तु १९३९ में चार-टर्ड बैंक ने पी० ओ० बैंकिंग कारपोरेशन को खरीद लिया। अस्तु अब पहली श्रेणी में केवल पांच बैंक हैं। और १५ बैंक दूसरी श्रेणी में हैं। (इनमें जापान के ३ बैंकों का युद्ध काल में कारबार बन्द हो गया)।

बात यह थी कि भारत का व्यापार बढ़ता जा रहा था, बैंकिंग में अधिक लाभ था और उसी लाभ के लालच से उन देशों के प्रमुख बैंकों ने भारत में अपनी शाखायें स्थापित करदीं कि जिनका भारत से व्यापार होता था। केवल इटली और बैलजियम ही ऐसे देश हैं कि जिनका भारत के साथ यथेष्ट व्यापार होता है किन्तु उनके किसी बैंक ने भारत में अपना कारबार स्थापित नहीं किया।

एक्सचेंज बैंक भारत के अत्यन्त प्राचीन बैंक हैं। जबकि आधुनिक ढंग के मिश्रत पूँजी वाले व्यापारिक बैंकों की भारत में स्थापना भी नहीं हुई थी तब से ही वे भारत में अपना कारबार करते आये हैं। चारटर्ड नेशनल, और मरकैन्टाइल तो १८७० के पूर्व ही काम करते थे। वास्तव में भारतीय व्यापारिक बैंकों का प्रादुर्भाव तो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। अतएव एक्सचेंज बैंकों का देश के व्यापार में प्रधान हाथ रहा तो उसमें आश्चर्य ही क्या है।

एक्सचेंज बैंकों का भारतीय द्रव्य-बाजार में प्रभावः—इन एक्सचेंज बैंकों का भारतीय द्रव्य-बाज़ार पर गहरा प्रभाव रहा है। बहुधा इन बैंकों ने भार-तीय आर्थिक हितों के विरुद्ध अपने प्रभाव का प्रयोग किया है। यह इन बैंकों के विरोध का ही परिणाम था कि भारत के प्रेसीडेंसी बैंकों को लन्दन के द्रव्य बाज़ार में सीधे ऋण लेने की आज्ञा नहीं मिली और बहुत समय तक भारत में केन्द्रीय बैंक (Central Bank) ही स्थापित न हो सका। इन बैंकों के प्रधान कार्यालय लन्दन में थे इस कारण वे लन्दन द्रव्य-बाजार के द्वारा भारत मंत्री पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ हो जाते थे। यही नहीं, भारत सरकार को प्रतिवर्ष इंग-लैंड में अपने खर्चे (Home Charges) को चुकाने के लिए करोड़ों रुपये के

स्टर्लिंग की आवश्यकता होती थी जो कि एक्सचेंज बैंक ही देते थे इस कारण भारत सरकार पर भी उनका प्रभाव रहता था। एक्सचेंज बैंकों को अपने प्रधान कार्यालयों के द्वारा लन्दन द्रव्य बाजार में अथवा अन्य का सभी सुविधायें प्राप्त हैं इस कारण वे रिज़र्व बैंक पर निर्भर नहीं हैं और इस कारण रिज़र्व बैंक का उन पर कभी पूर्ण नियन्त्रण नहीं हो सकता।

एक्सचेंज बैंकों के कार्य —एक्सचेंज बैंकों का मुख्य कार्य भारत के विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। एक प्रकार से एक्सचेंज बैंकों को भारत के विदेशी व्यापार का एकाधिकार प्राप्त है। हालांकि कुछ भारतीय बैंकों ने अब इस क्षेत्र में प्रवेश करना आरम्भ किया है। १९३५ के पूर्व इम्पीरियल बैंक को कानून द्वारा विदेशी बिलों (Foreign Bills) को खरीदने बेचने या भुनाने की मनाही थी। वह केवल अपने ग्राहकों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए ही भारत के बाहर रुपया भेज सकता था, विदेशी व्यापार का कारबार नहीं कर सकता था। भारतीय मिश्रित पूँजीवाले बैंकों (Indian Joint Stock Banks) के ऊपर कोई ऐसा कानूनी प्रतिबन्ध नहीं था परन्तु वे विदेशी व्यापार को अपने हाथ में लेने में असमर्थ थे क्योंकि एक्सचेंज बैंकों का उस पर एकाधिकार स्थापित था। पहला कारण तो यह है कि भारतीय बैंक इन एक्सचेंज बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकते क्योंकि वे बहुत अधिक मजबूत और साधन सम्पन्न हैं। उनके पास यथेष्ट धनराशि है उनकी पूँजी और सुरक्षित कोष (Reserve Fund) भारतीय बैंकों की अपेक्षा कई गुना अधिक है और उन्हें लन्दन के द्रव्य-बाजार में बहुत कम सूद पर ऋण लेने की सुविधा प्राप्त है। उनमें व्यापारियों का अधिक विश्वास है। भारतीय बैंकों के सामने दूसरी कठिनाई यह है कि उनकी शाखायें अन्य देशों में नहीं हैं इस कारण वे विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का लाभदायक काम सुविधापूर्वक नहीं कर सकते। तीसरा कारण यह कि भारत में ही भारतीय बैंकों की कार्यशील पूँजी (Working Capital) की माँग रहती है अतएव उन्हें विदेशी व्यापार में अपने कोष को लगाने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। परन्तु पिछले वर्षों में विशेषकर १९४० के उपरान्त भारत में नये बैंकों की स्थापना इस तेज़ी से हुई है और पुराने बैंकों ने अपनी पूँजी और शाखाओं का इस तेज़ी से विस्तार किया है कि बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गई है और भारतीय बैंकों को भी विदेशी व्यापार में हाथ डालने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा है। सेंट्रल बैंक ऑव इन्डिया इत्यादि कुछ बड़े भारतीय बैंकों ने इस कार्य को करना आरम्भ कर दिया है। यही नहीं एक भारतीय एक्सचेंज बैंक "एक्सचेंज बैंक ऑव इन्डिया

एंड अफ्रीका" भी स्थापित हुआ है जो अफ्रीका के व्यापार का काम करता है। इस बैंक ने अफ्रीका में अपनी शाखायें भी स्थापित की हैं। अभी तक जो भारतीय बैंक विदेशों में अपने ब्रांच स्थापित करने में सफल नहीं हुए उसके मुख्य कारण नीचे लिखे हैं:—

(१) भारतीय बैंकों की पूँजी इतनी अधिक न थी कि विदेशों के द्रव्य बाजारों में अपनी साख को सरलता से स्थापित कर सकते।

(२) विदेशों में ब्रांचों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए कार्यशील पूँजी (Working Capital) भी अधिक होनी चाहिए।

(३) आरम्भ में कुछ वर्षों तक विदेशों में ब्रांचें घाटे पर चलेंगी, अस्तु बैंकों को उस घाटे को सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय (International Exchange) के कारवार को करने के लिए बहुत कुशल बैंक कर्मचारियों की आवश्यकता है जिनकी भारत में कमी है।

(५) आरम्भ में भारतीय बैंकों को विदेशों में अधिक जमा मिलने की सम्भावना नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ के व्यवसायी, व्यापारी और जनता अपने देशीय बैंकों में ही अपना रुपया जमा करते हैं।

(६) भारतीय बैंकों को उन देशों के बड़े बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ेगा।

(७) भारतीय बैंकों के प्रधान कार्यालय भारत में होने के कारण भारतीय बैंकों का संसार के मुख्य द्रव्य बाजारों (न्यूयार्क और लंदन) से सीधा सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता, इस कारण वे अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्बन्धी हलचलों से दूर रहते हैं और निर्यात (Export) और आयात (Import) बिल उन्हें इतने अधिक प्राप्त नहीं हो सकते।

इन्हीं कारणों से भारतीय बैंक विदेशों में अपनी ब्रांचें स्थापित करने में सफल न हो सके। किन्तु अब भारतीय बैंक उस ओर ध्यान दे रहे हैं और उन्हें भविष्य में परिस्थितिवश अधिकाधिक इस ओर अग्रसर होना पड़ेगा।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि एक्सचेंज बैंकों का मुख्य कार्य व्यापार को आर्थिक सहायता देना है। किन्तु वे प्रायः सभी उन कार्यों को करते हैं जो कि व्यापारिक बैंक करते हैं। वे चालू (Current), मुद्दती (Fixed) तथा सेविंग्स डिपाज़िट स्वीकार करते हैं, विदेशी बिलों को खरीदते हैं, शीपरियहण प्रलेखों (Shipping Documents) की जमानत पर ऋण देते हैं और सोना तथा चाँदी के आयात (Import) में सहायता देते हैं। भारत में नेशनल

बैंक तथा चारटर्ड बैंक के मोटे पर पास बहुत प्रचलित रहते हैं। यही नहीं, एक्सचेंज बैंक आभ्यन्तर व्यापार (Internal Trade) में भी आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। जब माल देश के उत्पत्ति स्थान से निर्यात (Export) के लिए बन्दरगाहों तक भेजा जाता है अथवा विदेशों से आया हुआ माल बन्दरगाहों से भीतरी केन्द्रों तक भेजा जाता है तब उस व्यापार का भी एक्सचेंज बैंक ही बहुधा करते हैं। अब हम यहाँ विदेशी व्यापार का विवरण विस्तारपूर्वक करेंगे।

जब भारतीय निर्यात (Export) करने वाला व्यापारी विदेशियों को माल बेचता है तो किसी लन्दन बैंक से साख (Credit) का प्रबंध कर लिया जाता है। माल खरीदने वाला लंदन के किसी बैंक या फाइनेंस हाउस (साख देने वाले व्यापारी) से साख का प्रबंध कर लेता है और एक्सचेंज बैंक के जरिये भारतीय व्यापारी को इसकी सूचना दे देता है तब भारतीय व्यापारी उस साख (Credit) के विरुद्ध उक्त लन्दन स्थित बैंक या फाइनेंस हाउस पर 'बिल' (Bill) लिख देता है। अधिकतर बिलों की स्वीकृति हो जाने पर ही प्रलेख (Documents) जहाज की रसीद (Bill of Lading) इत्यादि दे दिए जाते हैं, परन्तु कुछ बिल ऐसे भी होते हैं कि जिनका भुगतान हो जाने पर ही प्रलेख (Documents) दिए जाते हैं।

ये बिल लन्दन भेज दिये जाते हैं। एक्सचेंज बैंक उन्हें स्वीकृति के लिए पेश करता है। उनकी स्वीकृति हो जाने पर एक्सचेंज बैंक उस पर बेचान (Endorsement) कर देता है और लन्दन के द्रव्य-बाज़ार में भुना लेता है। इस प्रकार एक्सचेंज बैंक उस बिल को भारत में खरीद कर जो उसका मूल्य रुपयों में चुकाते हैं वह लन्दन में स्टर्लिंग में वसूल कर लेते हैं। यदि एक्सचेंज बैंकों के पास यथेष्ट कोष (Funds) होता है और उसका उस समय कोई लाभदायक उपयोग होने की सम्भावना नहीं होती तो वे बिलों को पकने (Maturity) तक अपने पास ही रखते हैं, किन्तु यदि द्रव्य की बाज़ार में कमी होती है और व्यापार में तेजी होती है तो वे इन बिलों को लन्दन के द्रव्य बाज़ार में तुरन्त भुना लेते हैं। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उपनिवेशों और भारत के बीच में जो बिल होते हैं वे बहुधा स्टर्लिंग में होते हैं। जापान के बिल येन (Yen) में होते हैं तथा चीन के बिल रुपयों में होते हैं।

भारत के आयात व्यापार (Import Trade) का आर्थिक प्रबन्ध दो प्रकार से किया जाता है। जब भारतीय व्यापारी विदेशों से माल मँगाते हैं अथवा वे योरोपियन व्यापारी माल मँगाते हैं जिनका लन्दन में ऐसा कोई कार्यालय नहीं है कि जिसकी द्रव्य-बाज़ार में साख हो, तो माल भेजने वाला व्यापारी भारतीय

या ऐसे यूरोपियन व्यापारियों पर जिन्होंने माल मँगवाया है ६० दिन का देखनहार बिल (Sight Bill) काट देते हैं। उसके साथ माल सम्बन्धी सभी प्रलेख (Documents) जहाज की रसीद और समुद्री बीमा पालिसी इत्यादि रहते हैं और वे आवश्यक प्रलेख भारतीय व्यापारी को तभी दिए जाते हैं कि जब वह बिल का भुगतान करदे। माल भेजनेवाला लन्दन स्थित व्यापारी इन बिलों को लन्दन में ही एक्सचेंज बैंक से भुना (Discount) लेता है। इस प्रकार एक्सचैंज बैंक वास्तव में उस माल का स्वामी हो जाता है। जब प्रलेखो (Documents) के साथ एक्सचैंज बैंक की भारतीय शाखा के पास बिल आता है तो माल मँगाने वाला व्यापारी या तो बिल का भुगतान कर देता है और जहाज की बिल्टी (Bill of Lading) तथा समुद्रीय बीमा पालिसी लेकर अपना माल छुडा लेता है; अथवा यदि व्यापारी बिल का भुगतान नहीं करना चाहता तो वह एक्सचेंज बैंक से प्रार्थना करता है कि उसे बिना भुगतान किए ही माल लेने दे। ऐसी दशा में *माल मँगाने वाला व्यापारी एक्सचेंज बैंक को माल की ट्रस्ट रसीद (Trust Receipt)* लिख देता है। अर्थात् वह यह स्वीकार करता है कि जो माल उसने छुडाया है वह वास्तव में एक्सचैंज बैंक का है। वह तो उस माल का केवल ट्रस्टी या अमानतदार है। माल लेकर व्यापारी अपने गोदाम मे रख लेता है और उसके बिक जाने पर बिल का भुगतान कर देता है। इस सुविधा के लिए उसे एक्सचेंज बैंक को सूद देना पडता है।

जिन भारतीय या यूरोपीय फर्मों के कर्यालय लंदन में हैं उनके साथ दूसरा ढग बरता जाता है। लंदन का कार्यालय उस माल की खरीद करता है जिसकी भारतीय फर्म को आवश्यकता होती है। अब जब लंदन का कार्यालय जहाज़ से माल भारत को भेज देता है तो वह अपनी भारतीय शाखा अर्थात् माल मँगाने वाली फर्म पर प्रलेख बिल (Documentary Bill) देता है। लंदन का कार्यालय लंदन स्थित एक्सचैंज बैंक के सामने उस बिल को उपस्थित करता है और एक्सचेंज बैंक उसको स्वीकार कर लेता है। बिल पर एक्सचैंज बैंक की स्वीकृति हो जाने पर लंदन का कार्यालय उस बिल को लंदन के द्रव्य बाज़ार मे भुना कर माल का मूल्य स्टर्लिंग में वसूल कर लेता है। बिल को स्वीकार करने वाले एक्सचेंज बैंक जहाज़ी बिल्टी (Bill of Lading) और समुद्री बीमा पालिसी इत्यादि आवश्यक प्रलेख अपनी भारतीय शाखा को भेज देता है। एक्सचेंज बैंक की भारतीय शाखा भारतीय फर्म से, जिसने माल मँगाया है; रुपया वसूल करके लंदन भेज देती है। बिल दोनों ही दशा में स्टर्लिंग में ही लिखे जाते हैं। किन्तु दूसरे ढंग में यूरोपीय फर्मों को यह लाभ होता है कि वह बिल लंदन में भुन जाता

है, अतः सूद बहुत कम देना पड़ता है क्योंकि वहाँ बट्टा दर (Discount Rate) बहुत कम होता है, किन्तु भारतीय व्यापारियों को बिल काटने के दिन से और उसका भुगतान लंदन पहुँचने के दिन तक ऊँची दर में सूद देना पड़ता है।

चूँकि भारतवर्ष का विदेशी व्यापार का अन्तर (Balance of Trade) उसके पक्ष में रहता है। अतः एक्सचेंज बैंक भारत में सोना-चाँदी मँगाकर तथा रिज़र्व बैंक को स्टर्लिंग (जो कि लन्दन में जमा रहता हो) बेच कर उस अन्तर को पूरा कर देते हैं। इसके अतिरिक्त एक्सचेंज बैंक सरकार के प्रत्येक व्यापारिक केन्द्र पर तार की हुंडी (Telegraphic Transfers) बेचते हैं।

एक्सचेंज बैंक केवल विदेशी व्यापार का ही कारबार नहीं करते वरन भारत के भीतरी व्यापारिक केन्द्रों से बन्दरगाहों तक और बन्दरगाहों से भीतरी व्यापारिक केन्द्रों तक माल आने-जाने का प्रबन्ध भी करते हैं। पिछले कुछ वर्षों से एक्सचेंज बैंक भारत के अन्दरूनी व्यापार के कारबार को भी अपने हाथ में लेने की इच्छा दिखला रहे हैं। वे भारतीय व्यापारिक बैंकों के हिस्से खरीद कर उन पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए पी० ऐंड ओ० बैंकिंग कारपोरेशन ने इलाहाबाद बैंक जैसे प्रसिद्ध और बड़े बैंक को खरीद लिया और इस प्रकार वह भारत के सभी प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में उसकी शाखाओं के द्वारा पहुँच गया। और पी० ऐंड ओ० बैंकिंग कारपोरेशन को चारटर्ड बैंक ने खरीद लिया। अब इलाहाबाद बैंक की ब्रांचें वास्तव में चारटर्ड बैंक की ब्रांचें हैं जो कि एक प्रमुख एक्सचेंज बैंक है। जिन भारतीय व्यापारिक केन्द्रों में एक्सचेंज बैंकों की शाखायें होती हैं वहाँ के व्यापारी एक्सचेंज बैंकों की स्थानीय शाखा से ही विदेशों में अपना देना (Debt) का भुगतान कर देते हैं। उदाहरण के लिए यदि कानपुर का व्यापारी लन्दन से माल मँगाता है तो उस पर लन्दन के व्यापारी (माल भेजने वाले) ने जो बिल लिखा है कानपुर शाखा को भेज दिया जाता है और कानपुर की शाखा उससे रुपया वसूल करके उसे जहाजी बिल्टी और समुद्री बीमा पालिसी इत्यादि दे देती है। इसी प्रकार भारतीय केन्द्र से विदेशों को माल भेजने वाला व्यापारी स्थानीय एक्सचेंज बैंक की ब्रांच को अपना बिल जो उसने विदेशी व्यापारी पर लिखा है बेच देता है।

किन्तु यदि किसी भारतीय व्यापारिक केन्द्र में एक्सचेंज बैंक की शाखा नहीं होती तो वहाँ से बन्दरगाहों तक का कारबार भारतीय व्यापारिक बैंक करते हैं और बन्दरगाहों से विदेशों तक का कारबार एक्सचेंज बैंक करते हैं। जिन भारतीय स्थानों में एक्सचेंज ब्रांच की शाखा होती है वहाँ के व्यापारी एक्सचेंज बैंक से ही दोनों व्यवहार (Transaction) करते हैं क्योंकि यह सरल और कम खर्चीला

बैठता है।

विदेशी व्यापार के लिए आर्थिक प्रबंध करने के अतिरिक्त एक्सचेंज बैंक भीतरी व्यापार के कारवार को भी करते हैं। वे व्यापारियों को ऋण देते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजते हैं, तीनों प्रकार की जमा लेते हैं। उनकी साख और प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण वे भारतीय व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा कम सूद देते हैं। वे एजेंसी का काम भी करते हैं और सोना-चाँदी के आयात (Import) व्यापारिक के लिए भी आर्थिक प्रबंध (Finance) करते हैं।

एक्सचेंज बैंकों के विरुद्ध आरोप :—यह तो सभी लोग स्वीकार करते हैं कि विदेशी व्यापार के लिए जितनी साख की आवश्यकता होती है वह विदेशी बैंक उसको उचित मूल्य पर देने का प्रवन्ध करते हैं, किन्तु भारतीय व्यापारियों तथा भारतीय व्यापारिक बैंकों को उनसे बहुत सी शिकायतें हैं। जब भारत में केन्द्रीय बैंकिंग जॉच कमेटी बैठी थी उस समय भारतीय बैंकों तथा भारतीय व्यापारियों ने उन पर नीचे लिखे आरोप लगाये थे।

(१) एक्सचेंज बैंकों पर भारत का कोई बैंकिंग सम्बन्धी कानून लागू नहीं होता। कानून ने जो दायित्व भारतीय बैंकों पर लगा दिये हैं वे भी एक्सचेंज बैंकों पर लागू नहीं होते। उनके डायरेक्टर और हिस्सेदार सभी विदेशी हैं। अस्तु उनका नियंत्रण विदेशियों के हाथ में है। रिज़र्व बैंक का उन पर कोई नियंत्रण नहीं है। एक्सचेंज बैंकों के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वे भारत में आय-व्यय निरीक्षकों से अपने आय-व्यय की जाँच करावें। वे भारत सम्बन्धी कारबार का पृथक् लेनी-देनी का लेखा (Balance-Sheet) तक नहीं छापते। भारत सरकार को जो वर्ष में एक बार वे अपनी लेनी-देनी का लेखा भेजते हैं उसमें उनके विदेशी और भारतीय कारबार के सम्मिलित आंकड़े रहते हैं, जिनसे उनके भारतीय कारबार का कोई पता नहीं चलता। इसका परिणाम यह होता है कि एक्सचेंज बैंकों का कारबार भारतीयों से एक दम गुप्त रहता है। यह बैंक भारत में बहुत अधिक डिपाज़िट आकर्षित करते हैं। उनके कोष का भारतीय डिपाज़िट एक बहुत बड़ा भाग होती है किन्तु भारतीय जमा करने वालों की डिपाज़िटों की सुरक्षा का कोई भी नियम उन पर लागू नहीं होता। यदि कोई एक्सचेंज बैंक किसी कारणवश फेल हो जाय (टूट जाय) तो भारतीय जमा करने वालों का अपनी डिपाज़िटों को वसूल करने के लिए एक्सचेंज बैंक की भारतीय सम्पत्ति पर पहला हक भी नहीं है।

(२) दूसरी शिकायत उनके विरुद्ध यह थी कि वे बहुधा भारत में उनकी डिपाज़िटों को देखते हुए यथेष्ट नकद कोष (Cash Reserves) भी नहीं रखते।

इस कारण भारतीय द्रव्य बाजार के लिए निवलता का कारण बनते हैं। प्रथम महायुद्ध के समय इसी कारण एक्सचेंज बैंक कठिनाई में पड़ गए थे और उनकी सहायता करनी पड़ी थी। तब से कुछ वर्षों तक उन्होंने अधिक नकद कोष रक्खा। किन्तु अब फिर उनका नकद कोष गिरने लगा। अपने पक्ष में एक्सचेंज बैंक कहते हैं कि वे सरकारी प्रतिभूति (सिक्यूरिटीज) और सरकारी हुंडियों (Treasury Bills) में अपना यथेष्ट कोष लगाते हैं, किन्तु उसके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है।

(२) एक प्रकार से एक्सचेंज बैंकों को भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ प्रबन्ध (Finance) करने का एकाधिकार प्राप्त है और वे इस कार्य को भारत में प्राप्त की हुई जमा (डिपाजिट) से ही करते हैं। इस प्रकार भारत को बैंकिंग लाभ और व्यापारिक लाभ से वंचित रहना पड़ता है। एक्सचेंज बैंकों के भारतीय विदेशी व्यापार में बढ़ते हुए प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि भारत के विदेशी व्यापार में भारतीयों का हिस्सा घटता गया और विदेशियों का हिस्सा बढ़ता गया। यहाँ तक कि भारतीयों का विदेशी व्यापार में केवल १५ से २० प्रतिशत भाग ही रह गया। इसी प्रकार भारतीयों को करोड़ों रुपये के वैदेशिक व्यापार में होने वाले लाभ से वंचित रहना पड़ता है। केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी (Central Banking Enquiry Committee) के सामने गवाही देते हुए बहुत सी व्यापारिक संस्थाओं ने इस बात की शिकायत की थी कि विदेशी एक्सचेंज बैंक विदेशी व्यापारियों को अधिकाधिक सुविधायें देकर और भारतीय व्यापारियों को उन सुविधाओं से वंचित रखकर उन्हें बढ़ाते रहे हैं। इसी का परिणाम हुआ कि भारत का व्यापार विदेशियों के हाथ में चला गया।

इन एक्सचेंज बैंकों का एक ढंग तो यह है कि जब कोई भारतीय व्यापारी विदेशों से कारबार करना चाहता है तो यह बैंक विदेशों को उसके बारे में बहुधा अच्छी सम्मति नहीं देते। इस सम्बन्ध में एक्सचेंज बैंकों का कहना है कि हम जो इस सम्बन्ध में भारतीय और विदेशी व्यापारियों में भेद करते हैं उसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय व्यापारी बैंकों को अपना लेना देना का लेखा (Balance Sheet) देना नहीं पसंद करते। जब तक हमें उनका आडीटरों द्वारा जांचा हुआ लेनी देनी का लेखा न मिले तब तक हम उनकी आर्थिक स्थिति का अनुमान नहीं लगा सकते। भारतीय व्यापारियों का कहना यह है कि एक्सचेंज बैंकों का उसमें अर्थ यह है कि जिन आय-व्यय निरीक्षकों (Auditors) को वे स्वीकार करें उनसे हमें अपने हिसाब की जाँच कराएँ तभी वे उसे स्वीकार करेंगे। किन्तु एक्सचेंज बैंकों के प्रतिनिधियों ने इसको अस्वीकार किया। उनका कहना

था कि हम सरकार द्वारा स्वीकृत आय-व्यय निरीक्षकों से जांचा हुआ लेनी-देनी का लेखा मात्र ही चाहते हैं। भारतीय व्यापारियों का कहना है कि भारत में एक फर्म और एक बैंक की परिपाटी प्रचलित नहीं है इस कारण एक्सचेंज बैंकों को लेनी-देनी के लेखे को मांगने का कोई अधिकार नहीं है। सच बात तो यह है कि एक्सचेंज बैंकों के मैनेजर सब विदेशी हैं इस कारण वे भारतीय व्यापारियों के अधिक सम्पर्क में नहीं आते और उनकी आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते।

भारत में जो विदेशी व्यापारी हैं उन्हें माल साख (Credit) पर मँगाने की सुविधा दी जाती है जब कि भारतीय व्यापारी को नक़द मूल्य देना पड़ता है। भारतीय व्यापारियों का यह भी कहना है कि विदेशों के व्यापारी भारतीय व्यापारियों को साख इस कारण नहीं देते क्योंकि एक्सचेंज बैंक उनके सम्बन्ध में अच्छी सम्मति नहीं देते। एक्सचेंज बैंकों का कहना था कि हम जो भारतीय व्यापारियों से ट्रस्ट की रसीद (Trust Receipt) लेकर जहाजी बिल्टी इत्यादि दे देते हैं उससे उन्हें भी साख (Credit) की सुविधा मिल जाती है। परन्तु भारतीय व्यापारियों ने इसके उत्तर में यह कहा कि ट्रस्ट-रसीद पर सूद अधिक देना पड़ता है, अतएव भारतीय व्यापारियों को विदेशी व्यापारियों की अपेक्षा हानि उठानी पड़ती है।

भारतीय व्यापारियों ने इस बात की भी शिकायत की कि जब कोई भारतीय व्यापारी माल बाहर भेजता है तब एक्सचेंज बैंक उसके बिल को बिना अन्तर (Margin) के और बिना ज़मानत लिए कभी नहीं भुनाते, किन्तु जब कोई विदेशी फर्म माल बाहर भेजती है और अपने बिल को भुनाती है तो अन्तर (Margin) या ज़मानत नहीं माँगी जाती। एक्सचेंज बैंकों का कहना है कि विदेशी फर्मों के प्रधान कार्यालय विदेशों में होते हैं और बिल उन्हीं पर होते हैं अतः उनके भुगतान न होने का कोई भय नहीं होता, परन्तु भारतीयों के साथ ऐसी बात नहीं है। इसी कारण एक्सचेंज बैंक उनके बिलों का पूरा मूल्य यहाँ चुका देते हैं। जो भी हो, किन्तु यह सत्य है कि भारतीयों को विदेशी फर्मों की तुलना में हानि होती है।

भारत में एक्सचेंज बैंक विदेशों के व्यापारियों की आर्थिक स्थिति के के सम्बन्ध में यहाँ के व्यापारियों को कोई जानकारी नहीं देते। संसार के प्रत्येक देश में बैंकों का यह मुख्य कार्य है, किन्तु एक्सचेंज बैंक ऐसा नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि भारत में जो विदेशी फर्में काम करती हैं उन्हें तो अपने विदेशी कार्यालयों से विदेशों के बारे में जानकारी प्राप्त हो जाती है, किन्तु भारतीय

व्यापारियों को उतने दाम में कोई उपकारी प्राप्त नहीं होती।

पहले तो भारतीय व्यापारी जब विदेश से माल मँगाते हैं तो उन्हें साख ही नहीं मिलती, किन्तु जिन थोड़े से प्रथम श्रेणी के भारतीय व्यापारियों को साख मिलती भी है उन्हें भी मँगाये हुए माल के मूल्य का २५ प्रतिशत तक बयाने के रूप में जमा कर देना होता है जब कि उन विदेशी फर्मों को जो भारत में हैं कोई डिपाज़िट बैंकों में जमा नहीं करना पड़ता।

भारत के अधिकांश आयात (Import) और निर्यात (Export) व्यापार में स्टर्लिंग बिलों का उपयोग होता है। इसका फल यह होता है कि भारतीय व्यापारी को माल मँगाने वाले विदेशी व्यापारी पर स्टर्लिंग में ही बिल काटना पड़ता है अतएव उसका बिल भारतीय द्रव्य बाज़ार के लिए व्यर्थ सी वस्तु हो जाता है। इन एक्सचेंज बैंकों से ही उसे भुनाना पड़ता है, जिनकी बट्टा-दर (Discount Rate) ऊँची होती है। इसके विरुद्ध भारत में कारबार करने वाली विदेशी फर्में अपने लंदन स्थित कार्यालयों से माल मँगवाती हैं तो वे लंदन स्थित कार्यालय अपनी भारतीय शाखाओं पर बिल न काट कर लंदन स्थित एक्सचेंज बैंकों के आफ़िसों पर बिल (Bill) काटते हैं और ये एक्सचेंज बैंक के आफ़िस उसको स्वीकार कर लेते हैं। एक्सचेंज बैंक के बिल को स्वीकार करने के बाद वे उस बिल को लंदन द्रव्य बाज़ार में भुना लेते हैं। लंदन-द्रव्य बाज़ार की बट्टे की दर (Discount Rate) बहुत कम होती है। इस प्रकार विदेशी फर्मों को भारतीय व्यापारियों की अपेक्षा एक या डेढ़ प्रतिशत का लाभ हो जाता है।

(४) इन आरोपों के अतिरिक्त भारतीय व्यापारियों का एक्सचेंज बैंकों के विरुद्ध एक सबसे बड़ा आरोप यह है कि वे भारतीय ब्रोकरों, भारतीय बैंकों, भारतीय बीमा कम्पनियों और भारतीय जहाज़ी कम्पनियों के विरुद्ध अपने देशों के ब्रोकरों, बैंकों, कम्पनियों तथा जहाज़ी कम्पनियों को प्रोत्साहित करते हैं। जब भारतीय व्यापारी विदेशों को माल भेजते हैं तो एक्सचेंज बैंक उन्हें विदेशी जहाज़ी कम्पनियों से माल भेजने तथा विदेशी बीमा कम्पनियों से उसका बीमा करवाने पर विवश करते हैं। इस प्रकार भारतीय बीमा कम्पनियों तथा भारतीय जहाज़ी कम्पनियों को करोड़ों रुपये की हानि होती है और वे पनप नहीं पातीं।

(५) एक्सचेंज बैंक एसोशियेशन बिना भारतीय व्यापारियों से कोई परामर्श किए ही अपने नियमों में जब चाहती है परिवर्तन कर देती है, और भारतीय व्यापारियों के लिए नियम कठोर रक्खे जाते हैं। यही नहीं, एसोसियेशन किसी भी सदस्य को भारतीय बैंक तथा ब्रोकर से कारबार नहीं करने देती जो कि विनिमय (Exchange) का काम करता है। दूसरे शब्दों में एक्सचेंज बैंक

भारतीय बैंकों को इस लाभदायक कारवार के क्षेत्र से बाहर ही रखना चाहते हैं।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि एक्सचेंज बैंक भारत के भीतरी व्यापार को भी करने लगे हैं। इस प्रकार वे भारतीय मिश्रित पूँजीवाले व्यापारिक बैंकों (Indian Joint Stock Banks) से होड़ करते हैं और उनकी बढ़वार को रोकते हैं। उनकी प्रतिष्ठा और साधन अधिक होने के कारण उनकी प्रतिस्पर्द्धा में भारतीय बैंकों को कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त इन एक्सचेंज बैंकों के कारण भारतीय बैंकों को एक और भी हानि होती है। जब कोई देश विदेशों से माल मँगवाता है तो साधारणतः होता यह है कि माल भेजने वाला माल मँगाने वाले के देश की करंसी में बिल लिखता है। यह बिल जहाजी बिल्टी इत्यादि के साथ भेज दिए जाते हैं और जब माल मँगाने वाला उस बिल को स्वीकार कर लेता है तो उनको भुनाया जाता है। क्योंकि बिल उस देश की करंसी मे होते हैं इस कारण वहाँ के बैंक उनको भुनाते हैं और उन्हें लाभ होता है। परन्तु भारत के व्यापारी जब माल मँगाते हैं तो आयात बिल (Import Bill) रुपये में न होकर स्टर्लिंग में काटे जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भारतीय व्यापारिक बैंकों के वह काम के नहीं होते और केवल एक्सचेंज बैंक ही इस लाभदायक धंधे को कर सकते हैं। एक्सचेंज बैंक इन बिलों को रुपयों में नहीं कटने देते और इस प्रकार भारतीय बैंकों को वे इस लाभदायक कारवार से वंचित रखते हैं।

एक्सचेज बैंक के विरुद्ध एक आरोप यह भी है कि जिन देशों के एक्सचेंज बैंक भारत में नहीं हैं उनकी करंसी यह बैंक बहुत ऊँची कीमत पर देते हैं। यही नहीं, यदि किसी अन्य देश का कोई बैंक अपनी शाखा भारत मे स्थापित करना चाहता है तो वे उसका विरोध करते हैं। जब कभी कोई विदेशी बैंक अपनी ब्रांच भारत में स्थापित करने में सफल हो गया तो उन देशों की करंसी भारतीयों को कम मूल्य में मिलने लगी जिससे कि भारतीय व्यापारियों को लाभ हुआ। एक्सचेज बैंकों ने ऐसा गुट्ट बना लिया है कि यदि किसी देश के बैंक की भारत में ब्रांच भी हो तो भी उस देशों की करंसी (स्टर्लिंग को छोड़ कर) का मूल्य यहाँ ऊँचा ही रहता है। यदि कोई उसी करंसी को लन्दन के द्रव्य बाज़ार में खरीदे तो उसे कम मूल्य देना पड़ता है। उदाहरण के लिए युद्ध के पूर्व यदि कोई डालर लंदन से खरीदता तो कलकत्ता और बम्बई की अपेक्षा कम मूल्य पर खरीद सकता था।

इसके अतिरिक्त इन एक्सचेज बैंकों का समाशोधन गृह या क्लियरिंग हाउस (Clearing House) में बहुत प्रभाव है और यह भारतीय बैंकों को क्लियरिंग हाउस का सदस्य बनने नहीं देते। जहाँ तक हो सकता है यह भारतीय

बैंकों को क्लियरिंग हाउस से बाहर ही रखते हैं। इससे भारतीय बैंकों की प्रतिष्ठा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। एक्सचेंज बैंक भारतीय बैंकों से स्वतन्त्रतापूर्वक जब चाहते हैं तब याचना द्रव्य (Call Money) लेते रहते हैं, किन्तु भारतीय बैंकों को जब आवश्यकता होती है तो वे उन्हें उतनी आसानी से याचना-द्रव्य नहीं देते।

यद्यपि एक्सचेंज बैंक भारत के सबसे पुराने बैंकों में से हैं और उनको स्थापित हुए लगभग ८० वर्ष हो गए किन्तु फिर भी कोई भारतीय उनमें ऊँचे पदों पर नहीं रक्खा गया। इसका परिणाम यह होता है कि बैंकों में सभी उच्च कर्मचारी विदेशी व्यक्ति होते हैं। वे न भारतीय भाषा ही जानते हैं और न भारतीय व्यापारियों के घनिष्ठ सम्पर्क में ही आ सकते हैं, अतएव भारतीय व्यापारियों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती। यह एक्सचेंज बैंक अपने देशवासियों को ही लाकर उच्च पदों पर रखते हैं। यदि वे भारतीय व्यापार से इतना अधिक लाभ उठाते हैं तब उनका भारतीयों को ऊँचे पदों पर न लेना उचित नहीं कहा जा सकता।

एक्सचेंज बैंक पिछले वर्षों में इस बात का भी प्रयत्न करते रहे हैं कि भारतीय पूँजी विदेशी धंधों या सिक्युरिटियों में न लगे।

एक्सचेंज बैंकों ने सदैव ही भारत के आर्थिक हितों के विरुद्ध अपने प्रभाव का उपयोग किया है। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि यह उन्हीं के विरोध का फल था कि प्रेसीडेंसी बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक को विदेशी विनिमय (Exchange) का कारबार करने की आज्ञा नहीं दी गई। यही नहीं, इन एक्सचेंज बैंकों के कारण ही भारत में कोई केन्द्रीय बैंक १९३५ के पूर्व स्थापित न हो सका। इण्डिया आफिस के द्वारा यह एक्सचेंज बैंक भारत सरकार की अर्थ नीति पर भी गहरा प्रभाव डालते थे जिससे भारत के आर्थिक हितों की हानि होती थी।

किन्तु अब भारत स्वतन्त्र हो गया है। एक्सचेंज बैंकों के भारत विरोधी दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन होना अनिवार्य है। भारत सरकार की अर्थनीति पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। रिज़र्व बैंक के नेतृत्व को उन्हें अब स्वीकार करना ही होगा और इस बात की सम्भावना है कि सरकार भविष्य में कोई बैंकिंग कानून बनाकर उनके नियंत्रण का भी प्रयत्न करे। अब हम आगे उन सुझावों का अध्ययन करेंगे कि जो केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के सामने एक्सचेंज बैंकों की अनुचित प्रतिस्पर्द्धा से भारतीय बैंकों की रक्षा करने के लिए रक्खे गए।

केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी का मत—इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी

(Central Banking Committee) का मत था कि भारत-सरकार को विदेशी बैंकों को बिना किसी रोक-टोक के भारत में कारबार करने की छूट न देनी चाहिए। प्रत्येक विदेशी बैंक को जो कि भारत में काम करना चाहे, रिजर्व बैंक से एक लायसेंस प्राप्त करना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि भारतीयों के हितों की रक्षा हो सकेगी। रिजर्व बैंक का एक्सचेंज बैंकों पर नियंत्रण स्थापित हो सकेगा और भारतीय बैंकों के लिए विदेशों में वहाँ सुविधायें प्राप्त की जा सकेंगी जो कि भारत में विदेशी बैंक को दी जावेंगी।

कमेटी का बहुमत इस पक्ष में था कि जो एक्सचेंज बैंक भारत में कारबार कर रहे हैं उनको बिना किसी रोक-टोक के लायसेंस दे देना चाहिए। प्रत्येक बैंक को लायसेंस एक निश्चित काल के लिए दिया जाना चाहिए और उस अवधि के समाप्त होने पर यदि रिजर्व बैंक देखे कि लायसेंस की शर्तों का किसी बैंक ने संतोषजनक ढंग से पालन किया है तो उसको फिर लायसेंस दे दे, अन्यथा उसका लायसेंस समाप्त कर दिया जा सकता है। एक्सचेंज बैंकों के लायसेंस की यह आवश्यक शर्त होनी चाहिए कि वे रिज़र्व बैंक को अपनी रिपोर्ट भेजें जिसमें भारतीय तथा गैर भारतीय कारोबार का लेनी-देनी लेखा (Balance Sheet) अलग-अलग हो।

कमेटी के बहुमत की यह भी सम्मति थी कि एक्सचेंज बैंकों को अपनी कार्यपद्धति में इस प्रकार परिवर्तन कर लेना चाहिए कि वे भारतीय आयात करने वाले व्यापारियों (Importers) के बिलों को खरीदने के बजाय स्वीकार (Accept) कर लिया करें जिससे कि वे बिल लन्दन में भुनाये जा सकें। और भारतीय व्यापारी लन्दन के द्रव्य बाज़ार में सस्ते द्रव्य का लाभ उठा सकें।

इसके अतिरिक्त यदि भारतीय आयात व्यापारी (Importers) चाहें कि विदेशी निर्यात व्यापारी (Exporters) उन पर रुपयों में बिल लिखें तो एक्सचेंज बैंकों को भारतीय व्यापारियों की सहायता करनी चाहिए।

कमेटी की यह भी राय थी कि जब एक्सचेंज बैंकों की एसोशियेशन अपने नियमों में कोई परिवर्तन करे तो उसे भारतीय व्यापारियों से परामर्श करना चाहिए।

कमेटी की यह भी सम्मति थी कि एक्सचेंज बैंकों को भारतीय बीमा कम्पनियों को प्रोत्साहित करना चाहिए, भारतीय युवकों को ऊँचे पदों पर नियुक्त करना चाहिये और जहाँ एक्सचेंज बैंक की भी शाखा हो वहाँ एक स्थानीय परामर्श दाता बोर्ड (Local Advisory Board) होना चाहिए जो ऋण देने के सम्बन्ध में बैंक को परामर्श दे। यद्यपि बोर्ड की सलाह बैंक मान ही ले यह

आवश्यक नहीं था, फिर भी इस प्रकार भारतीय ग्राहकों तथा एक्सचेंज बैंकों में परस्पर अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं।

यद्यपि केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी ने ऊपर लिखे सुझाव रक्खे थे किन्तु एक्सचेंज बैंकों ने उन सुझावों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और न अपनी कार्य पद्धति में ही कोई अन्तर किया।

कुछ भारतीय विद्वानों (जिनमें श्री सुब्बाराव और सरकार मुख्य थे) की राय थी कि एक्सचेंज बैंकों पर कड़ा नियंत्रण रक्खा जावे। रिज़र्व बैंक को इस बात का पूरा अधिकार होना चाहिए कि वह जिस बैंक को चाहे लाइसेंस देना अस्वीकार कर दे। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना था कि एक्सचेंज बैंकों को भारत में केवल उतना ही डिपाजिट लेने देना चाहिए जितनी भारतीय व्यापार के लिए आवश्यक हो। एक मत यह भी था कि एक्सचेंज बैंक जितना डिपाजिट लें उस पर ½ प्रतिशत कर लगाया जाय। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का यह भी कहना था कि एक्सचेंज बैंकों को भारत में तभी डिपाजिट लेने का अधिकार होना चाहिए जब उनकी रजिस्ट्री भारत में हुई हो उनकी पूँजी रुपयों में हो और भारतीय उनके डायरेक्टर हों। कुछ लोग इसके भी पक्ष में थे कि एक्सचेंज बैंकों को भारत में डिपाजिट लेने की मनाही कर दी जाय। किन्तु ऊपर लिखे मतों को केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी ने स्वीकार नहीं किया।

भारतीय एक्सचेंज बैंक—केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी का यह भी मत था कि यदि इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक की सहायता से विदेशी विनिमय (Foreign Exchange Business) का कारबार न कर सके तो एक भारतीय विनिमय बैंक स्थापित किया जाय। कमेटी का मत था कि वह बैंक सरकार की सहायता से स्थापित हो। किन्तु कमेटी का मत था कि पहले इम्पीरियल बैंक के द्वारा ही यह कार्य करना चाहिए। यदि यह सम्भव न हो तभी कोई नया बैंक खोलना चाहिए। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी का यह भी मत था कि भारतीय तथा विदेशियों के सम्मिलित एक्सचेंज बैंक स्थापित होने चाहिएँ जिससे भारत तथा उन देशों को जिनसे भारत व्यापार करता है दोनों को ही लाभ हो। किन्तु कमेटी की एक भी सिफारिश कार्य रूप में परिणत नहीं की गई।

सच तो यह है कि विदेशी विनिमय बैंकों का एकाधिकार तभी समाप्त होगा जब कि भारतीय व्यापारिक बैंक भी विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) के कारबार को अपने हाथ में लें। अभी तक भारतीय बैंक इस ओर से उदासीन रहे हैं अब कुछ बैंकों (विशेष कर सेन्ट्रल बैंक आव इंडिया) ने इधर ध्यान दिया है। आशा है कि भविष्य में वे इस ओर अधिक ध्यान देंगे। रिज़र्व बैंक

को भी इस बारे में ध्यान देना चाहिये।

परन्तु विदेशी बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा में विदेशों में कारबार करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि भारतीय बैंक आपस में सहयोग करें और एक दूसरे को सहायता प्रदान करें।

भारतीय बैंक विदेशी विनिमय के कारबार में अधिक भाग ले सकें इस दृष्टि से नीचे लिखे उपायों की ओर ध्यान देना चाहिए:—

(१) भारत सरकार को भारतीय व्यापारियों को विदेशों में अपनी शाखायें क़ायम करने की सुविधायें देना चाहिये ताकि भारत के विदेशी व्यापार के विदेशों वाले अंश में भी भारतीयों का हिस्सा हो सके और वे विदेशी विनिमय का कारोबार भारतीय बैंकों को दे सकें।

(२) भारतीय व्यापारियों को विदेशी बैंकों से अपना सम्बन्ध छोड़कर भारतीय बैंकों से स्थापित करना चाहिये।

(३) भारतीय बैंकों को विदेशी व्यापार के लिये आर्थिक व्यवस्था करने के काम को प्रोत्साहन देना चाहिये और व्यापारियों से यह समझौता करना चाहिये कि विदेशी विनिमय का कारोबार वे इन्हीं को देंगे।

(४) विदेशी विनिमय के कारोबार के लिये भारतीय बैंकों को अपने कर्मचारी और विशेषज्ञ तैयार करने चाहिये।

(५) भारत सरकार को भारतीय बैंकों को विदेशों में अपनी शाखायें स्थापित करने में सहायता देनी चाहिये। अगर किसी देश की सरकार भारतीय बैंकों के विरुद्ध पक्षपात करें तो भारत सरकार को भी उस देश के बैंकों के प्रति वही नीति अपनानी चाहिये। जहाँ अपनी शाखायें न हों वहाँ भारतीय बैंक दूसरे बैंकों को अपना एजेन्ट नियुक्त करें।

(६) भारत सरकार और रिज़र्व बैंक को अपने पास के कुछ विदेशी विनिमय का उपयोग भारतीय बैंकों को देना चाहिये। रिज़र्व बैंक को, विदेशी एजेंट भारतीय बैंकों को जो उधार दें उस पर, गारन्टी देनी चाहिये और उसकी लन्दन शाखा को इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि भारतीय बैंकों को विदेशी विनिमय के कारोबार में अधिक भाग मिल सके।

(७) भारत सरकार को अपना विदेशी विनिमय का कारोबार भी भारतीय बैंकों द्वारा ही अधिकाधिक कराना चाहिये।

(८) विदेशी निर्यात के व्यापारियों पर भारत सरकार को यह दबाव डालना चाहिए कि वे भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं के द्वारा अपना चुकारा स्वीकार करें।

(४) इम्पीरियल बैंक आव इण्डिया—इम्पीरियल बैंक की स्थापना १९२१ में एक स्वतन्त्र ऐक्ट इम्पीरियल बैंक ऐक्ट के अनुसार हुई थी। तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिला कर इम्पीरियल बैंक बना था। १९३४ में इम्पीरियल बैंक ऐक्ट को संशोधित कर दिया गया।

इम्पीरियल बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) ११ करोड़ २५ लाख रुपये है जिसमें से आधी पूँजी चुकता पूँजी (Paid up Capital) है और शेष आधी रक्षित दायित्व (Reserve Liability) है। बैंक का रक्षित कोष है। आरम्भ से १९३१ तक बैंक ने १६ प्रतिशत लाभ बाँटा और १९३१ के उपरान्त वह १२ प्रतिशत लाभ बाँट रहा है इस कारण बैंक के हिस्सों का मूल्य बाजार में बहुत अधिक है।

प्रबन्ध—इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध तीन स्थानीय बोर्ड और एक केन्द्रीय बोर्ड करता है। तीन स्थानीय बोर्ड नीचे लिखे हैं—बम्बई कलकत्ता और मदरास। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड के सदस्य उस क्षेत्र के रजिस्टर में दर्ज हिस्सेदारों द्वारा चुने जाते हैं और यह बोर्ड अपने मंत्री तथा खजांची की सहायता से उस क्षेत्र में बैंक के दैनिक कारबार को देखते हैं।

बैंक का कार्य सञ्चालन केन्द्रीय बोर्ड करता है। केन्द्रीय बोर्ड नीति का निर्धारण करता है, स्थानीय बोर्डों का नियन्त्रण करता है बट्टे की दर जिसे 'एडवांस रेट' कहते हैं निश्चित करता है और बैंक के साप्ताहिक स्टेटमेंट के प्रकाशन की व्यवस्था करता है। पूरे बोर्ड की मीटिंग जल्दी जल्दी नहीं बुलाई जा सकती इस कारण एक छोटी सी प्रबन्धकारिणी समिति बना दी गई है जो कि केन्द्रीय बोर्ड के कुछ कार्य सम्पन्न करती है। प्रान्तीय ईर्ष्या को बचाने के लिए केन्द्रीय बोर्ड का प्रधान कार्यालय किसी एक स्थान पर नहीं है। बोर्ड की मीटिंग कभी कलकत्ते में होती है तो कभी बम्बई में।

१९३४ के पूर्व इम्पीरियल बैंक—१९३४ के पूर्व इम्पीरियल बैंक के केन्द्रीय बोर्ड का संगठन नीचे लिखे अनुसार था —(१) गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत किये गए (क) दो मैनेजिंग गवर्नर, (ख) ४ गैर सरकारी अधिकारी जिन्हें भारतीय स्वार्थों की रक्षा के लिये गवर्नर जनरल मनोनीत करता था। (२) करेंसी का कन्ट्रोलर जो कि भारत सरकार का प्रतिनिधि होता था। (३) स्थानीय बोर्ड (Local Boards) के प्रेसीडेन्ट, वाइस प्रेसीडेन्ट तथा मंत्री। उपर्युक्त सदस्यों में से कन्ट्रोलर आव करेंसी, और स्थानीय बोर्ड के मंत्रियों को मत देने का अधिकार नहीं था। केन्द्रीय बोर्ड के ऊपर दिये हुए संगठन से यह स्पष्ट था कि यद्यपि इम्पीरियल बैंक हिस्सेदारों का बैंक था, किन्तु भारत-सरकार का उस पर पूरा

नियंत्रण था। करेंसी के कंट्रोलर को यह अधिकार था कि वह बोर्ड किसी भी निर्णय को, जो कि सरकारी जमा तथा अर्थनीति से सम्बन्ध रखता हो, कार्य रूप में न परिणत होने दे और उसे सरकार के निर्णय के लिए भेज दे। वह इम्पीरियल बैंक को उसकी नीति तथा नकद कोष की सुरक्षा के सम्बन्ध में आज्ञा दे सकता था। सरकार जो भी जानकारी इम्पीरियल बैंक से करना चाहे करा सकता था। बैंक को अपना हिसाब का लेखा तथा लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) सरकार की इच्छानुसार प्रकाशित करना होगा। सरकार इम्पीरियल बैंक के हिसाब की जांच के लिए आडिटर नियुक्त कर सकती थी।

इम्पीरियल बैंक के कार्य—१६३५ तक इम्पीरियल बैंक सरकार का बैंकर था। जितना भी सरकारी कोष (Funds) होता वह इम्पीरियल बैंक में ही रक्खा जाता था। सरकार का खज़ाने का काम भी इम्पीरियल बैंक ही करता था। इम्पीरियल बैंक इस कार्य के लिए कोई कमीशन न लेता था। सरकार को जितना रुपया मिलना होता था वह इम्पीरियल बैंक लेता था और सरकार अपने खर्च के लिए उससे रुपया निकालती थी। भारत सरकार के ऋण का प्रबन्ध भी इम्पीरियल बैंक ही करता था। सरकार जो नवीन कर्ज निकालती थी वह भी इम्पीरियल बैंक ही निकालता था।

सरकारी कारबार के अतिरिक्त इम्पीरियल बैंक १६३५ के पूर्व केन्द्रीय बैंक (Central Bank) के भी कुछ कार्य करता था। भारत के अधिकांश बैंक उसके साथ डिपाज़िट रखते थे। इसके अतिरिक्त भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में स्थापित ११ क्लियरिंग हाउसों का भी वह प्रबन्ध करता था। इम्पीरियल बैंक जहाँ-जहाँ उसकी ब्रांचें थीं वहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान तक रुपया भेजने की सुविधा प्रदान करता था। बैंक तथा जनता दोनों ही इम्पीरियल बैंक के द्वारा रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज सकते थे। इम्पीरियल बैंक रुपया भेजने के लिए जो कमीशन लेता था उसको सरकार नियंत्रित करती थी। इसके बदले में इम्पीरियल बैंक को सरकार ने सरकारी खज़ानों के द्वारा देश में एक स्थान से दूसरे स्थान को बिना कुछ लिए ही रुपया भेजने की सुविधा दी थी।

जब देश के द्रव्य-बाज़ार में रुपये की कमी पड़े तो उस कमी को पूरा करने के लिये कागज़ी मुद्रा विभाग (Paper Currency Department) बैंक को १२ करोड़ रुपये ऋण दे सकता था। किन्तु बैंक को उसके जमानत स्वरूप हुंडी या बिल रखने पड़ते थे। सरकार बैंक से पहले ४ करोड़ रुपये के लिए ६ प्रतिशत और शेष ८ करोड़ रुपये के लिए ७ प्रतिशत सूद लेती थी। देश में बैंकिंग की सुविधा बढ़ाने के उद्देश्य से इम्पीरियल बैंक के लिए कानून में ५ वर्षों

के अन्दर १०० शाखायें स्थापित करना अनिवार्य कर दिया गया था। इम्पीरियल बैंक ने इस शर्त को पूरा कर दिया था। शाखा ऐसे स्थानों पर स्थापित की गई थीं कि जहाँ कोई बैंक न था। इसके बदले सरकार इम्पीरियल बैंक के पास अपना रुपया बिना सूद के रखती थी।

एक व्यापारिक बैंक होने के नाते इम्पीरियल बैंक वह सभी कार्य करता था जो कि एक व्यापारिक बैंक करता है। इम्पीरियल बैंक भारतवर्ष में डिपाजिट ले सकता था और ऋण ले सकता था किन्तु देश के बाहर वह न तो डिपाजिट ही ले सकता था और न ऋण ही ले सकता था। केवल लन्दन आफिस को यह अधिकार था कि वह प्रसाइटस बैंकों के पुराने ग्राहकों से डिपाजिट ग्रहण कर सकता था और बैंक की सम्पत्ति या लेनदारी (Assets) की जमानत पर बैंक के कारबार के लिए ऋण ले सकता था। इम्पीरियल बैंक अपना रुपया कहाँ लगाये इस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गये थे। इम्पीरियल बैंक केवल उन्हीं सिक्यूरिटियों में रुपया लगा सकता था। उदाहरण के लिए भारत सरकार तथा ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियों में सरकार द्वारा सहायता प्राप्त सिक्यूरिटियों में, अधिकृत डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सिक्यूरिटियों तथा डिबेंचरों में ही इम्पीरियल बैंक अपना रुपया लगा सकता था। इम्पीरियल बैंक ऊपर लिखी सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण दे सकता था। इम्पीरियल बैंक बिलों और प्रामिसरी नोटों को स्वीकार कर सकता था तथा माल अथवा स्वत्व पत्रों (Document) को यदि वे बैंक में जमा कर दिये गये हों अथवा बैंक के नाम कर दिये गये हों तो उन्हें जमानत के रूप में स्वीकार करके ऋण दे सकता था। किन्तु ६ महीने से अधिक के लिए ऋण नहीं दे सकता था और न किसी ऐसे विनिमय साध्य पुर्जे (Negotiable Instrument) को ही स्वीकार कर सकता था जिस पर दो व्यक्तियों तथा दो फर्मों के हस्ताक्षर न हों (जो आपस में साझेदार न हों) और जिसके पकने की अवधि ६ महीने से अधिक हो। इसी प्रकार किसी व्यक्ति या फर्म को कितना ऋण अधिक से अधिक दिया जा सकता है वह भी निर्धारित कर दिया गया था। इम्पीरियल बैंक केवल उन बिलों तथा अन्य विनिमय साध्य पुर्जों को लिख सकता था, भुना सकता था और स्वीकार कर सकता था जिनका कि भारत में या लंका में भुगतान होने वाला हो। किन्तु कानून द्वारा इम्पीरियल बैंक को 'विदेशी विनिमय' (Foreign Exchange) का कार्य करने की मनाही थी। इम्पीरियल बैंक किसी ऐसे बिल इत्यादि को भुना भी नहीं सकता था कि जिसकी अवधि ६ महीने से अधिक हो, और न किसी ऐसी विनिमय साध्य सिक्यूरिटी (प्रतिभूति) को ही खरीद सकता था

जिसकी अवधि ६ महीने से अधिक हो। बैंक सिक्यूरिटियों, ज़ेवर तथा सोना इत्यादि को सुरक्षित रखने के लिये ले सकता था, सोना ख़रीद और बेच सकता था, ग्राहकों के लिये सिक्यूरिटियों की ख़रीद-बिक्री कर सकता था तथा उन पर ग्राहकों के लिये लाभ और सूद वसूल कर सकता था।

१६३४ में रिज़र्व बैंक की स्थापना होने के उपरान्त अब इम्पीरियल बैंक सरकार का बैंकर नहीं रहा। ऊपर लिखे प्रतिबन्ध इम्पीरियल बैंक पर इस लिये लगाये गये थे क्योंकि वह सरकार का बैंकर था और सरकार का रुपया उसके पास रहता था, किन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के उपरान्त जब वह सरकार का बैंकर नहीं रहा तो इम्पीरियल बैंक पर सरकार का जो नियन्त्रण था और उसके कार्यों पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे उनको ढीला कर दिया गया।

१६३४ के इम्पीरियल बैंक ऐक्ट के अनुसार बैंक के केन्द्रीय बोर्ड के १६ सदस्यों में से सरकार अब केवल दो सदस्यों को, जो सरकारी कर्मचारी न हों, मनोनीत कर सकती है। इनके अतिरिक्त सरकार एक सरकारी अफसर को भी मनोनीत कर सकती है जो कि बोर्ड की मीटिंगों में जा सकता है किन्तु वोट नहीं दे सकता। इसके अतिरिक्त गवर्नर जनरल को केवल इतना अधिकार और है कि वह चाहे तो आडिटर नियुक्त करे जो बैंक के हिसाब की जाँच करके उसे रिपोर्ट दे।

केन्द्रीय बोर्ड के १६ सदस्य नीचे लिखे अनुसार हैं।

१ मैनेजिंग डायरैक्टर—केन्द्रीय बोर्ड द्वारा नियुक्त
१ डिप्टी मैनेजिंग डायरैक्टर—केन्द्रीय बोर्ड द्वारा नियुक्त
२ सरकार द्वारा मनोनीत किए हुए गैर सरकारी सदस्य
६ स्थानीय बोर्डों के सभापति और उपसभापति
३ स्थानीय बोर्डों के मन्त्री
३ स्थानीय बोर्डों द्वारा निर्वाचित उनके सदस्यों में से

१६३४ के ऐक्ट के अनुसार सरकार का इम्पीरियल-बैंक के प्रबन्ध पर जो प्रभाव और नियंत्रण था वह दूर कर दिया गया। इसी प्रकार उसके कार्य पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए थे वे भी हटा दिए गए। अब इम्पीरियल बैंक भारत के बाहर भी डिपाज़िट ले सकता है तथा ऋण प्राप्त कर सकता है। इम्पीरियल बैंक अब विदेशी विनिमय के काम को कर सकता है तथा विदेशी बिलों को ख़रीद सकता है तथा भुना सकता है और बेच सकता है। पहले इम्पीरियल बैंक ऊपर लिखे कार्य नहीं कर सकता था। पहले इम्पीरियल बैंक ६ महीने से अधिक के लिए न तो ऋण ही दे सकता था और न ६ महीने की अवधि से अधिक की

अवधि वाले बिलों को भुना या खरीद सकता था, किन्तु अब खेती के धन्धे को आर्थिक सहायता देने के लिये ६ महीने तक के लिए ऋण दे सकता है अथवा सहकारी बैंक के पत्र (Co operative paper) स्वीकार कर सकता है। जिन सिक्यूरिटियों (प्रतिभूति) के विरुद्ध इम्पीरियल बैंक पहले ऋण दे सकता था उनकी संख्या में वृद्धि कर दी गई है। अब बैंक कम्पनियों के डिबेंचरों की ज़मानत पर, बंधक रक्खे हुए माल पर, (न कि केवल उस माल पर जो कि बैंक के पास जमा कर दिया जावे) म्युनिसिपलिटियों द्वारा निकाले हुए डिबेंचरों या अन्य सिक्यूरिटियों पर तथा रिज़र्व बैंक के हिस्सों की ज़मानत पर भी ऋण दे सकता है। अब भी पहले की कुछ रुकावटें इम्पीरियल बैंक पर लागू हैं। उदाहरण के लिए बैंक अपने हिस्सों की ज़मानत पर, अचल सम्पत्ति की ज़मानत या बंधक पर अथवा ऐसे विनिमय साध्य पत्र (Negotiable Instrument) पर जिस पर कम से कम दो स्वतन्त्र व्यक्तियों अथवा फर्मों के हस्ताक्षर न हों, जो कि आपस में साझेदार भी न हों, ऋण नहीं दे सकता। इम्पीरियल बैंक अधिक से अधिक कितना ऋण किसी एक व्यक्ति को अथवा फर्म को देगा यह अब भी कानून द्वारा सीमित है।

ऊपर लिखे प्रतिबन्धों को लगाने की आवश्यकता इस कारण पड़ी, क्योंकि इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक का एकमात्र एजेंट है और जहाँ रिज़र्व बैंक की ब्रांच नहीं है वहाँ इम्पीरियल बैंक ही सरकारी खज़ाने का काम करता है तथा कोष को रखता है। इसके अतिरिक्त इम्पीरियल बैंक की यह भी ज़िम्मेदारी है कि रिज़र्व बैंक की स्थापना के समय इम्पीरियल बैंक की जितनी ब्रांचें थीं कम से कम उतनी ब्रांचें वह अवश्य चलाए रक्खे। रिज़र्व बैंक के एकमात्र एजेन्ट का काम करने के लिए १५ वर्ष के लिए इकरारनामा किया गया है और इम्पीरियल बैंक को उस कार्य के लिये एक निर्धारित रकम कमीशन के रूप में दी जाती है।

वर्तमान स्थिति —यद्यपि इम्पीरियल बैंक सरकार का बैंकर नहीं रहा, किन्तु फिर भी उसका भारतीय द्रव्य बाज़ार (Money Market) में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब भी यह बहुत अधिक डिपाज़िट आकर्षित करता है। इम्पीरियल बैंक के ऊपर से प्रतिबन्धों के उठ जाने से यह आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार को अधिकाधिक सहायता प्रदान कर सकेगा। किन्तु भारतीय व्यापारियों को उसके विरुद्ध बहुत सी शिकायतें हैं। इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध भारतीयों का सबसे अधिक गम्भीर आरोप यह है कि उसका संचालन मुख्यतः विदेशियों के हाथ में है और वे भारतीयों के साथ सहानुभूति का व्यवहार नहीं करते। यदि कोई भारतीय व्यापारी या फर्म उनसे आर्थिक सहायता माँगता है तो उसे कठिनाई

होती है, किन्तु अंग्रेजों को आर्थिक सहायता आसानी से मिल जाती है। इम्पीरियल बैंक के अधिकांश उच्च अधिकारी विदेशी हैं इस कारण भारतीयों को इम्पीरियल बैंक से इस प्रकार की शिकायत रही है। यही नहीं, १६३४ के पूर्व भारतीय व्यापारिक बैंकों (Commercial Banks) को यह भी शिकायत थी कि इम्पीरियल बैंक यद्यपि एक केन्द्रीय बैंक (Central Bank) है परंतु वह अन्य बैंकों से अनुचित प्रतिस्पर्द्धा करता है। आज भी उनको यह शिकायत है कि रिज़र्व बैंक के एकमात्र एजेंट होने के नाते उसे जो प्रतिष्ठा मिली हुई है उसके कारण वह अन्य बैंकों की उन्नति में एक रुकावट उत्पन्न करता है। भारतीय बैंकों की यह माँग है कि केवल इम्पीरियल बैंक को रिज़र्व बैंक का एक मात्र एजेंट बना देना उचित नहीं है। जितने बड़े और सुदृढ़ बैंक हैं उन सभी को यह प्रतिष्ठा प्राप्त होनी चाहिये।

यद्यपि रिजर्व बैंक की स्थापना हो चुकी है परन्तु फिर भी अभी तक केवल व्यक्ति ही नहीं बैंक तथा देशी बैंकर भी इसी के पास ऋण तथा अपने बिल या हुण्डी भुनाने के लिए आते हैं। इस प्रकार इम्पीरियल बैंक द्रव्य बाज़ार (Money Market) तथा रिजर्व बैंक के बीच में एक मध्यस्थ का काम करता है। इम्पीरियल बैंक के पुराने इतिहास, उसके अतुल साधन और उसकी असीम प्रतिष्ठा को देखते हुए कुछ दिनों तक रिज़र्व बैंक को इम्पीरियल बैंक के साथ मिलकर द्रव्य बाज़ार का नियंत्रण तथा उसका नेतृत्व करना होगा।

इम्पीरियल बैंक को रिज़र्व बैंक में क्यों न परिणत कर दिया गया:— रिज़र्व बैंक के अध्याय में हमने यह बतलाया है कि हिलटन-यंग कमीशन ने इम्पीरियल बैंक को ही रिज़र्व बैंक में परिणत किये जाने की राय क्यों न दी। इसके मुख्य दो कारण थे। एक कारण तो यह था कि यदि इम्पीरियल बैंक को ही रिज़र्व बैंक बना दिया जाता तो उस समय जो इम्पीरियल बैंक की बहुत सी ब्रांचें थीं वे बन्द करनी पड़तीं। इससे बैंकिंग कारबार को धक्का लगता जबकि देश को अधिकाधिक बैंकों की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह था कि यदि इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक बना दिया जाता तो उसके लाभ को कानून के द्वारा सीमित कर दिया जाता जो कि इम्पीरियल बैंक के हिस्सेदार कभी भी पसंद न करते। पिछले दिनों से इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की चर्चा चल रही है। और इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के अपने निर्णय की सरकार ने घोषणा भी कर दी थी। पर फिलहाल सरकार ने अपने इस निर्णय को कार्यान्वित करने से स्थगित कर दिया है।

इम्पीरियल बैंक का भविष्य में महत्त्व:— भविष्य में देश की बैंकिंग-व्यवस्था में इम्पीरियल बैंक का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। 'रूरल

बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी' ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए इम्पीरियल बैंक के सामने यह लक्ष्य उपस्थित किया है कि देश के प्रत्येक ज़िले, ताल्लुका या मंडी में इम्पीरियल बैंक की शाखा या पे ऑफिस कायम किया जाये। बैंकिंग कमेटी ने यह राय दी है कि इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक के सहायक के रूप में काम करेगा और उसे कमज़ोर बनाने का कोई क़दम नहीं उठाना चाहिये।

इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध जो शिकायतें की जाती हैं उन पर भी कमेटी ने अपने विचार प्रकट किये हैं। बैंक के अराष्ट्रीय व्यवहार की बात देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद कोई महत्त्व नहीं रखती, ऐसा कमेटी का मानना है। चूँकि इम्पीरियल बैंक को रिज़र्व बैंक के एजेंट के तौर पर काम करने का एकाधिकार है इसलिये यह शिकायत रहा है कि बैंक अपनी इस विशेष स्थिति का दूसरे बैंकों के विरुद्ध उपयोग कर सकता है जो कि अनुचित है। रूरल बैंकिंग कमेटी ने यह सिफारिश की है कि बैंक की इस विशेष स्थिति को समाप्त करने की तो आवश्यकता नहीं है, पर सरकार को बैंक पर पहले जितना नियन्त्रण कायम करना चाहिये। उदाहरण के लिये बैंक के मैनेजिंग और डिप्टी मैनेजिंग डायरेक्टरों की नियुक्ति सरकार की स्वीकृति से होनी चाहिये। सरकारी अधिकारी को यह अधिकार होना चाहिये कि सरकार की नीति से संबंध रखने वाले केन्द्रीय बोर्ड के किसी निर्णय को वह स्थगित करा सके और उसे सरकार के पास भिजवा सके। सरकार द्वारा मनोनीत डाइरेक्टर केन्द्रीय बोर्ड की समिति के सदस्य होने चाहियें और उन्हें वोट देने का अधिकार होना चाहिये। बैंक के उच्च कर्मचारी अब भी विदेशी हैं पर भारतीयकरण का पूरा प्रयत्न किया जा रहा है और बैंक ने भारत-सरकार को यह आश्वासन दिया है कि १९५५ तक बैंक के सब उच्च कर्मचारी भारतीय हो जायेंगे। देश में बैंकिंग के प्रसार में योग देने की दृष्टि से बैंक को अधिक शाखायें खोलनी चाहियें यह भी कमेटी ने सिफारिश की है। जहाँ तक इम्पीरियल बैंक द्वारा दूसरे बैंकों के साथ अनुचित प्रतिस्पर्द्धा का सवाल है, बैंकिंग कमेटी ने यह सिफारिश की है कि इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिये कि इम्पीरियल बैंक सरकारी खाता रखने के कारण अनुचित लाभ न उठावे और दूसरे बैंकों के साथ इस प्रकार अनुचित प्रतिस्पर्द्धा न कर सके। पर साथ ही कमेटी की यह भी सिफारिश है कि इम्पीरियल बैंक को उन स्थानों में भी सरकारी बैंक का काम करना चाहिये जहाँ अभी उसकी शाखायें न होने से वह नहीं कर सकता।

५—रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया—भारतवर्ष में एक केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की आवश्यकता बहुत पहले से अनुभव की जा रही थी किन्तु भारत-सरकार ने इसकी ओर कभी ध्यान नहीं दिया। १९१३ में जब

भारत की करेंसी के सम्बन्ध में जांच करने के लिए 'चेम्बरलेन कमीशन' बिठाया गया उस समय श्रीयुत कीन्स महोदय ने एक केन्द्रीय बैंक की योजना उपस्थित की जो कि चेम्बरलेन रिपोर्ट के साथ प्रकाशित हुई, किन्तु भारत ने उसकी ओर ध्यान तक न दिया। १६१४-१८ के महायुद्ध में सभी को केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का अनुभव हुआ। किन्तु जब १६२० में ब्रुसल्स अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-सम्मेलन ने इस आशय का प्रस्ताव पास किया कि "जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं है वहां भी शीघ्र ही केन्द्रीय बैंक स्थापित होना चाहिए" तब कहीं भारत-सरकार का ध्यान उधर गया। अतएव १६२१ में इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई। किन्तु इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य नहीं करता था इस कारण एक स्वतंत्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता होने लगी। जब १६२३ में हिल्टन यंग कमीशन बैठा तो यह समस्या उसके सामने भी उपस्थित हुई। देश में कुछ विद्वानों का मत था कि इम्पीरियल बैंक को ही भारत का केन्द्रीय बैंक बना देना चाहिये किन्तु कुछ उसके विरुद्ध थे। हिल्टन यंग कमीशन ने इस प्रश्न का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और एक स्वतंत्र हिस्सेदारों के केन्द्रीय बैंक की स्थापना का समर्थन किया।

जिन कारणों से हिल्टन यंग कमीशन ने इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक न बनने की सम्मति दी वे निम्नलिखित हैं:—

(१) इम्पीरियल बैंक के पास यथेष्ट पूँजी और डिपाज़िट हैं और उसकी सैकड़ों शाखायें भारत भर में फैली हुई हैं। भारत जैसे देश में जहाँ बैंकिंग की सुविधायें नहीं के बराबर हैं, यदि इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बना दिया गया तो उसको अपनी शाखाओं को बन्द करना होगा। इससे भारतीय व्यापार को गहरा धक्का लगेगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि इम्पीरियल बैंक को बन्धनों से मुक्त कर दिया जावे और उसे एक सुदृढ़ और महान् व्यापारिक बैंक के रूप में देश की सेवा करने दी जावे। इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक भी बना दिया जावे और व्यापारिक बैंकिंग भी करता रहे यह नहीं हो सकता। क्योंकि यदि इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंकिंग करेगा तो अन्य व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा करेगा जो कि अनुचित होगा। क्योंकि केन्द्रीय बैंक के पास राज्य की बिना सूद की डिपाज़िट रहेगी और उसके पास इतने विशेष अधिकार रहेंगे कि उसको अन्य बैंकों से होड़ करने देना सर्वथा अन्यायपूर्ण होगा। साथ ही केन्द्रीय बैंक को काग़ज़ी मुद्रा निकालने का एकाधिकार दिया जावेगा अतएव उसे व्यापारिक बैंकिंग के खतरे को न उठाना चाहिए।

(२) इम्पीरियल बैंक को भारतीय व्यापारिक बैंक अपने प्रतिद्वन्दी के रूप

में देखते रहे हैं, क्योंकि वह भारतीय बैंकों से द्रव्य बाज़ार में प्रतिद्वन्दिता करता रहा है अतएव उसको केन्द्रीय बैंक बनाना उचित नहीं है। केन्द्रीय बैंक को सभी अन्य बैंकों का नेतृत्व करना होगा। अस्तु, किसी एस बैंक को जिसे अन्य बैंक अपना प्रतिद्वन्द्वी मानते रहे हैं केन्द्रीय बैंक बनाना उचित न होगा।

(३) इम्पीरियल बैंक के प्रति भारतीय व्यापारियों, देशी बैंकरों तथा भारतीय व्यापारिक बैंकों की अच्छी धारणा नहीं है। उनका कहना है कि इम्पीरियल बैंक की नीति अभारतीय है। अंग्रेज व्यापारियों तथा बैंकों द्वारा सचालित बैंकों के साथ उसका व्यवहार नरम सहानुभूतिपूर्ण और उदार होता है। हिल्टन यंग कमीशन का मत था कि जिस बैंक के प्रति देश में ऐसी धारणा हो वह केन्द्रीय बैंक के उत्तरदायित्व को एक प्रकार से न निबाह सकेगा।

(४) कमीशन का यह भी राय थी कि हिस्सेदार भी इस परिवर्तन को पसन्द नहीं करेंगे क्योंकि यदि इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक बना दिया जावेगा तो सरकार को कानून के द्वारा उसके लाभ को मर्यादित कर देना होगा। हिस्सेदारों को ८ प्रतिशत के लगभग लाभ मिल सकेगा जिसे इम्पीरियल बैंक के हिस्सेदार कभी पसन्द न करेंगे, क्योंकि उन्हें अभी बहुत अधिक लाभ मिलता है। इन्हीं कारणों से हिल्टन यंग कमीशन ने एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना का समर्थन किया। कमीशन ने केवल एक स्वतन्त्र संस्था के स्थापित किये जाने का ही समर्थन नहीं किया वरन् उसने इस बात का भी समर्थन किया कि रिज़र्व बैंक राज्य का न होकर हिस्सेदारों का होना चाहिए।

हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर भारत सरकार ने एक बिल केन्द्रीय धारा सभा (Central Legislative Assembly) में उपस्थित किया। इस बिल में एक हिस्सेदारों के रिज़र्व बैंक की स्थापना की व्यवस्था थी और उसके सचालक बोर्ड में हिस्सेदारों द्वारा चुने हुए डायरेक्टरोंका बहुमत था और बैंक के गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर के सरकार द्वारा नियुक्त किये जाने का विधान था। किन्तु सेलेक्ट कमेटी ने उसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। उसमें विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन यह था कि बैंक हिस्सेदारों का न होकर सरकार का होगा। सरकार इस परिवर्तन के लिये तो तैयार हो गई थी कि बैंक राज्य का हो पर सचालक-मंडल के प्रश्न पर एसेम्बली और सरकार में समझौता न हो सका। इस पर भारत सरकार ने हिस्सेदारों का बैंक कायम करने का नया बिल पेश करना चाहा, पर जब तक पुराना बिल सरकार वापस नहीं ले नये बिल को पेश करने की इजाजत नहीं मिली। पुराने बिल के साथ तो झगड़ा लगा ही था। अस्तु, उस समय भारत में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित न हो सका।

किन्तु जब भारत में नवीन शासन-सुधार की योजना तैयार हुई और भारत में संघीय सरकार (Federal Government) की स्थापना का आयोजन होने लगा जो संघीय धारा सभा के लिये उत्तरदायी होगी, तो एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता हुई जो कागज़ी मुद्रा (Paper Currency) को निकालने का प्रबन्ध करे। अतएव १९३४ में रिज़र्व बैंक ऐक्ट पास हुआ और उसको हिस्सेदारों के बैंक के रूप में स्थापित किया गया। रिज़र्व बैंक को हिस्सेदारों का बैंक होना चाहिए अथवा राज्य का, इस सम्बन्ध में भारत में बहुत वाद-विवाद चला। अस्तु; हम यहां दोनों पक्षों का मत देंगे।

बैंक हिस्सेदारों का हो अथवा राज्य का हो :—जिन लोगों का कहना था कि बैंक राज्य का होना चाहिए वे नीचे लिखे तर्क उपस्थित करते थे:—

(१) रिज़र्व बैंक को इतने अधिकार दिये गये हैं कि यदि बैंक पर पूँजीपतियों का प्रभाव हो गया तो वे उसका दुरुपयोग करेंगे जिससे देश के आर्थिक हितों को धक्का पहुँचेगा। यदि बैंक हिस्सेदारों का रहा तो पूँजीपतियों का उस पर प्रभाव हो जाना स्वाभाविक है। अस्तु; ऐसा करना खतरनाक है।

(२) क्योंकि बैंक कागज़ी मुद्रा (Paper Currency) निकालेगा तथा राज्य के कोष (Funds) अपने पास रक्खेगा अतएव उसको बहुत अधिक लाभ होगा। यह लाभ देश के लाभ के लिये राज्य को मिलना चाहिए न कि हिस्सेदारों को।

(३) भारत में राज्य अधिकांश रेलों, पोस्ट आफिस इत्यादि का प्रबन्ध करता है। लोगों को राज्य के प्रबन्ध में अधिक विश्वास है और पूँजीपतियों के प्रबन्ध को वे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

(४) रिज़र्व बैंक के कार्य ऐसे महत्त्वपूर्ण हैं कि राज्य को उसे अपने नियन्त्रण में रखना ही होगा। अस्तु; उसे राज्य का बैंक ही क्यों न बना दिया जावे।

(५) जिन देशों में केन्द्रीय बैंक हिस्सेदारों की संस्था है वहाँ भी उसका गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर इत्यादि सरकार ही नियुक्त करती तथा बैंक के नीति के निर्धारण में उसका प्रमुख हाथ रहता है। कहना इस प्रकार चाहिये कि राज्य ही बैंक की नीति निर्धारित करता है। ऐसी दशा में हिस्सेदारों का बैंक स्थापित करने का अर्थ नहीं होता।

(६) इस बात का भय है कि हिस्सेदारों का बैंक योरोपियनों के प्रभाव में आजावेगा और इससे भारतीयों के हितों की उपेक्षा होगी।

तत्कालीन केन्द्रीय धारा सभा का यह भी विचार था कि बैंक केवल राज्य का ही न हो, वरन् उसके संचालकबोर्ड में कुछ डायरेक्टर धारा सभा के

चुने हुए सदस्य होने चाहिये। क्योंकि सरकार जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी नहीं है, अस्तु जनता के चुने हुए डायरेक्टर बोर्ड में होने चाहिये।

इसके विरुद्ध हिस्सेदारों के बैंक के पक्ष में जो लोग थे उनके नीचे लिखे तर्क थे —

(१) संसार में जितने केन्द्रीय बैंक हैं उनमें से कुछ को छोड़कर सभी हिस्सेदारों के बैंक हैं।

(२) देश के आर्थिक हितों की दृष्टि से यह आवश्यक है कि रिज़र्व बैंक पर कोई राजनैतिक प्रभाव न हो और वह अपने कार्यों को सुचारु रूप से कर सके।

(३) हिस्सेदारों के बैंक में पूँजीपतियों का प्रभाव बढ़ जाने का जो भय है उसको ऐसा नियम बनाकर कि एक व्यक्ति अधिक हिस्से न खरीद सके दूर किया जा सकता है। रहा लाभ का प्रश्न वह तो कानून द्वारा सीमित कर दिया जावेगा और अधिकतर लाभ राज्य को मिलेगा।

ऊपर लिखे कारणों को अधिक महत्व देते हुए १९३५ के कानून के तहत में रिज़र्व बैंक को हिस्सेदारों का बैंक बनाया गया।

रिज़र्व बैंक का विधान —यह तो हम ऊपर ही कह चुके हैं कि रिज़र्व बैंक को हिस्सेदारों का बैंक बनाया गया है। बैंक की हिस्सा पूँजी (Share Capital) ५ करोड़ रुपया रखी गई। प्रत्येक हिस्सा १०० रु० का रखा गया जो कि पूरा चुका दिया गया था। इस उद्देश्य से कि बैंक पर किसी एक प्रदेश का प्रभाव न हो जावे भारत को पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया और हिस्सेदारों के पाँच रजिस्टर खोले गए। भिन्न भिन्न रजिस्टरों को नीचे लिखे अनुसार हिस्सा पूँजी बाँट दी गई।

बम्बई	१४० लाख
कलकत्ता	१४५ लाख
देहली	११५ लाख
मदरास	७० लाख
रंगून	३० लाख

इसके अतिरिक्त यह नियम भी बना दिया गया कि प्रत्येक हिस्सेदार को पाँच हिस्सों के पीछे एक मत (Vote) देने का अधिकार होगा, और किसी हिस्सेदार को दस मत (वोट) से अधिक देने का अधिकार न होगा। यह नियम इस उद्देश्य से बनाया गया था कि रिज़र्व बैंक के हिस्सों को कुछ लोग न हथिया लें। किन्तु ऊपर लिखे नियमों के रहते हुए भी रिज़र्व बैंक के हिस्से क्रमशः बम्बई

रजिस्टर में अधिक बढ़ते गए। यही नहीं कि अन्य रजिस्टरों में हिस्से कम होते गए और बम्बई रजिस्टर में हिस्से बढ़ते गए, वरन् साथ ही हिस्सेदारों की संख्या कम होती गई। दूसरे शब्दों मे इसका अर्थ यह हुआ कि रिज़र्व बैंक के हिस्से क्रमशः कुछ थोड़े से हाथों में इकट्ठे होते गए।

बैंक के हिस्सेदारों की संख्या में ३० जून १६४१ तक ३८ प्रतिशत की कमी हो गई। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए मार्च १६४० में रिजर्व बैंक ऐक्ट में इस आशय का संशोधन किया गया कि यदि कोई व्यक्ति २६ मार्च १६४० के उपरान्त रिज़र्व बैंक के हिस्से खरीदता है और उन हिस्सों के सहित उसके पास अपने व्यक्तिगत नाम में अथवा व्यक्तियों के साथ सम्मिलित नाम में २०,००० रु० के मूल्य के हिस्सों से अधिक हो जाते हैं तो उन अधिक खरीदे हुए हिस्सों को उसके नाम नहीं रजिस्टर किया जावेगा। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि २६ मार्च १६४० के उपरान्त कोई भी व्यक्ति कुल मिलकर २०,००० रु० के हिस्सों से अधिक नहीं खरीद सकता था। किन्तु इतना होने पर भी रिज़र्व बैंक के हिसेदारों की संख्या कम होती गई और क्रमशः हिस्से कुछ हाथों में केन्द्रित होते गये।

रिज़र्व एक्ट से बैंक की हिस्सा पूँजी को घटा-बढ़ा सकने का भी विधान किया गया।

रिज़र्व बैंक ऐक्ट के अनुसार बैंक को बम्बई, कलकत्ता, देहली, मदरास और रंगून मे अपने ऑफिस खोलने थे और लन्दन में एक ब्रॉच स्थापित करनी थी। बैंक ने ऊपर लिखे स्थानों पर अपने ऑफिस स्थापित कर दिये थे। एक्ट के अनुसार बैंक को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह भारत-सरकार की पूर्व आज्ञा लेकर भारत में किसी स्थान पर भी अपनी ब्रॉच या एजेंसी स्थापित करे। बैंक ने कानपुर, करॉची, ढाका तथा लाहौर में अपनी ब्रॉचे स्थापित की तथा जहाँ-जहाँ इम्पीरियल बैंक की ब्रॉचें थीं वहाँ इम्पीरियल बैंक को अपना एजेंट बना दिया है। युद्धकाल में जापान द्वारा बर्मा पर अधिकार होने पर रंगून का दफ्तर बन्द कर दिया गया और फिर स्थापित नहीं किया गया। देश के विभाजन के बाद जब १ जुलाई, १६४८ को पाकिस्तान बैंक की स्थापना हो गई तो लाहौर, करॉची और ढाका की बैंक की शाखायें राज्य बैंक पाकिस्तान ने लेलीं।

प्रबन्ध—बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय बोर्ड के हाथों में सौंपा गया। राष्ट्रीयकरण के पहले उसमें १६ डायरेक्टर होते थे। वह १६ डायरेक्टर नीचे लिखे अनुसार नियुक्त होते थे—(१) एक गवर्नर तथा दो डिप्टी गवर्नरों को भारत-सरकार नियुक्त करती थी। भारत-सरकार नियुक्त करते समय इस सम्बन्ध में बोर्ड द्वारा की गई सिफारिश को ध्यान में रखकर ही नियुक्ति करती है।

(२) ४ डायरेक्टरों को भारत सरकार मनोनीत करती थी। यह डायरेक्टर उन हितों का प्रतिनिधित्व करते थे जो कि साधारण बोर्ड में कोई प्रतिनिधित्व नहीं पा सकते। (उदाहरण के लिए कृषि इत्यादि का प्रतिनिधित्व करने वाले डायरेक्टर)

(३) ८ डायरेक्टर भिन्न भिन्न रजिस्टरों के हिस्सेदारों द्वारा चुने जाते थे। बम्बई कलकत्ता और देहली में से प्रत्येक को दो दो डायरेक्टर चुनने का अधिकार था और रंगून तथा मद्रास को एक एक डायरेक्टर ही चुनने का अधिकार था।

(४) भारत सरकार एक सरकारी कर्मचारी को बोर्ड में मनोनीत करता था।

गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नरों को वेतन मिलता है और वे बैंक के वेतन भोगी डायरेक्टर होते हैं। बैंक के राष्ट्रीयकरण होने तक डायरेक्टर पाँच वर्षों के लिए नियुक्त किये जाते थे किन्तु पाँच वर्ष समाप्त हो जाने पर वे फिर नियुक्त किये जा सकते थे। सरकारी कर्मचारी डायरेक्टर भारत सरकार की इच्छानुसार अपने पद पर रहता है। डिप्टी गवर्नर तथा सरकारी कर्मचारी डायरेक्टर बोर्ड की मीटिंग में भाग ले सकते हैं, उसकी मीटिंग में उपस्थित हो सकते हैं, किन्तु वोट नहीं दे सकते। गवर्नर की अनुपस्थिति में एक डिप्टी गवर्नर वोट दे सकता है, यदि वह भारत सरकार की लिखित आज्ञा प्राप्त कर ले। अन्य दूसरे सभी डायरेक्टर केवल पाँच वर्षों तक अपने पद पर रहते थे।

केन्द्रीय तथा राज्य की धारा सभा का सदस्य, कोई वेतन भोगी सरकारी कर्मचारी, किसी बैंक का नौकर या कर्मचारी किसी बैंक का डायरेक्टर (सहकारी बैंक के डायरेक्टरों को छोड़कर), रिजर्व बैंक का डायरेक्टर या स्थानीय बोर्ड (Local Boards) का सदस्य नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति जो कि केन्द्रीय बोर्ड का डायरेक्टर या स्थानीय बोर्ड का सदस्य चुना गया हो या मनोनीत किया गया हो यदि रिजर्व बैंक के ५,००० रु० के हिस्सों का ६ महीने के अन्दर रजिस्टर्ड स्वामी नहीं बन जाता तो वह डायरेक्टर या सदस्य नहीं रह सकता। यदि कोई डायरेक्टर बिना गवर्नर से छुट्टी प्राप्त किये तीन लगातार मीटिंगों में अनुपस्थित हो जाता है तो वह बैंक का डायरेक्टर नहीं रहता।

स्थानीय बोर्ड और उनका कार्य—इसी प्रकार राष्ट्रीयकरण के पहले प्रत्येक रजिस्टर का एक स्थानीय बोर्ड होता था जिसका संगठन इस प्रकार होता था—(१) उस रजिस्टर के हिस्सेदार अपने में से पाँच सदस्य चुनते थे। (२) केन्द्रीय बोर्ड उस रजिस्टर के हिस्सेदारों में से अधिक से अधिक तीन सदस्यों को मनोनीत करता था। केन्द्रीय बोर्ड को अधिकार इसलिए दिया गया था कि

जिससे कृषि सहकारी बैंक, तथा अन्य ऐसे हितों का स्थानीय बोर्ड में प्रतिनिधित्व हो सके।

स्थानीय बोर्ड के दो कार्य होते थे। एक तो वे अपने में से केन्द्रीय बोर्ड के लिये डायरेक्टर चुनते थे और दूसरे वे केन्द्रीय बोर्ड को उन सब बातों पर अपनी राय देते थे कि जो उसकी सम्मति के लिये भेजी जाती थीं। स्थानीय बोर्ड के अधिकार बहुत ही सीमित हैं और उनका कोई महत्त्व नहीं है।

रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—भारत के स्वतंत्र होने के बाद भारत-सरकार ने रिज़र्व बैंक के राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया और इस उद्देश्य से रिज़र्व बैंक ऑव इण्डिया (ट्रान्सफर टू पब्लिक ओनरशिप) एक्ट, १९४८ पास किया गया। १ जनवरी १९४९ से यह एक्ट लागू होगया। इस सम्बन्ध में आगे लिखा गया है।

रिज़र्व बैंक के कार्य—रिज़र्व बैंक के व्यापारिक कार्य—रिज़र्व बैंक नीचे लिखे व्यापारिक कार्य कर सकता है।

(१) रिज़र्व बैंक बिना सूद की डिपाज़िट स्वीकार कर सकता है। रिज़र्व बैंक पर सूद न दे सकने का प्रतिबंध इस कारण लगाया गया है कि वह व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा न कर सके।

(२) रिज़र्व बैंक ऐसे बिलों (Bills) और प्रामिसरी नोटों को जो वास्तविक व्यापारिक व्यवहारों (Commercial Transactions) के कारण उत्पन्न हुए हों, जिन पर दो अच्छे हस्ताक्षर हों, उनमें से एक हस्ताक्षर किसी शिड्यूल (Schedule) बैंक का हो और जिनके चलन की अवधि ९० दिन से अधिक बाक़ी न हो, और जो भारत पर काटे गए हो और जिनका भुगतान भारत में होने वाला हो, खरीद या बेंच सकता है अथवा उन्हें पुनः भुना सकता है।

इसका परिणाम यह होगा कि रिज़र्व बैंक रुपयों में काटे या लिखे गये आयात-बिल (Rupee Import Bills) को भुना सकेगा जब कि इस प्रकार के बिलों का आयात व्यापार (Import Trade) में चलन होने लगेगा। भारत सरकार या 'ए' श्रेणी के राज्यों की सरकारों की सिक्यूरिटीज में व्यापार करने की दृष्टि से काटे गये बिलों को भी यदि वे ९० दिन में पकने वाले हों तो, रिज़र्व बैंक बेच, खरीद या भुना सकता है। यदि इस प्रकार के बिल या प्रामिसरी नोट कृषि के धंधे के लिए लिखे गए हों या फसलों की बिक्री का प्रबन्ध करने के लिए काटे गए हों तो उनके चलन की अवधि अधिक से अधिक ९ महीने की बाक़ी हो सकती है। इन बिलों पर भी दो अच्छे हस्ताक्षरों की आवश्यकता है और उसमें से एक हस्ताक्षर या तो किसी शिड्यूल बैंक अथवा प्रान्तीय सरकारी

बैंक का होना चाहिए। इस प्रकार के बिलों को रिज़र्व बैंक पुनः भुना सकता है। रिज़र्व बैंक एक्ट में जो हाल में संशोधन हुआ है उसके अनुसार यह अवधि ६ महीने से बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है।

(३) रिज़र्व बैंक ऐसे बिलों को जो कि यूनाइटेड किंगडम में अथवा कहीं किसी स्थान पर काटे गए हों और ९० दिन के अन्दर चुकाए जाने हों खरीद, बेच और भुना सकता है। किन्तु यह कार्य वह किसी शिड्यूल्ड बैंक के द्वारा ही कर सकता है।

(४) भारत में कम से कम १ लाख रुपये का कामन से शिड्यूल्ड बैंकों से स्टर्लिंग खरीदने और उन्हें स्टर्लिंग बेचने का काम भी रिज़र्व बैंक कर सकता है।

(५) रिज़र्व बैंक 'बी' श्रेणी के राज्यों, स्थानीय शासन संस्थाओं (म्यूनिसिपैलटी तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इत्यादि), शिड्यूल्ड बैंकों तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों को प्रान्तीय सहकारी बैंकों को ऋण दे सकता है किन्तु इस प्रकार का ऋण अधिक से अधिक ९० दिन के लिए दिया जा सकता है। किन्तु स्टाक कोष (Funds) या सिक्यूरिटी (अचल सम्पत्ति को छोड़ कर) की जमानत पर हो मिल सकता है। जो भी सिक्यूरिटी ट्रस्टी सिक्यूरिटी है उस सिक्यूरिटी के विरुद्ध रिज़र्व बैंक ऋण दे सकता है। इसके अतिरिक्त सोना या चाँदी अथवा उन बिलों की जमानत पर भी ऋण दिया जा सकता है कि जिन्हें रिज़र्व बैंक खरीद या भुना सकता है। किसी शिड्यूल्ड बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक के प्रामिसरी नोट पर भी रिज़र्व बैंक ऋण दे सकता है यदि वह वास्तव में व्यापारिक व्यवहारों (Commercial Transaction) के लिये लिया जावे।

(६) रिज़र्व बैंक केन्द्रीय तथा 'ए' श्रेणी के राज्यों को तीन महीने से अधिक के लिए ऋण नहीं दे सकता।

(७) रिज़र्व बैंक यूनाइटेड किंगडम की उन सिक्यूरिटियों का खरीद बिक्री कर सकता है जो कि खरीदने की तारीख से १० वर्षों के अन्दर पक जावें। भारत सरकार या प्रान्तीय सरकार की किसी प्रकार की सिक्यूरिटी, चाहे उसके पकने की अवधि कितनी ही, क्यों न हो, रिज़र्व बैंक खरीद या बेच सकता है। 'बी' श्रेणी के राज्यों अथवा स्थानीय शासन संस्थाओं में से केवल उनकी ही सिक्यूरिटी रिज़र्व बैंक खरीद या बेच सकता है जिनकी भारत सरकार बैंक-बोर्ड की सिफारिश पर स्वीकृति दे। १ जनवरी, १९४९ से जो संशोधन रिज़र्व बैंक एक्ट में लागू हुआ है उसके अनुसार अब रिज़र्व बैंक उन देशों की सिक्यूरिटियों में भी अपना रुपया लगा सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के सदस्य हैं। इन देशों में भुगतान किये जाने वाले व्यापारिक बिलों को जिनकी मियाद ९० दिन के

अन्दर पूर्ण होती हो, रिज़र्व बैंक खरीद, बेच और भुना सकता है। इन देशों के केन्द्रीय बैंकों में रिज़र्व बैंक रुपया भी जमा कर सकता है।

(८) रिज़र्व बैंक अपनी पूँजी से अधिक ऋण नहीं ले सकता, और वह भी एक महीने से अधिक के लिए नहीं। ऋण केवल किसी शिड्यूल बैंक से अथवा किसी विदेशी केन्द्रीय बैंक (Centarl Bank) से लिया जा सकता है।

(९) कुछ दशाओं में बैंक को सीधे खुले बाजार में ९० दिनके बिल भुनाने तथा ३० दिन के लिए ऋण देने का अधिकार दे दिया गया है अर्थात् बैंक कुछ दशाओं में बिना किसी शिड्यूल बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक के हस्ताक्षरों के ही ऋण दे सकता है या बिलों को भुना सकता है। इसे बैंक की खुले बाज़ार की क्रिया (Open Market Operations) कहते हैं।

वह व्यापार-कार्य जो कि बैंक नहीं कर सकता:—(१) बैंक किसी व्यापारिक तथा व्यावसायिक कार्य को नहीं कर सकता। अर्थात् व्यापार तथा व्यवसाय में दिलचस्पी नहीं ले सकता और न आर्थिक सहायता दे सकता है।

(२) वह अपने हिस्सों या अन्य किसी बैंक या कम्पनी के हिस्सों को नहीं खरीद सकता और न उन हिस्सों की जमानत पर ऋण ही दे सकता है।

(३) वह किसी अचल सम्पत्ति को रेहन रखकर ऋण नहीं दे सकता और न अचल सम्पत्ति को खरीद ही सकता है। केवल अपने काम के लिए जो भी इमारत इत्यादि की आवश्यकता हो उसे अवश्य खरीद सकता है।

(४) बैंक अरक्षित (Unsecured) ऋण नहीं दे सकता।

(५) वह मुद्दती जमा (Deposits) या चालू खाते (Current Account) पर कोई सूद नहीं दे सकता।

(६) वह ऐसे बिलों को न काट सकता है और न स्वीकार ही कर सकता है कि जिनका माँगने पर भुगतान न हो।

ऊपर लिखे व्यापारिक कार्यों के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक को भारत के केन्द्रीय बैंक (Central Bank) होने के नाते और बहुत से महत्वपूर्ण कार्य सौंप दिए गए हैं। वे नीचे लिखे हैं।

कागजी मुद्रा (Paper Currency) को निकालने का एकाधिकार—रिज़र्व बैंक को कागजी मुद्रा निकालने का एकाधिकार प्राप्त है। रिज़र्व बैंक की स्थापना के उपरान्त सरकार का कागज़ी मुद्रा निकालने का अधिकार समाप्त हो गया। रिज़र्व बैंक के नोट कानूनी ग्राह्य (Legal Tender) हैं और भारत-सरकार उनकी गारंटी करती है। भारत-सरकार के पुराने नोट रिज़र्व बैंक ने ले लिए फिर उन्हें अपने नोटों के रूप में चलाया। जनवरी १९३८ में सबसे

पहले रिज़र्व बैंक के नोट निकाले गए। रिज़र्व बैंक पर अपने नोटों को रुपयों में बदलने का कानूनी उत्तरदायित्व है। रिज़र्व बैंक पाँच रुपये, दस रुपये, पचास रुपये, सौ रुपये, पाँच सौ रुपये, और दस हज़ार रुपये के नोट निकाल सकता है।

कागजी मुद्रा निकालने का काम बैंक का नोट विभाग (Issue Department) करता है। नोट विभाग (Issue Department) को बैंकिंग विभाग (Banking Department) से सर्वथा पृथक् रक्खा जाता है। भारत में यह विभाजन अनावश्यक था। यह विभाजन बैंक आव इङ्गलैंड के आधार पर किया गया था। किन्तु बैंक आव इङ्गलैंड में यह विभाजन इसलिए आवश्यक था क्योंकि वहाँ नोट विभाग में होने वाला लाभ तो सरकार को जाता था और बैंकिंग का लाभ हिस्सेदारों को मिलता था। किन्तु जब तक राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ था तब तक भी भारत में तो कानून द्वारा निर्धारित (४ प्रतिशत) से अधिक लाभ सरकार को मिलता था, इस कारण यह विभाजन अनावश्यक था। राष्ट्रीयकरण के बाद तो इस विभाजन का कोई महत्त्व ही नहीं है। इससे हानि यह है कि बैंक का लेना देना का लेखा (Balance Sheet) दो टुकड़ों में विभक्त हो जाता है।

जहाँ तक कागजी मुद्रा की सुरक्षा के लिए सुरक्षित कोष (Reserves) रखने का प्रश्न है रिज़र्व बैंक ऐक्ट के अनुसार कुल नोटों का ४० प्रतिशत रक्षित कोष सोने के सिक्के, सोने के पाटों अथवा स्टर्लिङ्ग के रूप में होना चाहिए और शेष रुपयों तथा सरकारी सिक्यूरिटियों तथा स्वीकृत व्यापारिक पत्रों (Liquid Paper) के रूप में होना चाहिये। पर १ जनवरी, १९४९ से बैंक को उन देशों की सिक्यूरिटीज़—जिनमें मिस्र और नकद भी शामिल है—भी रक्षित कोष में रखने का अधिकार हो गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के सदस्य हैं।

सरकार का बैंकिंग कार्य—नोट निकालने के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक सरकार के बैंकर का काम भी करता है। वह सरकार की ओर से रुपये का भुगतान करता है और सरकार का रुपया स्वीकार करता है। सरकार की हुंडियों को भुनाना पड़ता है। सरकारी रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना पड़ता है तथा अन्य बैंकिंग कार्य करने पड़ते हैं। जब सरकार ऋण लेना है तो इन ऋणों का रिज़र्व बैंक ही निकालता है और वही उनका प्रबन्ध करता है। केन्द्रीय तथा 'अ' श्रेणी के राज्यों की सरकारों का नकद रुपया बैंक के पास ही बिना सूद के डिपाज़िट के रूप में रहता है। बैंक को यह काम मुफ्त में नहीं करने पड़ते।

रिज़र्व बैंक का यह भी कार्य है कि वह रुपये की विनिमय-दर (Exchange Rates) को स्थिर रक्खे। इसी उद्देश्य को लेकर रिज़र्व बैंक को

कानून द्वारा विवश कर दिया गया है कि वह अधिक से अधिक १ शि० ६$\frac{3}{16}$ पे० प्रति रुपये के हिसाब से स्टर्लिङ्ग खरीदेगा और कम से कम १ शि० ५$\frac{63}{64}$ पे० प्रति रुपये के हिसाब से स्टर्लिङ्ग बेंचेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि किसी के पास स्टर्लिङ्ग हैं और वह उनके रुपये करना चाहता है तो वह रिज़र्व बैंक को ऊपर लिखी दर पर स्टर्लिङ्ग बेंच सकता है। रिज़र्व बैंक को उसके स्टर्लिङ्ग खरीदने होंगे और यदि किसी व्यक्ति को स्टर्लिङ्ग की आवश्यकता है तो उपर्युक्त दर पर स्टर्लिङ्ग खरीद सकता है। रिज़र्व बैंक को उसे स्टर्लिङ्ग बेंचने होंगे। इस बारे में एक मर्यादा यह है कि खरीदने और बेचने का सौदा दस हज़ार पौंड से कम का नहीं होना चाहिए। जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य हो गया तो अप्रेल १६४७ में इस सम्बन्ध में बैंक के विधान में वह संशोधन कर दिया गया कि रिज़र्व बैंक को विदेशी विनिमय बेचना और खरीदना होगा और इस बारे में बेचने तथा खरीदने की दरें तथा और शर्तें भारत-सरकार समय-समय पर तय करेगी।

रिज़र्व बैंक की अन्य विशेषतायें :—यह तो हम ऊपर ही कह आये हैं कि रिज़र्व बैंक की पहली विशेषता यह है कि वह दो विभागों में विभक्त है (१) नोट विभाग (Issue Department) और दूसरा बैंकिंग विभाग (Banking Department)। इन दोनों विभागों के सम्बन्ध में आगे लिखेंगे। इस विशेषता के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक की नीचे लिखी विशेषतायें उल्लेखनीय हैं।

(१) कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department)—रिज़र्व बैंक ऐक्ट के अनुसार रिज़र्व बैंक को बाधित रूप में एक कृषि साख विभाग स्थापित करना पड़ा है। इस विभाग के नीचे लिखे कार्य हैं:—कृषि साख के सम्बन्ध में खोज करने के लिए और आवश्यकता पड़ने पर कृषि साख के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए कृषि साख के विशेषज्ञों को नियुक्त करना। जब कभी भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारों, प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकों को कृषि साख के सम्बन्ध में कुछ परामर्श लेना होता है तो वे रिज़र्व बैंक के कृषि साख विभाग, रिज़र्व बैंक तथा सहकारी बैंकों के सम्बन्धों को निर्धारित करता है और रिज़र्व बैंक की कृषि साख नीति (Agricultural Credit Policy) को निर्धारित करता है।

(२) रिज़र्व बैंक और इम्पीरियल बैंक का सम्बन्ध—रिज़र्व बैंक ने इम्पीरियल बैंक को अपना एक मात्र एजेंट (Sole Agent) बना दिया है। रिज़र्व बैंक ऐक्ट में इसका विधान है। जो समझौता हुआ है उसके अनुसार १५

वर्षों के लिए इम्पीरियल बैंक को एक मात्र एजेंट बना दिया गया है। जहाँ-जहाँ इम्पीरियल बैंक की ब्रांच है, और रिज़र्व बैंक का ब्रांच नहीं है, वहाँ-वहाँ इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक के एजेंट का काम करता है।

इस सेवा के उपलक्ष्य में रिज़र्व बैंक इम्पीरियल बैंक को मार्च १९४५ तक नीचे लिखे अनुसार कमीशन देता था। २५० करोड़ रुपये तक एक प्रतिशत का सोलहवाँ भाग अर्थात् सौ रुपये पर एक आना और २५० करोड़ रुपये के उपरान्त शेष पर एक प्रतिशत का बत्तीसवाँ भाग कमीशन दिया जाता था अर्थात् सौ रुपये पर दो पैसा। इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक के एजेंट की हैसियत से जितना सरकारी काम करता है उस पर यह कमीशन दिया जाता है। १ अप्रैल १९४५ से ३१ मार्च १९५० तक के लिए कमीशन की नई दरें कायम की गई जिनका आधार बैंक को इस काम में होने वाला वास्तविक व्यय था। १५ वर्ष की इस अवधि के उपरान्त पाँच वर्षों के लिए समझौता हुआ और कोई भी पक्ष पाँच वर्ष की सूचना देकर समझौते को भंग कर सकता है यह भी इस समझौते में था।

इसके अतिरिक्त इस समझौते का एक अंग यह भी था कि यदि इम्पीरियल बैंक की जितनी ब्रांचें रिज़र्व बैंक एक्ट के लागू होने पर खुली हुई थीं, कम से कम उतनी ब्रांचें खोले रखता है तो पहले पाँच वर्षों में ६ लाख वार्षिक और तीसरे पाँच वर्षों में ४ लाख वार्षिक रुपये रिज़र्व बैंक इम्पीरियल बैंक को देगा।

शिड्यूल बैंकों की डिपाजिट—जिन बैंकों की चुकता पूँजी (Paid up Capital) और सुरक्षित कोष (Reserves) पाँच लाख रुपये से अधिक हो वह रिज़र्व बैंक एक्ट की दूसरी शिड्यूल में सम्मिलित किया जा सकता है अर्थात् शिड्यूल बैंक बन सकता है। रिज़र्व बैंक साख (Credit) पर नियन्त्रण स्थापित कर सके इस उद्देश्य से प्रत्येक शिड्यूल बैंक को अपना चालू जमा (Current Deposits) का पाँच प्रतिशत और मुद्दती जमा (Fixed Deposits) का २ प्रतिशत रिज़र्व बैंक के पास रखना होता है। यदि कोई शिड्यूल बैंक इस शर्त को पूरा न करे तो उसको दंड देना पड़ता है। निर्धारित प्रतिशत से जिस बैंक का रिज़र्व बैंक के पास कम कोष रहता है उसको कमी पर प्रचलित रिज़र्व बैंक रेट से प्रतिशत अधिक सूद देना पड़ता है। और यदि शिड्यूल-बैंक अगला लेखा (Return) भेजने के दिन तक उस कमी को पूरा न कर सके तो बैंक रेट से कमी पर पाँच प्रतिशत अधिक सूद देना होता है। यदि उसके आगे लेखा भेजने के दिन तक वह कमी पूरी न हो तो रिज़र्व बैंक प्रतिदिन ५०० रु० जुर्माना कर सकता है और उस बैंक को और अधिक जनता से डिपाजिट लेने की मनाही कर सकता है। प्रत्येक शिड्यूल बैंक को प्रति सप्ताह रिज़र्व बैंक को एक लेखा (Return)

भेजना पड़ता है जिसमें नीचे लिखी बातों का उल्लेख रहता है। (१) बैंक की चालू जमा (Current Deposit) और मुद्दती जमा (Fixed Deposit) (२) बैंक के पास कितने मूल्य के नोट हैं। (३) बैंक के पास कितने रुपये और छोटे सिक्के हैं। (४) बैंक ने कितना ऋण दिया है और कितने मूल्य के बिल भुनाये हैं। (५) बैंक का कितना रुपया रिज़र्व बैंक में जमा है। इस लेखे को न भेजने पर प्रतिदिन १०० रु० के हिसाब से जुर्माना किया जा सकता है।

रिजर्व बैंक का लाभ और राजस्व कोष :—रिज़र्व बैंक ऐक्ट (१९३४) में इस बात का उल्लेख कर दिया गया था कि रिजर्व बैंक अपने हिस्सेदारों को अधिक से अधिक ५ प्रतिशत लाभ दे सकता है, किन्तु लाभ कितना बाँटा जायेगा इसका निर्णय भारत-सरकार करेगी। आरम्भ में सरकार ने ३½ प्रतिशत लाभ बाँटने की अनुमति दी थी, किन्तु १९४३ से रिजर्व बैंक अपने हिस्सेदारों को ४ प्रतिशत लाभ बाँटता रहा। हिस्सेदारों के बाँटने के उपरान्त जो भी लाभ शेष रहता वह सरकार को दे दिया जाता था। ऐक्ट में यह विधान था कि जब तक रक्षित कोष (Reserve Fund) पूँजी के बराबर न हो जावे तब तक कम से कम ५० लाख रुपया रक्षित कोष में प्रतिवर्ष रक्खा जावेगा। यदि लाभ इतना न हो तो हिस्सेदारों को बाँटने के उपरान्त जो भी लाभ शेष बचे सब रक्षित कोष में रख दिया जावे। जब रक्षित कोष पूँजी के बराबर हो जाय तो सारा शेष लाभ सरकार को दे दिया जावे। १९३९ के पूर्व ही रिजर्व बैंक का रक्षित कोष पाँच करोड़ रुपये हो गया था अतएव उसके बाद हिस्सेदारों को लाभ बाँटने के उपरांत शेष लाभ सरकार को चला जाता था। १ जनवरी, १९४९ से रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से बैंक का सारा लाभ सरकार को ही मिलता है क्योंकि अब बैंक के सब हिस्से सरकार के पास आ गये हैं।

रिजर्व बैंक संशोधन एक्ट १९५१—नवंबर १९५० में रिज़र्व बैंक एक्ट का संशोधन करने के लिये भारतीय संसद में एक बिल पेश हुआ था, वह २७ अप्रेल, १९५१ को संसद में पास हो गया है। इस संशोधन के फल स्वरूप रिजर्व बैंक के कामों के बारे में नीचे लिखे परिवर्तन होंगे:—

(१) कृषि संबंधी बिल या प्रामिसरी नोट जो बैंक बेच, खरीद और भुना सकता है उनकी अवधि ९ महीने से बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है—अर्थात् जिन बिलों की मियाद १५ महीने के अन्दर-अन्दर समाप्त होती है उन्हें रिज़र्व बैंक खरीद, बेच और भुना सकेगा।

(२) सरकारी बैंकिंग कारोबार के संबंध में यह साफ कर दिया गया है कि 'बी' श्रेणी के राज्यों का रिज़र्व बैंक उस तरह से काम नहीं करेगा जैसे 'अ'

है, केन्द्रीय बैंक (Central Bank) को बैंकों की जमा या डिपाजिट पर भी नियंत्रण स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता।

भारत में क्रय-शक्ति (Purchasing Power) के तीन मुख्य रूप हैं। रुपये का सिक्का, कागज़ी मुद्रा अर्थात् करंसी नोट तथा बैंकों का जमा या बैंक डिपाजिट। इनमें रुपये का सिक्का अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, उसका व्यवहार अपेक्षाकृत कम ही है, अतएव भुगतान करने के मुख्य साधन या तो करंसी नोट हैं या वे बैंक डिपाज़िट (जमा) हैं जिन पर चेक काटे जा सकते हैं। इनमें भी चेकों का चलन तेज़ी से बढ़ रहा है। यद्यपि आज यह कहना कठिन है कि भारत में करंसी नोटों के चलने से चेकों का चलन अधिक है, फिर भी इनमें कोई संदेह नहीं कि चेकों का महत्त्व काफ़ी है और शीघ्र ही वह समय आने वाला है जबकि भारत में भी चेकों का चलन करंसी नोटों से बहुत अधिक बढ़ जावेगा।

यही कारण है कि रिज़र्व बैंक को करंसी पर पूरा नियंत्रण स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया है, अर्थात् रिज़र्व बैंक को कागज़ी मुद्रा अर्थात् करंसी नोट निकालने का अधिकार प्राप्त है। रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व करंसी नोट निकालने का कार्य तो सरकार करती थी और कुछ सीमा तक साख (Credit) का नियंत्रण इम्पीरियल बैंक के हाथ में था। भारतीय द्रव्य बाजार की यही दुर्बलता थी जो कि रिज़र्व बैंक की स्थापना के उपरान्त दूर हो गई। रिज़र्व बैंक को कानून द्वारा शिड्यूल बैंकों के बैलेंस को रखने का अधिकार दे दिया गया। इसके अतिरिक्त रिज़र्व बैंक के पास सरकारी कोष (Funds) भी रहता है तथा उसको सरकार का बैंकर होने का भी गौरव प्राप्त है। इन सुविधाओं से रिज़र्व बैंक को साख (Credit) पर नियंत्रण स्थापित करने में बहुत सुविधा होती है। इन अधिकारों और सुविधाओं के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक ऐक्ट में रिज़र्व बैंक को आवश्यकता पड़ने पर सीधे जनता से व्यवहार करने की आज्ञा दे दी गई है। ऐक्ट की धारा १८ के अनुसार यदि भारत के व्यापार-व्यवसाय और कृषि के हितों में यह आवश्यक प्रतीत हो, तो रिज़र्व बैंक सीधे बिलों को भुना सकता है और ऋण दे सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि रिज़र्व बैंक बिना शिड्यूल बैंक या प्रान्तीय सरकारी बैंक की दलाली या मध्यस्थता के खुले बाजार (Open Market) का कारबार कर सकता है। यह अधिकार रिज़र्व बैंक साधारणतः काम में नहीं लावेगा। यह असाधारण अवसरों पर ही काम में लाया जा सकता है।

रिज़र्व बैंक और साख का नियंत्रण—रिज़र्व बैंक साख (Credit) का नियंत्रण करने में कहाँ तक सफल हुआ है इसके निर्णय में एक कठिनाई यह

है कि यद्यपि रिज़र्व बैंक को स्थापित हुए इतने वर्ष हो गए किन्तु अभी तक उसकी साख नियन्त्रण शक्ति की परीक्षा होने का कभी अवसर नहीं आया। क्योंकि जब से रिज़र्व बैंक की स्थापना हुई है तब से अभी तक द्रव्य-बाज़ार में द्रव्य (Money) का टोटा नहीं पड़ा, द्रव्य की बहुतायत ही रही अतएव द्रव्य बाज़ार को रिज़र्व बैंक की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। अतएव हम केवल सैद्धान्तिक रूप से ही इस बात का विवेचना कर सकते हैं कि रिज़र्व बैंक साख (Credit) का नियन्त्रण करने में कहाँ तक सफल होगा।

भारतीय द्रव्य बाज़ार की कुछ विशेषतायें ऐसी हैं जो कि अन्य देशों में नहीं पाई जाती और उनसे यह सन्देह होने लगता है कि क्या रिज़र्व बैंक वास्तव में साख का नियन्त्रण करने में सफल होगा। पहली विशेषता तो यह है कि इम्पीरियल बैंक का भारतीय द्रव्य बाज़ार में अत्यधिक प्रभाव है, किन्तु जैसा हम आगे देखेंगे इम्पीरियल बैंक के इस अत्यधिक प्रभाव से रिज़र्व बैंक का प्रभाव कम नहीं होता। इम्पीरियल बैंक की भारतीय द्रव्य बाज़ार (Indian Money Market) में विशेष परिस्थिति के कारण साख के नियन्त्रण की यहाँ एक नई पद्धति का आविर्भाव हुआ जो रिज़र्व बैंक और द्रव्य बाजार के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

भारतीय द्रव्य बाजार की दूसरी विशेषता है कि यहाँ विनिमय बैंकों (एक्सचेंज बैंकों) का एक ऐसा प्रभावशाली समूह है कि जो यदि चाहे तो रिज़र्व बैंक की साख नीति (Credit Policy) को असफल कर दे सकता है, क्योंकि उनकी लन्दन-द्रव्य बाजार में सीधी पहुँच है। किन्तु अब जैसी राजनैतिक स्थिति है एक्सचेंज बैंकों का यह साहस नहीं हो सकता है कि वे रिज़र्व बैंक की भारतीय हितों की दृष्टि से निर्धारित नीति के विरुद्ध कार्य करेंगे, क्योंकि ऐसा करने से उनके विरुद्ध सरकार को कार्यवाही करना पड़ सकता है। अस्तु, एक्सचेंज बैंकों तथा रिज़र्व बैंक में संघर्ष होने की सम्भावना नहीं है। यों भी रिज़र्व बैंक तथा एक्सचेंज बैंकों का संघर्ष तभी खड़ा हो सकता है कि जब रिज़र्व बैंक साख को कम करने का प्रयत्न करें, किन्तु भारत की स्थिति यह है कि यहाँ साख का विस्तार करने की ही अधिक आवश्यकता है।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि भारत जैसे देश में जहाँ कि द्रव्य-बाजार असंगठित है, रिज़र्व बैंक का प्रभाव नहीं पड़ सकता है। किन्तु भारत में तथा अन्य देशों में जहाँ कि द्रव्य-बाजार संगठित नहीं है, वहाँ के अनुभव ने हम यह बतला दिया है कि ऐसी कोई सम्भावना नहीं है। अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया में वहाँ के केन्द्रीय बैंकों (Central Banks) का द्रव्य-बाजार पर पूरा प्रभाव पड़ता है।

भारतीय द्रव्य-बाजार पर रिज़र्व बैंक का प्रभाव इसी से ज्ञात होता है कि रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व बाजार में जो मौसमी द्रव्य की कमी पड़ती थी और बैंक की सूद की दर बहुत अधिक घटती-बढ़ती थी वह रिज़र्व बैंक की स्थापना के बाद दूर हो गई और वर्ष भर बैंक रेट एक समान रहती है। यही नहीं कि रिज़र्व बैंक की स्थापना के उपरान्त बैंक-रेट कम हो गई, साथ ही उसमें घटा-बढ़ी भी बहुत कम हो गई।

सूद की भिन्न दरों में भी कमी ही नहीं आई वरन् उनका आपसी अन्तर भी कम हो गया। इसका सम्भवतः एक कारण रिज़र्व बैंक की स्थापना है। रिज़र्व बैंक की स्थापना से भारत में बैंकों को प्रोत्साहन मिला है, बैंकिंग पद्धति में सुधार हुआ है और रिज़र्व बैंक के नियंत्रण और नेतृत्व के फल स्वरूप बैंकिंग को इस देश में उन्नति हुई है। सर्व-साधारण का शिड्यूल बैंकों पर अधिक विश्वास बढ़ा है और उनके कारण देश में चेक का अधिक प्रचलन हुआ है। रिज़र्व बैंक सरकारी हुंडियों (Treasury Bills) के बाज़ार का विस्तार करने का प्रयत्न कर रहा है। यदि वह इसमें सफल हुआ तो रिज़र्व बैंक का व्यापारिक बैंकों पर अधिकाधिक नियंत्रण स्थापित हो जावेगा।

रिज़र्व बैंक और इम्पीरियल बैंक—यह कहा जा सकता है कि इम्पीरियल बैंक का भारतीय द्रव्य-बाज़ार में इतना अधिक प्रभाव होने से रिज़र्व बैंक की प्रतिष्ठा को आघात पहुँच सकता है और उसके सफलतापूर्वक कार्य करने में बाधा उपस्थित हो सकती है। यदि इन दोनों महान् प्रभावशाली संस्थाओं के परस्पर सम्बन्ध अच्छे न होते तब ऐसी सम्भावना हो सकती थी, किन्तु भाग्यवश ऐसी कोई भी सम्भावना नहीं है। दो बैंकों के आपसी सम्बन्ध बहुत अच्छे हैं और दोनों ही अपने कर्तव्यों और कार्यों को भले प्रकार समझते हैं। यदि रिज़र्व बैंक आवश्यकता पड़ने पर साख (Credit) का निर्माण करता है तो इम्पीरियल बैंक उसका थोक व्यापारी (Wholesale Dealer) बनकर उसे व्यापारिक बैंकों को बेचता है और व्यापारिक बैंक उसे जनता के हाथ बेचते हैं। यद्यपि शिड्यूल बैंक रिज़र्व बैंक से सीधे ऋण ले सकते हैं, किन्तु दो कारणों से वे इम्पीरियल बैंक के पास आर्थिक सहायता के लिये जाना अधिक पसन्द करते हैं। पहला कारण तो यह है कि इम्पीरियल बैंक तथा व्यापारिक बैंकों का बहुत पुराना सम्बन्ध स्थापित है, दूसरे रिज़र्व बैंक से ऋण तथा आर्थिक सहायता प्राप्त करने में इम्पीरियल बैंक की अपेक्षा कठिनाइयाँ अधिक हैं। इम्पीरियल बैंक ऋण अथवा आर्थिक सहायता देने में कानूनी बन्धनों से इतना अधिक जकड़ा नहीं है जितना कि रिज़र्व बैंक। यदि इम्पीरियल बैंक को, किसी व्यापारिक बैंक

भी आर्थिक स्थिति अच्छी है ऐसा विश्वास हो जाय, तो वह ऋण देने में अधिक उदार हो सकता है।

रिज़र्व बैंक और बाज़ार मार्केट—अभी तक हमने रिज़र्व बैंक का सङ्गठित-द्रव्य बाजार पर किस प्रकार नियन्त्रण हो सकता है इसका उल्लेख किया। जहां तक बाज़ार-मार्केट का सम्बन्ध है यह स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक का उस पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ सकता। जब तक कि देशी बैंकर तथा साहूकार अपना व्यापार पद्धति को नहीं बदलते तब तक रिज़र्व बैंक उनकी कोई सहायता नहीं कर सकता और न वे रिज़र्व बैंक के नियन्त्रण में ही आ सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि रिज़र्व बैंक के पास बाज़ार-मार्केट को साथ प्रभावित करने के साधन नहीं हैं तो वह उस पर बिल्कुल प्रभाव नहीं डाल सकता। हम सभी जानते हैं कि देशी बैंकरों को जो कि बाज़ार मार्केट में कारबार करते हैं परिस्थिति से विवश होकर इम्पीरियल बैंक तथा व्यापारिक बैंकों से ऋण या आर्थिक सहायता लेना पड़ता है। वे अपने बिलों को इन बैंकों में भुनाते हैं और स्वीकृत सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण लेते हैं। जहां तक उनके अपने बाजार की परिस्थितियों से विवश होकर सङ्गठित द्रव्य बाजार में सहायता के लिए आना पड़ता है वे रिज़र्व बैंक के अप्रत्यक्ष प्रभाव में आते हैं। इसके अतिरिक्त पिछले दिनों में इम्पीरियल हुण्डी रेट और बाजार रेट में जो समानता दृष्टिगोचर होती है वह इस बात को बतलाती है कि दोनों बाजारों में सम्बन्ध बढ़ रहा है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि रिज़र्व बैंक का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

साख के नियन्त्रण के उपाय—केन्द्रीय बैंक (Central Bank) साख (Credit) का नियन्त्रण करने के लिए दो उपाय काम में लाता है। एक तो बट्टा दर (Discount rate) को घटा-बढ़ा कर केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण करता है, दूसरे खुले बाजार में व्यवहार (Open Market Operations) करके। हम यहां रिज़र्व बैंक के सम्बन्ध में इन दोनों उपायों का उल्लेख करेंगे।

● बट्टा दर (Discount Rate)—बट्टा दर प्रभावशाली है अथवा नहीं यह केवल उसके स्तर (Level) से ही नहीं जाना जा सकता वरन् इसका निर्णय करने में हम यह भी देखना चाहिये कि रिज़र्व बैंक की दृष्टि में कौन से व्यापारिक पत्र (Commercial Papers) भुनाने के तथा ऋण के आधार स्वरूप स्वीकार किये जाने के योग्य हैं और उन व्यापारिक पत्रों (Commercial Papers) का द्रव्य-बाजार में क्या महत्त्व है।

जहाँ तक कि बट्टा दर [(Discount Rate) का प्रश्न है, रिज़र्व बैंक

की बट्टा दर—जब से वह स्थापित हुआ है—तीन प्रतिशत रही है, इस कारण यह कह सकना कठिन है कि रिज़र्व बैंक की बट्टा दर कहाँ तक प्रभावशाली है।

जहाँ तक रिज़र्व बैंक को कुछ व्यापारिक पत्रों (Commercial Papers) को भुनाने और उनके आधार पर ऋण देने का अधिकार प्राप्त है उसका हम दो दृष्टियों से अध्ययन कर सकते हैं। पहला तो यह कि रिज़र्व बैंक इस अधिकार का उपयोग साख का नियंत्रण करने के लिए कर सकता है। दूसरे यह कि रिज़र्व बैंक व्यापारिक बैंकों की आड़े समय में केवल उन्हीं व्यापारिक पत्रों (अर्थात् बिलों और सिक्यूरिटियों) को स्वीकार करके आर्थिक सहायता कर सकता है। व्यापारिक बैंकों को आड़े समय में आर्थिक सहायता करने के सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक ने अपनी नीति को स्पष्ट कर दिया है। वह इस प्रकार है :—

यद्यपि रिज़र्व बैंक-ऐक्ट के अनुसार रिज़र्व बैंक कुछ सिक्यूरिटियों (जिनके सम्बन्ध में पहले कह आये हैं) के विरुद्ध व्यापारिक बैंक को साख देकर उनकी सहायता कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह किसी भी बैंक को, जो स्वीकार योग्य व्यापारिक पत्र तथा सिक्यूरिटी दे सके उसे ऋण देने या आर्थिक सहायता करने पर विवश है। रिज़र्व बैंक किसी भी बैंक को आर्थिक सहायता देते समय इस बात का ध्यान रक्खेगा कि उस बैंक ने अपना रुपया ठीक जगह लगाया है अथवा नहीं, अथवा वह आवश्यकता से अधिक सूद देकर तो डिपाजिट आकर्षित नहीं करता है? क्या वह, जब बाजार में यथेष्ट कोष (Funds) होता है तब भी रिज़र्व बैंक से सहायता चाहता है और क्या वह सट्टे (Speculation) के लिए साख देता रहा है? कहने का तात्पर्य यह है कि रिज़र्व बैंक किसी बैंक की आर्थिक सहायता, स्वीकार योग्य बिल या सिक्यूरिटी लेकर, तभी करेगा जब उसे विश्वास होगा कि सहायता माँगने वाले बैंक ने बैंकिंग के सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं की है और उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी है।

खुले बाजार व्यवहार (Open Market Operations)—बट्टा दर को अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से रिज़र्व बैंक को खुले बाजार के व्यवहार करने का भी अधिकार दे दिया गया है। संक्षेप में खुले बाजार के व्यवहारों से अर्थ यह है कि रिज़र्व बैंक सरकारी सिक्यूरिटियों को खरीद और बेच कर व्यापारिक बैंक के नकद कोष (Cash Balances) में वृद्धि या कमी करता है और इस प्रकार वह व्यापारिक बैंकों को अप्रत्यक्ष रूप से साख का अधिक निर्माण करने या साख को कम करने पर विवश करता है। रिज़र्व बैंक

करेंगे। केन्द्रीय बोर्ड का संगठन इस प्रकार का होगा :—

(अ) एक गवर्नर तथा दो डिप्टी गवर्नर केन्द्रीय सरकार नियुक्त करेगी।

(क) चार डायरेक्टर चारों स्थानीय बोर्डों में से केन्द्रीय सरकार मनोनीत करेगी।

(ख) ६ डायरेक्टर केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किए जावेंगे।

(ग) एक सरकारी कर्मचारी सरकार मनोनीत करेगी।

स्थानीय बोर्डों में प्रत्येक में पाँच डाइरेक्टरों की नियुक्ति पाँच साल की बजाय अब चार साल के लिये ही होगी, जिन्हें केन्द्रीय सरकार नियुक्त करेगी। स्थानीय बोर्ड चार होंगे।

केन्द्रीय सरकार बैंक के गवर्नर की सलाह से बैंक को उचित परामर्श देगी जो कि बैंक के हित में हो।

देश की बैंकिंग व्यवस्था को रिज़र्व बैंक से सहायता—प्रायः कई नहीं जानने वाले लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि रिज़र्व बैंक की नीति दूसरे बैंकों के बारे में सहानुभूति की नहीं रहती है। जब शिड्यूल बैंक या कोपरेटिव बैंकों को आवश्यकता होती है या वे किसी कठिनाई में होते हैं तो बैंक उनकी पूर्ण सहायता नहीं करता। पर वास्तव में बैंक पर इस प्रकार का दोष लगाना ठीक नहीं है। पिछले दस वर्षों में रिजर्व बैंक ने शिड्यूल बैंकों को डूबने से बचाने के लिये जो भी प्रयत्न वह कर सकता था बराबर किया है। बैंक शिड्यूल बैंकों या कोपरेटिव बैंकों को ट्रस्टी सिक्यूरिटियों के आधार पर ऋण दे सकता है। और जब जब ऐसा अवसर आया है बैंक ने बराबर सहायता की है। १९४८ में २१·२५ करोड़ और १९४९ में ३४·७५ करोड़ रुपये इस प्रकार रिज़र्व बैंक ने शिड्यूल बैंकों को एडवांस के रूप में दिये। कोपरेटिव बैंकों को १९४८ में १·२२ करोड़ और १९४९ में ६·१६ करोड़ रुपया ट्रस्टी सिक्यूरिटीज़ के आधार पर एडवांस किया गया था। १९३७ से १९४७ तक केवल १९४६ को छोड़कर बाकी के वर्षों में बैंक से शिड्यूल बैंकों और कोपरेटिव बैंकों ने बहुत कम सहायता ली क्योंकि रुपये की बाज़ार में कोई तंगी नहीं थी। उपर्युक्त १० वर्षों में कुल ४२·४८ करोड़ रुपये रिज़र्व बैंक ने सहायता के रूप में दिये जिसमें २५·०२ करोड़ केवल १९४६ में ही दिये गये थे। पर १९४८ और १९४९ में रुपये की तंगी होने से बैंक ने काफी सहायता की। बैंक से अधिकांश सहायता थोड़े समय के लिये ही ली गई है। ऐसी सहायता जो रुपये की भारी मांग को पूरा करने के लिए ली गई है बहुत थोड़ी रही है। आपत्ति के समय या कृषि सहायता के लिए दिये गए रुपयों पर रिज़र्व बैंक ब्याज भी २% से

खुले बाजार में किस प्रकार की सिक्यूरिटियां (प्रतिभूति) की खरीद बिक्री कर सकता है उनका एक्ट में उल्लेख कर दिया गया है।

अन्य उपाय—ऊपर लिखे दो मुख्य उपायों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक को जनता से सीधा कारबार करने का भी अधिकार है। किन्तु इस अधिकार को रिजर्व बैंक विशेष अवस्था में ही काम में ला सकता है। जनता सीधे अपने बिलों को रिजर्व बैंक से भुना सकती और स्वीकार योग्य सिक्यूरिटी पर आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकती है। इस अधिकार के फल स्वरूप रिजर्व बैंक का व्यापारिक बैंकों पर बहुत अधिक प्रभाव स्थापित हो गया है। यदि व्यापारिक बैंक रिजर्व बैंक के द्वारा निर्धारित नीति के विरुद्ध आचरण करते हैं तो रिजर्व बैंक उस अधिकार का उपयोग कर सकता है। अतएव व्यापारिक बैंक कभी रिजर्व बैंक की नीति के विरुद्ध आचरण करने का कभी साहस ही नहीं हो सकता।

अन्य उपायों में साख का राशनिंग करना तथा सदस्य बैंकों या शिड्यूल बैंकों के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करने का इस देश में अधिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि व्यापारिक बैंक रिजर्व बैंक से अधिक ऋण नहीं लेते। विज्ञापन (Publicity) का संयुक्त राज्य अमेरिका में साख को नियंत्रित करने में सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है, किन्तु भारत में इसका अधिक उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापारिक बैंक रिजर्व बैंक से अधिकतर ऋण नहीं लेते। हाँ, रिजर्व बैंक का नैतिक प्रभाव अवश्य कारगर हो सकता है। जैसे-जैसे रिजर्व बैंक भारत के व्यापारिक बैंकों के अधिक सम्पर्क में आता जायगा वह अपना नैतिक प्रभाव उनके कारबार पर डालने में सफल होगा और व्यापारिक बैंक रिजर्व बैंक को साख सम्बन्धी नीति को स्वत स्वीकार कर लेंगे।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—कुछ समय से भारतवर्ष में यह विवाद चल रहा था कि रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए अथवा नहीं। अन्त में सरकार ने रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और ३ सितम्बर १९४८ को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी बिल पास होने पर यह विवाद समाप्त हो गया।

१ जनवरी १९४९ से रिजर्व बैंक की नवीन व्यवस्था हो गई। भारत सरकार ने रिजर्व बैंक के सारे हिस्से ११८ रुपये १० आना प्रति हिस्से के हिसाब से खरीद लिए और इस प्रकार रिजर्व बैंक भारत सरकार का बैंक हो गया। हिस्सों के एवज में भारत सरकार ने कुछ तो नकद दिया और कुछ ३ प्रतिशत ब्याज के प्रोमिसरी नोट दिये गये।

बैंक की व्यवस्था और प्रबन्ध पहले की ही भाँति केन्द्रीय तथा स्थानीय व

रुपया जमा करते हैं।

पोस्ट ऑफिस सेविंग्स-बैंक में अधिक से अधिक पांच हजार रुपये जमा किये जा सकते हैं। पहले यह नियम था कि एक वर्ष में कोई ७५० रु० से अधिक जमा नहीं कर सकता था किन्तु अब यह बंधन हटा दिया गया है। कोई भी व्यक्ति ५ हजार रुपये तक एक बार में जमा कर सकता है। कम से कम दो रुपये जमा किये जा सकते हैं। सेविंग्स बैंक में अब दो सौ रुपये से कम पर २॥ प्रतिशत और २०० रुपये से ऊपर २ प्रतिशत सूद दिया जाता है। कोई भी व्यक्ति रुपया जमा कर सकता है। रुपया एक सप्ताह में केवल एक बार निकाला जा सकता है।

भारतवर्ष में पोस्ट ऑफ़िस सेविंग्स बैंक की स्थापना १८८२ में हुई। तब से उसमें जमा करने वालों की संख्या तथा जमा किया हुआ रुपया बराबर बढ़ता ही गया। पहले महायुद्ध के आरम्भ होने पर (१६१४-१५) अवश्य लोगों में घबराहट फैल गई और लोगों ने करोड़ों रुपया निकाल लिया, परन्तु शीघ्र ही लोगों में विश्वास फिर लौट आया और डिपाज़िट बढ़ने लगीं। १६३०-३१ में आर्थिक मंदी के कारण जितना रुपया जमा हुआ उससे अधिक रुपया निकाला गया किन्तु फिर डिपाज़िट की वृद्धि होने लगी। ३१ मार्च १६३८ में ३७'६ करोड़ जमा करने वाले थे और ७७'५ करोड़ रुपये की डिपाज़िट थी। जब दूसरा महायुद्ध आरंभ हुआ और फ्रांस का पतन हो गया तो जनता में फिर घबराहट फैली और लोगों ने अपना रुपया निकालना आरम्भ कर दिया, किन्तु शीघ्र ही लोगों में विश्वास लौट आया और डिपाज़िटों में वृद्धि होने लगी।

पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में सुधार—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी की सम्मति थी कि अधिकतम जमा करने की सीमा पाँच हज़ार से बढ़ा कर दस हज़ार रुपये कर देनी चाहिये। कुछ चुने हुए पोस्ट आफिसों में सेविंग्स बैंक हिसाब से चेक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा प्रदान करना चाहिए और क्रमशः अधिकाधिक पोस्ट आफिसों में इस प्रकार की सुविधा दे देना चाहिए। इसके अतिरिक्त सेविंग्स बैंक हिसाब को संयुक्त नामों से खोले जाने की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए। रुपया जमा करने वालों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत कर दें कि जो उनकी मृत्यु के उपरान्त उसका मालिक हो। इससे यह झंझट नहीं रहेगा कि रुपया जमा करने वाले का उत्तराधिकारी अपने अधिकार को प्रमाणित करे। ऊपर लिखे सुधारों की आवश्यकता तो केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने भी बतलाई किन्तु हम यहाँ नीचे अन्य सुधारों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं—

कम लेता है। २% और कोऑपरेटिव बैंकों को १½% सूद पर भी रिज़र्व बैंक रुपया एडवांस करता है।

इसके अलावा रिज़र्व बैंक ने आगे होकर एक्ट में भी १९४७ में यह संशोधन करवा लिया है कि किसी संकट की स्थिति में बैंक को इस बात की पूरी आज़ादी रहे कि वह जिस प्रकार की सिक्यूरिटी के आधार पर रुपया एडवांस करे और दूसरी सिक्यूरिटी की शर्तें उस पर ऐसे अवसरों पर लागू न हों। एक्सचेंज बैंक और [illegible] इंडिया और [illegible] लि० को [illegible] इसी आधार पर सहायता दी [illegible] बैंक टूटने से बचाया जा सका।

[illegible] मालगोदामों की [illegible] गुंजाइश—बढ़ाने का एक उपाय यह है कि देश में गोदामों की उचित व्यवस्था हो ताकि उनमें माल जमा कराकर उनकी रसीद के आधार पर रिज़र्व बैंक से रुपया एडवांस कराया जा सके, जो कि कानून से संभव है। क्योंकि रिज़र्व बैंक शिड्यूल्ड बैंकों को उनके डिमांडप्रोमिसरी नोट के आधार पर उस दशा में एडवांस दे सकता है जब ऐसे प्रोमिसरी नोटों के साथ 'डॉक्यूमेंट ऑफ टाइटल टु गुड्स' हों। गोदाम की रसीद इस प्रकार का डॉक्यूमेंट का काम दे सकती है। रूरल बैंकिंग कमेटी ने भी यह सिफ़ारिश की है कि केन्द्रीय सरकार, राज्य की सरकार और रिज़र्व बैंक मिलकर 'वेयर हाउस डेवेलपमेंट बोर्ड' बनायें जो गोदाम बनाने के लिये बैंकों आदि को सहायता दे।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक ने देश की बैंकिंग व्यवस्था की अपनी शक्ति भर सहायता की है। आगे भी वह ऐसा ही करेगा, इसमें कोई शंका नहीं है।

६ पोस्टऑफिस, ऋण कार्यालय फंड (Loan Offices) निधि, तथा चिट फंड पोस्टऑफिस सेविंग्स बैंक—पोस्टऑफिस भी भारत में सेविंग्स बैंक का कारबार करते हैं और इस प्रकार वे भी द्रव्य बाज़ार के एक अंग हैं। पोस्टऑफिस निम्नलिखित बैंकिंग कार्य करते हैं। वे सेविंग्स बैंक का काम करते हैं, कैश सर्टिफिकेट बेचते हैं, नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट देते हैं, सरकारी सिक्यूरिटियों की खरीद और बिक्री करते हैं तथा जीवन बीमा करते हैं।

सभी हेड पोस्टऑफिसों में, सब पोस्टऑफिसों में तथा बहुत से ब्रांच पोस्टऑफिसों में सेविंग्स बैंक का काम होता है। इनका मुख्य उद्देश्य किसानों, मजदूरों तथा मध्यम श्रेणी के लोगों में मितव्ययिता की भावना जाग्रत करना है। किन्तु पोस्टऑफिस सेविंग्स बैंकों में अधिकांश मध्यम श्रेणी के ही व्यक्ति अपनी बचत जमा करते हैं। इनमें अधिकतर सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी कर्मचारी, वकील, डाक्टर, अध्यापक तथा अन्य पेशे वाले लोग ही अपना

रुपया जमा करते हैं।

पोस्ट ग्रफिस सेविंग्स-बैंक में ग्रधिक से ग्रधिक पांच हज़ार रुपये जमा किये जा सकते हैं। पहले यह नियम था कि एक वर्ष में कोई ७५० रु० से ग्रधिक जमा नहीं कर सकता था किन्तु ग्रब यह बंधन हटा दिया गया है। कोई भी व्यक्ति ५ हज़ार रुपये तक एक बार में जमा कर सकता है। कम से कम दो रुपये जमा किये जा सकते हैं। सेविंग्स बैंक में ग्रब दो सौ रुपये से कम पर १॥ प्रतिशत ग्रौर २०० रुपये से ऊपर २ प्रतिशत सूद दिया जाता है। कोई भी व्यक्ति रुपया जमा कर सकता है। रुपया एक सप्ताह में केवल एक बार निकाला जा सकता है।

भारतवर्ष में पोस्ट ग्राफ़िस सेविंग्स बैंक की स्थापना १८८२ में हुई। तब से उसमें जमा करने वालों की संख्या तथा जमा किया हुग्रा रुपया बराबर बढ़ता ही गया। पहले महायुद्ध के ग्रारम्भ होने पर (१९१४-१५) ग्रवश्य लोगों में घबराहट फैल गई ग्रौर लोगों ने करोड़ों रुपया निकाल लिया, परन्तु शीघ्र ही लोगों में विश्वास फिर लौट ग्राया ग्रौर डिपाज़िट बढ़ने लगी। १९३०-३१ में ग्रार्थिक मंदी के कारण जितना रुपया जमा हुग्रा उससे ग्रधिक रुपया निकाला गया किन्तु फिर डिपाज़िट की वृद्धि होने लगी। ११ मार्च १९३९ में ३७'९ करोड़ जमा करने वाले थे ग्रौर ७७'५ करोड़ रुपये की डिपाज़िट थी। जब दूसरा महायुद्ध ग्रारंभ हुग्रा ग्रौर फ्रांस का पतन हो गया तो जनता में फिर घबराहट फैली ग्रौर लोगों ने ग्रपना रुपया निकालना ग्रारम्भ कर दिया, किन्तु शीघ्र ही लोगों में विश्वास लौट ग्राया ग्रौर डिपाज़िटों में वृद्धि होने लगी।

पोस्ट ग्राफिस सेविंग्स बैंक में सुधार—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी की सम्मति थी कि ग्रधिकतम जमा करने की सीमा पाँच हज़ार से बढ़ा कर दस हज़ार रुपये कर देनी चाहिये। कुछ चुने हुए पोस्ट ग्राफिसों में सेविंग्स बैंक हिसाब में चेक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा प्रदान करना चाहिए ग्रौर क्रमशः ग्रधिकाधिक पोस्ट ग्राफिसों में इस प्रकार की सुविधा दे देना चाहिए। इसके ग्रतिरिक्त सेविंग्स बैंक हिसाब को संयुक्त नामों में खोले जाने की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए। रुपया जमा करने वालों को यह ग्रधिकार होना चाहिए कि वे ग्रपने उत्तराधिकारी को मनोनीत कर दें कि जो उनकी मृत्यु के उपरान्त उसका मालिक हो। इससे यह झंझट नहीं रहेगा कि रुपया जमा करने वाले का उत्तराधिकारी ग्रपने ग्रधिकार को प्रमाणित करे। ऊपर लिखे सुधारों की ग्रावश्यकता तो केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने भी बतलाई किन्तु हम यहाँ नीचे ग्रन्य सुधारों की ग्रोर ध्यान दिलाना ग्रावश्यक समझते हैं—

(१) उन पोस्ट आफिसों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए कि जहाँ सेविंग्स बैंक हिसाब खोला जा सके। यदि इस प्रकार के पोस्टआफिसों को पूरे सप्ताह भर खोलना लाभदायक न हो तो वहाँ वे कम से कम सप्ताह में दो बार खोले जावें।

(२) स्कूल के अध्यापकों को इन पोस्ट आफिसों के चलाने के लिए उपयोग किया जावे।

(३) सप्ताह में कम से कम दो बार रुपया निकालने की सुविधा दी जावे और यदि सम्भव हो तो तीन बार रुपया निकाला जा सके। चेक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा देना आवश्यक है।

(४) हिसाब हिन्दी में अथवा जमा करने वाले की इच्छानुसार प्रान्तीय भाषा में रक्खा जावे।

(५) औद्योगिक केन्द्रों में—जहाँ मजदूर रहते हों वहाँ—कुछ पोस्टआफिस सेविंग्स बैंक ऐसे स्थापित किये जावें कि जहाँ साधारण बैंक का काम सायंकाल को हो सके और मजदूर तथा छोटे दुकानदार उनका उपयोग कर सकें।

यदि इस प्रकार पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में आवश्यक सुधार हो जावें तो वे सर्वसाधारण में मितव्ययिता की भावना जाग्रत कर सकते हैं और उनका अधिकाधिक उपयोग हो सकता है। अभी उनकी कार्य-पद्धति में कुछ ऐसे दोष हैं कि जिनके कारण उनका अधिक उपयोग नहीं होता।

पोस्ट आफिस कैश सर्टिफिकेट तथा नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट—प्रथम महायुद्ध (१९१४ ई०) में पोस्टआफिसों ने कैश सर्टिफिकेट निकालना आरम्भ किये हैं। इन सर्टिफिकेटों को निकालने का उद्देश्य यह है कि जनता में रुपया बचाने की प्रवृत्ति बढ़े। कैश सार्टिफिकेटों में अधिकतर मध्यम श्रेणी के पेशेवर लोग तथा सरकारी और अर्द्ध सरकारी कर्मचारी अपनी बचत को लगाते हैं। कारण यह है कि इनमें सूद अच्छा मिलता है और जोखिम बिलकुल नहीं है। मध्यम श्रेणी के लोग अधिकतर पोस्टआफिस कैश सर्टिफिकेटों तथा नव प्रचालित नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेटों में ही अपना रुपया लगाते हैं। यह सर्टिफिकेट पाँच वर्ष के होते हैं और कोई व्यक्ति १०,००० रुपये से अधिक के सर्टिफिकेट नहीं रख सकता। कैश सर्टिफिकेट १० रु० से लेकर १ हजार रुपये तक के होते हैं। जब पाँच वर्ष के उपरान्त सर्टिफिकेट की अवधि समाप्त हो जाती है तो उसको जो रकम मिलती है उसमें और उस सर्टिफिकेट के खरीदने में जो मूल्य देना पड़ता है उसका अन्तर ही सूद होता है। इस पर आयकर नहीं देना पड़ता। १९३६ के पूर्व समय समय पर सर्टिफिकेटों की कीमत में इस प्रकार परिवर्तन किया जाता रहा है कि सूद की दर घटती गई। आरम्भ में ६ प्रतिशत

सूद मिलता था किन्तु १६३६ से सूद की दर २३ प्रतिशत चक्र व्याज की दर से रह गई है। यह सर्टिफिकेट समय पूरा होने से पहले भी भुनाए जा सकते हैं, किन्तु खरीदने के एक वर्ष के अन्दर भुनाने पर कोई सूद नहीं मिलता। दूसरे वर्ष से सूद की दर बढ़ती जाती है किन्तु पूरा सूद तभी मिलता है जब कि पाँच वर्ष समाप्त हो जावें।

सार्टिफिकेटों का आकर्षण सूद की दर के अनुसार कम होता या बढ़ता रहा है। दूसरे महायुद्ध के पूर्व कैश सर्टिफिकेटों का मध्यम श्रेणी की जनता को बहुत आकर्षण था, क्योंकि सूद अच्छा मिलता था और उन पर आयकर (Income-Tax) नहीं लिया जाता था। ३१ मार्च १६३६ को कैश सर्टिफिकेटों का मूल्य ६० करोड़ रुपये था। ३१ मार्च १६४३ को केवल ३५ करोड़ रुपये के कैश सर्टिफिकेट रह गए। इसका कारण यह था कि बहुत से लोग युद्ध के कारण भयभीत हो गए कि कहीं रुपया डूब न जावे। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने कैश सर्टिफिकेटों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए इस बात की सिफारिश की थी कि प्रत्येक व्यक्ति को जो कि सर्टिफिकेट खरीदे इस बात का अधिकार दिया जावे कि वह अपने मरने पर वह रुपया किसको मिले उसका नाम घोषित कर दे।

नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट—नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट द्वितीय महायुद्ध के समय निकाले गए थे। यह बारह वर्षों के लिए होते हैं। सर्टिफिकेट खरीदने वाला उन्हें कभी भी भुना सकता है किन्तु पहले ३ वर्षों में कोई सूद नहीं मिलता और उसके उपरान्त क्रमशः सूद की दर बढ़ती जाती है। १२ वर्ष पूर्ण हो जाने पर आरम्भ में लगाया हुआ रुपया ड्योढ़ा हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति १००० रुपया के कैश सर्टिफिकेट लेता है तो १२ वर्ष के उपरान्त उसको १५०० मिलेंगे। एक व्यक्ति २५ हजार रुपये से अधिक के नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट नहीं खरीद सकता। इन पर भी आय-कर नहीं लिया जाता। नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेटों पर सूद की दर अच्छी है तथा जोखिम बिलकुल नहीं है इस कारण मध्यम श्रेणी का व्यक्ति उनकी ओर अधिक आकर्षित होता है। यदि खरीदने वाले को यह सुविधा दे दी जावे कि वह अपना उत्तराधिकारी घोषित कर सके जिसे उसकी मृत्यु के उपरान्त रुपया दिया जावे तो यह और भी अधिक प्रचलित हो सकते हैं।

इन कार्यों के अतिरिक्त पोस्ट आफिस जनता के लिए सरकारी सिक्यूरिटियों (प्रतिभूति) को खरीदने और बेचने का काम भी करता है। इस कार्य के लिए पोस्ट आफिस कोई फीस नहीं लेता। किन्तु एक वर्ष में पोस्ट आफिस किसी

एक व्यक्ति के लिए ५,००० रु० से अधिक की सिक्यूरिटी नहीं खरीदेगा। कोई भी व्यक्ति चाहे तो सिक्यूरिटी स्वयं ले सकता है अथवा किसी अकाउन्टेन्ट जनरल की सुरक्षा में छोड़ सकता है। उसकी सिक्यूरिटियों को सुरक्षित रखने के लिए पोस्ट आफिस कुछ नहीं लेता।

इसके अतिरिक्त पोस्ट आफिस सरकार [illegible] म्युनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड तथा [illegible] के कर्मचारियों की पेंशन बांटने का काम भी करता है।

ऋण कार्यालय (Loan Office)—ऋण कार्यालय बंगाल की एक विशेष संस्था है। यह न तो [illegible] तथा मिश्रित पूंजी वाले बैंक (Joint Stock Bank) [illegible] की संस्था है। भारत के [illegible] प्रान्त में सन् १८६० ई० के आसपास मिश्रित पूंजी वाले व्यापारिक बैंकों की स्थापना हुई तब बंगाल में इन बैंकों का उदय हुआ। पहला ऋण कार्यालय (Loan Office) १८६५ में स्थापित हुआ। इनकी रजिस्ट्री कम्पनी एक्ट के अन्तर्गत होती है। यह अधिकतर वकीलों द्वारा स्थापित किए गए हैं और वे ही इनका संचालन करते हैं। इनकी संख्या लगभग [illegible]००० है तथा इनकी कार्यशील पूंजी [illegible]० करोड़ रुपये है। इनकी चुकता पूंजी (Paid up Capital) बहुत कम होती है। बहुत कम ऐसे ऋण दफ्तर हैं जिनकी चुकता पूंजी एक लाख से अधिक हो। यह अधिकतर डिपाजिटों पर निर्भर रहते हैं क्योंकि वे ऋण पत्र प्रधान डिबेंचर नहीं निकालते और जो [illegible] उनका रक्षित कोष (Reserve Fund) भी बहुत कम है। यह मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों से डिपाजिट लेते हैं। यह एक वर्ष से ७ वर्षों तक के लिए डिपाजिट लेते हैं और ४ से ८ प्रतिशत तक सूद देते हैं। अधिकतर डिपाजिट ५ वर्षों के लिये होता है।

यह ऋण कार्यालय मुख्यतः जमींदारों तथा उन किसानों को जिनका भूमि पर अधिकार है भूमि बंधक रखकर ऋण देते हैं। एक प्रकार से यह भूमि बंधक बैंक (Land Mortgage Bank) है। इसके अतिरिक्त यह जेवर रखकर भी ऋण दे देते हैं। परन्तु यह व्यापार या धंधों के लिये बहुत कम ऋण देते हैं। इनमें से कुछ व्यापार में भी अपना रुपया लगाते हैं। पुरानी कम्पनियाँ सुरक्षित ऋण पर १२ से १८ प्रतिशत सूद लेती हैं तथा अरक्षित ऋण (Unsecured debt) पर इससे भी अधिक सूद लिया जाता है। नई कम्पनियाँ तो बहुत सूद लेती हैं। यह कम्पनियाँ डिपाजिट आकर्षित करने के लिये दलाल रखती हैं और अत्यधिक सूद देती हैं। इनका प्रबन्ध ठीक नहीं है और वे अपना रुपया बहुत जोखिम के साथ लगाती हैं। यही कारण है कि अभी हाल ही में संकट में बहुत से बंगाली बैंक डूब गये क्योंकि वास्तव में वे ऋण कार्यालय ही थे।

निधि या चिट-फंड :—निधियाँ मदरास प्रान्त में पाई जाती हैं। आरम्भ में यह पारस्परिक ऋण देने वाली संस्थाओं के रूप में काम करती थीं, किन्तु क्रमशः वे अर्द्ध बैंकिंग संस्था बन गईं। इस समय मदरास प्रान्त में २९८ निधियाँ काम कर रही हैं। वे कम्पनी ऐक्ट के अन्तर्गत रजिस्टर्ड की गई हैं। वे या तो डिपाज़िट लेती हैं अथवा हिस्सा पूँजी के रूप में मासिक किश्तों में रुपया स्वीकार करती हैं जो कि निकाला जा सकता है। उनका मुख्य उद्देश्य सदस्यों में बचत की भावना जाग्रत करना है, उनके पुराने ऋण को चुकाना तथा महाजन के चंगुल से निकालना तथा उनको उत्तम ज़मानत पर सभी कार्यों के लिए ऋण देना है। यदि निधि के पास अधिक रुपया होता है जिसकी सदस्यों के लिए कोई ज़रूरत नहीं है, तो बाहर वालों को भी ऋण दे दिया जाता है। निधियों में डिपाज़िट आकर्षित करने पर ध्यान नहीं दिया जाता, क्योंकि वे अधिकतर रुपया हिस्सा पूँजी (Share-capital) के द्वारा प्राप्त करती हैं। निधियाँ सूद की दर पर ऋण देती हैं। साधारणतः वे ६½ प्रतिशत पर सदस्यों को ऋण देती हैं, परन्तु समय पर न चुकाये जाने वाले ऋण पर वे अधिक सूद लेती हैं और उससे उनको खूब लाभ होता है। मदरास बैंकिंग कमेटी का कथन था कि अधिकतर निधियों का संचालन और प्रबन्ध बहुत अच्छा था।

चिट-फंड—चिट-फंड थोड़े से लोगों का एक संगठन मात्र होता है जो एक दूसरे को रुपया उधार देने तथा बचत की भावना को जाग्रत करने के लिए स्थापित किया जाता है। यह अधिकतर मदरास प्रान्त में पाए जाते हैं। इनकी ठीक-ठीक संख्या तो किसी को ज्ञात नहीं किन्तु यह कई हज़ार होंगे। इसका विधान इस प्रकार होता है। कुछ लोग आपस में यह तय कर लेते हैं कि वे एक निश्चित रकम एक निश्चित समय पर अपने में से एक को दे दिया करेंगे। सदस्यों द्वारा पहली बार दिया हुआ रुपया चिट फंड को स्थापित करने वाले को उसकी सेवाओं के उपलक्ष्य में मिल जाता है। इसके उपरान्त प्रत्येक बार का रुपया या तो बारी बारी से प्रत्येक सदस्य को मिलता रहता है अथवा लाटरी डाल ली जाती है। उदाहरण के लिए १०० आदमी एक चिट फंड स्थापित करते हैं और प्रत्येक प्रति मास दस रुपये फंड को दे देता है, तो पहले महीने का रुपया तो चिट फंड के संस्थापक को मिल जावेगा और दूसरे महीने से १००० रु० या तो बारी-बारी से प्रत्येक सदस्य को मिलता रहेगा या लाटरी डाल दी जावेगी। जिस सदस्य को १००० रु० मिल गया उसको तब तक दुबारा रुपया नहीं मिल सकता जब तक बाकी सब सदस्यों को एक बार १००० रु० न मिल जावे। इससे एक लाभ यह होता है कि प्रत्येक सदस्य को एक मुश्त

१००० रु० मिल जाते हैं जबकि उसके लिए सम्भवतः इतना रुपया एक साथ इकट्ठा करना कठिन हो जाता। किन्तु कभी-कभी चिट फण्ड स्थापित करने वाले धोखा देते हैं और बेईमानी करते हैं तथा अन्य सदस्यों का रुपया मारा जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि इनका प्रबन्ध ठीक हो। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी का मत था कि निधियों तथा चिट फण्डों की ठीक व्यवस्था हो, इसके लिए एक कानून बना दिया जाय जिससे अन्तर्गत इनकी रजिस्ट्री हो।

७ भारतीय समाशोधन गृह, अथवा क्लियरिंग हाउस (Clearing House)—किसी भी देश में जब व्यापारिक बैंकों की स्थापना हो जाती है तो क्लियरिंग हाउस की आवश्यकता पड़ती है। बिना समाशोधन गृह (क्लियरिंग हाउस) के बैंकिंग व्यवसाय की उन्नति एक स्थान पर जाकर रुक जाती है। क्लियरिंग हाउस के होने वाले अनेकों लाभों को यहाँ गिनाना आवश्यक नहीं है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि क्लियरिंग हाउस की स्थापना से बैंक के कर्मचारियों को एक दूसरे से चैक तथा ड्राफ्ट इत्यादि का रुपया वसूल करने के लिए बार-बार जाना नहीं पड़ता, और न इन पुर्जों के भुगतान को नकद रुपयों में करना पड़ता है जिससे मार्ग में रुपया के लुट जाने का भय नहीं रहता। इसकी स्थापना से बैंकों को अधिक नकद कोष (Cash Balance) नहीं रखना पड़ता। क्लियरिंग हाउस की स्थापना से बैंक कम नकदी रखकर भी अपना काम चला सकते हैं। यह एक ऐसा लाभ है जिससे बैंकों की कार्यक्षमता बढ़ती है।

भारतवर्ष में नीचे लिखे स्थानों पर क्लियरिंग हाउस स्थापित हो चुके हैं और सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं—बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, देहली, मद्रास, आगरा, इलाहाबाद, अहमदाबाद, अमृतसर, कालीकट, कोयम्बटूर, देहरादून, जालंधर, लखनऊ, लायलपुर, मदुरा, मंगलोर, नागपुर, पटना, शिमला तथा बंगलौर हिन्दुस्तान में, तथा लाहौर, करांची, और रावलपिंडी पाकिस्तान में।

ऊपर की तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में अभी क्लियरिंग हाउस की सुविधा बहुत थोड़े से स्थानों पर है। यह बैंकिंग व्यवसाय के लिए अनिवार्य आवश्यकता है। आज अधिकांश बड़े शहरों में कई बैंक हैं परन्तु वहाँ क्लियरिंग हाउस स्थापित नहीं हुए हैं। रिजर्व बैंक को इस ओर खास ध्यान देना चाहिये। बनारस, मेरठ, बरेली, जबलपुर, जमशेदपुर, सूरत, पूना जैसे व्यापारिक नगरों में इतने अधिक बैंक होते हुए भी क्लियरिंग हाउस न होना किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता।

सदस्यता—प्रत्येक स्थान का क्लियरिंग एसोसियेशन एक स्वतन्त्र संस्था होती है और उसके अपने नियम होते हैं। परन्तु उक्त क्लियरिंग हाउस को छोड़

कर अधिकांश स्थानों की क्लियरिंग एसोशियेशनों ने यह नियम बना दिया है कि जिस बैंक की चुकता पूँजी (Paid up capital) पांच लाख रुपये हो वही उसका सदस्य हो सकता है। कलकत्ता तथा कुछ अन्य क्लियरिंग हाउसों का नियम यह है कि जिन बैंकों की चुकता पूँजी १० लाख रुपये हो वही उसके सदस्य हो सकते हैं। केवल यह शर्त पूरी हो जाने मात्र से ही कोई बैंक क्लियरिंग हाउस का सदस्य नहीं बन जाता। बैंक को क्लियरिंग हाउस के मंत्री को एक प्रार्थनापत्र देना पड़ता है जिसका प्रस्ताव और समर्थन क्लियरिंग हाउस के सदस्य ही कर सकते हैं। और जब तीन चौथाई सदस्य उस बैंक के पक्ष में अपना मत दें तभी वह बैंक सदस्य बन सकता है। इस नियम का परिणाम यह हुआ कि जिन व्यापारिक केन्द्रों में एक्सचेंज बैंक का प्रभाव तथा बहुमत था वहां भारतीय बैंकों को सदस्य बनने में बड़ी कठिनाई हुई। होना यह चाहिये कि सदस्यता के नियम तनिक सरल बना दिये जायँ। जो भी शिड्यूल बैंक हों उन्हें क्लियरिंग हाउस का सदस्य स्वीकार कर लिया जावे।

उप-सदस्य—जो बैंक ऊपर की शर्तों को पूरा नहीं करते हैं अर्थात् जिनकी चुकता पूँजी १० लाख या ५ लाख से कम है और उनकी ब्रांच उस केन्द्र में है जहाँ क्लियरिंग हाउस है तो वे उप-सदस्य बनने की प्रार्थना कर सकते हैं। ऐसे बैंकों को एक प्रार्थनापत्र किसी सदस्य बैंक के द्वारा क्लियरिंग एसोसियेशन के मंत्री को देना होता है। जिस सदस्य बैंक के द्वारा प्रार्थनापत्र दिया जाता है उसे प्रवेशकर्ता बैंक (Sponsor Bank) कहते हैं। प्रवेशकर्ता बैंक (Sponsor Bank) को प्रार्थना करने वाले बैंक की ज़िम्मेदारी लेनी पड़ती है तब वह उप-सदस्य बना लिया जाता है।

प्रबन्ध—क्लियरिंग हाउस का प्रबन्ध एक प्रबन्धकारिणी समिति करती है जिसमें एक सदस्य रिज़र्व बैंक का (यदि वहां रिज़र्व बैंक की ब्रांच हो) एक सदस्य इम्पीरियल बैंक का तथा एक्सचेंज बैंक और मिश्रित पूँजी वाले बैंकों (Joint Stock Banks) के निर्धारित प्रतिनिधि होते हैं। बम्बई और कलकत्ता जैसे बड़े केन्द्रों के एक्सचेंज बैंकों का बहुत अधिक प्रतिनिधित्व और प्रभाव है।

निरीक्षक बैंक—(Supervising Bank) जहां रिज़र्व बैंक की ब्रांच है वहां तो रिज़र्व बैंक ही क्लियरिंग हाउस के निरीक्षक बैंक का काम करता है, और जहाँ रिज़र्व बैंक की ब्रांच नहीं होती वहाँ इम्पीरियल बैंक यह काम करता है। प्रत्येक सदस्य बैंक को निरीक्षक बैंक के पास एक निश्चित रकम जमा करनी पड़ती है। कलकत्ता और बम्बई को छोड़कर अन्य स्थानों पर दिन भर में केवल

एक बार निष्कासन (Clearing) होता है किन्तु बम्बई और कलकत्ता में दिन में दो बार निष्कासन होता है। अब हम नीचे कलकत्ता में निष्कासन (Clearing) किस प्रकार होता है उसका संक्षिप्त विवरण देंगे।

कलकत्ता क्लियरिंग हाउस—कलकत्ता के सदस्य तथा उप-सदस्य बैंकों के सब चेक, बिल, तथा प्रलेखों (Documents) का निष्कासन (Clearing) क्लियरिंग हाउस द्वारा होता है। किसी उप सदस्य बैंक को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने चेक या बिल इत्यादि सीधे क्लियरिंग हाउस को दे सके। उप-सदस्य के चेक इत्यादि उनके प्रवेशकर्ता बैंक (Sponsor Bank) के द्वारा ही क्लियरिंग हाउस को दिये जा सकते हैं। होता यह है कि प्रवेशकर्ता बैंक का प्रतिनिधि अपने बैंक के रजिस्टर में ही उप-सदस्य के चेक इत्यादि चढ़ा लेता है।

प्रत्येक सदस्य बैंक को क्लियरिंग हाउस में एक प्रतिनिधि रखना पड़ता है और उसे एक रजिस्टर देना पड़ता है जिसमें उन सब चेकों, बिलों और प्रलेखों (Documents) को वह दर्ज कर लेता है जो उसे अन्य बैंकों से प्राप्त होते हैं, अथवा वह अन्य बैंकों को देता है।

प्रत्येक सदस्य बैंक का प्रतिनिधि एक पृथक स्लिप पर उन सब चेकों, बिलों और प्रलेखों (Documents) का ब्यौरा तथा रकम लिख लेता है जो कि वह अन्य सदस्य बैंकों को देता है और उस रकम को वह सदस्य बैंकों के नाम रजिस्टर में लिख लेता है। तदुपरान्त प्रत्येक सदस्य बैंक का प्रतिनिधि दूसरे सदस्य बैंकों के प्रतिनिधियों को उन पर लिखे गये चेकों और बिलों इत्यादि का बंडल तथा उनके ब्यौरे की स्लिप दे देता है और वे अपने रजिस्टर में उनको दर्ज कर लेते हैं। स्लिपों को बिलों, चेकों तथा प्रलेखों से मिलाकर प्रत्येक प्रतिनिधि अपने रजिस्टर के दोनों कालमों को जोड़ लेता है। इससे उसे यह ज्ञात हो जाता है कि उसको अन्य सदस्य बैंकों को कुल कितना लेना है तथा उसके बैंक को अन्त में कितना देना या लेना है। इतना कर चुकने के उपरान्त वह रजिस्टर को क्लियरिंग हाउस के निरीक्षक को सौंप देता है।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि कलकत्ते में प्रतिदिन दो साधारण निष्कासन (Clearing) होते हैं परन्तु एक विशेष निष्कासन सायंकाल को और होता है जिसमें वापस किए हुए चेक, बिल तथा प्रलेखों का निष्कासन (Clearing) होता है और जिस बैंक के चेक इत्यादि वापस कर दिये जाते हैं उसको इतनी रकम देना पड़ता है।

कलकत्ते में जो बहुत से छोटे बैंक हैं और जिन्हें क्लियरिंग हाउस का सदस्य होने का गौरव प्राप्त नहीं है उन्होंने एक नई संस्था को जन्म दिया है जिसे

मेट्रोपालिटन-बैंकिंग एसोसियेशन कहते हैं। यह संस्था उन बैंकों के चेकों बिलों तथा प्रलेखों के निष्कासन (Clearing) की व्यवस्था करती है। उसमें दिन में केवल एक बार निष्कासन होता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में निष्कासन की व्यवस्था बहुत असंतोषजनक है और भविष्य में सभी केन्द्रों में क्लियरिंग हाउसों की स्थापना होना आवश्यक है। यही नहीं क्लियरिंग हाउस के सदस्य होने के लिये जो कड़ी शर्तें रख दी गई हैं उन्हें भी नरम करने की ज़रूरत है।

८—भारतीय द्रव्य-बाज़ार (Indian Money Market) भारतीय द्रव्यबाज़ार के भिन्न विभागों में घनिष्ठ सम्बन्ध का न होना:—भारतीय द्रव्य-बाज़ार को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—पहला आधुनिक या केन्द्रीय भाग कहलाता है और दूसरा देशी या बाज़ार भाग कहलाता है। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया, इम्पीरियल बैंक, मिश्रित पूँजी वाले बैंक तथा एक्सचेंज बैंक (विनिमय बैंक) आधुनिक या केन्द्रीय भाग के अन्तर्गत हैं और साहूकार, देशी बैंकर, ऋण कार्यालय, चिट फंड तथा निधी देशी या बाज़ार भाग के अन्तर्गत आते हैं। सहकारी बैंकों (Co-operative Banks) की स्थिति इन दोनों के बीच की है। भारतीय द्रव्य-बाज़ार के इन दोनों भागों में अपूर्ण सम्बन्ध है क्योंकि भारतीय बैंकिंग का संगठन अच्छा नहीं है और न एक दूसरे से वे अच्छी तरह सम्बद्ध ही हैं। १६३५ तक अर्थात् रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व तो उनको आपस में मिलाने वाला कोई केन्द्रीय बैंक भी नहीं था। द्रव्य-बाज़ार का केन्द्रीय भाग सरकार की मुद्रा नीति (Currency Policy) से बहुत अधिक प्रभावित रहता है और उसके द्वारा सरकार बैंक रेट (Bank Rate) पर भी प्रभाव डालती रही है। यही कारण है कि भारतीय द्रव्य-बाज़ार दोष पूर्ण है और संसार के अन्य उन्नत द्रव्य-बाज़ारों की समता नहीं कर सकता।

केन्द्रीय बैंक (Central Bank) के अभाव में १६३५ तक इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्य करता था। व्यवहार में अन्य बैंक उसके पास अपनी नकदी रखते थे। वह भारत-सरकार की सिक्यूरिटियों पर व्यापारिक बैंकों को ऋण देता था। यद्यपि बैंकों के लिए यह एक बड़ी सुविधा थी किन्तु अधिक ऊँचा सूद लेने के कारण व्यापारिक बैंकों के लिए उनका लाभ कम हो जाता था। पहले भारत सरकार से और अब रिज़र्व बैंक से इम्पीरियल बैंक को जो विशेष सुविधाएँ मिली हुई हैं उनके कारण मिश्रित पूँजी वाले बैंक (Joint Stock Banks) उसे अपना अनुचित प्रतिद्वन्दी ही मानते आये हैं न कि मित्र और सहायक। और इसी कारण मिश्रित पूँजीवाले बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक में

कभी घनिष्ठ सम्बंध स्थापित न हो सका।

भारतीय मिश्रित पूँजी वाले बैंक एक्सचेंज बैंकों (विनिमय बैंकों) को भी अपना प्रबल प्रतिस्पर्द्धी और विरोधी मानते हैं, क्योंकि विनिमय बैंकों के साधन बहुत अधिक हैं, वे कम सूद पर यथेष्ट डिपाजिट प्राप्त कर लेते हैं और वे बन्दरगाहों तथा भीतरी व्यापारिक केन्द्रों में देश के अन्दरूनी व्यापार को भी हथिया लेना चाहते हैं।

प्रान्तीय सहकारी बैंक (Provincial Co-operative Banks) इम्पीरियल बैंक के पास थोड़ा सा चालू जमा (Current Deposit) रखते हैं और इम्पीरियल बैंक उन्हें नकद साख (Cash Credit) तथा ओवर ड्राफ्ट (अधिविकर्ष) देता है। सेन्ट्रल सहकारी बैंक भी इम्पीरियल बैंक या कुछ बड़े मिश्रित पूँजीवाले बैंकों से चालू खाता (Current Account) रखते हैं, किन्तु प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ केवल सहकारी बैंकों से ही सम्बन्ध रखती हैं, इम्पीरियल बैंक या मिश्रित पूँजीवाले बैंकों से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं होता।

सहकारी बैंकों (Co-operative Banks) का देशी बैंकरों तथा महाजनों और साहूकारों से तनिक भी सम्बन्ध नहीं होता। मिश्रित पूँजी वाले बैंकों को यह शिकायत है कि सहकारी बैंक भी उनसे प्रतिस्पर्द्धा करने लगे हैं। उनका कहना है कि सहकारी बैंक वह कारबार भी करने लगे हैं जिसका सहकारिता आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए सहकारी बैंक चालू खाता (Current Account) रखते हैं, रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजते हैं तथा बिलों को खरीदते और भुनाते हैं। देशी बैंकर भी सहकारी बैंकों के विरुद्ध यही शिकायत करते हैं।

देशी बैंकरों और महाजनों में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। यह दोनों अधिकतर इम्पीरियल बैंक में अपना खाता नहीं रखते। इम्पीरियल बैंक से तो देशी बैंकर अपने बिल या हुंडिया भुना लेते हैं किन्तु रिज़र्व बैंक से तो उनका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। जब कारबार अधिक होता है तो जिन देशी बैंकरों का नाम स्वीकृत सूची पर होता है उनकी हुंडियों को इम्पीरियल बैंक या मिश्रित पूँजी वाले बैंक भुना देते हैं या दो देशी बैंकरों के हस्ताक्षरों सहित प्रामिसरी नोट पर ऋण दे देते हैं। इस प्रकार देशी बैंकरों का बहुत थोड़े समय के लिए इम्पीरियल बैंक या मिश्रित पूँजीवाले बैंकों से सम्बन्ध स्थापित होता है। यह भी सब देशी बैंकरों का सम्बन्ध उनसे स्थापित नहीं होता। केवल स्वीकृत देशी बैंकरों को ही यह सुविधा दी जाती है और उनके लिए भी अधिक से अधिक कितने मूल्य की हुंडियाँ भुनाई जा सकती हैं यह निश्चित कर दिया जाता है।

द्रव्य-बाज़ारों में सूद की दर—संसार के सभी उन्नतिशील राष्ट्रों में लम्बे समय के लिए लगाये हुए रुपये पर थोड़े समय के लिए लगाये हुए रुपये से अधिक सूद मिलता है। उदाहरण के लिए इंगलैंड अथवा संयुक्तराज्य अमेरिका में सरकारी ऋण तथा प्रथम श्रेणी की कम्पनियों के डिबेंचरों (ऋण पत्र) पर जो सूद मिलता है वह तीन महीने के बिलों पर दिये जाने वाले सूद से अधिक होता है। किन्तु भारतवर्ष में इसका उलटा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी की पिछली ३० वर्षों में थोड़े समय की सूद की दर लम्बे समय की सूद की दर से एक प्रतिशत अधिक थी, किन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में और विशेषकर पहले महायुद्ध के उपरान्त थोड़े समय की सूद की दर तथा लम्बे समय के सूद की दर का यह भेद कम हो गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि थोड़े समय के लिए सबसे अधिक ऋण खेती के धन्धे के लिए आवश्यक होता है और खेती का धन्धा इस देश में अत्यन्त पिछड़ा और असंगठित है। अतएव जो भी ऋण किसानों को दिया जाता है बहुधा वह वसूल जल्दी नहीं होता, उसकी अवधि बढ़ानी ही पड़ती है, अतएव वह लम्बे समय के लिए ही ऋण बन जाता है। और खेती के धन्धे को दिये जाने वाले ऋण के डूब जाने का बहुत भय रहता है जबकि सरकारी ऋण में लम्बे समय के लिए रुपया लगाने में इस प्रकार की कोई जोखिम नहीं रहती। यही कारण है कि इस प्रकार के थोड़े समय के वास्ते लिए हुए ऋण पर सूद बहुत अधिक लिया जाता रहा है। किसानों से अधिक सूद मिलने के कारण गांवों में थोड़े समय के लिए जब सूद की दर ऊँची रहती है तो उसका प्रभाव संगठित द्रव्य-बाज़ार पर भी बिना पड़े नहीं रहता। यही कारण है कि भारतीय द्रव्य-बाज़ार में थोड़े समय की दर अधिक समय के लिए लगाये हुए रुपये पर मिलने वाले सूद की दर से ऊँची रही है। यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की है। यहाँ कम्पनियों के डिबेंचर इत्यादि तो अधिक प्रचलित हैं नहीं, केवल भारत सरकार के लम्बे समय के लिए हुए ऋण पर मिलने वाले सूद की दर से ही हम तुलना कर सकते हैं। किन्तु वास्तव में भारत-सरकार के ऋण पर मिलने वाले सूद को हम लम्बे समय की दर नहीं कह सकते, क्योंकि सरकारी ऋण अर्थात् सरकारी सिक्यूरिटी प्रत्येक समय बेची जा सकती है। उनके लिये सदैव बाज़ार में माँग रहती है। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि भारत में थोड़े समय के लिए, लिए जाने वाले ऋण पर सूद की दर ऊँची रही है और उसके कारणों के सम्बन्ध में हमने ऊपर लिखा है। इसके विपरीत भारतवर्ष में जो विदेशी पूँजी आई वह लम्बे समय के लिये लगाई गई। विदेशी पूँजी-पतियों ने भारत में अपनी पूँजी को अधिक लम्बे समय के लिए लगाना पसन्द किया क्योंकि यहाँ लम्बे समय के लिए रेलों, बंधों, तथा सरकारी ऋण में लगाई

जाने वाली पूँजी अधिक सुरक्षित थी, परन्तु थोड़े समय के लिए लेनी के धंधे में लगने वाली पूँजी को बहुत जोखिम उठानी पड़ती थी। यही कारण था कि लम्बे समय के लिए विदेशी पूँजी कम सूद पर प्राप्त हो सकती था। किन्तु यही विदेशी पूँजी अधिक सूद मिलने पर भी थोड़े समय के ऋण के रूप में भारतीयों के लिये प्राप्त नहीं था।

भारतवर्ष में केवल १९२१-२२ में, १९३१-३२, में और १९२९-३० में ही ऐसा अवसर आया जब थोड़े समय की सूद का दर (Short-term interest rate) अधिक लम्बे समय का सूद का (Long term rate) दर से नीचे गिर गया। १९२१-२२ में थोड़े समय की सूद का दर के गिरने का कारण यह था कि रुपये का विनिमय दर (Exchange rates) के गिरने से देश में चाँदी का आयात (Import) बहुत अधिक हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंकों के पास आवश्यकता से बहुत अधिक नकद (Cash) इकट्ठा हो गई इस कारण कम समय का सूद का दर नीचे गिर गई। १९३१-३२ में थोड़े समय के सूद की दर के नीचे गिरने का कारण यह था कि सरकार ने लड़ाई के खर्चे को चलाने के लिए अन्धाधुंध कागजी मुद्रा (Paper Currency) छाप दी थी। इस कारण थोड़े समय का सूद का दर नीचे गिर गई। उधर सरकार ने बहुत से युद्ध-ऋण निकाल कर जनता की बचत को लड़ाई के लिए खींच कर लम्बे समय की सूद की दर को ऊँचा कर दिया। और १९२९-३० में जो थोड़े समय की सूद का दर लम्बे समय का सूद की दर की तुलना में गिर गई उसका कारण वह महान आर्थिक मन्दी (Economic Depression) थी जो १९२९ में आई।

बैंक डिपाजिटों पर सूद की दर—डिपाजिटों पर सूद का दर निर्धारित करते समय बैंकों को दो बातों का ध्यान रखना पड़ता है। एक तो यह कि वे कितना कोष आकर्षित करना चाहते हैं और कितना कोष लाभदायक ढंग से लगा सकते हैं। इस दृष्टिकोण से बैंक चालू जमा (Current Deposits) पर सूद नहीं दे सकते क्योंकि चालू खाते (Current Account) में रुपया जमा करने वाले लोग सुविधा की दृष्टि से ही चालू खाता रखते हैं न कि सूद पाने के लिए। सूद प्राप्त करने के लिये जो रुपया उनकी आवश्यकताओं से अधिक है वह मुद्दती जमा (Fixed Deposit) में जमा किया जाता है। अस्तु, यदि चालू जमा पर थोड़ा सूद दे भी दिया जावे तो भी चालू जमा (Current Deposits) अधिक नहीं बढ़ जावेगा। किन्तु चालू जमा पर सूद देने का बैंकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उन्हें अधिक सूद कमाने के लिए रुपये को कहीं न कहीं लगाना ही पड़ता है, फिर चाहे कुछ जोखिम ही क्यों न उठानी पड़े। इसका

परिणाम बुरा होता है। यही कारण है कि ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका में चालू खाते पर सूद नहीं दिया जाता। किन्तु भारतवर्ष में इम्पीरियल बैंक को छोड़कर सभी बैंक चालू खाते पर सूद देते हैं। १६३० तक भारतीय व्यापारिक बैंक चालू खाते पर २½ प्रतिशत तक सूद देते थे, किन्तु यही उनकी निर्बलता थी। क्योंकि भारत में प्रथम श्रेणी के बिलों तथा याचना द्रव्य (Call money) का बाज़ार अभी निर्मित नहीं हुआ है इस कारण बैंकों को जिस लेनी (Assets) में अपना रुपया लगाना पड़ता है वह शीघ्र ही नकदी में परिणत नहीं की जा सकती। परन्तु क्रमशः भारतीय बैंकों ने चालू जमा पर सूद की दर को कम करना आरम्भ कर दिया। १६२१ में वे १ प्रतिशत सूद देते थे बाद को घटाकर उन्होंने चालू खाते पर ½ प्रतिशत सूद कर दिया और दूसरे संसार व्यापी महायुद्ध के समय जबकि देश में रुपये की बहुतायत थी उन्होंने सूद घटाकर ¼ प्रतिशत कर दिया। आशा है कि भारतवर्ष में भी बैंक चालू जमा पर सूद देना बन्द कर देंगे।

मुद्दती जमा (Fixed Deposit) पर सूद की दर—मुद्दती जमा पर बैंक जो सूद देते हैं उस पर ही मुद्दती जमा का अधिक होना या कम होना निर्भर रहता है। यदि सूद अधिक दिया जाता है तो मुद्दती जमा अधिक आती है और यदि सूद की दर कम कर दी जाती है तो मुद्दती जमा घट जाती है। क्योंकि मुद्दती जमा वही करता है जिसे उस रुपये की कुछ समय के लिए आवश्यकता नहीं होती या वह उस पर सूद कमाना चाहता है। यदि मुद्दती जमा पर सूद बहुत कम हो जावे तो मुद्दती जमा चालू जमा में परिणत हो सकती है, क्योंकि यदि मुद्दती जमा पर सूद बहुत कम हो जावेगा तो लोग अपने रुपये को उस पर लम्बे समय के लिये अटकाये रहना पसन्द नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त बैंक मुद्दती जमा पर सूद की दर निर्धारित करते समय यह भी देख लेते हैं कि वे अपने ग्राहकों से कितना सूद ले सकते हैं। अस्तु; मुद्दती जमा पर सूद की दर दो बातों पर निर्भर रहती है। एक तो इस बात पर कि अन्य सिक्यूरिटियों में रुपया लगाने पर कितना सूद मिल सकता है, दूसरे द्रव्य-बाज़ार में थोड़े समय के लिये ऋण देने में कितना सूद मिल सकता है। जहां तक रुपया जमा करने वाले का प्रश्न है उसके लिए बैंक में रुपया जमा करने के अतिरिक्त दूसरा सीधा रास्ता यह है कि वह भारत-सरकार की सिक्यूरिटी में अपना रुपया लगा दे। अस्तु; सरकार अपने ऋण जिस सूद की दर पर निकालती है उसका मुद्दती जमा पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यद्यपि दोनों में बहुत भेद भी है। भारतवर्ष में अधिकतर मुद्दती जमा ६ महीने या उससे अधिक समय के लिए ली जाती हैं अधिकांश डिपाजिट एक वर्ष के लिये होती हैं। बम्बई, कलकत्ता जैसे बड़े केन्द्र

म ६ महीने से कम की भी मुद्दती डिपाज़िट ले ली जाती हैं।

बैंक दिये हुए कर्जों पर जितना सूद लेंगे यह अन्य देशों में—जहाँ द्रव्य-बाज़ार पूर्ण रूप से संगठित है—बैंक रेट (Bank rate) पर निर्भर रहता है। यदि केन्द्रीय बैंक (Central Bank) का सूद की दर, जिस पर वह अन्य बैंकों को कर्ज देता है, ऊँचा हो जाता है तो अन्य बैंक भी अपने कर्जदारों से और ऊँची दर से सूद लेते हैं और यदि केन्द्रीय बैंक की सूद की दर घटती है तो अन्य बैंक भी कर्ज पर सूद की दर घटा देते हैं। अन्य बैंक जब किसी को ऋण देते हैं तो जो उस समय केन्द्रीय बैंक (Central Bank) का सूद की दर (Bank rate) होता है उससे एक निश्चित प्रतिशत अधिक सूद लेते हैं। उन देशों में यह बैंक मुद्दती जमा पर जो सूद देते हैं वह कुछ निश्चित प्रतिशत 'बैंक रेट' से कम होता है। इस प्रकार उन देशों में जहाँ द्रव्य-बाज़ार संगठित है वहाँ मुद्दती जमा पर दिये जाने वाले तथा कर्ज पर लिए जाने वाले सूद की दर वहाँ के केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की बैंक रेट पर निर्भर रहती है और उससे सम्बन्धित होता है।

किन्तु भारतवर्ष में स्थिति दूसरी ही है। यहाँ सूद की दर का कोई नियम नहीं है। प्रत्येक स्थान और प्रत्येक बैंक की सूद की दर भिन्न होती है। उदाहरण के लिए यदि किसी स्थान पर केवल एक ही बैंक है तो वह अपने एकाधिकार का पूरा लाभ उठाता है और अधिक सूद लेता है, और यदि कोई दूसरा बैंक वहाँ अपना काम चालू कर देता है तो सूद की दर गिर जाती है। यही नहीं कि भिन्न भिन्न स्थानों में सूद की दर भिन्न होती है, प्रत्येक बैंक का कारबार भी बहुत भिन्न होता है इस कारण उनकी सूद की दर में बहुत अधिक भिन्नता पाई जाती है। भारतवर्ष में कुछ बैंक ऐसे हैं जो कर्जों पर बहुत उचित सूद लेते हैं, फिर भी वे यथेष्ट लाभ कमाते हैं। किन्तु यदि दूसरे बैंक उसी सूद की दर पर ऋण दें तो उन्हें बहुत घाटा सहन करना पड़े। भारतवर्ष में बैंकों की सूद की दर में दुगुने से अधिक का अन्तर पाया जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष में बैंकों की सूद की दर में बहुत भिन्नता पाई जाती है।

भारत जैसे विशाल देश में जहाँ अभी उद्योग धंधों का पूरी तरह से विस्तार नहीं हुआ है और जहाँ द्रव्य-बाज़ार अभी पूर्ण रूप से संगठित नहीं है, भिन्न भिन्न प्रदेशों में सूद की दर भिन्न होना कुछ सीमा तक अनिवार्य है। किन्तु यहाँ बैंकों में अस्वास्थ्यकर प्रतिस्पर्द्धा के कारण जो सूद की भिन्नता पाई जाती है वह भारतीय बैंकिंग का एक बड़ा दोष है। कुछ बैंक केवल इसलिए अधिक सूद देते हैं जिससे वे डिपाज़िट प्राप्त करने में सफल हों। इसका फल यह होता है कि उन्हें

अपना रुपया ऐसी जगह लगाना पड़ता है जो बहुत सुरक्षित नहीं होती और उनकी स्थिति कमज़ोर रहती है। तनक से संकट में इस प्रकार के बैंक डूब जाते हैं और सभी बैंकों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। सभी देशों में अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि डिपाज़िटों पर दिए जाने वाले सूद की दर में अनियंत्रित प्रतिस्पर्द्धा न तो किसी एक बैंक के ही लिए लाभदायक होती है और न बैंकिंग संस्था (Bahking System) के लिए ही लाभदायक सिद्ध होती है। अन्य देशों में बैंक स्वयं मिल कर डिपाज़िट पर सूद की दर क्या हो यह निश्चित कर लेते हैं; किन्तु भारतवर्ष में इस प्रकार सूद की दर को नियंत्रण नहीं किया जाता। आवश्यकता इस बात की है कि भारतवर्ष में भी प्रतिस्पर्द्धा को नियंत्रित किया जावे और कम से कम एक वर्ष की मुद्दती जमा की सूद की दर निश्चित कर दी जावे।

विनियोग (Investments) पर मिलने वाले सूद की दरें—आधुनिक द्रव्य-बाज़ार में दो प्रकार की सूद की दर पाई जाती हैं। वे सूद की दरें जो खुले बाज़ार में प्रचलित होती हैं और जिन्हें हम खुले बाज़ार की दरें (Open market rate) कहते हैं, और दूसरी वे सूद की दरें जो ग्राहकों से ऋण देने पर ली जाती हैं। ग्राहकों से जो सूद लिया जाता है उसके सम्बन्ध में ठीक-ठीक आंकड़े प्राप्त नहीं हैं, परन्तु खुले बाज़ार की दरों के बारे में हमें प्रामाणिक आंकड़े मिलते हैं। ग्राहकों से लिये जाने वाले सूद की दरों में बहुत भिन्नता होती है। यदि किसी एक प्रदेश में सूद की दर बहुत ऊँची है तो दूसरे प्रदेश में सूद की दर नीची होती है। बात यह है कि जहां तक ग्राहकों से लिए जाने वाले सूद की दर का प्रश्न है वह स्थानीय कारणों पर निर्भर रहती है, अतएव सूद की दर का भिन्न होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए बैंकों को किसी प्रदेश में डिपाज़िट कम मिलती है तो वे वहां ऋण अधिक सूद लेकर ही देंगे; और जहाँ डिपाजिट बहुत अधिक मिलती है वहां कम सूद लेकर भी उस रुपये को लगाने का प्रयत्न करेंगे। जिस स्थान या प्रदेश का देश के केन्द्रीय बैंक से सम्बन्ध होता है वहां सूद की दर कुछ कम रहती है। अतएव कहने का तत्पर्य यह है कि ग्राहकों से लिए जाने वाले सूद की दर स्थानीय कारणों पर निर्भर रहती है और उन्हीं कारणों से उसमें भिन्नता पाई जाती है।

खुले बाज़ार की दरें (Open Market rates)—(१) अभियाचन ऋण (Demand Loan) पर इम्पीरियल बैंक जो सूद लेता है वह देश में अल्पकालीन पूँजी (Short-term capital) पर कितनी आय हो सकती है इसको बतलाता है। इम्पीरियल बैंक की अभियाचन ऋण की दर अल्पकालीन पूँजी पर होने वाली आय को नापने का यंत्र है। यह दर नक़द साख (Cash

credits) तथा साधारण ऋणों पर लिए जाने का सूद की दरों का भी प्रतिनिधित्व करती है।

(२) इम्पारियल बैंक हुंडा रट वह सूद की दर है जिस पर इम्पीरियल बैंक प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बिलों को भुनाता है। १९३५ तक इम्पारियल बैंक केवल ३ महीने की अवधि के बिलों को ही भुना सकता था। किन्तु व्यवहार में उन बिलों के पकने की अवधि केवल ६० या ६१ दिन होता था।

हुंडी रेट यद्यपि इम्पारियल बैंक का अभियाचन ऋण (Demand Loan) का सूद की दर के साथ साथ घटता बढ़ता है, किन्तु कभी-कभी इम्पीरियल बैंक का हुंडी दर उसका अभियाचन ऋण का दर से ऊँची हो जाती है और कभी नीचे गिर जाता है।

(३) याचना द्रव्य रेट (Call money rate) उस सूद की दर को कहते हैं जो कि २४ घंटे के लिए दिए गए ऋण पर लिया जाता है। याचना द्रव्य (Call money) को बैंक जिस समय चाहे वापस माँग सकता है और लेने वाला उसे जब चाहे वापस दे सकता है। भारतवर्ष में बैंक इस प्रकार ऋण केवल उन्हीं व्यक्तियों को देता है जो उसके जाने-बूझे होते हैं और जिनकी साख बहुत अच्छी होती है। बैंक इस प्रकार के ऋण के लिए कोई जमानत नहीं लेते केवल ऋण लेने वाले की व्यक्तिगत साख पर दे देते हैं।

भारतवर्ष में याचना द्रव्य (Call money) अधिकतर केवल सोने-चाँदी के बाज़ार और शेयर बाजार में कारबार करने के लिए लिया जाता है। परन्तु बम्बई में बड़े व्यापारी साधारण व्यापार के लिये भी याचना द्रव्य लेते हैं, क्योंकि उन्हें कम सूद पर रुपया मिल जाता है।

याचना द्रव्य की दर इम्पारियल बैंक की अभियाचन ऋण की दर (Demand Loan rate) के अनुसार घटती-बढ़ती है। कभी-कभी याचना द्रव्य की दर बहुत ही ऊँची चढ़ जाती है, यहाँ तक कि इम्पारियल बैंक की अभियाचन ऋण की दर (Demand Loan rate) के बराबर पहुँच जाती है। जब कारबार की बहुत तेजी होती है तो कभी-कभी याचना द्रव्य ऊँची दर पर भी नहीं मिलता और मन्दी के समय उसकी सूद की दर बहुत गिर जाती है। इन अवसरों पर याचना द्रव्य की सूद की दर का इम्पीरियल बैंक के अभियाचन ऋण की दर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(४) बाज़ार बिल रेट या बाज़ार हुंडी रेट भारतीय द्रव्य बाज़ार (Money market) में सबसे ऊँची सूद की दर होती है। यह सूद की दर उन बिलों पर ली जाती है जो धाक छोटे व्यापारियों के लिये भुनाते हैं। बाजार

बिल रेट कलकत्ता की अपेक्षा बम्बई में कम रहती है। इसका मुख्य कारण यह है कि बम्बई में शार्फों (Shroffs) का बैंकों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ऊपर दिये हुए विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुसंगठित द्रव्य-बाज़ारों की भांति भारतीय द्रव्य-बाज़ार में प्रचलित सूद की दरों का एक दूसरे से कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। यदि बाजार में कारबार की तेज़ी हुई और रुपये की माँग अधिक हुई और रुपया कम हुआ तो सूद की दरें ऊंची चढ़ जाती हैं, और यदि कारावार मंदा हुआ तो सूद गिर जाता है। किन्तु बाज़ार में प्रचलित सूद की दरों का आपस में कोई निश्चित और घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि भारतीय बैंकों में इस बात की भावना नहीं है कि उनके स्वार्थ एक हैं। रिज़र्व बैंक अभी तक इतना अधिक प्रभावशाली नहीं है कि द्रव्य-बाज़ार पर अपना पूरा प्रभाव डाल सके और पूँजी (Capital) के एक स्थान से दूसरे स्थान तक शीघ्रतापूर्वक पहुंचाने में रुकावटें हैं।

बैंकों की उन्नति और द्रव्य-बाज़ार को अधिक संगठित बनाने के लिये यह आवश्यक है कि सूद की दरों के सम्बन्ध में बैंक एक आपसी समझौता कर लें तथा एक परम्परा बना लें। इससे एक बड़ा लाभ यह होगा कि बैंकों में आपस में अस्वास्थ्यकर प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो जावेगी। उदाहरण के लिए लंदन में बैंकों ने यह निश्चय कर लिया है कि अल्पकालीन डिपाज़िट पर बैंक रेट से १ प्रतिशत सूद कम दिया जावे। बैंक रेट तथा डिपाज़िटों पर दिये जाने वाले सूद की दर का सम्बन्ध जोड़ देने से एक लाभ यह होगा कि बैंक डिपाजिटों को खींचने के लिए अस्वास्थ्यकर होड़ नहीं कर सकेंगे।

भारतीय द्रव्य-बाज़ार में अस्थिरता तथा अधिक उतार-चढ़ाव का होना— भारतीय द्रव्य-बाज़ार का एक बड़ा दोष यह रहा है कि उसमें स्थिरता नहीं रहती थी। बैंक रेट में बहुत अधिक परिवर्तन होते रहते हैं। १६३२ के पूर्व अर्थात् आर्थिक मंदी (Economic Depression) के अधिक गहरे हो जाने के पूर्व जब व्यापार मंदा होता तब तो बैंक रेट ३ प्रतिशत पर रहती और तेज़ी के मौसम में ७ और ८ प्रतिशत तक बढ़ जाती। इस अस्थिरता के कारण व्यापार का जोखिम बढ़ जाता है तथा व्यापारियों को बहुत आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उद्योग-धंधों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता था क्योंकि वे भी बहुत कुछ थोड़े समय के लिए प्राप्त किए ऋण पर निर्भर रहते थे। जब कारबार की तेज़ी होती और बैंक रेट ऊंची हो जाती तो देश के भीतरी व्यापार तथा खेती के लिए पूँजी मिलने में बहुत कठिनाई होने लगती थी, क्योंकि बन्दरगाहों में भी उस समय पूँजी की बहुत अधिक आवश्यकता होती थी और यहां के व्यापार:

में अधिक सूद देने की गुंजाइश रहता थी। अतएव बैंक उस समय अपना रुपया वदरगाहों को भेज देते थे तथा देश के भीतरी व्यापार तथा खेती के लिए द्रव्य (money) का टोटा पड़ जाता था। इसका कारण यह था कि जब कारबार की तेजी होती तो देश में द्रव्य का टोटा पड़ जाता था। कारण यह था कि भारतवर्ष के खेतिहर देश होने के कारण जब खेती की पैदावार की फसल के समय खरीद होती तो बहुत अधिक द्रव्य की आवश्यकता पड़ती थी, और जो भी करेंसी (मुद्रा) देश में साधारणतः होती वह इस काम के लिए पूरी नहीं पड़ती थी। किन्तु गरमियों तथा वर्षा के मौसम में जब कारबार मंदा रहता था तो वही करेंसी आवश्यकता से बहुत अधिक हो जाती थी।

१९२१ में इम्पीरियल बैंक के स्थापित होने से पूर्व सरकार पृथक और स्वतन्त्र खजाने रखती थी जो जनता में से बहुत अधिक द्रव्य (Money) को खींचकर रख लेते थे। कारण यह था कि मालगुजारी के रूप में किसान जो द्रव्य देते थे वह इन खजानों में जाकर बन्द हो जाता था और यह उस समय होता था जब बाजार में द्रव्य की बहुत अधिक माँग होती थी। इस कारण बाजार में द्रव्य का बेहद टोटा पड़ जाता था। १९२१ के उपरान्त यह रुपया इम्पीरियल बैंक के पास आने लगा और वह इसको व्यापारियों को दे देता था अतः १९२१ के उपरान्त इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ। फिर भी भारत सरकार तथा भारत-मंत्री पृथक् और स्वतन्त्र रूप से बैंकिंग का कारबार करते थे जिसके कारण द्रव्य-बाजार में बहुत अस्थिरता उत्पन्न हो जाती थी। बात यह थी कि भारत सरकार तो मुद्रा (Currency) का नियंत्रण करती थी और इम्पीरियल बैंक कुछ हद तक साख (Credit) का नियंत्रण करता था। इस दोहरे नियंत्रण का फल यह होता था कि मुद्रा नीति (Currency) Policy) और साख नीति (Credit need) में कभी साम्य स्थापित नहीं हो पाता था। यदि उत्पादन और व्यापार में वृद्धि होती तो अधिक साख (Credit) की आवश्यकता होती थी, परन्तु अधिक साख का निर्माण तभी हो सकता है जब अधिक द्रव्य (Money) हो। परन्तु यदि उस समय सरकार अधिक नोट छाप कर द्रव्य-राशि को न बढ़ाती तो बैंकों को साख कम करनी पड़ती थी। इस प्रकार उस समय देश में मुद्रा (Crruency) तथा साख का कोई ठीक प्रबन्ध न था। कारण यह था कि साख का ठीक नियंत्रण तो था नहीं किन्तु जो कुछ भी नियंत्रण था वह इम्पीरियल बैंक के हाथ में था और साख मुद्रा (Crru ency) पर निर्भर रहती है किन्तु मुद्रा का नियंत्रण सरकार के हाथ में था।

रिज़र्व बैंक की स्थापना से द्रव्य-बाजार (Money Market) का यह दोष दूर हो गया। अब रिज़र्व बैंक के अधिकार में दोनों ही कार्य हैं। वह कागज़ी

मुद्रा (Paper Currency) तथा साख (Credit) दोनों का ही नियंत्रण करता है, अतः अब रिज़र्व बैंक द्रव्य की अधिक मांग होने पर अधिक नोट निकाल कर द्रव्य की कमी को दूर कर सकता है।

भारतीय द्रव्य-बाज़ार में व्यापारिक बिलों का अभाव—भारतीय द्रव्य-बाज़ार में एक मुख्य दोष यह है कि यहां व्यापारिक बिलों की बहुत कमी है। भारतीय बैंकों की लेनी (Asset) में बिल बहुत कम होते हैं जबकि विदेशों में बैंक अपने कोष (Funds) का बहुत बड़ा भाग इनमें लगाते हैं। भारतीय मिश्रित पूँजी वाले बैंक तथा इम्पीरियल बैंक अपनी कुल डिपाजिटों का केवल ३ से ६ प्रतिशत रुपया बिलों के भुनाने में लगाते हैं। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय द्रव्य-बाज़ार में बिलों का नितान्त अभाव है। इनके नीचे लिखे मुख्य कारण हैं :—

(१) भारत में बैंक अपना रुपया सरकारी सिक्यूरिटियों अर्थात् परम प्रति-भूति (Gild-edged Securities) में लगाना अधिक पसंद करते हैं। इसके कारण दो हैं, एक तो भारत में बैंकिंग अभी अधिक उन्नत अवस्था में नहीं है इस कारण बैंक अपना रुपया ऐसी जगह लगाना चाहते हैं जो शीघ्र ही नकदी में परिणत किया जा सके; और दूसरे सरकारी सिक्यूरिटियों पर सूद अच्छा मिलता था। किन्तु अब जितना सूद बिलों के भुनाने से मिलता है उससे अधिक परम प्रतिभूति (Gild-edged Securities) अर्थात् सरकारी सिक्यूरिटियों पर नहीं मिलता। अतएव जैसे-जैसे सर्वसाधारण का बैंकों पर अधिक विश्वास जमता जावेगा वैसे-वैसे बैंक सरकारी सिक्यूरिटियों में कम रुपया लगाने लगेंगे।

(२) जब-जब बैंकों को ऋण की आवश्यकता होती है तब-तब वे इम्पीरियल बैंक से सरकारी सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण लेना पसंद करते हैं और अपने बिलों को इम्पीरियल बैंक से पुनः भुनाना (Rediscount) पसंद नहीं करते। इसके नीचे लिखे कारण हैं :—

(क) इम्पीरियल बैंक केवल उन्हीं बिलों को पुनः भुनाता है जिन्हें वह ठीक समझता है और पसंद करता है। किन्तु वह किस प्रकार के बिलों को पसंद करेगा इसका उसने कोई मानदंड (Standard) कायम नहीं किया है जिसके अनुसार अन्य बैंक यह जान सकें कि वह किन बिलों को पसंद करेगा। अतएव बैंकों को सदैव यह खतरा रहता है कि कहीं उनके बिलों को इम्पीरियल बैंक अस्वीकार न कर दे।

(ख) भारतीय द्रव्य-बाज़ार में यह प्रचलित धारणा है कि बिलों का पुनः भुनाना आर्थिक निर्बलता का सूचक है, अतएव भारतीय बैंक बिलों को पुनः इम्पीरियल बैंक से भुनाने में इस कारण झिझकते हैं कि इससे उनकी साख पर

बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(ग) इम्पीरियल बैंक अन्य बैंकों के लिये बट्टा दर (Discount Rate) में कोई रियायत नहीं करता। वह उनसे भी वही सूद लेता है जो वह दूसरों से लेता है।

(घ) क्योंकि इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंकों का प्रतिद्वन्दी है इस कारण वे उसे यह नहीं बतलाना चाहते कि उनके पास कितने और कैसे बिल हैं।

(३) भारत में बिलों या हुंडियों पर हस्ताक्षर करने वालों की आर्थिक स्थिति या साख कैसी है यह जानने की सुविधा नहीं है। इंगलैंड तथा अमेरिका में ऐसी एजेंसियाँ हैं जो किसी भी व्यापारी या व्यवसायी की आर्थिक स्थिति और साख के सम्बन्ध में थोड़ी सी फीस लेकर ठीक जानकारी दे देती हैं।

(४) भारत में हुंडियों तथा बिलों का उपयोग बहुधा ऋण देने और लेने में किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि 'क' 'ख' से २ हजार रुपया लेना चाहता है तो 'क' 'ख' पर हुंडी या बिल लिख देगा और 'ख' उसको स्वीकार कर लेगा। अब 'क' उस हुंडी या बिल को भुना कर रुपया प्राप्त कर लेगा। इन हुंडियों को देखने मात्र से यह कोई नहीं बता सकता कि यह केवल कर्ज लेने के उद्देश्य से लिखी गयी है अथवा व्यापारिक हुंडी है, क्योंकि हुंडी के साथ न तो रेल की बिल्टी होती है और न अन्य प्रकार के कोई कागज पत्र होते हैं।

(५) भारत में मुद्दती हुंडी का चलन लगभग समाप्त हो गया, क्योंकि उस पर स्टाम्प ड्यूटी का खर्चा अधिक होता है, वह केवल बंगाल में तथा बम्बई और शिकारपुर में ही अधिक प्रचलित है। अब मुद्दती हुंडी का स्थान दर्शनी हुंडी ने ले लिया है, किन्तु उनमें बहुत थोड़े दिनों की ही साख मिल पाती है। यहाँ हुंडियों के चलन में एक कठिनाई यह है कि उनके सकारने में बहुत सी शर्तें होती हैं। यहां नहीं, हुंडियों का कोई निश्चित रूप भी नहीं है। न तो उनकी लिपि और भाषा ही एक होती है और भिन्न भिन्न स्थानों पर निकारने और सकारने (Acceptance and payment) के नियम भी भिन्न होते हैं।

(६) भारत में बिल या हुंडियों के अभाव का एक कारण यह भी है कि बैंक नक़द साख (Cash Credit) अधिक देते हैं। नक़द साख बैंकों तथा कर्ज लेने वालों दोनों के ही लिए लाभदायक सिद्ध होती है। कर्ज लेने वालों का लाभ तो यह है कि जितनी साख का वह उपयोग करते हैं उतने पर ही उन्हें सूद देना पड़ता है और बैंक को लाभ यह होता है कि बैंक रुपया जब चाहे वापस माँग सकता है। यदि कर्जदार की आर्थिक स्थिति बिगड़ी मालूम पड़े तो बैंक तुरन्त उससे रुपया वापस ले सकता है। किन्तु नक़द साख से बिल दोनों के लिए अधिक

उपयोगी सिद्ध होंगे। क्योंकि कर्ज़ लेने वालों को बिलों की अवधि तक एक निश्चित रक़म की साख (Credit) मिल जावेगी और यदि पुनः भुनाने की सुविधा हो तो बैंकों को एक अत्यन्त तरल लेनी (Liquid Asset) में अपना रुपया लगाने का अवसर मिल जावेगा। फिर कर्ज़दार को यह भी लाभ होगा कि वह नक़द साख पर जितना सूद देता है उससे कम पर बिल को भुना सकेगा।

(७) भारतीय द्रव्य-बाज़ार में बिलों या हुंडियों का चलन न होने का एक यह भी कारण है कि भारत सरकार बहुत अधिक राशि में सरकारी हुंडियाँ (Treasury Bills) बेचती है। बैंक इन सरकारी हुंडियों को बहुत बड़ी राशि में खरीदते हैं, क्योंकि वे बहुत सुरक्षित होते हैं और निश्चित समय पर उनका भुगतान हो जाता है। वे तरल भी होते हैं क्योंकि रिज़र्व बैंक उन्हें खरीदने के लिए सदैव तैयार रहता है।

किसी सेन्ट्रल बैंकिंग जांच कमेटी तथा सभी बैंकिंग विशेषज्ञों की राय है कि जब तक देश में व्यापारिक बिलों का चलन और उपयोग नहीं बढ़ता और भारत में संगठित बट्टा बाज़ार (Discount Market) का उदय नहीं होता तब तक भारतीय बैंक सबल और उन्नत नहीं हो सकते। रिज़र्व बैंक ही इस देश में हुंडियों और बिलों के चलन और उपयोग को बढ़ा सकता है और देश में बट्टा बाज़ार (Discount Market) स्थापित कर सकता है। रिज़र्व बैंक को चाहिए कि वह अन्य बैंकों को अपने बिलों को पुनः भुनाने (Re discount) की सभी सुविधायें दें ; उन्हें यह निश्चित रूप से बतला दिया जाय कि किस प्रकार के बिल या हुंडियों को यह पसन्द करेगा। रिज़र्व बैंक को चाहिये कि वह देशी बैंकरों (Indigenous Bankers) को बट्टा गृह (Discount Houses) का काम करने के लिए प्रोत्साहित करे। देशी बैंकर व्यापारियों के बिलों या हुंडियों को भुनावें और यदि उन्हें अधिक कोष (Funds) की आवश्यकता हो तो वे रिज़र्व बैंक से उन बिलों या हुंडियों को पुनः भुनालें। रिज़र्व बैंक को देशी बैंकरों को अपने बिलों को पुनः भुनाने की सभी सुविधायें देना चाहिये। इससे एक लाभ यह भी होगा कि देशी बैंकरों तथा द्रव्य-बाज़ार का सम्बन्ध स्थापित हो जावेगा। यदि देश में प्रमाणित भंडारों तथा गोदामों की व्यवस्था हो जावे, जिनका प्रबंध विश्वसनीय हो, तो हुंडियों और बिलों का चलन अधिक बढ़ सकता है ; क्योंकि इन गोदामों और भण्डारों की रसीद के साथ जो बिल या हुंडी होगी उसके व्यापारिक बिल या हुंडी होने में तनक भी सन्देह नहीं रहेगा और बैंक उन हुंडियों को भुनाने से नहीं हिचकेंगे। जो कुछ भी हो, बैंकिंग की उन्नति के लिए बिलों और हुंडियों की बहुत आवश्यकता है।

६—भारत में बैंकिंग सम्बन्धी कानून —१६३६ तक भारत में बैंक सम्बन्धी कोई विशेष कानून नहीं था। बैंक भी अन्य मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों (Joint Stock Companies) की भाँति (१६१३ के कम्पनी ऐक्ट के अन्तर्गत) रजिस्टर होते थे और उनके लिए भी वही नियम थे जो अन्य कम्पनियों के लिए लागू थे। १६१३ के कम्पनी ऐक्ट में बैंकों तथा अन्य कम्पनियों के बीच में केवल दो बातों में भेद किया गया था। एक अन्तर तो यह था कि १० व्यक्तियों से अधिक साझेदारों वाला फर्म बैंकिंग कारबार नहीं कर सकता था, और बैंकों की लेनी देना का लेखा (Balance Sheet) एक निर्धारित ढंग से बनाये जाने की व्यवस्था थी जिसमें सुरक्षित ऋण (Secured Debts) तथा अरक्षित ऋण (Unsecured Debts) अलग-अलग दिखलाना आवश्यक था।

किन्तु इस क़ानून के द्वारा बैंकों का ठीक नियन्त्रण नहीं किया जा सकता था। सभी देशों में बैंकिंग का कारबार विशेष महत्त्व का समझा जाता है, क्योंकि वे जनता का डिपाज़िट आकर्षित करते हैं और देश के आर्थिक जीवन पर विशेष प्रभाव डालते हैं। यही कारण है कि संसार के प्रत्येक देश में बैंकों का नियन्त्रण करने के लिये विशेष बैंकिंग कानून आवश्यक समझा गया। भारतवर्ष में बैंकिंग सम्बन्धी विशेष कानून का न होना सब को खटकता था और विशेषकर जब १६१३ और १४ में भारतवर्ष में बैंकों का संकट उपस्थित हुआ और बहुत से बैंक डूब गये उस समय से सबका विश्वास दृढ़ हो गया कि देश में विशेष और स्वतन्त्र बैंकिंग कानून के बन जाने से शक्तिशाली और अच्छे बैंकों के उदय होने में सहायता मिलेगी।

यद्यपि हमें यह न भूल जाना चाहिये कि चाहे कैसा ही अच्छा बैंकिंग कानून क्यों न बनाया जावे वह बुरे प्रबंध, हानि और बैंकों के डूबने को नहीं रोक सकता। बैंक या बैंकर को केवल कानूनों द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यही नहीं, यदि बैंकों के लिये बहुत लम्बा चौड़ा कानून बना दिया जावे तो उनकी उन्नति में रुकावट होती है। बैंकों पर बहुत अधिक बंधन लगा देना उनकी उन्नति को रोकना है। बैंकों को जहाँ तक हो सके स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। हाँ रिज़र्व बैंक के नियन्त्रण की बैंकों की उन्नति के लिये अवश्य आवश्यकता है। इतना सब होते हुए भी बैंकिंग क़ानून की इसलिये आवश्यकता है कि जिससे बेईमानी, धोखे और कुप्रबन्ध को कुछ हद तक रोका जा सके। यही कारण था कि सेंट्रल बैंकिंग जाँच कमेटी ने एक स्वतन्त्र बैंक कानून की आवश्यकता बतलाई।

उस समय भारत-सरकार ने यद्यपि स्वतंत्र बैंक कानून तो नहीं बनाया परन्तु १६३६ के कंपनी ऐक्ट में बैंकों के लिए कुछ विशेष नियम बना दिये जो नीचे दिये गये हैं:—

(१) बैंकिंग कम्पनी की कंपनी ऐक्ट में इस प्रकार परिभाषा की गई— बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जिसका मुख्य कारबार जनता के रुपये को ऐसी डिपाज़िटों के रूप में स्वीकार करना है, जो चेक, ड्राफ़्ट या आज्ञा के द्वारा निकाली जा सके। इसके अतिरिक्त वह नीचे लिखे कार्य भी कर सकती है:— (क) रुपया कर्ज़ लेना और देना, बिलों और हुन्डियों, प्रामिसरी नोटों, कंपनियों के हिस्सों, डिबेंचरों, रेलवे रसीद तथा सोने-चाँदी की खरीद-बिक्री करना और द्रव्य और सिक्यूरिटियों को वसूल करना और एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना। (ख) सरकार, म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, तथा व्यक्तियों के एजेंट का काम करना। लेकिन बैंक किसी कंपनी का मैनेजिंग एजेंट नहीं हो सकता। (ग) सरकार तथा व्यक्तियों के लिए ऋण दिलाना तथा ऋण को निकालना। (घ) सरकारी तथा म्युनिसिपल ऋण का अभिगोपन (Under-writings) करना तथा कंपनियों के हिस्सों या डिबेंचरों का अभिगोपन करना। (ङ) किसी व्यापारी कारबार को आर्थिक सहायता देना। (च) चल अथवा अचल सम्पत्ति की खरीद-बिक्री करना। (छ) किसी का ट्रस्टी बनना। (ज) किसी दूसरी कम्पनी के हिस्से खरीदना या प्राप्त करना जिसके उद्देश्य उसके ही समान हों। (झ) उन संस्थाओं और कोषों (Funds) को स्थापित करना जो कम्पनी के कर्मचारियों के लाभ के लिये हों। (ञ) कंपनी के लिए आवश्यक इमारतों को खरीदना।

कोई भी बैंकिंग कम्पनी ऊपर लिखे कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्य नहीं कर सकती और भविष्य में कोई बैंकिंग कंपनी रजिस्टर नहीं की जा सकती जिसके उद्देश्य डिपाज़िट लेने तथा ऊपर के कार्यों तक सीमित न हों।

किसी भी बैंकिंग कंपनी का प्रबन्ध मैनेजिंग एजेन्ट नहीं कर सकते। भविष्य में कोई भी बैंकिंग कंपनी जो रजिस्टर की जा चुकी हो, उस समय तक कार्य नहीं कर सकती जब तक उसकी चुकता पूँजी कम से कम ५०,००० रुपये न हो।

प्रत्येक बैंकिंग कंपनी उस समय तक जब तक उसका रक्षित कोष (Reserve Fund) उसकी चुकता पूँजी (Paid up Capital) के बराबर नहीं हो जाता लाभ का कम से कम २० प्रतिशत रक्षित कोष में जमा करेगी और शेष लाभ ही हिस्सेदारों में बाँट सकेगी। रक्षित कोष या तो

सरकारी अथवा ट्रस्ट सिक्यूरिटियों में लगाया जावेगा अथवा किसी अन्य शिड्यूल बैंक में जमा कर दिया जावेगा।

प्रत्येक बैंक (शिड्यूल बैंकों को छोड़कर) को रिज़र्व बैंक के पास अपने चालू जमा (Current Deposit) का ५ प्रतिशत तथा मुद्दती जमा (Fixed Deposit) का १॰ प्रतिशत जमा करना होगा और प्रत्येक महीने रजिस्ट्रार को एक लेखा भेजना होगा जिसमें पिछले महीने के प्रत्येक शुक्रवार को उसकी कितनी देना (Liability) थी तथा उसके पास कितना नक़द कोष (Cash Reserve) था यह बताना होगा।

जो भी व्यक्ति किसी बंकिंग कम्पनी का ऋणी हो अथवा आगे चल कर उसका क़र्ज़दार हो जाय उसका आडिटर (आयव्यय निरीक्षक) नहीं बनाया जा सकता। बैंकिंग कंपनी को अपने लेखा देनी के लखे (Balance Sheet) में बैंक के डायरेक्टरों, मैनेजरों तथा कम्पनी के अन्य कर्मचारियों पर कितना ऋण है यह अलहदा दिखलाना होगा।

रिज़र्व बैंक का बैंक एक्ट बनाये जाने का प्रस्ताव—नवम्बर १९३६ में रिज़र्व बैंक ने भारत सरकार को एक पत्र लिखा और उसमें इसका बैंक ऐक्ट बनाये जाने की आवश्यकता बतलाई। साथ ही बैंक ऐक्ट में किन बातों का समावेश होना चाहिये उसका एक लेखा बनाकर भेजा। रिज़र्व बैंक का कहना यह था कि अधिकांश बैंकों की पूँजी और रक्षित कोष बहुत कम है तथा वे डिपाज़िटरों के हितों की चिन्ता नहीं करते इस कारण सरकार को एक क़ानून बना कर डिपाज़िटरों के हितों की रक्षा करनी चाहिये।

रिज़र्व बैंक का प्रस्तावित बैंक बिल इस प्रकार था—"बैंक की परिभाषा अधिक निश्चित और सीमित कर देनी चाहिए और कोई भी कंपनी जो बैंकिंग-कार्य नहीं करती उसे अपने नाम के आगे बैंक शब्द जोड़ने का अधिकार नहीं होना चाहिये। जो कंपनी बैंकिंग-कार्य करती है वह अपने नाम के साथ बैंक शब्द अवश्य जोड़े। कोई भी बैंक उन कार्यों के अतिरिक्त अन्य कारबार नहीं करेगा जिनका बिल में समावेश है।

"कोई भी बैंक उस समय तक बैंकिंग कार्य न कर सकेगा जब तक उसकी चुकता पूँजी और रक्षित कोष (Reserve) कम से कम एक लाख रुपये न हो, और यदि बैंक नीचे लिखे स्थान में से किसी में कारबार करता है अर्थात् ब्रांच खोलता है तो उसको प्रत्येक स्थान के लिए नीचे लिखे अनुसार पूँजी रखनी होगी—बम्बई और कलकत्ते के लिए ५ लाख, प्रत्येक ऐसे स्थान के लिए जिसकी आबादी एक लाख से अधिक हो कम से कम २ लाख रुपये। यदि बैंक

उस प्रान्त या राज्य के बाहर ब्रांच खोलना चाहता है जिसमें उसका हेड आफ़िस है तो उसकी चुकता पूँजी (Paid up Capital) और रक्षित कोष कम से कम २० लाख रुपये होना चाहिए। अर्थात् यदि बैंक की चुकता पूँजी और रक्षित कोष २० लाख रुपये से अधिक है तो वह भारतवर्ष भर में जहां चाहे ब्रांचें खोल सकता।

"किसी बैंक की विक्रीत पूँजी (Subscribed capital) उसकी अधिकृत पूँजी (Authorised capital) की आधी से कम और चुकता पूँजी (Paid up capital) विक्रीत पूँजी से आधी से कम न होगी। उदाहरण के लिए यदि किसी बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised capital) ४ करोड़ रुपये हैं तो कम से कम २ करोड़ रुपये उसकी विक्रीत पूँजी होनी चाहिए और १ करोड़ रुपये उसकी चुकता पूँजी होनी चाहिए।

"प्रत्येक बैंक को रिज़र्व बैंक के पास अपनी चालू जमा और मुद्दती जमा का ३० प्रतिशत या नक़द कोष (Cash Reserve) के रूप में अथवा रिज़र्व बैंक द्वारा स्वीकृत सिक्यूरिटियों के रूप में रखना होगा। प्रत्येक बैंक को प्रत्येक वर्ष १ फरवरी के पहले रिज़र्व बैंक में अपनी कुल डिपाज़िटों का लेखा तथा बैंक के पास कितनी लेनी (Assets) है उसका लेखा भेजना होगा। कुल देनी (Liabilities) की ७५ प्रतिशत लेनी (Assets) वह होगी जिन्हें रिज़र्व बैंक स्वीकार करे।"

किन्तु भारत सरकार ने उस समय बैंक ऐक्ट बनाना अस्वीकार कर दिया। भारत सरकार का कहना था कि युद्ध समाप्त हो जाने के उपरान्त ही इस प्रकार का कानून बनाना उचित होगा। किन्तु १९४१ और १९४२ में नये बैंकों की एक बाढ़-सी आ गई, बहुत से नये बैंक स्थापित हुए। उनमें से बहुतों की अधिकृत पूँजी (Authorised capital) तो बहुत अधिक थी किन्तु चुकती पूँजी बहुत कम थी। साथ ही बहुत से बैंकों ने पूर्वाधिकार वाले हिस्से (Preferential Shares) साधारण हिस्से (Ordinary Shares) तथा विलम्बित हिस्से (Deferred Shares) निकाले और पूर्वाधिकार वाले हिस्सों को मत देने का अधिकार ही नहीं दिया और विलम्बित हिस्सों (Deferred Shares) का मूल्य बहुत थोड़ा रक्खा - एक या दो रुपया, और उनको भी मत का अधिकार उतना ही दिया जितना साधारण हिस्से वालों को था जिनका मूल्य बहुत अधिक था। सच तो यह था कि यह युक्ति कुछ लोगों ने बैंक में बहुत कम पूँजी लगा कर बैंक को अपने हाथ में रखने के लिए निकाली थी। उदाहरण के लिए यदि एक बैंक स्थापित किया जाता है, उसकी विक्रीत पूँजी (Subscribed capital) केवल एक करोड़ रुपया है। इसमें २० हज़ार पूर्वाधिकार वाले हिस्से (Preferential Shares) हैं, जिनका

मूल्य प्रति हिस्सा १०० रुपया है जो पूरा चुका दिया गया है। ७५ हज़ार साधारण हिस्से हैं जिनका मूल्य प्रति हिस्सा १०० रुपया है जो पूरा चुका दिया गया है और केवल ५ लाख विलम्बित हिस्से (Deferred Shares) जिनका मूल्य प्रति हिस्सा ५० रु० है और जिन पर प्रति हिस्सा केवल १ रुपया चुकाया गया है। अब बैंक को स्थापित करने वाले चतुर व्यवसायी विधान में यह नियम बना दें कि पूर्वाधिकार वाले हिस्सों को मतदान का कोई अधिकार न होगा अथवा एक हिस्से का एक वोट होगा और प्रत्येक साधारण हिस्से का एक वोट होगा और प्रत्येक विलम्बित हिस्से का भी एक वोट होगा और ये सब विलम्बित हिस्से खरीद लेते हैं और इन पर प्रति हिस्से के हिसाब से एक रुपया चुका देते हैं तो वे केवल १ लाख रुपया लगा कर ५ लाख वोट प्राप्त कर लेंगे और साधारण हिस्सेदार और पूर्वाधिकार वाले हिस्सेदार ६५ लाख रुपये लगाकर भी कुल ६५ हज़ार वोटों के अधिकारी होंगे। इस प्रकार बैंक उन लोगों के निर्देशन चालाकी से विलम्बित हिस्से खरीद लिए हैं अधिकार में चला जायगा।

जब रिज़र्व बैंक ने देखा कि नवीन स्थापित बैंकों में यह दोष बड़ी मात्रा में पाया जाता है तो उसने भारत सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। भारत सरकार ने १६... में कम्पनी एक्ट में संशोधन कर दिया और उसके अनुसार यह निश्चित होगया कि जिस कम्पनी के नाम के साथ बैंक या बैंकर लगा है उसको बैंकिंग कम्पनी स्वीकार किया जायेगा, फिर चाहे उसका मुख्य कार्य ऐसा डिपाज़िट लेना जो कि चेक से निकाला जा सके हो या न हो। उसके साथ ही सरकार ने यह भी नियम बना दिया कि प्रत्येक बैंक की विक्रीत पूँजी (Subscribed capital) कम से कम अधिकृत पूँजी (Authorised capital) की आधी होगी और चुकता पूँजी (Paid-up capital) विक्रीत पूँजी की कम से कम आधी होगी। और बैंक या तो केवल साधारण हिस्से (Ordinary Shares) ही रक्खें या यदि भिन्न प्रकार के हिस्से रक्खें तो उनके मतदान का अधिकार उनकी पूँजी के अनुपात में ही होगा। उदाहरण के लिए ऊपर जिस कल्पित बैंक का हमने उल्लेख किया है, यदि उसमें पूर्वाधिकार वाले हिस्सेदारों को २० हज़ार, साधारण हिस्सेदारों को ७५ हज़ार तथा विलम्बित हिस्सेदारों को केवल ५ हज़ार मत देने का अधिकार होगा।

इतना सब कुछ होने पर भी कुछ काल में नये बैंकों की स्थापना इस तेज़ी से हुई और उनमें कुछ ऐसे दोष दृष्टिगोचर होने लगे कि भारत सरकार को स्वतंत्र बैंक कानून बनाने के लिए विवश होना पड़ा और १६४५ में भारत सरकार ने एक बिल धारा सभा में उपस्थित किया। यह प्रस्तावित बैंक कानून रिज़र्व बैंक के

प्रस्तावित बैंक बिल के अनुसार ही था। केवल उसमें इतना ही अन्तर था कि इस प्रस्तावित कानून में बैंक की परिभाषा इस प्रकार की गई—बैंक वह है जो अभियाचन डिपाज़िट या जमा (Demand Deposit) स्वीकार करे। इस प्रस्तावित कानून के अनुसार कोई भी बैंक अपने डायरेक्टरों को अथवा उस फर्म या कम्पनी को जिसका साझेदार, डायरेक्टर या मैनेजिंग एजेंट बैंक का कोई डायरेक्टर हो अरक्षित ऋण (Unsecured loan) नहीं दे सकता था, और प्रत्येक बैंक को जो अपने जन्म प्रांत के बाहर कारबार करे कम से कम २० लाख रुपये की चुकता पूँजी और रक्षित कोष रखना आवश्यक था। इस प्रकार बम्बई या कलकत्ता में ब्रांच खोलने के लिए ५ लाख, प्रत्येक ऐसे स्थान पर जिसकी आबादी १ लाख से ऊपर हो २ लाख और प्रत्येक दूसरी ब्रांचों के लिए प्रति ब्रांच के हिसाब से १० हजार रुपये की पूँजी और रक्षित कोष आवश्यक था। कोई भी बैंक एक लाख की पूँजी और रक्षित कोष के बिना बैंक-कार्य नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त प्रस्तावित कानून में प्रत्येक बैंक को अपनी कुल डिपाज़िट का २५ प्रतिशत रिज़र्व बैंक के पास नकद कोष (Cash Reserve) अथवा सरकारी और ट्रस्ट सिक्यूरिटियों के रूप में रखना अनिवार्य किया गया था।

इस बिल में उन कार्यों का भी उल्लेख किया गया था जो एक बैंक कर सकता था। यह इसलिये किया गया था कि जिससे रुपया जमा करने वालों की अमानत (जमा) को सुरक्षा हो। बिल का उद्देश्य यह था कि व्यापारिक बैंक अपना धन उद्योग-धंधों में लम्बे समय के लिये न लगावें। उसके लिये औद्योगिक बैंकों की स्थापना आवश्यक है। जरमनी, इटली और बेलजियम में जिस प्रकार व्यापारिक कारबार करने के साथ-साथ स्थायी अथवा अर्ध स्थायी रूप से उद्योग-धंधों में पूँजी लगाने की परिपाटी चल पड़ी है उसे भारत में न पनपने देना ही इस धारा का उद्देश्य था।

बिल में दो धारायें इस आशय की भी थीं कि बैंक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किसी प्रकार की व्यापारिक जोखिम को अपने ऊपर नहीं लेंगे और इस उद्देश्य से वे बैंकिंग कार्य के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार को नहीं करेंगे।

बिल में एक धारा इस आशय की भी थी जो बैंक भारत या ब्रिटेन के बाहर स्थापित हुए हैं और वे भारत में अपना कारबार करते हैं उन्हें रिजर्व बैंक के पास रिज़र्व बैंक द्वारा निश्चित अमानत (जमा) रखनी होगी। इसके द्वारा उन भारतीयों को जो विदेशी बैंकों में अपना रुपया जमा करते हैं थोड़ी सुरक्षा देने का प्रयत्न किया गया था।

इस बिल के अनुसार प्रत्येक बैंक के लिए यह अनिवार्य बना दिया गया कि

वे प्रत्येक महीने अपने कारबार का लेखा और उन्होंने अपनी पूँजी कहाँ लगाई इसका ब्यौरा रिज़र्व बैंक को देंगे जिससे रिज़र्व बैंक उनकी गतिविधि से पूरा तरह से परिचित हो सके।

बिल के अनुसार रिज़र्व बैंक को अन्य बैंकों की जाँच करने का भी अधिकार प्राप्त था।

किन्तु १९४५ का यह बैंकिंग बिल व्यवस्थापिका सभा के भंग हो जाने के कारण व्यवस्थापिका सभा के सामने उपस्थित न किया जा सका।

अन्त में १० अप्रैल १९४६ को तत्कालीन अर्थ सदस्य सर रौलैंड्स ने पुराने बिल का संशोधन करके फिर एक बिल व्यवस्थापिका सभा के सामने उपस्थित किया जो सलेक्ट कमेटी के सुपुर्द कर दिया गया। यह बिल १९४५ के बिल के आधार पर ही बनाया गया था। इसमें केवल कुछ संशोधन किये गये थे। इस नये बिल के अनुसार रिज़र्व बैंक को विदेशी बैंकों के भी हिसाब तथा कारबार की जाँच करने का अधिकार था। यह बिल विदेशी बैंकों पर भी लागू होता था। इसके अनुसार एक विशेष प्रकार का लेना देना का लेखा (Balance Sheet) निर्धारित कर दिया गया तथा रिज़र्व बैंक को अन्य बैंकों से सारी जानकारी प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया था। बैंकों को बैंकिंग कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य करने की मनाही कर दी गई थी। बिना पूर्व आज्ञा लिए कोई दो बैंक का जहाँ तक पूँजी के संगठन का प्रश्न था वह पूर्ववत् ही रक्खा गया।

किन्तु यह बिल भी शीघ्र पास न हो सका। इस बीच में आवश्यकता पड़ने के कारण सरकार ने १९४६ में एक आर्डिनेंस बनाकर रिज़र्व बैंक को अन्य बैंकों की जाँच का अधिकार दे दिया। साथ ही रिज़र्व बैंक को यह भी अधिकार दे दिया गया कि यदि उसकी जाँच का परिणाम यह निकले कि बैंक का कार्य ठीक नहीं है तो रिज़र्व बैंक उस बैंक को आगे जमा न लेने की आज्ञा दे सकता है और उसको शिड्यूल बैंक की श्रेणी से निकाल सकता है। रिज़र्व बैंक ने इस अधिकार का प्रयोग किया और इंटर नेशनल बैंक आव इंडिया, आर्यन बैंक तथा ज्वाला बैंक को आगे डिपाजिट न लेने की आज्ञा दे दी।

एक दूसरे आर्डिनेंस से भारतीय बैंकों को बेयरर प्रामिसरी नोट निकालने की मनाही कर दी गई। बात यह थी कि यदि कोई बैंक बेयरर प्रामिसरी नोट निकाले तो वे बिना किसी अड़चन के एक हाथ से दूसरे हाथ में जा सकते हैं और उनका चलन बैंक नोटों के अनुसार होने लग सकता है।

एक तीसरा विधान यह बनाया गया कि कोई बैंक बिना रिज़र्व बैंक की आज्ञा प्राप्त किए कोई नई शाखा नहीं खोल सकेगा और न स्थापित शाखा के

स्थान को ही बदल सकेगा। रिज़र्व बैंक उस बैंक की आर्थिक स्थिति, प्रबन्ध, उस बैंक का पुराना इतिहास, लाभ की आशा तथा जनहित को ध्यान में रखकर किसी बैंक की स्थापित ब्रांच को बंद करने तथा उसके स्थान परिवर्तन की आज्ञा देगा अथवा नहीं देगा।

बैंकिंग बिल १९४८ :—१९४६ का बैंक बिल भी केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में न लाया जा सका क्योंकि अगस्त १९४७ में भारत स्वतन्त्र हो गया अतएव उस बिल में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अस्तु; पुराने बिल को सरकार ने वापस ले लिया और १९४८ में एक नया बिल सारे देश के बैंकों के लिये व्यवस्थापिका सभा के सामने उपस्थित किया गया। फरवरी, १९४९ में संसद से यह बिल पास हो गया, और १६ मार्च १९४९ से वह एक्ट के रूप में लागू कर दिया गया। इस एक्ट की मुख्य मुख्य बातें ये हैं :—

(१) बैंक की एक विस्तृत परिभाषा स्वीकार कर ली गई है। उस परिभाषा के अनुसार जो भी संस्था ऋण देने के लिए अथवा विनियोग (Investment) के लिए किसी भी प्रकार की जमा (डिपाज़िट) स्वीकार करे और जो चैक, ड्राफ्ट, आदेश या अन्य प्रकार से वापिस लिया जा सके, वह बैंक की श्रेणी में गिनी जावेगी।

(२) प्रत्येक बैंक को रिज़र्व बैंक से लाइसेंस प्राप्त करना होगा। विदेशी बैंक के बारे में रिज़र्व बैंक वह इतमीनान करेगा कि उसके देश में भारतीय बैंक के विरुद्ध जो भारत में रजिस्टर हुआ है कोई पक्षपात तो नहीं होता।

(३) बैंक की न्यूनतम पूँजी और रक्षित कोष के बारे में एक्ट में विधान किया गया है।

(४) शिड्यूल बैंक तो रिज़र्व बैंक एक्ट १९३४ के तहत में रिज़र्व बैंक के पास जमा रखते हैं और साप्ताहिक स्टेटमेंट पेश करते हैं। इस एक्ट के तहत में नोन-शिड्यूल बैंकों को 'डिमान्ड लाइबिलटी' का ५% और 'टाइम लाइबिलटी' का २% रिज़र्व बैंक में जमा के रूप में रखना होगा। और मासिक स्टेटमेंट, जिसमें नकद और 'डिमांड तथा टाइम लाइबिलटीज़' दिये होंगे, पेश किया जायगा।

(५) एक्ट के लागू होने के दो वर्ष बाद बैंकिंग कम्पनियों को उनकी भारत में जितनी 'डिमांड और टाइम लाइबिलटीज़' हैं उनका २०% नकद, सोना, या ऐसी स्वीकृत सिक्यूरिटीज़ में जिन पर कोई देनदारी नहीं हैं रखना होगा। उनको राज्यों में हर तीसरे माह के अन्त में उनकी 'टाइम और डिमांड लाइबिलटीज़' का कम से कम ७५% के बराबर ऐसेट्स रखने होंगे।

(६) बैंकों में डाइरेक्टरों की आपस में नियुक्ति (इंटर लोकिंग) नहीं

हो सकती, मैनेजिंग एजेंट नहीं नियुक्त हो सकते, डाइरेक्टरों या जिन फर्मों से वे दिलचस्पी रखते हैं उनको बिना ज़मानत के क़र्ज़ नहीं दिया जा सकता। जिन कम्पनियों में बैंक के डाइरेक्टरों का स्वार्थ है उनको बिना ज़मानत पर दिये गये क़र्ज़ का स्टेटमेंट प्रतिमास रिज़र्व बैंक को भेजना होगा।

(७) रिज़र्व बैंक देश के बैंकों पर हर प्रकार से नियन्त्रण रख सकेगा। जैसे उनको उनकी ऋण नीति के बारे में आदेश दे सकता है। किस काम के लिये क़र्ज़ दिया जाय या न दिया जाए, किस सूद की दर पर दिया जाय, कितना मार्जिन रक्खा जाय, अमुक या अमुक प्रकार के सौदे किये जाय, यह सब आदेश रिज़र्व बैंक दे सकता है। वह आवश्यक जानकारी माँग सकता है, उसे प्रकाशित कर सकता है, बैंकों का निरीक्षण कर सकता है। नई ब्रांच खोलने या मौजूदा ब्रांच का स्थान बदलने के लिए बैंक की स्वीकृति आवश्यक है। भारत-सरकार को देश की बैंकिंग स्थिति के बारे में रिज़र्व बैंक का सालाना रिपोर्ट पेश करना होगा।

(८) रिज़र्व बैंक को स्वेच्छा से कारोबार बंद करने और बैंकों के आपस में मिलने के सम्बन्ध में भी कुछ अधिकार दिये गए हैं। उसे ओफिशियल लिक्विडेटर भी नियुक्त किया जा सकता है। मार्च १९५० में मुख्यतः बैंकों के आपस में मिलन या उनके लिक्विडेशन के बारे में सरल पद्धति का व्यवस्था करने के उद्देश्य से उपयुक्त एक्ट का संशोधन भी किया जा चुका है।

१० द्वितीय महायुद्ध तथा देश के विभाजन का भारतीय बैंकिंग पर प्रभाव—(१) द्वितीय महायुद्ध का भारतीय बैंकिंग पर पहला प्रभाव यह पड़ा कि यहां नये बैंकों की बाढ़ सी आ गई, अनेक नये बैंक स्थापित हुए और पुराने बैंकों ने तेज़ी से अपना कार्यों को बढ़ाया। इसका कारण यह था कि युद्धकाल में धन्धों को खड़ा करने के लिए मशीन तथा यन्त्र भी विदेशों से आ नहीं सकते थे जो फैक्टरियां स्थापित की जा सकतीं और न इमारतें इत्यादि बनाने की सुविधा थी। किन्तु बैंक स्थापित करने में इन चीज़ों की आवश्यकता न था। उसके लिए केवल अल्पकालीन कोष (Short term Funds) की आवश्यकता थी और वह युद्ध काल में इस देश में बहुतायत से उपलब्ध था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक बड़े पूँजीपति या व्यवसायी ने अपना बैंक खड़ा कर दिया। आज ऐसा कोई प्रसिद्ध भारतीय व्यवसायी नहीं है जिसने इस समय एक बैंक स्थापित नहीं किया। यदि भारत सरकार नई मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों के स्थापित होने पर रोक न लगा देती तो सम्भवतः भारत में अनाप शनाप बैंकों की वृद्धि होती। फिर भी जहां १९३८-१९३९ में शिड्यूल्ड बैंकों की संख्या ५१ था वह १९४७-१९४८ में बढ़ कर १०१ हो गई थी और १९४९-५० में ९४ थी। इसी प्रकार १९३८ में

शिड्यूल बैंकों की ब्रांचों की संख्या जो १२७८ थी वह ३१ मार्च १९४६ को बढ़ कर ३००८ हो गई थी।

बैंकों की इस कल्पनातीत वृद्धि के होने पर प्रति ब्रांच बड़े बैंकों में १५ लाख रुपये और साधारण और छोटे बैंकों मे ३ लाख रुपये से डिपाजिटों का औसत कम नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि युद्ध-काल में बैंकों की डिपाज़िट भी बेहद बढ़ गई। इम्पीरियल बैंक विनिमय बैंकों और भारतीय मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की स्थिति १९४१ तक लगभग पूर्ववत ही रही, परन्तु जापान के युद्ध में सम्मिलित होते ही विनिमय बैंकों (एक्सचेंज बैंकों) की आनुपातिक डिपाज़िट गिरने लगी। जहाँ युद्ध के पूर्व एक्सचेंज बैंकों की डिपाज़िट कुल बैंकों की डिपाज़िटों का २६.५ प्रतिशत थीं वहाँ १९४२ में वह २५ प्रतिशत और १९४३ में २० प्रतिशत से भी कम हो गई। ३१ दिसम्बर १९४६ को कुल डिपाज़िट का १८ प्रति शत भाग एक्सचेंज बैंक, ७७ प्रतिशत भाग दूसरे शिड्यूल बैंक और ५ प्रतिशत भाग नोन शिड्यूल बैंकों का था।

युद्ध का दूसरा प्रभाव यह हुआ कि बैंकों की डिपाजिट में कल्पनातीत वृद्धि हुई। इम्पीरियल बैंक, एक्सचेंज बैंक तथा अन्य शिड्यूल बैंकों की कुल डिपाज़िट युद्ध आरम्भ होने के समय २३८ करोड़ रुपये थीं। १९४४ में वही बढ़कर ७८२ करोड़ रुपये हो गई। और जनवरी १९४८ में वही बढ़कर १०८० करोड़ रुपये के लगभग हो गई। पर इसके बाद कई कारणों से डिपाज़िट कम हुए हैं। डिपाज़िट वृद्धि का मुख्य कारण यह था कि युद्ध के व्यय के कारण मुद्रा का देश में बहुत विस्तार हुआ था। रिज़र्व बैंक तथा सरकार ने अनाप-शनाप नोट छापे। बैंकों की डिपाज़िटों की वृद्धि का एक कारण था कि बैंकों ने नये क्षेत्रों में प्रवेश किया था तथा ब्रांचों का बहुत विस्तार हुआ था।

बैंकों की डिपाज़िटों के सम्बन्ध में एक और आश्चर्यजनक बात हुई। युद्ध आरम्भ होने के पूर्व मुद्दती जमा (Fixed Deposits) का कुल डिपाजिटों का अनुपात ५० प्रतिशत था अर्थात् मुद्दती जमा आधी थी, किन्तु युद्ध काल में मुद्दती जमा तो बहुत कम बढ़ी किन्तु चालू जमा (Current Deposit) बहुत अधिक बढ़ गई। इसके तीन मुख्य कारण थे। पहला कारण तो यह था कि सूद की दर बहुत गिर गई थी। १९३१ के उपरान्त सूद की दर गिरती ही चली जा रही थी इस कारण सर्वसाधारण को एक वर्ष के लिए रुपया अटकाने में कोई लाभ नहीं दिखता था। वह चालू खाते में रुपया जमा करना पसन्द करती थी। किन्तु यह प्रभाव युद्ध के पहले से ही काम कर रहा था। दूसरा कारण यह था कि सर्व साधारण कीमतें बहुत ऊँची होने के कारण अपनी बचत को

तरल रूप (Liquid Form) में रखना चाहती थी कि जब अवसर आवे तभी अपनी रकम को इन चीजों के खरीदने में उपयोग कर सके। तीसरा कारण चालू जमा की अत्यधिक वृद्धि का यह था कि युद्ध काल में मशीनें तथा अन्य सामान न मिलने के कारण नये कारखाने न स्थापित हो नहीं सकते थे कि जिनमें व्यवसायी तथा व्यापारी अपने बढ़ते हुए लाभ को लगा सकते, अतएव वे उस धन को अपने कारखानों की कार्यशील पूँजी (Working Capital) को बढ़ाने में लगाते थे जिससे वे उन कारखानों में अधिक से अधिक उत्पादन कर सकें। १९४६ में कुल ९०१.७ करोड़ के डिपाजिट थे जिसमें मुद्दती जमा २३२.४३ करोड़ सेविंग्स १८६.५ करोड़ चालू जमा ९६०.९१ करोड़ और अन्य ५१.८६ करोड़ था। [कामर्स ३ मार्च, १९५१]

युद्ध का तीसरा प्रभाव यह पड़ा कि बैंकों की चुकता पूँजी या परिदत्त पूँजी (Paid up Capital) और रक्षित कोष उनके डिपाजिटों की तुलना में बहुत घट गई। इम्पीरियल बैंक की पूँजी और रक्षित कोष उसके डिपाजिटों की तुलना में जहाँ १९३९ में १०.८ प्रतिशत था वह घट कर ४.४ प्रतिशत रह गया, पाँच बड़ों की परिदत्त पूँजी और रक्षित कोष ९.३ प्रतिशत से घट कर ४.५ प्रतिशत रह गई। इसका फल यह हुआ कि बहुत से बैंकों ने अपनी पूँजी (Capital) को बढ़ाया।

युद्ध का चौथा प्रभाव यह हुआ कि उद्योग धन्धों और व्यापार के लिये जो ऋण की माँग थी वह कम हो गई किन्तु सरकार ने एक के बाद दूसरे ऋण निकालने आरम्भ किये। १९३९ में जहाँ बैंक अपनी कुल डिपाजिटों का ४८ प्रतिशत ऋण, नकद साख तथा बिलों के रूप में धन्धों और व्यापार में लगाते थे वहाँ १९४५ में उन्होंने अपनी डिपाजिटों का कुल २० प्रतिशत इस रूप में लगाया। जैसे जैसे युद्ध चलता गया उद्योग धन्धों को बैंकों से उधार लेने की आवश्यकता कम होती गई। उनके लाभ को व्यवसायी चालू खाते में रखते थे और उसी को कार्यशील पूँजी (Working Capital) के रूप में लाते थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बैंकों ने अपने कोष (Funds) को सरकारी सिक्यूरिटियों में अधिकाधिक लगाना आरम्भ कर दिया। यही नहीं, बैंकों ने नकद कोष (Cash Reserve) भी अधिक रखना आरम्भ कर दिया। शिड्यूल बैंक १५ प्रतिशत, इम्पीरियल बैंक १५ से २५ प्रतिशत, बड़े पाँच १८ प्रतिशत, और वे बैंक जो शिड्यूल बैंक नहीं हैं ११ प्रतिशत नकद कोष रखने लगे। दूसरे शब्दों में युद्ध काल में बैंकों का तरल लेना (Liquid Assets) का अनुपात बढ़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंकों को अपने व्यय पर

सूद की कम आय होने लगी इस कारण उन्होंने भी डिपाज़िटों पर सूद कम कर दिया।

युद्ध का पाँचवाँ प्रभाव यह पड़ा कि बैंकों में कुछ खराबियों और उनकी कार्य-पद्धति में कुछ कमी दृष्टिगोचर होने लगी। अतएव रिज़र्व बैंक ने भारत सरकार का ध्यान आकर्षित किया और भारत सरकार ने कंपनी एक्ट में कुछ सुधार किये तथा एक बैंक-कानून पास किया।

युद्ध का छठा प्रभाव यह पड़ा कि बैंकों की वृद्धि होने के कारण बैंक-कर्मचारियों का टोटा पड़ गया। नये बैंकों ने पुराने बैंकों के कर्मचारियों को अधिक वेतन देकर अपने यहाँ रख लिया और प्रत्येक बैंक को यह आवश्यकता अनुभव होने लगी कि युवकों को अपरेंटिस रखकर उनको बैंक-कार्य सिखाने का प्रबन्ध किया जावे।

अन्तिम प्रभाव यह हुआ कि भारतीय बैंक यह अनुभव करने लगे कि अखिल भारतीय बैंकर्स एसोसियेशन स्थापित की जावे जो अस्वास्थकर होड़ को रोके तथा बैंकों में सद्भावना और परस्पर सम्बन्ध स्थापित करे। साथ ही ऊँचे दर्जे की बैंकिंग परम्परा का निर्माण करे तथा बैंकों और रिज़र्व बैंक के बीच में एक कड़ी का काम दे। यह एसोसियेशन भारतीय बैंकों की कठिनाइयों तथा माँगों को सरकार के सामने रख सकेगी और उनका प्रतिनिधित्व कर सकेगी। यही कारण था कि बम्बई के बैंकरों ने उसको स्थापित करने का प्रयत्न किया।

यद्यपि युद्ध के फलस्वरूप भारत में बैंकों का तेज़ी से विस्तार हुआ किन्तु उस बाढ़ में बहुत से निर्बल बैंक भी स्थापित किए गए और वे डिपाज़िट लेने के लिए अस्वास्थकर प्रतिस्पर्धा करने लगे। विशेष कर बंगाल और पंजाब में इस प्रकार के बहुत से छोटे-छोटे बैंक स्थापित हुए। १६४७ में इनमें से पचास से अधिक बैंक डूब गये। भविष्य में बैंकों को सबल और सुदृढ़ बनाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि छोटे बैंक दूसरे बैंकों से मिल जावें। देश में इस समय बैंकिंग सम्मिश्रिण (Banking Amalgamation) की आवश्यकता है तभी बैंकिंग व्यवसाय उन्नति कर सकेगा।'

देश के स्वतंत्र होने तथा विभाजन का प्रभाव—१५ अगस्त १६४७ को भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया किन्तु साथ ही उसका विभाजन भी हो गया। उसके फलस्वरूप जो पंजाब, सीमाप्रान्त तथा सिंध इत्यादि में हत्याकांड हुआ उसमें उत्तर-पश्चिम भारत में फैले हुए बैंकों की बहुत अधिक हानि हुई है। वहाँ का व्यापार तथा व्यवसाय चौपट हो गया और बैंकों का जो रुपया लगा हुआ था वह बहुत कुछ डूब गया।' फिर भी यह कहना होगा कि बैंकों ने इस हानि को सहन

कर लिया और उनमें से अधिकांश की स्थिति अच्छी है। हाँ इसका एक प्रभाव अवश्य हुआ है। पंजाब तथा पाकिस्तान के बहुत से बैंक अपने हेड आफिसों को वहाँ से हटाकर भारत में ले आये हैं। साथ ही बहुत से बैंक सम्भवतः वहाँ अपनी शाखाओं को भी बन्द कर दें।

११ अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष (International Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank)—द्वितीय संसार व्यापी महायुद्ध (१९३९ से १९४५) के समय संयुक्त राज्य अमरीका तथा ब्रिटेन के अर्थशास्त्रियों ने यह अनुभव किया कि संसार के प्रत्येक देश की करंसी को स्थायित्व प्रदान करना तथा भिन्न भिन्न देशों की करेंसी की विनिमय दर (Exchange Rates) का अधिक घटना या बढ़ना न होना देशों की आर्थिक उन्नति तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध के लिए आवश्यक है। अतएव जुलाई १९४४ में संयुक्त राज्य अमरीका ने ब्रिटन वुड्स नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्मेलन (International Monetary Conference) हुआ जिसमें एक 'अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष' तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना का निश्चय हुआ है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष का मुख्य उद्देश्य एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा पद्धति या द्रव्य पद्धति (Monetary System) की पुनः स्थापना करना है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्बन्धी सहयोग स्थापित हो सके। अर्थशास्त्रियों का यह दृढ़ विचार था कि बिना इसके संसार के भिन्न भिन्न देशों में उत्पादन को तेजी से बढ़ाया नहीं जा सकता और न बेकारी को ही दूर किया जा सकता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) के साथ ही एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की भी स्थापना आवश्यक समझी गई जो भिन्न-भिन्न देशों की औद्योगिक उन्नति में सहायक होगा। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष सदस्य देशों की अल्पकालीन साख (Short Term Credit) की आवश्यकताओं को पूरा करेगा और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य देशों के औद्योगिक विकास के लिये लम्बे समय के लिए पूँजी की व्यवस्था करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में उपस्थित सभी विद्वानों का मत था कि संसार व्यापी महायुद्ध से अधिकांश देशों का आर्थिक ढाँचा जर्जर हो गया है। अस्तु यदि प्रत्येक देश युद्ध की समाप्ति के उपरान्त अपनी करेंसी का स्वतन्त्र रूप से प्रबन्ध करेगा तो विनिमय दर (Exchange Rates) में बहुत घटबढ़ होगी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति अवरुद्ध होगी। इसका प्रभाव उन देशों की आर्थिक स्थिति पर बुरा होगा और उनकी आर्थिक उन्नति नहीं होगी। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि भिन्न भिन्न देशों की करेंसी तथा उनकी विनि-

मय दर (Exchange Rates) को स्थायित्व प्रदान किया जावे। इसी के साथ 'कोष' का यह उद्देश्य भी है कि विनिमय दर सम्बन्धी तमाम प्रतिबंध, और मुद्रा सम्बन्धी भेद नीति का अन्ततोगत्वा अन्त हो। हां, कुछ समय के लिए किन्हीं प्रतिबन्धों को रहने दिया जा सकता है।

१६३१ के पूर्व स्वर्ण प्रमाण (Gold Standard) के द्वारा संसार के भिन्न-भिन्न देशों की करंसी की विनिमय दर को स्थायित्व (Stability) प्रदान होता था। किन्तु एक के बाद दूसरे देश ने स्वर्ण प्रमाण को छोड़ दिया और अब अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मत है कि स्वर्ण प्रमाण (Gold Standard) बहुत ही कम लचीला और अव्यवहार्य है। अस्तु; इस बात की आवश्यकता हुई कि एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य पद्धति (Internatonal Monetary System) को जन्म दिया जावे जो अधिक लचीली हो। इसी उद्देश्य ने अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और विनिमय दर का स्थायित्व :—यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों की करंसी की विनिमय दरों को स्थायित्व प्रदान करना है। इसके लिए आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न देशों की करंसी के लिए एक सर्वमान्य आधार हो। अस्तुः प्रत्येक सदस्य देश को अपनी करंसी का मूल्य सोने में निश्चित कर देना होगा। अस्तु; सोने के द्वारा संसार के प्रत्येक देश की करंसी की विनिमय की सममूल्य दर (Parity of Exchange) निर्धारित हो जावेगी। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के द्वारा (International Monetary Fund) भिन्न-भिन्न सदस्य देशों की विनिमय दरों को एक सीमा के अन्दर ही रखने का आयोजन किया जावेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि देशों की करंसी की विनिमय दर एक निश्चित सीमा से अधिक घट-बढ़ न सकेगी।

युद्ध के कारण बहुत से देशों का आर्थिक ढाँचा जर्जर हो गया है इस कारण आरम्भ में बहुत से देशों का व्यापार संतुलन (Balance of Trade) उनके विपक्ष में होगा, अर्थात् वे जितने मूल्य का माल बाहर भेजेंगे उससे बहुत अधिक मूल्य की वस्तुएँ बाहर से मँगावेंगे। ऐसी दशा में उन देशों को विदेशों की करंसी की बहुत अधिक आवश्यकता होगी और यदि उनको विदेशों की करंसी को निश्चित विनिमय दर (Exchange Rates) पर देने का प्रबन्ध न किया तो उनकी करंसी की विनिमय दर कभी स्थिर नहीं रह सकती। यदि युद्ध-जनित आर्थिक गड़बड़ी को छोड़ भी दें तो भी साधारण व्यापार में कभी-कभी व्यापार का संतुलन (Balance of Trade) किसी समय किसी देश के पक्ष में हो

सकता है और किसी देश के हित में। ऐसी अवस्था में उन देशों को जिनका व्यापार सन्तुलन उनके विपक्ष में है यदि अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से सहायता न मिले तो उनकी करेंसी का विनिमय दर स्थिर नहीं रह सकता।

अतः इस अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष उन देशों को अन्य देशों की करेंसी ऋण स्वरूप दे देगा और वे अपना देना चुकता कर सकेंगे। इस कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) सफलता-पूर्वक कर सके इस उद्देश्य से प्रत्येक सदस्य देश अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में जो उसका भाग निर्धारित है उसका कुछ भाग सोने में और शेष अपनी करेंसी (मुद्रा) में चुकायेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास प्रत्येक सदस्य देश की करेंसी यथेष्ट मात्रा में रहेगी जिससे आवश्यकता पड़ने पर सदस्य देशों को एक दूसरे की करेंसी उधार दी जा सकेगी। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में भिन्न भिन्न प्रमुख देशों का भाग इस प्रकार है।

ब्रिटन वुड्स द्रव्य सम्मेलन में जो ४४ राष्ट्र सम्मिलित हुए थे (शत्रु राष्ट्र उस समय सम्मिलित नहीं हो सकते थे) उनके लिए सम्मेलन ने कुल ८,८००,०००,००० डालर का कोटा निर्धारित किया था। और १,२००,०००,००० डालर का कोष शत्रु राष्ट्रों के लिए छोड़ दिया गया था कि युद्ध के उपरान्त वे भी कोष में सम्मिलित हों तो उनको उसमें हिस्सा दिया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में प्रमुख राष्ट्रों का भाग इस प्रकार है—संयुक्त राज्य अमेरिका २,७५०,०००,००० डालर, यूनाइटेड किंगडम १,३००,०००,००० डालर, सोवियत रूस १,२००,०००,००० डालर, चीन ५५०,०००,००० डालर, फ्रांस ४५०,०००,००० डालर, भारतवर्ष ४००,०००,००० डालर, कनाडा ३००,०००,००० डालर, निदरलैंड २७५,०००,००० डालर, बैल्जियम २२५,०००,००० डालर, आस्ट्रेलिया २००,०००,००० डालर, चेकोस्लोवाकिया तथा पोलैंड १२५,०००,००० डालर, दक्षिण अफरीका यूनियन १००,०००,००० डालर, मैक्सिको ६०,०००,००० डालर, चाइल और कोलंबिया ५०,०००,००० डालर इत्यादि।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने भाग का २५ प्रतिशत अथवा सदस्य राष्ट्र के पास कुल जितना सोना या अमरीकन डालर होगा उसका १० प्रतिशत सोना देना होगा (जो भी उस समय कम हो) और शेष रकम प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपनी करेंसी (मुद्रा) में चुकायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास सभी सदस्य राष्ट्रों की करेंसी (मुद्रा) यथेष्ट राशि में इकट्ठी हो जायेगी और जब किसी सदस्य राष्ट्र का व्यापार सन्तुलन (Balance of Trade) उसके विपक्ष में होगा और उसके पास अपने विदेशी व्यापार

ऋण को चुकाने के कोई साधन नहीं रहेंगे तो वह अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से उसी देश की करंसी को खरीद लेगा और अपने व्यापार ऋण को चुका देगा। इस प्रकार उस देश की करंसी की विनिमय दर (Exchange Rates) में विशेष घट-बढ़ न होगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक सदस्य राष्ट्र आरम्भ से ही अपने विदेशी व्यापार के ऋण को चुकाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष पर निर्भर रहेगा। साधारणतः प्रत्येक देश अपने व्यापारिक बैंकों के द्वारा अपने लेन-देन का भुगतान करते रहेंगे और जब कोई देश विदेशी व्यापार का संतुलन (Balance of Foregin Trade) अपने विपक्ष में होने के कारण किसी विदेशी करंसी को साधारणतः पाने में असमर्थता अनुभव करेगा तभी वह अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से करंसी को खरीद लेगा।

साधारणतः अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) के पास प्रत्येक सदस्य राष्ट्र की करंसी इतनी मात्रा में होगी कि उसकी कमी नहीं पड़ेगी। परन्तु विशेष परिस्थितियों में यह सम्भव है कि किसी देश विशेष का व्यापार-संतुलन (Balance of Trade) इतना अधिक उसके पक्ष में हो और अन्य सदस्य राष्ट्रों को उस देश विशेष की करंसी को अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से इतनी अधिक राशि में खरीदना पड़ जावे कि उस देश विशेष की जितनी भी करंसी अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास है वह सभी समाप्त हो जावे, ऐसी स्थिति में कठिनाई उपस्थित हो सकती है। उदाहरण के लिए पिछले महायुद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका का व्यापार-संतुलन उसके इतना अधिक पक्ष में था और संसार के अन्य राष्ट्र उसके इतने अधिक देनदार हो गए थे कि प्रत्येक देश को अमेरिका की करंसी अर्थात् डालर की आवश्यकता थी और डालर का टोटा पड़ गया था। यदि कभी ऐसी स्थिति खड़ी हो जावे कि किसी देश विशेष की करंसी का संसार में टोटा पड़ जावे और अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास भी वह करंसी कम होने लगे तो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष उस करंसी का टोटा है ऐसी घोषणा कर देगा और जितनी भी उस देश की करंसी 'कोष' के पास होगी वह प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को उनकी आवश्यकता को ध्यान में रख कर बांट देगा। अन्य सदस्य राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से परामर्श करके थोड़े समय के लिये अस्थायी रूप से उस देश से माल के आयात (Import) पर रोक लगा सकेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश से अन्य देशों का निर्यात (Export) कम हो जावेगा और उस की करंसी की माँग कम हो जावेगी। किन्तु व्यापार पर यह रोक केवल उतने समय के लिये लगाई जा सकेगी जितने से करंसी की यह कमी दूर की जा सके। जब अन्तर्राष्ट्रीय-द्रव्य-कोष इस बात की घोषणा कर देगा कि उक्त देश की

करंसी की अब कमी नहीं है तो फिर इस देश के व्यापार पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास किसी देश की करंसी की कमी को दूर करने के और भी उपाय हैं। एक उपाय तो यह है कि 'कोष' उस देश में जिसकी करंसी की कमी है अपना सोना बेचे या उस देश में ऋण ले। ऐसा करने से अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास उस देश की करंसी अधिक मात्रा में आ जावेगी और फिर वह उन सदस्य राष्ट्रों को दी जा सकेगी जिनको उस करंसी की आवश्यकता हो। ऊपर लिखे उपायों के अतिरिक्त दो उपाय और भी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank) उन देशों को न्यून करंसी (Scarce Currency) में ऋण दे सकता है जिन्हें 'न्यून करंसी' की आवश्यकता हो या फिर यह देश जिसकी करंसी न्यून है स्वयं ही अन्य देशों को ऋण दे दे, नहीं तो उसके निर्यात (Export) पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जावेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष प्रयत्न करेगा कि विनिमय दर (Exchange Rates) की स्थिरता रखने का प्रयत्न करेगा।

कोई भी सदस्य राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से एक सीमा तक अपनी करंसी देकर अन्य किसी भी राष्ट्र की करंसी खरीद सकता है और उस सीमा के उपरान्त वह सीमा देकर कभी भी किसी देश की करंसी खरीद सकता है। जहाँ तक अपनी करंसी देकर किसी अन्य देश की करंसी खरीदने का प्रश्न है प्रत्येक देश अपने भाग (कोटा) का केवल २५ प्रतिशत तक एक वर्ष के अन्दर खरीद सकता है। जब कोई देश अपनी करंसी देकर दूसरे देश की करंसी 'कोष' से खरीदेगा तो 'कोष' के पास खरीदने वाले देश की करंसी अधिक बढ़ जावेगी। परन्तु एक वर्ष में उस देश की 'कोष' में जो भाग (कोटा) है उसका २५ प्रतिशत से अधिक उस देश (खरीदने वाले) की करंसी 'कोष' के पास बारह महीने में इकट्ठा नहीं होनी चाहिए और कुल मिला कर २०० प्रतिशत अर्थात् दुगुने से अधिक उस देश (खरीदने वाले) की करंसी 'कोष' में कभी भी इकट्ठी न होना चाहिए।

जब कोई देश अन्य देश की करंसी खरीदेगा तो समसूल्य दर (Parity) के अनुसार मूल्य देने के अतिरिक्त उस देश को ¾ प्रतिशत खर्चे का देना होगा। परन्तु यदि 'कोष' के पास किसी देश की करंसी उस देश के 'कोटा' से अधिक मात्रा में लगातार तीन महीने से ऊपर समय तक इकट्ठा रहती है तो उस देश को तीन महीने व्यतीत हो जाने के उपरान्त जितनी करंसी उसके भाग से अधिक 'कोष' के पास होगी उस पर बढ़ता हुई दर से सूद देना होगा।

पहले तीन महीने तक कोई सूद नहीं लिया जावेगा। तीन महीने के उपरान्त शेष ९ महीने के लिए ½ प्रतिशत अतिरिक्त (½ प्रतिशत के ऊपर) सूद लिया जावेगा और उसके उपरान्त प्रतिवर्ष के हिसाब से ½ प्रतिशत अधिक सूद देना होगा। इस प्रकार जितने अधिक समय के लिए करंसी ली जावेगी उतनी ही प्रतिवर्ष के हिसाब से सूद की दर ½ प्रतिशत बढ़ती चली जावेगी। यही नहीं यदि किसी देश की करंसी उस देश के भाग (कोटा) से २५ प्रतिशत से अधिक इकट्ठी हो जावे किन्तु ५० प्रतिशत से कम रहे तो ½ प्रतिशत अधिक सूद लिया जावेगा और उसके उपरान्त प्रति २५ प्रतिशत के लिए ½ प्रतिशत अधिक सूद देना होगा। इस प्रकार करंसी की राशि और जितने अधिक समय के लिए करंसी ली जावेगी उसी हिसाब से सूद की दर बढ़ती जावेगी। अधिक सूद लेने की व्यवस्था इस कारण की गई है जिससे विदेशों की करंसी खरीदने वाले देश जल्दी से जल्दी उस करंसी को वापस करने का प्रबन्ध करें। अन्य देशों की करंसी लेने वाले देश को केवल अधिकाधिक सूद ही नहीं देना पड़ता वरन् उसका अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में जितने वोट (मत) देने का अधिकार है वह भी क्रमशः कम होता जाता है और जिस देश की करंसी उसने उधार ली है उसकी वोट बढ़ती जाती है।

सममूल्य परिवर्तन (Changes in Par Values) : प्रत्येक देश को अपनी करंसी की सममूल्य दर (Par of Exchange) में तभी परिवर्तन करने का अधिकार होगा जब अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष उसकी अनुमति दे दे। जब तक कोई सदस्य राष्ट्र अपनी करंसी के सममूल्य (Par of Value) में केवल १० प्रतिशत तक वृद्धि या कमी करता है तब तक कोष उसमें कोई आपत्ति नहीं *करेगा, अर्थात् १० प्रतिशत तक प्रत्येक देश में अपनी करंसी के सममूल्य में परि-*वर्तन कर सकेगा। किन्तु इसके उपरांत परिवर्तन तभी हो सकेगा जब अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष उसकी अनुमति दे दे।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank) : अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति और उनके पुनर्निर्माण में सहायता पहुँचाना है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए उन्हें ऋण देगा और अन्य देशों द्वारा दिए गए ऋण की गारंटी देगा। इस प्रकार सदस्य राष्ट्रों के औद्योगिक विकास के लिए पूँजी (Capital) की व्यवस्था करेगा, यही उसका मुख्य कार्य होगा।

साधारणतः जब कोई सदस्य राष्ट्र अपने प्राकृतिक साधनों का औद्योगिक उन्नति के लिए उपयोग करना चाहेगा और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए पूँजी चाहेगा तो वह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को अपनी योजनायें बतला कर उससे गारंटी की

व्यवस्था कर लेगा। यह सब हो जाने के उपरान्त वह सदस्य राष्ट्र संसार के प्रमुख द्रव्य-बाजारों (Money Markets) में, उदाहरण के लिए लंदन या न्यूयार्क के द्रव्य-बाजार में, ऋण लेने की व्यवस्था करेगा और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस ऋण का गारंटी कर देगा। जब किसी सदस्य राष्ट्र को व्यक्तिगत रूप से द्रव्य-बाजारों में ऋण नहीं मिल सकेगा तब बैंक उस राष्ट्र को सीधा अपने पास से ऋण देगा। जब तक किसी देश को अन्य देशों से साधारणतया ऋण मिल सकेगा तब तक बैंक उसे स्वयं ऋण नहीं देगा। इस व्यवस्था का परिणाम यह होगा कि पिछड़े और निर्धन राष्ट्र जिनको अपने उद्योग धंधों के विकास के लिए पूँजी की आवश्यकता होगी पूँजी पा सकेंगे और जिन राष्ट्रों के पास यथेष्ट अतिरिक्त पूँजी (Surplus Capital) इकट्ठी हो जावेगी वे बैंक की गारंटी होने के कारण उन राष्ट्रों को ऋण स्वरूप दे सकेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस ऋण की अदायगी की गारंटी देगा और अपनी इस सेवा के पारिश्रमिक स्वरूप वह कर्ज लेने वाले राष्ट्र से गारंटी किये हुये ऋण पर कम से कम १ प्रतिशत और अधिक से अधिक १½ प्रतिशत फीस लेगा। कर्ज लेने वाले राष्ट्र को साधारण तौर पर अपनी आर्थिक योजनाओं को पूरा करने के लिए ऋण न मिल सकें तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उन्हें अपने पास से ऋण दे देगा।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ऋण की गारंटी तभी करेगा या स्वयं तभी ऋण देगा जब वह उस योजना को देख लेगा और ऋण लेने वाले देश की अदायगी की क्षमता की जाँच कर लेगा। साथ ही यदि ऋण सदस्य राष्ट्र की सरकार नहीं ले रही है तो वह ऋण लेने वाले देश के केन्द्रीय बैंक (Central Bank) से उस ऋण की अदायगी की गारंटी ले लेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की पूँजी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) १०,०००,०००,००० डालर है। उसमें से ब्रेटन वुड्स द्रव्य सम्मेलन ने ६,१००,०००,००० डालर मित्र राष्ट्रों में (उन ४४ राष्ट्रों में जो सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे) बाट दी और शेष शत्रु राष्ट्रों के लिए छोड़ दी गई। प्रत्येक राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की पूँजी में उतना ही भाग मिला जितना उसको अन्तर्राष्ट्रीय कोष में मिला था। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका को ४६५,०००,००० डालर, चीन को ५०,०००,००० डालर, और कनाडा को २५,०००,००० डालर की पूँजी अधिक दी गई और दक्षिण अमेरिका के देशों, युगोस्लाविया, ग्रीस और मिस्र को कुल मिला कर २००,०००,००० डालर की पूँजी कम दी गई। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का वही राष्ट्र सदस्य हो सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष का भी सदस्य हो।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की पूँजी का जितना भाग प्रत्येक देश को दिया गया है उसकी केवल २० प्रतिशत पूँजी ही सदस्यों ने चुकाई है। शेष ८० प्रतिशत पूँजी सुरक्षित गारंटी के तौर पर है जिसे बैंक जब चाहे मांग सकता है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के मुख्य कार्य सदस्य बैंकों द्वारा लिए हुए ऋण की गारंटी देना है। अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को बहुत अधिक पूँजी इकट्ठी करने की आवश्यकता नहीं थी। यदि कोई देश अपना ऋण न चुका सके तभी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को उस ऋण का मूलधन तथा उसका सूद देना होगा क्योंकि उसने उस ऋण की गारंटी दी है। ऐसी स्थिति बहुत कम उपस्थित होगी। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के लिए यह जरूरी नहीं था कि वह प्रत्येक देश से उसके हिस्से की पूरी रकम वसूल कर लेता। अस्तु बैंक ने प्रत्येक देश से उसके हिस्से की २० प्रतिशत रकम ही वसूल की है। शेष ८० प्रतिशत जब बैंक चाहे तो वसूल कर सकता है।

प्रत्येक देश ने अपने हिस्से की २० प्रतिशत रकम को इस प्रकार चुकाया है :— २ प्रतिशत स्वर्ण या अमेरिकन डालर के रूप में और शेष उस देश की अपनी मुद्रा में। यदि कभी बैंक को शेष ८० प्रतिशत पूँजी को मांगना पड़ा तो सदस्य देश की सुविधानुसार स्वर्ण में, अथवा अमेरिकन डालर में, अथवा उस मुद्रा में जिसकी बैंक को भुगतान करने के लिए उस समय आवश्यकता हो चुकाया जावेगा।

यह तो हम ऊपर कह आये हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने प्रत्येक देश से उसके भाग का केवल २० प्रतिशत रकम ही वसूल की है। यही अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की कार्यशील पूँजी है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इससे ही बैंक की सदस्य देशों को ऋण देने की शक्ति सीमित हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ऋण की गारंटी देने अथवा सीधा ऋण देने के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर किसी सदस्य देश के बाजार में अपनी सिक्यूरिटी (ऋण-पत्र) बेचकर धन प्राप्त कर सकता है और उस धन को ऋण स्वरूप अन्य देश को दे सकता है। उदाहरण के लिए मान लें कि पाकिस्तान को अपनी औद्योगिक उन्नति के लिए ऋण चाहिए और उसे अमेरिका से ट्रांसफार्मर मशीनें मँगाना है तो स्वभावतः पाकिस्तान अमेरिका से ऋण लेना चाहेगा। यदि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पाकिस्तान की योजनाओं को ठीक समझे तो पाकिस्तान को सीधे अपने पास से ऋण दे सकता है, अथवा पाकिस्तान द्वारा अमेरिका में लिए जाने वाले ऋण की अदायगी की गारंटी दे सकता है। यदि इस प्रकार ऋण न मिल सके तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अमेरिका की सहमति से अपने ऋण-पत्र अथवा सिक्यूरिटी अमेरिका के बाजार में बेचेगा और इस प्रकार उसे जो धन प्राप्त होगा वह उसे पाकिस्तान को ऋण के रूप में दे देगा। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की ऋण देने की शक्ति केवल उसकी कार्यशील

पूँजी में सीमित नहीं है।

किसी भी दशा में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक गारंटी के रूप में अथवा ऋण के रूप में बैंक का विक्रित पूँजी (Subscribed Capital), सुरक्षित कोष तथा अन्य बचत से अधिक ऋण नहीं देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य देशों में उस देश के केन्द्रीय बैंक, अथवा सरकारी खजाने (Treasury) के द्वारा ही कारबार करेगा और प्रत्येक सदस्य राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से अपने केन्द्रीय बैंक द्वारा ही कारबार करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक नीचे लिखी दशाओं में ही ऋण देगा —

(१) यदि कोई सदस्य राष्ट्र की सरकार स्वयं ऋण लेना चाहे तब तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बिना केन्द्रीय बैंक की गारंटी के ही ऋण दे देगा अन्यथा जिस देश में कोई योजना कार्यान्वित की जा रही है उसको ऋण देने के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस देश के केन्द्रीय बैंक से ऋण की अदायगी की गारंटी लेगा।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उसी दशा में आर्थिक सहायता देगा जब उसको विश्वास हो जाय कि वर्तमान स्थिति में उचित सूद पर उस कार्य के लिये किसी देश में ऋण नहीं मिल सकता।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस योजना की जाँच के लिये विशेषज्ञों का एक समिति बिठायेगा और जब उस समिति की सम्मति में वह योजना आर्थिक दृष्टि से ठीक होगी तभी वह आर्थिक सहायता देगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस योजना से प्रत्यक्ष रूप में लाभ होना आवश्यक है। ऐसी योजना के लिये भी बैंक ऋण दे सकता है जिसका देश के आर्थिक विकास के लिए अप्रत्यक्ष महत्त्व हो। किसी योजना विशेष का विचार करते हुए बैंक इस बात का ध्यान रखता है कि देश के आर्थिक विकास की पृष्ठ भूमि में उसका निर्णय किया जाय, न कि एकांगी दृष्टि से।

(४) ऋण देते समय बैंक इस बात का भी ध्यान रखता है कि सदस्य राष्ट्र उस ऋण को चुकाने की क्षमता रखता है या नहीं। यदि बैंक स्वयं किसी सदस्य राष्ट्र को ऋण देगा तब तो वह उचित सूद लेगा ही, परन्तु यदि बैंक किसी राष्ट्र को दिये गये ऋण की अदायगी की गारंटी देगा तो भी वह इस जोखिम के बदले में कुछ गारंटी कमीशन लेगा।

बैंक इस बात की देख भाल रखेगा कि किसी राष्ट्र ने जिस योजना को कार्यान्वित करने के लिये ऋण लिया है वह रकम उसी योजना पर व्यय होती है। इस दृष्टि से बैंक ऋण देने वाले सदस्यों को टेकनिकल सलाह भी देता है। इसके अलावा ऋण नहीं लेने के हालत में भी वह देश अपने आर्थिक विकास के सम्बन्ध में बैंक से टेकनिकल सलाह चाहते हैं और बैंक ऐसी सलाह देता है।

साधारणतया बैंक किसी योजना के संबंध में विदेशी विनिमय का जो खर्च होने वाला है उसके लिये ही ऋण देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का प्रबन्ध : अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) के १२ संचालक (Directors) होंगे। उनमें से पाँच डायरैक्टर तो क्रमशः संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन के प्रतिनिधि होंगे। इन पाँचों राष्ट्रों को एक-एक स्थायी सदस्य रखने का अधिकार होगा। दो डायरैक्टर अमेरिकन प्रजातन्त्रों की ओर से चुने जावेंगे और शेष पाँच डायरैक्टर अन्य सब देशों की ओर से चुने जावेंगे। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि फंड पर बड़े राष्ट्रों का ही प्रभाव रहेगा। भारतवर्ष ने इस योजना का इसी प्रश्न को लेकर विरोध किया था कि भारतवर्ष का व्यापारिक महत्त्व फ्रांस तथा चीन से अधिक है। इन देशों का कोटा राजनैतिक कारणों से अधिक रक्खा गया और भारत का कम रक्खा गया। फिर भारतवर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य के प्रबन्ध संचालक बोर्ड पर कोई स्थायी जगह भी नहीं दी गई। परन्तु बाद को भारतवर्ष को सञ्चालक बोर्ड में एक जगह मिल गई। परन्तु यह कहना कठिन है कि जब सभी देश उसके सदस्य हो जावेंगे तो भारतवर्ष की चुनाव में क्या स्थिति रहेगी। उसे शेष पाँच जगहों में से एक जगह के लिये चुनाव लड़ना पड़ेगा। होना तो यह चाहिये कि भारत के महत्त्व को देखते हुए उसे एक स्थायी जगह दी जावे। यदि कोई सदस्य चाहे तो नोटिस देकर फंड से पृथक् हो सकता है।

जो स्वर्ण कोष में इकट्ठा होगा वह संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत रूस, फ्रांस या चीन में रहेगा। कोष का प्रधान कार्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका में रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के भी १२ डायरैक्टर होंगे। उनमें से पाँच डायरैक्टर क्रमशः संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और चीन नियुक्त करेंगे और ७ डायरैक्टर शेष सदस्यों द्वारा चुने जावेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के बोर्ड आफ डायरैक्टर्स पर भी भारत को कोई स्थाई स्थान नहीं मिला।

रूस अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का सदस्य नहीं बना इस कारण भारत पाँच बड़े राष्ट्रों की श्रेणी में आ गया और उसको बैंक के बोर्ड पर एक स्थायी स्थान मिल गया। अब संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, चीन और भारत को स्थायी स्थान प्राप्त है और शेष ७ स्थानों को शेष सदस्यों में से चुनकर भरा जाता है।

डायरैक्टर एक प्रेसीडेन्ट का चुनाव करते हैं। प्रेसीडेन्ट बोर्ड का अध्यक्ष होता है। बोर्ड ही वास्तव में बैंक का संचालन करता है।

बैंक का कार्य जैसे ही बैंक स्थापित हुआ डालर ऋण के लिये कई देशों ने प्रार्थना पत्र आये किन्तु मई १९४७ में जाकर कहीं बैंक ने पहला ऋण दिया। शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गई कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को ऋण देने के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका के द्रव्य बाजार में ऋण लेना होगा। ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में लोगों का यह विचार था कि प्रत्येक देश जो डालर ऋण लेना चाहेगा वह अपने बौंड संयुक्त राज्य अमेरिका में बेचेगा और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उनकी अदायगी की गारन्टी दे देगा। विद्वानों का विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की गारन्टी अमेरिकन पूँजीपतियों को उन देशों के बौंडों में अपना धन लगाने के लिये प्रोत्साहित करेगा। परन्तु बैंक ने द्रव्य-बाजार की अव्यवस्थित दशा के कारण अन्य देशों के बौंडों की गारन्टी न देकर स्वयं अपने बौंड संयुक्त राज्य अमेरिका के द्रव्य-बाजार में बेचकर धन प्राप्त करना आरम्भ किया। बैंक की जून १९५० में समाप्त होने वाले साल की रिपोर्ट से विदित है कि मार्च १९५० में बैंक ने स्विस बैंकों और 'बैंक फार इन्टरनेशनल सेटिलमेंट" को भी अपने बौंड बेचे।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने मई १९४७ से, जबकि उसने सबसे पहला ऋण स्वीकार किया था, ३१ जुलाई १९५० तक जो ऋण भिन्न भिन्न देशों को दिये हैं वे इस प्रकार हैं —

	करोड़ डालर (अमेरिकन)
यूरुप	
फ्रान्स	२५०
नेदरलैंड्स	२२२
डेनमार्क	४०
लक्जम्बर्ग	१२
बेलजियम	१६
फिनलैंड	१४८
तुर्की	१६४
युगोस्लेविया	०२७
	कुल ५७३९
लटिन अमेरिका	
चाइल	१६
मेक्सिको	६०
ब्राज़ील	६०

कोलंबिया	०.५
एलसेलवेडर	१.२५५
	कुल १८.३५५

एशिया और मध्य पूर्व :

भारत	६.२५
इराक	१.२८
	कुल ७.५३
	महा योग ८३.२७५

उपरोक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने अभी तक युरोपीय देशों को ही अधिकतर ऋण दिया है। भारत को तीन ऋण मिले हैं। पहला ऋण ३ करोड़ ४० लाख का रेलवे एंजिन, उनके हिस्से और बोयलर्स खरीदने को दिया गया था। दूसरा ऋण १ करोड़ डालर का कृषि के लिये ट्रेक्टर तथा अन्य यंत्र खरीदने के लिये दिया गया है और तीसरा ऋण १ करोड़ ८५ लाख का दामोदर घाटी योजना के लिये दिया गया है।

जून १९५० तक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा कुल ६१.४१६ करोड़ अमेरिकन डालर का कर्ज बाँटा गया। कर्ज का यह रुपया जिन जिन देशों में खर्च हुआ उस का ब्यौरा इस प्रकार है—संयुक्त राज्य अमेरिका ४५.२३ करोड़ डालर, केनाडा ३.४८ करोड़ डालर, लेटिन अमेरिका ५.५५ करोड़ डालर, यूरप ६.६७ करोड़ डालर, अफ्रिका, निकटपूर्व और सुदूरपूर्व ०.४८ करोड़ डालर।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा बैंक : भारत इन दोनों संस्थाओं का उनके जन्म से ही सदस्य है। ३१ दिसंबर १९४५ के पहले पहले आरम्भ से ही सदस्य बनने की अवधि निश्चित थी। भारत ने २७ दिसंबर १९४५ को अपने सदस्यता के हस्ताक्षर कर दिये।

जहाँ तक रुपये के सममूल्य (पेरिटी) का संबंध था भारत ने १ शि. ६ पै. के आधार पर ही रुपये का सोने में मूल्य निश्चित किया। इस आधार पर रुपये का मूल्य ४.१४५१४२८५७ ग्रेन शुद्ध सोना तय किया गया है। 'कोष' ने इस सममूल्य को स्वीकार कर लिया। बाद में जब स्टरलिंग का अवमूल्यन हुआ तो उसके साथ रुपये का भी अवमूल्यन होगया। इस अवमूल्यन के फल-

स्वरूप रुपये का सोने म सममूल्य भी बदल गया।

भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अपने हिस्से का सोना और बाकी का हिस्सा रुपयों और प्रॉमिसरी नोट्स की शक्ल में चुका दिया। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को अपने हिस्से की पूंजी (४० करोड़ अमेरिकन डालर) का जो भाग बैंक ने वसूल किया है (२०%) वह भी चुका दिया है।

भारत के गाँवों में बैंकिंग का विस्तार आज देश के सामने सब से बड़ी समस्या उत्पादन बढ़ाने की है। उसके लिये पूंजी की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये एक ओर तो इस बात की जरूरत है कि आम जनता राष्ट्र की दृष्टि से जहाँ तक संभव हो अपनी आय में से बचत करके उत्पादन के काम में रुपया लगाने को तैयार हो और दूसरी ओर यह आवश्यक है कि इस प्रकार लोग जो कुछ बचत कर उसे उत्पादन में लगाने का ठीक ठीक व्यवस्था हो। इन दोनों ही बातों के लिये इस बात की जरूरत है कि देश में बैंकिंग का अधिक से अधिक विस्तार हो और यह विस्तार गाँवों में होना चाहिए क्योंकि भारत की ९० प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में ही रहती है। गाँवों में बैंकिंग के विस्तार के महत्व का एक तात्कालिक कारण और है। दूसरे महायुद्ध के समय से जो महगाई बढ़ी है उसके कारण उन किसानों की आर्थिक स्थिति सुधरी है जो खेतिहर मजदूर की श्रेणी में नहीं आते हैं। पर इस बढ़ी हुई आय का आज कोई सदुपयोग नहीं हो रहा है। अगर इस आय का कुछ भाग उत्पादन के लिये काम में आ सके तो देश का बहुत भला हो। इसके लिये भी आवश्यक है कि गाँवों में बैंकिंग का विस्तार किया जाय।

इस समय देश में बैंकिंग का विस्तार अपर्याप्त सा है। अभी रिज़र्व बैंक ने १९४६ में व्यापारिक बैंकिंग के बारे में आंकड़े प्रकाशित किये हैं और बैंकिंग की प्रगति के बारे में एक रिपोर्ट भी प्रकाशित की है। इस में प्रकट हुआ है कि यदि हम केवल उन स्थानों का विचार करें जहाँ कि बैंक का दफ्तर है तो बैंक का प्रत्येक दफ्तर औसतन ७८९० व्यक्तियों के पीछे है। अगर हम देश की संपूर्ण जनसंख्या का विचार करें तो ६८५०६ व्यक्तियों के पीछे बैंक का एक दफ्तर आता है। दूसरा उल्लेखनीय बात यह है कि देश में इस समय जो भी इस तरह के बैंक हैं वे कुछ ही प्रान्तों और शहरों में केन्द्रित हैं। इस दृष्टि से बम्बई, मद्रास और पश्चिमी बंगाल में ही बैंकिंग का एक प्रकार से केन्द्रीकरण है। यही देश के औद्योगिक प्रान्त हैं। सार यह है कि गाँवों में बैंकिंग का विस्तार होना बाकी है।

भारत सरकार ने पिछले वर्ष हमारे गावों में बैंकिंग के विस्तार के प्रश्न पर जाँच करने के लिये श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में 'रूरल बैंकिंग

इन्क्वायरी कमेटी' नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट भी अगस्त १९५० में प्रकाशित हो चुकी है। उसने गांवों में बैंकिंग के विस्तार के संबंध में अनेकों सिफारिशें की हैं। कमेटी का कहना है कि किसी एक प्रकार का बैंकिंग संगठन इस काम को नहीं कर सकता। सब प्रकार के बैंकिंग संगठनों का देश भर में समन्वय होना आवश्यक है। कमेटी ने यह कल्पना की है कि देश की बैंकिंग का ढाँचा निम्न आधार पर खड़ा किया जाना चाहिये—(१) रिजर्व बैंक जिसकी प्रत्येक बड़े राज्य में शाखा या दफ्तर हों; (२) इम्पीरियल बैंक और अन्य व्यापारिक बैंक जो तालुका और तहसील के प्रमुख नगरों तथा दूसरे कस्बों तक फैले हों; (३) प्रान्तीय सहकारी बैंक और केन्द्रीय सहकारी बैंक जिन की शाखाएं या जिन से संबंधित बैंक तमाम कस्बों और बड़े बड़े गाँवों तक में हों; (४) राज्य द्वारा स्थापित राज्य के कृषि बैंक; (५) प्रत्येक प्रदेश के लिये भूमि बंधक बैंकों की शृंखला। गांवों में बचत की आदत को प्रोत्साहन देने के लिये कमेटी ने व्यापारिक बैंकों की शाखा खोलने की अपेक्षा पोस्ट ऑफिस सेविंग्स बैंक पर ही अधिक जोर दिया है। सरकारी बैंकों के महत्व को भी कमेटी ने स्वीकार किया है। जहाँ तक कि गांवों में साख की व्यवस्था करने का सवाल है, कमेटी ने अल्पकालीन साख के लिये सहकारी बैंकों और दीर्घकालिक साख के लिये भूमि बंधक बैंकों के विस्तार पर ज़ोर दिया है। व्यापारिक बैंकों को अपना कारोबार इस दिशा में बढ़ाने की सिफारिश भी कमेटी ने की है। साथ ही उसका यह भी कहना है कि गांव के महाजन और देशी बैंकर का बड़ा महत्व है और उनके प्रतिकूल पड़ने वाले कानूनों को बना कर उनके कारोबार को मर्यादित करने के पक्ष में कमेटी ने राय नहीं दी है। कमेटी ने यह भी सिफारिश की है कि गोदामों का निर्माण करके, यातायात के साधनों का विस्तार करके, रुपये लाने लेजाने की सुविधाओं को बढ़ाकर और उन्हें अधिक सस्ता बना कर, तथा ऋण, महाजन और भूमि संबंधी अब तक के बने हुए और नए बन रहे कानूनों में महाजन आदि के अनुकूल परिवर्तन करके, तथा बैंकों की किन्हीं शाखाओं को 'शॉप्स एंड एस्टेब्लिशमेंट एक्ट्स' और औद्योगिक ट्रिब्यूनल के निर्णयों से मुक्त करके हम व्यापारिक और सहकारी बैंकों को गांवों में अपना कारोबार बढ़ाने के लिये अधिक प्रोत्साहित कर सकते हैं।

रूरल बैंकिंग कमेटी ने जो सिफारिशें की हैं उन में कोई विशेष बात नहीं है। इस संबंध में एक बात की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये। यदि हम देश के मौजूदा आर्थिक ढांचे की पृष्ठ भूमि में देश की किसी आर्थिक समस्या को हल करना चाहेंगे तो वह वास्तव में हल होगी नहीं। यदि हम चाहते हैं कि हमारे

गांव के लोग कठिनाई उठाकर भी रुपया बचाने कोशिश करें, तो वह तभी हो सकता है जब उनको यह मालूम हो कि उनकी इस कोशिश का लाभ उन्हें ही मिलने वाला है। इसके एवज़ में अगर यह आशा की जाए कि उनकी बचत का रुपया चन्द पूँजीवादी व्यवसायों और उद्योगों में लगाने के लिये शहरों में पहुंचाया जाय, तो इसमें कभी सफलता नहीं मिल सकती। इस लिये यदि हम गाँव वालों में रुपया बचाने की आदत पैदा करने के लिये उत्सुक हैं तो वह तभी हो सकता है जब उस बचत का सीधा उपयोग गाँव के विकास में होसके, इसकी भी व्यवस्था की जाय। देश के आर्थिक विकास की जो योजना बन रही है उसमें इस बात का अधिक से अधिक ध्यान रखने की आवश्यकता है। यह तभी सम्भव हो सकेगा जब हमारी आर्थिक योजना में गांवों के कुटीर उद्योगों का स्थान किसी सुनिश्चित सिद्धान्त के आधार पर तय होगा और हमारे गावों में जो साधन आज उपयोग में नहीं आ रहे हैं या कम आ रहे हैं उनका गावों की आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से उपयोग करने पर पूरा पूरा विचार किया जायगा।

परिच्छेद ११
मुद्रा और विनिमय

रुपया पूर्ण क़ानूनी सिक्का : मुग़ल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में उस समय के हिसाब से भारत की आर्थिक स्थिति सुव्यवस्थित थी जिसका यह अर्थ भी था कि देश में मुद्रा की व्यवस्था भी संतोषजनक थी। सोने और चांदी दोनों के सिक्कों का देश में चलन था। अकबर के समय से सोने की मुहर और चांदी का रुपया चला आ रहा था। क़ानून की दृष्टि से दोनों सिक्कों का सापेक्षिक मूल्य निश्चित नहीं था, पर दोनों का वज़न समान था, अर्थात १७५ ग्रेन ट्रोय। दक्षिण भारत में चांदी का सिक्का नहीं था। वहां का सिक्का सोने का 'पैगोडा' था। इसका कारण यह था कि दक्षिण में मुगलों का, जो चांदी का सिक्का पसंद करते थे, प्रभाव स्थापित नहीं हो सका था।

मुग़ल साम्राज्य के पतन के साथ देश में जो अव्यवस्था पैदा हुई उसका असर आर्थिक क्षेत्र में भी पड़ा। कई स्वतंत्र सिक्कों का, जिनका आपस में कोई संबंध नहीं था, चलन जारी होगया। एक सिक्के को दूसरे सिक्के में बदलने का व्यापार खूब चल निकला। यह अवस्था आर्थिक दृष्टि से संतोषजनक नहीं थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी को अपने व्यापार का विस्तार करने के लिये इस स्थिति का अन्त करना ज़रूरी मालूम पड़ा। थोड़े वाद-विवाद के बाद आख़िरकार १८३५ में यह तय होगया कि भारत में चांदी के रुपये को पूर्ण कानूनी सिक्का मान लिया जाय। इस आशय का एक क़ानून बन गया। रुपये का वज़न १८० ग्रेन का निश्चित हुआ और उसमें ११/१२ वां हिस्सा खालिस चाँदी का रखा गया। सोने के सिक्कों की क़ानूनी हैसियत खतम होगई हालांकि उन की टकसालें क़ायम रहीं। चांदी के सिक्के ढालने की टकसालें सर्वसाधारण के लिये खोल दी गईं। चाँदी के रुपये का क़ानूनी मूल्य और उसमें की चांदी का मूल्य समान हो गया। १८९३ तक यह व्यवस्था हमारे देश में चलती रही।

स्वर्णमान की माँग : १८३५ में रुपया पूर्ण रूप से कानूनी सिक्का (फुल लीगल टेन्डर मनी) घोषित कर दिया गया। यह वैसे तो भारतीय मुद्रा के क्षेत्र में एक बड़ा सुधार था, पर चांदी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होने से, देश को जितनी संख्या में रुपये चाहियें थे उसमें कमी रहती थी। चांदी की कमी के कई कारण थे। यूरुप के देशों ने चाँदी के निर्यात पर रोक लगा रखी थी। जब यह रोक हट गई तब भी बाहर से चांदी नहीं आती थी क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी जो माल यहां से खरीद कर बाहर भेजती थी उसके लिये उसकी यहां की आय

काफी होती था। जब यह आय कम पड़ने लगी तो दुनिया में चांदी का उत्पादन कम होगया। १८५० से चाँदी के उत्पादन की यह कमी सामने आने लगी। जो चांदी आती भी थी और सिक्के रुपये भी ढाल लिये जाते थे तो वे रुपये ही सिक्के के तौर पर काम में न लेकर जेवर आदि दूसरे कामों में लिये जाते थे। सारांश यह है कि देश में मुद्रा की बराबर तंगी अनुभव होती रही। बैंकिंग व्यवस्था का तो उस समय जिक्र ही क्या था, जो उसके द्वारा इस कमी को पूरा करती। नतीजा यह हुआ कि देश में सोने की मुद्रा कायम करने की मांग की जाने लगी। सरकार ने यह माँग तो अस्वीकार करदी पर मुद्रा की कमी पूरा करने के लिये कागज़ी मुद्रा का चलन जारी कर दिया गया। १८६१ में पहला 'पेपर करेंसी ऐक्ट' पास हुआ।

पर इससे मुद्रा की तंगी की समस्या हल नहीं हुई। कागज़ी मुद्रा का देश में चलन बढ़ा नहीं। स्वर्णमान के पक्ष में ब्रिटिश सरकार थी नहीं। भारत सरकार ने १८६४ में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की कि ब्रिटेन का जो सोने का 'सोवरिन' नाम का सिक्का है उसका मुद्रा के रूप में भारत में उपयोग हो सकेगा और भारत सरकार के खजाने में 'सोवरिन' दस रुपये की और 'अर्द्ध सोवरिन' पाँच रुपये की दर से स्वीकार किये जायंगे और जो व्यक्ति स्वीकार करेंगे उनको वे दिये भी जायंगे। बाद में २८ अक्टूबर १८६८ को एक विज्ञप्ति द्वारा यह दर बढ़ाकर १०३ रु० प्रति सोवरिन करदी गई। पर इससे भी सोवरिन का देश में चलन बढ़ा नहीं और मुद्रा की तंगी चलती रही। सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए मेन्सफील्ड कमीशन नियुक्त किया। उसने सोने की मुद्रा को क़ानूनी मुद्रा बनाने की सिफारिश की पर उसकी यह सिफारिश स्वीकार नहीं की गई। आखिर मुद्रा की तंगी, समय से अपने आप कम हो गई। पर स्वर्णमान की मांग देश में बनी रही, यद्यपि इस समय यह मांग विफल हो गई।

रुपया पूर्ण क़ानूनी मुद्रा नहीं रहा ऊपर हमने चाँदी की कमी का जिक्र किया है। पर अब १९वीं शताब्दी के अन्तिम चौथाई में एकदम स्थिति बदल गई और भारत में यूरोपीय देशों में बहुत चांदी आने लगा। इसका कारण यह था कि कई यूरोपियन देशों (नॉर्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हॉलैंड, फ्रान्स, बेलजियम, स्विटज़रलैंड, इटली, रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी) ने १८७१ में चांदी को मुद्रा के काम में नहीं लेने का फैसला कर लिया और इससे बहुत चाँदी उपलब्ध हो गई। फिर चांदी की पैदावार भी इसी समय बढ़ने लगी। साथ ही साथ चांदी के स्थान पर सोने की मुद्राओं का यूरोपीय देशों ने चलन जारी किया। इससे सोने की मांग बढ़ी। पर सोने का उत्पादन कम होगया। इस प्रकार एक ओर तो

चांदी की मांग घटी और उसकी पूर्ति बढ़ी और दूसरी ओर सोने की मांग बढ़ी और उसकी पूर्ति कम होगई। परिणाम चांदी की क़ीमतें घटने का आया। १८७५ में ५८ पैंस प्रति आउन्स से १८७६ में ५२३/४ पैंस, १८८८ में ४३ पैंस, १८९२ में ३७३/४ पैंस और १८९६ में २७ पैंस प्रति औंस होगया। इसका असर हमारे और ब्रिटेन के बीच के विनिमय दर पर पड़ा और वह कम होने लगा। अभी तक विनिमय दर १ रु० = १ शि० १०१/२ पैंस के आस पास रहा करता था। अब वह गिरने लगा। १८७१ में विनिमय का दर १ रु० = २ शि० के था, वह १८९२ मे १ रु० = १ शि० २ पैंस के रह गया।

रुपये का विनिमय दर गिरने से भारत सरकार को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारत सरकार को 'होम चार्जेज' के लिये सोने में हर साल ब्रिटेन को रुपया भेजना पड़ता था। रुपये की विनिमय दर गिरने से भारत सरकार को इस कारण से रुपये में अब बहुत खर्च करना पड़ने लगा। इससे उसके बजट पर असर पड़ने लगा और उसे पूरा करने के लिये जनता पर कर का बोझ बढ़ाना पड़ा। फिर रुपये की विनिमय दर कम होने का तत्काल असर आयात को मंहगा करने का भी हुआ। निर्यात के सस्ता होने से निर्यात मे विस्तार होने का लाभ अवश्य हुआ पर यह लाभ अल्पकालिक ही था क्योंकि निर्यात की मांग बढ़ने से आखिरकार मूल्य वृद्धि होनी ही थी। पर मज़दूर वर्ग की मज़दूरी मूल्य वृद्धि के अनुपात में बढ़ती नहीं, और इस लिये ग़रीब मज़दूर को तो इससे भी हानि हुई और थोड़े से व्यवसायी उस लाभ को उठा सके। जो अंग्रेज कर्मचारी भारत में थे उनको भी विलायत रुपया भेजने में नुक़सान होने लगा। इसके अलावा चांदी के गिरते हुए मूल्य से आने वाली विनिमय दर की अस्थिरता का विदेशी व्यापार पर बुरा असर पड़ा। उधर विदेशी पूंजी लगाने वाले भी सशंकित हो उठे क्योंकि चांदी की गिरती हुई क़ीमतों ने उनके मन मे से विश्वास उठा दिया।

इस डांवाडोल स्थिति का हल निकालने के लिये फिर स्वर्णमान कायम करने की मांग उठी। स्वर्णमान की योजनाएं, जैसे १८७२ में अर्थमन्त्री सर आर. टेम्पल की और बाद में मिंट मास्टर कर्नल जे. टी. स्मिथ की योजनायें, तैयार हुईं। पर भारत की विदेशी सरकार ने कुछ समय तो चुपचाप रहने की नीति अपनाये रखी। उधर इसी प्रश्न को लेकर १८७८ से १८९६ तक कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन यूरुप में हो रहे थे। यह आशा थी कि शायद सोना और चांदी दोनों ही धातुओं के चलन के पक्ष में इन सम्मेलनों का निर्णय हो जाय। यह आशा भी पूरी नहीं हुई। १८९२ की जुलाई में ब्रुसल्स सम्मेलन के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका

ने भी शरमन एक्ट को, जिसके अनुसार मुद्रा के लिये अमेरिका एक निश्चित मात्रा में चांदी खरीदता था, रद्द कर दिया। इससे चांदी की स्थिति और गिर गई। भारत सरकार ने आखिरकार १८९२ में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हर्शल कमेटी की नियुक्ति की। हर्शल कमेटी ने ये सिफारिश की कि सोने और चांदी दोनों का मुक्त टंकन (फ्री कोइनेज) बंद कर दिया जाये, रुपया असीमित क़ानूनी सिक्का (अनलिमिटेड लीगल टेंडर) बना रहे, कुछ समय तक, किसी हद तक, सोने की मुद्रा की तरह काम में लिया जाय, और आखिरकार पूरी तौर पर स्वर्णमान क़ायम कर दिया जाय।

भारत सरकार ने उक्त सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। १८९३ के एक क़ानून से अन्तर्गत रुपये का मुक्त टंकन बंद कर दिया गया, और सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह चाहे तब रुपये का टंकन कराले। एक विज्ञप्ति द्वारा १ रु० = १६ पेंस की दर से टकसाल में अगर कोई सोना या सोने का सिक्का रुपये में बदलवाने को लेजाये तो उसका बदलना अनिवार्य कर दिया गया। एक दूसरी विज्ञप्ति के अनुसार यदि कोई इसी दर से सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन में सरकारी चुकारा करना चाहे तो कर सकेगा, यह घोषित कर दिया गया। और एक तीसरी विज्ञप्ति द्वारा सोना या सोने के सिक्के के एवज़ में उपरोक्त दर (१रु० = १शि० ४पेंस) पर ही सरकार को नोट जारी करने का अधिकार होगया। इन सब आदेशों का अर्थ यह था—१८३५ में स्थापित मुद्रा व्यवस्था समाप्त होगई, रुपये का विनिमय दर १६ पेंस से न गिर सके इसकी रोक लग गई, और आम लोग सोने के सोवरिन के चलन के आदी बनाये जायें, इसकी कोशिश आरम्भ हुई, तथा रुपया असीमित क़ानूनी मुद्रा के रूप में बना रहा, यद्यपि वह पूर्ण मुद्रा नहीं रहा। इस व्यवस्था का सब से बड़ा दोष यह था कि जिस प्रकार सरकार पर सोने या सोने के सिक्के के बदले में रुपया देने का ज़िम्मा था उसी प्रकार रुपये के बदले में सिक्का देने का ज़िम्मा उस पर नहीं डाला गया।

फाउलर कमेटी रुपये का मुक्त टंकन जब बन्द होगया तो रुपये का विनिमय दर ऊंचा जाने लगा। १८९४ में औसत विनिमय दर १ रु० = १ शि० १$\frac{1}{2}$ पेंस के थी। १८९८ तक १ शि० ४ पें० तक विनिमय दर पहुंच गया था। १८९८ के अन्त तक मुद्रा की तंगी भी फिर अनुभव होने लगी। भारत सरकार ने यह सोचा कि सोने के सिक्के का चलन जारी करने का यह उपयुक्त समय है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये १८९८ में उसने फाउलर कमेटी की नियुक्ति की।

फाउलर कमेटी ने सारे प्रश्न पर विचार किया। उसके सामने कुछ दूसरे व्यक्तियों द्वारा पेश की गई योजनायें भी थीं। उदाहरण के लिये लिन्डसे और

प्रोबीन योजनायें थीं। लिन्डसे योजना के अनुसार किन्हीं निश्चित दरों पर भारत में भारत सरकार द्वारा लन्दन पर स्टरलिंग बिल बेचने और लन्दन में भारत मन्त्री द्वारा भारत पर रुपया बिल बेचने की बात कही गई थी ताकि रुपये का विनिमय दर एक मर्यादा से न नीचे गिर सके और न ऊपर जा सके। स्टरलिंग बिल की दर १५¾ पैंस और रुपया बिल की दर १६$\frac{1}{32}$ पैंस सुझाई गई थी। इन बिलों का चुकारा करने के लिये भारत में और लन्दन में स्वर्णमान कोष (गोल्ड स्टैंडर्ड रिज़र्व) क़ायम करने की बात थी। फाउलर कमेटी ने यह योजना नापसंद करदी क्योंकि उसकी राय में यह ठीक नहीं था कि भारत की स्वर्णमान पद्धति का आधार इंगलैंड में रखा जाने वाला छोटा सा कोष हो। प्रोबीन की योजना का सार यह था कि भारत में स्वर्णमान तो क़ायम हो पर देश के अन्दर सोने के सिक्के का चलन न हो। योजना यह थी कि मौजूदा दस हज़ार के नोट तो रद्द कर दिये जायें और नये दस हजार के नोट सोने के एवज़ में ही जारी हों और उनके एवज़ में लेने वाले की इच्छानुसार सरकार सोना या रुपया देने को तैयार रहे। अनुमान यह था कि देश के अन्दर उपयोग के लिये तो कोई इतने बड़े नोटों के एवज़ में सोना चाहेगा नहीं। इस लिये केवल अन्तर्राष्ट्रीय चुकारे के लिये ही सोने का उपयोग होगा। फाउलर कमेटी को यह योजना भी पसंद नहीं आई। कमेटी के सामने फिर से चांदी के मान (सिल्वर स्टेन्डर्ड) को कायम करने का सुझाव भी आया था पर वह भी उसे मंजूर नहीं था।

फाउलर कमेटी की सिफ़ारिशें : सारे प्रश्न पर विचार करने के बाद फाउलर कमेटी ने यही सिफ़ारिश की कि भारत में सोने के सिक्के के चलन सहित स्वर्णमान की स्थापना होनी चाहिये और सोने के आयात-निर्यात की पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये। इसके लिये नीचे दी गई बातों की कमेटी की राय में आवश्यकता बताई गई—(१) सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन क़ानूनी सिक्के मान लिये जायें और भारत में उनके मुक्त टंकन की व्यवस्था की जाय; (२) रुपये का मुक्त टंकन बंद रहे हालांकि रुपया असीमित क़ानूनी सिक्के के रूप में बना रहे; (३) रुपये का विनिमय दर १ शि० ४ पैंस निश्चित कर दिया जाय; (४) भारत सरकार सोने के बदले में रुपये देने का ज़िम्मा तो रहने दे, पर रुपये के बदले हमें सोना देने का ज़िम्मा न ले; (५) जब तक सोने के सोवरिन, अर्द्ध सोवरिन की मात्रा आवश्यकता से अधिक न हो जावे, सरकार नए रुपये न ढलवाये, पर नए रुपये जब भी ढाले जायं तो उससे होने वाले लाभ से एक नया कोष कायम किया जाय, इस कोष में सोना रहे; (६) जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलन भारत के विरुद्ध चला जाये और उसकी पूर्ति के लिये सोने का निर्यात

करता हो तो सरकार उपरोक्त कोष म से नया और रोनों में से और चलन में म सोना उपलब्ध करने की व्यवस्था करे। उपरोक्त मुद्रा पद्धति का सनेर में यह सार आता था कि सोना और चादी दोनों के सिक्के असीमित कानूनी मुद्रा के रूप म माने जायें, दोनों का मापनिक मूल्य निर्धारित हो, पर स्वतन्त्र टकन केवल सोने के सिक्कों का हो।

फाउलर कमेटी का मानना था कि उक्त मुद्रा पद्धति को मंजूर करने से स्वर्ण मान वाले देशों म भारत का जो अधिकांश व्यापार है उस व्यापार में अनिश्चितता नहीं रहेगी, और विदेशी पूजी को भारत म लगाने का प्रोत्साहन मिलेगा, तथा मुद्रा का सगा दूर होगा।

सरकार की कार्रवाई फाउलर कमेटीने जो सुभाव दिये थे उनको कार्यान्वित करने का सरकार ने प्रयत्न किया। सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन को १८६६ के एक्ट द्वारा फाउलर कमेटी द्वारा प्रस्तावित दर पर कानूनी मुद्रा का रूप दे दिया गया। १८ म सरकार ने नये रुपये ढलवाये और जो लाभ हुआ उससे गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्व (स्वर्णमान कोष) कायम किया गया। रुपये का विनिमय दर १ शि० ४ पै० तक पहुँच हा गया था और उस कायम रखा जा रहा था। रुपये का स्वतन्त्र टकन था और उसे असीमित मुद्रा के रूप म माना हुआ था ही। सोने के बदले म सरकार रुपया देता था। अब तो सोने के सिक्के ढालने की टकसाल कायम करने का सवाल और था पर फाउलर कमेटी का यह सिफारिश ब्रिटिश ट्रेजरी के विरोध करने से कार्यान्वित नहीं हुई। भारत म स्वर्णमान कायम करने के लिये यह पहला आवश्यक शर्त था, और यही पूरा नहीं की जा सकी।

स्वर्णमान से स्वर्ण विनिमय मान की ओर इसके बाद भारत का मुद्रा पद्धति म कुछ ऐसा घटनाये परिस्थितिवश घटीं कि स्वर्णमान का बनाय एक दूसरा हा पद्धति—स्वर्ण विनिमय मान—की स्थापना हमारे देश म होगई। इस पद्धति को कायम करने का कोई सोचा हुआ निश्चय नहीं था, न भारत सरकार ने ही यह सोचा था कि इस समय उसके द्वारा किये गये निर्णयों का यह नतीजा आयेगा। यह सब कैसे हुआ, इस सम्बन्ध म अब हम लिखेंगे।

स्वर्णमुद्रा के चलन का प्रयत्न १८६६–१६०० म भारत सरकार ने सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन का, जो अब कानूनी मुद्रा करार दे दिये गये थे, चलन जारी किया। पर लोगों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और वे लौट लौट कर सरकार के पास वापिस आने लगे। सरकार ने यह सोचा कि सोने के सिक्कों का भारत में चलन हो ही नहीं सकता। वास्तव म बात यह था कि भीषण अकाल पड़ जाने से उस समय आम जनता को छोटे छोटे सिक्कों की विशेष माँग थी।

फिर सरकार ने एक भूल यह की कि ठीक इसी समय नए रुपये भी ढलवाये और इस वजह से भी सोने के सिक्कों का जनता में प्रवेश होना कठिन हो गया। सरकार को इस प्रकार जल्दी से निर्णय नहीं कर लेना चाहिये था। जरूरत होने पर सरकार द्वारा नोट और सोवरिन के बदले रुपया देने की अनिवार्यता को भी समाप्त करके सरकार की इच्छा पर रुपया देने न देने की बात छोड़ी जा सकती थी। पर सच्ची बात तो यह है कि बिना पूरा प्रयत्न किये सरकार ने यह मान लिया कि भारत में सोने के सिक्के लोक प्रिय नहीं हो सकते। सोने के सिक्के ढालने के लिये टकसाल क़ायम करने का सवाल १६१२ में दुबारा उठा। भारत मंत्री ने दस रुपये के बराबर का सोने का सिक्का ढालने की स्वीकृति भी देदी। पर भारत सरकार ने चेम्बरलेन कमीशन की राय के लिये यह प्रश्न उस समय छोड़ दिया।

स्वर्णमान कोष : जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं सन् १६०० में नए रुपये ढालने से जो मुनाफ़ा हुआ उससे स्वर्णमान कोष की स्थापना तो करदी गई, पर उसमें फ़ाउलर कमेटी की राय के विरुद्ध कुछ बातें हुईं। बजाय सारा कोष सोने की शकल में रखने के, भारत मंत्री ने यह फ़ैसला किया कि वह लंदन में स्टरलिंग सिक्यूरिटीज की शकल में रहे। नये रुपये ढालने के लिये चांदी पेपर करेन्सी रिज़र्व के सोने से ख़रीदी जाती थी। १६०६ में स्वर्णमान कोषकी रुपयेकी शाखा भी हिन्दुस्तान में क़ायम की गई। १६०७ में फ़ाउलर कमेटी की सिफारिश के विरुद्ध भारत मंत्री ने यह फ़ैसला भी कर दिया कि नए रुपये ढालने से होने वाले मुनाफे का आधा हिस्सा उस समय तक भारत में रेलवे विकास के लिये अलग रखा जाय जब तक कि स्वर्णमान कोष में २ करोड़ पाउण्ड नहीं हो जाते हैं।

कौंसिल ड्राफ्ट : भारत में स्वर्ण विनिमय मान पद्धति कैसे क़ायम होगई यह समझने के लिये कौंसिल ड्राफ़्ट की पद्धति के बारे में जानकारी करना आवश्यक है। भारत सरकार को हर साल 'होम चार्जेज' का कुछ रुपया ब्रिटेन में भारत मंत्री को चुकाना पड़ता था। इसके लिये भारत मंत्री भारत सरकार पर रुपये में बिल काटते थे। ये बिल भारत मंत्री ब्रिटेन में उन लोगों को बेच देते थे जिन्हें व्यापार आदि किसी कारण भारत को रुपया भेजना होता था। बदले में भारत मंत्री को स्टरलिंग मिल जाते थे। बिल ख़रीदने वाले उन बिलों को हिन्दुस्तान में उनके लेनदार को भेज देते थे। चूंकि वे बिल भारत सरकार के नाम कटे होते थे इसलिये वे लेनदार भारत सरकार से रुपया वसूल कर लेते थे। इन बिलों को कौंसिल ड्राफ़्ट इस वजह से कहते थे कि भारत मंत्री अपनी कौंसिल सहित अपना काम करता था। ये बिल या ड्राफ़्ट भी उस कौंसिल के नाम पर पुकारे जाने लगे।

१८९३ तक भारत मंत्री उतने रुपये के कौंसिल ड्राफ्ट बेचते थे जितना रुपया 'होम चार्जेज' के नाम पर भारत सरकार को भारत मंत्री को चुकाने के लिए खर्च करना पड़ता था। १८९३ के बाद कुछ वर्षों तक इन कौंसिल ड्राफ्टों का बेचना भारत मन्त्री कभी-कभी, रुपए की विनिमय दर को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से, बन्द भी कर देते थे। अर्थात् विनिमय दर को एक निश्चित दिशा में नियन्त्रण करने के लिए इन कौंसिल ड्राफ्टों का उपयोग होने लगा। सन् १८९८ से इनका उपयोग भारत में मुद्रा की मात्रा बढ़ाने के लिये किया जाने लगा। इन ड्राफ्टों को बेचकर भारत मंत्री को जो सोना मिलता वह बैंक ऑफ इंग्लैंड में भारत सरकार के पेपर करेंसी रिज़र्व में जमा हो जाता और उसके एवज़ में भारत सरकार हिन्दुस्तान में नोट जारी कर देती। बाद में इस सोने का उपयोग नये रुपये ढालने के लिये आवश्यक चाँदी खरीदने में किया जाने लगा था, जैसा पहले लिखा जा चुका है। १९०४ में भारत मंत्री ने यह घोषणा कर दी कि रुपये के विनिमय दर को १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पैं० से ऊपर न जाने देने के लिये जितने कौंसिल बिल या ड्राफ्ट बेचने की आवश्यकता होगी उतने बेचेंगे। अर्थात् कौंसिल बिल का उपयोग विनिमय दर को अमुक मर्यादा से ऊँची जाने से रोकने के लिए भी होने लगा। मिस्र और आस्ट्रेलिया से जो सोवरिन भारत आते थे उनको भारत आने से रोकने और उन्हें इंगलैंड भेजने के लिए इन सोवरिनों के बदले में १ शि० ४ पैं० से १ शि० ४$\frac{3}{32}$ पैं० तक के दर पर 'टेलीग्राफिक ट्रान्सफर' बेचने का फैसला भी किया गया। भारत सरकार यह मानती थी कि भारत में सोवरिन की कोई आवश्यकता नहीं है और इसलिये उनका भारत को निर्यात नहीं होने देना चाहिये। भारत मंत्री द्वारा बराबर बेचे जाने वाले कौंसिल बिलों का चुकारा करने के लिए भारत सरकार के पास हर समय पर्याप्त मात्रा में रुपये का होना आवश्यक था। इसलिये जैसा ऊपर लिखा जा चुका है स्वर्णमान कोष की रुपये या चाँदी की शाखा भारत में कायम की गई। कौंसिल बिलों की बिक्री द्वारा भारत स्थित स्वर्णमान कोष और दूसरे कोषों की रकम लन्दन भेजने का भी एक सरल तरीका निकल आया। इस प्रकार भारत में स्वर्ण विनिमय मान पद्धति को चालू रखने के तरीके के एक अनिवार्य अंग का कौंसिल बिलों के रूप में विकास हो गया। स्वर्ण मान कोष का उपयोग यह भी समझा गया कि इसके आधार पर १ शि० ४ पैं० की दर पर सोवरिन को रुपए में बदलने के लिये भारत सरकार हर समय तैयार रह सकती है। १८९३ की वह विज्ञप्ति भी वापस ले ली गई जिसके अनुसार 'सोवरिन' से अलग सोने के बदले में भी नोट या रुपये जारी करने का भारत सरकार को अधिकार था।

ऊपर हम लिख चुके हैं कि कौंसिल बिलों का उपयोग स्वर्ण विनिमय मान-पद्धति को क़ायम रखने के लिये होने लगा। पर कौंसिल बिलों का उपयोग रुपये की विनिमय दर को एक मर्यादा से ऊपर जाने से रोकने का ही हो सकता था। स्वर्ण विनिमय मान को क़ायम रखने के लिये यह भी ज़रूरी था कि रुपये की विनिमय दर अमुक मर्यादा से नीचे भी न गिरे। क्योंकि स्वर्ण विनिमय मान-पद्धति का अर्थ ही यह था कि रुपये का पौंड के, जो स्वर्ण मान पर आधारित मुद्रा थी, साथ एक निश्चित विनिमय दर बना रहे। रुपये की विनिमय दर को एक निश्चित मर्यादा से नीचे गिरने से रोकने के लिए कौंसिल बिल तो काम दे नहीं सकते थे। इसलिए किसी दूसरे उपाय की आवश्यकता थी। वह उपाय १९०७-८ में 'रिवर्स कौंसिल बिलों' के रूप में निकल आया। बात यह थी कि जब विदेशी व्यापार के संतुलन के भारत के विरुद्ध जाने से रुपये की विनिमय दर गिरने लगी तो उसे रोकने की भारत सरकार को आवश्यकता हुई। भारत सरकार ने भारत मंत्री पर स्टरलिंग में बिल काट करके उन लोगों को बेचना शुरू कर दिया जिन्हें लंदन स्टरलिंग भेजना था। इस प्रकार भारत सरकार को रुपये में चुकारा करके खरीदने वाले इन बिलों को अपने लेनदार को लंदन भेज दिया करते थे और वहां वह भारत मंत्री से स्टरलिंग वसूल कर लिया करता था। भारत मंत्री इन 'रिवर्स कौंसिल बिलों' का चुकारा करने के लिये पेपर करंसी रिज़र्व के सोने, और गोल्ड स्टेंडर्ड रिज़र्व की सिक्यूरिटीज़ का उपयोग करता था। पेपर करंसी रिज़र्व से जितना सोना इस काम में लिया जाता था उसके एवज़ में पेपर करंसी रिजर्व की भारत की शाखा में उतनी क़ीमत के रुपया जमा कर दिये जाते थे। भारत सरकार रिवर्स कौंसिल १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पैं० प्रति रुपये के हिसाब से बेचती थी। इन बिलों का नाम 'रिवर्स कौंसिल' इस वजह से पड़ा कि रुपये की विनिमय दर पर भारत मन्त्री द्वारा बेचे जाने वाले कौंसिल बिलों से बिल्कुल उल्टा (रिवर्स) असर इनका पड़ता था। इनको बेचने का एक असर यह भी हुआ कि भारत सरकार के पास जो सोना विभिन्न कोषों में था उसमें काफ़ी कमी आ गई। इस पर से १९०९ में भारत सरकार ने भारत मंत्री के पास एक तो यह प्रस्ताव रखा कि स्वर्ण मान कोष में कम से कम २$\frac{1}{2}$ करोड़ पौंड रहने चाहियें और वे सोने की शकल में न कि सिक्यूरटीज़ की शकल में होने चाहिये। भारत मंत्री ने २$\frac{1}{2}$ करोड़ पौंड की बात तो मान ली पर यह सब सोने की शक्ल में रहें यह उसे स्वीकार नहीं हुआ। केवल १० लाख पौंड बैंक जमा या अल्पकालिक ऋण में रखने को वह तैयार हुआ। भारत सरकार ने दूसरा प्रस्ताव यह किया था कि पेपर करंसी रिज़र्व में जितना सोना है उसका २/३ भाग भारत में रहना चाहिये

क्योंकि भारत में सॉवरिन का चलन बढ़ता जा रहा था और इसके लिये पेपर करंसी रिज़र्व में रुपये की अपेक्षा सोना रहना ज्यादा आवश्यक था। पर भारत मंत्री ने इस प्रस्ताव को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया।

स्वर्ण विनिमय मान पद्धति के प्रमुख लक्षण भारत में स्वर्ण विनिमय मान (गोल्ड एक्सचेंज स्टैंडर्ड) की स्थापना किस प्रकार बिना किसी पूर्व निश्चय के हो गई, इसका विवरण ऊपर आ चुका है। इस मुद्रा पद्धति में मुख्य-मुख्य कारण ये थे —

(१) रुपया असीमित क़ानूनी मुद्रा था और क़ानून के अन्तर्गत सोने में उसका परिवर्तन नहीं हो सकता था।

(२) सॉवरिन और अर्द्ध सॉवरिन भी असीमित क़ानूनी मुद्रा मान लिये गये थे और १५) रुपये का एक सॉवरिन माना गया था।

(३) एक सॉवरिन के १५ रु० के हिसाब से भारत सरकार रुपए का एवज में सॉवरिन दिया करती थी हालांकि उसपर इसका कोई क़ानूनी ज़िम्मा नहीं था।

(४) सोना, सॉवरिन या स्टरलिंग के एवज में जो लन्दन में दिया जाता था १ शि० ४¹⁄₈ पैं० प्रति रुपए के हिसाब से भारत सरकार कलकत्ते या बम्बई में रुपया या रुपए के नोट बदलने को बराबर तैयार रहती थी। यही कौंसिल बिलों की प्रथा थी।

(५) इसी प्रकार भारत सरकार भारत में रुपये लेकर १ शि० ३²⁹⁄₃₂ पैं० की दर से लन्दन में सोना, सॉवरिन या स्टरलिंग देने को तैयार रहती थी। ये ही 'रिवर्स कौंसिल्स' को बचने की प्रथा थी।

नं० ४ और ५ में दिये गये लक्षण इस पद्धति के आधारभूत लक्षण थे क्योंकि इन्हीं के द्वारा रुपया और सोना या सॉवरिन आपस में एक दूसरे में बदले जा सकते थे। इस काम के लिये भारत मंत्री के पास जो पेपर करन्सी और गोल्ड स्टैंडर्ड के कोष में सोना उपलब्ध होता था उसका या जो नक़द उसके पास रहता था उसका उपयोग वह करता था। इसी प्रकार भारत सरकार भी गोल्ड स्टैंडर्ड रिज़र्व की रुपये की शाखा, भारत स्थित पेपर करेंसी रिज़र्व, और नक़द जो उस के पास हो उसका उपयोग करता था। इस प्रकार पेपर करेंसी रिज़र्व और नक़द रुपया जो कि इस काम के लिये नहीं थे उनका भी रुपए की विनिमय दर को स्थिर रखने में उपयोग हो जाता था, हालांकि ऐसा करना सही नहीं था। इस मुद्रा पद्धति के बारे में देश में एकमत नहीं था। कुछ लोगों की राय में इसमें कम खर्च था और लोच था जब कि कुछ की राय यह थी कि इसमें स्थिरता का अभाव था और इसमें सरलापन भी नहीं था।

चेम्बरलेन कमीशन : १९१३ की अप्रेल में आस्टिन चेम्बरलेन की अध्यक्षता में इस समस्या की जांच करने के लिये एक कमीशन बैठा और फरवरी, १९१४ में उसने अपनी रिपोर्ट दी। कमीशन ने यह राय दी कि स्वर्णविनिमय मान पद्धति ठीक-ठीक चल रही है और सोने के सिक्के का चलन जरूरी नहीं है। भारतवासियों की इच्छा पूरी करने के अलावा सोने के सिक्के ढालने के टकसाल की देश में कोई आवश्यकता नहीं है। स्वर्णमान कोष की मात्रा बढ़नी चाहिये, उसमें केवल सोना होना चाहिये और वह लंदन में रहना चाहिये। रुपये की शाखा समाप्त कर देनी चाहिये। रुपये ढालने से जो लाभ हो उसका सिवाय इस कोष में जमा करने के दूसरा कोई उपयोग कुछ वर्षों तक तो नहीं होना चाहिये। भारत सरकार को २ शि० ३$\frac{3}{4}$ पैं० की दर से रिवर्स कौंसिल्स बेचने को बराबर तैयार रहना चाहिये।

प्रथम महायुद्ध : प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन ने व्यक्तियों द्वारा देश से सोना निर्यात करने पर प्रतिबंध लगा दिया। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से स्टरलिंग के एवज़ में सोना मिलना बंद हो गया और भारत की मुद्रा पद्धति स्वर्ण विनिमय मान की बजाय स्टरलिंग विनिमय मान पर स्थापित हो गई। लड़ाई का असर रुपये की विनिमय दर को कम करना भी हुआ, क्योंकि रुपये पर से लोगों का विश्वास उठता हुआ लगा। रिवर्स कौंसिल्स की बिक्री के जरिये विनिमय दर गिरने से रुक गई। बाद में १९१६ के अन्त तक कोई खास बात सामने नहीं आई। पर फिर भारतीय मुद्रा की कई कारणों से मांग बढ़ने लगी। एक कारण तो यह था कि भारत से दूसरे देशों को निर्यात बढ़ा क्योंकि युद्ध सामग्री के लिये आवश्यक माल यहां से मित्र राष्ट्रों को भेजा जाता था। इससे विदेशी व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष में होगया। युद्ध से पहले तो सोना और चांदी भेजकर इस संतुलन को बराबर किया जाता था पर लड़ाई के कारण इन धातुओं के निर्यात पर तो रोक थी। इस लिये यह उपाय काम में लिया जाने लगा कि जिन्हें भारत को रुपया चुकाना होता था वे भारत मंत्री द्वारा बेचे जाने कौंसिल बिल लंदन में खरीद कर भारत में भेज देते थे और भारत सरकार को यहां उनका चुकारा करना पड़ता था और इसके लिये उनको रुपये की आवश्यकता होती थी। इसके अलावा भारत सरकार को भी युद्ध के कारण काफी खर्च करना पड़ता था और ब्रिटिश सरकार और मित्र राष्ट्रों की ओर का खर्च भी उसे यहां करना होता था। इससे भी रुपये की मांग बढ़ने का परिणाम आता था।

इस बढ़ती हुई रुपए की मांग के पूरी करने का एक उपाय नए रुपए ढालना

(६) २६ जून, १९१७ को सोने और चांदी के सिक्कों का, सिक्कों के अतिरिक्त और दूसरे प्रकार के उपयोगों पर क़ानूनी रोक लगादी गई। भारत में जितना भी सोना बाहर से आयात किया जाये वह सभी इसी तारीख के एक आर्डिनेन्स के अनुसार भारत सरकार के सुपुर्द करना अनिवार्य कर दिया गया ताकि उसके 'सोवरिन' ढाले जायें। इस उद्देश्य से अगस्त १९१८ में एक सोने सिक्के का मिन्ट भी क़ायम हुआ पर अप्रैल, १९१९ में वह बंद हो गया।

(७) नई कागजी मुद्रा को जारी किया गया और उसको रुपये में परिवर्तन की सुविधायें कम करदी गई ताकि नई कागज़ी मुद्रा के जारी करने में इस कारण कम अड़चन महसूस हो।

(८) सरकार ने युद्ध के अतिरिक्त और बातों पर खर्चा कम करने का प्रयत्न किया और साथ ही कर अथवा ऋण के द्वारा जनता से ज्यादा रुपया वसूल करने का प्रयत्न किया।

बेविंगटन स्मिथ कमेटी : उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रथम महायुद्ध के समय में देश की मुद्रा प्रणाली अस्तव्यस्त हो गई। ३० मई, १९१९ को भारत मंत्री ने श्री हेनरी बेविंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक कमेटी की नियुक्ति की। कमेटी की मुख्य-मुख्य सिफारिशें नीचे लिखे अनुसार थीं :—

(१) रुपये का सम्बन्ध स्टरलिंग की जगह सोने से होना चाहिये क्योंकि स्टरलिंग की स्थिरता का कमेटी को भरोसा नहीं था। विनिमय दर के बारे में कमेटी ने १ रु० = २शि० (सोना) की सिफ़ारिश की थी। इस ऊंची दरको निश्चित करने का कारण यह था कि अगर चांदी का मूल्य ४३ पेंस प्रति औंस से भी ऊपर चला जाय तब भी रुपये की विनिमय दर पर कोई असर नहीं पड़ेगा। कमेटी चाहती यह थी कि रुपये का सोने के साथ ऐसा विनिमय दर निश्चित किया जाय कि चांदी के मूल्य में संभवतः जितनी वृद्धि का अनुमान किया जा सकता है उतनी वृद्धि होने पर भी रुपये की विनिमय दर पर असर न पड़े। रुपये का सोने के साथ सम्बन्ध रखने का कमेटी के सामने एक कारण यह भी था कि बिना इस संबंध के रुपये और सोवरिन दोनों का देश में एक साथ चलन बावजूद दोनों के क़ानूनी मुद्रा होने के असंभव हो सकता है, क्योंकि उनका आपसी मूल्य उस हालत में सोने के रुपये में मूल्य के उतार-चढ़ाव के साथ बदलता रहना आवश्यक है।

(२) रुपये की विनिमय दर जब २ शि० सोना तक पहुँच जाये तो युद्ध-कालीन सोने और चाँदी के आयात पर जो प्रतिबंध हैं उन्हें हटा लेना चाहिये।

(३) सॉवरिन का टंकन करने के लिये बम्बई में दुबारा रॉयल मिंट की शाखा क़ायम होना चाहिये।

(४) सॉवरिन के बदले में रुपये देने का जिम्मा सरकार को अपने पर नहीं रखना चाहिये ताकि चाँदी का दाम यदि बढ़ जाय तब भी सरकार को परेशानी न हो।

(५) स्वर्णमान कोष पर रक़म की कोई मर्यादा नहीं रहनी चाहिये। उसमें सोने का अंश काफ़ी मात्रा में होना चाहिये और बाक़ी सिक्यूरिटीज़ में लगाना चाहिये। कुल सोने का आधा भाग भारत में रहना चाहिये।

(६) भारत मंत्री को अपनी आवश्यकता से अधिक कौंसिल बिल खरीदने वालों की प्रतियोगिता के आधार पर बेचना चाहिये। विनिमय दर जब गिरने लगे तो रिवर्स कौंसिल भी भारत सरकार को बेचना चाहिये।

श्री दलाल का मतभेद—पर दादा भाई दलाल इस पक्ष में नहीं थे कि रुपये की विनिमय दर १ रु०=२ शि० माना जितना ऊँचा रक्खा जाये। देनदार और लेनदार के आपसी सम्बन्धों पर इसका बड़ा असर पड़ेगा, निर्यात करने वालों को हानि होगी, और कागजी मुद्रा के कोषों का जितना अंश सोने या स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ की शक्ल में है उसका रुपये में क़ीमत कम हो जायगी। चाँदी के मूल्य को बढ़ने से रोकने के लिये, आपका ख्याल है कि, सरकार को चाँदी के निर्यात पर से रोक हटा लेनी थी, और नए रुपये ढालना बंद करके तथा भारत मंत्री की जरूरत के अनुसार ही कौंसिल बिलों को बेचकर भी इस स्थिति को सरकार उम्हाल सकती थी।

सरकार का निर्णय—भारत सरकार ने कमेटी के बहुमत की राय स्वीकार की और फरवरी १९२० में कई विज्ञप्तियें प्रकाशित करके नीचे लिखे क़दम उठाये—

(१) रुपये की विनिमय दर २ शि० सोना ही निश्चित किया गया।

(२) चाँदी के आयात और चाँदी सोने के सिक्कों को गलाने पर से प्रतिबंध हटा लिये गये। चाँदी में आयात कर भी हटा लिया गया। २१ जून को सोना और सोने के सिक्कों के आयात पर से रोक हटा ली गई। सरकार के खाते में भुगतान करने पर से प्रतिबंध हटा लिए गए और नोटों को रुपये में बदलने की पूर्ववत सुविधायें फिर से जारी कर दी गई।

(३) सॉवरिन और अर्द्ध सॉवरिन के बदले में रुपया देने का सरकार का जिम्मा हटा लिया गया।

(४) जून २१, १९२० के एक ऑर्डिनेन्स से सॉवरिन और अर्द्ध सॉवरिन का

क़ानूनी मुद्रा की हैसियत समाप्त कर दी गई, पर २१ दिन तक १५ रु० प्रति सोवरिन के हिसाब से सरकार ने उनको स्वीकार करने की घोषणा कर दी। उस के बाद ब्रिटिश सोने के सिक्कों के भारत में आयात पर जो प्रतिबंध था वह भी हटा लिया गया। १९२० के इंडियन कोयनेज एक्ट के अन्तर्गत सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन १० रु० और ५रु० के दर से फिर क़ानूनी मुद्रा करार दे दिये गये। पर सोवरिन का बाज़ार-भाव इस से अधिक था और इसलिये मुद्रा के रूप में इनका चलन नहीं हो सका। इसी कारण से सोने की टकसाल खोलना भी अनावश्यक समझा गया। सोने के बाजार-भाव को कम करने के लिये भारत सरकार आयात का सोना अपने सुपुर्द करा कर बाज़ार में सोने की सितम्बर १९१९ से ही पाक्षिक बिक्री करनी शुरू करदी थी पर जब बेविंग्टन कमेटी ने २शि० सोने की विनिमय दर निश्चित की थी तब भी सोने का बाज़ार-भाव ऊंचा था। फरवरी १९२० और सितम्बर १९२० के बीच में भी सरकार ने काफी सोना बेचा। पर जब तक सरकार बिक्री करती रही तब तक तो सोने का भाव कुछ मंदा रहा और ज्योंही बिक्री बंद हुई कि भाव फिर ऊंचा चला गया। भारत सरकार इस काम में बिल्कुल असफल रही।

(५) यह घोषणा करदी गई कि प्रति सप्ताह खुले टेन्डर से कौंसिल ड्राफ्ट और 'टेलीग्राफिक ट्रान्सफर' की बिक्री होगी और रुपये की विनिमय दर में जब कमजोरी मालूम पड़ेगी तो भारत को लन्दन सोना भेजने के खर्च पर आधारित दर के हिसाब से 'रिवर्स कौंसिल्स' भी बेचे जायँगे।

२ शि० सोने की विनिमय दर की असफलता : जब २ फरवरी, १९२० को रुपये का विनिमय दर २ शि० सोना तय होगया तो रुपया स्टरलिंग दर बढ़ने लगा और ११ फरवरी, १९२० को यह दर २शि० १०३/४ पै. प्रति रुपया तक पहुंच गया। विनिमय दर के बढ़ने से इससे भी सहायता मिली कि निर्यात के व्यापारियों ने अपने निर्यात बिलों को भुनाने की जल्दी करना शुरू कर दिया ताकि विनिमय दर के बढ़ने से होने वाले नुकसान से वे बच सकें। विनिमय दर २ शि. १०३/४ पेंस स्टरलिंग तक पहुंच गई तो उसका गिरना आरंभ हुआ। इसके कई कारण थे। निर्यात के व्यापारियों द्वारा निर्यात बिलों की बिक्री तो कम हो गई और आयात करने वालों की ओर से बढ़ी हुई दर से लाभ उठाने के लिये स्टरलिंग की मांग आने लगी। हमारे विदेशी व्यापार का संतुलन विपक्ष में चले जाने से भी विनिमय दर में गिरावट आने लगी। सरकार ने रिवर्स कौंसिल्स की बिक्री द्वारा विनिमय दर को गिरने से रोकने का प्रयत्न किया पर उसमें वह सफल नहीं हुई। सरकार ने हार मान कर २ शि. सोने की बजाय २४ जून, १९२०

से २ शि स्टर्रालग की दर पर कायम रखने का निर्णय किया। पर विनिमय दर तो गिरना ही गई और सरकार भी उस हिसाब से अपने द्वारा निश्चित दर का कम करती गई। बाज़ार दर से सरकारी दर कुछ ऊंचा अवश्य रखा जाता था। आखिरकार हार मान कर सरकार ने सितम्बर १६२० के अन्त में विनिमय दर पर नियन्त्रण रखने का इरादा ही छोड़ दिया। इस मौके पर भारत सरकार ने ५ करोड़ ५२ लाख ८० हज़ार पाउंड के रिवर्स कौंसिल्स बेचे जिन का भुगतान करने के लिये उसे कम्पनी रिज़र्व का स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ और ट्रेजरी बिलों को नुकसान उठाकर भी बेचना पड़ा क्योंकि ५६ प्रति पाउंड के दर में बट्टा हुआ थी और ७ से १० रु तक की दर पर वे बेचनी पड़ी। रिवर्स कौंसिल्स की बिक्री से देश में मुद्रा संकुचन भी हुआ। सरकार ने विनिमय दर का जब नियन्त्रण करना छोड़ा था उस समय १ शि १० पेंस की दर था। दिसम्बर १६२० में १ शि ५½ पैं, दिसम्बर १६२१ में १ शि ३½ पैं और अप्रैल १६२२ में १ शि ३½ पैं हो गई गई था।

असफलता के कारण विनिमय दर के नियन्त्रण में सरकार की इस असफलता का मुख्य कारण यह था कि बबिंगटन कमेटी ने देश की मुद्रा स्थिति का जो निदान किया वह गलत था और सरकार ने उसी गलत निदान के अनुसार कार्रवाई की। बेबिंगटन स्मिथ कमेटी की यह धारणा थी कि चांदी का मूल्य बढ़ जाने से ही रुपये का विनिमय दर बढ़ा और इसी लिये उन्होंने रुपये का विनिमय दर इतना ऊँचा निश्चित रखने की सिफारिश की कि फिर चाँदी का मूल्य बढ़ जाने से कोई गड़बड़ी न पैदा हो सके। कमेटी का इस ओर ध्यान नहीं गया कि चांदी का मूल्य स्थायी रूप से इतना ऊँचा रहने वाला नहीं था। इसके अलावा चांदी की कीमत बढ़ने का एक कारण यह था कि रुपये और स्टर्लिंग दोनों का ही तीनों में सामान्य मूल्य गिर गया था और इसलिये चांदी में भी उसका मूल्य गिर गया था। रुपया सांकेतिक मुद्रा के रूप में बना रहे और उसका चलन जारी रहे इसके लिये तो आवश्यकता यह थी कि रुपये में चांदी की मात्रा कम करदी जाती न कि उसके विनिमय दर को बढ़ाना। इसके अलावा चाहे रुपये की सांकेतिक मुद्रा का रूप न भी रहता तब भी उसका चलन तो जारी रहता ही, क्योंकि काफी संख्या में रुपये चलन में थे। जब बेबिंगटन स्मिथ कमेटी की सिफारिश को सरकार ने स्वीकार किया तब चांदी का मूल्य गिरने लग गया था और ४४ पैंस प्रति औंस तक आ गया था। सारांश यह कि कमेटी ने रुपये की इतना ऊंचा विनिमय दर का सिफारिश करके गलती की और उससे भी बड़ी गलती सरकार ने उस सिफारिश को मान कर और असमय

दिखते हुए भी उस पर जमे रहने का प्रयत्न करके की। सच्ची बात यह थी कि रुपये की जो क्रय शक्ति थी उसके हिसाब से कहीं अधिक उसकी विनिमय दर को कायम नहीं रखा जा सका।

विनिमय दर का १ शि० ६ पैं० तक पहुँचना : यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि जब सरकार ने विनिमय दर का नियंत्रण करना छोड़ दिया था तो विनिमय दर बराबर कम होती गई पर थोड़े समय के बाद परिस्थिति बदली। यूरोपीय देशों की क्रय शक्ति बढ़ने से १६२२–२३ में हमारा विदेशी व्यापार बढ़ने लगा। इसके अलावा विनिमय दर को ऊँची रखने के प्रयत्न में देश में मुद्रा संकुचन भी काफ़ी हुआ था। १६२१–२२ और १६२२–२३ में लंदन में जो स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ थीं वह भारत मंत्री की रोकड़ में जमा करदी गई, और इंडियन ट्रेजरी बिल जो रिज़र्व में थे उनको भी रुपये में बदल लिया गया। इसका असर भी मुद्रा संकुचन का हुआ। नतीजा यह हुआ कि एक ओर तो निर्यात के बढ़ने से और दूसरी ओर मुद्रा संकुचन से रुपये के विनियम दर में फिर वृद्धि होने लगी। सितम्बर १६२३ में रुपया की क़ीमत १ शि० ३½ पैं० सोना के बराबर थी और उस समय प्रथम महायुद्ध के पहले का १ शि० ४ पैं० का विनिमय दर फिर से आसानी से निश्चित हो सकता था। पर सरकार ने ऐसा न करके विनिमय दर को बढ़ने दिया। कौंसिल बिलों के स्थान पर अब सरकार ने इंपीरियल बैंक और विदेशी विनिमय बैंकों के द्वारा स्टरलिंग खरीदना शुरू कर दिया। ये स्टरलिंग तो भारत मंत्री के पास रह जाता और भारत में सरकार बैंकों को रुपये में स्टरलिंग के एवज में चुकारा कर देती। अप्रैल, १६२५ में जब इंगलैंड ने फिर स्वर्णमान स्वीकार कर लिया तो रुपये का विनिमय दर १ शि० ६ पैंस सोना हो गया। सितंबर १६३१ तक यही विनिमय दर क़ायम रखा गया।

हिल्टन यंग कमीशन की स्थापना : २५ अगस्त, १६२५ को भारतीय मुद्रा और विनिमय पर विचार करने के लिए लेफ्टीनेन्ट कमान्डर हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक शाही कमीशन की नियुक्ति हुई। ४ अगस्त, १६२६ को इस कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। कमेटी की सिफारिशों को विषय के आधार पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) मुद्रा मान (मोनिटरी स्टेन्डर्ड) (२) विनिमय दर और (३) केन्द्रीय बैंक। हम इस परिच्छेद में पहले दो विषयों के बारे में ही विचार करेंगे। तीसरे विषय के बारे में पिछले परिच्छेद में लिखा जा चुका है।

स्वर्ण विनिमय मान के दोष : हिल्टन यंग कमीशन ने मुद्रा पद्धति के

बारे में अपना राय देने से पहले स्वर्ण विनिमय मान पद्धति के दोषों का उल्लेख किया। कमीशन की राय में ये दोष इस प्रकार थे—

(१) स्वर्ण विनिमय मान सरल पद्धति नहीं था और रुपये और सोने का सबंध साधारण जनता की स्पष्ट नहीं हो सकता था। कौंसिलबिल्स, और रिवर्स कौंसिल बिल्स का इस पद्धति में स्थान, रुपया नोट, और सोवरिन तथा अर्द्ध सोवरिन का कानूनी मुद्रा होना पर सोवरिन अर्द्ध सोवरिन का चलन में नहीं होना और नोट के बदले में रुपये मिल सकना—ये सब पर्दादारी पैदा करने वाली बातें थीं।

(२) इस पद्धति में मुद्रा का संकुचन या विस्तार किसी निश्चित परिस्थिति में अपने आप न होकर सरकार की इच्छा अनिच्छा पर निर्भर था। कौंसिल बिलों के बदले अगर सरकारी खजाने से रुपये चुका दिये जायँ तो रुपया का विस्तार नहीं होता और इसी तरह रिवर्स कौंसिल का चुकारा गोल्ड स्टैंडर्ड रिज़र्व से उधार लेकर कर दिया जाय तो मुद्रा का संकुचन नहीं होता। इस तरह से मुद्रा विस्तार और मुद्रा संकुचन के जो ये उपाय थे उनका असर मुद्रा विस्तार और मुद्रा संकुचन का होना ही, ऐसा अनिवार्य नहीं था।

(३) देश में पेपर करेन्सी रिज़र्व नोटों का नकद में परिवर्तन करने के लिये, गोल्ड स्टैंडर्ड रिज़र्व रुपये के बदले सोना देने और इस प्रकार रुपये का विनिमय दर स्थिर रखने के लिये, और सरकारी खज़ाने सरकारी लेन-देन के काम को चलाने के लिये कायम किये गये थे। पर वास्तव में इन कोषों और सरकारी खज़ानों का उपयोग अपनी-अपनी मर्यादा में होता नहीं था। जैसे पेपर करेन्सी रिज़र्व का उपयोग विनिमय दर को स्थिर रखने के लिये या चांदी ढालने के लिये चांदी खरीदने में कर लिया जाता था और गोल्ड स्टैंडर्ड रिज़र्व का उपयोग भी मौका पड़ने पर कर लिया जाता था। देश में विभिन्न बैंकों के कोष भी थे पर उनका और करेन्सी रिज़र्व का आपस में कोई समन्वय नहीं था। इसके अलावा गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्व में वास्तव में सोना ही हो या वह भारत में ही रखा जाय ऐसा नहीं था। स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में भी वह रिजर्व रहता था। १६०६ में इस रिज़र्व का रुपये का शाखा खुला पर बाद में चेम्बरलेन कमीशन का राय पर वह बंद करदी गई। पेपर करेन्सी रिज़र्व का भी एक भाग लंदन में रखा जाता था।

(४) स्वर्ण विनिमय मान में कुछ और दोष भी थे। यह किसी सोचा-समझा हुई नीति या योजना के अनुसार स्वीकार किया गया हो, ऐसी बात नहीं थी। इसका कुछ आधार तो कानूनी था पर जैसे कौंसिल और रिवर्स कौंसिल बिलों का बेचने की प्रथा का आधार कोई कानून नहीं था। कौंसिल बिलों को बेचने

का असर भारत में सोने के आयात पर प्रतिकूल पड़ता था।

(५) इस पद्धति का एक गुण तो यह बताया जाता था कि बिना सोने के सिक्के का खर्च किये स्वर्णमान का लाभ देश को मिल जाता था। पर इस बारे में मतभेद था। प्रत्यक्ष स्वर्णमान से जनता में जो भरोसा पैदा होता वह तो इससे पैदा हो ही नहीं सकता था। दूसरा इसका गुण यह था कि रुपये की विनिमय दर में स्थिरता रहती थी पर उसी के साथ रुपये की आन्तरिक क्रय शक्ति की स्थिरता जो अधिक महत्त्वपूर्ण थी इसके द्वारा प्राप्त नहीं होती थी।

उपर्युक्त कारणों से हिल्टन यंग कमीशन ने इस पद्धति को अस्वीकार कर दिया।

कुछ विकल्प : हिल्टन यंग कमीशन के सामने कुछ विकल्प उपस्थित किये गये थे। उनमें से एक तो यह था कि स्टरलिंग या स्वर्ण विनिमय मान में ही सुधार किया जावे। पर कमीशन भारत की मुद्रा पद्धति को किसी दूसरे देश की पद्धति पर आश्रित रखने के सिद्धान्ततः ही विरोध में था। फिर स्टरलिंग या स्वर्ण विनिमय मान में यह डर तो था ही कि चांदी के मूल्य में अमुक मर्यादा के बाद वृद्धि हो जाने पर चांदी के रुपये को सिक्के के तौर पर काम में लेना लाभप्रद न होने से उसका चलन न रहे। तीसरे सर्व साधारण में विश्वास पैदा करने के लिये आन्तरिक उपयोग के लिये रुपये को सोने में बदलना आवश्यक था। इसलिये ये विकल्प कमीशन ने स्वीकार नहीं किये।

अब रहा सोने के सिक्के के साथ स्वर्णमान स्थापित करने का। कमीशन सोने के सिक्के के पक्ष में भी नहीं था क्योंकि उसे भय था कि इस कारण से एक ओर तो सोने की इतनी मांग बढ़ेगी कि न तो उसे पूरा करना संभव होगा और उस से संसार का उद्योग-व्यापार भी अस्त-व्यस्त हो जायगा, क्योंकि चीजों का सोने में मूल्य गिर जायगा। इससे भारत को भी हानि होगी। दूसरे उसे चांदी की कीमत गिर जाने का भी भय था। यह भी उन भारतीयों के लिये जिनके पास चांदी जमा है हानिकर होगा।

गोल्ड बुलियन स्टैन्डर्ड : कमीशन ने अपनी राय 'गोल्ड बुलियन' स्टैन्डर्ड के पक्ष में दी। उसने जो सिफारिशें की वे ये थीं :—

(१) चांदी के रुपये और नोटों का चलन बदस्तूर जारी रहे।

(२) सोने का सिक्का चलन में रखना आवश्यक है। इसलिये सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन को कानूनी मुद्रा न माना जावे। इस से यह लाभ भी होगा कि देश में जो रिजर्व में सोना है उसका उपयोग साख व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में हो सकेगा।

बारे में आसानी से भरोसा हो सकता है। कमीशन ने इस बारे में यह अवश्य कहा था कि बाद में जब सोना रिज़र्व में पर्याप्त मात्रा में हो जाय तो सोने के सिक्के अगर जरूरी समझा जाय तो चालू किया जा सकता है।

सारांश यह है कि स्वर्ण विनिमय मान को अस्वीकार करके तो हिल्टन यंग ने सही फैसला किया पर भारत में सोने के सिक्के वाला स्वर्ण मान स्थापित करने की सिफारिश न करके भारत का अहित किया। उस समय भारत में सोने के सिक्के वाला स्वर्ण मान कायम करना चाहिये था।

विनिमय दर की समस्या हिल्टन यंग कमीशन के सामने रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पैं० तय किया जाय या १ शि० ४ पैं० यह बहुत वाद विवाद का प्रश्न रहा। बाद में भी हमारे देश में यह वाद विवाद बहुत वर्षों तक चलता रहा। कमीशन ने बहुमत से १ शि० ६ पैं० के पक्ष में राय दी और उसके नीचे दिये कारण उपस्थित किये —

(१) कीमतों और मजदूरी के स्तर का इस दर के साथ सामञ्जस्य बैठ गया है।

(२) जो अल्पकालिक मुआहिद (कोन्ट्रैक्ट्स) थे उन पर तो विनिमय दर को १ शि० ६ पैं० तय करने का कोई असर पड़ेगा नहीं। और जो लगान जैसे दीर्घ कालिक मुआहिद हैं उनके बारे में कमीशन का यह कहना था कि १९१४ के बाद कृषि पदार्थों का मूल्य बढ़ जाने से उनका लगान देने वालों पर वास्तविक भार कम हो गया है।

१ शि० ४ पैं० के विरुद्ध कमीशन ने कई तर्क दिये थे जैसे —

(१) मूल्य और मजदूरी का इस दर से सामञ्जस्य नहीं हुआ था।

(२) उद्योगों और सरकारी वित्त व्यवस्था पर १ शि० ४ पैं० की दर का बुरा असर पड़ेगा।

कमीशन की इस राय से सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास सहमत नहीं थे और १ शि० ४ पैं० के पक्ष में उन्होंने अपनी राय दी थी। उन्होंने जो कारण पेश किये थे वे इस प्रकार थे —

(१) वह इस से इन्कार करते थे कि १ शि० ६ पैं० से मूल्यों और मजदूरी का सामञ्जस्य हो गया था।

(२) भारतीय उद्योग के लिए यह दर (१ शि० ६ पैं०) हानिकर होगी क्योंकि इसका असर निर्यात को कम करने और आयात को प्रोत्साहन देने का उस समय तक होगा जब तक कि मूल्यों का इसके साथ सामञ्जस्य न बैठ जाये।

(३) कर्जदारों पर, और अधिकांश किसान कर्जदार हैं, कर्ज का बोझ

अधिक हो जायगा क्योंकि १ शि० ४ पैंस की विनिमय दर के समय का लिया हुआ कर्ज है।

(४) दूसरे देशों ने भी युद्ध के पूर्व के विनिमय दर को फिर स्वीकार किया है। भारत को भी ऐसा ही करना चाहिये।

(५) सरकारी वित्त व्यवस्था और उन उपभोक्ताओं को जो साथ-साथ उत्पादक भी नहीं है अधिक महत्व देना आवश्यक नहीं है।

सच्ची बात यह है कि १ शि० ४ पैंस की विनिमय दर ही तय होना चाहिये थी। ब्रिटिश व्यापारी और व्यवसायी वर्ग और भारत के ब्रिटिश राज कर्मचारियों का हित तो बराबर इसी में रहा कि रुपये की विनिमय दर ऊँची रहे ताकि भारत में कीमतें कम रहें और विलायत रुपया भेजने में लाभ रहे। इसके अलावा इस विनिमय दर से मूल्यों और मजदूरी के सामंजस्य हो जाने पर भी, १ शि० ४ पैं० की विनिमय दर से जिन भारतीय व्यवसाइयों ने मशीनें आदि खरीद लीं थी वे उस हद तक अपने ब्रिटिश प्रतिद्वन्दियों का मुकाबला करने में नुकसान में रहने वाले थे जब तक कि वे उस दर से लगी पूंजी को कम ही नहीं कर देते। पर लगी हुई पूंजी का मूल्य घटाने को कोई व्यवसायी तैयार नहीं होता है।

उपरोक्त बातों के बावजूद कमीशन ने १ शि० ६ पैं० के विनिमय दर की सिफारिश की और भारत सरकार ने उसे स्वीकार किया।

कमीशन की रिपोर्ट पर सरकार की कार्यवाई : कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार ने १९२७ में इंडियन करेंसी एक्ट पास किया। इसके अनुसार—

(१) रुपये का विनिमय दर १ शि० ६ पैं० तय कर दिया गया और उसे कम होने से रोकने का कानून से सरकार को ज़िम्मा सौंपा गया।

(२) सरकार को २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला के भाव पर ४० तोले से कम मात्रा में सोना नहीं खरीदना था और सोना या स्टरलिंग जो भी सरकार की इच्छा हो इसी भाव पर लंदन में देने के लिये, सोना हो तो कम से कम ४०० औंस की मात्रा में और स्टरलिंग हो तो उस मूल्य के बराबर स्टरलिंग, बेचना था। स्टरलिंग के बारे में बम्बई से लन्दन भेजने का खर्च अवश्य वसूल करना था और इस दृष्टि से भारत सरकार ने १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पैं० की दर की घोषणा की थी।

(३) सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन के कानूनी मुद्रा का रूप खतम कर दिया गया। पर सरकार पर यह जिम्मा रहा कि वे अपने खजानों और करेंसी

श्रोनिसों म १३ रु० ५ श्रा० ४ पा० प्रति तोलारिज के हिसाब से इन जिन्सों का स्वीकार करें।

इस प्रकार भारत सरकार ने 'गोल्ड बुलियन कम स्टरलिंग एक्सचेंज स्टन्डर्ड' की स्थापना की। कमीशन की सिफारिश के अनुसार विशुद्ध गोल्ड बुलियन स्टैन्डर्ड यह नहीं था क्योंकि सरकार पर सोना या स्टरलिंग दोनों में से कोई अपनी इच्छानुसार बचने का जिम्मा था न कि केवल सोना बेचने का। चूँकि स्टरलिंग स्वर्णमान पर आधारित था इस लिये इसे स्वर्ण विनिमय मान भी कहा जा सकता है। यह स्वर्ण विनिमय मान पहले वाले से इस अर्थ में अच्छा था कि अब सरकार पर कानून से सोना या स्टरलिंग बेचने का भी जिम्मा था, खाली खरीदने का ही नहीं। और सब बातों में यह पहले स्वर्ण विनिमय मान की तरह दोषपूर्ण था।

विनिमय दर १९२७-३१ इन वर्षों में रुपये के विनिमय दर की प्रवृत्ति १ शि० ६ पैं० से नीचे की ओर जाने की रही और उसे १ शि० ६ पैं० पर कायम रखने के लिये सरकार को बैंक रेट को ऊँचा करके, मुद्रा संकुचन करके, और ट्रेजरी बिल्स जारी करके विशेष रूप से प्रयत्न करना पड़ा। जो लोग १ शि० ४ पैं० के पक्ष में थे उनकी बराबर यह शिकायत रही कि वास्तव में १ शि० ४ पैं० के साथ मूल्यों का सामञ्जस्य बैठा नहीं था और वे बराबर विनिमय दर कम करने के पक्ष में आन्दोलन करते रहे। यह सही है कि १९२९ की विश्वव्यापी मंदी का भी मूल्यों के गिरने और विदेशी व्यापार के सन्तुलन के विपक्ष में जाने में हाथ था पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि विनिमय दर ऊँची होने से भी स्थिति बिगड़ी और बाद में उसके सुधार में बाधा भी पहुँची।

१९३१ का संकट विश्वव्यापी मंदी का सामना करने के लिये २० सितम्बर १९३१ को इंगलैंड ने स्वर्ण मान का त्याग कर दिया। २१ सितम्बर १९३१ को पहले तो भारत सरकार ने एक ऑर्डिनेन्स इस आशय का जारी कर दिया कि १९२७ के करेन्सी एक्ट के मातहत जो सरकार पर सोना या स्टरलिंग बचने का जिम्मा था उससे वह मुक्त रहेगी। पर उसी दिन भारत मंत्री ने रुपये को १ शि० ६ पैं० की दर से ही स्टरलिंग के साथ सम्बन्धित रखने की घोषणा कर दी। २४ सितम्बर को गवर्नर जनरल ने एक और ऑर्डिनेन्स, 'गोल्ड एन्ड स्टरलिंग सेल्स रेगूलेशन ऑर्डिनेन्स', जारी किया जिसने २१ सितम्बर के ऑर्डिनेन्स को रद्द किया और १९२७ के करेन्सी एक्ट को वापिस लागू कर दिया, पर व्यवहार में स्टरलिंग की बिक्री पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये—जैसे स्टरलिंग केवल स्वीकृत बैंकों को ही १ शि० ५$\frac{4}{5}$ पैं० की दर पर बेचा जाता था, या सामान्य व्यापारिक आवश्यकता पूर्ति के लिये और २१ सितम्बर के पहले के कॉन्ट्रैक्ट्स

को पूरा करने के लिये, या व्यक्तिगत और पारिवारिक जरूरत पूरी करने के लिये ही बेचा जाना था। सोना चांदी का आयात करने या विदेशी विनिमय संबंधी [स्पेकुलेटिव] लेन-देन के लिये स्टरलिंग की बिक्री बन्द कर दी गई थी। इस प्रकार हमारे देश में नियंत्रित स्टरलिंग विनिमय मान की स्थापना हो गई।

स्टरलिंग का सोने में मूल्य गिरता जा रहा था। इसका असर रुपये का सोने में मूल्य गिरने का भी हुआ ही क्योंकि स्टरलिंग के साथ रुपये का संबंध स्थिर कर दिया गया था। दूसरे शब्दों में सोने का मूल्य बढ़ने लगा। १६३१ के अगस्त के अन्त में सोने की क़ीमत २१ रु० १३ आ० ३ पाई प्रति तोला थी, वह दिसम्बर १६३१ मे २६ रु० २ आ० प्रति तोला हो गई। तब से सोने की कीमत बराबर बढ़ती गई है और आज तो वह १०० रु० तोला से भी अधिक है। सोने के भाव में तेज़ी आने से लोगों ने अपने पास जो सोना जमा था उसे बेचना शुरू किया और सोना भारत से बाहर जाने लगा। इस प्रकार करोड़ों रुपये का सोना बाहर चला गया। बदले में स्टरलिंग की मात्रा बढ़ गई और ३१ जनवरी १६३२ को सरकार ने 'गोल्ड एंड स्टरलिंग सेल्स रेगूलेशन आर्डिनेन्स' रद्द कर दिया। कानून की दृष्टि से तो १६२७ का करेंसी एक्ट फिर लागू हो गया जिसके अनुसार सरकार पर सोना या स्टरलिंग बेचने का ज़िम्मा था पर व्यवहार में भारत मंत्री का रुपये का १ शि० ६ पैंस की दर पर स्टरलिंग से संबंध रखने का निर्णय ही लागू रहा।

रुपया-स्टरलिंग संबंध : बिना भारतीय जनमत का विचार किये जब भारत मन्त्री ने रुपया-स्टरलिंग सम्बन्ध स्थिर कर दिया तो देश में इस का बहुत विरोध हुआ। रुपया-स्टरलिंग संबंध को निश्चित करने के पक्ष में जो कारण दिये जाते थे वे थे थे:—

(१) भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार स्टरलिंग वाले देशों से है और स्टरलिंग में भारत को बहुत सा चुकारा करना पड़ता है इसलिए रुपया-स्टरलिंग सम्बन्ध में निश्चितता होना आवश्यक है।

(२) स्टरलिंग के साथ साथ सोने की रुपये में भी कीमत बढ़ेगी। स्वर्ण-मान के देशों के साथ विनिमय दर घटेगा और फलतः थोड़े समय के लिये ही सही पर उनके साथ का हमारा निर्यात व्यापार बढ़ेगा।

जो तर्क रुपया-स्टरलिंग सम्बन्ध को स्थिर करने के विरुद्ध दिये जाते थे वे थे थे : —

(१) किसी भी देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा पर इस प्रकार

ओरियों में १३ रु० ५ आ० ४ पा० प्रति तोला ४ शि० ... के हिसाब से इन सिक्कों का स्वीकार करें।

इस प्रकार भारत सरकार ने 'गोल्ड बुलियन कम स्टरलिंग एक्सचेंज स्टेंडर्ड' की स्थापना की। कमीशन की सिफारिश के अनुसार विशुद्ध गोल्ड बुलियन स्टैन्डर्ड यह नहीं था क्योंकि सरकार पर सोना या स्टरलिंग दोनों में से कोई अपने इच्छानुसार बेचने का ज़िम्मा था न कि केवल सोना बेचने का। चूंकि स्टरलिंग स्वर्णमान पर आधारित था इस लिए इसे स्वर्ण विनिमय मान भी कहा जा सकता है। यह स्वर्ण विनिमय मान पहले वाले से इस अर्थ में अच्छा था कि अब सरकार पर कानून से सोना या स्टरलिंग बेचने का भी ज़िम्मा था, स्वालों खरीदने का ही नहा। और सब बातों में यह पहले स्वर्ण विनिमय मान की तरह दोषपूर्ण था।

विनिमय दर १९२७-३१ इन वर्षों में रुपये के विनिमय दर की प्रवृत्ति १ शि० ६ पैं० से नीचे की ओर जाने की रही और उसे १ शि० ६ पैं० पर कायम रखने के लिये सरकार को बैंक रेट को ऊंचा करके, मुद्रा संकुचन करके, और ट्रेज़री बिल्स जारी करके विशेष रूप से प्रयत्न करना पड़ा। जो लोग १ शि० ४ पैं० के पक्ष में थे उनको बराबर यह शिकायत रही कि वास्तव में १ शि० ४ पैं० के साथ मूल्यों का सामञ्जस्य बैठा नहीं था और वे बराबर विनिमय दर कम करने के पक्ष में आन्दोलन करते रहे। यह सही है कि १९२९ की विश्वव्यापी मन्दी का भी मूल्यों के गिरने और विदेशी व्यापार के संतुलन के विपक्ष में जाने में हाथ था पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि विनिमय दर ऊंचो होने से भी स्थिति बिगड़ी और बाद में उसके सुधार में बाधा भी पहुँची।

१९३१ का संकट विश्वव्यापी मंदी का सामना करने के लिये २० सितंबर १९३१ को इंगलैंड ने स्वर्ण मान का त्याग कर दिया। २१ सितंबर १९३१ को पहले तो भारत सरकार ने एक आर्डिनेन्स इस आशय का जारी कर दिया कि १९२७ के करेन्सी एक्ट के मातहत जो सरकार पर सोना या स्टरलिंग बेचने का ज़िम्मा था उससे वह मुक्त रहेगी। पर उसी दिन भारत मंत्री ने रुपये को १ शि० ६ पैं० की दर से ही स्टरलिंग के साथ सम्बन्धित रखने की घोषणा कर दी। २४ सितंबर को गवर्नर जनरल ने एक और आर्डिनेन्स, 'गोल्ड एन्ड स्टरलिंग सेल्स रेगूलेशन आर्डिनेन्स', जारी किया जिसने २१ सितंबर के आर्डिनेन्स को रद्द किया और १९२७ के करेन्सी एक्ट को वापिस लागू कर दिया, पर व्यवहार में स्टरलिंग की बिक्री पर कुछ प्रतिबंध भी लगाये—जैसे स्टरलिंग केवल स्वीकृत बैंकों को ही १ शि० ५$\frac{63}{64}$ पैं० की दर पर बेचा जाना था, या सामान्य व्यापारिक आवश्यकता पूर्ति के लिये और २१ सितंबर के पहले के कौन्ट्रैक्ट्स

भी ठीक है कि अगर रुपये-स्टरलिंग का सम्बन्ध १ शि० ६ पैं० से ऊँचा निश्चित होता तो सोने के निर्यात में अवश्य कमी आती क्योंकि विदेशों में सोने की रुपये में कम क़ीमत मिलती।

जहां तक यह सवाल है कि इतना सोना देश से बाहर चला गया, यह ठीक था या नहीं, इस बारे में भी वैसे तो दो रायें थीं। एक पक्ष का कहना था कि यह अच्छा हुआ कि इतने ऊँचे दामों पर सोना बिक गया क्योंकि इससे लोगों को काफ़ी लाभ हुआ तथा ज़रूरत के समय पैसा मिल गया। सरकार की वित्त व्यवस्था और देश के व्यापारिक संतुलन पर इसका इन लोगों की राय में अच्छा असर हुआ। सोने के निर्यात के बदले में या वैसे खरीदने से सरकार के पास स्टरलिंग जमा हो गया और बदले में सरकार ने रुपये या नोटों में चुकारा कर दिया। इसका एक ओर तो यह नतीजा हुआ कि सरकार के पास जो स्टरलिंग था उसका उपयोग तो विदेशों के कर्ज़ को चुकाने में कर लिया गया, और दूसरी ओर रुपये की मात्रा के बढ़ जाने से ब्याज की दर में कमी आ गई और उससे देश के आर्थिक विकास में सहायता मिली। इस पक्ष का यह भी कहना था कि अगर सरकार सोने पर निर्यात-कर लगा देती तो वह बेचने वाले पर ही पड़ता क्योंकि उसे बेचने की जरूरत ज्यादा थी। अगर सरकार स्वयं सोना खरीद कर अपने पास जमा रखती तो वह इतने सोने का करती क्या? पर एक दूसरा पक्ष भी था जो यही ठीक समझता था कि सरकार को सोना अपने पास जमा करना चाहिये था। स्टरलिंग जिसका मूल्य गिरता जा रहा था सरकार ने अपने पास जमा करके भूल की। इसके अलावा जब सोने का मूल्य बढ़ता जा रहा था उस समय सोना बेच कर व्यक्तिशः और राष्ट्र ने भी काफ़ी नुकसान उठाया। बात यह थी कि जहां तक लोगों के पास जो सोना जमा था और वह निकल कर बाहर आ गया यह तो अच्छा हुआ। पर यह सोना सरकार को और बाद में रिज़र्व बैंक को अपने पास रखना चाहिये था और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग करना चाहिये था। इस प्रकार उसको विदेश जाने देना देश के हित में नहीं था।

विनिमय दर में परिवर्तन की माँग जारी : यह हम लिख चुके हैं कि जब १९२७ में १ शि० ६ पैं० की विनिमय दर निश्चित की गई तो उसका बड़ा विरोध था। उसके बाद से द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने तक विनिमय दर को कम करने की मांग बराबर उठती रही। १९२९ की विश्वव्यापी मंदी के आरंभ होते ही, खास-तौर से जब सरकार को १ शि० ६ पैं० की दर कायम रखने में कठिनाई हो रही थी और निर्यात गिर रहा था, वह मांग उठाई गई। १९३१ में जब रुपया-स्टरलिंग का संबंध स्थिर किया गया तो यह प्रश्न उठा। रिज़र्व बैंक

आश्रित कर देना और उसकी स्वतन्त्रता को छीन लेना, जैसा कि रुपये का स्टर लिंग से सम्बन्ध निश्चित कर देने से हुआ, ठीक नहीं है। हिल्टन यग कमीशन ने स्पष्ट शब्दों में इसका विरोध किया था।

(२) भारत जैसे देश में रुपये की आन्तरिक क्रय शक्ति और मूल्यों तथा उत्पादन की स्थिरता का विदेशी विनिमय की स्थिरता की अपेक्षा बहुत कम महत्व है।

(३) स्वर्णमान के देशों के साथ के निर्यात में जो कुछ भी लाभ हो उसी के साथ आयात में होने वाली हानि का और इंगलैंड को जो अपने आप से साम्राज्यान्तगत संरक्षण (इम्पीरियल प्रिफरेंस) मिल जाने वाला है उसका भी ध्यान होना चाहिये।

(४) कुछ लोगों का यह भी मत था कि स्टरलिंग के अवमूल्यन के बावजूद भी १ शि० ६ पैंस की दर भारत के लिये ऊँची थी और इसलिये वे इस दर पर स्टरलिंग सम्बन्ध स्थिर करने के विरोध में थे।

(५) १ शि० ६ पैं० की दर पर स्टरलिंग रुपय का सम्बन्ध स्थिर करने का ही यह परिणाम था कि भारत से इतना सोना विदेशों को चला गया जो कि भारत के हित में नहीं हुआ। इस राय के अनुसार स्टरलिंग के मुकाबिले में रुपये का मूल्य कम आंका गया, अर्थात् रुपये की विनिमय दर ऊँची निश्चित होनी चाहिये थी। इस दृष्टिकोण से सब लोग सहमत नहीं थे।

उपरोक्त विवेचन का सार यह है कि रुपये का स्टरलिंग के साथ सम्बन्ध निश्चित कर देना अनुचित था। भारत को अपने आर्थिक विकास की आवश्यकता को ध्यान में रखकर अपनी स्वतन्त्र विनिमय नीति बरतनी चाहिये था। कुछ लोगों की यह राय थी कि स्टरलिंग के साथ सबंध तो निश्चित किया जाता पर कम दर पर।

सोने के निर्यात की समस्या भारत से रुपये का स्टरलिंग के साथ सबंध हो जाने पर करोड़ों रुपये का सोना विदेश चला गया, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। सोने के इस निर्यात के बारे में पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि जो सोना निर्यात हुआ वह ऐसा सोना था जो लोगों ने आर्थिक कठिनाई के कारण बेचा, अन्यथा वे शायद न बेचते। दूसरी बात यह है कि यह सब सोना देश से बाहर इस कारण से गया कि भारत में रुपये में सोने का मूल्य, विदेशों में जो रुपये में उसका मूल्य आता था उस से कम था। भारत में मूल्य कम होने के कई कारण थे—जैसे ग्रामवासियों की इस मामले में जानकारी की कमी, सोना खरीदने वालों का प्रचार, और पर्याप्त मात्रा में लोगों के पास सोने का होना। यह

भारतीय कागजी मुद्रा

प्रारम्भिक इतिहास : १८६१ के एक एक्ट द्वारा पहली बार भारत में कागज़ी मुद्रा या नोट जारी करने का एकाधिकार भारत सरकार के कागज़ी मुद्रा विभाग को दिया गया। उससे पहले प्रत्येक बैंक को यह अधिकार था ; हालांकि प्रेसीडेन्सी बैंक ही अपनी विशेष स्थिति के कारण इस अधिकार का वास्तव में उपयोग कर पाते थे, अन्य बैंक अपेक्षाकृत बहुत कम। प्रेसीडेंसी बैंकों के नोट गवर्नमेंट भी स्वीकार करती थी।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है १८६१ का पेपर करेंसी एक्ट इस लिये पास किया गया था कि उस समय देश में जो मुद्रा की तंगी महसूस हो रही थी वह दूर हो जावे।

१८६१ के पेपर करेन्सी एक्ट के अन्तर्गत नोट जारी करने के संबंध में इंगलिश बैंक चार्टर एक्ट १८४४ का सिद्धान्त अपनाया गया था। यह सिद्धान्त 'फ़िक्सड फाइड्यूशियरी सिस्टम' कहलाता था जिसके अनुसार एक निश्चित मर्यादा तक तो नोट केवल सिक्यूरिटीज के बदले में जारी किये जा सकते थे पर उस मर्यादा के बाद सोने और चांदी के एवज़ में। १८६१ के एक्ट में यह मर्यादा ४ करोड़ रुपये की तय की गई थी। इससे अधिक नोट रुपये या चांदी के बदले में ही जारी हो सकते थे।

नोटों की दृष्टि से भारतवर्ष को तीन क्षेत्रों में बांटा गया था—एक का प्रधान कार्यालय बम्बई, दूसरे का कलकत्ता, और तीसरे का मद्रास में था। बाद में इनकी संख्या ७ हो गई और करांची, लाहौर, कानपुर और रंगून के चार नये क्षेत्र और कायम हो गये। १९१० में इस प्रकार ७ क्षेत्र कायम हो गये थे। नोट १०, २०, ५०, १००, ५००, १०००, और १०००० रु० के जारी किये जाते थे। १८६० में ५ रु० के नोट भी जारी होने लग गये। अपने अपने क्षेत्र के अन्दर नोटों को अपरिमित कानूनी मुद्रा का रूप दे दिया गया था। कायदे से तो अपने क्षेत्र के प्रधान कार्यालय में ही नोटों को रुपये में बदलवाया जा सकता था पर वैसे सरकारी खजाने दूसरे क्षेत्रों के नोट स्वीकार कर लेते थे और भुना भी देते थे।

१९१४ के पूर्व की स्थिति : उक्त कागजी मुद्रा पद्धति में कई दोष दिखाई पड़ने लगे। नोटों के अपने अपने क्षेत्र में ही कानूनी मुद्रा स्वीकार किये जाने और भुन सकने से उनकी सर्वमान्यता पर असर पड़ा। इसलिये धीरे धीरे नोटों को देश भर में कानूनी मुद्रा स्वीकार किया जाने लगा। सबसे पहले १९०३ में ५ रुपये के नोट को बर्मा के अलावा शेष ब्रिटिश भारत में कानूनी मुद्रा मान

की १६३५ में जब स्थापना होने लगी तब भी यह सवाल सामने आया। अक्टूबर १६३६ म जब फ्रान्स और दूसरे स्वर्ण मुद्रा वाले देशों ने अवमूल्यन किया तब भी यह सवाल पैदा हुआ। १६३८ की जून में जब रुपये की विनिमय दर फिर नीचे की ओर जाने लगी तो भी यह माग की गई और कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने भी इस माग का समर्थन किया। पर इन तमाम मांगों के बावजूद सरकार अपने निर्णय पर जमी रही। १६३६ में महायुद्ध आरम्भ होने तक विनिमय दर स्थिर रही और युद्ध आरम्भ होते ही तो सारी स्थिति बदल गई।

१६२६ से १६३६ तक विनिमय दर को कम करने की माग निम्नलिखित कारणों को लेकर की गई —

(१) सरकार मुद्रा सङ्कुचन करके ही १ शि० ६ पैं० की दर कायम रख सकी है—जैसे १६२६ २७ और १६३० ३१ के बीच म १०२१ करोड़ रुपया चलन में कम किया गया। रिज़र्व बैंक को स्टरलिंग बचने पड़े, और इम्पीरियल बैंक को विशेष परिस्थिति में १६२३ के एक्ट के अन्तगत सरकार द्वारा रुपया उधार देने का ब्याज भी बढ़ाना पड़ा—यह सब भी इसी बात का सकेत था।

(२) विनिमय दर ऊची होने का प्रमाण इस से भी मिलता है कि हमारे देश में विश्वव्यापी मदी के समय में जैसे ब्रिटेन की अपेक्षा मूल्य अधिक गिरे, औद्योगिक उत्पादन अवरुद्ध रहा, हमारे निर्यात के मूल्य आयात की अपेक्षा अधिक गिरे और विदेशी व्यापार का सतुलन हमारे पक्ष में होते हुए भी उसकी मात्रा में कमी आई।

(३) १६३१ में रुपया-स्टरलिंग दर का सबध स्थिर कर देने से स्टरलिंग के साथ रुपये का जितना विनिमय मूल्य गिरा वह कम था।

(४) देश से बड़ी मात्रा म सोने का निर्यात होने से १ शि० ६ पैं० की दर बनी रह सकी। यदि ऐसा न होता तो इस दर को कायम रखने में कठिनाई होती।

उपरोक्त दलीलों का जैसा ऊपर लिखा जा चुका है सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा। कभी उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के स्पष्ट न होने की दलील दी और कहा कि ऐसी अनिश्चित स्थिति में निर्णय करना अच्छा नहीं होगा, तो कभी उपभोक्ताओं को बाहर का माल मँहगा पड़ेगा यह दलील दी गई और कभी सरकार के वित्त व्यवस्था पर प्रतिकूल असर पड़ने की बात कही गई। द्वितीय महायुद्ध तक यही विवाद चलता रहा। रिज़र्व बैंक एक्ट में १ शि० ६ पैं० के विनिमय दर को कानूनी रूप दी दिया गया था।

था नहीं क्योंकि चांदी की कमी थी। नए नोट भी सिक्यूरिटीज़ के बदले में जारी किये गये। 'फाइड्यूशियरी' मर्यादा इस प्रकार बढ़ते बढ़ते १६१६ में १२० करोड़ रुपये तक पहुँच गई। धातु कोष का अनुपात १६१४ में ७८·६% था वह १६१६ में ३५·८% रह गया। १ रुपया और २½ रुपये के नोट भी जारी किये गये और कानून के अतिरिक्त नोटों को भुनाने की जो सुविधायें थी वे बंद करदीं गई। नोटों की कुल संख्या ३१ मार्च १६१४ को ६६ करोड़ रुपये की थी वह ३१ मार्च, १६१६ को १५३⅓ करोड़ के आसपास पहुँच गई।

प्रथम महायुद्ध के बाद : बेबिंगटन स्मिथ कमेटी की सिफारिशों के आधार पर १६२० में इंडियन पेपर करेंसी एमेंडमेंट एक्ट पास हुआ। इस एक्ट के अनुसार :—

(१) धातु कोष की मर्यादा कुल की ५०% निश्चित करदी गई। बेबिंगटन स्मिथ कमेटी ने ४०% की सिफारिश की थी।

(२) २० करोड़ की उन सिक्यूरिटीज़ के अलावा जो भारत में थीं बाक़ी सब इंगलैंड में रखना तय किया गया। ये सिक्यूरिटीज़ अल्पकालिक होना चाहिये थीं।

(३) जारी होने से ६० दिन में सिकरने वाले आन्तरिक बिलों की एवज में इम्पीरियल बैंक को ५ करोड़ रुपया ८% ब्याज पर कर्ज दिया जा सकता था। बाद में १६२३ में यह मर्यादा १२ करोड़ तक बढ़ादी गई। धातु कोष के लिये इसको गिनने की आवश्यकता नहीं थी।

(४) भारत मंत्री को लंदन में सोने में ५० लाख पौंड से अधिक अपने पास नहीं रखना था।

१६२० के करेंसी एक्ट में उपरोक्त बातों के अलावा कुछ और बातें भी थीं। सोना और स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ की कीमत २ शि० प्रति रुपये के हिसाब से जब लगाई गई तो सोना और स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ के पहले के मूल्य के मुकाबिले में अब कमी हो गई क्योंकि पहले २ शि० से कम पर उनका मूल्य आंका गया था। दुबारा मूल्यांकन करने से जो फ़रक रहा उसे पूरा करने के लिये भारत सरकार को रुपया सिक्यूरिटीज जारी करने और उन्हें पेपर करेंसी रिज़र्व को देने का अधिकार दिया गया। पर कुल रुपया सिक्यूरिटीज़ की मर्यादा २० करोड़ पर निश्चित थी जिसमें से १६२३ के एक्ट के अनुसार १२ करोड़ तक की भारत सरकार की अस्थायी सिक्यूरिटीज़ हो सकती थीं। दुबारा मूल्यांकन के कारण उससे अधिक जो अस्थायी रुपया सिक्यूरिटीज़ जमा हो गई थीं उन्हें धीरे धीरे स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में बदलना तय किया गया था।

जहाँ तक पेपर करेंसी रिज़र्व में सिक्यूरिटीज़ का सवाल था उनकी मात्रा ८५ करोड़ तय की गई क्योंकि दुबारा मूल्यांकन से धातु कोष का अनुपात ५०% से कम रहने वाला था। बाद में १९२५ में एक एक्ट से अन्तिम यह मर्यादा १०० करोड़ करदी गई थी पर साथ साथ यह भी तय कर दिया गया था कि इन १०० करोड़ में से ५० करोड़ से ज्यादा की भारत सरकार द्वारा अस्थायी तौर पर जारी की गई सिक्यूरिटीज नहीं होनी चाहिए थीं।

भारत सरकार द्वारा जारी की गई अस्थायी सिक्यूरिटीज़ को स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में बदलना भी लिये स्थान नहीं था। इसलिये यह निश्चय किया गया कि पेपर करेंसी रिज़र्व में कानून के अनुसार जो सिक्यूरिटीज़ हैं उनका ब्याज, नये रुपये ढालने पर उसमें होने वाला लाभ, और गोल्ड स्टेंडर्ड रिज़र्व में जब ४ करोड़ पौंड हो जावें (जो ३० सितम्बर १९२१ को हो गये थे) तो उसका ब्याज और उन व्यापारिक बिलों का ब्याज जो अस्थायी नोट जारी करने के लिये इम्पीरियल बैंक से कन्ट्रोलर ऑव करेंसी को प्राप्त हों—यह सब रकम पेपर करेंसी रिज़र्व को दे दी जावे। पर आर्थिक तंगी के कारण ये आमदनी की मदें सरकारी बजट में जमा होती रहीं। १९२१-२२ में गोल्ड स्टेन्डर्ड रिज़र्व में जब ४ करोड़ पौंड से अधिक हो गया तो वह अधिक रकम इन भारत सरकार की अस्थायी सिक्यूरिटीज़ को रद्द करने के काम में लिया गया।

१९२७ में जब हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित करने को करेंसी एक्ट पास हुआ तो सोना और स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ का १ शि० ६ पैंस की दर के हिसाब से फिर मूल्यांकन किया गया जिसका नतीजा ६ ३० करोड़ से उनकी कीमत बढ़ने का आया। इसी बड़ी रकम का उपयोग इतने ही रुपयों के ट्रेजरी बिलों को रद्द करने में कर लिया गया और उनकी मात्रा ४९.७७ करोड़ से कम हो कर ४० ४८ करोड़ रुपये की रह गई।

१९३५ में जब रिज़र्व बैंक कायम हुआ तो नोट जारी करने का एकाधिकार उसके पास आ गया। बैंक का इश्यू डिपार्टमेंट इस काम को करता है। गोल्ड स्टेंडर्ड और पेपर करेंसी रिज़र्व मिला दिये गये और सारा सोना रिज़र्व बैंक के इश्यू डिपार्टमेंट को सौंप दिया गया। इश्यू डिपार्टमेंट में सोने का सिक्का, सोना, स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़, रुपया, और रुपया सिक्यूरिटीज़ एसेट्स तौर पर रहते हैं। कुल का ४०% सोना और सोने का सिक्का या स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में रखना तय किया गया। और सोना और सोने के सिक्के ४० करोड़ रुपये से कम के किसी समय न हों यह भी निश्चित कर दिया गया।

विशेष परिस्थिति में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से निश्चित कर देने पर सोना, सोने के सिक्के और स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ का अनुपात ४०% कम कुछ समय के लिये किया जासके यह विधान भी किया गया। पर ऐसी आवश्यकता कभी हुई नहीं।

नोटों के प्रचलन के बारे में जानने की बात यह है कि वह बराबर बढ़ता ही गया है। केवल विश्वव्यापी मन्दी के १९२९-३० और १९३०-३१ के वर्ष इस संबंध में अपवाद के तौर पर माने जा सकते हैं। मन्दी के बाद की मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति, और सोने की बिक्री के कारण भी नोटों की वृद्धि हुई। १९१९-२० में औसत क्रियाशील प्रचलन १५१ करोड़ के लगभग था, १९२८-२९ में १७२ करोड़ हो गया, १९३०-३१ में १५१ करोड़ रह गया और १९३७-३८ में १८६ करोड़ तक पहुँच गया। दूसरे महायुद्ध के बाद तो इस संख्या में कई गुनी वृद्धि होगई है।

कौन कौन से नोट अधिक लोकप्रिय रहे, इस बारे में यह बताना आवश्यक है कि १० रु० और १०० रुपये के नोटों का बहुत प्रचार हुआ और ५० रुपये के नोटों का बहुत कम प्रचार हुआ। १ रुपये और २½ रुपये के नोट १ जनवरी, १९२६ से और २० रुपये के नोट १९१० से बंद कर दिये गये। रिज़र्व बैंक ने १९३८ में यह निर्णय किया कि ५० रु० और ५०० रु० के वह अपने नोट जारी नहीं करेगा हालांकि भारत सरकार के नोट तो चलन में रहेंगे ही।

दूसरी बात ध्यान देने की यह भी है कि जनता में रुपयों की अपेक्षा नोटों का चलन बढ़ा है। रुपये की जगह लोगों ने १९३१ के पहले सोने का संचय करना आरम्भ कर दिया था इससे भी रुपये की चलन में संख्या में कमी आई। विश्व मंदी के समय तो रुपयों और नोट दोनों की ही मांग कम रही। मंदी समाप्त होने के बाद नोटों की मांग बढ़ी। १९३७-३८ में जब व्यापार की गति फिर थोड़ी धीमी हुई तो देश में मुद्रा की मांग कम हुई और लोगों ने कुल मिला कर रिज़र्व बैंक को मुद्रा लौटाई। दूसरे वर्ष भी यही स्थिति रही। पर १९३९-४० में फिर स्थिति ने पल्टा खाया और मुद्रा की मांग बढ़ने लगी।

पेपर करेंसी रिज़र्व में रुपया और सोना दोनों का अनुपात बढ़ा। सोना १९२५ में २२ करोड़ रुपये का था वह १९३५ में ४४ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इसका कारण यह था कि भारत सरकार चाँदी तो बेचती रही और रुपया सिक्यूरिटीज़ में उसी हद तक कमी करती रही। यह इस प्रकार हुआ—चाँदी बेचने से जो रक़म आई वह स्टरलिंग सिक्यूरिटीज में लगाई और यह सिक्यूरिटीज़ गोल्ड स्टेन्डर्ड रिज़र्व को देकर बदले में पेपर करेंसी रिज़र्व को सोना मिल गया

और उस हद तक रुपया सिक्यूरिटीज़ रद्द कर दी गई। इसमें स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में कमी आते-आते १९३१ ३२ में वे रही ही नहीं और फिर १९३४ में उनका आना शुरू हुआ। उसके बाद यह बढ़ती रहीं। स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में कमी आने का कारण तो यह था कि भारत मंत्री को रकम भेजना मुश्किल हो रहा था और बाद में उनमें वृद्धि इस कारण से हुई कि भारत मंत्री के खज़ाने में जो अतिरिक्त रकम थी और चाँदी की बिक्री से जो रुपया मिलता था उसका उपयोग पेपर करेंसी रिज़र्व के लिये स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ ख़रीदने में लगाया जा रहा था।

परिच्छेद १२
द्वितीय महायुद्ध और मुद्रा

जब १६३६ में द्वितीय महायुद्ध आरंभ हुआ तो उसका असर भारतीय मुद्रा व्यवस्था पर भी कई प्रकार से हुआ। अब हम इस संबंध में विचार करेंगे।

मुद्रा का विस्तार : महायुद्ध का एक स्वाभाविक असर तो यह हुआ कि देश में बहुत बड़ी मात्रा में मुद्रा का विस्तार हुआ। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि १ सितम्बर, १६३६ को भारत में सक्रिय प्रचलन में १८२·१३ करोड़ रुपये के नोट थे जब कि १६ अक्टूबर १६४५ को उनकी संख्या ११५६·८५ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। इसका अर्थ यह हुआ कि ६७७·७२ करोड़ रुपये या ५३६ प्रतिशत की नोटों में वृद्धि हुई। इसी प्रकार सितंबर १६३६ से अगस्त १६४५ तक कुल १४२·१६ करोड़ के रुपये के सिक्के और ६७·५६ करोड़ रुपये की रेज़गी भी अधिक प्रचलन में आई। बैंक के डिपाज़िटों की मात्रा भी बढ़ी। केवल शिड्यूल बैंकों के डिपाज़िटों में युद्ध के आरंभ से ३१ मार्च १६४५ तक ४६० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। युद्ध काल में मुद्रा के कुल प्रचलन में ११६८·६४ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। इसमें से ८२·५ प्रतिशत वृद्धि नोटों में, ११·६ प्रतिशत रुपये के सिक्कों में और ५·६ प्रतिशत रेज़गारी में हुई थी। यह अवश्य है कि मुद्रा प्रचलन की गति में कुछ कमी आगई थी क्योंकि युद्ध की अनिश्चित परिस्थितियों में सर्व साधारण, बैंक और व्यापारी सभी अपने हाथ में नकद रुपया अधिक मात्रा में रखना चाहते थे।

मुद्रा के उक्त विस्तार के कारणों का जहाँ तक सवाल है, मूल कारण तो एक ही था कि युद्ध के खर्च को चलाने के लिये भारत सरकार को रुपये की आवश्यकता थी। भारत सरकार की इस आवश्यकता का एक विशेष कारण यह भी था कि उसे मित्र राष्ट्रों के लिये भी खर्च करना पड़ता था। अपनी आवश्यकता को पूरी करने का भारत सरकार के पास सबसे बड़ा साधन नए नोट जारी करने का था, क्योंकि जनता पर कर लगा कर या कर्ज लेकर जो रुपया सरकार प्राप्त कर सकती थी उसकी आखिरकार एक मर्यादा थी। इसलिये सरकार को विवश होकर नए नोट जारी करने पड़े। पर नए नोट जारी तभी हो सकते हैं जब उनके बदले में रिज़र्व बैंक के पास कोई 'एसेट्स' जमा हों। ये एसेट्स 'स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़' और 'रुपया सिक्यूरिटीज़' की शकल में जमा किये गये और बदले में नोट जारी किये गये। अब हम ये

'स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़' और 'रुपया सिक्यूरिटीज़' कहाँ से आईं इस बारे में थोड़ा सा विचार करेंगे।

स्टरलिंग सिक्यूरिटीज का जमा होना रिज़र्व बैंक कानून के अन्तर्गत सोना या सोने का सिक्का, स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़, रुपये का सिक्का, और रुपया सिक्यूरिटीज़ के एवज़ में नोट जारी कर सकता है। युद्ध काल में रुपये नोट जारी करने के लिये रिज़र्व बैंक को न तो सोना या सोने का सिक्का उपलब्ध हो सकता था और न रुपये का सिक्का ही। सोना या सोने के सिक्के मिलने का तो कोई सवाल ही नहीं था और देश में रुपये की माँग बढ़ने से रुपये का सिक्का भी उपलब्ध नहीं था। बल्कि एक अगस्त १९३९ से लेकर ३१ अगस्त १९४५ के बीच में रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ५८·४ करोड़ का रुपये का सिक्का और कम हो गया जब कि इस समय में ६७४·८ करोड़ की स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ और २०·५ करोड़ रुपये की रुपया सिक्यूरिटीज़ की मात्रा में वृद्धि हुई।

स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ जो इतनी बड़ी हुई मात्रा में इकट्ठी हो गईं उसका कारण यह था भारत सरकार ब्रिटिश सरकार और दूसरे मित्र राष्ट्रों के लिये यहाँ युद्ध सामग्री खरीदती थी। ब्रिटिश सरकार इस सामग्री की कीमत भारत सरकार को लंदन में स्टरलिंग में चुका देती थी। भारत सरकार इस स्टरलिंग का उपयोग 'होम चार्जेज़' के लिये और भारत पर जो स्टरलिंग ऋण था उसे चुकाने में करती थी और इसके अलावा ब्रिटिश सरकार को ऋण के रूप में दे देती थी। इस ऋण के बदले में ब्रिटिश सरकार उसे अपने आई० ओ० यू० या स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ दे देती थी जो लंदन में भारत के रिज़र्व बैंक के एसेट्स के तौर पर लंदन में जमा करदी जाती थीं। ये स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ रिज़र्व बैंक के बैंकिंग विभाग में जमा होती थीं पर जब उनके एवज़ में नोट जारी करने होते तो ये सिक्यूरिटीज़ बैंक के इश्यू डिपार्टमेंट में जमा करदी जातीं और उतने ही नोट जारी कर दिये जाते। इस प्रकार युद्ध काल में हमारे देश में स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ तो जमा होती गईं और नोट जारी होते गये और उनके द्वारा मुद्रा प्रसार किया गया। रिज़र्व बैंक के पास स्टरलिंग आने का एक दूसरा साधन यह था कि भारत को निर्यात माल के बदले में रुपया भेजना होता था उनसे बैंक स्टरलिंग तो खरीद लेता था और एवज़ में उनको रुपया चुका देता था।

रुपया सिक्यूरिटीज़ युद्ध काल में देश में जो मुद्रा विस्तार हुआ उसका एक आधार रुपया सिक्यूरिटीज़ भी थीं। रिज़र्व बैंक एक्ट में फरवरी

१९४१ के आर्डिनेन्स से यह संशोधन कर दिया गया कि इससे पहले जो रुपया सिक्यूरिटीज़ के बैंक के इश्यू विभाग में जमा होने की ५० करोड़ की अधिकतम मर्यादा थी वह आगे नहीं रहेगी। फलस्वरूप अब भारत सरकार के लिये यह संभव हो गया कि वह रिज़र्व बैंक को अपने ट्रेज़री बिल या आई० ओ० यूज़ जारी करदें। कुछ सिक्यूरिटीज़ उन स्टरलिंग सिक्यूरिटीज का स्थान लेने के लिये भी जारी की गई थी जो स्टरलिंग ऋण चुकने के पहले ब्रिटिश लेनदारों या ऋणदाताओं के पास थीं।

रुपया और रेजगारी की मांग में वृद्धि : युद्ध आरंभ होने के बाद १९४० की गर्मियों तक तो देश की कागज़ी मुद्रा में जनता का विश्वास बना रहा। पर फ्रांस के पतन और इटली और बाद मे जापान के युद्ध में शामिल हो जाने के बाद लोगों का विश्वास हिलने लगा और नोटों को रुपये में बदलवाने की मांग बढ़ने लगी। इसके साथ-साथ लोगों ने रुपया और रेज़गारी इकट्ठी करना आरम्भ कर दिया। इस स्थिति का सामना करने के लिये एक ओर तो २५ जून, १९४० की एक विज्ञप्ति द्वारा वाजिब व्यक्तिगत या व्यापारिक आवश्यकता से अधिक रुपया या रेज़गारी इकट्ठा करना अपराध घोषित कर दिया गया, दूसरी ओर सरकार ने नए रुपये और रेजगारी जारी करके, नई कम चांदी की [५० प्रतिशत चांदी, ११/१२ भाग के बजाय] अठन्नी और चवन्नी और बाद में कम चांदी का रुपया भी जारी करके, नए अधन्ने, इकन्नियां और दोअन्नियां जारी करके और रुपये में नहीं बदले जाने वाले एक रुपये के नोट जारी करके इस स्थिति को संभालने का प्रयत्न किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत समय तक बावजूद सब प्रयत्नों के स्थिति गंभीर बनी रही थी। भारत सरकार ने रुपये के पुराने सिक्कों की जिनमें ११/१२ भाग चांदी का था धीरे धीरे कानूनी हैसियत खतम करदी। विक्टोरिया छाप के रुपये और अठन्नियों का चलन ३१ मार्च, १९४१ से, एडवर्ड सप्तम के रुपये और अठन्नियों का चलन ३१ मई, १९४२ से और जार्ज पंचम और जार्ज षष्टम के रुपये और अठन्नियों का चलन ३१ मई, १९४३ से बंद कर दिया गया।

विदेशी विनिमय की स्थिति और उसका नियंत्रण : यह हम पहले लिख चुके हैं कि रुपये को १ शिलिंग ६ पैंस के बराबर विनिमय दर बनाये रखने में सरकार को बड़ी कठिनाई अनुभव होती रही और इस कारण देश का बहुत सा सोना भी विदेशों को भेजना पड़ा। पर युद्ध के आरम्भ होते ही रुपया-स्टरलिंग दर में दृढ़ता आ गई क्योंकि युद्ध का असर भारतीय व्यवसाय और व्यापार के पक्ष में पड़ा, देश का निर्यात बढ़ा और विदेशी व्यापार का संतुलन

हमारे अनुकूल जाने लगा। रिज़र्व बैंक ने स्टरलिंग की खरीद बड़ी मात्रा में करना आरम्भ कर दिया। अब १ शिलिंग ६ पैंस की विनियम दर कायम रखा जाता हो गया।

पर जैसे ही डालर, येन और दूसरी मुद्राओं का तुलना में स्टरलिंग गिरने लगी, रुपये का विनियम दर भी इन मुद्राओं मे गिरने लगी। बाद में स्टरलिंग डालर दर ४ २ पर निश्चित करदी गइ तो रुपय डालर का दर भी १०० डालर=३३२ रुपये के दर पर निश्चित हो गइ।

जहाँ तक विदेशी विनियम के नियत्रण का प्रश्न है, भारत सरकार ने रिज़र्व बैंक के एक्सचेंज कन्ट्रोल डिपार्टमंट को यह कार्य सौंप दिया। इस नियंत्रण का उद्देश्य विदेशी विनियम का अपव्यय रोकने का था। रिज़र्व बैंक ने किन्ही प्राइवेट स्टॉक और एक्सचेंज बैंकों को विदेशी विनिमय में लेन देन करने का अधिकार दे दिया। उनको यह आदेश था कि रुपया-स्टरलिंग दर और लदन एक्सचेंज कन्ट्रोल वा दरों के आधार पर वे अपना लेन देन करें। ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत देशों को स्टरलिंग क्षेत्र का नाम दिया गया। इस क्षेत्र में विदेशी-विनियम के लेन देन बिना किसी 'रोक-टोक' के हो जाते थे। पर इस क्षेत्र के बाहर स होने वाले लेन देन पर कड़ा नियत्रण था। केवल वाजिब व्यापारिक या व्यक्तिगत और यात्रा सबधी आवश्यकता पूर्ति न लिय विदेशी विनिमय मिल सकता था और पूँजी के निष्कासन और विदेशी विनिमय में होने वाले स्पेक्युलेशन को रोकने का प्रयत्न किया जाता था।

आयात निर्यात नियन्त्रण विदेशी विनिमय के नियत्रण की एक अनिवार्य शर्त यह थी कि आयात और निर्यात का भी नियत्रण किया जावे। भारत सरकार ने आयात और निर्यात पर भी नियत्रण कायम कर दिया। जब तक किसी माल को—जिसको आयात् करने के लिये लाइसेंस लेना आवश्यक था—आयात करने का लाइसेंस नहीं मिल जाता उसके लिये विदेशी विनिमय नहीं मिल सकता था। इसी प्रकार स्टरलिंग क्षेत्र के बाहर जो माल नियात होना था उस पर इस बात का रिज़र्व बैंक के द्वारा नियत्रण था कि निर्यात क बदले म विदेशी विनिमय भारत को मिल जावे और नियात के बदले म भुगतान इस प्रकार किया जावे कि माल के एवज में अधिक से अधिक विनिमय मूल्य प्राप्त हो सके। भारतवासियों तथा दूसरे साम्राज्यान्तगत देशों के निवासियों के पास जो भी डालर की आमदनी होती थी वह सब 'एम्पायर डालर पूल' म जमा करदी जाती थी। इसका उपयोग युद्ध के लिये होता था।

माल के आयात-निर्यात पर होने वाले नियंत्रण के साथ ही साथ विदेशी सिक्यूरिटीज़ और सोना चाँदी और करेंसी नोटों के आयात-निर्यात पर भी नियंत्रण कर दिया गया था। सोना के आयात और निर्यात के लिये लाइसेंस लेना होता था। आयात के लिये लाइसेंस आसानी से मिल जाता था। इसी प्रकार सिक्यूरिटीज़ बिना रिज़र्व बैंक की इजाज़त के बाहर नहीं भेजी जा सकती थीं और न बाहर से उनका आयात हो सकता था। भारत से बाहर एक सीमा से अधिक जवाहरात और नकद भेजने के लिये भी लाइसेंस लेना आवश्यक था। शत्रुओं का जिन देशों पर अधिकार हो गया था उनके करेंसी नोटों का आयात बन्द था।

एम्पायर डालर पूल—१९३९ में इंगलैंड ने स्टरलिंग क्षेत्र के देशों को विदेशी विनिमय के जो रक्षित कोष थे उन पर नियंत्रण कर लिया। अगर किसी स्टरलिंग क्षेत्र से बाहर के देश से होने वाले व्यापार के फलस्वरूप किसी स्टरलिंग क्षेत्र के देश का लेना रहता था तो उस देश को तो सुकारा स्टरलिंग में हो जाता और डालर 'एम्पायर डालर पूल' में जमा हो जाता। अगर किसी सदस्य देश को डालर की आवश्यकता होती तो वह उस पूल में से जो बैंक ऑव इंगलैंड में जमा रहता था ले सकता था। भारत भी इस डालर पूल का सदस्य था। पर इसका देश में बराबर विरोध था कि भारत जो डालर कमाता है उसको डालर पूल में क्यों जमा किया जाय। भारत द्वारा कमाये हुए डालर पर भारत का ही पूरा अधिकार रहना चाहिये। १९४७ में भारत को यह आश्वासन भी मिल गया कि वह अपने डालर साधनों का स्वतंत्रता से उपयोग कर सकेगा। पर इस बारे में १९४८ में फिर कुछ प्रतिबंध लगाये गये जो १९४९ में फिर हटा दिये गये थे। जब स्टरलिंग के साथ रुपये का अवमूल्यन हुआ तो अन्य देशों के साथ भारत ने भी डालर को कम खर्च करने की नीति स्वीकार की। इस समय डालर संबंधी स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय मुद्रा

द्वितीय महायुद्ध का भारतीय मुद्रा पर क्या प्रभाव पड़ा, इस बारे में हमने लिखा है। महायुद्ध समाप्त होने के बाद भारतीय मुद्रा संबंधी स्थिति में क्या क्या परिवर्तन आया, और कौन कौन सी महत्वपूर्ण घटनायें घटीं तथा आज भारतीय मुद्रा से संबंध रखने वाले जीवित प्रश्न क्या हैं, अब हम इस बारे में विचार करेंगे।

मुद्रा का विस्तार इस विषय में सबसे पहला प्रश्न मुद्रा के विस्तार से संबंध रखता है। युद्ध समाप्त होने के बाद प्रतिवर्ष साल के अन्त के आंकड़ों के आधार पर प्रचलन में कुल नोटों की संख्या में तो वृद्धि जारी रही पर प्रचलन में प्रतिशत वृद्धि और कुल वृद्धि में तो १९४३-४४ से ही कमी आना शुरू हो गई थी। १९४८-४९ में पहली बार प्रचलन में नोटों की कुल संख्या में भी कमी आई। जहाँ १९४७-४८ के अन्त में प्रचलन में कुल नोटों की संख्या १२०८ करोड़ तक पहुँच गई थी वह संख्या १९४८-४९ में ११६६ करोड़ और १९४९-५० में ११६३ करोड़ पर आ गई। ३१ अगस्त, १९५१ को प्रचलन में कुल नोटों की संख्या ११५८ करोड़ के आसपास थी। भारत में प्रचलन में नोटों की संख्या में १९३७-३८ के बाद पहली बार १९४८-४९ में ७८४ करोड़ रुपये की और १९४९-५० में ५.८४ करोड़ रुपये की कमी आई। इसी प्रकार रुपये के सिक्के के बारे में भी हम यही देखते हैं कि १९४२-४३ के बाद से इसकी मांग में कमी आने लगी है यद्यपि कुल रुपये के सिक्के के परिमाण में कुछ न कुछ वृद्धि होती रही। पर १९४७-४८ में तो रुपये के सिक्के के प्रचलन की संख्या में ही १२.३४ करोड़ की कमी आ गई। १९४८-४९ में ४.३१ करोड़ रुपये प्रचलन में कम हुए हालांकि १९४९-५० में २.७९ करोड़ की वृद्धि हो गई। रेज़गी की मांग भी १९४४-४५ के पश्चात कम हो गई। यहाँ तक कि १९४८-४९ में केवल २४ लाख रुपये की नई रेज़गी प्रचलन में ज्यादा आई जब कि १९४७-४८ में ४ करोड़ के लगभग, १९४६-४७ में ६ करोड़ के लगभग और १९४५-४६ में १० करोड़ के लगभग की अधिक रेज़गी प्रचलन में आई थी। १९४४-४५ में १९ करोड़ रुपये की नई रेज़गी प्रचलन में आई थी। १९४९-५० में तो २.१६ करोड़ की रेज़गी प्रचलन में कम हो गई। नोट, रुपया और रेज़गारी सबको मिला कर देखने से यह मालूम पड़ता है कि १९४२-४३ में सबसे अधिक मात्रा में मुद्रा का प्रचलन बढ़ा। यह मात्रा ३१८ करोड़ से भी अधिक रुपये की थी। उसके बाद कमी आना गई और १९४६-४७ में वृद्धि की यह मात्रा ३१ करोड़ के आसपास ही रह गई। १९४८-४९ में तो कुल मात्रा में १२ करोड़ रुपये के लगभग की और १९४९-५० में ५.७० करोड़ रुपये की कमी ही आ गई। बैंक के डिपोज़िट के बारे में जो आंकड़े मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि मार्च १९४७ तक तो डिपोज़िट की वृद्धि की दर बराबर बढ़ती गई पर उसके बाद कमी आने लगी। १९४८-४९ में डिपोज़िट की मात्रा में ही कमी आ गई और १९४९-५० में भी कमी रही हालांकि १९४८-४९ की अपेक्षा कम। यदि हम कुल मुद्रा की मात्रा को जिसमें करेंसी (रेज़गारी के अलावा) और डिपोज़िट दोनों ही का समावेश है,

विचार करें तो हम देखेंगे कि कुल मात्रा में मार्च १९४८ तक तो वृद्धि होती रही यद्यपि मार्च १९४३ के बाद से वृद्धि की मात्रा की दर में कमी आने लगी। १९४८-४९ में तो कुल मात्रा में ही ४३ करोड़ के लगभग की कमी हो गई और १९४९-५० में १८ करोड़ के लगभग कमी हो गई। ३० जून १९५१ को समाप्त होने वाले साल की रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार १९५०-५१ में देश में कुल मुद्रा की मात्रा में १०२ करोड़ (८६ करोड़ करेंसी और १६ करोड़ डिपोज़िट) की वृद्धि हुई जब कि १९४९-५० में ११ करोड़ की वृद्धि हुई थी और १९४८-४९ में १३४ करोड़ रुपये की कमी हुई थी।

उपरोक्त विवरण का सार यह है कि युद्ध के अन्तिम वर्षों में मुद्रा प्रसार की गति धीरे धीरे कम होने लगी; यहां तक कि एक समय ऐसा भी आगया जब कुल मात्रा में ही कमी होना आरम्भ हो गई। पिछले दो वर्षों में मुद्रा की मात्रा में फिर वृद्धि होना आरम्भ हुआ है।

स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ : द्वितीय महायुद्ध का एक बड़ा असर यह हुआ था कि रिज़र्व बैंक के पास स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ काफी बड़ी मात्रा में जमा हो गई थीं। स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ की यह वृद्धि अप्रैल १९४६ तक बराबर जारी रही। पर उसके बाद उसकी मात्रा फिर कम होने लगी। स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में अगस्त १९३९ के मुकाबले में सबसे अधिक वृद्धि अप्रैल १९४६ में हुई जब कि १७३२'१७ करोड़ रुपये तक वे पहुंच गई थीं। उसके बाद स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ की मात्रा गिरने लगी। ३१ मार्च १९५० में उनका मूल्य ८५७'७७ करोड़ रुपये के बराबर था। ३१ अगस्त १९५१ को रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में विदेशी सिक्यूरिटीज़ ६१३ करोड़ रुपये से कुछ अधिक मूल्य की थी जब कि १ सितम्बर १९३९ के तुलनात्मक आंकड़ों को लें तो उनका मूल्य ३९$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये के बराबर ही था। यहां यह ध्यान रखने की बात है कि १ जनवरी १९४९ से भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हो जाने से रिज़र्व बैंक को स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ के अलावा दूसरी विदेशी सिक्यूरिटीज खरीदने का भी अधिकार हो गया और तब से इश्यू विभाग के स्टेटमेंट में स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ की जगह विदेशी सिक्यूरिटीज़ ने ले ली है।

रुपया सिक्यूरिटीज़ : रुपया सिक्यूरिटीज़ की मात्रा में भी बराबर उतार-चढ़ाव आता रहा है। द्वितीय महायुद्ध के समय में आरम्भ होने वाली वृद्धि का जहां तक सवाल है वह मार्च १९४३ तक जारी रही। मार्च १९४४ में समाप्त होने वाले साल में तो एकदम बहुत कमी आ गई। उसके बाद फिर कुछ वृद्धि आरंभ हुई और मार्च १९४६ में समाप्त होने वाले साल में तो वृद्धि की मात्रा एक साथ बहुत बढ़ गई। इसका मुख्य कारण यह था कि भारत-ब्रिटेन आर्थिक समझौते के

अनुसार जब स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ ब्रिटेन को दे दी गई तो उनका स्थान भारत सरकार के ट्रेज़री बिलों ने लिया। ३१ मार्च १६५० को रुपया सिक्यूरिटीज़ की मात्रा ४४० २७ करोड़ थी। १ सितम्बर १६३६ को रुपया सिक्यूरिटीज़ की मात्रा ३७ करोड़ रुपये से कुछ अधिक थी। युद्धकाल में १३६ करोड़ रुपये की अधिक से अधिक वृद्धि हुई। ३१ अगस्त १६५० को रुपया सिक्यूरिटीज़ ५०१ करोड़ से ऊपर था। इसका अर्थ यह है कि रुपया सिक्यूरिटीज़ में युद्धकाल से भी अधिक युद्धोत्तर काल में वृद्धि हुई है।

विदेशी विनिमय का नियन्त्रण युद्ध काल में जो विदेशी विनिमय का नियन्त्रण आरम्भ हुआ था वह आज तक भी जारी है। इसी प्रकार दूसरे प्रकार के नियंत्रण जैसे चाज़ा के आयात निर्यात पर नियन्त्रण और सोने-चांदी के आयात निर्यात पर भी नियन्त्रण कायम है। नियन्त्रण सम्बन्धी नियमों में अवश्य समय समय पर परिवर्तन होता रहता है। १७ फरवरी १६५१ से पाकिस्तान भी विदेशी विनिमय के नियन्त्रण के क्षेत्र में आ गया है क्योंकि भारत ने आखिरकार पाकिस्तान का अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं करने का निर्णय स्वीकार कर लिया।

स्टरलिंग पावना की समस्या यह हम लिख चुके हैं कि किस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के समय भारत के पास स्टरलिंग पावना एक बड़ी मात्रा में जमा हो गया। यह स्टरलिंग पावना मुख्यतः रिज़र्व बैंक के इश्यू डिपार्टमेंट और बैंकिंग डिपार्टमेंट में जमा हुआ। हालांकि यदि हम देश भर के समस्त स्टरलिंग पावने का विचार करने लगें तो हम रिज़र्व बैंक के अतिरिक्त दूसरे बैंकों और अन्य व्यक्तियों या कम्पनियों आदि जिनके पास भी स्टरलिंग हो उनका भी विचार करना चाहिए। पर हमारे पास रिज़र्व बैंक के अलावा और किसके पास कितना स्टरलिंग है इसके आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं और इसलिए रिज़र्व बैंक के पास जो स्टरलिंग जमा हुआ उसी पर हम अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा।

स्टरलिंग पावने में किस प्रकार वृद्धि हुई इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि अगस्त १६३६ (अन्तिम शुक्रवार) में रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ५६ ५० करोड़ और बैंकिंग विभाग में ३ ८० करोड़ इस प्रकार कुल ६३ ३० करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना रिज़र्व बैंक के पास था। युद्ध के समय में वृद्धि होते होते १६४५ ४६ में इश्यू विभाग में १०६१ २६ करोड़ और बैंकिंग विभाग में ४८८ २३ करोड़ रुपये के और इस प्रकार कुल १५४६ ४६ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना रिज़र्व बैंक के पास जमा हो गया। १६४६ ४७ में इसकी मात्रा बढ़कर १६६२ ७१ करोड़ रुपये तक पहुंच गई। अप्रैल १६४६ में स्टरलिंग पावने की मात्रा सबसे अधिक थी। रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ११२४ ०७ करोड़ और बैंकिंग

विभाग में ६०७·१० करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना एकत्रित हो गया था। अर्थात् अप्रैल, १९४६ में कुल १७३१·१७ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना रिज़र्व बैंक के पास इकट्ठा हो गया था। इसके बाद स्टरलिंग पावने की मात्रा में कमी आना आरंभ हुआ। १९४७-४८ में इश्यू विभाग में तो स्टरलिंग पावने में वृद्धि हुई और ११३५·३२ करोड़ रुपये तक उसकी मात्रा पहुंच गई पर बैंकिंग विभाग में स्टरलिंग पावने की मात्रा घटकर ४०६·९५ करोड़ रह गई और फलस्वरूप कुल मात्रा १५४२·२७ करोड़ रुपये की ही रही। बैंकिंग में स्टरलिंग पावने की कमी १९४६-४७ में ही आरम्भ हो गई थी और वह सितम्बर १९४७ तक तो बराबर जारी रही। इस कमी का कारण यह था कि हमारे विदेशी व्यापार का संतुलन प्रतिकूल होने लग गया था। १९४८-४९ में स्टरलिंग पावने की मात्रा इश्यू विभाग में तो कम होते होते ९०७·४७ करोड़ रुपये और बैंकिंग विभाग में ३०७·७८ करोड़ रुपये तक और इस प्रकार कुल १२१५·२५ करोड़ रुपये तक पहुंच गई। स्टरलिंग पावने में एकदम इतनी कमी आ जाने के मुख्य कारण तीन थे। सब से बड़ा कारण तो यह था कि विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच रिज़र्व बैंक के एसेट्स का जो बटवारा हुआ उसके कारण पाकिस्तान बैंक को १ जुलाई १९४८ को १४५·२ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना दिया गया। इसके अलावा पाकिस्तान को भारत के नोट लौटाने पर भी स्टरलिंग दिया गया। दूसरा कारण यह था कि भारत-इंगलैंड में भारत स्थित युद्ध सामग्री और पेन्शन संबंधी सालाना किश्तों को चुकाने के बारे में जो आर्थिक समझौता हुआ था उसके कारण भी भारत को २८४·१६ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना इंगलैंड को देना पड़ा। स्टरलिंग पावने में कमी आने का तीसरा कारण आयात के अधिक होने का भी रहा। सन् १९४९-५० में स्टरलिंग पावने की मात्रा और भी कम हो गई—इश्यू विभाग में ६४७·०४ करोड़ रुपये के और बैंकिंग विभाग में १८०·९१ करोड़ रुपये के, इस प्रकार कुल ८२७·९५ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना बैंक के पास रह गया। इस कमी का एक कारण तो यह था कि साल के प्रारम्भ में अत्यधिक आयात हुआ यद्यपि बाद में आयात नीति में कड़ाई आने से, निर्यात को बढ़ाने से और रुपये के अवमूल्यन से इनकी मात्रा में वृद्धि भी हुई। दूसरे, करेंसी की मात्रा में कमी आने का भी यह असर हुआ कि इश्यू विभाग में स्टरलिंग की मात्रा कम हुई यद्यपि बैंकिंग विभाग में बढ़ी। १९४९-५० का ठीक ठीक अन्दाज़ इस बात से लगाया जा सकता है कि २५ मार्च १९४९ को रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ७४१·९२ करोड़ रुपये और बैंकिंग विभाग में २०२·५२ करोड़ रुपये और इस प्रकार कुल ९४४·१४ करोड़ का स्टरलिंग था। १७ जून १९४९ तक ये मात्रायें कम होकर

इश्यू विभाग में ७१० ३४ करोड़ रुपये तक और बैंकिंग विभाग में १२७ ६५ करोड़ रुपये तक वाला कुल ८३८ २६ करोड़ रुपये तक ही रह गई। अर्थात् १६४६ ५० के प्रथम तीन महीनों में १०५ ८५ करोड़ का कुल कमी आगई। पर बाद में आयात को कम करने, निर्यात को बढ़ाने और रुपये के अवमूल्यन से स्थिति में सुधार आया और ३१ मार्च १६५० को रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ६५० ३४ करोड़ रुपये और बैंकिंग विभाग में २०८ ४३ करोड़ रुपये, इस प्रकार कुल ८५८ ७७ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना बैंक के पास था। इसका अर्थ यह हुआ कि १० जून १६४६ के बाद से ३१ मार्च, १६५० तक के लगभग ६½ महीने में कुल २०½ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना बढ़ा। यह, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, आयात की कमी, निर्यात की वृद्धि और रुपये के अवमूल्यन का असर था। दिसम्बर १६५० के अन्त में स्टरलिंग पावना ८३४ करोड़ रुपये का था। इसके बाद स्टरलिंग पावने में वृद्धि होने लगी। २३ मार्च, १६५१ को उनका मूल्य ८८४ करोड़ रुपये तक पहुंच गया था। पर बाद में कमी आई। स्टरलिंग पावने के सबसे ताज़ा आँकड़े इस प्रकार हैं कि ३१ अगस्त, १६५१ को रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ६१३ १५ करोड़ रुपये का और बैंकिंग विभाग में २१३ ६८ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना मौजूद था। ३१ अगस्त, १६५१ को कुल स्टरलिंग पावना ८२७ १३ करोड़ रुपये का था जब कि ३१ मार्च, १६५० को कुल ८५८ ७७ करोड़ का और दिसम्बर १६५० के अन्त में ८३४ करोड़ का स्टरलिंग पावना मौजूद था।

स्टरलिंग पावने में कब कितनी वृद्धि हुई और कितनी कमी हुई इसका विवरण ऊपर आ चुका है। इसके सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार भारत का इंगलैंड क़र्ज़दार हो गया और भारत और इंगलैंड के बीच की स्थिति सर्वथा बदल गई। पहले भारत से इंगलैंड को क़र्ज़ लेना था पर अब भारत को इंगलैंड से लेना हो गया। भारत की यह स्थिति देश की अत्यन्त गरीबी के होते हुए भी बनी। इसका संक्षेप में सार यह है कि भारत की गरीब जनता ने अपना पेट काटकर युद्ध के समय इतना खर्च बर्दाश्त किया।

जब युद्ध समाप्त हो गया तो यह सवाल उठा कि इंगलैंड से जो इतना स्टरलिंग लेना है वह शीघ्रातिशीघ्र वसूल हो। भारत का मत इस बारे में यह था कि देश की जनता ने कष्ट उठाकर के इंगलैंड तथा दूसरे मित्र राष्ट्रों की मदद की और फलस्वरूप यह स्टरलिंग पावना जमा हुआ। अब इंगलैंड को देश की आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यक इस स्टरलिंग पावने का भारत

को चुकारा करना चाहिये। इंगलैंड की स्थिति भी युद्ध के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत बिगड़ गई थी। वह ऐसा अनुभव करता था कि उसकी जैसी स्थिति है उसमें भारत का इतना क़र्ज़ चुकाना संभव नहीं है। जिस समय यह क़र्ज़ हुआ उस समय भारत में चीज़ों का मूल्य बहुत ऊँचा था और इस कारण क़र्ज़ की मात्रा बढ़ गई। इन बातों का विचार करके इंगलैंड कर्ज़ में कुछ कटौतरी चाहता था। इससे देश में एक बड़ा विरोध खड़ा हो गया। पर आखिरकार कटौतरी का विचार समाप्त हो गया और भारत को क़र्ज़ चुकाने के बारे में दोनों देशों में बातचीत आरम्भ होगई।

उपरोक्त बातचीत के फलस्वरूप अगस्त १९४७ में ब्रिटेन और भारत में एक अन्तरिम समझौता हुआ। इस समझौते की अवधि ३१ दिसंबर १९४७ को समाप्त होती थी और १५ जुलाई १९४७ से यह लागू समझा गया था। इस समझौते के अनुसार रिज़र्व बैंक ने बैंक ऑव इंगलैंड में अकाउन्ट नं० १ और नं० २ इस प्रकार दो खाते खोले। १४ जुलाई १९४७ को रिज़र्व बैंक के कुल स्टरलिंग पावने की रक़म ११६ करोड़ पौंड निश्चित की गई और वह नं० २ के अकाउन्ट में जमा की गई। इन ११६ करोड़ पौंड में से ६·५ करोड़ पौंड नं० १ में जमा किया गया। इन ६·५ करोड़ पौंड में ३·५ करोड़ पौंड तो चालू खर्च के लिये थे और ३ करोड़ पौंड बतौर चालू बेलैंस के थे। समझौते में यह साफ कर दिया गया था कि अकाउन्ट नं० १ में जो स्टरलिंग है वह चालू खर्च के लिये उपलब्ध रहेगा और सब विदेशी मुद्राओं में परिवर्तित हो सकेगा। समझौते होने की तारीख के बाद स्टरलिंग की चालू आमद अकाउन्ट नं० १ में जमा रहेगी और नं० २ से जो रक़म चुकाई जायगी वह भी नं० १ के अकाउन्ट में जमा होगी। नंबर २ के अकाउन्ट का स्टरलिंग चालू खर्च में नहीं आयगा और समय समय पर होने वाले समझौतों के अनुसार ही नंबर २ से नंबर १ में स्टरलिंग जमा होता रहेगा। इसका नतीजा यह हुआ कि भारत के स्टरलिंग एरिया में होते हुए भी नंबर १ के अकाउन्ट की रक़म को ध्यान रखते हुए यहाँ स्टरलिंग के चुकारे पर उसी तरह से नियंत्रण करना पड़ा जैसे नॉन-स्टरलिंग देशों की मुद्रा पर था।

जनवरी १९४८ में फिर ६ महीने के लिये समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार १·८ करोड़ पौंड की और रक़म नंबर २ से नंबर १ के अकाउन्ट में ३० जून १९४८ तक के चालू खर्च के लिये जमा की गई। इस प्रकार नंबर १ के अकाउन्ट में कुल ८·३ करोड़ पौंड जमा हुवे। पर इस बार स्टरलिंग के दूसरी विदेशी मुद्राओं के परिवर्तन की मर्यादा एक क़रोड़ पौंड

की निश्चित करदी गई। पहले वाले समझौते में इस तरह की कोई मर्यादा नहीं थी। इसका अर्थ यह था कि १९४८ के पहले छ: महीने में भारत को दुर्लभ मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण के रूप में या सामान्य व्यापार के सिलसिले में जितनी दुर्लभ मुद्रा का आमदनी हो उससे अधिक से अधिक एक करोड़ पौंड की दुर्लभ मुद्रा वह और खर्च कर सकता था। दुर्लभ मुद्रा में बचत करने की दृष्टि से यह प्रतिबन्ध स्वीकार किया गया था।

भारत और इंगलैंड के बीच में नौ जुलाई १९४८ को एक और समझौता हुआ। इसके अनुसार भारत-इंगलैंड के समझौते की अवधि ३० जून १९५१ तक बढ़ा दी गई। छ: छ: महीने के लिये जो समझौते होते थे उनसे विदेशी व्यापार और विदेशी विनिमय के संबंध में एक प्रकार की अनिश्चितता की स्थिति बनी रहती थी। इस समझौते में तीन बातों का उल्लेख था—अविभाजित भारत ने अप्रैल १९४७ में ब्रिटेन से जो सामग्री और इन्स्टालेशन्स ले लिये थे उनका मूल्य तय किया गया, भारत के अंग्रेज कर्मचारियों को जो पेंशन चुकाना था उसका पूँजीकरण किया गया और स्टरलिंग पावने के चुकारे के बारे में निश्चय किया गया। हमारा यहाँ आखिरी बात से ही सम्बन्ध है। इस बारे में यह निश्चय हुआ कि ३० जून, १९५१ तक समाप्त होने वाले तीन सालों में से आखिरी दो सालों में ८ करोड़ पौंड स्टरलिंग नंबर २ न नबर १ खाते में और जमा किया जाय। पहले के ८.३ करोड़ पौंड में से केवल २० लाख पौंड ही खर्च हुआ था। इसलिये इस नबर १ के खाते में इस प्रकार कुल १६ करोड़ पौंड नबर २ के खाते से आई हुई रकम में से इन तीन सालों में खर्च के लिये उपलब्ध किया गया। नंबर २ से नंबर १ के अकाउन्ट में रकम जमा होने के बारे में यह निश्चय किया गया कि ५०-५० लाख पौंड की किश्तों में रकम जमा हो और नंबर १ के अकाउन्ट में ६ करोड़ पौंड से कम रकम जमा न रहे। समझौते के पहले वर्ष में १½ करोड़ पौंड दुर्लभ मुद्रा में बदलने का तय हुआ और दूसरे और तीसरे साल के लिये यह निश्चय बाद में करना निश्चय हुआ।

इस समझौते के बाद भारत में आयात बहुत हुआ और नंबर १ के अकाउन्ट में से रकम खत्म हो गई। इस समस्या को हल करने के लिये जुलाई १९४९ में भारत सरकार का प्रतिनिधि मंडल इंगलैंड गया। वहाँ यह समझौता हुआ कि जून १९४९ में समाप्त होने वाले साल के लिये जहाँ पहले समझौते में कोई रकम नहीं रखी गई थी अब ८१ करोड़ पौंड की रकम नबर २ से नंबर १ के खाते में जमा की जाये। इसके अलावा ५ करोड़ पौंड

तक मई १९४९ तक ओपन जनरल लाइसेंस के अन्तर्गत जो माल बाहर से मंगाना तय हो गया था उसके चुकारे के लिये देना तय हुआ। इसके अलावा जून १९५० और १९५१ में समाप्त होने वाले वर्षों के लिये नंबर २ से नंबर १ के अकाउन्ट में ४ करोड़ की बजाय ५ करोड़ पौंड की रकम तय की गई। पिछले समझौते में यह मर्यादा भी तय कर दी गई थी कि भारत जुलाई १९४८ तक १½ करोड़ पौंड (६ करोड़ डालर) दुर्लभ मुद्राओं में बदल सकेगा। इस समझौते में यह निश्चय हो गया कि भारत पर इस प्रकार की कोई मर्यादा न लगाई जावे। दूसरे शब्दों में भारत फिर स्टरलिंग क्षेत्र का पूरा सदस्य हो गया। इसके एवज में कॉमनवेल्थ के दूसरे राष्ट्रों के साथ साथ भारत ने भी यह स्वीकार किया कि १९४८ में दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों से जितना आयात उसने किया था उसका ⅘ ही जुलाई १९४९ से जून १९५० तक वह आयात करेगा। जो आयात अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण लेकर किया जायगा वह इससे अलग होगा।

स्टरलिंग पावने के संबंध में भारत और इंगलैंड में अन्तिम समझौता दिसम्बर १९५० में हुआ। इस समझौते के अनुसार जुलाई १९५१ से आगामी छः वर्षों तक ३½ करोड़ पौंड प्रतिवर्ष भारत को इंगलैंड से वसूल करने का अधिकार दिया गया है। यदि किसी एक वर्ष में कोई रकम वसूल न की जाय तो वह कमी आगामी वर्ष में पूर्ण हो सकेगी। इसी प्रकार ५० लाख पौंड तक किसी वर्ष में अगले वर्ष के हिसाब में से हवालगी भी लिया जा सकेगा। हाल में यह मालूम पड़ा है कि ब्रिटेन भारत से स्टरलिंग पावने संबन्धी समझौते में पाकिस्तान से जुलाई १९५१ में जो समझौता हुआ है उसी आधार पर संशोधन करना चाहता है। एक तो यह कि नं० २ के अकाउन्ट की सब रकम नं० १ के अकाउन्ट में जमा कर दी गई है, हालांकि पाकिस्तान बिना ब्रिटेन से सलाह किये उन्हें खर्च नहीं कर सकेगा। दूसरे यह कि नं० २ के अकाउन्ट की कुछ रकम पाकिस्तान को सोने में दी गई है। इस आधार पर भारत को भी संशोधन कर लेना चाहिए। केवल यह बात साफ़ होना चाहिए कि भारत स्टरलिंग खर्च करने के सम्बन्ध में ब्रिटेन से सलाह चाहे करे पर ब्रिटेन को उसे रोकने का अधिकार नहीं होगा।

स्टरलिंग पावने के संबंध में भारत और ब्रिटेन के बीच में जो समझौते हुए हैं वे सारी परिस्थिति में ठीक माने जाने चाहिए। अब तक स्टरलिंग पावने का उपयोग देश की आर्थिक उन्नति के लिए नहीं हो सका, पर आगे इसका ध्यान रखा जाना चाहिए। स्टरलिंग पावने की मात्रा को बहुत बढ़ने देना भी उचित नहीं होगा।

रुपये का अवमूल्यन : युद्धोत्तर काल में सितम्बर १९४९ में इंगलैंड द्वारा

स्टरलिंग का अवमूल्यन करने के कारण भारत ने अपने रुपये का जो अवमूल्यन किया वह भारतीय मुद्रा क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखना आवश्यक है।

अवमूल्यन का अर्थ यह है कि जिस मुद्रा का अवमूल्यन किया जाय उसकी विदेशी विनिमय में कीमत कम कर दी जाय। स्टरलिंग के अवमूल्यन का अर्थ यह था कि अवमूल्यन के पहले जहां १ पौंड स्टरलिंग के बदले में ४.०३ डालर मिलते थे अब अवमूल्यन के फलस्वरूप १ पौंड स्टरलिंग के बदले में २.८० डालर ही मिलने लगे। स्टरलिंग के साथ साथ दुनिया के कई देशों ने अवमूल्यन किया। भारत भी उनमें से एक था इसलिए अवमूल्यन के पहले जहां १ रु० के बदले में ३२ सेंट आते थे अब अवमूल्यन हो जाने से २१ सेंट ही आने लगे। पौंड स्टरलिंग के मूल्य में अवमूल्यन से ३०.५% का कमी की गई थी। भारत ने भी इतनी ही कमी की। दूसरे देशों में से कई ने ब्रिटेन के साथ अवमूल्यन किया तो सही पर कइयों की अवमूल्यन की मात्रा अलग अलग थी—जैसे कनाडा ने ६.१% बेलजियम ने १२.३% इटली ने ८.४% अवमूल्यन किया था। अधिकतर अवमूल्यन की दर वही थी जो इंगलैंड की थी। पाकिस्तान ने अपने रुपए का अवमूल्यन नहीं किया।

अवमूल्यन का मूलभूत कारण यह था कि दुनिया के मुद्रा बाजार में डालर की कमी आती जा रही थी। इसी कारण डालर एक दुर्लभ मुद्रा बन गया था। डालर की इस बढ़ती हुई कमी के कारण कई थे जैसे —

(१) अमेरिका के माल की बढ़ी हुई मांग। युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिये, और युद्धकालीन दबी हुई चीजों की मांग को पूरा करने लिये अमेरिकन माल की यह मांग बढ़ती जा रही थी।

(२) अमेरिका अपने कच्चे माल की आवश्यकता बहुत कुछ स्वयं पूरा करने लगा था। नतीजा यह हुआ कि दूसरे कच्चे माल पैदा करने वाले देशों के लिये अब अमेरिका में अपना कच्चा माल बेचकर डालर कमाना संभव नहीं रहा।

(३) दुनिया के दूसरे देशों में युद्ध के कारण जो विनाश हुआ उससे उत्पादन में बहुत कमी हुई।

(४) इसी तरह से विदेशी विनियोग और इन्श्योरेंस तथा जहाजरानी की सेवाओं से होने वाली आय भी युद्ध के समय से कम हो गई थी।

अमेरिका के साथ शेष दुनिया का घाटा कितना बढ़ गया था इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि युद्धोत्तर काल का सबसे अधिक घाटा १९४७ में ११.३ बिलियन डालर (१ बिलियन=१ अरब) तक पहुँच गया था। इस स्थिति में उतार-चढ़ाव आता रहा। शेष दुनिया के डालर और सोने के

रक्षित कोष की मात्रा में भी इसी तरह उतार-चढ़ाव आता रहा। पर १९४८ के दूसरे त्रिमास में शेष दुनिया के डालर और सोना के कोष में ३३० मिलियन डालर की कमी आगई। पर डालर की कमी संबंधी सब देशों की स्थिति समान नहीं थी। डालर के रक्षित कोष में १९४९ के तीसरे त्रिमास (जुलाई-सितंबर) में भी कमी आई। इस कमी को ठीक करने के प्रयत्न तो जारी थे, जैसे अमरिका से निर्यात की मात्रा बढ़ाने और आयात की मात्रा कम करने की कोशिश की जा रही थी, पर इन प्रयत्नों के बावजूद भी स्थिति बिगड़ती जा रही थी। इस समय अमेरिका में जो व्यापारिक और व्यवसायिक गति शिथिलता (रिसेशन) आरही थी उसका असर भी स्थिति को बिगाड़ने का हो रहा था क्योंकि अमेरिका ऐसी स्थिति मे अपने आयात में कमी करने के प्रयत्न में था।

उपरोक्त स्थिति का असर स्टरलिंग क्षेत्र पर तो बहुत ही घातक हो रहा था। स्टरलिंग क्षेत्र के देशों के लिए अमेरिकन माल का महत्व भी विशेष था। १९४९ के दूसरे त्रिमास की अपेक्षा अमेरिका को जाने वाले माल से ६३ मिलियन डालर की आमदनी कम हुई और अमेरिका से आने वाले माल पर ८५ मिलियन डालर का खर्च कम हुआ। १९४९ के दूसरे त्रिमास में स्टरलिंग क्षेत्र के डालर और सोने के रक्षित कोष में २६१ मिलियन डालर की कमी आ गई और उसकी मात्रा १६५१ मिलियन डालर तक पहुँच गई। १९४५ के बाद यह सबसे कम मात्रा थी। सोने और डालर के रक्षित कोष में जिस दर से कमी आ रही थी अगर वही गति चलती रहती तो वर्ष भर के अन्दर-अन्दर सारा रक्षित कोष समाप्त हो जाने का भय था। इस स्थिति का सामना करने के लिये १२ जुलाई, १९४९ को कॉमनवेल्थ के राष्ट्रों के वित्त मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ। इसी में यह निश्चय किया गया था कि १९४८ की अपेक्षा १९४९ जुलाई से १९५० जून तक ७५% डालर व्यय में कटौतरी की जाये। १९४९ के तीसरे त्रिमास में स्टरलिग क्षेत्र की स्थिति तो और भी बिगड़ी यद्यपि सारी दुनिया की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ था। इस तीसरे त्रिमास में इंगलैंड के डालर और सोना रक्षित कोष में २२६ मिलियन डालर की कमी आगई थी।

सितंबर के दूसरे सप्ताह में अमेरिका, कनाडा और ब्रिटेन की सरकारों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें इस स्थिति का सामना करने के कई उपाय सोचे गये, पर स्टरलिंग का अवमूल्यन करने का कोई संकेत नहीं था। पर १८ सितम्बर को यकायक इंगलैंड ने अवमूल्यन की घोषणा करदी।

ब्रिटेन ने अवमूल्यन की घोषणा करने से पहले भारत सरकार से कोई विचार विनिमय नहीं किया था और न इस निर्णय की भारत को कोई पूर्व सूचना

की थी। ऐसा करना ब्रिटेन का नैतिक कर्तव्य था। कॉमनवेल्थ के राष्ट्रों के प्रति उसकी सचाई और वफादारी की यह माग थी। ब्रिटेन के इस एकाकी निर्णय का भारत में बहुत विरोध हुआ। जहाँ तक भारत के स्वयं के निर्णय का सवाल था भारत के सामने तीन विकल्प थे—(१) अवमूल्यन नहीं करना, जिसका परिणाम रुपया-स्टरलिंग दर में वृद्धि होने का आना, (२) अवमूल्यन करना पर ब्रिटेन से कम मात्रा में और (३) ब्रिटेन के बराबर ही अवमूल्यन करना। देश में इस प्रश्न पर वाद विवाद भी चला पर अन्ततोगत्वा भारत ने निर्णय यही किया कि इगलैंड के बराबर रुपये का भी अवमूल्यन किया जाये। भारतीय रुपया ३० २२५ सेन्ट से घट कर २१ सैंट के बराबर रह गया और सोने में भी रुपये का मूल्य ० २६८६०१ ग्राम से गिरकर ० १८६६२१ ग्राम शुद्ध सोना हो गया। इस नये विनिमय दर का निर्णय तो २० सितंबर १९४९ को ही घोषित हो गया था पर वह लागू २२ सितंबर से हुआ क्योंकि बैंक आदि को १९ से २१ सितंबर तक की छुट्टी थी।

भारत ने अवमूल्यन का निर्णय इसलिये किया कि अन्यथा दूसरे स्टरलिंग देशों की मुद्रा के मुकाबले में रुपये का मूल्य बढ़ जाता। भारत का उन देशों के साथ निर्यात्, जो कि देश के कुल निर्यात् का एक बहुत बड़ा भाग है, कम हो जाता, और भारतीय उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा शक्ति पर भी बुरा असर पड़ता। पर भारत के अवमूल्यन से दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र और प्रधानतः अमेरिका से जो माल हमें मँगाना पड़ता है जैसे खाद्यान्न, मशीनरी आदि वह मँहगा हो गया। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया इसका भी असर बुरा पड़ा। कपास और पटसन जैसे कच्चे माल का मूल्य बढ़ गया। अवमूल्यन से देश में मूल्य बढ़ने की ओर कुछ चीजों का निर्यात मूल्य बढ़ने की आशंका थी। इस स्थिति का सामना करने के लिए भारत सरकार ने कई चीजों पर निर्यात-कर लगाया जैसे लोहा और इस्पात तथा वेजीटेबिल तेल पर और जूट और जूट के माल पर निर्यात-कर बढ़ा दिया। इसके अतिरिक्त इसी उद्देश्य से भारत सरकार द्वारा एक कार्यक्रम तैयार किया गया जिसमें नीचे लिखी आठ बातें शामिल थीं —

(१) विदेशी व्यापार का इस प्रकार संचालन किया जाय कि विदेशी विनिमय का व्यय कम से कम हो।

(२) जिन देशों की मुद्राओं का रुपये की अपेक्षा मूल्य बढ़ गया है उनसे जो औद्योगिक कच्चा माल खरीदना पड़े उसकी कीमत कम करने का हर तरह से प्रयत्न हो।

(३) दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र को निर्यात होने वाली चीजों पर निर्यात-कर लगे

ताकि देश को अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय प्राप्त हो और अवमूल्यन से होने वाले लाभ में विदेशी खरीदार और भारतीय बेचने वाले के साथ साथ भारत सरकार का भी हिस्सा हो।

(४) कानूनी और शासन सम्बन्धी उपायों और साख व्यवस्था के नियंत्रण से मूल्य वृद्धि को रोकने का प्रयत्न किया जाये।

(५) विनियोग को प्रोत्साहन दिया जाये और बचत करने के पक्ष में प्रचार किया जाये और गाँवों में बैंकिंग सुविधा की व्यवस्था की जाये।

(६) आय-कर के बकाया को मिलजुल कर तय किया जाये।

(७) सरकारी खर्च में १९४९-५० में ४० करोड़ की और १९५०-५१ में १९४९-५० के बजट के अनुमान की अपेक्षा कमसे कम ८० करोड़ रुपये की बचत की जाये।

(८) आवश्यक जीवन पदार्थों, निर्मित पदार्थों, अन्न की रिटेल कीमतों में १०% कमी की जावे।

उपरोक्त कार्यक्रम के अनुसार भारत सरकार ने कई व्यावहारिक कदम भी उठाये। आयात नीति में कड़ाई लाई गई। जूट के निर्यात मूल्य तय किये गये, कई चीजों का निर्यात-कर बढ़ गया और कई पर लगाया गया। जैसे कच्चे कपास पर ४० रु० से १०० रु० निर्यात-कर कर दिया गया और काली मिर्च पर ३०% निर्यात-कर लगा दिया गया। कपास के बीज में 'फारवर्ड ट्रेडिंग' बन्द कर दिया गया और गुड़, गुड़ शक्कर और राब में भी सट्टा बन्द कर दिया गया। अनिवार्य बचत की योजना राज कर्मचारियों पर लागू की गई और १९५०-५१ के बजट में उद्योग धंधों के साथ कई रियायतें की गईं। ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी भी नियुक्त की गई जिसकी रिपोर्ट भी पेश हो चुकी है। भारत सरकार के खर्चों में कमी करने के प्रयत्न भी जारी हुए यद्यपि उनमें नाम मात्र को कुछ हुआ। अनाज के मूल्य को कमी करने के लिये लेवी वसूली की कीमतें कम की गईं और अनाज के मूल्य भी कम किये गये। कपड़े की क़ीमतों में भी कमी की गई।

अब विचारने का प्रश्न यह है कि अवमूल्यन के बाद हमारे विदेशी व्यापार, विदेशी विनिमय और मूल्यों का हाल क्या रहा ?

अवमूल्यन के परिणाम का उल्लेख करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपनी ३० अप्रैल १९५० को समाप्त होने वाली वार्षिक रिपोर्ट में लिखा है कि १९४८ के अन्तिम त्रिमास और १९४९ के प्रथम त्रिमास में अमेरिका से प्राप्त होने वाले माल और सेवाओं के कारण ६·८ बिलियन डालर प्रति वर्ष के हिसाब से अमेरिका के पक्ष में संतुलन रहता था यह १९४९ के अन्तिम त्रिमास में ४·४

बिलियन डालर प्रतिवर्ष के हिसाब से ही रहा। स्टरलिंग क्षेत्र के विषय में रिपोर्ट में लिखा है कि इंगलैंड का सोना और डालर के रक्षित कोष में भी १९४९ के अन्त में १६८८ मिलियन डालर से जून १९५० के अन्त में २४२२ मिलियन डालर तक की वृद्धि हो गई। मुद्रा में अन्तर्राष्ट्रीय कोष का यह कहना था कि अवमूल्यन का जो तत्काल का उद्देश्य था वह पूरा हो गया। अवमूल्यन करने वाले देशों की डालर संबंधी स्थिति में सुधार होने का प्रधान कारण आयात के कम होने का था और निर्यात के बढ़ने का अपेक्षाकृत कम असर था।

जहाँ तक भारत का संबंध है अवमूल्यन का हमारे विदेशी व्यापार पर अनुकूल असर पड़ा। अवमूल्यन के बाद के साल भर के हमारे विदेशी व्यापार के आंकड़ों के अनुसार अगस्त १९५० में समाप्त होने वाले ११ महीनों में हमारा कुल निर्यात ४५८ करोड़ रुपये का हुआ जबकि १९४८-४९ के समान समय में वह ३६० करोड़ रुपये का ही हुआ था। दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों को १२७ करोड़ रुपये का निर्यात हुआ जब कि १९४८-४९ में यह ८९ करोड़ का था। सुलभ मुद्रा क्षेत्र को होने वाले निर्यात का मूल्य ३३१ करोड़ था जबकि १९४८-४९ में उसका मूल्य २७१ करोड़ रुपया ही था। इस बढ़े हुए निर्यात का कारण कुछ चीजों की मांग बढ़ना और कुछ का मूल्य बढ़ना दोनों ही था। सूती वस्त्र के निर्यात में बहुत वृद्धि हुई। तम्बाकू, मसाला, अबरख, चमड़ा आदि का निर्यात भी बढ़ा। हाल में रिज़र्व बैंक की करैंसी और फाइनेंस संबंधी १९५०-५१ की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उसमें भी १९५० के विदेशी व्यापार के सन्तुलन के जो आँकड़े दिये गये हैं उनसे यह प्रगट होता है कि चालू हिसाब में जहाँ १९४९ में कुल चुकारे का सन्तुलन १६६.३ करोड़ रुपये से भारत के प्रतिकूल था वह १९५० में ६१.५ करोड़ रुपये से भारत के अनुकूल होगया। यदि हम करैंसी की दृष्टि से विचार करें तो मालूम होता है कि स्टरलिंग क्षेत्र के देशों के सम्बन्ध में जहाँ १९४९ में भारत को ४६ करोड़ रुपये का घाटा था वहाँ १९५० में ५९.७ करोड़ रुपये की बचत हुई। इसी प्रकार दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र के देशों के बारे में भी जहाँ १९४९ में ५३ करोड़ रुपये का घाटा था वहां १९५० में २९ करोड़ रुपये का बचत हो गई। दूसरे देशों के बारे में स्थिति यह थी कि १९४९ में ७०.३ करोड़ रुपये का घाटा था वह १९५० में कम होकर २७.९ करोड़ रुपये का ही रह गया।

उपरोक्त स्थिति के बारे में हम यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उसके लिये अवमूल्यन के अलावा कोरिया युद्ध से उत्पन्न वह परिस्थिति भी कारण है जिसने युद्ध की आशंका से युद्ध की दृष्टि से आवश्यक चीजों की अन्तर्राष्ट्रीय मांग में वृद्धि करदी है।

अवमूल्यन के बाद मूल्यों पर क्या असर हुआ यह भी जानने का विषय है। यह तो ठीक है कि अवमूल्यन के तुरन्त बाद ही मूल्यों में वृद्धि रोकने में सरकार किसी हद तक सफल हो सकी। अक्टूबर १९४९ में जनरल इन्डेक्स बढ़कर ३९३·२ तक पहुँच गया था पर यह कहना कठिन है कि यह वृद्धि किस हद तक तो अप्रैल १९४९ में जो मूल्य वृद्धि आरंभ हुई थी उसका परिणाम थी और किस हद तक अवमूल्यन का। पर उसके बाद जनरल इन्डेक्स में कमी आई और दिसंबर १९४९ में कम होते-होते वह ३८१·३ पोइंट तक पहुँच गया। पर बाद में वह वापस ऊपर की ओर जाने लगा और मार्च १९५० में ३९२·४ तक पहुंच गया था। इसी समय कोरिया युद्ध के आरंभ होने से मूल्यों की वृद्धि न केवल भारत में बल्कि संसार के दूसरे देशों में भी अधिक तेज़ी से होने लगी। उदाहरण के लिये अमेरिका में १९५० के पूर्वार्द्ध में जहाँ थोक मूल्यों में ४ प्रतिशत वृद्धि हुई थी वहाँ मार्च १९५१ तक १७ प्रतिशत वृद्धि होगई। इसी प्रकार ब्रिटेन में १९५० के पूर्वार्द्ध में ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी पर उसके बाद के ११ महीनों में २५ प्रतिशत तक वृद्धि हो गई। कनाडा में अप्रैल १९५१ तक जून १९५० से १६ प्रतिशत मूल्यों में वृद्धि हुई। भारत में, १९५० के पूर्वार्द्ध में ४ प्रतिशत की वृद्धि हुई और जून १९५० से अप्रेल १९५१ तक १६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। भारत में जनरल इन्डेक्स जहाँ जून १९५० से ३९५·६ तक पहुँच गया था वह १६ जून १९५१ को ४५८·२ तक पहुँच गया। यह ठीक है कि इसके बाद मूल्यों में कुछ कमी आई है पर अब भी जून १९५० से वह कहीं अधिक है। अगस्त १९५१ में भारत में जनरल इन्डेक्स ४३७·६ था।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अवमूल्यन के बाद मूल्यों में वृद्धि आई है। पर इस वृद्धि का एक बड़ा कारण कोरिया युद्ध रहा।

क्या रुपये का पुनः मूल्यन किया जाय : स्टरलिंग पौंड के अवमूल्यन के साल भर बाद ही ब्रिटेन में यह चर्चा चल पड़ी कि पौंड का फिर से मूल्यन (रिवेल्यूशन) किया जाय। भारत में भी पुनः मूल्यन के बारे में चर्चा चली। जब भारत ने पाकिस्तान द्वारा उसके रुपये का अवमूल्यन नहीं करने का फैसला कर लिया तो भारत में रुपये के पुनः मूल्यन की चर्चा ने विशेष जोर पकड़ा। इस समय (अगस्त १९५१) भी यह चर्चा चल रही है। हम इस संबंध में थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे।

पुनः मूल्यन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जाते हैं :—

(१) पुनः मूल्यन से हमारे देश में मूल्यों में कमी आ सकेगी। कोरिया युद्ध के कारण जो मूल्य वृद्धि दुनिया में हो रही है उसका असर भारत पर भी

पड़ा है और पुनः मूल्यन से इस मूल्य वृद्धि को रोका जा सकेगा। यह मूल्य वृद्धि इस तरह से रुक सकती कि जब रुपये का विदेशी विनिमय बढ़ जायगा तो बाहर से आने वाले सामान का भारत में रुपया में बढ़ा हुआ मूल्य नहीं होगा और इस प्रकार भारत में उनका मूल्य वृद्धि करने का असर नहीं होगा। पर यह आशा दुराशा मात्र साबित होगा। इसका एक कारण तो यह है कि रुपये का पुन मूल्यन अगर कर दिया गया तो जो देश भारत को माल भेजते हैं वे अपने माल का मूल्य बढ़ा सकते हैं—जैसे देश में बाहर से आने वाले आयात्त में ४०-५० प्रतिशत हिस्सा चावल का है जो हमें बर्मा, थाइलैंड, हिन्दचीन और मिस्र से सरकारों के मारफत मिलता है। ये देश अपने चावल का कीमत बढ़ा सकते हैं। इसी प्रकार गेहूं के बारे में भी यह सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय गेहूं समझौते में जो गुंजाइश छोड़ी गई है उसका लाभ उठा कर गेहूँ का दाम में भी वृद्धि करली जाय। जहाँ तक कि पूँजी पदार्थों का सवाल है उनके बेचने वाले कम हैं और खरीदने वाले अधिक हैं और इसलिए उनकी कीमत में भी बेचने वालों द्वारा वृद्धि करना सम्भव है। जहां तक दूसरा आयात का चीजों का सबंध है अगर आयात के व्यापारियों को व सस्ती मिल भी गई तो यह आवश्यक नहीं है कि उन सस्ते मूल्यों का लाभ आयात व्यापारी अपने तक ही न रखकर उपभोक्ताओं तक पहुंचने दें। सारांश यह है कि रुपये के पुन मूल्यन से मूल्य वृद्धि को रोकना सम्भव नहीं होगा। यह भी स्पष्ट तौर पर समझ लेना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं है कि विदेशी विक्रेता अपने माल की कीमत बढ़ा भारत के लिये न बढ़ा सकें। ऐसा करना सम्भव है। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में अब कुछ गिरावट आई है और मूल्य नियंत्रण के लिये प्रयत्न भी किया जा रहा है।

(२) पुन मूल्यन के पक्ष में दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में व्यापार का आधार हमारे पक्ष में हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि आज का अपेक्षा समान निर्यात के बदले में हम अधिक मात्रा में आयात कर सकेंगे या कम मात्रा में निर्यात करके समान मात्रा में आयात कर सकेंगे। पर यदि दूसरे देश भी अपना मुद्राओं का पुन मूल्यन करें, और ऐसा मानने का कोई कारण नहीं कि वे ऐसा नहीं करेंगे, तो हम यह लाभ नहीं मिल सकेगा।

(३) पुनः मूल्यन के समर्थकों का एक दलील यह रही है कि कोरिया युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का वृद्धि हुई है, पर भारत के निर्यात वस्तुओं का डालर की कीमतों की अपेक्षा कम मूल्य है। इसलिये पुन मूल्यन आवश्यक है ताकि डालर और रुपये में मूल्यों की असमानता जाती रहे। इस बारे में एक बात तो ध्यान देने की यह है कि इन्हीं चीजों का मूल्य खास तौर से बढ़ा है जो

युद्ध की दृष्टि से आवश्यक है। पुनः मूल्यन का असर इन्हीं चीज़ों तक सीमित न रह कर आम तौर पर पड़ेगा। इसलिए सही यह है कि जहां आवश्यक हो निर्यात-कर लगा कर भारत से निर्यात की चीज़ों की मूल्य वृद्धि कर दी जाये।

(४) पुनः मूल्यन के समर्थकों का यह भी कहना है कि रुपये की विनिमय दर अधिक हो जाने से हमारा निर्यात कम नहीं होगा क्योंकि हमारे निर्यात की वस्तुओं की मांग ऐसी अनिवार्य मांग है जिसे पूरा करना ही होगा। पर हमारा सब से ताज़ा अनुभव इस विषय में ऐसा नहीं है। यदि हम अवमूल्यन नहीं करते और निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न नहीं किया जाता तो हमारा निर्यात अवश्य ही कम हो जाता। जूट के निर्यात में युरूपीय देशों से प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही है। सूती कपड़े में भी हमारी स्थिति गिरी है और जापान और लंकाशायर की प्रतिस्पर्द्धा से हमारी स्थिति और कठिन होगी। चाय के निर्यात के बारे में भी हम सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो सकते। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्व एशिया में अच्छा उत्पादन होने पर काली मिर्च की पूर्ति की स्थिति में सुधार आना आवश्यक है। दूसरी निर्यात की वस्तुओं के बारे में भी हमने विदेशों से जो व्यापारिक समझौते किये हैं उनमें कुछ बन्धन अपने पर लगा रखे हैं। सारांश यह है कि पुनः मूल्यन का हमारे निर्यात पर प्रतिकूल असर पड़ना अनिवार्य होगा।

ऊपर हमने यह लिखा है कि पुनः मूल्यन के पक्ष में जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं वे ठोस आधार पर आधारित नहीं हैं। अब हम उन बातों का विचार करेंगे जो पुनः मूल्यन के विपक्ष में जाती हैं :—

(१) पुनः मूल्यन के खिलाफ़ सब से बड़ी दलील यह है कि उसका असर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और चुकारे की स्थिति पर बुरा पड़ेगा। १९५१ में अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में १९५० की अपेक्षा कम बचत की संभावना है। १९५१ के प्रथम त्रिमास में १४ करोड़ रुपये की बचत का अनुमान है जब कि १९५० के अन्तिम त्रिमास में ४६ करोड़ की बचत थी। पिछले महीनों में हमारे आयात में वृद्धि हुई है और निर्यात के मूल्यों में कमी आई है। पुनः मूल्यन का असर आयात को बढ़ाने और निर्यात को कम करने का होगा। रिज़र्व बैंक के रिसर्च विभाग ने भी अप्रैल १९५१ में इस बात की पुष्टि की है। उसका यह मत था कि १५% पुनः मूल्यन से ५० करोड़ के लगभग और ३०% से १३५ करोड़ के लगभग अन्तर्राष्ट्रीय चुकारे की दृष्टि से हमें घाटा होगा।

(२) इससे मिलाजुला प्रश्न विदेशी विनिमय का है। पुनः मूल्यन के कारण हमारा आयात बढ़ेगा पर उसका चुकारा करने के लिये आवश्यक विदेशी

विनिमय की पूर्ति होनी चाहिये। पर पुन मूल्यन से इसमें सहायता नहीं मिलेगी। इसके अलावा विदेशी विनिमय का प्रश्न निर्यात का स्थिति से तय होना चाहिए न कि आयात का स्थिति से।

(३) रुपये के पुन मूल्यन का असर हमारे स्टरलिंग पावने का रुपयों में मूल्य कम कर देने का होगा।

(४) पुन मूल्यन का असर सरकार के बजट की स्थिति पर भी बुरा पड़ेगा क्योंकि निर्यात-कर से जो आज सरकार को आय होता है वह कम हो जायगी और वह लाभ व्यक्तिगत व्यवसायियों को होने लगेगा। इस समय भारत सरकार इस स्थिति में नहीं है कि वह आय के इस साधन का परित्याग करदे। आयात-कर से भी आय कम होगी क्योंकि बाहर से आने वाले माल की रुपये म पुन मूल्यन से क़ीमत कम हो जायगी।

(५) पुन मूल्यन के विपक्ष में एक दलील यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति आज बहुत अनिश्चित अवस्था में है। एक समय हमें पुन मूल्यन के पक्ष में स्थिति मालूम हो सकती है और तुरन्त ही वह स्थिति बदल सकती है। ऐसी हालत में बार बार रुपये के विदेशी विनिमय को बदला नहीं जा सकता। ऐसा करना देश के हित में नहीं हो सकता। फिर इस सम्बन्ध में भारत को ही सबसे आगे होकर क़दम उठाने का कोई आवश्यकता नहीं है, खास तौर से जबकि मूल्यों में व रहन सहन के खर्च में भारत की अपेक्षा दूसरे देशों में अवमूल्यन के बाद स्थिति अधिक बिगड़ी है। उदाहरण के लिये सितम्बर १९४९ से मार्च १९५१ तक जहाँ भारत में मूल्य म १३% और रहन सहन के व्यय में ९% वृद्धि हुई वहा अमेरिका में २०% और ९%, ब्रिटेन में ३६% और ७%, कनाडा में २३% और ११% तथा आस्ट्रेलिया में ४३% और २०% वृद्धि हुई।

उपरोक्त विवेचन का सार यही है कि इस समय हमें रुपये के पुन मूल्यन का विचार नहा करना चाहिये। भारत सरकार की यही नीति है जिसकी स्पष्ट घोषणा १९५१ ५२ के बजट पर होने वाली बहस के सिलसिले में वित्त मंत्री ने करदी थी।

अवमूल्यन नहीं करने का पाकिस्तान का निर्णय यह हम लिख चुके हैं कि पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने पाकिस्तान के इस निश्चय को स्वीकार कर लिया। भारत-पाकिस्तान का विनिमय दर १०० पाकिस्तान के रुपये = १४४ भारतीय रुपये के आधार पर तय हो गया। प्रश्न यह है कि क्या पाकिस्तान ने इस निर्णय का सबसे बड़ा कारण यह हुआ है कि उसे इस बात का भरोसा है कि भारत को उसका कच्चा कपास

और जूट हर हालत में खरीदना पड़ेगा और इससे उसे बड़ा लाभ होगा। पर भारत की यह विवशता जल्दी कपास और जूट के उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर समाप्त करदी जायगी। लेकिन पाकिस्तान को लोहे व कोयले जैसी चीजों की भारत से मँगाने की ज़रूरत रहेगी और इसलिये अवमूल्यन नहीं करने का निश्चय अन्ततोगत्वा पाकिस्तान के हित में साबित नहीं होगा। पाकिस्तान के पूंजी पदार्थों के आयात में लाभ होगा पर कुल मिलाकर न तो पूँजी पदार्थों का बहुत आयात हो सकेगा और न उनसे होने वाले लाभ के बारे में बहुत निश्चित रूप से कहा जा सकता है। पाकिस्तान ने यह लाभ भी देखा कि भारत को जो ऋण चुकाना है उसकी मात्रा पाकिस्तान के रुपये में कम हो जायगी। पाकिस्तान का यह कहना कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलन उसके पक्ष में है आज अवश्य सही है। पर यह स्थिति अनिश्चित और अस्थिर है। युद्ध की संभावना से जो अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में मूल्य वृद्धि हो रही है उससे पाकिस्तान के लिये अपने रुपये की इतनी ऊँची विनिमय दर रखना संभव हो रहा है। इस स्थिति का अन्त होते ही पाकिस्तान के सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वर्तमान विदेशी विनिमय की दर को कैसे कायम रखा जाये। जब पाकिस्तान अपने औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक चीज़ों का आयात करेगा, भारत कपास और जूट में स्वावलम्बी हो जायगा, अवमूल्यन नहीं करने का जब आयात को बढ़ाने और निर्यात को कम करने का असर होने लगेगा तो आज जो पाकिस्तान के अनुकूल विदेशी व्यापार का संतुलन है कल वह उसके प्रतिकूल चला जायगा और वर्तमान विनिमय दर से होने वाली कठिनाई सामने आ जायगी।

उपरोक्त विवेचन का सार यह है कि आज की स्थिति में चाहे पाकिस्तान के अवमूल्यन न करने से उसे लाभ हो पर यह स्थिति बहुत समय तक चलना शायद संभव नहीं होगा। पाकिस्तान में इस समय कृषि पदार्थों के मूल्य बहुत गिर रहे हैं। इससे भी यह स्पष्ट है कि अवमूल्यन नहीं करने के बावजूद भी पाकिस्तान की आन्तरिक आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती।

विदेशी विनिमय संबंधी नीति क्या हो : अवमूल्यन और पुनः मूल्यन के संबंध में हमने अपने विचार प्रकट किये हैं। पर यहाँ एक आधारभूत प्रश्न यह उठता है कि वास्तव में विदेशी विनिमय संबंधी सही नीति क्या होनी चाहिये। १९३१ के पहले अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के ज़माने में विभिन्न देशों के विनियम दर में सोने के आधार पर सम्बन्ध निश्चित होता था। अगर किसी देश में आयात निर्यात से अधिक हो जाता था तो विदेशी विनिमय उस देश के प्रतिकूल हो जाता था और उसे ठीक करने का उपाय यह होता

या कि माल और कारोबार में कमी की जाती थी, इससे आय गिरती थी और चीजों का मूल्य गिरता था, आयात कम होता था, निर्यात बढ़ता था और परिणाम स्वरूप सारा संतुलन ठीक हो जाता था। इस व्यवस्था का यह दोष देखा गया, खास तौर से बीसवीं शताब्दी के तीसों की मन्दी में, कि विदेशी विनिमय की स्थिरता के लिये देश की आन्तरिक स्थिरता का परित्याग करना पड़ता था और देश में बेकारी और मन्दी का सामना करना पड़ता था। नतीजा यह हुआ कि उस पद्धति का दुनिया ने परित्याग कर दिया। इसके सर्वथा विपरीत यह नीति हो सकती है कि विदेशी विनिमय का किसी के साथ भी सम्बन्ध स्थिर न किया जाय। विदेशी विनिमय की दर को सर्वथा स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये और बाज़ार के माग और पूर्ति के सिद्धान्त के आधार पर समय समय पर यह निश्चित होता रहे। सितम्बर १९५० के अन्त में कनाडा ने और उससे पहले फ्रान्स और इटली ने इसी नीति को अपनाया है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने उक्त दोनों नीतियों के बीच का रास्ता अपनाया है। इस बीच के रास्ते के अनुसार विदेशी विनिमय की स्थिरता के पुराने सिद्धान्त और आन्तरिक स्थिरता के नये सिद्धान्त में मेल बिठाने का प्रयत्न किया गया है। यदि किसी देश को विदेशी विनिमय की अमुक दर को कायम रखने के लिये आन्तरिक अर्थ व्यवस्था में परिवर्तन करना उचित नहीं मालूम पड़े तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्यों को विनिमय दर बदलने की इजाज़त देता है। यह अवश्य है कि इस प्रकार होने वाले परिवर्तनों के अन्तर काल में विनिमय दर स्थिर रहता है। इस स्थिर दर में १ प्रतिशत तक कम और ज्यादा दोनों दिशाओं में परिवर्तन हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की पद्धति में परिवर्तन के लिए गुंजाइश होते हुए भी एक प्रकार की मर्यादा और स्थिरता है।

हमारे सामने सोचने का प्रश्न यह है कि हम स्वतंत्र और स्थायी विनिमय दर पद्धति में से किसके पक्ष में हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा स्वीकृत पद्धति में जल्दी जल्दी विनिमय दर में परिवर्तन करना सम्भव नहीं, उसका वस्तुतः आधार डालर है जिसका भविष्य अनिश्चित मालूम पड़ता है, और अस्थायी तौर पर सम्भावित विनिमय दर के परिवर्तन से लाभ उठाने के लिये पूँजी के आने-जाने की इसमें गुंजाइश है। पर स्थायी विनिमय दर नीति की इन कमियों के बावजूद स्वतन्त्र विनिमय दर पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि अगर दुनियाँ के अधिकांश देश इस पद्धति को अपनालें तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ी अनिश्चितता और अस्तव्यस्तता फैल जाये। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने नियमों में कुछ ऐसे

परिवर्तन करे कि जिससे आवश्यकता होने पर विनिमय दर में अपेक्षाकृत कम कठिनाई से परिवर्तन हो सके। हमें चाहिये वह कि विनिमय दर में रोज़ बरोज़ परिवर्तन भी न हो, उसमें स्थायित्व भी रहे, और फिर भी वह स्थायित्व अति की सीमा तक पहुंचा हुआ न हो। इसलिये हम इस पक्ष में भी नहीं हैं कि रुपया को सर्वथा स्वतंत्र कर दिया जावे।

विनिमय दर में कब परिवर्तन करना चाहिये : विनिमय दर में कभी-कभी परिवर्तन करना आवश्यक हो सकता है यह हम ऊपर लिख चुके हैं। प्रश्न यह है कि इस स्थिति की पहचान क्या कि अमुक समय परिवर्तन करना आवश्यक है। सबसे पहले तो हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि इस प्रश्न का निर्णय कई संभावित अवस्थाओं और स्थितियों के अध्ययन पर निर्भर होता है और इस अध्ययन में विचार भेद होना स्वाभाविक है। इसलिये कई बार इस प्रश्न पर मतभेद होना स्वाभाविक है। फिर भी कुछ बातों का विचार रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि विनिमय दर में परिवर्तन काफ़ी सोच विचार कर और दूसरे उपाय उपलब्ध न होने पर ही किया जाना चाहिये। सही विनिमय दर का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि सामान्यतया एक देश का दूसरे बाक़ी के देशों से माल और सेवाओं का क्रय विक्रय इस प्रकार हो कि लेना देना बराबर सा रहे। इसलिये यदि किसी देश के विदेशी व्यापार में असंतुलन उत्पन्न हो और खासतौर से घाटा हो तो या तो देश के अन्दर लागत-मूल्य का संबंध ठीक करके असंतुलन मिटाना चाहिये और अगर यह संभव न हो तो विनिमय दर में परिवर्तन करके उसे ठीक करना चाहिये। सितंबर १९४९ में स्टरलिंग का अवमूल्यन इसीलिए किया गया कि स्टरलिंग क्षेत्र की चीजों का डालर में उस समय इतना अधिक मूल्य था कि अमेरिका में बिक्री कम होती थी और इससे डालर की आमद बहुत कम होती जा रही थी। इस स्थिति को चूंकि आन्तरिक लागत-मूल्य संबंध को ठीक करके नहीं सुधारना संभव था इसलिए अवमूल्यन किया गया। इसी प्रकार इस समय हम रुपये के पुनः मूल्यन के विपक्ष में हैं क्योंकि कोरिया युद्ध के कारण जो डालर मूल्यों में वृद्धि हुई है और रुपये में निर्यात मूल्य अपेक्षा कृत कम है; इस असंतुलन को हम अन्य उपायों से, जैसे निर्यात-कर लगाकर, ठीक कर सकते हैं। इसके अलावा पुनः मूल्यन का असर हमारी राय में हमारे निर्यात को कम करना, आयात को बढ़ाना और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत के प्रतिकूल असंतुलन पैदा करना होगा। इस लिये रुपये के पुनः मूल्यन की इस समय आवश्यकता नहीं है। स्थिति बदलने पर पुनः मूल्यन उचित भी हो सकता है।

परिच्छेद १२
सार्वजनिक वित्त

सार्वजनिक वित्त का महत्व आज राज्य के कार्यों का क्षेत्र बराबर बढ़ता जा रहा है। हमारा देश भी इसका अपवाद नहीं है। न केवल शांति और व्यवस्था बनाये रखना बल्कि जनता के सामाजिक और आर्थिक जीवन की उन्नति करना भी राज्य के प्रत्यक्ष कार्यों में सम्मिलित होता है। अपनी बढ़ी हुई जिम्मेदारी को पूरा करने के लिये राज्य को बड़ी मात्रा में व्यय करना होता है, और यह व्यय किया जा सके इसलिये उसे अपने आय के साधन जुटाने पड़ते हैं। यदि किसी समय आय की अपेक्षा व्यय अधिक हो तो ऋण लेकर भी काम चलाना पड़ता है। कई ऐसे काम भी राज्य आज अपने हाथ में लेता है जो आगे चलकर आमदनी का जरिया हो जाते हैं पर आरम्भ में उनमें पूँजी लगानी पड़ती है। यह पूँजी भी ऋण लेकर लगाई जाती है। जब युद्ध होता है तो सरकारों को बहुत व्यय करना पड़ता है। ऐसे समय में भी सरकारें ऋण लेती हैं। जब हम किसी देश के सार्वजनिक वित्त का अध्ययन करते हैं तो हमें इन सब पक्षों पर विचार करना पड़ता है—सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक आय, और सार्वजनिक ऋण। आज के युग में इस अध्ययन का बड़ा महत्त्व है। देश की शांति, व्यवस्था और उन्नति का इस पर बहुत दारोमदार रहता है।

सार्वजनिक वित्त का जब हम विचार करते हैं तो हमें केन्द्र, राज्य या प्रान्त और स्वायत्त शासन संस्था—सभी का विचार करना चाहिये। अब हम इसी आधार पर भारत के सार्वजनिक वित्त का अध्ययन करेंगे।

भारत के सार्वजनिक वित्त की विशेषतायें जिस प्रकार देश की आर्थिक अवस्था बहुत अंशों में सार्वजनिक वित्त पर निर्भर रहती है, उसी प्रकार देश की वित्त व्यवस्था भी देश विशेष की परिस्थितियों—आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक—से नियन्त्रित अथवा निर्धारित होती है। हमारे देश की वित्त व्यवस्था पर निम्नलिखित आर्थिक व्यवस्थाओं और राजनैतिक परम्पराओं ने प्रभाव डाला है।

(क) कृषि उद्योग की प्रधानता, गाँवों का स्वाश्रय निर्भरता और उनका एकाकीपन—देश की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में रहती है और आज भी यह बहुत अंशों में अपनी आवश्यकताओं के बारे में स्वावलंबी है। ग्रामीण जनता अपनी आवश्यकताओं की कई वस्तुएँ स्वयं ही पैदा कर लेती है। इस बात का प्रभाव उत्पाद-कर (Excise Duty) के ऊपर पड़ता है। उत्पाद-कर की आय

में अधिक प्रसार नहीं किया जा सकता।

भारतीय गाँवों के दूर-दूर बसे हुए होने के कारण उनमें आर्थिक,सामाजिक और राजनैतिक जागरूकता पैदा करने के लिये अधिक व्यय की आवश्यकता होती है।

(ख) कृषि-निर्भरता—उद्योगों के समुचित प्रसारित होने के अभाव में देश की लगभग ६६% जनता कृषि पर अवलंबित है। इसीलिये भारतवर्ष में राजकीय वित्त का सबसे अधिक उत्पादक स्रोत राजस्व (Revenue) का मद है और उद्योगों से प्राप्त आय का आनुपातिक महत्व कम है।

भारतीय कृषि की अनिश्चितता और संदिग्धता के ऊपर प्रकाश डालते हुए भारतीय सरकार के वित्त-मन्त्री विल्सन ने यह उक्ति कही थी कि भारतीय वित्त वर्षा के साथ जूआ खेलने के जैसी है (Indian agriculture is a gamble in the rains)। किसी अमुक वर्ष में अनावृष्टि का हानिप्रद प्रभाव विभिन्न राज्यों की राजस्व-आय के ऊपर ही नहीं पड़ता परन्तु परोक्ष में केन्द्रीय सरकार की आय के ऊपर भी। अनावृष्टि के कारण राज्यकीय सरकारों के दुर्भिक्ष-सहायता के ऊपर किये गये व्यय में वृद्धि होती है, पीड़ित किसानों को राजस्व (Revenue) से मुक्त करना पड़ता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, केन्द्रीय सरकार के वित्त विभाग के उपर भी इसका परोक्ष में प्रभाव पड़ता है। अनावृष्टि के कारण जनता की क्रय-शक्ति कम हो जाती है, इस कारण केन्द्रीय सरकार की आय के विभिन्न स्रोतों—आयकर, वहिःशुल्क (Custom Duty) और रेल द्वारा प्राप्त आय में भी कमी आ जाती है।*

(ग) निर्धनता—देश की अधिकांश जनता के निर्धन होने के कारण उनकी कर-दान-क्षमता (Taxable Capacity) भी कम है। इसी कारण हम राष्ट्र-निर्माणकारी प्रवृत्तियों पर अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों की तुलना में अधिक व्यय नहीं कर सकते। राष्ट्रीय-आय जांच-समिति (National Income Enquiry Committee) के अनुसार हमारे देश में प्रति व्यक्ति औसत आय केवल २२५ रुपया वार्षिक ही है।

(घ) केन्द्रित प्रबन्ध की परम्परा—अँग्रेजों के शासन-काल में सत्ता तथा शक्ति का जो केन्द्रीयकरण हुआ उससे परंपरा से प्रचलित स्वतंत्र ग्रामीण पंचायतों का विघटन हो गया। तभी से स्थानीय वित्त (Local Finance) का महत्व कम हो गया। आज भी स्थानीय संस्थाओं (जिला बोर्ड और पंचायतें इत्यादि) को अपनी आर्थिक-स्थिति में सुधार करने के लिये बहुत अंशों में राजकीय सरकारों के अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है। आज भी राजकीय सरकारों की

*B. R. Misra : Indian Provincial Finance,1919-39 p. 11

वित्तिय नीति का स्थानीय संस्थाओं की वित्तिय नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक स्थानीय स्वायत्त शासन संस्था की कर-नीति भी पृथक है और उसका सम्बन्ध दूसरों की नीति से बिल्कुल नहीं है। इस प्रकार की अनियन्त्रित और पृथक कर प्रणाली के दोष स्पष्ट हैं। इससे व्यक्तियों के बीच में और जिलों के बीच में आर्थिक असमानता पैदा करता है। स्थानीय संस्थाओं के परस्पर समीकरण के अभाव में मितव्ययिता और कार्य कुशलता में भी कमी आजाती है।† इसके अतिरिक्त राजकीय अनुदान पर परावलम्बी होने के कारण और साथ ही साथ अपने क्षेत्र में पूर्ण-रूपेण स्वतन्त्र न होने के कारण स्थानीय संस्थाएँ अपने क्षेत्र की समुचित आर्थिक उन्नति नहीं कर सकतीं। जहां संयुक्त राज्य अमेरिका में कुल व्यय का ५५% व्यय, जापान में ३७% व्यय और जरमनी में ४०% व्यय स्थानीय प्रबन्ध में होता है वहां भारतवर्ष में (१६३७ ३८) केवल १६% भाग होता है।‡ खेद की बात है कि हमारे देश के नये संविधान में भी स्थानीय वित्त को गौरवशाली और महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल पाया है।

(ड) राजनैतिक स्थिति लगभग दो शताब्दियों के शासन-काल में देश की पराधीनता का प्रभाव भी हमारे सार्वजनिक वित्त पर पड़ा है। हमारा सार्वजनिक ऋण, सेना व्यय और ऊँचे सरकारी कर्मचारियों के वेतन तथा सामाजिक सेवाओं पर होने वाला व्यय इसके ज्वलन्त उदाहरण माने जा सकते हैं।

केन्द्र और राज्य का वित्त संबन्ध भारत एक संघीय राज्य है। यहां के सार्वजनिक वित्त का अध्ययन करने से पहले इसलिये यह अनिवार्य है कि हमारे संविधान के अनुसार केन्द्र और राज्य के आपस के संबंध को हम अच्छी तरह से समझ लें। इस सम्बन्ध का आधार केन्द्र और राज्य की सरकारों के कार्य विभाजन पर भी बहुत हद तक है। जो कार्य केन्द्र के करने के हैं उनके खर्च की जिम्मेदारी भी केन्द्र पर जाती है और उनकी आय भी उसी को मिलती है जैसे सेना, विदेशी नीति, रेल, डाक, तार आदि। इसी प्रकार जो काम राज्य के करने के हैं उनसे सम्बन्धी व्यय और आय के लिये राज्य जिम्मेदार हैं जैसे भूमि का लगान, कृषि, आबकारी, आदि। इसके अलावा इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखने का प्रयत्न किया गया है कि केन्द्र और राज्य दोनों को आय के पर्याप्त साधन प्राप्त हों। विशेष परिस्थिति में केन्द्र द्वारा राज्य को सहायता देने का विधान भी किया गया है। राज्यों की वित्त व्यवस्था पर केन्द्र को आवश्यक नियंत्रण और

†B R Misra Indian Provincial Finance—पृष्ट २७१

‡जे के मेहता एण्ड एस एन अग्रवाल पब्लिक फायनांस थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस—पृष्ट ६३०।

पारस्परिक समन्वय का अधिकार भी दिया गया है।

पहले की रियासतों के वित्त का एकीकरण : हमारे पराधीनता के युग में एक महत्वपूर्ण स्थान तत्कालीन देशी रियासतों का था। ब्रिटिश सरकार के राजनैतिक नियंत्रण में उन्हें एक खास तरह की आज़ादी थी और तत्कालीन ब्रिटिश प्रान्तों और इन देशी राज्यों की शासन प्रणाली और व्यवस्था में बहुत असमानता थी। भारत ने स्वतंत्र होते ही इस समस्या को हल किया। छोटी-छोटी रियासतों को या तो पड़ौस के राज्यों में मिला दिया गया या फिर उनका एकीकरण कर दिया गया। कुछ केन्द्र के शासनाधिकार में लेली गई और कुछ पूर्ववत् बनी रहीं। जो देशी राज्य केन्द्र में या पास के राज्यों में मिल गये उनकी वित्त व्यवस्था भी केन्द्र या संबंधित राज्यों में शामिल हो गई। पर जो देशी राज्य और देशी राज्य संघ बच रहे उनका प्रश्न रहा। इन सबको नए विधान में राज्य का नाम दिया गया, हालाँकि पूर्ववत् प्रान्तों से इनका भेद करने के लिये इनको 'बी' राज्य का नाम दिया गया जबकि प्रान्तों को 'ए' राज्य का नाम दिया गया।

भिन्न भिन्न 'बी' राज्यों का देश के संघीय शासन में शामिल होने का निर्णय अलग अलग समय पर हुआ। पर शासन के इस प्रकार एकीकरण होने के बाद भी वित्त का एकीकरण आवश्यक था। बिना इस एकीकरण के सारे देश के वित्त की समन्वित व्यवस्था हो नहीं सकती थी। इस विषय में विचार करने के लिये श्री वी० टी० कृष्णमाचारि की अध्यक्षता में भारत सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की और उसकी सिफारिश के अनुसार १ अप्रेल १६५० से 'बी' राज्यों के वित्त का [काश्मीर के अलावा] एकीकरण कर लिया गया। इन राज्यों में केन्द्रीय विषय अब भारत सरकार के नियंत्रण में आ गये। इस एकीकरण से एकाएक कोई आर्थिक अव्यवस्था न उत्पन्न हो जाये इस दृष्टि से यह निश्चय किया गया कि यह एकीकरण १० वर्षों में धीरे धीरे पूरा किया जाये। इस एकीकरण के फलस्वरूप आयात-निर्यात कर, आय कर, केन्द्रीय उत्पादन कर, और रेल्वे आय केन्द्रीय सरकार के पास चली गई है। इसी प्रकार खर्च में सेना, ब्रॉडकास्टिंग और राष्ट्रीय सड़कों का ज़िम्मा भी केन्द्र पर चला गया है। राजाओं को मिलने वाला खर्च [प्रीवि पर्स] तो संविधान के अनुसार केन्द्र का ज़िम्मा हो ही गया था। 'ए' राज्यों की भाँति 'बी' राज्यों को भी केन्द्र से 'सबवेन्शन' और 'ग्रान्ट' लेने का हक़ मिल गया है। राज्य के कार्यों से संबंधित 'एसेट्स' और 'लाइबिलिटीज़' [संपत्ति और देनदारी] राज्यों के पास रह गये हैं और केन्द्र

सम्बन्धी केन्द्रों के पास चले गये हैं। भारत सरकार ने 'बी' राज्यों से समझौते किये हैं जो अधिक से अधिक दस साल तक लागू रह सकते हैं। पांच साल पूरे होने के उपरान्त भारत सरकार को फाइनेन्स कमीशन की रिपोर्ट का विचार करने पर ये समाप्त या संशोधित भी किये जा सकते हैं। इन समझौतों के अनुसार केन्द्र को आय और व्यय के विभाग दे देने से राज्य को जो घाटा होगा उसकी पूर्ति आगामी पांच साल तक तो पूरी तौर पर और उसके बाद के पांच साल सालों में हर साल एक निश्चित आधार पर घट जाने वाली कमी के अनुसार केन्द्र को सरकार द्वारा की जायगी। आन्तरिक कस्टम के समाप्त होने से राज्यों को जो हानि होगी वह राज्य को ही उठानी पड़ेगी। एका करण होते ही वैसे तो इन आन्तरिक कस्टम करों को समाप्त कर देना चाहिये था पर चूंकि राजस्थान, मध्य भारत और हैदराबाद राज्यों को आन्तरिक कस्टम से काफ़ी आय होती है इसलिये यह तय किया गया है कि राजस्थान और मध्य भारत में ५ साल और हैदराबाद में ४ साल के अन्दर अन्दर आन्तरिक कस्टम समाप्त कर दिया जाय। आय-कर 'पप्सू' और ट्रावनकोर कोचीन में १९५०-५१ से पूरे दर पर लागू करने और मध्य भारत तथा राज स्थान में सौराष्ट्र की दरों के हिसाब से लागू करने का निश्चय किया गया है। यह भी तय किया गया है कि दो से छः वर्ष में सब 'बी' राज्यों में पूरे भारतीय दर से आय कर लागू हो जायगा। भारतीय आय कर के पूरे दर लागू होने के दो वर्ष तक 'बी' राज्यों को यह स्वतन्त्रता होगी कि वे चाहें तो आय कर के अखिल भारतीय आधार पर बांटे जाने वाले कोष [पूल] में शामिल न हों। इस बीच में अस्थायी व्यवस्था के तौर पर प्रत्येक राज्य में जितना आय कर से आमदनी होगी उसकी आधी उसकी मानी जायगी। सघीय आय-व्यय के केन्द्र के पास चले जाने से प्रत्येक राज्य को जो आय का घाटा [रेवेन्यू गैप] होगा और राज्यों में बटने वाला आय [डिविज़िबल रेवेन्यूज़] का जो उसका हिस्सा होगा उनमें से जो भी अधिक होगा वह उसे मिल जायगा। इस आधार पर हैदराबाद, मैसूर, ट्रावनकोर-कोचीन और सौराष्ट्र को तो 'रेवेन्यू गैप' का रक़म मिलेगा और 'पप्सू', मध्य भारत और राज स्थान को आय कर का उनका हिस्सा मिलेगा।

केन्द्र और राज्यों में आय के साधनों का विभाजन केन्द्र और राज्य की सरकारों के बीच में आय के साधनों का क्या विभाजन है, इस सबंध में जान कारी करना आवश्यक है। तभी हम केन्द्र और राज्यों के सार्वजनिक वित्त का अध्ययन कर सकते हैं।

भारत को १९३५ के विधान में सबसे पहले संघ शासन का रूप दिया गया था। १९३५ के विधान में केन्द्र और राज्यों के बीच में आय के साधनों का एक विभाजन स्वीकार किया गया था। जब भारत स्वतंत्र हुआ तो स्वतंत्र भारत ने भी एक संघीय शासन व्यवस्था स्वीकार की। केन्द्र और राज्यों में आय के साधनों का भारत के नये विधान में जो विभाजन किया गया वह १९३५ के विधान में जो विभाजन किया गया था लगभग वही है। नये संविधान के अनुसार आय के साधनों का जो विभाजन किया गया है, अब हम उस पर विचार करेंगे।

पहले हम केन्द्रीय सरकार के संबंध में विचार करेंगे। इस बारे में पहली ध्यान देने की बात यह है कि वे तमाम कर जो संघीय सरकार द्वारा लगाये जायँगे, संघीय सरकार के आय के साधन ही हों ऐसा जरूरी नहीं है। इस दृष्टि से संघीय सरकार द्वारा लगाये जाने वाले करों को पांच श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे कर और शुल्क आते हैं जो संघीय सरकार ही लगायेगी, वही वसूल करेगी और वही उनका उपयोग कर सकेगी, जैसे—(१) सीमा शुल्क जिसके अन्तर्गत निर्यात शुल्क भी है, (२) निगम [कॉरपोरेशन] कर, (३) मूलधन-मूल्य कर [टैक्स ऑन कैपिटल वैल्यू] जिसमें कृषि भूमि को छोड़कर व्यक्तियों या समवायों [कम्पनीज़] की आस्ति [एसेट्स] और समवायों का मूलधन शामिल है, और (४) अमुक निश्चित करों और शुल्कों पर संसद द्वारा लगाया गया अधिभार [सरचार्ज]। दूसरी श्रेणी में वे कर आते हैं जो संघ की सरकार लगायेगी और वसूल करेगी पर जिनकी आय उसमें और राज्यों में निश्चित सिद्धान्त के अनुसार बांटी जायँगी। इसमें कृषि आय को छोड़कर अन्य आय पर लगने वाले कर का समावेश है। तीसरी श्रेणी में वे कर आते हैं जो संघ की सरकार लगायगी, वही वसूल करेगी, पर संसद द्वारा ऐसा कानून बनाने पर उनकी आय के बराबर की पूरी रक़म या उसका कोई अंश उक्त कानून द्वारा निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर भारत के संचित कोष [कनसोलिडेटेड फ़न्ड] से लेकर राज्यों में बांट दिया जायगा। इस श्रेणी में केन्द्रीय उत्पादन शुल्क [एक्साइज़ ड्यूटीज़] जिनमें भारत में निर्मित या उत्पादित तम्बाकू तथा—[क] मानव उपभोग के मद्यसारिक पानों, [ख] अफ़ीम, भांग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियों तथा स्वापकों तथा [ग] ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय [टॉयलेट] सामग्री जिनमें उपरोक्त [क] और [ख] का कोई पदार्थ शामिल हो, को छोड़कर—अन्य सब वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क आता है। चौथी श्रेणी में वे कर और शुल्क आते हैं जो संघीय सरकार द्वारा लगाये जायँगे और वसूल

भी किये जायँगे पर जिनकी आय संसद द्वारा कानून से निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर राज्यों में बाँटा जायगी। कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के बारे में सम्पत्ति शुल्क [एस्टेट ड्यूटी], कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के बारे म शुल्क, रेल या समुद्र या वायु से ले जाए जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर [टरमिनल टैक्स], रेल के जन भाड़े और वस्तु भाड़े पर कर, मुद्राक शुल्क को छोड़कर श्रेष्ठि चत्वर [स्टाक एक्सचेंज] और वादा बाज़ार [फ्यूचर मारकट्स] के सौदों पर कर और समाचार-पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनम प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर इस श्रेणी में लिये गये हैं। पाचवी श्रेणी म वे शुल्क आते हैं जो लगाये तो केन्द्र द्वारा जायँगे पर अपने अपने राज्य में लगने वाले शुल्क की आय की वसूली और उपयोग सबधित राज्य करेंगे। इस श्रेणी में ऐसे मुद्राक शुल्क [स्टैम्प ड्यूटीज] तथा औषधीय और प्रसाधनीय सामग्री पर ऐसे उत्पादन शुल्क आते हैं जो सघ-सूची में दिये गये हैं। विनिमय-पत्रों [बिल ऑव एक्सचैंज], चेकों, वचन-पत्रों [प्रोमिज़री नोट], वहन-पत्रों [बिल ऑव लेडिंग], प्रत्यय-पत्रों [लिटर्स ऑव क्रेडिट], बीमा पत्रों [इन्श्योरेंस पालिसीज़], अंशों के हस्तान्तरण [ट्रान्सफर ऑव शेयर्स] ऋण पत्रों [डिबेंचर्स], प्रति-पत्रियों [प्रोक्सीज़] और प्राप्तियों [रिसीट्स] के सम्बन्ध में लगने वाले मुद्राक शुल्क और ऊपर तीसरी श्रेणी [ग] में दिया उत्पादन-शुल्क इस श्रेणी में आते हैं।

उपरोक्त विभिन्न करों और शुल्कों के अलावा केन्द्र की आय का एक प्रमुख साधन उसके व्यापारिक विभागों की आय का है—इसमें रेल, डाक, और तार विभाग प्रमुख हैं।

राज्यों के आय के साधनों का जहाँ तक सबध है, कुछ ज़िक्र तो केन्द्र के आय के साधनों का उल्लेख करते समय उपरोक्त विवरण में किया जा चुका है। ये तमाम साधन ऐसे करों या शुल्कों के हैं जो केन्द्रीय सूची [यूनियन लिस्ट] में दिये गये हैं और इसलिये जिनको लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को ही है, पर जिनकी आय का सारा या आंशिक लाभ राज्यों को मिलने वाला है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि राज्यों से अर्थ 'ए' और 'बी' श्रेणी के राज्यों का ही है। 'सी' श्रेणी के राज्यों का हिस्सा तो केन्द्र की सरकार के पास ही रहेगा।

आय के उपरोक्त साधनों के अलावा राज्य के अपने स्वतंत्र साधन भी हैं। राज्य-सूची में इनका उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार राज्य के मुख्य-मुख्य आय के साधन ये हैं—(१) राजस्व, (२) जंगलात, (३) सिंचाई, (४) कृषि आय पर कर, (५) कृषि भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क,

(६) कृषि-भूमि के विषय में संपत्ति शुल्क; (७) भूमि और भवनों पर कर; (८) संसद से, क़ानून द्वारा, खनिज विकास के सम्बन्ध में लगाई गई मर्यादाओं के अन्तर्गत खनिज-अधिकार पर कर; (९) राज्य में निर्मित या उत्पादित निम्नलिखित वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क तथा भारत में अन्यत्र निर्मित या उत्पादित तत्सम वस्तुओं पर उसी या कम दर से प्रति शुल्क—(क) मानव उपभोग के लिये मद्यसारिक पान, (ख) अफ़ीम, भांग, और अन्य पिनक लाने वाली औषधियां और स्वापक किन्तु ऐसी औषधियों और प्रसाधनीय सामिग्रियों को छोड़ कर जिनमें उपरोक्त (क) और (ख) का कोई पदार्थ शामिल हो; (१०) किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिये वस्तुओं के प्रवेश पर कर; (११) विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर; (१२) समाचार-पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर; (१३) समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर; (१४) सड़कों या अन्तर्देशिय जल-पथों पर ले जाये जाने वाले वस्तुओं और यात्रियों पर कर; (१५) सड़कों पर उपयोग के योग्य यानों पर कर, चाहे वे यान यंत्रचालित हों या न हों तथा जिनमें ट्राम गाड़ियाँ भी शामिल हैं, यद्यपि वे सिद्धान्त जिनके अनुसार यंत्र-चालित यान पर कर लगाया जायगा समवर्ती सूची [कॉनकरेंट लिस्ट] का विषय होंगे; (१६) पशुओं और नौकाओं पर कर; (१७) पथ-कर [टोल्स]; (१८) वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर; (१९) प्रति व्यक्ति कर; (२०) विलास वस्तुओं पर कर, जिनके अन्तर्गत आमोद, विनोद, पण्य लगाने (वेटिंग) और जुआ खेलने पर भी कर है; (२१) मुद्रांक-शुल्क [स्टेम्प ड्यूटीज़] की दरों के सम्बन्ध में सूची (१) में दिये दस्तावेजों को छोड़कर अन्य दस्तावेज़ों के बारे में मुद्रांक-शुल्क की दर और (२२) रजिस्ट्रेशन।

उपरोक्त आय के साधनों के अलावा आसाम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल को जूट और जूट के सामान पर लगाई गई निर्यात-शुल्क से होने वाली आय के इन राज्यों को मिलने वाले हिस्से के एवज में भारत सरकार से सहायक-अनुदान [ग्रान्ट-इन-एड] देने की विधान में व्यवस्था है। इसके अलावा पार्लियामेंट को यह अधिकार भी दिया गया है कि क़ानून द्वारा वह यह तय करदे कि भारत सरकार अमुक राज्यों को अमुक मात्रा में सहायक अनुदान देगी। परन्तु राज्य की उन विकास योजनाओं के लिये जो राज्य के अन्तर्गत अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण के लिये या अनुसूचित क्षेत्रों के शासन के स्तर को शेष क्षेत्रों के शासन-स्तर तक उन्नत करने के लिये बनाई जायगी भारत सरकार

से राज्यों को सहायक अनुदान दिया जायगा। इसी के साथ भारत सरकार आसाम राज्य को अनुसूचित क्षेत्रों के शासन और विकास सम्बंधी खर्च के बारे में भी सहायक अनुदान देगी।

'बी' राज्य के साथ समझौता हमारे विधान में एक धारा 'बी' राज्यों के साथ भारत सरकार द्वारा समझौता करने के सम्बन्ध में भी है। इस धारा के अनुसार विधान में दी गई बातों के बावजूद, भारत सरकार को यह अधिकार है कि वह किसी भी 'बी' राज्य से उस राज्य में भारत सरकार द्वारा लगाये जाने वाले किसी कर या शुल्क के, जो अब इस विधान के अनुसार भारत सरकार ही लगा सकता है, नहीं लगा सकने के कारण होने वाली राजस्व की हानि या अन्य कारण से होने वाली राजस्व की हानि की पूर्ति करने लिये दी जाने वाली आर्थिक सहायता के बारे में समझौता करले। ऐसे समझौते अधिक से अधिक विधान लागू होने के समय से दस वर्ष तक के लिये हो सकते हैं पर पाँच वर्ष पूरे होने पर उनमें संशोधन या उनको समाप्त भी किया जा सकता है। धारा २६१ के अनुसार पुराना देशी रियासतों के राजाओं को उनके साथ हुए समझौते या कॅवेनेन्ट के अनुसार आयकर से मुक्त जो प्रीवि पर्स मिलेगा वह भारत सरकार का खर्च होगा। पर 'ए' या 'बी' राज्य में जिन राजाओं के राज्य आज शामिल हैं उन राजाओं को भारत सरकार से जो प्रीवि पर्स का रुपया मिलेगा उसके बदले में भारत सरकार को सम्बंधित 'ए' या 'बी' राज्य और भारत सरकार में इस विषय में जो भी समझौता हो उसके अनुसार उस राज्य से समझौते में निश्चित समय के लिए अंशदान [कन्ट्रीब्यूशन] मिल सकेगा।

ऋण के सम्बन्ध में अधिकार विधान के अन्तर्गत भारत सरकार को भारत की संचित निधि [कनसोलिडेटेड फन्ड ऑफ इन्डिया] की प्रतिभूति पर ऋण लेने का अधिकार है। भारत सरकार के इस प्रकार से ऋण लेने की यदि कोई सीमायें होंगी तो वह संसद समय समय पर क़ानून द्वारा निश्चित कर देगी। ऋण लेने के अलावा ऋण की प्रत्याभूति गारंटी देने का भी भारत सरकार को अधिकार है।

इसी प्रकार राज्य को राज्य के संचित निधि की प्रतिभूति पर ऋण लेने का अधिकार है। इस प्रकार से ऋण लेने की यदि कोई सीमायें होंगी तो वह संबंधित राज्य का विधान मण्डल कानून द्वारा समय समय पर निश्चित कर देगा। ऋण लेने के अलावा ऋण की प्रत्याभूति [गारंटी] देने का भी राज्य को अधिकार है।

भारत सरकार भी राज्यों को इस सम्बन्ध में संसद द्वारा बनाये गये

क़ानून में जो शर्तें हों उनके अन्तर्गत ऋण या ऋण के लिये प्रत्याभूति दे सकता है। यदि किसी राज्य पर भारत सरकार का ऋण या ऐसा ऋण जिसको भारत सरकार द्वारा प्रत्याभूति दी गई है, बाक़ी है तो भारत सरकार की स्वीकृति के बिना राज्य नया ऋण नहीं ले सकता है।

संचित निधियां और लोक लेखे तथा आकस्मिकता निधि : भारत सरकार के पास राजस्व, ऋण और ऋण के चुकारे के रूप में जो रुपया आयगा वह एक कोष के रूप में जमा रहेगा। इस कोष को भारत सरकार की संचित निधि [कनसोलिडेटेड फंड] कहा जायगा। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य का भी एक संचित कोष होगा। राज्य के अर्थ 'ए' और 'बी' राज्य से हैं। संचित निधि में जमा होने वाले रुपये के अलावा जो भी दूसरा रुपया भारत सरकार को प्राप्त होगा वह भारत सरकार के लोक-लेखे [पब्लिक अकाउन्ट] में, और जो राज्य को प्राप्त होगा वह राज्य के लोक-लेखे में जमा होगा। इसके अलावा भारत की और प्रत्येक राज्य की एक आकस्मिकता-निधि [कन्टिंजेन्सी फंड] होगी जो संसद या राज्य के विधान-मंडल द्वारा क़ानून से स्थापित होगी। इस निधि में समय समय पर वह रुपया जमा होगा जो निधि संबंधी क़ानून द्वारा निश्चित होगा। यह निधि भारत के राष्ट्रपति या राज्य के गवर्नर या राजप्रमुख के हाथ में रहेगी जिसमें से अनपेक्षित व्यय किये जायेंगे, जब तक ऐसे व्यय की बाक़ायदा संसद या राज्य के विधान-मंडल से स्वीकृति न मिल जाये।

केन्द्र और राज्य के वित्त-सम्बन्धों का इतिहास : केन्द्र और राज्य के हमारे संविधान के अनुसार जो वित्त-सम्बन्ध हैं उनका उल्लेख ऊपर किया गया है। पर इन संबंधों का एक इतिहास रहा है। वर्षों के विकास के बाद हम आज की स्थिति में पहुंचे हैं। संक्षेप में इस इतिहास की जानकारी कर लेना आवश्यक होगा। अब हम इसी पर विचार करेंगे।

१६१६ के सुधार के पहले तक का इतिहास : सन् १८३३ तक प्रत्येक प्रान्त वित्त की दृष्टि से अपने आप में स्वतन्त्र था, अपना राजस्व स्वयं जुटाता और स्वयं व्यय करता था।

सन् १८३३ से लेकर १८७१ तक केन्द्रीय सरकार के हाथ में समस्त वित्त अधिकार केन्द्रित थे। सारे देश का राजस्व केन्द्र के अधिकार में रहता था और प्रान्तों का काम तो राजस्व इकट्ठा करना और उसे खर्च करना मात्र था। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि चूंकि प्रान्तों पर कोई ज़िम्मेदारी नहीं थी इसलिये राजस्व को बढ़ाने या व्यय में किफ़ायत करने में उनका कोई सहयोग नहीं मिलता था और केन्द्र से अधिक से अधिक रुपया प्राप्त कर लेने

का प्रत्येक राज्य प्रयत्न करता था।

उपरोक्त दोषपूर्ण व्यवस्था को सुधारने का लार्ड मेयो ने १८७१ में वित्त सम्बन्धी विकेन्द्रीकरण की नीति अपना कर प्रयत्न आरम्भ किया। लार्ड मेयो ने कुछ प्रान्तीय महत्व के विभाग—जैसे पुलिस, शिक्षा, चिकित्सा, जेल आदि—प्रान्तों को सौंप दिये। इन विभागों के व्यय को चलाने के लिये विभागीय आय के अलावा केन्द्र से निश्चित रकम सहायता के रूप में दी जाती थी। अगर फिर भी घाटा रह जाता तो केन्द्र की स्वीकृति से स्थानीय कर लगा कर पूरा किया जाता। १८७७ में लार्ड लिटन ने इस व्यवस्था में और सुधार किया। स्थानीय महत्व के कुछ और विभाग प्रान्तों को सौंप दिये गये—जैसे स्टेम्प, कानून और न्याय, सामान्य शासन आदि। इन नये हस्तान्तरित विभागों का खर्च चलाने के लिये प्रान्तों को कुछ आय के साधन भी सौंप दिये गये। स्टेम्प, एक्साइज, कानून और न्याय आदि के कुछ ऐसे आय के साधन थे जो प्रान्तों को सौंप दिये गये। इसके अलावा यह भी तय कर दिया गया कि प्रान्त की विभागीय प्राप्तियों और प्रान्त को सौंपे गये आय के साधनों से होने वाली कुल आय का अनुमान लगा लिया जायगा और इस अनुमान में तथा प्रान्त की वास्तविक आय में जो भी कमी बेशी होगी वह प्रान्त और केन्द्र दोनों में बँट जायगी। इसके बाद १८८२ में लार्ड रिपन द्वारा किये गये सुधार आते हैं। इन सुधारों की एक विशेषता तो यह थी कि प्रान्तों के साथ वित्तीय समझौतों की अवधि पांच वर्ष निश्चित करदी गई ताकि वित्त में अधिक स्थिरता आ सके। १८८७, १८९२, और १८९७ में यह पंचवर्षीय समझौते हुए। १९०४ में ये समझौते अर्द्ध-स्थायी कर दिये गये और १९१२ में ये सर्वथा स्थायी कर दिये गये। सन् १९१९ तक यह व्यवस्था जारी रही। इसके अलावा एक नई बात यह की गई कि आय के कुछ साधन तो सर्वथा प्रान्तों के पास ये हो पर कुछ अन्य आय के साधनों—जैसे लगान, रजिस्ट्रेशन, आबकारी, स्टेम्प आदि—का प्रान्तों और केन्द्रों में विभाजन कर दिया गया। यदि किसी प्रान्त का आय उसका खर्च चलाने के लिये काफी नहीं होता तो उस घाटे के पूरा करने के लिये भूमि के लगान का एक हिस्सा प्रान्त को और दे दिया जाता था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, १८९७ तक हर पांचवे वर्ष प्रायः इसी आधार पर यह समझौते होते रहे। १९०४ में केन्द्र की सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक यह न मालूम पड़ेगा कि यह व्यवस्था अमुक प्रान्त या केन्द्र के प्रति पूरा न्याय नहीं करती तब तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा। इसलिये १९०४ के समझौते अर्द्ध-स्थायी कहे जाते हैं।

सन् १६०७-०६ की विकेन्द्रीकरण कमीशन ने इस व्यवस्था पर विचार किया। कमीशन के सामने इस संबंध में जो विचार प्रगट किये गये वे प्रायः इस व्यवस्था के विरुद्ध ही थे। केन्द्र की सरकार प्रान्तों पर हावी रहती है, प्रान्तों को निश्चित रक़म में सहायता देने की पद्धति फिर केन्द्र की सरकार ने आरंभ करदी है, और प्रान्तीय राजस्व की दरें वह निश्चित करती है, और एक सीमा के बाद प्रान्तीय खर्चे में उसका हस्तक्षेप होता है—इस तरह की आपत्तियां इस व्यवस्था के बारे में विकेन्द्रीकरण कमीशन के सामने पेश की गईं पर कमीशन ने सारी स्थिति पर विचार करके यह सिफारिश की कि कुछ संशोधन के साथ इसी व्यवस्था को स्थायी कर दिया जाय। इस सिफारिश के अनुसार १६१२ में यह व्यवस्था स्थायी करदी गई। निश्चित रक़म में सहायता की मात्रा कम करदी गई और विभाजित आय के साधनों में प्रान्तों का हिस्सा बढ़ा दिया गया। इसके अलावा और कोई खास संशोधन नहीं किया गया। १६१६ के सुधारों तक यही व्यवस्था चलती रही। केन्द्र और प्रान्त की सरकारों की आय के, इस व्यवस्था के अनुसार, निम्न साधन निश्चित किये गये :—(१) केन्द्रीय आय के साधन—अफीम, सीमा-शुल्क, नमक, टकसाल और विनिमय, डाक और तार, रेल, सेना से प्राप्तियां, और देशी राज्यों से मिलने वाला 'ट्रिब्यूट'। (२) केन्द्र और प्रान्त में विभाजित साधन—लगान, आयकर, आबकारी [बंबई, बंगाल के अलावा] सिंचाई और स्टेम्प्स। प्रत्येक प्रान्त के साथ विभाजन का आधार अलग अलग था जो प्रायः आधा था। इन विभागों के खर्च का विभाजन भी किया गया था। (३) प्रान्तीय आय के साधन—जंगलात, आबकारी [बंबई, बंगाल], रजिस्ट्रेशन और विभागीय प्राप्तियां जैसे शिक्षा, न्याय और क़ानून आदि।

उपरोक्त व्यवस्था में मुख्य मुख्य दोष यह थे:—(१) आय के विभाजित साधनों के कारण केन्द्र और प्रान्तों में संघर्ष, (२) निश्चित रक़म की सहायता पद्धति से आय की व्यवस्था में लचीलापन का अभाव, (३) कभी कभी केन्द्र द्वारा प्रान्तों को एक मुश्त सहायता देने से प्रान्तों में केन्द्र का हस्तक्षेप, (४) विभिन्न समझौतों की आपस में असमानता, (५) प्रान्तों को कर लगाने और ऋण लेने का अधिकार नहीं होना, (६) केन्द्र का प्रान्तीय खर्च और बजट पर अत्यधिक नियंत्रण। उदाहरण के लिये, प्रान्त घाटे का बजट बनाने और अपनी रोकड़ खर्च करने में स्वतंत्र नहीं थे।

१६१६ के सुधार और वित्त संबंध : सन् १६१६ के सुधारों के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन का सीमित आधार पर आरंभ हुआ। इसी के

अनुरूप देश की वित्त व्यवस्था स्थापित की गई। इस वित्त व्यवस्था के मुख्य मुख्य लक्षण ये थे —(१) आय के साधनों का केन्द्र और प्रान्त में बटवारा कर दिया गया और विभाजित आय के साधन अब नहीं रहे। केन्द्र के आय के साधन इस प्रकार तय किये गये —(i) अफीम, (ii) नमक, (iii) सीमा शुल्क, (iv) आय कर, (v) रेल, डाक और तार, (vi) सेना से प्राप्तियां। प्रान्त के आय के साधन ये तय किये गये —(i) लगान और सिंचाई, (ii) स्टैम्प (न्याय और व्यापार दोनों सबन्धी), (iii) रजिस्ट्रेशन, (iv) जगलात। प्रान्तों को आय कर म भी कुछ हिस्सा दिया गया। (२) उपरोक्त आय के विभाजन के आधार पर केन्द्रीय बजट में होने वाले घाटे का पूर्ति करने के लिये प्रात केन्द्र को अशदान दें, यह भी निश्चित किया गया। मेस्टन कमेटी ने अन्य बातों के साथ साथ अशदान की रकम तय करने के बारे म सिफारिश की थी। ये अंशदान १९२८-२९ म समाप्त हुए। प्रान्तों ने इसके बारे में बराबर आपत्तियाँ की। (३) एक अनुसूचित फहरिस्त म दिये गये करों को लगाने का प्रात को स्वतन्त्र अधिकार मिल गया, यद्यपि केन्द्र उसे रोक भी सकता था। इस सूची के बाहर केन्द्र की स्वीकृति से कर लगाने का प्रान्तों को अधिकार मिल गया। (४) कुछ शर्तों में प्रान्त को ऋण लेने का अधिकार भी मिल गया। (५) उपरोक्त व्यवस्था के कारण केन्द्र और प्रान्तों के अलग अलग बजट बनने लगे।

सन् १९१९ के विधान के अन्तर्गत जो वित्त व्यवस्था स्थापित हुई उसमें निम्नलिखित दोष पाये गये —(१) प्रान्तों पर राष्ट्रनिर्माण के विभागों जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के बढते हुए खर्च की जिम्मेदारी तो डाल दी गई पर उनकी आय के साधन अपर्याप्त थे क्योंकि उन साधनों से आय में वृद्धि होने की आशा नहीं थी जैसे लगान, आबकारी आदि। केन्द्र के पास आय कर और सीमा शुल्क जैसे बढ़ने वाला आय के साधन थे हालांकि उसकी जिम्मेदारी कम हुई थी। (२) विभिन्न प्रान्तों में भी समानता नहीं थी। कृषि प्रधान प्रान्तों को अधिक लाभ और उद्योग में प्रधान प्रान्तों को अधिक हानि हुई। (३) केन्द्र और प्रात में आय के साधनों का इतना पूर्ण बटवारा उचित नहीं था।

१९३५ का विधान और वित्त सम्बन्ध १९३५ के विधान बनाने के समय देश की वित्त व्यवस्था के बारे म फिर सविस्तार विचार किया गया। अन्त म १९३५ के विधान मे जो वित्त व्यवस्था स्वीकार की गई वह लगभग वही थी जो स्वतन्त्र भारत के संविधान में स्वीकार की गई है। संघीय सरकार

के आय के साधनों में चार श्रेणियाँ थीं :—(१) जो पूर्णतया संघीय सरकार के थे, जैसे सीमा-शुल्क, निगम-कर, रेल, डाक तार से आय आदि; (२) जो संघ और प्रान्त में बटे हुए थे, जैसे आय कर ; (३) जो संघ के पास थे पर जिन्हें संघ सरकार को पूरा या आंशिक रूप से प्रान्त को देने का अधिकार था जैसे केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क, निर्यात-शुल्क, नमक-शुल्क; और (४) अमुक अमुक करों पर संघ के उपयोग के लिये लगाये गये अधिभार (सरचार्ज)।

इसी प्रकार प्रान्तों की आय के निम्न साधन थेः—(१) प्रान्तीय कर जैसे लगान, कृषि आयकर, आदि; (२) आयकर में प्रान्त का हिस्सा; (३) मुद्रांक शुल्क (व्यापारिक), सीमा-कर (टर्मिनल टेक्स), उत्तराधिकार शुल्क आदि ऐसे कर जो केन्द्र द्वारा लगाये और वसूल किये जायेंगे पर जो प्रान्त को मिलेंगे; (४) केन्द्र से मिलने वाली सहायता।

निमयर रिपोर्ट : १६३५ के विधान के अन्तर्गत जब प्रान्तीय स्वायत्त शासन लागू करने का समय आया तो वित्त की दृष्टि से प्रान्तों की स्थिति पर विचार करने के लिये भारत मन्त्री ने सर ओटो निमयर को नियुक्त किया। १६३६ के अप्रेल में उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में यह कहा गया था कि १६३७ की अप्रेल में प्रान्तीय स्वायत्त शासन और वर्ष भर बाद संघीय शासन की स्थापना की जा सकती है। सर ओटो ने ये सिफारिशें कीं :—(१) आय कर का ५% प्रान्तों का भाग माना जाना चाहिये। इस आय का प्रान्तों में आपसी बटवारे का आधार भी सर ओटो ने सुझाया। (२) पाँच साल तक केन्द्रीय सरकार को प्रान्तों का यह भाग अपने उपयोग में लेने का अधिकार होना चाहिये। केन्द्रीय सरकार प्रान्तों का या तो पूरा भाग उपयोग में ले सकती है या उसका उतना अंश जितना केन्द्र को रेलवे से मिलने वाली आय में मिलाने से केन्द्र को १३ करोड़ की रक़म मिल जाय। इन दोनों में से जो रक़म कम होगी वही केन्द्र उपयोग में लेगा। (३) दूसरे पंचवर्षीय अवधि में केन्द्रीय सरकार आयकर के प्रान्तीय भाग को प्रान्तों को धीरे धीरे लौटाना शुरू करदे ताकि आखिरी साल के बाद प्रान्त को अपना पूरा भाग मिल सके। (४) प्रान्तों को तीन तरह से आर्थिक सहायता दी जाये—१ अप्रेल, १६३६ के पहले जो असल ऋण हो उसे रद्द करके, नकद सहायता देकर, और जूट पैदा करने वाले प्रान्तों को ५०% से १२½% अधिक इस प्रकार कुल ६२½% जूट निर्यात-शुल्क का हिस्सा देकर। बंगाल, बिहार, आसाम, उत्तर-पश्चिम सरहदी प्रान्त, और उड़ीसा के ऋण रद्द किये गये। संयुक्त प्रान्त, आसाम, उड़ीसा, उत्तर-पश्चिम सरहदी प्रान्त, और सिंध को नकद सहायता देने की सिफारिश की गई। भारत

सरकार ने इस ओटो की सब सिफारिशें थोड़े संशोधन के साथ स्वीकार करलीं और ३ जुलाई, १६३६ को ऑर्डर इन-कौंसिल जारी कर दिया गया।

निमयर रिपोर्ट से थोड़ा थोड़ा असन्तोष केन्द्र और विभिन्न प्रान्तीय सरकारों का रहा, खास कर आयकर के अपने हिस्से के बारे में, पर निमयर निर्णय का पालन हुआ। प्रान्तों को १६३७-३८ में आयकर के उनके भाग से कुछ मिला था।

निमयर निर्णय में परिवर्तन द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने से देश की वित्त व्यवस्था पर गहरा असर पड़ा। १६४०-४१ में निमयर निर्णय में पहला संशोधन हुआ। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि केन्द्र की सरकार को, रेल से मिलने वाला आय का विचार किये बिना, आयकर के प्रान्त के भाग में से ४½ करोड़ रुपया प्रति वर्ष दिया जाय और १ अप्रैल, १६३६ से इस निर्णय पर व्यवहार किये जावें। यह संशोधन केन्द्र की सरकार के पक्ष में था। पहले तो इस संशोधन की अवधि १६४१-४२ तक ही निश्चित की गई थी पर बाद में १६४६-४७ तक यही संशोधित निर्णय लागू रहा, यद्यपि १६४२-४३ में केन्द्र का हिस्सा ४½ करोड़ से बराबर कम होता गया और १६४७-४८ में प्रान्त के भाग में से केन्द्र के पास कुछ नहीं रहा।

जब देश का विभाजन हुआ तो निमयर निर्णय म दूसरा संशोधन किया गया। यद्यपि इस संशोधित निर्णय का आदेश तो १७ मार्च, १६४८ को जारी हुआ पर इस पर अमल १५ अगस्त, १६४७ से ही किया गया। इस दूसरे संशोधन म प्रान्तों म उनके हिस्से के आयकर के बटवारे का आधार बदला गया, पटसन निर्यात शुल्क म पटसन पैदा करने वालों का हिस्सा ६२½% से घटाकर २०% कर दिया गया, सहायता के रूप में अनुदान केवल आसाम और उड़ीसा को १६४७-४८ और १६४८-४६ में ही देना तय हुआ, और आयकर की असल रकम का १% चीफ कमिश्नर के प्रान्तों को देना तय किया गया। यह संशोधन १६४७-४८ और १६४८-४६ के लिये ही था।

देशमुख निर्णय निमयर निर्णय में देश के विभाजन के बाद जो संशोधन हुआ था वह अस्थायी था। नवम्बर १६४६ में रिजर्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर श्री चिन्तामणि देशमुख को भारत सरकार ने इसलिये नियुक्त किया कि आयकर और पटसन के निर्यात शुल्क का प्रान्तों में किस आधार पर बटवारा किया जाये इस बारे में वह सिफारिश करें। श्री देशमुख ने अपना निर्णय जनवरी १६५० में दिया। १६५०-५१ के आर्थिक वर्ष ही से उसे लागू किया गया। विधान की २८० धारा के अनुसार नियुक्त होने वाली फाइनेन्स कमीशन की इस

सम्बन्ध में सिफारिश नहीं होने तक वह लागू रहेगा और वह केवल 'ए' श्रेणी के राज्यों पर ही लागू होगा। देश के विभाजन के पहले विभिन्न प्रान्तों में आयकर की आय का प्रतिशत के हिसाब से बटवारा हो रहा था। जब कुछ प्रान्त या प्रान्तों के हिस्से पाकिस्तान में चले गये तो उनके हिस्से का प्रतिशत या तो बच गया या कम होगया। इस प्रकार बंगाल ७·५, पंजाब ४, सिंध २, और उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त १ और कुल १४·५ प्रतिशत की बचत हुई। श्री देशमुख ने इन १४·५% का ही भारत के सभी 'ए' राज्यों में जनसंख्या के आधार पर, लेकिन आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर राज्यों का थोड़ा ध्यान रखते हुए, फिर से बटवारा कर दिया। देशमुख निर्णय में जो प्रतिशत प्रत्येक 'ए' राज्य को दिया गया है वह इस प्रकार है :—मद्रास १७·५, बम्बई २१, पश्चिम बंगाल १३·५, उत्तर प्रदेश १८, पंजाब ५·५, बिहार १२·५, मध्य प्रदेश ६, आसाम ३, और उड़ीसा ३—कुल १००।

पटसन निर्यात शुल्क के कारण पश्चिम बंगाल को १०५ लाख रुपये, आसाम को ४० लाख रु० और बिहार को ३५ लाख तथा उड़ीसा को ५ लाख—कुल १८५ लाख की सहायता देने की देशमुख निर्णय में सिफारिश की गई, क्योंकि संविधान के अनुसार पटसन निर्यात शुल्क से सारी आय तो केन्द्र के पास जायगी पर केन्द्र उपरोक्त राज्यों को सहायता देगा। देशमुख निर्णय द्वारा निश्चित सहायता की अवधि १० वर्ष या जब तक पटसन निर्यात शुल्क जारी रहे इनमें से जो भी समय पहले समाप्त हो तब तक रहेगी। देशमुख निर्णय के अनुसार सरकार ने १९५० में ही आदेश जारी कर दिया था।

भारत सरकार और राज्यों के बजट : भारत सरकार का वित्त मंत्रालय भारत सरकार की वित्त व्यवस्था करता है। वित्त मंत्रालय के मंत्री वित्त मंत्री कहे जाते हैं। भारत सरकार का वित्त वर्ष १ अप्रैल से ३१ मार्च तक का है। इसी आधार पर भारत सरकार का बजट तैयार होता है। भारत सरकार के बजट के दो भाग होते हैं—एक राजस्व बजट (रेवेन्यू बजट) और दूसरा पूंजीगत बजट (केपीटल बजट)।

राजस्व बजट में वार्षिक आय और चालू व्यय बताया जाता है। कर और शुल्क तथा व्यापारिक विभागों की आय इसी बजट में दिखाई जाती है। सामान्य खर्च व्यय में बताया जाता है। प्रति वर्ष जो बजट का स्टेटमेंट संसद में पेश होने के लिये तैयार होता है उसमें तीन वर्ष की आर्थिक स्थिति का हाल होता है—(१) आगामी वर्ष के आय और व्यय का अनुमान, (२) चालू वर्ष के आय और व्यय के संशोधित अनुमान और (३) गत वर्ष के वास्तविक आय-व्यय का हिसाब। प्रतिवर्ष फरवरी-मार्च

में बजट संसद में पेश होता है। राजस्व बजट में पहले तो यह अनुमान लगाया जाता है कि वर्तमान करों के आधार पर बजट की क्या स्थिति होगी। उसके बाद सरकार यह बताती है कि नये कर कोई लगाये जाने वाले हैं और कोई पुराने कर हटाये जाने वाले या कम होने वाले हैं या नहीं। इस प्रकार नये सब करों आदि से जो कुल आय होती है उसमें व्यय अधिक होने पर बजट में घाटा और कम होने से बजट में बचत मानी जाती है। अगर बचत होती है तो सरकार की नक़द रोकड़ उस हद तक बढ़ जाती है। अगर घाटा होता है तो सरकार की नक़द रक़म उस हद तक कम हो जाती है। पर सरकार की मौजूदा रोकड़ [कैश बैलेंसेज़] को बढ़ाने का एक उपाय बाज़ार से ऋण लेने का है। सरकार हर साल कुछ न कुछ ऋण लेती ही रहती है और पुराने ऋण चुकाती भी रहती है।

यहीं पर सरकार के पूंजीगत बजट का प्रश्न उठता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है राजस्व बजट तो सरकार की आमदनी और खर्च का बजट होता है। पूंजीगत बजट में प्राप्ति और चुकारा का अनुमान होता है। प्राप्ति की ओर विभिन्न प्रकार के ऋण, फंड और जमा से जो रकम आने वाली होती है वह दिखाई जाती है और चुकारे की ओर जो पूंजीगत खर्च होता है—जैसे रेल्वे निर्माण और औद्योगिक विकास का व्यय या राज्यों को विकास के लिये दी जाने वाली सहायता आदि का वितरण होता है। यदि चुकारे से प्राप्ति अधिक होती है तो बचत, और कम होती है तो घाटा माना जाता है। घाटा या बचत का असर सरकार की रोकड़ पर पड़ता है।

जब संसद से बजट पास हो जाता है तो संसद 'एप्रोप्रियेशन एक्ट' पास करती है जिससे भारत सरकार को संचित निधि से बजट के अनुसार खर्च करने का सरकार को अधिकार मिल जाता है। इस क़ानून में संसद कोई संशोधन नहीं करती।

विशेष परिस्थितियों में सहायक बजट भी पास करने की आवश्यकता आ जाती है।

राज्यों के जो बजट बनते हैं उनमें भी आय और व्यय के अलावा ऋण, जमा तथा पूंजीगत खर्च सम्बन्धी आंकड़े तथा साल के आरम्भ और अन्त के सरकारी रोकड़ के आंकड़े भी होते हैं। पर भारत सरकार की तरह राज्यों के बजट दो अलग अलग भागों में नहीं बनते।

भारत सरकार के राजस्व और पूंजीगत बजट और राज्य के बजट के नमूने इस परिच्छेद के अन्त में दिये गये हैं।

केन्द्रीय वित्त

अब तक हमने भारतीय वित्त की विशेषताओं और उसके विकास तथा केन्द्र और प्रान्त के वित्त संबंधों के बारे में विचार किया। अब हम भारतीय वित्त का केन्द्रीय वित्त, राज्यकीय वित्त और स्थानीय स्वायत्त शासन संबंधी वित्त की दृष्टि से विस्तार से अध्ययन करेंगे। सबसे पहले हम केन्द्रीय वित्त का अध्ययन करेंगे। यह अध्ययन आय, व्यय और ऋण तीनों दृष्टियों से करना आवश्यक है। सबसे पहले भारत सरकार की आय के बारे में विचार करेंगे।

भारत सरकार की आय : भारत सरकार की आय की मुख्य मुख्य मदों का अब हम अध्ययन करेंगे।

(१) सीमा-शुल्क (कस्टम्स) : इसमें विदेश से आने वाले माल पर आयात-शुल्क और विदेश को जाने वाले माल पर निर्यात-शुल्क दोनों का ही समावेश होता है। आयात-शुल्क लगाने के दो अभिप्राय होते हैं—एक तो आय का और दूसरा राष्ट्र उद्योगों को संरक्षण देने का। भारत में प्रथम महायुद्ध तक सीमा-शुल्क का महत्त्व बहुत कम था, क्योंकि तब तक भारत इंगलैंड के तत्त्वावधान में मुक्त व्यापार की नीति पर चलता था। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय फ़िसकल कमीशन की नियुक्ति हुई और उसकी सिफ़ारिश पर भारत ने सन् १६२२ से विवेकपूर्ण संरक्षण नीति अपनाई। तभी से आयात-शुल्क का महत्त्व बढ़ गया। १६३२ में जो ओटावा समझौता हुआ उसके अनुसार इंगलैंड से आने वाले कई तरह के माल पर अपेक्षाकृत कम आयात शुल्क लगाना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के समय फिर भारत सरकार ने आयात-शुल्क में वृद्धि की। युद्ध समाप्त होने के बाद कई चीज़ों पर सीमा शुल्क कम किया गया। पर १६४६-५० से फिर वृद्धि की ओर प्रवृत्ति है। सीमा-शुल्क से होने वाली आय में निर्यात-शुल्क का महत्त्व कम रहा है, यद्यपि पिछले वर्षों में कई चीज़ों पर निर्यात-शुल्क लगाया या बढ़ाया गया है। इन वर्षों में निर्यात-शुल्क लगाने के मुख्यतः दो प्रयोजन रहे हैं—या तो विदेश में ऊँचे मूल्य होने से निर्यात से होने वाले लाभ में सरकार की हिस्सा बटाने की इच्छा, जैसे जूट पर निर्यात-शुल्क का लगाया जाना, या फिर किसी चीज़ को बाहर जाने से रोकने की कोशिश करना, जैसे कच्चे कपास पर या तिलहन पर लगाया गया निर्यात-शुल्क। सीमा-शुल्क लगाने की दो पद्धतियाँ हैं—मूल्य के आधार पर (एड वेलरम ड्यूटी) या मात्रा के आधार पर (स्पेसिफिक ड्यूटी)।

भारत सरकार की आय में सीमा-शुल्क का हिस्सा बराबर पिछले वर्षों में विभाजन के बावजूद भी बढ़ा है। १६३८-३६ में सीमा-शुल्क से ४०$\frac{1}{2}$ करोड़

रुपये की आय थी वह १९४६-४७ में ८८ करोड़ रुपये के लगभग हो गई और १९४८-४९ में १२६.१६ करोड़ रुपये के लगभग हो गई और १९५०-५१ के संशोधित अनुमान के अनुसार १४३ करोड़ रुपये और १९५१-५२ के प्रस्तुत बजट के अनुमान के अनुसार १५० करोड़ रुपये के लगभग इस मद से आय होने की आशा है।

सामा शुल्क जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं और विलास-वस्तुओं दोनों पर है। आवश्यक वस्तुओं पर का कर आम जनता पर पड़ता है। जिस हद तक यह कम हो सकता हो किया जाना चाहिये।

(२) आयकर भारत में सबसे पहले १८६० में आयकर पाँच वर्ष के लिये १८५७ के विद्रोह के कारण सरकार की स्थिति को सुधारने के लिये लगाया गया था। पाँच वर्ष बाद यह कर हट गया। १८६६ में फिर यह कर लगाया गया। कर की दरों, न्यूनतम कर से मुक्त आय, और आयकर सम्बन्धी क़ानून में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। इस समय भी आयकर क़ानून में संशोधन का प्रश्न संसद के सामने विचाराधीन है।

भारतीय आयकर की कुछ विशेषतायें ये हैं —आयकर व्यक्तियों, फर्मों (रजिस्टर्ड और अनरजिस्टर्ड), कम्पनियों और संयुक्त परिवारों की आय पर लिया जाता है। कर की दर आय के साथ साथ बढ़ता है। व्यक्तियों, संयुक्त परिवारों, और अनरजिस्टर्ड फर्म पर आयकर के अलावा २५ हज़ार से अधिक आय पर सुपर टैक्स भी लगाया जाता है। १९३९ के आयकर क़ानून के द्वारा आयकर लगाने की पद्धति भी 'स्लैब' प्रणाली से बदल कर अब 'स्लैब' प्रणाली करदी गई है। 'स्लैप' प्रणाली में सारी आय पर कर एक समान दर से हो लगता था। पर 'स्लैब' प्रणाली के अनुसार आय के कई भाग कर दिये जाते हैं और प्रत्येक बाद के भाग पर बढ़ा हुई दर से कर लगता है। इससे कर का भार निर्धन पर कम और धनवान पर ज्यादा पड़ता है। न्यूनतम आय की एक ऐसी सीमा निश्चित होती है जिस पर आयकर नहीं लगता। इस समय यह सीमा एक व्यक्ति के लिये ३६००रु० और संयुक्त परिवार के लिये ७२००रु० वार्षिक आय है। सन् १९४५-४६ में एक और सुधार यह किया गया था कि कमाई हुई आय और बिना कमाई हुई आय में भेद कर दिया गया था और कमाई हुई आय के ⅕ भाग तक का—पर ६००० की अधिकतम मर्यादा के अन्तर्गत—कर से मुक्त कर दिया गया था। पर यह भेद वापस हटा दिया गया है। आयकर उन तमाम व्यक्तियों से जो भारत में रहते हैं वसूल किया जाता है और उस तमाम आय पर जो इन व्यक्तियों द्वारा भारत के अन्दर या बाहर कमाई गई है कर लगाया

जाता है। जो व्यक्ति भारत में रहते नहीं हैं पर जो भारत में कमाई करते हैं उनकी इस कमाई पर भी आयकर लगता है। आयकर आय पैदा होने के स्थान पर ही वसूल हो जाता है। उदाहरण के लिये जब कर्मचारियों को वेतन दिया जाता है तो आयकर काट कर दिया जाता है। आयकर भारत सरकार और राज्यों में बँट जाता है, इस सम्बन्ध में हम पहले लिख ही चुके हैं। आयकर से सम्बन्ध रखने वाला एक बड़ा प्रश्न यह है कि लोग आयकर की चोरी करते हैं। सरकार ने इस चोरी को रोकने के लिये कानून में सुधार किये हैं और आयकर विभाग के अधिकारियों को कई प्रकार के अधिकार भी दिये हैं। आयकर जांच कमीशन भी नियुक्त किया गया है जो काम कर रहा है। पर इन सब प्रयत्नों के बाद भी समस्या का हल नहीं हो सका है। ऐसा अनुमान है कि प्रतिवर्ष ७५ करोड़ रुपये की आयकर की चोरी हमारे देश में होती है।

आयकर कर की दृष्टि से अच्छा कर है। यह प्रत्यक्ष, लचीला, निश्चित और कम खर्च में वसूल होने वाला कर है।

आयकर में कई सुधार आवश्यक हैं—जैसे बच्चों की शिक्षा, चिकित्सा, आर्थिक दृष्टि से निर्भर लोगों की संख्या और वृद्धावस्था का आयकर की दृष्टि से लिहाज़ रखा जाना चाहिये। आयकर की चोरी रोकने के लिये और अधिक कड़ाई व्यवहार में लाना चाहिये और उसके लिये क़ानून में आवश्यक सुधार करना चाहिये।

पिछले वर्षों में भारत सरकार की आयकर से आय भी यथेष्ट मात्रा में बढ़ी है। युद्ध के पूर्व आयकर और निगम-कर से १५–१६ करोड़ रु० के आसपास आय होती थी। आज वह आय १५५–१६० करोड़ रुपये के आसपास है।

(२) निगम-कर (कॉरपोरेशन टेक्स): निगम-कर वह कर होता है जो सीमित दायित्व वाली मिश्रित पूँजी की कम्पनियों पर इसलिये लगाया जाता है कि इन कम्पनियों को कानून से कुछ विशेष सुविधायें मिली हुई होती हैं जिनके कारण वे अधिक पूँजी इकट्ठी कर सकती हैं, और अधिक लाभ कमा सकती हैं। सब कम्पनियों को समान सुविधाएँ होने से समान कर देना होता है। इसलिये यह अनुपातिक कर है। भारत में सब कम्पनियों को यह कर देना होता है और कोई न्यूनतम सीमा कर नहीं देने की नहीं है। कम्पनियों के कुल असल मुनाफे पर यह कर लगता है। कम्पनियों पर लगने वाला एक तरह से 'सुपरटेक्स' ही निगम-कर है। इससे भारत सरकार को ३० करोड़ रुपये के आसपास आय होती है। आयकर की तरह राज्यों

का इसमें कोई हिस्सा नहीं मिलता।

(४) अतिरिक्त लाभ कर जैसा कि इसके नाम से भी प्रकट होता है, असाधारण लाभ पर ही अतिरिक्त लाभ कर लगाया जाता है। इसी लिए यह एक स्थायी कर होता है जो युद्ध आदि समय में जब असाधारण लाभ होता है तब लगाया जाता है। अतिरिक्त लाभ की माप या तो किसी वर्ष विशेष से या लाभ की प्रमुख मात्रा से की जाती है। इस प्रकार का कर लगाना सर्वथा उचित है क्योंकि अतिरिक्त लाभ किसी व्यक्तिगत परिश्रम का परिणाम न होकर परिस्थितियों का परिणाम होता है।

भारत में प्रथम महायुद्ध के समय १९१६ में अतिरिक्त लाभ कर सबसे पहले लगाया गया था। १९२० में यह कर हट गया था। उस समय ५०% दर से कर लगा था। द्वितीय महायुद्ध के समय १९४० में फिर यह कर लगाया गया। कर का दर वहां ५०% था। ३०,००० वार्षिक से अधिक आय वालों से ही कर लिया जाता था और अमुक वर्ष विशेष के लाभ से अतिरिक्त लाभ की नाप की जाती थी। १९४१-४२ में कर का दर ६६⅔% करदी गई गई और शेष ३३⅓% पर आयकर और सुपरटैक्स लगता था। इतना कर दे देने के बाद अतिरिक्त लाभ का २०% व्यक्ति के पास रहता था। १९४२ में भारत सरकार ने अतिरिक्त लाभ-कर का १/५ अर्थात अतिरिक्त लाभ का १३⅓% सरकार के पास जमा कराना अनिवार्य कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि केवल ६⅔% अतिरिक्त लाभ का व्यक्ति के पास में बचता था। १९४४ में अनिवार्य जमा की दर और बढ़ादी गई जिससे कि अतिरिक्त लाभ में से व्यक्ति के पास कुछ नहीं बचता था। यह अनिवार्य जमा की रकम वापस की जाने को है। मार्च १९४६ में यह कर उठा लिया गया।

(५) व्यापार लाभ कर अतिरिक्त लाभ-कर उठ जाने के बाद उसके स्थान पर सन् १९४७-४८ के बजट में श्री लियाकतअली खां ने फिर व्यापार लाभ-कर लगाया। यह भी असाधारण लाभ पर लगनेवाला कर था। जो लोग १ लाख प्रति वर्ष से अधिक लाभ कमाते थे उन सब पर १६⅔% कर लगाया गया। १९४८-४९ में कर की दर १०% और न्यूनतम छूट की मर्यादा २ लाख रुपया करदी गई। १९५०-५१ में यह कर बिल्कुल ही उठा लिया गया।

(६) पूंजीगत लाभ कर जैसा कि इसके नाम से भी प्रकट होता है यह कर उस लाभ पर लगता है जो किसी चीज के मूल मूल्य (कैपिटल वल्यू) में वृद्धि होजाने से उत्पन्न होता है। यह कर बिना कमाई हुई आय पर होने से इस लगाना उचित है और अमरिका, इङ्गलैंड आदि देशों में यह लगता है।

श्री लियाक़तअली खाँ ने अपने १६४७-४८ के बजट में पहली बार भारत में यह कर लगाया। यह कर केवल उस पूँजीगत लाभ पर लगाया गया था जो कृषि भूमि को छोड़कर दूसरे पूँजीगत 'एसेट्स' के विनिमय या हस्तांतरण से, जो ३१ मार्च १६४६ के बाद किया गया हो, उत्पन्न हो। 'कैपिटल एसेट' की परिभाषा से व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुएँ, जैसे ज़ेवर फर्नीचर आदि या कच्चा, माल या बिकने के लिये रखा हुआ माल, अलग करदी गईं थीं। कर की दर प्रगतिशील थी। सात साल या अधिक समय से यदि संपत्ति किसी के स्वामित्व में है तो उसके बेचने पर कर नहीं लगता था। इसी प्रकार उत्तराधिकार में मिलने वाली सम्पत्ति भी कर से मुक्त थी। एक सीमा के बाहर पूँजीगत हानि को पूँजीगत लाभ में से कम करने की व्यवस्था भी थी। १६४६-५० में यह कर भी उठा लिया गया।

(७) संघीय उत्पादन-शुल्क : उत्पादन-शुल्क भारत सरकार और राज्य की सरकारें दोनों ही लगाते हैं। पर राज्य की सरकारें तो देशी शराब, भंग, गांजा आदि जैसी वस्तुओं की बिक्री और उत्पादन पर यह शुल्क लगाती हैं और बाक़ी सब वस्तुओं पर भारत सरकार यह शुल्क लगाती है। भारत सरकार द्वारा लगाये गये शुल्क उत्पादन पर ही लगाये जाते हैं। इस लिये उत्पादन करने वाले से वह वसूल होता है और उत्पादन की मात्रा के साथ वह कम-ज्यादा होता है। भारत सरकार द्वारा मोटर स्पिरिट, केरोसीन, शकर, दियासलाई, इस्पात के टुकड़े, टायर, तम्बाकू, चाय, काफी, सूती कपड़ा, और बनस्पति माल पर उत्पादन-शुल्क लगाया जाता है। इनमें कई चीजें आम लोगों के उपयोग की हैं। इससे उनका भार साधारण जनता पर पड़ता है। उत्पादन-शुल्क से भी भारत सरकार की आय काफ़ी बढ़ी है। जहाँ १६३७-३८ में उत्पादन लागत से ८ करोड़ से कुछ कम ही आय थी वहाँ १६५१-५२ के प्रस्तुत बजट में उत्पादन लागत से ८५ करोड़ के लगभग आय का अनुमान लगाया गया है।

(८) नमक-शुल्क : नमक-शुल्क से भारत सरकार को लगभग ८ करोड़ रुपये वार्षिक की आय होती थी। विदेश से जो नमक आता था उस पर भी आयात-शुल्क लगता था और हमारे देश में जो उत्पादन होता था उस पर भी उत्पादन-शुल्क लगता था। भारत में पैदा होने वाले नमक पर उत्पादन-शुल्क लगाने के दो तरीके थे--(i) सरकार या तो स्वयं उत्पादन करती थी या व्यक्तिगत उत्पादन करने वाले पर यह प्रतिबंध था कि वह सारा नमक सरकार को ही बेचे। भारत सरकार फिर उत्पादन-शुल्क वसूल करके नमक बेचती थी। (ii) दूसरा तरीका यह था कि नमक पैदा करके बेचने का काम व्यक्तिगत तौर पर व्यापारी करते थे, पर सरकार उनसे उत्पादन शुल्क वसूल करती थी।

नमक शुल्क का देश में जब हम पराधीन थे बड़ा-विरोध था क्योंकि इसका भार ग़रीब जनता पर था। जब १६४६ में भारत में अन्तरिम सरकार बनी तो श्री लियाक़तअली खाँ ने १६४७-४८ के बजट में से इस शुल्क को १ अप्रैल १६४७ से बिल्कुल उठा लिया। पर आज इस बारे में बड़ा मतभेद है कि केवल भावना के आधार पर इसतरह भारत की सरकार को यह शुल्क उठा लेना चाहिये था क्या? कई अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि भारत सरकार को ८ करोड़ रुपये की यह आय नहीं छोड़ना चाहिये। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यह कहना कि कर के मामले में भावना से विचार न करके ठोस आर्थिक आधार पर विचार करना चाहिये, सही नहीं है—न तात्कालिक दृष्टि से और न व्यवहार की दृष्टि से। मनुष्य का कोई व्यवहार ऐसा नहीं होता जो भावना के अंश से मुक्त हो। दूसरे, कर के सम्बन्ध में तो भावना का बड़ा महत्व रहता है। यह कहा जाता है कि जो कर पुराना हो जाता है और जिसे देने के लोग अभ्यस्त हो जाते हैं उस कर को लगाने में आपत्ति नहीं क्योंकि वह लोगों को अखरेगा नहीं। यह सिद्धान्त भावना पर आधारित नहीं है तो और किस पर है? और सब अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त का स्वीकार करते हैं। इसलिये यह तो प्रश्न है नहीं कि भावना का लिहाज रखना बुरा है और वह नहीं रखा जाना चाहिये, प्रश्न तो यह है कि सारी स्थिति को देखकर इस सवाल के बारे में भावना की कितनी क़ीमत होना चाहिये, इस बारे में थोड़ा विचार करना चाहिये।

नमक शुल्क के पक्ष में दो दलीलें हैं—(1) एक तो यह कि नमक-शुल्क के हटने से सरकार को ८ करोड़ की आय की हानि हो गई, (11) दूसरी यह कि किसी भी देश की कर-व्यवस्था में आखिर ऐसे कर भी रहते हैं और रहने चाहिये जो ग़रीब से ग़रीब लोगों पर भी पड़ें। नागरिकता के भाव को जाग्रत करने में और शासन में अपना दायित्व अनुभव करने में प्रत्येक व्यक्ति को इससे सहायता मिलती है और प्रत्येक व्यक्ति से जो कर वसूल होता है वह कितना ही कम हो कुल मिलाकर उसकी मात्रा पर्याप्त हो जाती है। जहाँ तक इन दलीलों का अपने आप से सम्बन्ध है ये ठीक हैं। पर जिस आधार और दृष्टिकोण पर ये दलीलें आधारित हैं उस आधार और दृष्टिकोण को पूरा करने वाले और कर भी हो सकते हैं। केवल नमक ही ऐसा पदार्थ नहीं है जो प्रत्येक व्यक्ति काम में लाता है। और भी ऐसी कई चीज़ें हैं। कपड़ा उनमें से एक है। बल्कि नमक से कपड़ा एक प्रकार से ज्यादा उपयुक्त है। नमक पशुओं के लिये भी बड़ा उपयोगी और आवश्यक पदार्थ है। इसका सार यह है कि नमक शुल्क से होने वाली आय का घाटा और तरह से समान कोटि के करों से और एक या अधिक करों से पूरा हो सकता है। इधर नमक शुल्क को दुबारा नहीं

लगाने के पक्ष में एक दूसरी बड़ी दलील है। वह दलील यह है कि नमक-शुल्क का देश के स्वतंत्रता-संग्राम से घनिष्ठ लाक्षणिक और भावात्मक सम्बन्ध रहा है। महात्मा गांधी का नमक सत्याग्रह इस देश की आज़ादी में अपना गौरवमय स्थान रखता है। हमें इस ऐतिहासिक घटना को चिरस्थायी बनाना चाहिये। आने वाली असंख्य पीढ़ियों और अनन्त काल तक यह बात घर-घर में और व्यक्ति-व्यक्ति को याद रहे कि भारत से नमक-कर उस समय हटा था जब भारत ने एक अपूर्व ढंग से महात्मा गांधी के अपूर्व नेतृत्व में स्वाधीनता प्राप्त की थी।

(६) व्यापारिक विभागों से आय : रेल—भारत सरकार को रेल्वे, डाक और तार, तथा टंकन और मुद्रा से भी आय होती है। रेल से होने वाली आय के बारे में यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। यातायात वाले परिच्छेद में इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है। यहाँ तो इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि रेल अपना पूरा का पूरा लाभ भारत सरकार को न देकर एक समझौते के अनुसार निश्चित रक़म भारत सरकार को देती हैं। १६२४ में यह समझौता सबसे पहली बार हुआ। समय समय पर उसमें संशोधन हुये। इस समय १६४० में जो संशोधन हुआ उसके आधार पर रेल भारत सरकार को निश्चित रक़म में अंशदान देती हैं। इस समझौते के अनुसार पाँच साल तक रुपये पूंजी जो रेलों में लगी हुई है उस पर ४% रेल भारत सरकार को देती रहेंगी। युद्ध के समय में भारत सरकार को रेलों से बहुत आय हुई। जहाँ १६३६-४० में यह आय ४ करोड़ रुपये की थी वहाँ १६४२ में १२ करोड़ रुपये से ऊपर और १६४५-४६ में ३२ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। उसके बाद इस आय में बहुत कमी आगई और अब ६-७ करोड़ रुपये के आसपास यह है।

डाक और तार—इस विभाग से भी लड़ाई के दिनों में आय बढ़ी। १६३६-४० में १ करोड़ रु० के लगभग इसकी आय थी वह १६४२-४३ में ४ करोड़ रु० से ऊपर और १६४५-४६ में ११ करोड़ से ऊपर पहुँच गई। इस समय यह आय २-३ करोड़ रुपये के आसपास होती है।

टंकन और मुद्रा—इस मद में आय के दो साधन हैं—एक तो भारत सरकार रुपये और रेज़गी का टंकन करती है उससे, और दूसरे रिज़र्व बैंक से। जब से रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ है तब से उससे होने वाली आय भी बढ़ गई है। द्वितीय युद्ध काल में इस मद की आय भी बढ़ गई थी। अब फिर कम होगई है। टंकन और रिज़र्व बैंक से मिलाकर १०-१२ करोड़ रुपये की आय इस समय है। इस में परिवर्तन होता रहता है।

(१०) आय के अन्य साधन भारत सरकार की आय के महत्वपूर्ण मदों का ऊपर उल्लेख किया गया है। पर इनके अलावा उसकी आय के कुछ अन्य मद भी हैं—जैसे अफीम ब्याज, 'सिविल एडमिनिस्ट्रेशन', 'सिविल वर्क्स', आदि। यहां अफीम से होने वाली आय के बारे में दो शब्द लिखना अनुचित न होगा। अफीम के उत्पादन और वितरण दोनों ही पर भारत सरकार का एकाधिकार है। सरकार से लाइसेंस मिलने पर ही अफीम की खेती की जा सकती है जो पैदा करने के बाद सरकार को ही बेचना होता है। सरकारी कारखानों में वह तैयार की जाती है। अफीम को बेचने, अफीम पर निर्यात शुल्क और अफीम बेचने वालों को बेचने के अधिकार प्राप्त करने के लिये जो फीस देनी होती है, इससे जो आय होती है वह सरकार को मिलती है। पर अफीम की आय का प्रधान भाग निर्यात शुल्क से ही आता है। जो अफीम बेचने वालों द्वारा दी गई फीस से आय होती है वह उत्पादन शुल्क की श्रेणी में और शेष आय अफीम शीर्षक से ही बजट में दिखाई जाती है। भारत से चीन को पहले बहुत अफीम जाती थी। पर १९०७ में भारत सरकार और चीन की सरकार में यह समझौता हुआ कि धीरे-धीरे भारत चीन को अफीम भेजना कम कर देगा और दस वर्ष में बिल्कुल बंद कर देगा। बाद में राष्ट्र संघ ने भी इस प्रश्न को हाथ में लिया और १९२६ में राष्ट्र संघ के कहने के अनुसार भारत सरकार ने यह घोषणा की ३१ दिसंबर १९३५ तक अफीम का निर्यात औषधि और वैज्ञानिक उपयोग के अलावा अन्य प्रकार के उपयोग के लिये बन्द कर दिया जायगा। इस घोषणा के अनुसार अब अफीम का निर्यात बहुत कम होगया है। इस समय अफीम से २ करोड़-३ करोड़ रुपये के बीच में आय होती है। ब्याज से २ करोड़ से कुछ कम, सिविल एडमिनिस्ट्रेशन से ८ करोड़ के आसपास और सिविल वर्क्स से १½ करोड़ के आसपास आय होती है।

भारत सरकार का व्यय किसी देश की वित्त व्यवस्था में सार्वजनिक व्यय का बहुत महत्व होता है। किसी हद तक वित्त व्यवस्था का स्वरूप ही इससे निश्चित होता है कि सार्वजनिक व्यय किस प्रकार होता है। भारत सरकार के व्यय को तीन बड़े भागों में बांटा जा सकता है—रक्षा व्यय, राजस्व एकत्रित करने सम्बन्धी व्यय और नागरिक व्यय।

(१) रक्षा व्यय भारत सरकार के कुल व्यय का एक बड़ा भाग रक्षा पर खर्च होता है। पराधीनता के समय हमारे देश में रक्षा पर जो बड़ा चढ़ा व्यय होता था उसका एक कारण तो यह था कि भारत ब्रिटेन के पूर्वी साम्राज्य की रक्षा का केन्द्र माना जाता था, सेना में विदेशी अधिकारियों की संख्या बहुत

थी और उनके वेतन तथा दूसरी आवश्यकताओं पर बहुत व्यय होता था। द्वितीय महायुद्ध के समय तो यह व्यय बहुत ही बढ़ गया। उसके बाद इस खर्च में कमी आई। जब भारत स्वतंत्र हुआ तो लोगों के मन में स्वाभाविक रूप से यह आशा हुई कि रक्षा व्यय अब कम होगा। पर हुआ इसके विपरीत। स्वतंत्रता के बाद से रक्षा व्यय बराबर बढ़ता ही गया है। पुरानी रियासतों का रक्षा व्यय भी अब भारत सरकार के पास आ गया है। काश्मीर के झगड़े के कारण व्यय बहुत हो रहा है। सैनिक शिक्षा पर हमें व्यय बढ़ाना पड़ा है क्योंकि हमारे नवयुवकों को सैनिक शिक्षा देने की व्यवस्था हमारे देश में होना आवश्यक है। संसार में संघर्ष की स्थिति का बना रहना भी एक कारण है। निकट भविष्य में देश का रक्षा व्यय कम हो इसकी आशा नहीं की जा सकती। इस समय रक्षा पर कुल व्यय का लगभग आधा खर्च होता है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व रक्षा व्यय ५० करोड़ के आसपास था। युद्ध में ४५० करोड़ से ऊपर यह व्यय पहुँच गया। उसके बाद उस में कमी आने लगी और १९४७-४८ में १५ अगस्त, १९४७ से ३१ मार्च, १९४८ तक का ८७ करोड़ रुपये के लगभग खर्च था। १९५१-५२ के प्रस्तुत बजट में १८० करोड़ से ऊपर इस खर्च का अनुमान लगाया गया है।

(२) राजस्व संग्रह पर होने वाला व्यय—भारत सरकार को करों को वसूल करने के लिये व्यवस्था रखनी होती है। आयकर, निगमकर, उत्पादन-शुल्क, सीमा-शुल्क आदि भारत सरकार ही वसूल करती है। आयकर, निगम-कर के लिये आयकर विभाग है। इसी प्रकार सीमा-शुल्क, उत्पादन-शुल्क आदि के लिये भी अलग-अलग व्यवस्था है। इस सारी व्यवस्था पर जो व्यय होता है उसे संघीय राजस्व पर प्रत्यक्ष मांग का नाम दिया जाता है और उसकी रक्षा व्यय या नागरिक शासन से अलग स्वीकृति लेनी होती है। इस व्यय में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। १९४४-४५ में यह व्यय ८ करोड़ के आसपास था। १९५१-५२ के प्रस्तुत बजट में इस व्यय का १४½ करोड़ का अनुमान लगाया गया है और १९५०-५१ के संशोधित अनुमान १३ करोड़ से ऊपर हैं। इस व्यय में कमी करने की आवश्यकता है।

(३) नागरिक व्यय—इस श्रेणी में मूलतः दो प्रकार के खर्च आते हैं। एक तो वह व्यय जिसका संबंध सामान्य शासन संचालन से है—इसमें सामान्य शासन, विदेशों से संबंध, न्याय, पुलिस, जेल, प्रचार, प्रकाशन, विस्थापितों पर होने वाला व्यय, राज्यों को सहायता और खाद्यान्न पर दी जाने वाली सहायता का खर्च, आदि आते हैं। दूसरा वह व्यय है जिसका संबंध शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, वैज्ञानिक खोज आदि ऐसे विभागों से है जो जनता के हित

और मलाह से सचेत रखते । भारत सरकार का यह खर्च भी बराबर बढ़ता गया है। पर इसमें शिक्षा, चिकित्सा और स्वास्थ्य पर जो आज भी जितना व्यय होता है वह बहुत कम है। इसके विपरीत जो सामान्य शासन संचालन का खर्च है उसमें कमी करने की जरूरत है। १६५१-५२ के प्रस्तुत बजट में ५-५२ करोड़ रुपये की किफायत भारत सरकार द्वारा की गई है। इस विषय में विचार करने के लिए सितंबर १६४७ में भारत सरकार ने एक 'इकोनोमी कमेटी' भी नियुक्त की थी। इस कमेटी ने भी खर्च में कमी करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। इस संबंध में भारत के वित्त मंत्री ने १६५१-५२ के प्रस्तावित बजट पर बोलते हुए कहा था कि नागरिक व्यय में जिसमें कर संग्रह का व्यय भी शामिल कर लिया गया है कमी की गुंजाइश सीमित है। लगभग २०० करोड़ रुपये के कुल नागरिक व्यय में से १०८ करोड़ रु० का व्यय तो ऐसा बताया गया जो अनिवार्य रूप से करना ही होगा जैसे ब्याज, ऋण का चुकारा, पेंशन, राज्यों को निश्चित सहायता, विभाजन-पूर्व संबंधी देना, अधिक अन्न उपजाओ तथा खाद्यान्न सहायता पर व्यय, और विस्थापितों पर होने वाला खर्च। वित्त मंत्री ने कहा कि इसका अर्थ यह है कि कुल व्यय में केवल ६२ करोड़ रुपये का खर्च ऐसा है जिसमें किफायत करने का प्रयत्न हो सकता है। वित्त मंत्री ने यह भी कहा कि इसमें भी राष्ट्र निर्माण के विभागों, कर संग्रह आदि का ऐसा व्यय है जो बहुत कम नहीं हो सकता। वित्त मंत्री के कहने का सार यह था कि किफायत की बहुत आशा करना व्यर्थ है। वित्त मंत्री का यह दृष्टिकोण सही नहीं है। फरवरी १६५१ में 'एस्टीमेट्स कमेटी' ने अपनी रिपोर्ट में कई प्रकार के अपव्यय और समीकरण के अभाव का उल्लेख किया है। सरकारी कर्मचारियों की संख्या पहले से अब कई गुनी हो गई है। सारांश यह है कि भारत सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, वैज्ञानिक विभागों जैसे राष्ट्र निर्माणकारी कामों पर अधिक खर्च करने की ओर शासन संचालन के दूसरे खर्चे कम करने की बड़ी जरूरत है। यह ठीक है कि पिछले वर्षों में शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा और वैज्ञानिक विभागों पर भी व्यय बढ़ा है पर उसमें आवश्यकता को देखते हुए वृद्धि की बहुत गुंजाइश है। १६४६-४७ में १½ करोड़ रुपये की तुलना में १६५०-५१ में ५ करोड़ के ऊपर वैज्ञानिक विभागों का, १६४६-४७ में ८५ लाख की तुलना में ३ करोड़ के लगभग १६५०-५१ में शिक्षा का, १६४६-४७ में ५० लाख की तुलना में ७६ लाख तक १६५०-५१ में स्वास्थ्य का और १६४६-४७ में ५४ लाख की तुलना में १ करोड़ ३७ लाख तक १६५०-५१ में चिकित्सा का खर्च का बजट में अनुमान लगाया गया है।

(४) पूंजीगत व्यय—भारत सरकार इस सामान्य व्यय के अतिरिक्त पूंजीगत व्यय भी करती है जिसका उल्लेख ऊपर पूंजीगत बजट के संबन्ध में किया जा चुका है।

भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण : भारत सरकार की आय और व्यय का विचार कर लेने के बाद सार्वजनिक ऋण का विचार कर लेना आवश्यक है।

प्रत्येक राज्य को समय-समय पर अपना खर्च चलाने के लिये ऋण लेना होता है। यह खर्च प्रायः विशेष प्रकार का होता है—जैसे, युद्ध से सम्बन्धी या किसी निर्माण कार्य से सम्बन्धी। पर कभी-कभी चालू खर्च को चलाने के लिये भी ऋण लेना होता है। जो विशेष खर्च के लिये ऋण लिये जाते हैं वे अल्प-कालीन ऋण होते हैं। जो ऋण एक वर्ष बाद चुकाने होते हैं या जिनको चुकाने का समय निश्चित नहीं होता है उन्हें 'फन्डेड डेट' कहते हैं। जो ऋण साल भर के अन्दर-अन्दर चुका दिये जाते हैं उन्हें 'अनफन्डेड डेट' कहते हैं। ट्रेजरी बौन्ड द्वारा लिया हुआ ऋण दूसरे प्रकार का ही होता है। सार्वजनिक ऋण अन्तर्देशीय और विदेशीय दोनों ही प्रकार के होते हैं। जो देश के अन्दर जारी किये जाते हैं वे अन्तर्देशीय और जो विदेशों में जारी किये जाते हैं वे विदेशीय होते हैं।

भारत सरकार के ऋण के संबंध में विचार करने से हमें मालूम पड़ता है कि उसमें भी उपरोक्त भेद मौजूद है। रुपया ऋण भी है और स्टरलिंग ऋण भी है जो भारत सरकार को चुकाना है। पर गत महायुद्ध के समय में स्टरलिंग ऋण प्रायः समाप्त सा हो गया। १९३९ की ३१ मार्च को भारत सरकार पर रुपया ऋण ७०६.६६ रोकड़ रुपये का, और स्टरलिंग ऋण४६६.१० रोकड़ रुपये का और इस प्रकार कुल ११७६.०६ करोड़ रुपये का कुल ऋण था। द्वितीय महायुद्ध के समय रुपया ऋण तो बढ़ता गया और स्टरलिंग ऋण कम होता गया। ३१ मार्च, १९४५ को रुपया ऋण की मात्रा १५७१.४२ रोकड़ रुपये पर पहुँच गई। इसके विपरीत स्टरलिंग ऋण की मात्रा घट कर ३८.१३ करोड़ रुपये पर आ गई। [इस स्टरलिंग ऋण में रेलवे एन्यूटीज़ शामिल नहीं है।] युद्ध के बाद भी यही प्रवृत्ति जारी रही है। ३१ मार्च, १९४६ को कुल रुपया ऋण की मात्रा २३७७.८२ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी और स्टर-लिंग ऋण की मात्रा २९.९८ करोड़ रुपये तक आ गई। हाल में १९५१-५२ के बजट को लेकर जो तुलनात्मक आंकड़े प्रकाशित हुये हैं [कॉमर्सः ३, मार्च १९५१ पृष्ठ ४१२] उनके अनुसार ३१ मार्च १९३९ को रुपया ऋण ४८४.८२ करोड़ रुपये का स्टरलिंग ऋण ४६४.६५ करोड़ रुपये का और कुल ऋण

६४६.४७ करोड़ रुपये का था। इसकी तुलना में ३१ मार्च, १९५१ को रुपया ऋण २०३१.०१ करोड़ रुपये का, स्टरलिंग ऋण ३३ करोड़ रुपये का और डालर ऋण २४.६० करोड़ रुपये का, और कुल ऋण २०८८.६१ करोड़ रुपये का आंका गया है और ३१ मार्च १९५२ को रुपया ऋण २०४३.६० करोड़ रुपये का, स्टरलिंग ऋण ३०.५४ करोड़ रुपये का और डालर ऋण २८.५६ करोड़ रुपये का और कुल ऋण २१०२.७३ करोड़ रुपये का आंका गया है। इसके अलावा भारत सरकार को पोस्ट आफिस सेविंग्ज़, कैश सर्टिफिकेट्स, प्रोविडेन्ट फंड, डिप्रीसियेशन और रिज़र्व फंड और कुछ दूसरे डिपोज़िट्स भी चुकाने हैं। ऐसा अनुमान है कि ३१ मार्च १९५१ को ये सारी रकम ६८८ करोड़ रुपये के लगभग और ३१ मार्च १९५२ को ७०० करोड़ रुपये के लगभग [पाकिस्तान का हिस्सा निकाल कर] होगी।

रुपया ऋण और स्टरलिंग ऋण के बारे में एक बात ध्यान में रखने की यह भी है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि सारा रुपया ऋण भारतीयों के पास हो और सारा स्टरलिंग या डालर ऋण विदेशियों के पास हो, हालांकि प्राय ऐसा ही होता है।

भारत सरकार के ऋण के सम्बन्ध में दूसरी जानने योग्य बात यह है कि इसमें अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रकार के ऋण शामिल हैं। अल्पकालीन ऋण का प्रमुख साधन ट्रेज़री बिल्स है। ये बिल सबसे पहले १९१७ में जारी किये गये थे और इनकी अवधि २ से १२ महीने तक की होती है, पर ३ महीने के ट्रेज़री बिल बहुत प्रचलित हैं। रिज़र्व बैंक से ली जाने वाली हवा लगी भी इसी श्रेणी में आती है। अल्पकालीन ऋण का तीसरा मुख्य साधन 'ट्रेज़री डिपोज़िट रिसीट' का है। ये १५ अक्टूबर १९४८ को सबसे पहले जारी की गई थीं। इनका उद्देश्य संस्थाओं के लिये अल्पकालीन विनियोग का साधन प्रदान करना है और इसलिये यह २५००० रुपये से कम रकम की नहीं होतीं। इनकी अवधि छः, नौ, बारह महीना होती है और यह हस्तान्तरित नहीं की जा सकती। द्वितीय महायुद्ध के समय भारत सरकार के अल्पकालीन ऋण की मात्रा बढ़ गई थी। ३१ मार्च, १९३९ को अल्पकालीन ऋण की मात्रा ४६ ६० करोड़ रुपया थी जो कुल ऋण का ६.५ प्रतिशत होता था। ३१ मार्च, १९४३ को इसकी मात्रा २६४.७० करोड़ रुपये तक पहुँच गई जो कुल ऋण का २१.८ प्रतिशत था। १९४८ से फिर इस ऋण की मात्रा बढ़ने लगी है। ३१ मार्च, १९४९ को इसकी मात्रा ३५४.३६ करोड़ रुपये की थी। ३१ मार्च १९५१ को ३७३.२० करोड़ रुपये तक इसके पहुँचने का अनुमान है

और यही अनुमान ३१ मार्च १९५२ के बारे में है।

भारत सरकार के ऋण के वर्गीकरण का एक अन्य आधार उत्पादक और अनुत्पादक ऋण का है। बहुत सा ऋण रेल, डाक-तार और सिंचाई जैसे उत्पादक कामों के लिये लिया गया है। भारत सरकार ने १८६० से उत्पादक कामों के लिये ऋण लेना आरम्भ किया और उत्पादक ऋण की मात्रा तब से बराबर बढ़ती गई। १८९९ से १९१३ के बीच में उत्पादक ऋण १०९.९ करोड़ रुपये से बढ़कर ३९१.९ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इसी समय में अनुत्पादक ऋण १००.८ करोड़ रुपये से घटते घटते १९.१ करोड़ पर आ गया। १९१५ में इसकी मात्रा केवल ३ करोड़ रुपया रह गई। पर प्रथम महायुद्ध आरंभ हो जाने से अनुत्पादक ऋण में फिर वृद्धि होने लगी। १९२४ में अनुत्पादक ऋण २०४.९५ करोड़ रुपये तक पहुँच गया और उत्पादक ऋण ५७८.३९ करोड़ रुपये का था। व्यापारिक मंदी के कारण, जो १९२९ में आरम्भ हुई, अनुत्पादक ऋण की मात्रा और बढ़ी क्योंकि बजट के घाटों की इसी प्रकार पूर्ति की जा सकती थी। १९३८–३९ में अनुत्पादक ऋण की मात्रा २०९ करोड़ तक पहुंच गई। द्वितीय महायुद्ध के समय अनुत्पादक ऋण की मात्रा में फिर वृद्धि हुई। अनुत्पादक ऋण की वर्तमान स्थिति के बारे में यह अनुमान है कि १९५१ के मार्च ३१ को ५७६ करोड़ रुपया था। पर इस सारे ऋण को अनुत्पादक मानना ठीक नहीं होगा क्योंकि इसमें राज्यों को विकास के लिये दिया हुआ ऋण और केन्द्रीय सरकार की संपत्ति पर किया गया व्यय [दिल्ली राजधानी के निर्माण में किया गया खर्च] भी शामिल है।

भारत सरकार के सार्वजनिक ऋण के बारे में अन्तिम बात ध्यान में रखने की यह है कि इस ऋण का आरंभ ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों को पूरा करने के लिये ही हुआ था। जब देश में ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्य था उसी समय हमारे सार्वजनिक ऋण का आरम्भ हो गया था। ये ऋण प्रायः उन लड़ाइयों के लिये लिया गया था जो कम्पनी ने भारतीय राजाओं, नवाबों और दूसरी विदेशी शक्तियों से भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये लड़ी थीं। जब १८३४ में कम्पनी के स्वतंत्र नियंत्रण से ब्रिटिश पार्लियामेंट के नियंत्रण में भारत का शासन आ गया तो कम्पनी का सारा ऋण भारत का ऋण मान लिया गया। इस प्रकार कम्पनी का ३·४ करोड़ पौंड का ऋण भारत के सिर पर लाद दिया गया। इसके बाद भी कई लड़ाइयाँ हुईं, १८५७ का विद्रोह दबाया गया और इस सबके लिये ऋण लिया गया वह भारत के सिर पर पड़ा। जब कम्पनी से ब्रिटिश सरकार के हाथ में भारत का शासन आया तो सारा ऋण भी भारत पर

बना रहा। १८५७ के विद्रोह के बाद १८६० में भारत पर ६·३ करोड़ पौंड का ऋण था। यह सब अनुत्पादक ऋण था। भारत को पराधीन बनाने में इसका उपयोग किया गया था और भारत को ही इसका देनदार बनाया गया था। भारत के सार्वजनिक ऋण की इस प्रारम्भिक स्थिति को भारत के सार्वजनिक ऋण पर विचार करते समय हम भूल नहीं सकते।

ऋण का चुकारा ऋण से सम्बन्ध रखने वाली एक समस्या उसे चुकाने की है। १९२४ तक इस सम्बन्ध में भारत सरकार के पास कोई निश्चित योजना नहीं थी। बजट की बचत जब होती थी तो वह ऋण चुकाने के काम में ली जाती थी। इसके अलावा रेलवे एन्यूटीज़ और सिंकिंग फंड द्वारा भी ऋण चुकाने का प्रयत्न किया गया। फैमीन इन्श्योरेंस फन्ड का भी इसके लिये उपयोग किया गया। पर १९२४ में तत्कालीन वित्त सदस्य सर बेसिल ब्लेकट ने एक योजना सिंकिंग फन्ड कायम करने की जारी की। १९३३-३४ में जब व्यापारिक मंदी के कारण भारत सरकार की स्थिति डावाडोल हो गई तो सिंकिंग फन्ड में १९२४ की योजना के अन्तर्गत रुपया जमा करना सम्भव नहीं मालूम पड़ा। इसलिये योजना स्थगित करदी गई। यद्यपि सिंकिंग फन्ड में कोई रुपया नहीं जमा किया गया पर ऋण के चुकारे के लिये ३ करोड़ रुपया बजट में रखा गया। अभी तक भी यही प्रणाली चल रही है। केवल इतना अन्तर अवश्य हुआ है कि द्वितीय महायुद्ध के कारण ऋण बढ़ जाने से ३ करोड़ रुपये की जगह १९४६-४७ से ५ करोड़ रुपये ऋण चुकाने के लिए बजट में रखे जाने लगे हैं।

स्टर्लिंग ऋण का 'रिपेट्रियेशन' यह हम लिख चुके हैं कि द्वितीय महायुद्ध के पहले तक भारत के ऋण में स्टर्लिंग ऋण का काफी बड़ा अंश था। १९३७ में ही भारत सरकार ने स्टर्लिंग ऋण को 'रिपेट्रियेट' [चुकारा] करना आरम्भ कर दिया था। 'रिपेट्रियेट' करने का अर्थ है स्टर्लिंग ऋण को चुका देना। पर एक बार तो स्टर्लिंग की कमी के कारण यह कार्य रोक दिया गया। जब द्वितीय महायुद्ध के समय स्टर्लिंग जमा होने लगे तो स्टर्लिंग चुकाने का कार्यक्रम भारत सरकार ने फिर आरम्भ कर दिया। स्टर्लिंग को चुकाने के लिये कई योजनाएँ बनाई गई जैसे खुले बाजार में स्टर्लिंग ऋण खरीदने की योजना, लाइसेंस योजना, अनिवार्य प्राप्ति योजना, स्वेच्छा से स्टर्लिंग ऋण को रुपया ऋण में बदलने की योजना, रेल्वे 'एन्यूटीज़' को दीर्घकालीन ऋण में बदलने और रेल्वे डिबेंचर स्टाक को चुकाने की योजना। इन विभिन्न योजनाओं के विस्तार में गये बिना इतना जान लेना काफी होगा कि १९३६-३७ के अन्त में कुल ३५६ ०५ मिलियन पौंड भारत सरकार को स्टर्लिंग में देना था। इस

३५६·०५ मिलियन पौंड के स्टरलिंग देने में २६१·५३ मिलियन पौंड के ऋण, ३६·८६ मिलियन पौंड की रेल्वे एन्यूटीज़ और २४·६६ मिलियन पौंड के रेल्वे डिबेंचर थे। १६३७-३८ से १६४४-४५ तक कुल ३२२·८४ मिलियन पौंड के स्टरलिंग ऋण का चुकारा किया गया जो रुपयों में ४३०·४६ करोड़ का होता है। पर इस रकम में १ अक्टूबर १६४२ तक रेल्वे एन्यूटीज़ के रूप में जो चुकारा किया गया था वह और रेल्वे डिबेंचर्स जो ईस्ट इण्डिया लोन्स एक्ट १६३७ के मातहत खारिज कर दिये गये थे वह भी शामिल हैं। ४३०·४६ करोड़ रुपये के बराबर के स्टरलिंग के इस चुकारे में ११६·८७ करोड़ के टर्मिनेबल स्टाक और २३१·३४ करोड़ के नॉन-टर्मिनेबुल स्टाक थे, ३६·०८ की रेल्वे एन्यूटीज और ४३·१७ करोड़ के रेल्वे डिबेंचर थे। १६३६-३७ के २६१·५३ मिलियन पौंड के स्टरलिंग ऋण के मुकाबिले में इस चुकारे के फलस्वरूप १६४४-४५ के अन्त में १० मिलियन पौंड का स्टरलिंग ऋण रह गया। इसमें १५·४७ मिलियन पौंड का 'वार लोन' शामिल नहीं था क्योंकि १६३१ से ही वह स्थगित है। स्टरलिंग देनदारी के चुकारे के बारे में दूसरी याद रखने की बात यह है कि यह नहीं समझना चाहिये कि जितनी स्टरलिंग देनदारी चुकादी गई उतनी कुल देनदारी भारत सरकार की कम हो गई। वास्तव में ऐसा नहीं हुआ क्योंकि एक ओर भारत सरकार ने अपने पर की स्टरलिंग की देनदारी चुकाई तो दूसरी ओर किसी हद तक उसने उसके एवज में रुपया प्रतिभूति [रूपी काउन्टरपार्ट] जारी भी की। इसलिये वास्तव में १६१·६७ करोड़ रुपये की स्टरलिंग देनदारी इस समय में कम हुई थी और २४२·०१ करोड़ रुपये का रुपया ऋण बढ़ गया था। इस २४२·०१ करोड़ रुपये के रुपये ऋण में ३·५२ करोड़ रुपये का रुपया ऋण ऐसे स्टरलिंग ऋण के कारण बढ़ा था जो ४३०·४६ करोड़ रुपये के उपरोक्त स्टरलिंग ऋण में शामिल नहीं था। इसलिये उपरोक्त स्टरलिंग ऋण में से केवल २३८·४६ [२४२·०१—३·५२] करोड़ रुपये का रुपया ऋण नया जारी किया गया और १६१·६७ करोड़ रुपये का स्टरलिंग ऋण चुकाया गया, और इस प्रकार कुल २३८·४६ + १६१·६७=४३०·४६ करोड़ रुपये की स्टरलिंग देनदारी अदा की गई। इस सबका सार यह है कि स्टरलिंग देनेदारी चुकाने के लिये सरकार को जो स्टरलिंग चाहिये था वह तो जो स्टरलिंग युद्ध के समय जमा हो रहा था उसमें से सरकार को रिज़र्व बैंक ने दे दिया पर उसके एवज में सरकार ने या तो रुपया ऋण जारी करके चुकारा किया या फिर बाकी का चुकारा अपनी रोकड़ में से या अस्थायी ट्रेज़री बिल जारी करके किया। इस प्रकार १६४४-४५ तक भारत सरकार ने अपनी स्टरलिंग देनदारी का चुकारा प्रायः समाप्त कर दिया

था। इसके बाद स्टरलिंग रिपैट्रियेशन केवल उन स्टाकों का जारी रहा है जो पहले चुकाने के लिये नहीं पेश किये गये थे। १९४९-५० तक ३२८.७६ मिलियन पाँड स्टरलिंग ऋण का ४२३.१२ करोड़ रुपये की लागत पर चुकारा हो चुका था।

देश का विभाजन और सार्वजनिक ऋण १५ अगस्त १९४७ को देश का विभाजन हुआ। विभाजन के कारण देश के 'एसट्स' और 'लाइबिलिटीज' का विभाजन भी किया गया। दिसम्बर १९४७ में भारत और पाकिस्तान में एक समझौता हुआ। इस १९४७ के भारत पाकिस्तान वित्त समझौते में सार्वजनिक ऋण के बारे में हुये समझौते का समावेश भी था। इस समझौते के अनुसार सार्वजनिक ऋण में पाकिस्तान का हिस्सा पाकिस्तान में जो एसट्स हैं या जो पाकिस्तान सरकार ने ले लिये हैं उनके मूल्य में अविभाजित भारत की लाइबिलिटीज में से एसट्स कम करने पर जो ऋण बच जाता है उसका १७½% जोड़ देने पर और इस जोड़ में से पाकिस्तान सरकार ने जो लाइबिलिटीज लेनी हैं उनको कम करने पर जो बच जाता है उसके बराबर तय किया गया है। ऐसा अनुमान किया गया है कि इस आधार पर पाकिस्तान को ३०० करोड़ रुपया भारत को ऋण के रूप में देना होगा। पाकिस्तान सरकार १५ अगस्त १९५२ से आरम्भ करके बराबर की ५० वार्षिक किश्तों में मूल ऋण और उस पर ३% ब्याज दोनों ही रकमों का एक साथ चुकारा करेगा।

मुद्रा बाजार में ऋण मिलने में कठिनाई पिछले कुछ वर्षों से भारत के मुद्रा बाजार में एक प्रवृत्ति यह देखने में आई है कि सरकार को अपनी आवश्यकता के अनुसार ऋण प्राप्त करने में सफलता नहीं मिल रही है। १९४७-४८ से स्थिति विशेष तौर से बिगड़ने लगी। इस वर्ष केवल ४०.६५ करोड़ रुपये के नये ऋण सरकार बाजार से उधार ले सकी। १९४८-४९ में जहां १५० करोड़ रुपये के ऋण लेने का विचार था वहां केवल ५५.०४ करोड़ रुपये के ऋण मिल सके। इसी प्रकार १९४९-५० में भी ८५ करोड़ रुपये के ऋण के अनुमान के खिलाफ केवल ७०.४५ करोड़ के ऋण ही सरकार प्राप्त कर सकी। १९५०-५१ के बजट में बाजार से ७५ करोड़ रुपये के ऋण लेने का अनुमान था उसके मुकाबले में भी सरकार ३० करोड़ रुपया ही उधार ले सकी। १९५१-५२ के बजट में बाजार से १०० करोड़ रुपये का ऋण लेने का अनुमान है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पिछले वर्षों में मुद्रा बाजार में बहुत तंगी रही है। इसका एक कारण तो सरकार की सस्ती रुपया नीति बताया जाता है। यदि सरकार ब्याज की दर ३% से बढ़ादे तो स्थिति में सुधार आ सकता है। डान

में कुछ राज्यों ने बाज़ार से ऋण ३½% व्याज की दर पर लिये हैं। दूसरा कारण बढ़ती हुई मंहगाई का है जिससे मध्यम श्रेणी की बचत की क्षमता बहुत गिरती जा रही है। तीसरा कारण यह है कि गत युद्ध से शहर से गांव वालों के हाथ में रुपया गया है और गांव वालों के हाथ का रुपया विनियोग के काम में नहीं आता। पर इन कारणों के अलावा एक बड़ा कारण व्यवसायी वर्ग की छिपी हुई सरकार के प्रति असहयोग की यह नीति है जो वह बराबर सरकार को दबाने के लिये बरत रहा है। देश का पूंजीपति वर्ग इस प्रकार सरकार पर यह छाप डालना चाहता है कि अगर सरकार राष्ट्रीयकरण की बात करती है तो उसका असर पूंजी के निर्माण पर प्रतिकूल होगा। इस सारी स्थिति को ठीक करने का वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत तो यही उपाय हो सकता है कि एक ओर तो सरकार व्याज की दर कुछ बढ़ाये और दूसरी ओर वह व्यवसायी वर्ग को संतुष्ट करने का भी प्रयत्न करे। पर इस से देश की आधारभूत आर्थिक समस्या का हल नहीं होगा। यहां एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सरकार बाज़ार से ऋण लेने के अलावा छोटे पैमाने की बचत से भी कुछ रुपया इकट्ठा करती है। इस श्रेणी में डाकखाने के बचत सर्टिफिकेट, सेविंग्ज़ बैंक डिपोज़िट, नेशनल और रक्षा सेविंग्ज़ सार्टिफिकेट आदि आते हैं। १९५१-५२ के बजट भाषण में वित्त मंत्री ने कहा कि इस दिशा में स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है।

राजकीय वित्त

भारत सरकार की वित्त व्यवस्था के विषय में विचार करने के बाद अब हमें राज्यों की वित्त व्यवस्था के बारे में विचार करना होगा। सबसे पहले राज्यों की आय के बारे में हम अध्ययन करेंगे।

राज्यों की आय : राज्यों की आय के मुख्य मुख्य भेद इस प्रकार हैं:—

(१) भूमि राजस्व [लैन्ड रेवेन्यू]—भूमि राजस्व या लगान एक अत्यन्त प्राचीन कर है। कुछ वर्षों पहले तक राज्यों की आय का एक बड़ा आधार भूमि से मिलने वाला लगान था। पर इधर पिछले वर्षों में लगान का महत्व कम हो गया है और जमींदारी प्रथा की समाप्ति के कारण इसका महत्व भविष्य में और भी कम होने की संभावना है।

भूमि लगान पद्धति में कई दोष हैं जिनको सुधारने की आवश्यकता है। लगान वसूल करने का देश में एकसा आधार नहीं है और जिस दर से लगान वसूल किया जाता है उसमें भी कोई समानता नहीं है। जमींदारी प्रथा का तो शीघ्र अन्त होने जा रहा है। पर केवल इसी से काम नहीं चल सकता। देश में ऐसी भूमि

व्यवस्था कायम होनी चाहिये जिसके अन्तर्गत वास्तव में खेती करने वाला किसान भूमि का मालिक हो और लगान वसूल करने का आधार भूमि का उपजाऊपन हो। जो जमीन अधिक उपजाऊ हो उसे अधिक लगान देना पड़े।

लगान से 'ए' श्रेणी के राज्यों की कुल आय २० करोड़ रुपये के आस पास इस समय है। १९३८-३९ में २५ करोड़ रुपये के आसपास यह आय थी। इसका अर्थ यह है कि आय का यह ज़रिया प्रायः स्थिर सा है। खेती में नई भूमि का उपयोग होने पर और उत्पादन की मात्रा बढ़ने पर लगान से होने वाली आय में कुछ वृद्धि हो सकती है। १९५०-५१ के बजट के अनुसार 'बी' राज्यों को लगान से कुल आय १६'५५ करोड़ रुपया आँकी गई थी।

(२) आबकारी शुल्क—राज्यों को थोड़े वर्षों पहले तक लगान के साथ साथ दूसरा महत्वपूर्ण आय का ज़रिया आबकारी का महकमा रहा है। १९१९ के पहले तो केन्द्र के पास ही यह आय का ज़रिया भी था पर १९१९ के सुधारों के बाद यह प्रान्त के पास आ गया और आज तक उनके पास चला आता है। देशी शराब, ताड़ी, भाग, गांजा और चरस पैदा करने वालों से शुल्क और बेचने वालों से लाइसेंस फीस वसूल की जाती है। १९१९ से १९३७ तक प्रान्तों की नीति शराब की बिक्री को कम करने की थी। शराब की दुकानों की संख्या कम करके, उनके खुलने का समय कम करके और शराब पर शुल्क बढ़ाकर बिक्री कम करने का प्रयत्न किया जाता था। १९३७ से जब से कांग्रेसी सरकारें सत्ता में आईं तो मद्य निषेध के कार्यक्रम की ओर भी कुछ प्रान्तों का ध्यान गया। सबसे पहले १९३७ में ही मद्रास ने इस दिशा में कदम बढ़ाया। १९३८ में बम्बई में भी शुरूआत हुई। उत्तर प्रदेश में भी कुछ किया गया। इस समय मद्रास और बम्बई में पूर्ण मद्य निषेध है। अन्य राज्य भी इस ओर जाने को प्रयत्नशील हैं।

मद्य निषेध होना चाहिये या नहीं यह प्रश्न बड़े वाद विवाद का बना हुआ है। भारत सरकार मद्य निषेध के विपक्ष में है। सबसे बड़ी दलील यह है कि आज जब राज्यों के सामने आर्थिक संकट है, मद्य निषेध करके करोड़ों रुपयों की आय खोना उचित नहीं है। पर यह दलील एकांगी है। मद्यपान का प्रचार होना बुरा है। जनता को इससे भलाई नहीं होती। इसलिये आय की हानि का ध्यान किये बिना मद्य निषेध के कार्यक्रम को अपनाना चाहिये।

१९३८-३९ में इस मद से १३ करोड़ रुपये के लगभग आय थी। यह आय आज के ९ 'ए' श्रेणी के राज्यों को थी। १९४५-४६ में ५१ करोड़ रु० के लगभग यह पहुँच गई थी। पर १९४९-५० में २९ करोड़, १९५०-५१ के संशोधित

अनुमान के अनुसार २५ करोड़ से कुछ अधिक और १६५१-५२ के प्रस्तुत बजट के अनुसार २५ करोड़ रुपये से कुछ कम इन ६ 'ए' श्रेणी के राज्यों की यह आय थी। पिछले वर्षों में इस मद का महत्त्व कम हुआ है और भविष्य में और कम होने की संभावना है। १६५०-५१ के बजट के अनुसार 'बी' राज्यों को इस मद से २०.०७ करोड़ की आय होने का अनुमान था।

(३) सिंचाई—किसान से सिंचाई के पानी के लिये भी कर लिया जाता है। नहरों से जो पानी किसान को दिया जाता है उस पर यह कर लगता है। कर की दर अलग अलग जगह अलग अलग है और एक बार निश्चित हो जाने के बाद उसमें साधारणतया परिवर्तन नहीं होता।

(४) जंगलात—राज्य की सरकारों को जंगलात से भी कुछ आय होती है। लकड़ी बेचने, जंगल की अन्य पैदावार बेचने और चराई की फ़ीस से यह आय होती है। १६३६-४० में जंगलात से ३ करोड़ के लगभग तत्कालीन प्रान्तों की आय थी। आज यह आय १६-१७ करोड़ के लगभग है।

(५) रजिस्ट्रेशन—जब अचल संपत्ति सम्बन्धी दस्तावेजों की रजिस्ट्री कराई जाती है तो उसकी फीस वसूल की जाती है। यह भी राज्य की सरकारों की आय का एक साधन है। १६३६-४० में तत्कालीन ब्रिटिश भारत में यह आय १ करोड़ रुपये के लगभग थी।

(६) स्टेम्प्स—स्टेम्प्स या मुद्रांक-शुल्क दो प्रकार का होता है—एक तो न्यायालयों द्वारा वसूल किया जाने वाला और दूसरा जो व्यापारिक दस्तावेजों पर लगता है। इनसे भी राज्य की सरकारों को आय होती है। न्याय सम्बन्धी मुद्रांक-शुल्क को कम करना उचित हो सकता है। इस समय सब राज्यों की आय इस मद से १८ करोड़ से भी ऊपर है।

(७) विक्रय-कर—जैसा कि इस के नाम से प्रकट है विक्रय-कर चीज़ों की बिक्री के समय लगाया जाता है और इसलिये यह बेचनेवाले से वसूल किया जाता है। यह कर एक या कई चीजों पर लगाया जा सकता है और बिक्री के किसी एक मौके पर या सब मौकों पर लगाया जा सकता है।

भारत में विभिन्न राज्यों की आय का विक्रय-कर आजकल एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। मद्रास में यह कर १६३६ में सबसे पहले लगाया गया था और उत्तर प्रदेश में १६४८ में सबसे बाद में। एक न्यूनतम मर्यादा तक, जो ५,००० से ३०००० वार्षिक बिक्री के बीच में विभिन्न राज्यों में पाई जाती है, विक्रय-कर नहीं लगाया जाता। इसी प्रकार कई चीज़ें—जैसे खाद्यान्न, आटा, दाल, ईंधन, मसाला, केरोसीन, किताबें, खादी, साग आदि—भी इस कर से

मुक्त है। दोनों तरह का विक्रय कर हमारे राज्यों में है—अर्थात् वह जो एक ही बार वसूल होता है और वह जो जितना बार किसी एक चीज़ की बिक्री हो उतनी ही बार वसूल किया जाता है। अलग अलग चीज़ों पर अलग अलग कर की दरें भी लगाई जाती हैं।

विक्रय-कर अप्रत्यक्ष कर है और अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर इसका भार अधिक पड़ता है। विक्रय कर से 'ए' राज्यों की कुल आय ४५.५० करोड़ के आस-पास इस समय है। यह 'बी' राज्यों में राजस्थान के अतिरिक्त सब राज्यों में है पर इससे कुल आय ५ करोड़ रुपये के आस पास है। हमारे संविधान के अनुसार अब राज्य उन चीज़ों पर विक्रय कर नहीं लगा सकते जो किसी राज्य के बाहर बचे और खरीदे जाते हैं, या जो अन्तर्राज्य के या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अंग हैं या उनको संसद ने सर्व साधारण के जीवन के लिये अनिवार्य घोषित कर दिया है। इसका असर इस कर की आय घटने का होगा।

(८) कृषि आयकर—१९३७ में जब प्रान्तीय स्वायत्त शासन की देश में स्थापना हुई कृषि आयकर राज्यों द्वारा लगाया जाने लगा। सबसे पहले बिहार ने यह कर १९३८-३९ में लगाया। बाद में आसाम, बंगाल, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश में भी यह कर लगाया गया। 'ए' राज्यों में से इन पांच राज्यों में ही यह कर लगाया जाता है। 'बी' राज्यों में से हैदराबाद और ट्रावनकोर कोचीन में ही यह कर (१९५०-५१ तक) था। केवल उस भूमि की आय पर यह कर लगता है जो लगान देती है। कृषि आय का एक न्यूनतम भाग कर से मुक्त रहता है। 'ए' राज्यों की इस कर से कुल आय ३ करोड़ रुपये वार्षिक के लगभग है। ज़मींदारी प्रथा उठ जाने पर इस मद से आय और भी कम होने वाली है।

(९) मनोरंजन कर—मनोरंजन कर सबसे पहले १९२२ में बंगाल में लगाया गया था। उसके बाद बम्बई में १९२३ में लगा। अन्य प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्त शासन प्राप्त हो जाने के बाद यह कर लगाया गया। इस समय सभी 'ए' श्रेणी के राज्यों में यह कर लगा हुआ है। इस कर को लगाने का तरीका यह है कि मनोरंजन के लिये जब व्यक्ति फीस देता है तो उसी के साथ यह कर भी उससे ले लिया जाता है। मनोरंजन के लिये टिकिट बेचनेवाले जैसे सिनेमावाले इस कर को वसूल करते हैं और सरकार को चुकाते हैं। कर की दर अलग अलग राज्यों में अलग अलग है और टिकिट के मूल्य के हिसाब से लगाई जाती है। मध्य प्रदेश में १९४९-५० में टिकिट के मूल्य का ५०% करके

रूप में लिया जाता है। अन्य राज्यों में २५%के आस-पास यह कर है। उत्तर प्रदेश में ३३⅓%है। इस कर से आय पिछले वर्षों में बराबर बढ़ती जारही है।

(१०) पण लगाने (बेटिंग) पर कर—हमारे देश में वैसे तो सब प्रकार का पण लगाना और जुआ बंद है पर घोड़ों की दौड़ पर पण लगाना जायज़ है। सबसे पहले बंगाल में १६२२ में पण लगाने पर कर लगाया गया था। १६२५ में बम्बई में भी यह कर लगा। मद्रास में १६३५ में यह कर लगा। कुछ और राज्यों में भी इस समय यह कर लगा हुआ है। पण लगाने में जितना रुपया जीता जाता है उसके ऊपर अमुक प्रतिशत के हिसाब से कर लगाया जाता है। अलग-अलग राज्यों में कर की दर अलग-अलग है और ४%से १५%के बीच में विभिन्न राज्यों में यह कर लगा हुआ है। एक प्रकार के व्यसन पर यह कर है और इसलिये इसकी मात्रा और बढ़ाई जानी चाहिये। वास्तव में तो घोड़ों की दौड़ पर पण लगाने का भी निषेध होना चाहिये।

(११) मोटर गाड़ियों पर कर—मोटर गाड़ियों पर भी—जिनमें कार, टैक्सी, बस, लोरी, मोटर साईकिल सब आ जाती हैं, सब राज्यों में कर लगता है। कर लगाने का आधार अलग-अलग प्रकार की गाड़ियों के लिये और अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। कहीं तो जगह के हिसाब से कर लिया जाता है, तो कहीं खाली गाड़ी का जितना बोझ होता है उसके आधार पर कर लिया जाता है। उत्तर प्रदेश में अलग-अलग मार्गों के आधार पर अलग-अलग कर लिया जाता है। कर की दर भी अलग-अलग है। इस कर को लगाने का एक औचित्य यह भी है कि मोटर आदि से सड़क खराब होती है और उसका मुआवज़ा किसी हद तक मोटर गाड़ियों के चलानेवालों से लिया जाता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखते ना भी आवश्यक है कि मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण की ओर राज्यों की दृष्टि १६३७ से ही जारही है और उत्तर प्रदेश तथा बम्बई में तो व्यापक आधार पर राष्ट्रीयकरण हुआ भी है। और राज्य भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। यह प्रयत्न उचित ही है।

(१२) आयकर—उपरोक्त करों के अतिरिक्त राज्यों की आय का एक बड़ा साधन आयकर में जो उनको हिस्सा मिलता है वह है। कुल 'ए' श्रेणी के राज्यों की आय ४५ करोड़ के आसपास इस मद से होती है। 'बी' राज्यों को भी इस आय में हिस्सा मिलने लगा है।

(१३) केन्द्र से सहायता—जूट निर्यात-शुल्क की पूरी आय संविधान के अनुसार केन्द्र को जाती है पर उसके एवज़ में केन्द्र से पश्चिम बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा को सहायक अनुदान मिलता है। देशमुख निर्णय के

अनुसार इस अनुदान की मात्रा १ ८५ करोड़ रुपया है। इसके अलावा भारत सरकार से विकास योजनाओं के लिये भी 'ए' और 'बी' राज्यों को अनुदान मिलता था। पर १९५१-५२ के बजट में ये अनुदान बन्द कर दिये गये हैं। 'सड़क कोष' से भी राज्यों को सहायता मिलती है। इसके अलावा केन्द्र राज्यों को ऋण भी देता है।

राज्यों का व्यय प्रान्तीय स्वशासन स्थापित होने के पहले तत्कालीन प्रान्तों का अधिकतर खर्च पुलिस और न्याय विभाग पर होता था। पर जब प्रान्तों में १९३७ में लोकप्रिय सरकारें कायम हुई तो राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों पर व्यय बढ़ने लगा। अब हम राज्यों के व्यय की मुख्य-मुख्य मदों का अध्ययन करेंगे। यह अध्ययन 'ए' राज्यों पर ही आधारित होगा।

(१) राजस्व पर प्रत्यक्ष मांग—कुल 'ए' राज्यों का इस मद पर व्यय २५ करोड़ के आसपास है जो कुल खर्च का ८% के लगभग आता है। यह वह व्यय है जो कर वसूली के लिये करना पड़ता है।

(२) सिंचाई—सिंचाई के मद में 'ए' राज्यों का खर्च पिछले वर्षों में बराबर बढ़ा है। १९५१-५२ के बजट में १४ ६२ करोड़ रुपये का इस मद में होने वाले व्यय का अनुमान है जो कुल व्यय का ४ ६६% आता है।

(३) शांति व्यवस्था (सिक्यूरिटी सर्विसेज)—इस श्रेणी में पुलिस, जेल तथा न्याय विभाग आदि का खर्च शामिल है। देश के स्वतन्त्र होने के बाद भी राज्यों का यह खर्च बढ़ा है। १९४८-४९ में ७१ ३६ करोड़ का खर्च था। उसके मुकाबले में १९५१-५२ के बजट में ९० ४० करोड़ का यह खर्च रखा गया है। कुल खर्च का २९ ०१% यह खर्च है जबकि १९४८-४९ में कुल खर्च का २९ २५% इस मद पर खर्च होता था।

(४) सामाजिक सेवा कार्य—इसमें शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य कृषि, उद्योग आदि सब आते हैं। इस मद में खर्च बराबर बढ़ता जा रहा है। १९४८-४९ में यह खर्च ६७ ६६ करोड़ रुपये का था। १९५१-५२ के बजट में यह खर्च ९६ ०६ करोड़ रुपये का अनुमान किया गया है। १९४८-४९ में २७ ०१% कुल खर्च का इस मद में खर्च होता था। १९५१-५२ में कुल खर्च का ३० ८४% इस मद में खर्च होने का अनुमान है।

(५) ऋण सेवाएं (डेट सर्विसेज)—१९४८-४९ में इस मद में ४ २२ करोड़ अर्थात् कुल खर्च का १ ६८% खर्च होता था। उसके बाद यह खर्च कम हुआ है। १९५१-५२ के बजट में २ ८० करोड़ रु० अर्थात् कुल खर्च का ० ९०% इस मद पर खर्च होने का अनुमान है।

(६) पूंजीगत खर्च—उपरोक्त सामान्य खर्चों के अलावा राज्यों के पूंजीगत खर्च भी होते हैं। बहु उद्देशीय नदी घाटी योजनायें, सिंचाई, विद्युत, निवास और ज़मींदारों को मुआवज़ा इस मद के खास-खास खर्च हैं। इसके अलावा राज्य विस्थापितों, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं, सहकारी समितियों और किसानों को ऋण भी देता है। अगर हम अन्न, वस्त्र, खाद आदि चीजों का राज्य द्वारा व्यापार पर होने वाली आमदनी और खर्च बराबर भी मानलें तो १९५१-५२ में पूंजीगत खर्च १०७.५१ करोड़ होगा जबकि १९५०-५१ में ७५.४१ करोड़ और १९४९-५० में ५८.४३ करोड़ का यह खर्च आंका गया है, या हुआ है।

(७) 'बी' राज्यों का खर्च—१९५०-५१ में 'बी' राज्यों का कुल खर्च ९०.८३ करोड़ रु० का बजट किया गया था। शांति-व्यवस्था (सिक्यूरिटी सरविसेज) और सामाजिक सेवाओं संबंधी खर्च की दो बड़ी मदें हैं। शांति-व्यवस्था पर २२.३ करोड़ अर्थात् कुल का २५% और सामाजिक सेवाओं पर ३२.२८ करोड़ अर्थात् कुल का ३६% व्यय माना गया है। सामाजिक सेवाओं में शिक्षा पर सबसे अधिक खर्च है। 'बी' राज्य राष्ट्र-निर्माणकारी कामों पर अधिक और शांति व्यवस्था पर कम खर्च 'ए' राज्यों के मुकाबले में करते हैं। इसका कारण मैसूर और ट्रावंकोर-कोचीन जैसे प्रगतिशील राज्यों पर होने वाला खर्च है। ये राज्य पूंजीगत खर्च भी काफ़ी करते हैं।

राज्यों का सार्वजनिक ऋण : १९३९ के पहले तत्कालीन प्रान्तों को ऋण लेने का कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं था। उसके बाद से यह अधिकार उनको मिला और हमारे संविधान में भी राज्यों को यह अधिकार प्राप्त है। १९३९-४० के अन्त में तत्कालीन प्रान्तों का कुल ऋण १५० करोड़ रुपये के लगभग था और उसमें से अधिकांश उत्पादक ऋण था। मार्च १९४९ के अन्त में कुल ऋण 'ए' राज्यों का १४५.३८ करोड़ था। मार्च १९५२ को ३३७.३६ करोड़ तक कुल ऋण पहुँच जायेगा, ऐसा अनुमान है। मार्च १९४९ को १४५.३८ करोड़ का जो ऋण था उसमें से ४५.९३ करोड़ का स्थायी ऋण, १०.८३ करोड़ का चालू (फ्लोटिंग) ऋण, ६३ करोड़ का केन्द्रीय सरकार से लिया हुआ ऋण और २५.६२ करोड़ का अल्पकालीन ऋण था। मार्च १९५२ को ३३७.३६ करोड़ के कुल ऋण में से ९३.६३ करोड़ का स्थायी ऋण, २६.४६ करोड़ का चालू ऋण, २१४.५२ करोड़ का केन्द्रीय सरकार से लिया हुआ ऋण और ३२.७५ करोड़ का अल्पकालीन (अनफन्डेड डेट) ऋण का अंश होगा। राज्यों की कुल आय का १०९% उनका कुल ऋण है।

केन्द्र और राज्य की वित्त-व्यवस्था की वर्तमान स्थिति केन्द्र और राज्य के आय-व्यय की मुख्य मुख्य मदों का हम विचार कर चुके हैं। अब हम केन्द्र और राज्यों की सम्पूर्ण वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में अलग अलग से विचार करेंगे। पहले केन्द्र की वित्त व्यवस्था के बारे में हम लिखेंगे।

इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न यह है कि भारत सरकार की वित्त नीति क्या रही है और आज क्या है। यदि हम पिछले पचास वर्षों पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि भारत सरकार की वित्त नीति किसी निश्चित दीर्घकालीन आर्थिक आदर्श से प्रभावित नहीं रही है बल्कि तात्कालिक परिस्थितियों का उस पर सबसे अधिक असर पड़ा है। जब कोई विशेष तात्कालिक प्रश्न नहीं रहा जैसा कि इस शताब्दी के पहले बीस वर्षों में नहीं था तब तो भारत सरकार की दृष्टि बजट को सतुलित रखने तक ही सीमित रही। जब कोई विशेष तात्कालिक प्रश्न उपस्थित हो गया—जैसे १६२६ की व्यापारिक मंदी, १६३६-४५ का द्वितीय महायुद्ध और उससे उत्पन्न और आज तक चलने वाली महगाई—तो सरकार की वित्त नीति उस प्रश्न के असर में रही। आजकल भारत की वित्त नीति पर महंगाई को कम करने, उत्पादन को बढ़ाने और देश का आर्थिक विकास करने का असर किसी हद तक देखने को मिलता है पर साहस पूर्वक किसी निश्चित योजना को लेकर सरकार नहीं चली है। यह इसकी वर्तमान नीति का बड़ा दोष है। उदाहरण के लिये विकास की योजनाओं के बारे में कभी तेज़ी आती है तो कभी धीमापन। आयात नीति कभी उदार हो जाती है तो कभी कड़ी। कभी राष्ट्रीयकरण का बहुत चर्चा होता है तो कभी वह दब जाती है। कहीं मद्य-निषेध पर बड़ा आग्रह है तो कहीं नहीं। इस तरह की बातों का वित्त नीति पर असर पड़ता है और उसमें निश्चितता और स्थिरता का अभाव रहता है। इस लिये आज इस बात की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि सरकार दीर्घकालीन निश्चित नीति को लेकर चले। देश के वर्तमान सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन करके गांधीजी और समाजवादी विचारों के वैज्ञानिक सामञ्जस्य पर नई समाज रचना व आदर्श को लेकर देश की वित्त नीति का निर्धारण करना देश के हित में होगा। वित्त व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा प्रश्न यह है कि भारत सरकार की आर्थिक स्थिति आय और व्यय को देखते हुए कैसी है और भविष्य की सम्भावनायें क्या हैं। जहां तक सवाल है भारत सरकार की आय और व्यय की मात्रा बराबर बढ़ती गई है। १६३८-३६ में भारत सरकार की कुल आय ८४ ४७ करोड़ थी। युद्धकाल में ३६१ १६ करोड़ तक १६४५-४६ में इसमें वृद्धि हो गई। उसके बाद इसमें कमी

आई। पर फिर वृद्धि हुई। इस समय के ताज़ा आंकड़े यह हैं कि १९५०-५१ में संशोधित अनुमान ३८७·२१ करोड़ और १९५१-५२ का प्रस्तुत बजट का अनुमान ४०१·०४ करोड़ रुपये का संसद के सामने पेश किया गया था। पिछले १२-१३ वर्षों में लगभग ४½ गुनी आय में वृद्धि हो गई। इस आय में कर से होने वाली आय का १९३८-३९ में ८७·५% भाग था। महायुद्ध के समय इसका अनुपात कम हो गया और १९४३-४४ में ६८·५% तक वह आ गया। पर इसके बाद फिर इसमें वृद्धि हुई और १९४९-५० के स्वीकृत बजट में यह अनुपात ९०·२% तक पहुँच गया। यह वृद्धि करों में प्रधानतः आयकर-सीमा-शुल्क, और उत्पादन-शुल्क से तथा दूसरे प्रकार की आय में रेल्वे आय से हुई है। आयकर और निगम-कर का भाग १९३८-३९ में कुल कर से होने वाली आय का २२·९% था वह १९४९-५० में ४४·७% हो गया। जहां तक व्यय का प्रश्न है-आय के साथ ही साथ भारत सरकार के व्यय में वृद्धि हुई है। १९३८-३९ में कुल व्यय ८५·११ करोड़ था। युद्धकाल में अधिक से अधिक व्यय ४४९·२५ करोड़ १९४४-४५ में हो गया था। उसके बाद कमी आई और १९४९-५० के स्वीकृत बजट में ३२२·५३ करोड़ का व्यय माना गया। संसद के सामने प्रस्तुत १९५०-५१ का संशोधित अनुमान ३७९·२८ करोड़ और १९५१-५२ के बजट का अनुमान ३७५·४३ करोड़ का बताया गया है। इसका अर्थ यह है कि युद्ध के बाद आय की अपेक्षा व्यय अधिक कम हुआ है। भारत सरकार के व्यय में जो वृद्धि हुई है उसमें राष्ट्र-निर्माणकारी विभागों में होने वाली वृद्धि अपेक्षाकृत कम रही है। आय-व्यय को यदि हम मिला कर देखें तो हमें मालूम पड़ेगा कि १९३८-३९ से लगा कर १९४७-४८ तक बराबर घाटा रहा है। जैसे जैसे युद्ध की भीषणता बढ़ती गई इस घाटे की मात्रा भी बढ़ती गई। यहां तक कि १९४३-४४ में घाटे की मात्रा १८९·९० करोड़ तक पहुँच गई। १९५०-५१ के संशोधित बजट में ७·९३ करोड़ की बचत और १९५१-५२ के संसद के सामने जो बजट पेश हुआ उसमें २५·६१ करोड़ की बचत का अनुमान लगाया गया है। भारत सरकार के पूंजीगत बजटों को देखें तो मालूम होगा कि युद्धकाल में १९४१-४२ को छोड़ कर बराबर उनमें बचत रही है। १९४४-४५ में वह बचत ४३७·५१ करोड़ तक पहुँच गई थी। इसका कारण यह था कि भारत सरकार बाजार से बहुत बड़ी मात्रा में ऋण ले रही थी। इससे युद्ध का वह खर्च जो भारत सरकार को वापिस मिलने वाला था, अवश्य अलग था। पर युद्ध के बाद १९४७-४८ से भारत सरकार के पूंजीगत बजट में बराबर घाटा रह रहा है। १९४८-४९ में यह घाटा १९७·४८ करोड़ तक पहुंच गया। इसके बाद घाटे में कमी आ गई है पर घाटा

अभी तक भी जारी है। १९५०-५१ के स्वीकृत बजट में २३.६४ करोड़ का घाटा आंका गया था पर बजट के संशोधित अनुमान के अनुसार पूंजीगत बजट का यह घाटा कुछ बढ़ा ही है। यदि हम 'मिसेलेनियस' मद को और राजस्व और पूंजीगत आय-व्यय सबको एक साथ करके देखें तो हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि १९४६-४७ से १९५०-५१ के स्वीकृत बजट तक बराबर घाटा रहा है।

भारत सरकार की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाने का एक अन्य तरीका उसकी नक़द रोकड़ को देखने का है। १९३८-३९ में साल के प्रारंभ में ११.३१ करोड़ रुपया सरकार की रोकड़ (केश बैलेंसेज़) में था। १९४५-४६ के अन्त और १९४६-४७ के आरम्भ में रोकड़ में ५२९.४३ करोड़ रुपया हो गया था। भारत के विभाजन के बाद १५ अगस्त, १९४७ को २७०.३० करोड़ रुपया भारत सरकार की रोकड़ में था। १९५१-५२ के प्रारम्भ में (१ अप्रैल, १९५१) भारत सरकार की रोकड़ में ६९ करोड़ रुपया था। इसके मुकाबले में १९५०-५१ के करों के आधार पर १९५१-५२ के राजस्व बजट में ५.५४ करोड़ और पूंजीगत बजट में ७८ करोड़ का और इस प्रकार कुल ८३.५४ करोड़ का घाटा आता था। अगर नये कर और ऋण का विचार छोड़ दें तो १९५१-५२ के अन्त में सरकार के पास १२ करोड़ से भी कम रोकड़ रह जाती जब कि कम से कम ५० करोड़ की रोकड़ भारत सरकार के पास रहना चाहिये।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पिछले वर्षों में और ख़ास तौर से स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार की आर्थिक स्थिति बिगड़ी है। अब प्रश्न यह है कि इस स्थिति को सुधारने का क्या उपाय है। जहां तक आय को बढ़ाने का सम्बन्ध है अधिक गुंजाइश नहीं मानी जा सकती। हमारी राष्ट्रीय आय का केन्द्र और राज्यों की कुल आय १०% के लगभग है। यद्यपि आधुनिक औद्योगिक राष्ट्रों में राष्ट्रीय आय का ३०% तक भी सरकारी आय में जाता है पर भारत की जैसी पिछड़ी हुई आर्थिक अवस्था में इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि राष्ट्रीय आय का आज से बहुत अधिक भाग राज्यों की आय के रूप में ली जा सकती है। इस वास्ते भारत सरकार की आर्थिक स्थिति को ठीक करने के दो उपाय हैं। तत्काल का उपाय तो यह है कि अनावश्यक ख़र्च को हर तरह से कम करने का प्रयत्न किया जाय और विकास योजनाओं पर भी यथाशक्ति ही ख़र्च किया जाय। दूसरी और बड़ी बात यह है कि देश की आर्थिक उन्नति के लिये योजना पूर्वक और दृढ़ता के साथ प्रयत्न किया जावे। देश की आर्थिक स्थिति ठीक होने पर सरकार की स्थिति अवश्य ही ठीक होगी। ख़र्च करने के सम्बन्ध में सामाजिक सेवाओं पर होने वाले ख़र्च को कम करने की प्रवृत्ति को

को अवश्य यथासंभव रोकने की आवश्यकता है।

अब हम राज्यों की सरकारों की वित्त व्यवस्था के बारे में विचार करेंगे। जहां तक राज्यों की सरकारों की वित्त नीति का सवाल है इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि १९३७ के सुधारों के बाद से उन्होंने राष्ट्र-निर्माण के कामों पर अधिक व्यय करना आरम्भ किया है और इस बढ़े हुए खर्च को उन्होंने अपनी आय बढ़ा कर, भारत सरकार से क़र्ज़ लेकर और मुद्रा बाज़ार में ऋण लेकर पूरा करने की कोशिश की है। युद्ध के समय में राज्य की सरकारों के बजट घाटे के बजट नहीं रहे। १९३८-३९ में तत्कालीन प्रान्तों की कुल आय ८४·७४ करोड़ रुपया थी। वह युद्धकालीन वर्षों में बढ़ते बढ़ते १९४५-४६ में २२९·३३ करोड़ रु० तक पहुंच गई। इसके बाद भी वृद्धि जारी रही। १९५१-५२ के बजट में कुल आय ३०८·८१ करोड़ रुपये की आंकी गई है और १९५०-५१ के संशोधित अनुमान के अनुसार २९९·५८ करोड़ की कुल आय होगी। १९५०-५१ में सब 'बी' राज्यों की आय ९०·३३ करोड़ की अनुमानित की गई है। प्रान्तों की यह आय वृद्धि विभिन्न करों से आमद बढ़ने के कारण ही हुई। नये करों का कोई बोझ जनता पर नहीं डाला गया। जहां तक राज्यों के व्यय का सम्बन्ध है उस में भी १९३८-३९ में ८५·७६ करोड़ से बढ़ते बढ़ते १९४५-४६ में २१८·१४ करोड़ तक वृद्धि होगई। बाद में भी यह वृद्धि जारी रही। १९५०-५१ के सब 'ए' राज्यों की आय का संशोधित अनुमान ३०१·९६ करोड़ का और १९५१-५२ का ३११·६१ करोड़ का अनुमान है। 'बी' राज्यों का १९५०-५१ का खर्च का बजट ९०·८३ करोड़ था। आय-व्यय दोनों को मिलाकर देखने से मालूम होगा कि १९४९-५० तक 'ए' राज्यों के बजटों में घाटा नहीं रहा। पर १९५०-५१ और १९५१-५२ में 'ए' राज्यों की आर्थिक स्थिति में थोड़ी गिरावट आई। राजस्व और पूंजीगत दोनों प्रकार के आय-व्यय के आंकड़ों को मिलाकर देखें तो 'ए' राज्यों के बारे में यह नतीजा आता है कि विभिन्न ऋणों से असल आमद १९५०-५१ में ६४·७० करोड़ और १९५१-५२ में ८५·४७ करोड़ होती है और डिपोज़िट और अन्य मदों के लेन-देन का विचार कर लेने पर राजस्व और पूंजीगत दोनों ही का कुल मिला-जुला घाटा १९५०-५१ में ३६·१ करोड़ और १९५१-५२ में ६६·२७ करोड़ का आता है। १९४९-५० में इसके मुकाबले में ३·२१ करोड़ की बचत थी। १९५१-५२ में ६६·२७ करोड़ के घाटा का ब्यौरा इस प्रकार है—राजस्व भाग में घाटा ११·९९ करोड़ और पूंजीगत खर्च और ऋण की मदों में घाटा ५४·२८ करोड़ का। इस घाटे का असर यह हुआ है कि १७·४१ करोड़ की कमी तो नक़द रोकड़ में, २९.३६ करोड़ की कमी

नक़द रोकड़ विनियोग खाते (कैश बैलेंस इन्वेस्टमेंट अकाउंट) में आएगा और ७ ५० करोड़ की उत्तर प्रदेश सरकार जमींदारी उन्मूलन कोष से हवालगी लेगी और १५ करोड़ रुपया मद्रास सरकार अपने राजस्व रक्षित कोष से और निकालगी। इसी प्रकार १९५० ५१ के घाटे का भी असर हुआ है। १९५१ ५२ म राजस्व बजट के बाहर का पूंजीगत खर्च १९५० ५१ का अपेक्षा कहीं अधिक आंका गया है। १९४९ ५० म ५२ ६० करोड़, १९५०-५१ में ६८ ८८ करोड़ और १९५१ ५२ में १०९ ६० करोड़ का यह खर्च आंका गया है। १९५० ५१ में 'बी' राज्यों के पूंजीगत खर्चे में भी १८ ३६ करोड़ का घाटा था। पर कुल मिलकर 'बी' राज्यों के पास अपने पूंजीगत खर्च के लिये अब तक की जमा हुई रोकड़ और प्रतिभूतियों के रूप में यथेष्ट साधन हैं। मार्च १९५० के अन्त में उनके इन्वेस्टमेंट १२४ ६७ करोड़ रुपये के थे। 'ए' राज्यों के बारे में जैसा ऊपर बताया गया है गत दो वर्षों में राज्यों की नक़द रोकड़ में कमी आई है, उन्होंने अपने इन्वेस्टमेंट बेचे हैं, और कहीं-कहीं विशिष्ट कामों के लिये निर्मित कोषों से रुपया भी लिया गया है। मार्च १९४८ के अन्त में राज्यों की नक़द रोकड़ और नक़द रोकड़ का विनियोग १७४ करोड़ था। पुरानी देशी रियासतों के कुछ राज्यों में मिलने से यह रोकड़ बढ़ी भी होगी। फिर भी ऐसा अनुमान है कि १९५२ के मार्च के अन्त तक यह रोकड़ की रक़म ८० करोड़ ही रह जायगी। उपरोक्त स्थिति को सुधारने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि राज्य की सरकारें अपने खर्च को अपनी क्षमता की मर्यादा में रखने का पूरा पूरा प्रयत्न करें। तभी पिछले दो वर्षों में राज्यों की आर्थिक स्थिति म जो बिगाड़ आया है उस में सुधार होना संभव होगा।

उपरोक्त विवेचन स यह स्पष्ट है कि इस समय भारत सरकार और राज्यों की सरकारों की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है।

भारत सरकार और राज्यों की वित्त व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाला एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उसकी कर व्यवस्था कैसा है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि यद्यपि पिछले वर्षों में प्रत्यक्ष करों का मात्रा और उनका अनुपात बढ़ा है पर फिर भी अभी उनका अनुपात जितना चाहिये उतना नहीं है। केन्द्र और राज्य दोनों को मिलाकर आज भी उनका भाग ६०% के लगभग है। भारत का कर-व्यवस्था का बोझ सम्पन्न लोगों पर कम और मध्यम और निम्न वर्गों पर अधिक है। पिछले सालों में भारत सरकार ने जो कई उत्पादन शुल्क और सीमा शुल्क में वृद्धि की है या नए शुल्क लगाये हैं उनका भी यही असर पड़ा है। पिछले वर्षों में मध्यम वर्ग पर एक ओर तो करों का बोझा बढ़ा है और दूसरी ओर महंगाई का बुरा प्रभाव भी उन्हीं पर सब से

अधिक पड़ा है। इस दृष्टि से हमारी कर-व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता है। राज्यों में भी विक्रय-कर का बोझ आम लोगों पर ज्यादा पड़ा है। नये करों में उत्तराधिकार-कर लगाने की आवश्यकता और औचित्य स्पष्ट है। इसी प्रकार राज्यों में कृषि-आयकर सब जगह लगना चाहिये। विक्रय-कर को सरल और सब राज्यों में समान बनाना चाहिये। इसी प्रकार खर्च में राज्यों में भी अनावश्यक व्यय और सामान्य शासन के व्यय में किफ़ायत करने की जरूरत है। इसी सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि केन्द्र, राज्य और स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं के खर्च का आपस में ठीक समन्वय हो। आज तो राज्यों को यह शिकायत है कि केन्द्र उनको पूरे साधन नहीं देता और स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं को इसी प्रकार की शिकायत राज्यों से है। इस स्थिति में सुधार आवश्यक है।

स्थानीय वित्त

अब तक हमने केन्द्रीय सरकार और राज्यों की वित्त व्यवस्था के बारे में विचार किया है। पर देश की वित्त व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग स्थानीय वित्त का है—अर्थात् नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों आदि की वित्त व्यवस्था का। अब हम इसी पर विचार करेंगे।

नगरपालिका वित्त : नगरपालिकाओं को दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं—(१) अनिवार्य और (२) वैकल्पिक। अनिवार्य कार्यों के अन्तर्गत सफ़ाई, लोक स्वास्थ्य, रोशनी, सड़क, पानी, शिक्षा—प्रारम्भिक और सेकिंडरी-की व्यवस्था आती है। वैकल्पिक कार्यों में पुस्तकालय, म्यूजियम, पब्लिक पार्क, खेल-कूद के मैदान आदि की व्यवस्था आती है।

नगरपालिका को उपरोक्त कार्यों के लिये व्यय करना होता है। उसके लिये उनको आय के साधन चाहिये। प्रत्येक राज्य में एक नगरपालिका एक्ट होता है जिसमें नगरपालिका को कौन कौन से कर लगाने का अधिकार है यह भी निश्चित रहता है। साधारणतया नगरपालिकाओं द्वारा लगाये जाने वाले करों की सूची इस प्रकार होगी :—

(१) प्रत्यक्ष कर—इस श्रेणी में मकानों, जमीन या संपत्ति पर कर, पेशे और व्यापार आदि पर कर, व्यक्तियों पर हैसियत-कर, रोशनी, अग्नि, और शौचालय कर तथा दूसरे कई छोटे छोटे कर जैसे संपत्ति के हस्तांतरण पर कर, बाज़ार-कर, कुत्तों और नौकरों पर कर, नावों पर कर, सवारी के साधनों और गाड़ियों पर कर आते हैं।

मकान या सम्पत्ति-कर प्रायः सब नगरपालिकायें लगाती हैं। मकान या

ज़मीन के वार्षिक मूल्य पर यह कर लगता है। वार्षिक मूल्य वार्षिक किराये की आय के बराबर माना जाता है। कर की दर लगभग ७½% वार्षिक किराये पर होती है। सार्वजनिक उपयोग की इमारतों पर कर नहीं लगता। कर सपत्ति के मालिक से वसूल किया जाता है।

पेशे और व्यापार पर जो कर लगाया जाता है वह इस प्रकार लगता है कि विभिन्न पेशों और व्यापारों को आय की समानता के आधार पर कुछ श्रेणियों में बाट दिया जाता है। फिर अलग-अलग श्रेणी के लोगों को अलग-अलग लाइसेंस फीस देनी होती है।

हैसियत-कर व्यक्ति की स्थिति और सपत्ति को देख कर लगाया जाता है।

रोशनी, अग्नि, शौचालय-कर सेवा के आधार पर लगाए जाते हैं। मकान के वार्षिक मूल्य को ही इस प्रकार की सेवा से मिलने वाले लाभ का आधार मान लिया जाता है।

सपत्ति के हस्तान्तरण पर लगने वाला कर सम्पत्ति के मूल्य के आधार पर तय होता है।

बाज़ार-कर चीज़ों की बिक्री पर कर होता है। जब से बिक्री-कर राज्य की सरकारों द्वारा लगाया जाने लगा है नगरपालिकाएँ ये कर नहीं लगा सकती हैं।

नौकरों पर कर तो बहुत कम जगह है। पर कुत्तों पर और दूसरे पालतू जानवरों पर कर अवश्य है। नावों पर कर उत्तर प्रदेश म लगता है। सवारी गाड़ियों पर कर लाइसेंस फीस क रूप में तागे, मोटर, बैलगाड़ी, रिक्शा और साइकलों आदि पर लिया जाता है।

(२) अप्रत्यक्ष कर—इस श्रेणी में चु गी सबसे महत्वपूर्ण कर है जो नगरपालिका की हद में बाहर से माल आने पर लगता है। यह कर ग़रीबों पर पड़ता है और इसलिए इसका बराबर कड़ा विरोध रहा है। इसको वसूल करने में बहुत खर्च होता है। दूसरा कर सीमा-कर (टर्मिनल टेक्स) है जो रेल विभाग के ज़रिये नगरपालिका की हद में उपभोग क पदार्थों पर वसूल किया जाता है। चु गी का स्थान इस कर को कई नगरपालिकाओं ने दिया पर यह प्रवृत्ति ज्यादा चली नहीं। सीमा-कर सुविधाजनक है—वसूल करने वाले और देने वाले दोनों के लिये। इसे वसूल करने का व्यय भी कम होता है। इसलिये चु गी से यह हर तरह से अच्छा है। इसकी दर भी कम होती है। सीमा-कर के साथ साथ सड़क या जल मार्ग से आने वाले माल पर 'टर्मिनल टॉल' भी लगाना आवश्यक होता है।

(३) व्यापारिक कार्यों से आय—नगरपालिकाओं की आय का एक साधन वे व्यापारिक कार्य हैं जो वह करती है—जैसे, पानी की व्यवस्था करने पर पानी की रेट से होने वाली आय, बिजली की व्यवस्था करने पर उससे होने वाली आय, नगरपालिका द्वारा बनाए हुए कसाईखानों के किराये से होने वाली आय, और नगरपालिका द्वारा की गई यातायात की व्यवस्था से होने वाली आय इस श्रेणी में आती है। आय के इन साधनों को बढ़ाना चाहिये।

जिला बोर्डों की वित्त व्यवस्था : ज़िला बोर्डों का मुख्य काम शिक्षा, सड़क, अस्पताल, सफाई, आदि होता है। इसके अलावा वे और भी कई काम करते हैं जैसे मेलों और प्रदर्शिनियों का आजोयन, टीका लगाने की व्यवस्था, आदि। ज़िला बोर्डों की आय के मुख्य मुख्य साधन इस प्रकार हैं :—

(१) भूमि उपकर—ज़िला बोर्डों की कुल कर से होनेवाली आय का ७० से ६० प्रतिशत भाग इससे होता है। लगान के साथ यह उपकर वसूल किया जाता है। इस कर को लगाने का आधार कहीं तो लगान होता है—जैसे मद्रास, बम्बई, आसाम और मध्य भारत के कुछ हिस्सों में है—और कहीं इसका आधार भूमि का वार्षिक मूल्य होता है। कहीं ज़मींदार को दिया जानेवाला 'रेन्ट' भी इसका आधार होता है—जैसे मद्रास के जमींदारी क्षेत्र में। खेती की प्रति एकड़ भूमि के आधार पर भी यह कर वसूल किया जाता है। लगान के सब दोष इस कर में भी मौजूद हैं।

(२) स्थिति और संपत्ति पर कर—यह एक प्रकार का हैसियत-कर है। १६३५ के बाद से किसी नए ज़िला बोर्ड को यह कर लगाने की स्वीकृति नहीं है क्योंकि यह कर आयकर जैसा है। यह कर व्यक्तियों की आय पर लगाया जाता है पर कृषि-आय इससे मुक्त रहती है।

(३) टोल्स—सार्वजनिक नावों के उपयोग पर टोल वसूल किया जाता है और कभी-कभी यह कर वसूल करने का अधिकार नीलाम भी कर दिया जाता है। नीलाम करने की प्रथा अनुचित है और बन्द की जाना चाहिये।

(४) जुर्माना किराया और फ़ीस—इन तीनों प्रकार के साधनों से भी ज़िला बोर्डों को आय होती है।

(५) अनुदान—राज्य की सरकारों से ज़िला बोर्डों को काफी सहायता भी मिलती है। इससे राज्य की सरकारों का इन पर नियंत्रण भी रहता है। कभी-कभी यह नियंत्रण और हस्तक्षेप अनुचित सीमा तक भी पहुंच जाता है।

स्थानीय वित्त में सुधार की आवश्यकता : स्थानीय वित्त की सबसे बड़ी

समस्या यह है कि इन संस्थाओं के साधन बहुत सीमित हैं। इन साधनों में वृद्धि होना आवश्यक है। भारतीय कर जाच समिति ने १६२४ म इस सम्बन्ध में ये सुझाव दिये थे —

(१) लगान की दर कम की जाय ताकि स्थानीय संस्थाओं के लिए अधिक गुंजाइश रह सके। (२) प्रान्त की सरकारों की भूमि किराया (ग्राउन्ड रैंट) और कृषि के काम म नहीं आनेवाली भूमि की दर म वृद्धि होने से जो आय हो उसका एक भाग स्थानीय संस्थाओं को दिया जाये। (३) नगरपालिकाओं को विज्ञापन पर कर लगाने का अधिकार दिया जाये। (४) मनोरंजन और पण (वेटिंग) पर लगनेवाले करों म स्थानीय संस्थाओं को हिस्सा दिया जाये। (५) सपत्ति और वृत्ति करों का वसूली म सुधार किया जाये। (६) मोटरों पे आय कर को कम करके प्रान्त की सरकारों को पथ-कर (टॉल) के स्थान पर राज्य भर में कर लगाने दिया जाये और उसका आय स्थानीय संस्थाओं को बाटी जाय। (७) स्थानीय संस्थाओं को विवाहों की रजिस्टरी करने पर कहीं-कहीं कर लगाने दिया जाये। (८) प्रान्तीय सरकारों से सहायता दी जाय। १६४० की बम्बई का स्थानीय स्वराज्य जाच समिति ने इन सुझावों का समर्थन किया था। उत्तर प्रदेश की स्थानीय स्वराज्य जाच समिति ने भी इनका समर्थन किया था और सुझाव भी दिये थे—जैसे (i) महाजनों पर कर लगाया जाय, (ii) प्रान्तीय कोर्ट फीस में स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को हिस्सा दिया जाये, (iii) स्टेम्प ड्यूटी पर अधिभार (सरचार्ज) लगा कर स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को दिया जाये। ग्राम पचायतों के बारे में भी इस समिति ने कुछ सिफारिशें की थीं, (i) लगान का पाच प्रतिशत पचायतों को दिया जाये, (ii) भूमि उपकर का २५% ज़िला बोर्ड पचायतों को दे दें, (iii) जो टिनेन्ट हैं उनसे 'रेट' का ५% लिया जाय। स्थानीय संस्थायें कुछ और कर भी लगा सकती हैं जैसे बरातों पर कर, जब वे सार्वजनिक रास्तों पर चलें, दीवार पर लिये जाने वाले विज्ञापन पर कर, सड़क उपकर आदि। मोटर गाड़ियों और पेट्रोल पर जो कर राज्य की सरकारें लगाती हैं उनका कुछ भाग भी स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को दिया जा सकता है। इसी प्रकार नगरपालिकाएं सवारी गाड़ियों—जैसे कार, लौरी आदि—पर जो कर लगाती हैं उनका एक हिस्सा ज़िला बोर्डों आदि को दिया जाये क्योंकि ये गाड़ियाँ उनकी सड़कों का भी उपयोग करती हैं।

राज्य की सरकारों का स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को अनुदान समानता के आधार पर देना चाहिये, और अनुदान के अलावा स्थानीय संस्थाओं को व्यापारिक कामों से जैसे पानी, बिजली, आदि की व्यवस्था करने भी अपनी

आय बढ़ाना चाहिए। सिनेमा घर, बाज़ार, सभा भवन आदि बनाकर भी आय में कुछ वृद्धि की जा सकती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि स्थानीय वित्त की अपर्याप्त साधन की समस्या को हल करना कितना आवश्यक है और उसको हल करने के लिये चारों ओर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इस व्यापक प्रयत्न के बिना समस्या का हल होना संभव नहीं होगा।

भारत सरकार का राजस्व और व्यय का बजट

राजस्व

लाख रुपयों में

	१९५०-५१ बजट	१९५०-५१ संशोधित	१९५१-५२ बजट
सीमा-शुल्क	१,०६,५४	१,४५,३१	१४,१,२९ ८,७५*
संघीय उत्पादन-शुल्क	७१,५०	६६,६८	७१,६३ १३,१५*
निगम-कर	३८,१०	३८,९२	३०,४८ २,२५*
आयकर [निगम-कर को छोड़कर]	१,२८,६८	१,२७,८८	१,२६,५७ ६,००*
अफीम	१,५५	३,००	२,३५
सूद	१,१४	१,७९	१,६७
नागरिक शासन	७,८७	१०,४६	८,४२
मुद्रा और टंकन	९,५२	१२,८७	१२,३२
सार्वजनिक निर्माण	१,२७	१,४६	१,५२
विभाजन-पूर्व प्राप्तियां	....	....	....
राजस्व के अन्य साधन	९,७९	१३,६९	११,९१ १,००*
डाक और तार :—			
असल अंश दान	४,०४	३,०७	२,००
रेल :—			
असल अंशदान	६,३७	६,७६	७;२६
राज्य को दिया जाना वाला आयकर का भाग—कम	—४७,७८	—४७,६८	—४७,५३
कुल	३,३८,५९	३,८७,२१	३,६९,८९ ३१,१५*

*१९५१-५२ के बजट का असर

व्यय
लाख रुपयों में

	१९५० ५१ बजट	१९५० ५१ संशोधित	१९५१ ५२ बजट
राजस्व पर प्रत्यक्ष माग	१३,८१	१३,३४	१४,५८
सिंचाई	२३	२२	२७
ऋण सम्बन्धी	३६,५०	३६,४६	३६,३२
नागरिक शासन	५०,०६	५२,७५	५६,०२
मुद्रा और टकन	१,७६	२,६५	२,६६
सार्वजनिक निर्माण	९,९७	१०,८८	१३,३८
पेन्शन	५,४५	७,१८	७,३५
अन्य			
विस्थापितों पर व्यय	६,००	१३,६७	९,८६
खाद्यान्न पर सहायता	२१,००	३५,०७	२५,३२
अन्य व्यय	४,२४	५,६६	—५०
राज्यों के अनुदान	१५,४१	१५,७२	१५,४३
विशेष मद	१,४५	१,५७	१०,९१
रक्षा (असल)	१६८,०१	१७९,५७	१८०,०२
विभाजन-पूर्व अदायगी	२,००	४,६४	२,७५
कुल	३३७,८८	३७९,२८	३७५,४३
बचत	१.३१	७,९३	०५,६१

उत्तर प्रदेश का बजट (१९४९-५०)

राजस्व की मद

१—राजस्व की मुख्य मुख्य मदें

आयकर (निगम कर को छोड़कर)	
लगान	९,३३ १५,०००
प्रान्तीय उत्पादन शुल्क	६,५८,२८,५००
मुद्राक-शुल्क	५,१०,३५,१००
जगलात	२,३०,००,०००
रजिस्ट्रेशन	२,२१,४५,५००
मोटर व्हिकल्स एक्ट से प्राप्तियां	-२,००,०००
अन्य कर और शुल्क	३६,०६,२००
	१०,३७,८८,०००

२—सिंचाई	२,३६,८२,३००
३—ऋण सबंधी	२०,३१,२००
४—नागरिक शासन	
न्याय	३६,३६,७००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	११,६१,८००
पुलिस	५३,४७,५००
शिक्षा	३०,६०,०००
चिकित्सा	१५,६६,६००
सार्वजनिक स्वास्थ्य	१०,३१,६००
कृषि	१,२२,०१,३००
ग्राम सुधार	.४,६००
पशु चिकित्सा	८६,३५,२००
सहकारिता	२,२०,७००
उद्योग	५४,७६,२००
वायु यात्रा	....
अन्य विभाग	२,५४,१०,३००
५—सार्वजनिक निर्माण	४०,१६,२००
६—बिजली योजनाएं	१२,६४,६००
७—अन्य	२,३१,६८ ५००
८—केन्द्र और राज्य के बीच में अंशदान तथा अन्य एडजस्टमेंट	१५,०००
९—विशेष मदें	६,०४,५६,६००
कुल राजस्व	५५,७३,४४,४००
१०—ऋण जमा और रेमिटेन्स की मदें	
सार्वजनिक ऋण	२६,००,००,०००
अनफन्डेड डेट	७५,४०,०००
जमा और हवालगी	२६,५३,८२,६००
ऋण और हवालगी राज्य की सरकारों से	२,०८,४१,०००
रेमिटेन्सेज	६६,७०,००,०००
कुल ऋण जमा आदि की मदें	१२७,६६,६३,६००
कुल प्राप्तियां	१८३,७३,०८,०००
११—प्रारंभिक रोकड़	२,०७,०५,६३३
महायोग	१८५,८०,१३,६३३

उत्तर प्रदेश का बजट (१६४६-५०)

व्यय की मदें

मद	व्यय
१—राजस्व पर प्रत्यक्ष माग	
आयकर	१,६२,५००
लगान	२,०२,०४,६००
राज्यकीय उत्पादन शुल्क	८०,०८,५००
मुद्रांक	५,३१,६००
जंगलात	८३,७३,६००
रजिस्ट्रेशन	१३,५५,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट के कारण व्यय	३१,७२,८००
आयकर और शुल्क	७१,८८,४००
२—सिंचाई राजस्व खाता[1]	२,१५,८२,४००
३—सिंचाई पूंजीगत खाता	६१,४६,३००
४—ऋण संबंधी	८६,२५,६००
५—नागरिक प्रशासन	
सामान्य प्रशासन	१,२८,८३,५००
न्याय	३,५२,००,१००
जल कनविक्ट सेटलमेंट	१,२३,६६,८००
पुलिस	१,००,६०,५००
विज्ञान सबंधी विभाग	६,८४,५१,७००
शिक्षा	६७,४००
स्वास्थ्य	६,६०,०४,६००
चिकित्सा	१,११,८६,३००
कृषि	२,१६,०१,१००
ग्राम सुधार	४,०३,१२,२००
पशु चिकित्सा	२५,१४,२००
सहकारिता	१,३७,१४,४००
	५८,४४,२००

उद्योग	....	....	....	१,२३,६६,६००
हवाई यातायात	....	....	....	४,३४,१००
अन्य विभाग	....	....	....	१८,३३,६००
				२,४४,४८,१००
६—सार्वजनिक निर्माण	....	....	....	६,३०,६५,४००
७—बिजली योजनायें	....	....	....	८,१५,०००
८—अन्य	....	....	....	४,३६,७६,८००
९—विशेष मद	....	....	....	१,६६,६३,८००
		कुल खर्च राजस्व से		५५,५८,११,६००
१०—राजस्व के बाहर पूंजीगत खर्च		....	....	१६,६२,५५,६००
११—ऋण, जमा और रेमिटेन्स मदें				
सार्वजनिक ऋण	....	....	....	१०,५३,७१,३००
अनफन्डेड डेट	....	....	....	५६,६५,५००
जमा हवालगी	....	....	....	२३,७६,३२,६००
ऋण और हवालगी राज्य की सरकारों से			....	६,७४,६६,२००
रेमिटेन्सेज	....	....	....	६६,७०,००,०००
	कुल जमा और ऋण आदि की मदें			१११,३१,६८,४००
		कुल चुकारा		१८३,८२,३५,६००
१२—शेष रोकड़		....	....	१,६७,७७,७३३
		महायोग		१८५,८०,१३,६३३

मध्य प्रदेश का बजट (१९५०—५१)

राजस्व की मदें

१. राजस्व की मुख्य-मुख्य मदें

आयकर (निगम-कर को छोड़ कर)	२, ८१, १६,०००
लगान	३, ७१, ७६,०००
प्रान्तीय उत्पादन-शुल्क	२, २६, ६०,०००
जंगलात	२, २५, २६,०००

मद	रकम
मुद्रांक शुल्क	१५, ४१,०००
रजिस्ट्रेशन	१६, ००,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट से प्राप्तियां	१८, ६३,०००
अन्य कर और शुल्क	२, ४६, ३६,०००
	कुल १४, ६७, ८३,०००
२ सिंचाई	३०, ६२,०००
३ ऋण संबंधी	२८, ०६,१००
४ नागरिक प्रशासन	
न्याय	१६, ६६,०००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट्स	१, ६२,०००
पुलिस	५, ४३,०००
शिक्षा	१५, ३५,०००
चिकित्सा	३, ५६,०००
सार्वजनिक स्वास्थ्य	२, ४६,०००
कृषि	१६, ५८,०००
पशुचिकित्सा	३, ८३,०००
सहकारिता	१, २३,०००
उद्योग और रसद	३, ७२,०००
अन्य विभाग	२,७१,०००
	कुल ७३,१७,०००
५—सार्वजनिक निर्माण	१२,१६,०००
६—बिजली योजनायें	१६,०००
७—अन्य	४२,१४,०००
८—केन्द्र और राज्य की सरकारों के बीच में विभिन्न एडजस्टमेंट	१७,०००
९—विशेष प्राप्तियां	३१,२१,०००
१०—रेवेन्यू रिजर्व फण्ड से	५२,५६,०००
	कुल राजस्व १७,५७,६३,०००
११—ऋण, जमा, हवालगी, रेमिटेन्स आदि	कुल जोड़ ४०,३६,६६,०००
	कुल राजस्व और प्राप्तियां ५७,६७,६२,०००
१२—प्रारम्भिक रोकड़	३,६५,४१,०००
	महायोग ६१,६३,०३,०००

मध्य प्रदेश का बजट (१९५०-५१)

व्यय की मदें

१—राजस्व पर प्रत्यक्ष मांग		
लगान	....	६६,६०,०००
राजकीय उत्पादन शुल्क	....	१५,४४,०००
मुद्रांक शुल्क	....	२,८०,०००
जंगलात	....	६३,४३,०००
रजिस्ट्रेशन	....	३,८६,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट के कारण व्यय	....	२,६३,०००
अन्य कर और शुल्क	....	३,५७,०००
	कुल	१,८८,४३,०००
२—सिंचाई-राजस्व खाता	....	२४,४५,०००
३—ऋण सम्बन्धी	....	३४,८८,०००
४—नागरिक प्रशासन		
सामान्य प्रशासन	....	१,४६,४७ ०००
न्याय	....	४०,७१,०००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	....	१८,७२,०००
पुलिस	....	२,२८,२६,०००
वैज्ञानिक विभाग	....	१,६५,०००
शिक्षा	....	२,६६,१७,०००
चिकित्सा	....	५६,८०,०००
सार्वजनिक स्वास्थ्य	....	२७,५८,०००
कृषि	....	७२,०२,०००
पशु-चिकित्सा	....	३१,६२,०००
सहकारिता	....	२८,७४,०००
उद्योग और रसद	....	१०,५६,०००
हवाई यातायात	....	६५,०००
अन्य विभाग	....	३,३२,०००
	कुल	६,४२,५७,०००

५—सार्वजनिक निर्माण	२,१३,८६,०००
६—बिजली योजनायें	३२,९२,०००
७—अन्य	१,७९,८४,०००
कुल व्यय	१६,१६,९५,०००
८—पूंजीगत व्यय	२,२६,९२,०००
९—ऋण, जमा, हवालगी आदि	३९,३१,३१,०००
कुल व्यय और चुकारा	५७,७५,१८,०००
१०—शेष रोकड	४,१७,८५,०००
महायोग	६१,९३,०३,०००

बम्बई का बजट (१९५०-५१)

राजस्व की मदें

१—राजस्व की मुख्य मुख्य मदें	
आयकर (निगम कर को छोड़कर)	९,८४,०६,०००
लगान	६,०६,२०,०००
प्रान्तीय उत्पादन शुल्क	१,१३,२३,०००
मुद्रांक शुल्क—	
जो न्याय सम्बन्धी नहीं है	३,१०,१७,०००
जो न्याय सम्बन्धी है	१,०८,२०,०००
जगलात	३,१३,१३,०००
रजिस्ट्रेशन	३५,१५,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट से प्राप्तियां	१,५०,६०,०००
अन्य कर और शुल्क	१७,९६,०६,०००
कुल	४४,१६,८०,०००
२—नागरिक प्रशासन	
न्याय	
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	८३,९०,०००
पुलिस	१६,५६,०००
पोर्ट्स और पाइलटेज	४७,२०,०००
डॅग्स डिस्ट्रिक्ट	५,०००
	२८,१०,०००

शिक्षा	६४,३३,०००
चिकित्सा	५६,३६,०००
सार्वजनिक स्वास्थ्य	४६ १२,०००
कृषि	२,०४,३३,०००
पशु-चिकित्सा	२,५८,०००
सहकारिता	१२,६६,०००
उद्योग	२४,७५,०००
अन्य विभाग	१,६०,१६,०००
कुल	७,४६,६६,०००
३—सार्वजनिक निर्माण	५१,१४,०००
४—सिंचाई, जल यातायात आदि (जिनके लिए पूंजी-लेखा रखा जाता है और जिनके लिए नहीं रखा जाता है)	४७,३६,०००
५—ऋण सम्बन्धी	१,१०,७२,०००
६—अन्य	३७,८७,०००
७—केन्द्र और राज्य की सरकारों में एडजस्टमेंट्स	१४,०००
८—विशेष प्राप्तियाँ	३,२८,३०,०००
९—नागरिक रक्षा	४,००,००,०००
महायोग	६१,३६,०६,०००
रेवेन्यू खाते में खर्च से अधिक राजस्व	१,६८,०००
१०—ऋण, जमा और हवालगी आदि	१,६३,३१,८२,०००
कुल प्राप्तियां	२,५४,७०,८८,०००
११—प्रारम्भिक रोकड़	—२५,२४,६१,०००
असल महायोग	२,२६,४५,६७,०००

बम्बई का बजट (१६५०-५१)

व्यय की मदें

१—राजस्व पर प्रत्यक्ष माँग	
लगान	१,६०,६८,०००
प्रान्तीय उत्पादन शुल्क	८१,५०,०००
मुद्रांक शुल्क	४,६३,०००

मद	रकम
जंगलात	१,२६,१६,०००
रजिस्ट्रेशन	१५,३७,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट के कारण व्यय	१,१२,३८,०००
अन्य कर और शुल्क	७०,६८,०००
	कुल ५,७१,७०,०००
२—सिंचाई-राजस्व खाता	१,४४,३२,०००
३—नागरिक प्रशासन	
सामान्य प्रशासन	३,७२,८७,०००
न्याय	१,८४,१८,०००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	६८,९८,०००
पुलिस	८,८०,५३,०००
पोर्ट्स और पाइलटेज	५,०००
हॅम्स	२८,१०,०००
वैज्ञानिक विभाग	५,४६,०००
शिक्षा	१२,३७,३६,०००
चिकित्सा	२,४०,१३,०००
सार्वजनिक स्वास्थ्य	१,८६,९९,०००
कृषि	२,७८,२६,०००
पशु चिकित्सा	४८,३३,०००
सहकारिता	१,०७,८१,०००
उद्योग	५३,७४,०००
अन्य विभाग	३,३६,४८,०००
	कुल ४०,१९,२६,०००
४—सार्वजनिक निर्माण	७,०९,९२,०००
५—अन्य	५,५९,७४,०००
६—ऋण सम्बन्धी	२,२१,५२,०००
७—विशेष मदें	६२,०००
कुल खर्च राजस्व से	६१,३७,०८,०००
८—पूँजीगत व्यय	८,३६,४८,०००
९—ऋण, जमा और हवालगी ..	१,६५,६१,११,०००
कुल चुकारा	२,६५,३७,६७,०००
१०—शेष रोकड़	—३५,६१,७०,०००
महायोग	२,२९,४५,९७,०००

राजस्थान का बजट (१९५१-५२)

राजस्व और प्राप्तियाँ

मद			राशि
१—राजस्व की मुख्य मदें			
संघीय उत्पादन-शुल्क	....	....	६२,००,०००
आयकर (निगम-कर को छोड़कर)		....	५२,००,०००
लगान	....	....	४,०६,७२,०००
राज्य का उत्पादन-शुल्क	....	....	२,६८,४०,०००
मुद्रांक	....	....	४२,००,०००
जंगलात	....	....	४०,६३,०००
रजिस्ट्रेशन	....	....	२,६०,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट से प्राप्तियाँ		....	२३,५०,०००
अन्य कर और शुल्क (कस्टम सहित)		....	४,२१,४२,०००
		कुल	१३,४२,५७,०००
२—सिंचाई, जल-यातायात आदि		....	१५,६३,०००
३—ऋण सम्बन्धी	....	....	६६,५०,०००
४—नागरिक प्रशासन			
न्याय	....	....	५,२५,०००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	....	....	३,०५,०००
पुलिस	....	....	१,८१,०००
शिक्षा	....	....	५,००,०००
चिकित्सा	....	....	३,०८,०००
सार्वजनिक स्वास्थ्य	....	....	११,३६,०००
कृषि	....	....	२,१०,०००
ग्रामसुधार	....	....	....
पशु-चिकित्सा	....	....	३,२५,०००
सहकारिता	....	....	१०,०००
उद्योग और रसद	....	....	२१,०५,०००
हवाई यातायात	....	....	....
अन्य विभाग	....	....	६०,००,०००
		कुल	१,१६,०५,०००

५—सार्वजनिक निर्माण	६,१६,०००
६—बिजली योजनायें	—
७—अन्य	७,१५,०००
८—विशेष मद	४८,११,०००
कुल राजस्व	१६,०५,१७,०००
९—ऋण, जमा, हवाला आदि	२८,३८,९३,०००
कुल राजस्व और प्राप्तियां	४४,४४,१०,०००
१०—प्रारम्भिक रोकड	१,८३,९०,०००
महायोग	४६,०८,००,०००

राजस्थान का बजट (१९५१-५२)

व्यय का लेखा

१—राजस्व पर प्रत्यक्ष मांग	
लगान	९२,००,०००
राज्य का उत्पादन-शुल्क	३७,२५,०००
मुद्रांक-शुल्क	१,७५,०००
जगलात	२८,५०,०००
रजिस्ट्रेशन	१,७०,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट के कारण व्यय	—
अन्य कर और शुल्क	६८,०२,०००
कुल	२,२९,२२,०००
२—सिंचाई आदि का राजस्व खाता	६५,००,०००
३—ऋण सम्बन्धी	२५,००,०००
४—नागरिक प्रशासन	
सामान्य शासन	१,४५,१०,०००
न्याय	३३,००,०००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	२८,००,०००
पुलिस	२,७०,००,०००
वैज्ञानिक विभाग	११,५०,०००

शिक्षा	....	....	२,२७,००,०००
चिकित्सा	....	....	१,१५,००,०००
सार्वजनिक स्वास्थ्य	....	....	३८,००,०००
कृषि	....	....	२०,००,०००
ग्राम सुधार और समाज सेवा	....	....	७,५०,०००
पशु चिकित्सा	....	....	११,८३,०००
सहकारिता	....	....	६,००,०००
उद्योग और रसद	....	....	१८,००,०००
हवाई यातायात	....	....	....
अन्य विभाग	....	....	४५,००,०००
		कुल	९,७५,९३,०००
५—सार्वजनिक निर्माण आदि	....	....	१,१४,००,०००
६—बिजली योजनायें	....	....	...
७—अन्य	....	....	१,६१,०२,०००
८—विशेष मदें	....	....	५०,००,०००
		कुल खर्च राजस्व से	१६,२०,१७,०००
		राजस्व से अधिक खर्च	१५,००,०००
९—पूंजीगत व्यय	....	....	२,३२,७३,०००
१०—ऋण, जमा और हवालगी	....	....	२७,५५,१०,०००
		कुल खर्च और चुकारा	४५,४३,६८,०००
११—शेष रोकड़	....	....	५४,३२,०००
		महायोग	४६,०८,००,०००

परिच्छेद १४

मूल आर्थिक समस्या—मँहगाई और उत्पादन वृद्धि

देश के आर्थिक जीवन के क्षेत्रों का हमने अब तक विस्तार पूर्वक अध्ययन किया है। इस अध्ययन का एक ही परिणाम है और वह यह कि हमारे देश की आर्थिक स्थिति आज अत्यन्त बुरी है। देश में फैली हुई निर्धनता और बेकारी अथवा अर्द्ध बेकारी इसका जीवित प्रमाण है। हमारी बढ़ती हुई महगाई और असंतोष जनक उत्पादन की स्थिति इसका स्पष्ट लक्षण है। देश के आर्थिक जीवन की आज तो मूल समस्या एक ही है और वह यह कि किस प्रकार यह भयंकर मँहगाई समाप्त हो और उत्पादन में वृद्धि हो। इस परिच्छेद में हम मँहगाई के प्रश्न पर थोड़ा विस्तार से अध्ययन करेंगे।

द्वितीय महायुद्ध और महगाई दूसरे महायुद्ध के समय में यह महगाई आरम्भ हुई था। सवाल यह है कि इस महगाई का कारण क्या हुआ? महगाई का अर्थ है रुपये का मूल्य घट जाना और वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाना। हमारे समझने का विषय यह है कि रुपये का मूल्य तो क्यों घटा और वस्तुओं का मूल्य क्यों बढ़ा? अर्थशास्त्र का सामान्य सिद्धान्त है कि जब किसी चीज़ की मात्रा बढ़ जाती है पर उसकी माग में कोई परिवर्तन नहीं होता तो उस चीज़ का मूल्य घट जाता है। अगर एक ओर मात्रा बढ़ जाय और दूसरी ओर माग कम हो जाये तब तो कहना ही क्या? फिर तो उस चीज़ का मूल्य अत्यधिक घट जायगा। द्वितीय महायुद्ध के समय में हमारे देश में रुपये की यही स्थिति हुई। रुपये की मात्रा में तो वृद्धि हो गई और उसकी माग में कमी हो गई। इसके पहले कि हम अपनी इस बात का प्रमाण दें रुपये की माग में कमी होने का अर्थ क्या है यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है और रुपये की पूर्ति या मात्रा कैसे तय होती है यह भी जान लेना है। पहले रुपये की मात्रा को ही लें। किसी भी देश की रुपये की मात्रा उस देश की कुल मुद्रा और बैंकों का चालू जमा तथा उसके प्रचलन की गति से निश्चित होती है। जहां तक रुपये की माग का सम्बन्ध है यह इस बात से निश्चित होता है कि देश में क्रय विक्रय की मात्रा कितनी है क्योंकि रुपये का काम क्रय विक्रय के लिये उपयोग में आना ही है। जब देश में उत्पादन अधिक होता है और व्यापार-व्यवसाय में तेज़ी होती है तो रुपये के लिये काम अधिक होता है और जब उत्पादन कम होता है और व्यापार-व्यवसाय में मंदी होती है तो रुपये के लिये काम कम होता है। रुपये की मात्रा और माग के बारे में इतना स्पष्टीकरण कर देने के बाद हम यह देखेंगे कि द्वितीय महायुद्ध के समय हमारे

देश में रुपये की मात्रा में कितनी वृद्धि हुई। और फिर रुपये की मांग के बारे में भी विचार करेंगे। द्वितीय महायुद्ध के समय देश में रुपये का कितना प्रसार हुआ वह नीचे दिये गये आंकड़ों से स्पष्ट हो सकेगा।

वर्ष (अप्रेल से मार्च)	कुल मुद्रा (करेंसी) प्रचलन में	जमा मुद्रा प्रचलन में	कुल मुद्रा प्रचलन में	इनडेक्स नम्बर
	(करोड़ रुपयों में)			
अन्तिम शुक्रवार				
१९३९-४०	३३६	१४५	४८४	११६·३
१९४०-४१	३५५	१७६	५३१	१२७·६
१९४१-४२	४६२	२३४	७२६	१७४·५
१९४२-४३	७५०	३६१	१,१११	२७७·१
१९४३-४४	९९१	५५६	१,५५०	३७२·६
१९४४-४५	११६७	६४८	१,८४५	४४३·५

आधार वर्ष १९३८-१९३९ = १००

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के समय हमारे देश में कुल रुपये या मुद्रा की मात्रा में काफ़ी [चार गुना] विस्तार हुआ। अपने आपसे भी इस विस्तार का असर रुपये का मूल्य गिरना या चीजों का मंहगा होना ही होता। पर रुपये की मांग की दृष्टि से भी अगर विचार किया जाये तो इससे भिन्न कोई परिणाम नहीं आसकता था। इन वर्षों में देश के औद्योगिक आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि अगस्त, १९३९ को १०० मान कर यदि देखा जाये तो १९३९-४० में ११०·३, १९४०-४१ में ११४·२, १९४१-४२ में १२३·२, १९४२-४३ में १२५·५, १९४३-४४ में १२६·८ और १९४४-४५ में १२१.७ औद्योगिक उत्पादन का इनडेक्स था। कृषि उत्पादन का इनडेक्स १९३६-३७ से १९३८-३९ के औसत को १०० मानने पर १९३९-४० में ९९, १९४०-४१ में ९८, १९४१-४२ में ९५, १९४२-४३ में १०२ और १९४३-४४ में १०६ और १९४४-४५ में १०१ था। इसका अर्थ यह है कि १९४३-४४ के बाद से तो हमारा औद्योगिक उत्पादन गिरना आरंभ हो गया पर १९४३-४४ में भी उसमें रुपये के विस्तार की अपेक्षा बहुत कम वृद्धि हुई थी। इसी प्रकार कृषि उत्पादन का हाल तो और भी असंतोष जनक रहा। १९४१-४२ तक तो इनडेक्स नम्बर १०० से कम रहा और अधिक से अधिक इनडेक्स १९४३-४४ में १०६ तक पहुँचा। जब औद्योगिक उत्पादन का अधिकतम इनडेक्स १२६·८ और कृषि का १०६ था तब रुपये के विस्तार का इनडेक्स ३७२·६ तक पहुँच गया और १९४४-४५ में तो

औद्योगिक उत्पादन का इनडेक्स १२१.७ और कृषि उत्पादन का १०१ ही रह गया पर रुपये के विस्तार का इनडेक्स ४८३.४ तक पहुँच गया। सारांश यह है कि एक ओर तो रुपये का विस्तार हुआ, दूसरी ओर उत्पादन की मात्रा उसकी अपेक्षा बहुत कम अनुपात में बढ़ी या फिर कम हो गई। इसका सिवाय इसके और नतीजा क्या हो सकता था कि देश में महँगाई बढ़ती जाती? इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने की और है कि जहाँ तक जन साधारण के उपभोग के लिये वस्तुओं की उपलब्धि का प्रश्न था उसकी मात्रा में सैनिक आवश्यकता के बढ़ जाने से बहुत कमी आ गई। इसका असर भी महँगाई को बढ़ाना हुआ। बाहर के देशों से आने वाले माल का आयात में भी कई कारणों से युद्ध काल में कमी हो गई थी। बर्मा के शत्रुओं के अधिकार में चले जाने से वहाँ से आने वाले चावल का आना बन्द हो गया। इसी तरह के दूसरे कारण भी उपस्थित हुए। यातायात की कठिनाई भी एक कारण था जिसके कारण महँगाई बढ़ने में मदद मिली। उपरोक्त तमाम परिस्थितियों के कारण देश में महँगाई बढ़ने लगी। पर इन परिस्थितियों का आधार रुपये की मात्रा का बढ़ना और उत्पादन का न बढ़ना बल्कि नागरिक उपभोग के लिये वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा में उल्टी कमी आ जाना ही था। युद्ध काल में हमारे देश में महँगाई और रहन सहन का व्यय कितना बढ़ा इसका अनुमान नीचे की तालिका से लगाया जा सकता है —

वर्ष	थोक मूल्य देशनांक आधार १९ अगस्त, १९३९ को समाप्त होने वाला सप्ताह=१००	रहन सहन का व्यय देशनांक (बंबई) आधार वर्ष अगस्त १९३९=१००
१९३९-४० (सितंबर मार्च)	१२५.६	१०५
१९४०-४१	११४.८	१०९
१९४१-४२	१३७.०	१२२
१९४२-४३	१७१.०	१६६
१९४३-४४	२३६.५	२२६
१९४४-४५	[illegible]	२२५

उपरोक्त आंकड़ों का सार यह है कि युद्ध के पहले जो कीमतें थीं वे युद्ध समाप्त होने तक ढाई गुनी के लगभग बढ़ गईं। रहन सहन के व्यय में भी लगभग इसी अनुपात में वृद्धि हुई। हमारे देश की इस स्थिति का मुकाबला दुनिया के कुछ दूसरे देशों से करें तो मालूम होगा कि हमारी स्थिति बहुत खराब रही है। उदाहरण के लिये १९३७ को आधार मान कर देखने पर पता चलता है कि

अमेरिका में थोक माल की कीमतों का देशनांक १६४५ में १२३, यूनाइटेड किंगडम में १५५, कनाडा में १२२, और आस्ट्रेलिया में १४० ही थे। इसका अर्थ यह है कि युद्ध समाप्त होने तक जहां भारत में ढाई गुनी कीमतें बढ़ गईं, इन देशों में डेढ़ गुनी या उससे कम वृद्धि हुई।

युद्ध आरंभ होने के प्रथम कुछ वर्षों में तो भारत सरकार ने इस मंहगाई के प्रश्न की ओर कुछ ध्यान ही नहीं दिया। १६४३ के उत्तरार्द्ध जब स्थिति बहुत बिगड़ गई तो भारत सरकार ने मूल्य नियंत्रण करना आरंभ किया। इस समय तक देश की खाद्य स्थिति बहुत बिगड़ चुकी थी। बर्मा से चावल आना बन्द हो गया था। परिणाम स्वरूप बंगाल में अत्यन्त भीषण अकाल पड़ा और लाखों मनुष्य काल के ग्रास बन गये। भारत सरकार ने बढ़ती हुई मुद्रा स्थिति और मंहगाई को रोकने के लिये करों की वसूली जल्दी करना शुरू कर दिया (अतिरिक्त लाभ-कर साल भर की बजाय हर तीसरे महीने वसूल किया जाने लगा); रिज़र्व बैंक ने सोना बेचना आरंभ किया; कॉटन क्लाथ एण्ड यार्न कन्ट्रोल आर्डर तथा होर्डिंग एण्ड प्रौफीटियरिंग प्रीवेन्शन आर्डिनेन्स पास किये गये, और ग्रामीण जनता में छोटे पैमाने पर बचत करने के लिये प्रचार की व्यवस्था की गई; ऋण लेने का सरकार ने कार्यक्रम बनाया; देश में उत्पादन बढ़ाने की चेष्टा की गई; बाहर से अधिक माल और अन्न मंगाने का प्रयत्न किया गया और बड़े बड़े शहरों और कस्बों में अन्न, वस्त्र, शकर तथा दूसरे आवश्यक पदार्थों का राशनिंग जारी किया गया। सारांश यह है कि सरकार ने स्थिति को काबू में लाने के चहुंमुखी प्रयत्न करने शुरू किये। इन सबका नतीजा किसी हद तक आया। १६४३ के आखिरी महीनों में स्थिति थोड़ी काबू में आई। मंहगाई की गति धीमी पड़ी। तेजी से जो क़ीमतें बढ़ने लगी थीं उस स्थिति में थोड़े समय के लिये सुधार आया। थोक मूल्य का देशनांक १६४२-४३ में १७१ से बढ़कर १६४३-४४ में जहां २३६·५ पर पहुँच गया था वहां १६४४-४५ में २४४·२ तक ही बढ़ा। इसी समय अगस्त, १६४५ में युद्ध समाप्त हो गया। अब इस युद्ध के बाद की स्थिति पर विचार करेंगे।

युद्ध के बाद की मंहगाई की स्थिति : जब युद्ध समाप्त हुआ तो लोगों के मन में यह स्वाभाविक आशा थी कि युद्ध काल की मंहगाई का अन्त हो जायगा, नियंत्रण नहीं रहेगा और आर्थिक जीवन पूर्ववत् चलने लगेगा। पर जैसा कि आज देखा जा रहा है, यह सब कुछ हुआ नहीं। न मंहगाई में कमी आई और न नियंत्रण ही उठा। लोगों की आर्थिक दशा बराबर बिगड़ती जा रही है, मंहगाई बढ़ती जा रही है और हमारा आर्थिक जीवन एक प्रकार से

जर्जरित हो चुका है और बराबर होता जा रहा है। युद्ध के बाद मंहगाई कितनी बढ़ी इसका अनुमान नीचे दी गई तालिका से लग सकेगा —

वर्ष	१९ अगस्त, १९३९ में समाप्त होने वाला सप्ताह=१०० थोक मूल्य देशनांक
[अप्रैल मार्च]	
१९४५-४६	२४४.९
१९४६-४७	२७५.४
१९४७-४८	३०७.०
जनरल परपज सिरीज	अगस्त १९४९ में समाप्त वर्ष=१००
१९४७-४८	३०८.२
१९४८-४९	३७६.२
१९४९-५०	३८५.४
१७ जून १९५० को समाप्त सप्ताह	३९४.०
१६ जून १९५१ को समाप्त सप्ताह	४५८.२
अगस्त १९५१	४३७.६

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि मूल्यों में वृद्धि बराबर जारी है। प्रश्‍न यह है कि युद्ध समाप्त होने के बाद मूल्यों में यह वृद्धि क्यों जारा रही। नीचे हम उत्पादन और मुद्रा सम्बन्धी आंकड़े देते हैं जिससे यह पता चलेगा कि युद्ध के बाद के वर्षों में देश के उत्पादन और मुद्रा सम्बन्धी स्थिति क्या रही।

	कुल मुद्रा करोड़ रुपयों में		उत्पादन के देशनांक कृषि	उद्योग
१९४५-४६	२०८३		९४	१००
१९४६-४७	२१०५		९६	१०५
१९४७-४८	२२१३		१००	१०५.९
१९४८-४९	२१७४		९४	११५.९
१९४९-५०	२१९७		९९	१०५.५
१९५०-५१	२३४२		—	१०८.०
अप्रैल १९५१	२३८५	१९५१—५२	—	११०.१
मई १९५१	२३०१			

उपरोक्त तालिका से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि हालांकि १९४७-४८ तक मुद्रा की कुल मात्रा वृद्धि होना गई पर वृद्धि की मात्रा में कमी

आगई। १९४७-४८ और १९४८-१९४९ के बीच में तो कुल मुद्रा की मात्रा बिल्कुल बराबर ही रही। फिर उसके बाद १९४९-५० में तो मुद्रा की मात्रा कम होगई। हालांकि गतवर्ष फिर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हुई है। पर जहाँ तक मूल्यों का सम्बन्ध है वे बराबर बढ़ते ही जा रहे हैं। मूल्यों की यह वृद्धि मुद्रा की मात्रा में होने वाले विस्तार से स्पष्ट नहीं होती। १९४७-४८ और १९४८-४९ के बीच में यद्यपि मुद्रा की मात्रा लगभग वही रही पर मूल्य में ६८ पोइन्ट की वृद्धि होगई और १९४९-५० में मुद्रा की मात्रा कम होगई तब भी मूल्यों में ९.२ पोइन्ट की वृद्धि हुई। प्रश्न यह है कि इसका कारण क्या ? उत्पादन के आंकड़ों से यह मालूम पड़ता है कि १९४४-४५ से कृषि मे १०६ से देशनांक कम होकर १९४५-४६ में ९४ पर और १९४६-४७ में ९६ पर और १९४७-४८ मे १०० पर और १९४८-४९ मे ९४ पर रहा। इसी प्रकार से उद्योग का देशनांक १९४४-४५ से कम होते होते १९४६-४७और १९४७-४८ मे १०५ के आसपास तक आगया और १९४८-४९ में बढ़ कर १०५.६ पर पहुंच गया पर उसके बाद फिर कम होने लगा। सारांश यह है कि इन वर्षों में कृषि उत्पादन में ज्यादा से ज्यादा १२ पोइन्ट का और उद्योग के उत्पादन में २२ पोइन्ट की कमी आई पर मूल्यों में उसके मुक़ाबले में १९४५-४६ से १९४९-५० के बीच में १४०.५ की वृद्धि होगई। दूसरे शब्दों में कृषि में उत्पादन में ज्यादा से ज्यादा कमी जो किसी वर्ष मे १९४३-४४ के मुकाबले में हुई वह ११% और उद्योग में १७% के लगभग हुई जबकि मूल्यों मे ६३% से भी अधिक वृद्धि हुई। स्पष्ट है कि मूल्यों की वृद्धि उत्पादन में जो कमी हुई है उससे कहीं अधिक हुई है। इसका यह स्पष्ट कारण है कि मूल्यों की इस वृद्धि के लिये कोई न कोई मुद्रा सम्बन्धी कारण भी जिम्मेदार रहा है। यह मुद्रा सम्बन्धी कारण सरकार द्वारा किया जाने वाला प्रति वर्ष बढ़ता हुआ खर्च है। युद्ध समाप्त होने के बाद भारत सरकार के बजट बराबर घाटे के बजट रहे हैं और इससे देश में मंहगाई बढ़ने में बड़ी सहायता मिली। पिछले दो साल से अवश्य बचत के बजट बने है पर उसमें भी अगर राजस्व और पूँजीगत दोनों बजटों के आमद और खर्च को मिलाकर देखें तो स्थिति संतोषजनक नहीं मालूम पड़ती। इधर पिछले दो वर्षों में राज्यों द्वारा बहुत व्यय हुआ है और राज्य की सरकारों की आर्थिक स्थिति बिगड़ी है। सार यह है कि युद्ध के बाद जो मंहगाई हुई है उसमें सरकार के घाटे के वित्त का बहुत बड़ा हिस्सा है। इधर पिछले साल भर से अधिक हुआ कोरिया युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में वृद्धि हुई है और उसका असर भारत पर भी पड़ा है। १९४९ में रुपये का अवमूल्यन किया गया। इसने भी मूल्य वृद्धि की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया।

डालर की कमी के कारण आयात में भी कमी हो गई। हिन्दुस्तान पाकिस्तान के बीच में कई महीनों तक व्यापार बन्द रहा क्योंकि विनिमय दर का प्रश्न नहीं सुलझ रहा था। कपास और पटसन की इससे कमी आई और इसका असर भी मूल्यों को बढ़ाने का हुआ। पाकिस्तान ने आखिर अपने रुपये के अवमूल्यन न करने के निश्चय को ही कायम रखा। इससे पाकिस्तान से आने वाले माल का भारत में महगा पड़ने का असर हुआ। उपरोक्त मुख्य-मुख्य कारणों से युद्ध के बाद भी मूल्य बढ़ते ही रहे।

१९४८ में जब मूल्यों में बहुत तेजी आई तो भारत सरकार ने इस प्रश्न पर कुछ स्वतन्त्र अर्थशास्त्रियों से राय ली। उन्होंने जो महगाई के कारण बताये थे उनमें उपरोक्त कारणों के अलावा कुछ और कारणों का भी उल्लेख था। वे कारण यह थे—(१) पाकिस्तान से जो विस्थापित आये उन्होंने अपनी पूँजी को रुपये में बदल लिया और इससे भी रुपये की मात्रा बढ़ी। (२) रिजर्व बैंक ने भारत सरकार की प्रतिभूतियों के मूल्य को कायम रखने के लिये उनको खरीदा उससे रुपये की मात्रा बढ़ी। (३) चोर बाजार में कमाये हुए और आयकर की चोरी करने वाले रुपये का असर भी मूल्य बढ़ाने का ही हुआ। (४) वेतन और महगाई की वृद्धि। (५) सरकार के ऋण लेने और बचत को प्रोत्साहन देने के कार्यक्रम की असफलता। (६) हमारे देश में निर्मित और बाहर से आने वाले दोनों प्रकार के माल की कमी। (७) सट्टा और संचय करने की वृत्ति। यह वृत्ति व्यापारियों या सट्टे करने वाले तक ही सीमित न रहकर सर्वसाधारण तक में युद्ध काल में फैल गई थी। (८) भारत सरकार की नियन्त्रण नीति की असफलता। ये ही वे सब कारण थे जिन्होंने युद्ध और युद्धोत्तर काल में महगाई को जन्म दिया और उसे बढ़ने दिया।

महगाई को रोकने के सरकार के प्रयत्न महगाई को रोकने के भारत सरकार और राज्य की सरकारों ने बराबर प्रयत्न किये। नई मुद्रा की मात्रा में सरकार ने धीरे धीरे कमी की। कई प्रकार के कर भी बढ़ाये। बचत को प्रोत्साहन देने की योजनायें अमल में लाने का प्रयत्न किया गया। सट्टे पर प्रतिबंध लगाया गया। कपास में 'हेज कॉन्ट्रेक्ट' पर रोक लगादी गई। गेहूं आदि चीजों के आगे के लेन देन बन्द कर दिये गये। सोना और चाँदी के आगे के लेन देन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। कपड़ा कण्ट्रोल आर्डर लागू किया गया। राशनिंग और मूल्यों का नियन्त्रण किया गया। यातायात के सम्बन्ध में सुधार करने की कोशिश हुई और अन्न आदि वस्तुओं को लाने ले जाने में प्राथमिकता दी गई। सरकार ने यह भी बराबर चाहा है कि देश

में उत्पादन बढ़े। पर इन सब प्रयत्नों का कोई खास असर नहीं हुआ और हमारी आर्थिक स्थिति दिनों दिन संकट के किनारे पहुँचती जारही है। प्राकृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय कारणों का भी इस स्थिति को बिगाड़ने में हाथ रहा है। पर यदि हमारी आर्थिक नीति सही होती तो स्थिति आज जितनी नहीं बिगड़ती। प्रश्न यह है कि इस स्थिति को सुधारने का अब उपाय क्या है?

उत्पादन वृद्धि और नई मुद्रा जारी नहीं करना—मुख्य उपाय : जिस स्थिति का हमने ऊपर उल्लेख किया है उसको सुधारने के आधारभूत उपाय दो ही हैं। एक तो यह है कि अब आगे घाटे के बजट बनाकर और नई मुद्रा जारी करके देश में मुद्रा की मात्रा को हरगिज़ न बढ़ाया जाये। आगे मुद्रा स्थिति को रोकने की बड़ी आवश्यकता है। इसके लिये जरूरत यह है कि सरकारें अपने अनावश्यक खर्चों को एकदम कम करें। नये खर्चों को समझ सोचकर उनका सारे राष्ट्र के जीवन पर पड़ने वाले असर को देखकर किया जाये। इसी के साथ-साथ आय को बढ़ाने का और ऋण लेने का भी हर प्रकार से प्रयत्न किया जाना चाहिये। बैंक-साख पर इस प्रकार नियंत्रण किया जाना चाहिये कि जिससे सट्टे को प्रोत्साहन न मिले। मूल्य नियंत्रण और राशनिंग का जहां आवश्यकता हो दृढ़ता पूर्वक पालन होना चाहिये। पर ये उपाय तात्कालिक हैं। अन्ततोगत्वा हमें देश का उत्पादन बढ़ाने की ओर ध्यान देना होगा। और जब तक इसमें सफलता नहीं मिलेगी हमारा आर्थिक संकट दूर नहीं हो सकेगा।

देश में उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता है। इस संबंध में सबकी एक ही राय है। इस विषय में भी आज कोई मतभेद नहीं है कि उत्पादन बढ़ाने के लिये हमें एक न एक प्रकार की योजना के आधार पर चलना होगा। आज पूंजीपति भी यह नहीं कहते कि व्यक्तिगत व्यवसाय पर राज्य का बिलकुल ही नियंत्रण नहीं होना चाहिये। मतभेद है तो इस प्रश्न पर कि देश की भावी आर्थिक योजना कैसी हो। भारत सरकार चाहते हुए भी अभी तक देश में उत्पादन को बढ़ाने में सफल नहीं हो सकी है। इसका मुख्य कारण है भारत सरकार की अस्पष्ट और अन्तर्विरोधी आर्थिक नीति और भारत सरकार और राज्य की सरकारों में समन्वय का अभाव। उदाहरण के तौर पर एक ओर राष्ट्रीयकरण की बात करना और दूसरी ओर दूसरे ही क्षण पूंजीपतियों से चाहना कि वे उत्पादन बढ़ाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें, सर्वथा परस्पर विरोधी बातें हैं। इस तरह के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर इसकी आवश्यकता नहीं। यहाँ तो इतना ही लिख देना यथेष्ट है कि बिना किसी निश्चित आर्थिक योजना के आधार पर चले इस देश का आर्थिक विकास संभव नहीं हो सकता। अगले परिच्छेद में हम इसी विषय पर विचार करेंगे।

परिच्छेद १५
आर्थिक योजना

आज सब विचारशील व्यक्ति इस बात से सहमत हैं कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता के ध्येय की पूर्ति नहीं कर सकती। साथ में इस बात में भी कोई मतभेद नहीं है कि देश का आर्थिक जीवन पूर्णतया व्यक्तिगत व्यवसायियों के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता। जनहित की दृष्टि से उसमें राज्य का हस्तक्षेप होना अनिवार्य है। पर इससे आगे विचारों की समानता का अन्त हो जाता है। जब हम भावी अर्थ रचना के प्रश्न पर विचार करना आरम्भ करते हैं तो अनेकों प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं, और उन प्रश्नों का भिन्न भिन्न विचार के लोग अपनी अपनी दृष्टि से भिन्न भिन्न उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। भारतवर्ष के सामने इस समय जो सबसे आधार भूत प्रश्न है वह समाज की इस नई रचना से ही सम्बन्ध रखता है। हम इस परिच्छेद में इसी समस्या पर विचार करेंगे।

हमारा जीवन दर्शन क्या हो? समाज रचना के प्रश्न पर विचार करना जब हम आरम्भ करते हैं तो सब से पहला सवाल जो हमारे सामने आना चाहिये वह है जीवन सम्बन्धी हमारे दर्शन का। वर्तमान पश्चिम की सभ्यता ने हमारे सामने जिस जीवन दर्शन को उपस्थित किया है उसका आधार आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना और उनकी तृप्ति के लिये बराबर प्रयत्न करते रहना है। औद्योगिक पूंजीवाद के प्रसार और विकास के लिये इस जीवन दर्शन की ही आवश्यकता थी। और इसलिये आज उसका सर्वत्र प्रचार भी हमें देखने को मिलता है। जिस जीवन दर्शन के हम पक्ष में हैं और जो भावी शोषण रहित और वर्ग विहीन समाज के उपयुक्त हो सकता है उसके अनुसार आवश्यकताओं की केवल अभिवृद्धि ही हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता। जिस समाज रचना का ध्येय लाभ कमाना नहीं बल्कि मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति होगा, उस समाज रचना के अनुकूल तो यही जीवन दर्शन हो सकता है कि मनुष्य अपना सच्चा उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास करना समझे। ऐसी दशा में मनुष्य उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहेगा जो उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होंगी। इसका अर्थ अपने आप से सरल और सादे जीवन की ओर झुकाव होने का हो जाता है और आवश्यकताओं की अभिवृद्धि नहीं बल्कि उनको परिमित करना मनुष्य जीवन का लक्ष्य बन जाता है। हम जिस नयी समाज रचना की कल्पना करना चाहते हैं उसका आधार जीवन सम्बन्धी

वहीं दृष्टिकोण होना चाहिये।

हमारा सामाजिक लक्ष—सुरक्षा, स्वतंत्रता और अवकाश : जीवन-दर्शन के बारे में विचार कर लेने के बाद दूसरा प्रश्न हमारे सामाजिक लक्ष का उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में हम किस प्रकार की समाज रचना को ठीक समझते हैं। यह हम पहले लिख चुके हैं कि मनुष्य का सच्चा उद्देश्य अपने अस्तित्व का विकास करना है। जो समाज रचना इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो वही हमारे विचार से सही समाज रचना समझी जानी चाहिये। इस दृष्टि से भावी समाज रचना मे प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित तीन बातों की प्राप्ति होना आवश्यक है—(१) सुरक्षा (२) स्वतंत्रता (३) अवकाश।

'सुरक्षा' से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को आधुनिक सभ्य समाज के अनुरूप रहन-सहन का दर्जा प्राप्त होना चाहिये। इसके लिये यथेष्ठ मात्रा में उत्पादन और न्याय पूर्ण वितरण की आवश्यकता होगी। 'सुरक्षा' से हमारा अर्थ आर्थिक सुरक्षा है। परन्तु मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये आर्थिक सुरक्षा के अलावा राजनैतिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से 'स्वतंत्रता' भी चाहिये। संक्षेप में इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभव होना चाहिये कि वह केवल किसी महान यंत्र अथवा व्यवस्था का एक पुर्जा अथवा अंग मात्र ही नहीं है, बल्कि अपने भाग्य का वह स्वयं निर्माता है, और जिस समाज व्यवस्था में वह रहता है उसका वह संचालक है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन निर्वाह के लिये जो काम करना पड़ता है उसको करने के बाद उसके पास 'अवकाश' रहे जिसका उपयोग वह जीवन की उच्चतर प्रवृत्तियों, जैसे कला, साहित्य आदि के लिये कर सके। सारांश यह है कि मनुष्य के 'व्यक्तित्व' के विकास की दृष्टि से उसी समाज व्यवस्था को श्रेष्ठ माना जा सकता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादक की दृष्टि से सुरक्षा, नागरिक की दृष्टि से स्वतंत्रता और उपभोक्ता की दृष्टि से 'अवकाश' प्राप्त हो।

सही अर्थ रचना का स्वरूप : यह तो सर्वमान्य बात है कि उपरोक्त आदर्श को पूरा करने वाली अर्थ रचना पूंजीवादी नहीं हो सकती। उसका स्वरूप जिसे आज मिलीजुली अर्थ व्यवस्था [मिक्सड इकोनोमी] कहते हैं वह भी नहीं हो सकता। इस संबंध में एक विद्वान लेखक के ये शब्द उल्लेखनीय हैं:—"अर्थ रचना के केवल दो स्वरूप हैं जिनमें से किसी एक को चुनना होगा—(१) राजकीय आधार पर चलने वाली व्यवस्था और (२) व्यक्तिगत आधार पर चलने वाली व्यवस्था।" "इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच में दोनों का सम्मिश्रण

हो सकता है। पर ऐसी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती जो इन दोनों से ही भिन्न हो।" जहां तक आर्थिक योजना का प्रश्न है- इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में मौलिक भेद है। राज्य संचालित व्यवस्था में देश के उत्पादन साधनों पर राज्य का पूर्ण अधिकार होता है और इस वास्ते राज्य सीधी तौर पर आयोजन कर सकता है। पर जिस व्यवस्था में व्यक्तिगत व्यवसाय की प्रधानता होती है वहां सरकार सीधा आयोजन नहीं कर सकती। ऐसी व्यवस्था में राज्य का काम यह हो जाता है कि व्यक्तिगत व्यवसाय की कमी-बेशी को पूरी करे, उसे आवश्यकता पड़ने पर प्रोत्साहन दे या उसे नियमित और प्रतिबंधित करे। इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का व्यक्तिगत व्यवसाय प्रधान अर्थ रचना में योजना के अनुसार आर्थिक जीवन का संचालन उतना सफल नहीं हो सकता जितना राज्य संचालित अर्थ व्यवस्था में संभव है। व्यक्तिगत व्यवसाय प्रधान आर्थिक जीवन में योजना के अनुसार काम करने की कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए जे० आर० बलेरला अपनी 'इकोनोमिक रिकन्स्ट्रक्शन' नाम पुस्तक के प्रथम भाग में एक स्थान पर लिखते हैं, "ऐसे प्रमाण हैं कि व्यक्तिगत व्यवसाय प्रधान अर्थ रचना में राजनैतिक, औद्योगिक, और सामाजिक ऐसी कई कठिनाइयां किसी भी योजना के मार्ग में पैदा होंगी कि चाहे अन्य अवस्था होने पर उसमें से प्रत्येक को जीतना संभव मालूम पड़े पर सब मिलकर एक बहुत बड़ी कठिनाई के रूप में वे हमारे सामने आवें।" व्यक्तिगत व्यवसाय प्रधान अर्थ रचना में जिस प्रकार का आर्थिक जीवन का नियन्त्रण आवश्यक होगा उससे हम इन कठिनाइयों का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। यदि हम सब लोगों को सन्तुचित रूप से पूरा काम देने की दृष्टि से व्यक्तिगत व्यवसाय प्रधान अर्थ रचना को कायम रखते हुए कोई आर्थिक योजना बनाना चाहते हैं तो "इस तरह की किसी भी योजना के तीन मुख्य विभाग होंगे—(१) उपभोक्ताओं के हाथ में क्रयशक्ति का विस्तार (२) मूल्यों का नियन्त्रण और (३) विशेष योजनायें जिनका उद्देश्य बेकारों को काम देना और विनियोग का नियन्त्रण करना होगा।" (जे० आर० बेलेरला) इसी प्रकार एक दूसरे लेखक ने आयोजित अर्थ व्यवस्था में नियन्त्रण के सबंध में लिखते हुए कहा है कि उत्पादन की मात्रा को अधिकतम बनाने के लिये सीमित साधनों का दुरुपयोग या अपेक्षाकृत कम आवश्यक कामों में उपयोग होने से रोकने, तथा सम्पत्ति का अनुचित बटवारा न हो सके इस दृष्टि से और मजदूरी का नियन्त्रण करने, मिल-मजदूर संबंधों को ठीक-ठाक बनाये रखने और सब के लिये पूरा-पूरा काम मिल सके इसकी व्यवस्था करने की दृष्टि से मूल्यों और आय पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से भी नियन्त्रण आवश्यक होंगे। पर इतना सब नियंत्रण

तभी संभव है जबकि पूंजीपति वर्ग इसमें पूरा-पूरा सहयोग दें। उनका इतना सहयोग मिल सकेगा यह बहुत शंका का विषय है। यह खतरा हमेशा बना रहेगा कि पूंजीपति असहयोग करके सारी व्यवस्था को चुपचाप अन्दर से असफल बनाने का प्रयत्न करें। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जिस अर्थ रचना का उद्देश्य सबको पूरा काम देने के अलावा उत्पादन की कुशलता में अधिकतम वृद्धि करना और न्यायपूर्वक वितरण करना भी है, उसमें उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अधिक विस्तृत आधार पर करना होगा बनिस्बत उस अर्थ रचना में जिसका लक्ष सबको केवल पूरा-पूरा काम देना ही है। सबको काम देने की दृष्टि को सामने रखकर ही जी० डी० एच० कोल ने अपनी 'मीन्स टू फुल एम्पलॉयमेंट' नामक पुस्तक में यह लिखा है कि जिन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक होगा उनमें मकान, सिविल एनजीयरिंग, यातायात और अन्य सार्वजनिक सेवा के उद्योग जैसे पूंजीगत पदार्थों का उपयोग करने वाले उद्योगों को तो कम से कम शामिल करना होगा। परन्तु कार्य-कुशलता को अधिकतम बनाने के लिये और अन्याय और शोषण को कम से कम करने के लिये, और कई उद्योगों का राष्ट्रीयकरण भी करना होगा। तमाम रक्षा संबंधी तथा भारी उद्योगों को इसी श्रेणी में गिनना होगा। राष्ट्रीयकरण के अभाव से केवल राज्य के नियंत्रण द्वारा उत्पादन की कार्यकुशलता बढ़ाने में किस हद तक बाधायें आ सकती हैं इसका अनुभव गत महायुद्ध में ब्रिटेन और भारत में हो चुका है। इस विवेचन का सार यह है कि जिसे मिलीजुली अर्थ व्यवस्था कहते हैं और जो तत्वतः पूंजीवादी व्यवस्था ही का एक स्वरूप है वह कभी सफल नहीं हो सकती। और पूंजीवाद के दोषों से बचने का एक ही उपाय है कि देश में समाजवादी व्यवस्था क़ायम की जाये। पर यहाँ जहाँ तक कम से कम भारत का प्रश्न है, एक और प्रश्न उपस्थित होता है। वह है गांधीजी के अर्थ रचना संबंधी विचारों का। इस पर अब हम विचार करेंगे।

गांधीजी के अर्थ रचना संबंधी विचार : गांधीजी का यह कहना था कि वर्तमान उद्योगवाद का दोष उसका पूंजीवादी आधार तो है ही पर इसके अलावा यह भी है कि उसका आधार केन्द्रित उत्पादन जो बड़े-बड़े कारखानों में किया जाता है वह भी है। उनका तर्क यह था कि केन्द्रित उत्पादन में यह तो अनिवार्य है कि आर्थिक सत्ता उन कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जायगी जो उस सारी व्यवस्था के संचालन करने वाले होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि यह व्यवस्थापकों का वर्ग आज के पूंजीपतियों की तरह आम लोगों पर अपना अधिपत्य जमा लेगा और आम जनता को तब भी 'स्वतंत्रता' प्राप्त नहीं होगी।

इसलिये महात्मा गांधी ने ऐसे सरल आर्थिक जीवन का जिसका आधार स्वावलंबी गाव या गावों का समूह हो और जिनमें उत्पादन का छोटे-छोटे ग्रामोद्योग में विकेन्द्रीकरण हो, समर्थन किया। उनका यह विचार था कि विकेन्द्रित उत्पादन होने पर ही प्रत्येक व्यक्ति सच्ची 'स्वतंत्रता' अनुभव कर सकेगा। बड़े पैमाने के केन्द्रित उद्योगों के खिलाफ एक आपत्ति यह भी है कि उनमें काम करने वाले मज़दूरों का जीवन मशीनवत् होजाता है और उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। अब जहा तक आधुनिक उद्योगवाद के प्रति उठाई गई इन आपत्तियों और ग्रामोद्योगों के उपरोक्त लाभों का सवाल है, गांधीजी के विचारों में बहुत कुछ तथ्य है। पर हम यह नहीं कह सकते कि बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योगों का जनता और उसके प्रतिनिधियों द्वारा नियंत्रण हो ही नहीं सकता और न यह कह सकते हैं कि ग्रामोद्योग सबके सब ही व्यक्तित्व के विकास में सहायक होने वाले हैं। इसके अतिरिक्त याद रखने की बात यह भी है कि हमारा सामाजिक लक्ष्य केवल 'स्वतंत्रता' नहीं है। उसके साथ बढ़ती हुई जनसंख्या को रहन सहन का एक सभ्य स्तर मिल सके इस दृष्टि से उनकी 'सुरक्षा', और वे जीवन का आनन्द उठा सकें इस दृष्टि से उनके 'अवकाश' का प्रश्न भी हमारे सामने है। 'सुरक्षा' और 'अवकाश' दोनों की दृष्टि से बड़े पैमाने के केन्द्रित उत्पादन की आवश्यकता हो सकती है, यह बात भी हम भूलना नहीं चाहिये। पर इसके विपरीत भारत जैसे देश की अपनी विशेष परिस्थिति है जिनमें उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक श्रम के उपयोग करने की और पूंजी के कम उपयोग करने की जरूरत है। इससे ग्रामोद्योग का महत्व भारत के लिये विशेष हो जाता है। उपरोक्त सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि विकेन्द्रित उत्पादन के तीन बड़े लाभ हैं। एक तो यह है कि यह सरल और सादा जीवन को अपनाने के पक्ष में हमारी मान्यता की पुष्टि करता है। दूसरे उससे समाज के प्रत्येक नागरिक को एक तरफ स्वतंत्रता मिलने की आशा है और दूसरी तरफ हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या को अधिक काम दे सकने की सम्भावना है। हम साथ ही साथ यह भी जानते हैं कि आधुनिक युग में कई रक्षा, शक्ति, खनिज पदार्थ, वन, और मशीन इंजिनियरिंग तथा भारी रसायनिक पदार्थों सम्बन्धी उद्योग हैं जो केन्द्रित आधार पर ही चल सकते हैं। इसी प्रकार रेलवे तथा दूसरे सार्वजनिक सत्ता के उद्योगों की बात है। इस सबका परिणाम यह है कि आज के युग की अर्थ व्यवस्था में हम दोनों प्रकार के उद्योगों का एक समन्वय बिठाना होगा।

भावी अर्थ रचना गांधीवाद और समाजवाद का समन्वय उपरोक्त

विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि हमारी राय में भावी अर्थ रचना गांधीजी के और समाजवादी विचारों के समन्वय के आधार पर स्थापित की जानी चाहिये। अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि इन दोनों के समन्वय का आधार क्या हो। जहाँ तक ऐसे उद्योग हैं जो स्वभावतः बड़े या छोटे पैमाने पर ही संगठित किये जा सकते हैं उनके बारे में तो कोई कठिनाई है नहीं। पर जो उद्योग दोनों ही आधार पर चल सकते हैं उनके बारे में यह निर्णय करना होगा कि कौन से उद्योग केन्द्रित आधार पर चलें और कौन से विकेन्द्रित। इस सम्बन्ध में एक तो हमें यह ध्यान रखना होगा कि हमारा यह निर्णय ऐसा हो जिसमें सुरक्षा, स्वतन्त्रता, और अवकाश इन तीनों दृष्टियों का सन्तुलन रह सके। दूसरी बात हमारे सामने यह रहनी चाहिये कि जहाँ तक उपभोक्ता पदार्थों के और उनमें भी खास तौर से अन्न-वस्त्र जैसे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरी करनेवाले पदार्थों के उत्पादन का प्रश्न है वह उत्पादन विकेन्द्रित आधार पर ही किया जाय क्योंकि जीवन के इस क्षेत्र में 'स्वतन्त्रता' का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है। इस प्रकार के गांधीवाद और समाजवाद के समन्वय पर बनी भावी अर्थ रचना के द्वारा ही हम अपने सामाजिक लक्ष्य 'सुरक्षा', 'स्वतन्त्रता' और 'अवकाश' की प्राप्ति कर सकेंगे।

भारत में आर्थिक योजना के प्रयत्न : भावी अर्थ रचना के बारे में सैद्धान्तिक रूप से विचार कर लेने के बाद अब हम इस सम्बन्ध में भारत में जो प्रयत्न हुए हैं उनका विचार करेंगे।

भारत में आर्थिक योजना का प्रश्न सबसे पहले कांग्रेस ने १९३८ में उठाया और उसने एक राष्ट्रीय योजना समिति का निर्माण भी किया। इस योजना समिति के अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू स्वयम् थे। इस योजना समिति ने २९ उपसमितियाँ बनाईं और इन उपसमितियों ने अपने-अपने क्षेत्र के सम्बन्ध में रिपोर्टें प्रकाशित कीं। इन रिपोर्टों में देश के आर्थिक जीवन के बारे में बहुत कुछ जानकारी है। राष्ट्रीय योजना समिति द्वारा जो योजना प्रस्तुत की गई थी उसका झुकाव समाजवादी व्यवस्था की ओर था।

भारत सरकार ने भी गत महायुद्ध समाप्त होने के बाद इस सम्बन्ध में कुछ कार्य किया। १९४४ में योजना और विकास विभाग की स्थापना की है और सर आर्देशीर दलाल उस विभाग के कौन्सिल सदस्य नियुक्त किये गये। इस विभाग ने भी एक योजना प्रकाशित की जिसके दो भाग थे—एक अल्पकालिक और दूसरा दीर्घकालिक। पर देश का विभाजन हो जाने और स्वतन्त्रता मिल जाने से सारी स्थिति बदल गयी और इस योजना के स्थान पर एक नयी योजना

की आवश्यकता पड़ गयी।

देश के लिये आर्थिक योजना प्रस्तुत करने के कुछ और भी प्रयत्न हुए। १९४७ में बम्बई के कुछ पूंजीपतियों द्वारा बम्बई योजना या बिरला टाटा योजना के नाम से एक योजना देश के सामने उपस्थित की गयी। यह योजना १५ वर्ष के लिये तैयार की गयी थी। दस हजार रुपये खर्च करने का इसमें आयोजन था, और इसका लक्ष्य था बढ़ती हुई जनसंख्या का विचार करते हुए १५ वर्ष में देश की प्रति व्यक्ति औसत आय को दुगना कर लेना। इस योजना का आधार पूंजीवाद था।

एक दूसरी योजना जन योजना (पापुलर प्लान) के नाम से भारतीय मजदूर संघ ने प्रकाशित की। इसे राय योजना भी कहते हैं। इसकी अवधि दस वर्ष रखी गयी और इसमें कुल १५ हजार करोड़ रुपये के खर्च का अनुमान किया गया। इस योजना के अनुसार दस वर्ष समाप्त होने पर देश का कृषि उत्पादन चार गुना और औद्योगिक उत्पादन छः गुना होने का अनुमान लगाया गया। जनता के रहन-सहन का दर्जा तीन गुना होने का अनुमान था। यह समाजवादी योजना थी।

तीसरी योजना गांधीवादी योजना थी। इसमें दस वर्ष में तीन हजार पांच सौ करोड़ रुपये खर्च करने का आयोजन था। इस योजना में कृषि और ग्रामोद्योग का विशेष महत्त्व था।

कोलम्बो योजना दक्षिण पूर्वी एशिया के लिये राष्ट्र मंडल के विभिन्न देशों ने कोलम्बो योजना नाम की एक ६ साल की योजना १९५० में तैयार की। इस योजना में भारत ने भी अपने लिये एक योजना शामिल की। इसमें कुल भारत का जहाँ तक सम्बन्ध है १८४० करोड़ रुपया खर्च करने का अनुमान लगाया गया है। कृषि और यातायात को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसका उद्देश्य बढ़ती हुई जन संख्या का ध्यान रखते हुए प्रति व्यक्ति प्रति दिन १६ औंस अनाज और प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष १५ गज कपड़ा उपलब्ध कर देने का है।

पंचवर्षीय योजना

हाल ही में भारत सरकार ने एक प्रस्तावित पंचवर्षीय योजना प्रकाशित की है। इस योजना में कोलम्बो योजना के भारतीय अंग का आवश्यक संशोधनों के साथ समावेश किया गया है।

भारत सरकार ने मार्च, १९५० में एक योजना आयोग (प्लानिंग कमीशन) की नियुक्ति की थी। इस योजना आयोग ने भारत के लिये इस पंचवर्षीय योजना को जनता और सरकार के विचारार्थ प्रकाशित की है। इन

पंक्तियों में इसी योजना के बारे में विचार किया जायगा।

योजना का आधार जनतंत्र : इस योजना के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसका आधार समाज और राज्य की जनतंत्रीय व्यवस्था है। योजना आयोग का यह दृष्टिकोण बिल्कुल सही है। जनतंत्र में विश्वास रखने वाले लोग इसका हृदय से स्वागत करेंगे।

जनता का सहयोग आवश्यक : जनतन्त्र के आधार पर बनी योजना तभी सफल हो सकती है जब उसे जनता का हार्दिक सहयोग प्राप्त हो और उस योजना से उनके मन में उत्साह और उमंग उत्पन्न हो। प्लानिंग कमीशन ने बहुत साफ सफ शब्दों में इस बात को मंजूर किया है। उनका लिखना है कि "किसी भी जनतन्त्रीय राष्ट्र में सरकार की योजना बनाने, सुसंगत रीति-नीति का निर्णय करने, और उसे पूरी कामयाबी के साथ व्यवहार में लाने की योग्यता इस बात पर निर्भर रहती है कि जनता का कितना समर्थन और सहयोग उसको मिल सकता है।" इसीलिए "ऐसी योजना में केवल राज्यों की सरकारों को ही नहीं, बल्कि म्यूनिसिपैलिटियों, जिला बोर्डों, ताल्लुका बोर्डों और पंचायतों जैसी स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं तथा धंधों के आधार पर संगठित संस्थाओं को काफ़ी महत्वपूर्ण हिस्सा लेना होगा।" केन्द्रीय सरकार का काम तो एक सुव्यवस्थित नीति का निश्चय करना और स्थानीय तथा दूसरे विभिन्न हितों में पैदा होने वाले मतभेदों को मिटाने का है।

सहयोग और उत्साह का आधार क्या? : सवाल तो यह है कि जनता का समर्थन और सहयोग कैसे प्राप्त किया जा सकता है? प्लानिंग कमीशन ने जो योजना प्रकाशित की है क्या उसके आधार पर जनता का समर्थन और उत्साह-पूर्वक सहयोग मिलने की आशा हो सकती है? प्लानिंग कमीशन की यह योजना क्या है और आम जनता की आर्थिक दशा में उसके परिणाम स्वरूप सुधार की क्या सम्भावना मानी जा सकती है? ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। प्लानिंग कमीशन ने जो योजना प्रस्तुत की है उसका विस्तार से विचार किये बिना, देश के आर्थिक जीवन से सीधा सम्बन्ध रखने वाली कुछ खास-खास बातों पर ही यहाँ प्रकाश डालना काफी होगा। पहली बात अन्न की समस्या की है। स्वयं प्लानिंग कमीशन ने लिखा है "जब तक अन्न की समस्या का संतोषजनक हल नहीं निकलता, देश की आर्थिक स्थिति में वह स्थिरता नहीं आ सकेगी जो इस योजना को अमल में लाने के लिये जरूरी है।" इस सम्बन्ध में प्लानिंग कमीशन ने जो योजना पेश की है, वह बहुत उत्साह देने वाली नहीं है। बढ़नेवाली आबादी का लिहाज रखने के बाद, पाँच वर्ष में देश में अन्न का जितना उत्पादन पाँच वर्षीय

योजना के अनुसार बढ़ेगा उसे और जो २० लाख टन अनाज सालाना बाहर से मँगाया जायगा उसे साथ लेने पर भी, १९५५-५६ में प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति के हिस्से में औसतन १४ औंस प्रतिदिन अन्न आवेगा। पाँच वर्षों में अनाज के उत्पादन में ७२ लाख टन की वृद्धि होने का अन्दाज लगाया गया है। १९५० में प्रति प्रौढ़ व्यक्ति प्रति दिन १३.६७ औंस के हिसाब से अनाज मौजूद था। इसका अर्थ यह है कि आज से ५ साल बाद भी अनाज की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं होगा। दूसरा सवाल कपड़े का है। पंचवर्षीय योजना के अनुसार जो कपास का उत्पादन बढ़ेगा उसको मिलाकर हमारा कपड़े की मिलों में १९५५-५६ में ४७० करोड़ गज कपड़ा तैयार होगा। इसके अलावा हाथ करघे से १६० करोड़ गज कपड़ा तैयार होने की आशा है। यह सब मिलाकर १९५५-५६ में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष लगभग १५ गज कपड़े का औसत पड़ेगा। दूसरे महायुद्ध के पूर्व यह औसत १५.२६ गज कपड़े का था। १९४९-५० में यह औसत ११.४ गज कपड़ा ही था। जो अनाज के बारे में हमने पाया लगभग वही स्थिति कपड़े के बारे में भी है। नतीजा इसका यह है कि जो योजना हमारे सामने पेश की गई है उसके द्वारा आने वाले पाँच सालों में देश की जनता को, रोटी कपड़े के मामले में तो, हमारा उत्पादन योजना के अनुसार बराबर बढ़ता जाय तब भी, कोई राहत मिल नहीं सकेगा।

जनता के आर्थिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली एक तीसरी महत्वपूर्ण चीज मँहगाई की है। देखना यह है कि पंचवर्षीय योजना के द्वारा इस स्थिति में कोई सुधार होगा या नहीं। इस सम्बन्ध में योजना आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि आगे आने वाले कुछ वर्षों में मूल्यों सम्बन्धी नीति का पहला लक्ष्य यह होना चाहिए कि अब और चीजों की कीमतें बढ़ें नहीं और जहाँ तक मुमकिन हो उनको कम किया जाय और दूसरा लक्ष्य यह होना चाहिए कि विभिन्न चीजों के मूल्यों की आपस के सम्बन्ध की समानता बनी रहे। उदाहरण के लिए खाद्यान्न और कच्चे माल के मूल्यों में समानता रहनी चाहिए ताकि किसी एक के उत्पादन को कम करके दूसरे को बढ़ाने की नौबत न आवे। पर मूल्यों सम्बन्धी इस नीति का पालन करना कहाँ तक सम्भव है इसके बारे में स्वयं प्लानिंग कमीशन को ही शंका है। इसमें प्लानिंग कमीशन का कोई दोष नहीं है। किसी देश में जब आर्थिक विकास की कोई योजना लागू होती है तो उसका लाजिमी नतीजा यह होता है कि उत्पादन बढ़ाने में पूंजी के तौर पर खर्च तो हो जाता है और चीजों का उत्पादन खर्च होने के बाद होता है। इसका यह असर पड़ता है कि किसी हद तक इस उत्पादन में लगे हुए लोगों को खर्च करने

की योग्यता तो बढ़ जाती है पर बाज़ार में माल की मात्रा उतनी जल्दी नहीं बढ़ती। इसका नतीजा कीमतों के बढ़ने का होता है। इसी सम्भावना को मंजूर करते हुए कमीशन ने भी लिखा है कि "अर्थ व्यवस्था में मँहगाई बढ़ाने वाली प्रवृत्तियाँ तो काम करती रहेंगी पर मँहगाई अधिक न हो सके इसके लिए मूल्य नियन्त्रण की व्यवस्था को और अधिक पक्का बनाना पड़ेगा और उसमें आवश्यक सुधार करना होगा।" अगर राज्य को नये रुपये का विस्तार करना पड़ा तब तो स्थिति और भी कठिन हो जायगी। नये रुपये का विस्तार करना इसलिए जरूरी हो सकता है कि राज्य को आर्थिक विकास के लिये जितने साधन चाहियें वे अगर कर अथवा ऋण से नहीं प्राप्त हो सके तो फिर नये रुपये को छापकर सरकार को इस घाटे की पूर्ति करनी पड़ेगी। यही युद्ध के समय में भी हुआ था। इस सबका सार यह है कि आने वाले ५—७ साल में तो मँहगाई कम होने की कुछ भी आशा करना ठीक नहीं होगा।

उपरोक्त विवेचन से यह साफ है कि जो पंचवर्षीय योजना पेश की गई है उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे लोगों की आर्थिक हालत सुधारने की तत्काल कोई बहुत बड़ी आशा हो सके। क्या ऐसी कोई योजना हो सकती है जो पाँच साल में ही जमीन पर स्वर्ग उतार दे? यह एक वाजिब सवाल है। पर इस सवाल को हम यहाँ नहीं उठायेंगे। वह एक तफसील का सवाल है। यहाँ हम इस योजना पर आधारभूत दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। इसके अलावा इसका पक्का जवाब वही दे सकता है जिसके पास वह सब सामग्री हो जो कमीशन के पास मौजूद थी। हम यह बात तो मान कर चलते हैं कि देश के आर्थिक विकास में पहले हमें काम करना होगा, मुसीबत का सामना करना पड़ेगा, अपने खर्चों को कम करके विकास के काम में पूंजी के तौर पर रुपया लगाना पड़ेगा। यह सब करने के बाद ही हमें अपनी महनत का फल मिल सकता है। पर आम लोग इस सब कठिनाई को उठाने के लिए और दिल से पूरा-पूरा सहयोग देने के लिए उसी हालत में तैयार हो सकते हैं जब उन्हें यह भरोसा हो कि उनके प्रयत्न के फलस्वरूप जो आर्थिक व्यवस्था बनेगी, वह उनके हित के लिए काम करने वाली होगी। इसलिए प्रस्तुत योजना में जिस तरह की आर्थिक व्यवस्था की कल्पना की गई है उस बारे में विचार करना जरूरी हो जाता है। यह देखने की बात है कि उस आर्थिक व्यवस्था के जरिये किस हद तक सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता की स्थापना संभव माननी चाहिए।

हम ऊपर यह लिख चुके हैं कि जो पांच साला योजना प्लानिंग कमीशन द्वारा प्रकाशित हुई है वह हमारे रोटी कपड़े और मंहगाई जैसे रोज बरोज के

आर्थिक मसलों का आनेवाले पांच सालों में कोई बहुत सन्तोषजनक हल नहीं निकाल सकेगा। और फिर भी यदि योजना को सफल होना है, और सर्व-साधारण को उस कार्यान्वित करने के लिए उत्साहित करना है तो यह तभी हो सकता है जब "उन्हें यह भरोसा हो कि उनके प्रयत्न के फलस्वरूप जो आर्थिक व्यवस्था बनेगी, वह उनके हित के लिए काम करने वाली होगी।" दूसरे शब्दों में उस आर्थिक व्यवस्था के द्वारा सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता की स्थापना हो सकेगी, ऐसा विश्वास आम लोगों में पैदा होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से इस पचवर्षीय योजना पर अब विचार किया जायगा।

कृषि व्यवस्था का महत्त्व किसी देश की आर्थिक व्यवस्था को समझने के लिए यह जानना होता है कि उस देश में उत्पादन की क्या व्यवस्था है? उत्पादन से जो सम्पत्ति पैदा होती है उसका लाभ किसको होता है? क्या अधिकांश सम्पत्ति चन्द लोगों के हाथ में चली जाती है या उसका समाज में न्यायपूर्ण और अपक्षाकृत समान बटवारा होता है? इसका अनुमान राष्ट्र की औसत आय से भी किसी हद तक हो सकता है। भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ के कुल काम करने वालों का लगभग ७० प्रतिशत भाग आज भी खेती से ही अपनी जीविका कमाता है। इससे यह साफ है कि देश के आर्थिक जीवन में कृषि व्यवस्था का बहुत महत्त्व है। कृषि व्यवस्था का महत्त्व इससे भी स्पष्ट होजाता है कि राष्ट्र की कुल आय का लगभग आधा भाग कृषि से ही मिलता है। १९४९ में भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय आय समिति नियुक्त की थी। उसकी पहली रिपोर्ट हाल ही में प्रकाशित हुई है। उसके अनुसार १९४८-४९ के साल में हमारी राष्ट्रीय आय ८,७१० करोड़ रुपया थी और इससे से ४८ प्रतिशत आय कृषि से होती थी। देखना यह है कि पचवर्षीय योजना में देश की कृषि व्यवस्था के सम्बन्ध में किन किन सुधारों की कल्पना की गई है और आज जो दोष उसमें पाये जाते हैं उनका इस योजना के आधार पर कहाँ तक निराकरण हो सकेगा।

देश की कृषि व्यवस्था के आधारभूत दोष हमारी कृषि व्यवस्था में वैसे तो कई छोटे मोटे दोष आज मौजूद हैं। पर जो आधारभूत और बड़े दोष माने जाते हैं वे ये हैं —खेती की जितनी जमीन है उसके हिसाब से खेती करने वालों की संख्या बहुत है इसलिए खेती के सुधार के लिए पहली जरूरत इस अत्यधिक खेती की भूमि के बोझ को कम करने की है। इसी से सम्बन्धित दूसरी समस्या यह है कि बहुत छोटे-छोटे खेतों पर खेती की जाती है। आर्थिक दृष्टि से इतने छोटे-छोटे खेत लाभदायक सिद्ध नहीं होते। समय और साधनों का

दुरुपयोग और अपव्यय होता है और उत्पादन कम होता है। इस सम्बन्ध में समय-समय पर अलग प्रदेशों में जांच भी की गई है। इस तरह से की गई जांचों से भी उपरोक्त कथन का समर्थन ही होता है। उदाहरण के लिए अविभाजित पंजाब में की गई एक जांच से मालूम पड़ा था कि लगभग ८१ प्रतिशत खेत (होल्डिंग्ज) १० एकड़ से कम थे और ६४ प्रतिशत खेत ५ एकड़ से कम थे। उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन समिति ने जो जानकारी एकत्रित की थी उससे यह मालूम पड़ा कि ८१ प्रतिशत खेत ५ एकड़ से कम के और ९४ प्रतिशत खेत १० एकड़ से कम के थे। इसके अलावा करोड़ों व्यक्ति खेती में ऐसे हैं जो खेतिहर मजदूर हैं। केवल बंधी हुई मजदूरी पर वे काम करते हैं। उनकी दशा बहुत ही शोचनीय है। स्वयं प्लानिंग कमीशन ने लिखा है कि "ग्रामीण जनसंख्या का लगभग एक तिहाई भाग खेतिहर मजदूरों का है।....उनमें से भारी बहुमत ऐसे लोगों का है जो मुश्किल से अपना पेट भरते हैं।" खेती की व्यवस्था सुधारने के लिए इस समस्या का हल भी निकालना होगा। आखीरी बात देश की कृषि व्यवस्था के बारे में जागीरदारी और जमींदारी प्रथा की है। जमींदारी प्रथा का अन्त करने के प्रयत्न जारी हैं और जागीरदारी का सवाल भी विचाराधीन है।

कृषि व्यवस्था के जिन दोषों का ऊपर जिक्र किया गया है उनका जब तक कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकलता है तब तक कृषि सम्बन्धी अन्य आवश्यक सुधार वास्तव में सम्भव नहीं हो सकते। और जिस हद तक वे सम्भव हो भी सकते हैं उस हद तक उसका लाभ पूरी तौर पर आम किसान जनता को नहीं मिल सकता। इसलिए उपरोक्त दोषों को आधारभूत दोष कहा गया है जिनके मिटने पर ही दूसरे सुधार फलदायी हो सकते हैं। पांच वर्षीय योजना में इन दोषों को दूर करने के बारे में किन-किन उपायों की सिफारिश की गई है और कहां तक उनके द्वारा वास्तव में सुधार मुमकिन हैं, अब इस पर विचार किया जायेगा।

प्लानिंग कमीशन के सुझाव : जहां तक जमींदारी और जागीरदारी प्रथा का सवाल है, जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, उनको समाप्त करने के प्रयत्न जारी हैं। कमीशन ने भी इस सम्बन्ध में जल्दी से जल्दी कार्रवाई की सिफारिश की है।

दूसरा सवाल छोटे-छोटे खेतों की समस्या को हल करने का है। प्लानिंग कमीशन ने चार उपायों पर विचार किया है:—(१) भूमि का राष्ट्रीयकरण और उस पर सामूहिक खेती; (२) मौजूदा खेतों की अधिक से अधिक सीमा निश्चित

कर लेना और अतिरिक्त भूमि को जिनके पास छोटे छोटे खेत हैं, जो खेतिहर मजदूर हैं और सहकारी खेती करना चाहते हैं उनमें बांट देना, (३) छोटे छोटे खेत वाले किसानों को सहकारी खेती के लिए प्रोत्साहित करना, और (४) सारे गाव को इकाई मान कर गाव की सारी खेती योग्य जमीन को एक ही खेत मानते हुए खेती के लिए अलग अलग हिस्सों में उसको बांट देना और गांव भर की जमीन का सहकारी आधार पर प्रबन्ध करना। प्लानिंग कमीशन ने पहले और दूसरे उपायों का समर्थन नहीं किया है। राष्ट्रीयकरण के खिलाफ मुख्य आपत्तियां दो हैं। एक तो राज्य के लिए इतने बड़े पैमाने पर मुआवजा देना सम्भव नहीं हो सकता। दूसरे, भारत का किसान परम्परा से ऐसी व्यवस्था को पसन्द करता है जो किसान को जमीन का मालिक मंजूर करे। इसके विपरीत सारी जमीन का राष्ट्रीयकरण कर लेने का अर्थ किसानों का जबरदस्त विरोध खड़ा कर लेना होगा। कमीशन का यह राय ठीक ही है। अधिक व्यावहारिक बात यही है कि जो जमीन आज किसान के पास है वह उसी के पास रहने दी जाय। पर जो नई जमीन खेती के योग्य बनाई जाय उसे अवश्य ही सामूहिक खेती के काम में लेनी चाहिए, ताकि सामूहिक खेती का देश में प्रयोग किया जा सके और व्यक्तिगत खेती के लिए वह एक उदाहरण का काम कर सके। प्लानिंग कमीशन भी इससे सहमत है।

मौजूदा खेतों की अधिकतम सीमा निश्चित कर देने और उससे अधिक भूमि को प्राप्त करके सरकार द्वारा कम भूमि वालों को बाँट देने के बारे में भी कमीशन ने कई कठिनाइयाँ उपस्थित की हैं। एक तो इस काम को करने की सरकार के पास व्यवस्था नहीं है। प्राप्त की हुई जमीन को बाँटने में कई प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयाँ आ सकती हैं। इसके अलावा जो जमीन प्राप्त की जायगी वह एक लगातार टुकड़े में न होकर गाँव के विभिन्न भागों में कई टुकड़ों में बटी होगी और इसलिए उसे सामूहिक खेती के काम में लेना आसान नहीं होगा। कमीशन का यह भी भय है कि बड़े बड़े खेतों के टुकड़े करने से पैदावार में कमी आ सकती है जो सर्वसाधारण के हित में नहीं होगी। इस प्रकार के निर्णय का विरोध भी हो सकता है और उससे एक संघर्ष पैदा हो सकता है। इन तमाम कारणों से कमीशन ने इस उपाय का भी समर्थन नहीं किया है। सब बातों पर विचार करने के बाद यही लगता है कि कमीशन के मन में इस उपाय का समर्थन करने में जो झिझक रही है उसका आधार तो है। हालांकि यह भी सही है कि इस प्रकार के सुधार के पक्ष में देश में वातावरण बनाना आवश्यक है और उपयुक्त समय का चुनाव करके ऐसे सुधारों को अमल में भी लाया जा

सकता है। इस तरह के बँटवारे से छोटे छोटे खेतों की समस्या वास्तव में किस हद तक सुधर सकती है और उसका असर कितने लोगों के विपरीत पड़ सकता है, इन बातों का अध्ययन करने की आवश्यकता है। सरकारों, कालेजों और विश्वविद्यालयों तथा दूसरे गैर सरकारी अध्ययन केन्द्रों और रचनात्मक संस्थाओं को इस ओर ध्यान देना चाहिये। सरकारों को तो इस दिशा में जल्दी से जल्दी कदम उठाना चाहिए। सारांश यह है कि भूमि सुधार के इस उपाय का अधिक अध्ययन और जाँच करने की जरूरत है। इसको सर्वथा रद्द कर देना सही नहीं होगा।

भूमि सुधार का अन्तिम ध्येय प्लानिंग कमीशन ने यह सिफारिश की है कि भूमि सुधार का लक्ष्य सहकारी आधार पर सारे गाँव की भूमि की व्यवस्था करना होना चाहिए। गाँव की इस सहकारी व्यवस्था के मुख्य मुख्य लक्षण ये होंगे :—

(१) गाँव की सारी भूमि प्रबन्ध की दृष्टि से एक ही इकाई समझी जायगी।

(२) गाँव में जिन-जिन की जमीन है उनका अपनी अपनी जमीन पर स्वामित्व बदस्तूर माना जायगा और हर फसल पर उनको जमीन के मालिक होने के कारण 'ओनरशिप डिविडेण्ड' के नाम से मुआवजा मिलेगा। जहाँ तक स्वामित्व का सवाल है उसके बारे में यह व्यवस्था कर देने के बाद, फिर गाँव की सारी खेती योग्य ज़मीन का गाँव के हित में उपयोग किया जा सकेगा।

(३) खेती में काम करने वाले सब लोगों को, चाहे वे जमीन के मालिक हों या न हों, काम के अनुसार उजरत मिलेगी।

(४) गाँव की जमीन को खेती की दृष्टि से अलग अलग ब्लाक या टुकड़ों में बाँटा जायगा और एक-एक परिवार को या एक से अधिक परिवारों के समूह को अलग-अलग उचित शर्तों पर खेती करने के लिए ये ब्लाक दिये जा सकेंगे।

(५) जब गाँव की कुल खेती की जमीन के आधे भाग के मालिक या स्थायी काश्तकार, जिनकी संख्या कि कुल ऐसे लोगों की दो तिहाई संख्या है, सहमत होंगे तभी सहकारी ग्राम प्रबन्ध किसी गाँव में लागू किया जायगा।

जब किसी गाँव में यह प्रबन्ध चालू करने का निर्णय हो जायगा तो वह खेती की सब जमीन पर ही लागू किया जायगा।

(६) उपरोक्त व्यवस्था कायम करने का अधिकार देने वाला कानून हर एक राज्य में पास होना चाहिये। इसमें इस व्यवस्था को चलाने के लिए

आवश्यक संगठन, 'आरक्षित डिवीडेण्ड' और सहकारी व्यवस्था जारी करने आदि बातों का समावेश होना चाहिए।

प्लानिंग कमीशन ने इस व्यवस्था में अनेक लाभ होने की आशा प्रकट की है। छोटे-छोटे खेतों की समस्या हल हो सकेगी। खेतिहर किसान को भी उतने काम के लिए उतनी ही मजदूरी मिलेगी जितनी कि उनको, जिनके पास जमीन है। लोगों में सामाजिक जिम्मेदारी की भावना पैदा होगी और अपनी आय में से बचत करके देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी इकट्ठी करने में वे सहयोग देंगे।

प्लानिंग कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया है कि सहकारी ग्राम व्यवस्था के आदर्श पर एक साथ पहुँचना संभव नहीं होगा। पहले इस आधार पर प्रयोग करने होंगे। इसके अलावा इस व्यवस्था को उसी हद तक जारी किया जा सकेगा जिस हद तक कि खेती में जो लोग हटेंगे उनके लिए अन्यत्र काम की व्यवस्था की जा सकेगी। यह काम की व्यवस्था प्रधानतः कुटीर उद्योगों के विकास से ही संभव हो सकेगा। पर प्लानिंग कमीशन ने इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया है। जरूरत इस बात की है कि इस समस्या के वास्तविक रूप का आँकड़ों के आधार पर अध्ययन किया जाय और किन किन उद्योगों या दूसरे कामों के कितने विकास से इसका कहाँ तक हल होना संभव है, इस बारे में स्पष्ट रूप रेखा तैयार की जाय। प्लानिंग कमीशन ने इस बारे में स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं किया है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि प्लानिंग कमीशन की यह योजना कहाँ तक अमल में लाई जा सकती है और उसके फलस्वरूप खेती पर से कितना भार कम हो सकेगा और कम होने वाले लोगों को क्या-क्या काम देना संभव होगा। भूमि सुधार के अन्तिम ध्येय के रूप में इस सहकारी गाँव प्रबंध को स्वीकार करने का कमीशन का प्रस्ताव गम्भीरता पूर्वक विचारने योग्य है। हमारा विचार है कि कुछ संशोधनों के साथ इस ध्येय को स्वीकार करना ठीक हो सकता है। एक तो यह कि राज्य की धारा सभा को कानून पास करके ग्राम सुधार की इस व्यवस्था को लागू करने का अधिकार होना चाहिए। यह शर्त रखना ठीक नहीं है कि किसी भी गाँव में अमुक संख्या में और जमीन के अमुक भाग के मालिक या स्थायी काश्तकारों की सहमति से ही इस व्यवस्था को जारी किया जाय। इससे जो लोग इस व्यवस्था के विरोधी हैं उन्हें अड़चन पैदा करने का अवसर मिलेगा, अलग-अलग गाँवों में लोगों की राय जानने की व्यवस्था करने में कठिनाई होगी, जिनके जिम्मे गाँवों की राय जानने का काम होगा, वे यदि चाहेंगे तो इस व्यवस्था को चुपचाप असफल बना सकेंगे, तथा और

भी कई कठिनाइयां पैदा होंगी। इसके अलावा इस बारे में एक बात और ध्यान देने की है। 'ओनरशिप डिविडेंड' के बारे में यह होना चाहिए कि धीरे धीरे उसकी दर कम होती जाय और अमुक समय के बाद वह सर्वथा बन्द हो जाय तथा गाँव की सारी जमीन के सामूहिक रूप से गाँव के लोग ही मालिक हो जायँ। यह इसलिये जरूरी है कि आज जो जमीन के स्वामित्व के बारे में असमानता फैली हुई है इसका इस प्रकार एक समय के बाद अन्त हो जायगा। इन परिवर्तनों के बाद भूमि सुधार की उपरोक्त योजना के द्वारा हमारे देश में न्यायोचित भूमि व्यवस्था की स्थापना हो सकती है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, प्लानिंग कमीशन का यह मानना है कि सहकारी ग्राम प्रबन्ध के लक्ष्य तक पहुंचने में समय लगेगा। उस लक्ष्य तक पहुंचने में कई पूर्व अवस्थायें पार करनी पड़ सकती हैं। इसलिए प्लानिंग कमीशन ने भूमि सुधार का एक तत्काल शुरू हो सकने वाला कार्यक्रम भी उपस्थित किया है। उस कार्यक्रम के तीन मुख्य अंग हैं:—

(१) गांव उत्पादन परिषदों की स्थापना; (२) रजिस्टर्ड फार्मों की स्थापना और (३) सहकारी खेती समितियों का विकास। इस कार्यक्रम के बारे में थोड़ा विस्तार से लिखने की आवश्यकता है।

प्लानिंग कमीशन की यह सिफारिश है कि प्रत्येक राज्य को कानून बनाकर यह निश्चित कर देना चाहिए कि अमुक मर्यादा से बड़े जितने भी खेत होंगे उनको रजिस्टर्ड फार्म की श्रेणी में मान लिया जायगा। यह मर्यादा भिन्न-भिन्न स्थानों के लिए अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है। मामूली तौर से कमीशन की राय में रजिस्टर्ड फार्मों की गिनती में उन सब खेतों को मान लेना ठीक हो सकता है जिनका क्षेत्रफल आज जो इकोनोमिक होल्डिंग (आर्थिक दृष्टि से लाभदायक छोटे से छोटे खेत) माना जा सकता है उसके क्षेत्रफल से छः गुने से ज्यादा हो। जो रजिस्टर्ड फ़ार्मों के मालिक होंगे उन पर कानून के अन्तर्गत नीचे लिखी जिम्मेदारियाँ होंगी:—(१) खेती करने के स्वीकृत वैज्ञानिक उपायों को काम में लेना और अधिक से अधिक उत्पादन की दृष्टि से खेतों का विकास करना; (२) अच्छा बीज सरकार को बेचना; (३) अतिरिक्त अनाज सरकार को बेचना; और (४) खेतिहर मजदूरों को निश्चित मजदूरी देना तथा काम की दूसरी शर्तों का पालन करना। सरकार का काम होगा कि इनको आवश्यक साधन, सुविधायें, सलाह और मार्ग दर्शन दे।

जो खेत रजिस्टर्ड फार्म की गिनती में नहीं आ सके, उनके लिए कमीशन ने यह सिफारिश की है कि उनके मालिकों को सहकारी खेती समितियाँ बनाने

के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। ये सहकारी खेती समितियों के लिए कमीशन नीचे लिखी शर्ते लगाना उचित समझता है —(१) सहकारी खेती समिति के पास भी कम से कम इतनी जमीन होनी चाहिए जितनी कम से कम जमीन रजिस्टर्ड फार्म के लिए निश्चित की जाय। (२) आर्थिक सहायता, टेकनिकल सलाह, क्रय विक्रय की सुविधा और दूसरी आवश्यक बातों की व्यवस्था के बारे में सरकार सहकारी खेती समितियों का पहले ध्यान रखे। (३) जिन गाँवों में सहकारी खेती समितियाँ स्थापित हो चुकी हैं उन गाँवों की जमीन की चकबन्दी के लिए और गाँवों की अपेक्षा पहले चुनना। अगर बिना सारे गाँव की जमीन चकबन्दी किये भी सहकारी खेती समितियों की जमीन की चकबन्दी करना सम्भव है तो उसे करना। (४) पड़ती जमीन को खेती के लिए उठाने में सहकारी खेती समितियों को पहले मौका देना और ऐसी जमीन को खेती योग्य बनाने के लिए सरकार से सहायता देना। (५) यह व्यवस्था करना कि यदि कोई व्यक्ति जिसकी जमीन सहकारी खेती समिति के पास है स्वयं खेती भी नहीं करता है तो भी उसके भूमि सम्बन्धी अधिकार पर इसका कोई प्रतिकूल असर नहीं पड़ेगा। इससे सहकारी खेती समितियों के निर्माण करने और खेतों पर से अतिरिक्त और अनावश्यक संख्या को कम करने में मदद मिल सकती है।

गाँवों में उत्पादन बढ़ाने के काम की देखभाल करने के लिए प्लानिंग कमीशन ने यह सिफारिश की है कि प्रत्येक गाँव या गाँवों के किसी समूह में एक 'ग्राम उत्पादन परिषद्' कायम की जानी चाहिए। गाँव पंचायत की कोई उपसमिति इस परिषद् का काम कर सकती है जिसमें गाँव के दो तीन किसान और गाँव की साख समिति के कुछ पदाधिकारी भी शामिल किये जा सकते हैं। किसी गाँव में अगर पंचायत न हो तो उस गाँव की सहकारी साख समिति की प्रबन्ध समिति को उत्पादन परिषद् का काम सौंपा जा सकता है। या फिर एक नई समिति का ही इस काम के लिए निर्माण किया जा सकता है। गाँव उत्पादन परिषद् की जिम्मेदारियों और कार्यक्षेत्र को कानून से निश्चित करने की प्लानिंग कमीशन ने सिफारिश की है। ये जिम्मेदारियाँ और कार्यक्षेत्र इस तरह का होगा —

(१) हर साल के लिये गाँव भर के वास्ते पैदावार का कार्यक्रम बनाना।

(२) उपरोक्त कार्यक्रम को पूरा करने के लिए धन और दूसरी चीजों की कितनी कितनी आवश्यकता होगी इसका बजट तैयार करना।

(३) हर फसल के बाद कितनी पैदावार हुई इसकी जाँच करना।

(४) गाँव के लिये सहकारी सहायता प्राप्त करना।

(५) पड़ती जमीन को खेती के काम में लेने की व्यवस्था करना।

(६) कृषि उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से खेती करने के तरीकों के बारे में कम से कम एक स्टैंडर्ड कायम करना जिसके अनुसार गांव के सब लोग काम करें।

(७) जिस जमीन के मालिक अपनी जमीन पर खेती नहीं करते हैं उस पर खेती करने की व्यवस्था करना।

(८) इनाम तथा दूसरे प्रोत्साहन देकर उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न करना।

(९) अधिक पैदावार वाले खाद्यान्न की खेती को बढ़ाना।

(१०) सार्वजनिक हित के कामों के लिये स्वयंसेवकों का संगठन करना जो ऐसे कामों को अपनी इच्छा से करने को तैयार हों।

(११) गांव के हाथ के उद्योग में लगे कारीगरों को कितने कच्चे माल की आवश्यकता है इसका अन्दाज लगाना और उसका प्रबन्ध करना।

(१२) अतिरिक्त अनाज को 'प्रोक्योर' करने और बेचने में मदद करना।

ऊपर के विवरण से यह साफ हो जाना चाहिये कि गांव उत्पादन परिषद् का काम गांव के सब प्रकार के किसानों की सहायता करना और उत्पादन बढ़ाने में उनकी मदद करना होगा—फिर चाहे वे व्यक्तिगत रूप से खेती करने वाले किसान हों, या सहकारी खेती समिति के सदस्य हों या रजिस्टर्ड फार्म पर खेती करने वाले हों। कृषि योजना का सारा आधार और उसे अमल में लाने का सारा जिम्मा ही इन गांव उत्पादन परिषदों का होगा। उत्पादन का किस गांव में क्या लक्ष्य होना चाहिये उसका प्रस्ताव गांव वाले अपनी इसी परिषद् के द्वारा करेंगे और यही परिषद् उस लक्ष्य को पूरा कराने का एकमात्र साधन होगी।

प्लानिंग कमीशन ने भूमि सुधार और कृषि उत्पादन को बढ़ाने की जो उपरोक्त तात्कालिक कार्यक्रम पेश किया है वह स्वागत करने लायक है। गांव उत्पादन परिषदों के जरिये गांव वालों को उत्पादन के काम में जिम्मेदार बनाया जा सकेगा। रजिस्टर्ड फार्मों से हम यह आशा रख सकते हैं कि वैज्ञानिक उत्पादन का गांव में वे एक आदर्श उपस्थित करेंगी और गांव वालों के मन पर बड़े खेतों पर खेती करने के लाभ को अंकित करने का यह एक अच्छा प्रयास होगा। इससे सहकारी खेती समितियों और भूमि की चकबन्दी के काम को भी प्रोत्साहन मिलेगा। इस योजना में केवल इतना और जोड़ने की आवश्यकता है कि गांव में जैसे जैसे उत्पादन बढ़ेगा वैसे वैसे उसका एक बढ़ता हुआ हिस्सा गांव की आवश्यकता को पूरी करने के लिये गांव में छोड़ दिया जायगा और गांव के अतिरिक्त अनाज का अनुमान इसे छोड़ कर लगाया जायगा। इसके अलावा अनाज के 'रिजर्व' बनाने का प्रश्न भी सोचने योग्य है। हर तहसील में एक

अच्छा गोदाम हो जहा अकाल व समय के लिये अनाज सुरक्षित रखा जा सके। बढ़े हुये उत्पादन का एक हिस्सा इसके लिये सुरक्षित रखा जाये। इनकी व्यवस्था गाव उत्पादन परिषदा के हाथ म और सरकार का देख रेख में रहे। गोदाम बनाने का जिम्मा गाव वालों पर छोड़ा जाना चाहिये। सरकार इसम मदद दे सकती है और आवश्यक मार्ग दर्शन कर सकती है। गाव उत्पादन परिषद् को अधिक प्रतिनिधात्मक भी बनाया जा सकता है और उसके कार्यक्षेत्र को थोड़ा विस्तृत भी किया जा सकता है। इस दृष्टि से इसका नाम उत्पादन परिषद् के स्थान पर आर्थिक परिषद् रखना उचित हो सकता है। लक्ष्य हमारा यह होना चाहिये कि आगे चलकर यह परिषद् गाव के समस्त आर्थिक जीवन की देख रेख करने वाली परिषद बने, क्योंकि गाव का आर्थिक जीवन एक अविभाज्य इकाई है और एक ही सगठन द्वारा नियन्त्रण और उसकी व्यवस्था करना अधिक सही होगा। इन परिषदों के कार्यक्षेत्र में गाव के कपड़े की उचित व्यवस्था का तो तुरन्त ही समावेश करना चाहिये ताकि रोटी और कपड़े के दो आधारभूत सवालों का हल करने में तो उसका तुरन्त ही उपयोग हो सके। यह भी विचारने योग्य बात है कि गाव परिषदों के आधार पर तहसील, जिला प्रान्त और देशव्यापी सगठन खड़ा किया जाय ताकि सारे देश के आर्थिक जीवन का समाकरण सम्भव हो सके।

खेती सम्बन्धी जिन आधारभूत समस्याओं का हमने उल्लेख किया है उनम से जमीदारी-जागीरदारी प्रथा और छोटे छोटे खेतों की समस्या के बारे में प्लानिंग कमीशन के सुझाव और उनमें क्या क्या सशोधन आवश्यक हैं—इस बारे में अब तक लिखा गया है। अब दो आधारभूत समस्यायें और रह जाती हैं। एक है खेतिहर मजदूर का और दूसरी है खेती पर जो अतिरिक्त जनसख्या है उसे कम करने और उन लोगों को दूसरा काम देने का।

खेतिहर मजदूरों की सख्या, प्लानिंग कमीशन का ऐसा ख्याल है, कुल ग्रामीण जनसख्या का एक तिहाई भाग है। इनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति काफी खराब है। पिछले वर्षों में जो किसानों को राहत पहुचाने की दृष्टि से 'टानेंसी' तथा दूसरे कानून बने हैं, वे भी इन खेतिहर मजदूरों की समस्याओं को प्राय नहीं छूते। जब तक हमारी ग्राम्य अर्थ व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नहीं होता, खेतिहर मजदूरों की स्थिति में कोई कहने लायक सुधार करना संभव नहीं है, यह स्वयं प्लानिंग कमीशन की भी राय है। क्योंकि आज तो हालत यह है कि जो जमीन का मालिक किसान है उसे भी खेती से पूरा रोजगार नहीं मिलता। इस बारे में प्लानिंग कमीशन ने यह आशा प्रकट की है कि जैसे जैसे

सहकारी गांव प्रबंध का विस्तार होगा खेतिहर मजदूर की स्थिति भी सुधरेगी और उसे पूरा काम मिल सकेगा, फिर चाहे वह खेत मजदूर की हैसियत से मिले और चाहे अन्य किसी हैसियत से। पर जब तक ऐसा नहीं होता उन्होंने नीचे दी गई सिफारिशें की हैं :—

(१) राज्यों को उन प्रदेशों में जहां खेतिहर मजदूरों की मजदूरी बहुत कम हो, १६४८ का न्यूनतम मजदूरी कानून लागू करके उनकी न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर देनी चाहिए।

(२) अमुक मर्यादा से ऊपर के खेतों पर काम करने वाले खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी तय कर दी जाय। यह मर्यादा रजिस्टर्ड फार्मों की जो मर्यादा तय हो वही हो सकती है। चूंकि बड़े बड़े फार्मों पर खेती व्यापारिक आधार पर होती है, इसलिए उनको अपने मजदूरों को उचित मजदूरी दे सकना चाहिए।

(३) पड़त भूमि पर राज्य द्वारा संचालित फार्मों की आवश्यकता पूरी हो जाने के बाद खेती करने की सुविधा सबसे पहले खेतिहर मजदूरों की सहकारी समितियों को देनी चाहिए।

(४) खेतिहर मजदूरों की भलाई के लिए अन्य आवश्यक बातों जैसे मकान बनाने के लिए जमीन, पीने के लिए पानी, शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियां आदि की व्यवस्था करने की ओर विशेष ध्यान दिया जना चाहिए। उनको ऋण-मुक्त करने के लिए कानून बनाना चाहिए। उनकी भलाई के और कानून भी बनाये जाने चाहिए।

जहां तक खेती से अतिरिक्त जनसंख्या को हटा कर दूसरा काम देने का प्रश्न है, कमीशन ने इस प्रश्न की गंभीरता को तो स्वीकार किया है। उसने यह भी मंजूर किया है कि सहकारी ग्राम प्रबन्ध योजना की प्रगति इस बात पर भी निर्भर रहेगी कि जो लोग आवश्यकता नहीं होने से खेती के काम से निकल जाते हैं उनके लिए और कोई काम की व्यवस्था है या नहीं। यह भी ठीक है कि प्रधानतः उद्योग धन्धों और उनमें भी खास कर कुटीर उद्योग धंधों के विकास के अलावा इस अतिरिक्त जनसंख्या को काम देने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। प्लानिंग कमीशन ने कुटीर उद्योगों के इस महत्व को स्वीकार किया है और उनके विकास के लिए कई सुझाव भी पेश किये हैं। पर खेती में जिसकी जरूरत नहीं है ऐसी अतिरिक्त जनसंख्या को और कोई काम देने की समस्या का आंकड़ों के आधार पर योजना आयोग ने अध्ययन नहीं किया है। उसने यह अनुमान नहीं लगाया है कि अन्य धंधों का जितना विकास होगा उसको देखते हुए इस समस्या का कहां तक हल हो सकेगा और पांचों वर्षों की योजना अगर अमल

में आ जाती है तो हमारे देश की जनसंख्या का विभिन्न धन्धों और पेशों में कैसा बटवारा होगा। यहां यह ध्यान में रखने की बात अवश्य है कि आर्थिक विकास के साथ साथ उद्योग धन्धों के अलावा दूसरे पेशों में भी—फिर चाहे वह शासन से संबंध रखते हों, या वाणिज्य व्यापार से, या यातायात तथा ऐसी ही दूसरी सेवाओं से—काम करने वालों की संख्या किस हद तक बढ़ेगी।

देश की कृषि व्यवस्था का जो स्वरूप प्लानिंग कमीशन ने उपस्थित किया है, और भूमि व्यवस्था में सुधार करने के जो सुझाव उसने रखे हैं वे हमारी आज की खेती की गिरी हुई अवस्था को सुधारने में सहायक होंगे। उन संशोधनों के साथ जो ऊपर सुझाये गये हैं इस आधार पर कृषि व्यवस्था का जो नया ढांचा खड़ा होगा वह आर्थिक दृष्टि से अधिक सफल और सामाजिक दृष्टि से अधिक न्यायपूर्ण और प्रगतिशील होगा। पर यहां एक बात याद दिलाना आवश्यक है। किसी देश की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था का उसकी कृषि व्यवस्था एक अंग मात्र होता है। दूसरा महत्वपूर्ण अंग उद्योग धन्धों से संबंध रखता है। किसी भी देश का आर्थिक व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से सफल और सामाजिक दृष्टि से न्यायपूर्ण और प्रगतिशील तभी हो सकती है जब उसके तमाम अंग प्रत्यंगों का संगठन इस आधार पर हो। कृषि और उद्योग धन्धों के अलावा वाणिज्य व्यापार, बैंकिंग, यातायात, इन्श्योरेंस आदि आर्थिक व्यवस्था के अन्य अंगोपांग हैं। पर हम यहां केवल औद्योगिक व्यवस्था के बारे में ही विचार करेंगे। देश के आर्थिक संगठन का आधार कृषि और उद्योग इन दो स्तम्भों पर ही खड़ा रहता है। जब तक दोनों स्तंभ स्वस्थ नहीं हों, स्वस्थ आर्थिक व्यवस्था का निर्माण नहीं हो सकता, और न केवल किसी एक स्तंभ के स्वस्थ होने का लाभ ही समाज को मिल सकता है।

औद्योगिक उन्नति की आवश्यकता—हमारे देश की अर्थ व्यवस्था का एक बड़ा दोष यह है कि कृषि के अलावा दूसरे धन्धों में बहुत कम लोग लगे हुये हैं। कृषि की सफलता पर ही हमारा सारा आर्थिक ढाँचा खड़ा है। इस स्थिति में सुधार करने के लिए एक ओर तो खेती उद्योग को उन्नत बनाना होगा और दूसरी ओर उद्योग धन्धों का प्रसार करना होगा जैसा कि पहले लिखा भी जा चुका है। एक हद तक ये दोनों बातें आपस में जुड़ी हुई हैं। बिना उद्योग धन्धों के विस्तार के खेती पर जो आवश्यकता से अधिक लोग निर्भर हैं उनको वहां से हटा कर दूसरा काम नहीं दिया जा सकता। और बिना खेती की उन्नति के उद्योग धन्धों के लिए न कच्चे माल की और न तैयार माल की खपत की ही समस्या का कोई सन्तोषजनक हल हो

सकता है। देश की सुरक्षा का प्रश्न भी उद्योग धन्धों के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि देश के औद्योगिक विकास की बड़ी जरूरत है। प्लानिंग कमीशन के इस बारे में जो प्रस्ताव हैं उन पर अब विचार किया जायेगा।

आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय का महत्व : उद्योग धन्धों से सम्बन्ध रखने वाले वैसे तो छोटे मोटे कई सवाल हैं। पर यहाँ कुछ बड़े और आधारभूत सवालों पर ही विचार किया जायगा—उन सवालों पर जिनका सम्बन्ध इस बात से है कि देश में प्लानिंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार जो औद्योगिक व्यवस्था का स्वरूप बनेगा उसमें आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय के लिए कहाँ तक गुंजायश हो सकेगी। आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय के महत्व को स्वीकार करते हुए स्वयं प्लानिंग कमीशन ने लिखा है :—"हमारे देश में सम्पत्ति और आय का वर्तमान बँटवारा असन्तोषजनक है और उसमें विभिन्न वर्गों के बीच में अपेक्षाकृत अधिक समानता लाना सामाजिक न्याय के लिये तो जरूरी है ही, पर देश के उत्पादन के साधनों का पूरा पूरा उपयोग करने के लिए भी यह आवश्यक है। जनतंत्र के अस्तित्व के लिये आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय का होना अनिवार्य है। किसी भी योजना की अनिवार्य शर्त यह है कि आय और सम्पति की असमानता को मिटाने के लिए अच्छी तरह से सोची हुई नीति को अपनाया जाय।"

आर्थिक संगठन का रूप कैसा हो : इस बात को सब स्वीकार करते हैं कि उद्योग धन्धों का संचालन अगर पूरी तौर से पूंजीपतियों के हाथ में छोड़ दिया जाय तो उससे आम जनता की भलाई नहीं हो सकती। पूंजीपति अपना सारा कारोबार अपनी लाभ हानि को सामने रख कर चलाते हैं। अपना लाभ कमाने के लालच में न तो उन्हें समाज की जरूरत का ध्यान रहता है और न इस बात का कि जो मज़दूर वर्ग उनके कारखानों में काम करते हैं उनका शोषण न किया जाए। इसी को पूंजीवादी व्यवस्था कहते हैं जो आर्थिक असमानता और सामाजिक अन्याय को जन्म देती है, उन्हीं के आधार पर वह पनपती है और आख़िरकार उन्हीं के कारण उसका अन्त भी होता है। पूंजीवाद के दोषों को मिटाने के लिए एक दूसरी व्यवस्था की कल्पना की गई है। इस व्यवस्था का आधार यह है कि उद्योग धन्धे तथा उत्पादन के दूसरे काम पूंजीपतियों पर न छोड़े जायें; उनकी व्यवस्था राज्य करे। राज्य समाज की प्रतिनिधि संस्था होने से समाज की भलाई की दृष्टि से सारे कारोबार को चलायेगा; उसे मुनाफा कमाने का लोभ नहीं होगा; मज़दूरों का शोषण नहीं होगा आदि। इसी को समाज-

वादी व्यवस्था कहते हैं। इस व्यवस्था की पूंजीपतियों और उनके समर्थकों ने यह कहकर आलोचना की कि राज्य इन कामों को नहीं कर सकता। इन कामों को करने की उसके पास योग्यता नहीं हो सकती। उसके पास आवश्यक साधन भी नहीं जुट सकते। राज्य के पास इतनी शक्ति जमा हो जायेगी जिसका वे लोग जो राज्यतन्त्र को चलाने वाले होंगे दुरुपयोग करेंगे यानी जनता की आज़ादी नष्ट हो जायगी। अर्थात जनतन्त्र और समाजवाद का मेल नहीं है। पर यह आपत्ति इतनी सही नहीं है, यह बात आज प्रायः सब जानकार और अनुभवी लोग मंजूर करते हैं। इसमें जितना सा तथ्य है उसका इलाज भी बिना पूंजीवाद को कायम रक्खे आराम से किया जा सकता है। इसलिए पूंजीवाद को बनाये रखने के लिए यह दलील देना कि समाजवाद स्वतन्त्रता के लिए घातक होगा, ईमानदारी की बात नहीं है। इसलिये समाजवादी अर्थ व्यवस्था के या राज्य द्वारा उद्योग धन्धों को चलाने के विरुद्ध आज तो सबसे बड़ी दलील यही दी जाती है कि राज्य इस काम को कर नहीं सकता। हमारे देश में तो जबसे हम आज़ाद हुये हैं इस दलील का बड़ा प्रचार हुआ है। कई ईमानदार आदमी भी आज इससे बेहद हद तक प्रभावित हैं। । यहाँ तो यह और कहा जाता है कि भारत के सामने तो मुख्य आर्थिक समस्या उत्पादन की है, वितरण की नहीं। भारत एक गरीब देश है। राज्य के पास भी साधन कम हैं और काम ज्यादा है। उक्त काम ऐसे हैं जो राज्य के ही करने के हैं—जैसे यातायात, सिंचाई, विद्युत-शक्ति आदि की योजनाओं को कार्यान्वित करना। ऐसी हालत में राज्य को अपने साधनों का उपयोग इन ज्यादा ज़रूरी कामों को करने में करना चाहिये न कि उन उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण करने में जो निजी मालिक चला रहे हैं या उन नये उद्योगों को शुरू करने में जिनको पूंजीपति चला सकते हैं। इसके साथ एक तर्क और उपस्थित किया जाता है कि सरकार का मशीनरी और उसके कर्मचारी वर्ग इस योग्य नहीं हैं कि उद्योग धन्धों को चला सकें। उनके हाथ में अगर यह काम जायगा तो सारा कारोबार चौपट हो जायगा। पर ये सब तर्क करने वाले लोगों के सामने भी यह सवाल तो रह ही जाता है कि अगर पूंजीपतियों के हाथ में सारा कारोबार छोड़ दिया जायगा तो समाज की ज़रूरतें पूरी नहीं होंगी, समाज में शोषण कायम रहेगा, आर्थिक असमानता बढ़ेगी और सामाजिक न्याय का अभाव रहेगा। इसके जवाब में आज वह यह कहते हैं कि राज्य को उन पर नियन्त्रण रखना चाहिये। इसके अलावा कुछ उद्योग धन्धों को चलाने का जिम्मा भी स्वयं राज्य लेले। पर यह उद्योग धन्धे ऐसे हों जिनमें पूंजीपति वर्ग को बहुत दिलचस्पी न हो और राज्य का कारोबार

कुल मिलाकर इतना न फैल जाय कि पूंजीपति वर्ग और व्यक्तिगत व्यवसाय के लिये यथेष्ट अवसर ही न रहे। इसीको आज मिलीजुली अर्थ व्यवस्था (मिक्स्ड इकोनोमी) का नाम दिया जाता है जिसमें राज्य और पूंजीपति दोनों का ही अर्थ व्यवस्था के संचालन में मिलाजुला हाथ रहता है और दोनों के ही कार्य-क्षेत्र निश्चित होते हैं।

प्लानिंग कमीशन मिलीजुली अर्थ व्यवस्था के पक्ष में : लगभग उपरोक्त दलीलों से प्रभावित होकर ही प्लानिंग कमीशन ने भी मिलीजुली आर्थिक व्यवस्था के पक्ष में ही अपनी राय दी है। औद्योगिक उन्नति संबंधी उसके सुझाव इसी प्रकार की अर्थ व्यवस्था की देश में स्थापना करने के लक्ष्य से किए गए हैं। एक जगह प्लानिंग कमीशन ने लिखा है—"योजना को कार्यान्वित करने का एक तरीका यह भी हो सकता है कि उत्पादन साधनों का करीब करीब पूरी तौर से राष्ट्रीयकरण कर लिया जाये, उनका किन किन कामों के लिये उपयोग करना है इस पर सरकार का पूरा नियंत्रण हो, और राष्ट्रीय आय के बंटवारे पर भी सरकार का नियंत्रण रहे। योजना को अमल में लाने का यह एक बहुत ही सफल तरीका मालूम पड़ सकता है। पर व्यवहारिक दृष्टि से आर्थिक मामलों में सरकार के कार्यक्षेत्र का इतना विस्तार करना न आवश्यक है और न उचित ही।" आगे चलकर कमीशन का कहना है—"जनतंत्रीय समाज में योजना को कार्यान्वित करने के लिये देश के उत्पादन साधनों का नया बंटवारा करने में कम से कम जबरदस्ती की जानी चाहिये। राज्य के पास इस समय जो साधन हैं उनका उपयोग नए कामों को जारी करने में करना चाहिये न कि मौजूदा उद्योग धंधों और उत्पादन साधनों का राष्ट्रीयकरण करने में। कुछ कामों में उत्पादन साधनों पर राज्य का स्वामित्व होना ज़रूरी हो सकता है और कुछ में राज्य का नियंत्रण ही काफी हो सकता है। व्यक्तिगत व्यवसाय का उत्पादन और वितरण दोनों में ही बड़ा हिस्सा रहने वाला है। वर्तमान परिस्थितियों में योजना का अर्थ है ऐसी अर्थ व्यवस्था कायम करना जिसका मार्ग दर्शन और नियंत्रण राज्य के हाथ में हो पर उसके अन्तर्गत कारोबार को चलाने का काम थोड़ा राज्य और थोड़ा व्यक्तिगत रूप से व्यवसायियों के हाथों में रहे।" प्लानिंग कमीशन ने व्यक्तिगत व्यवसाय और राज्य के बीच में कार्यक्षेत्र का बटवारा करने के जो सुझाव दिये हैं उनका सार यह है कि कृषि, सिंचाई व विद्युत-शक्ति संबंधी योजनाओं का जिम्मा राज्य पर डाला गया है और औद्योगिक क्षेत्र बहुत कुछ पूंजीपति वर्ग के लिये खुला छोड़ दिया है। इसका कारण राज्य के पास उत्पादन साधनों की कमी बताई गई है। इस विषय में प्लानिंग कमीशन के ये शब्द

उल्लेखनीय है—"चू कि विकास के लिये जो उपलब्ध साधन हैं व सीमित हैं और चू कि कृषि उत्पादन को बढ़ाने वाले कामों की योजना में सबसे बड़ी प्राथमिकता दी गई है, इसलिये औद्योगिक विस्तार के लिए जो साधन बचते हैं, वे बहुत कम हैं।" इसी बात का समर्थन करते हुए प्लानिंग कमीशन ने अन्यत्र लिखा है —

'चूकि जो उत्पादन साधन राज्य को उपलब्ध हो सकते हैं, उनका अधिकांश भाग कृषि, सिंचाई तथा शक्ति के विकास में लग जायगा, इसलिये उद्योग धंधों में अधिक रुपया लगाना राज्य के लिये संभव नहीं हो सकेगा।" साधनों की कमी के अलावा प्लानिंग कमीशन ने मिलीजुली अर्थ व्यवस्था के पक्ष में दूसरा कारण यह बताया है कि आर्थिक व्यवस्था का संचालन करने योग्य कर्मचारी वर्ग भी राज्य के पास नहीं है। इस संबंध में प्लानिंग कमीशन ने लिखा है—'व्यक्तिगत व्यवसाय के संबंध में जिस नीति को अपनाने का हमने प्रस्ताव किया है उसका आधार केवल यही नहीं है कि राज्य के पास अधिक साधनों की कमी है। एक कारण यह भी है कि जो कुछ सुझाव हमने रखे हैं उससे अधिक कर सकने के लिये आज सरकार के पास आवश्यक योग्यता के कर्मचारी भी नहीं हैं।" यह दलील कोई प्लानिंग कमीशन ने ही पहली बार दी हो, ऐसी बात नहीं है। जब से देश स्वतंत्र हुआ तब से पूंजीपति और व्यवसायी वर्ग तथा उनके समर्थकों की ओर से लगातार यह बात कही जा रही है कि अर्थ व्यवस्था का संचालन करने की क्षमता राज्य के शासन तंत्र में नहीं है। इस तर्क का देश में बहुत योजना पूर्वक प्रचार हुआ हो, ध्यान पूर्वक सोचने पर कुछ इस प्रकार की आशंका भी होती है।

मिलीजुली अर्थ व्यवस्था की सफलता का आधार उपरोक्त विवेचन से यह साफ हो जाता है कि प्लानिंग कमीशन ने देश में मिलीजुली व्यवस्था के पक्ष में अपनी राय क्यों दी। राज्य के पास पर्याप्त आर्थिक साधनों का अभाव और योग्य कर्मचारियों की कमी, ये दो मुख्य कारण हैं जो मिलीजुली अर्थ व्यवस्था के पक्ष में राय देने में प्लानिंग कमीशन के सामने रहे हैं। पर इन दो कारणों के अलावा एक और कारण भी प्लानिंग कमीशन के सामने रहा है, हालांकि उसका बहुत साफ साफ उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। यह कारण यह रहा है कि जनतंत्र में कोई योजना तभी सफल हो सकता है जब उसमें कम से कम राज्य का दबाव हो। उनका आशय संभवतः यह है कि व्यवसायी वर्ग को असन्तुष्ट और नाराज करके किसी अर्थ व्यवस्था को न तो कायम करना ठीक हो सकता और न उसका सफलता पूर्वक संचालन ही हो सकता है। सफल योजना के लिये जो राजनैतिक और व्यवस्था संबंधी शर्तें गिनाई हैं, वे ये हैं —

(१) समाज में उद्देश्य के बारे में अधिक से अधिक एकमतता।

(२) जनता के सहयोग के आधार पर प्राप्त, राज्य के हाथ में वास्तविक शक्ति, और उद्देश्य पूर्ति के लिये इस शक्ति का राज्य द्वारा उपयोग।

(३) कार्यक्रम और योग्य शासन तंत्र।

वैसे तो इन तीनों ही शर्तों का पूरा होना आवश्यक है। पर जो पहली शर्त है कि समाज में योजना के उद्देश्य के बारे में एकमतता होनी चाहिए उसका यदि कोई व्यावहारिक अर्थ हो सकता है तो वह यही हो सकता है कि सामान्यतया जिन लोगों के विरोध की आशंका ऐसे प्रश्नों पर हो सकती है उनके विरोध को कम किया जाये। आम जनता के लाभ की यदि कोई योजना बनती है तो उसके प्रति विरोध की आशंका उन वर्गों की ओर से ही हो सकती है जिनका स्वार्थ आम लोगों के स्वार्थ से टकरा सकता है। इन वर्गों में आज पूंजीपति वर्ग की प्रधानता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूंजीपति वर्ग का विरोध न हो, ऐसी योजना ही सफलतापूर्वक चल सकती है, ऐसा बहुत करके प्लानिंग कमीशन का मानना है।

प्लानिंग कमीशन ने जगह-जगह मिलीजुली अर्थ व्यवस्था की सफलता किस बात पर आधारित है इस बारे में जो कुछ लिखा है उससे भी इस बात का समर्थन होता है कि प्लानिंग कमीशन पूंजीपति वर्ग के सहयोग का कितना महत्त्व मानता है। प्लानिंग कमीशन एक जगह लिखता है "व्यक्तिगत व्यवसाय के क्षेत्र में इस योजना की सफलता इस बात पर निर्भर है कि व्यवसायी कितना प्रयत्न स्वयं करते हैं।" आगे चलकर कमीशन कहता है "योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था का अर्थ ही यह है कि राजकीय व्यवसाय (पब्लिक सेक्टर) और व्यक्तिगत व्यवसाय (प्राइवेट सेक्टर) मे अधिकाधिक सामंजस्य हो। एक दूसरी जगह कमीशन लिखता है "योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था में व्यक्तिगत व्यवसाय को अपने नये कर्तव्य को समझना होगा और देश के व्यापक हित में नए प्रकार का अनुशासन अपने पर लगाना होगा।" इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कमीशन फिर लिखता है "व्यक्तिगत व्यवसाय के स्वरूप को आज के उसके स्वरूप से बहुत भिन्न होना पड़ेगा। उसके समूचे दृष्टिकोण में एक नयापन लाना होगा। सामाजिक और आर्थिक नीति संबन्धी उद्देश्यों को तो व्यक्तिगत व्यवसाय को स्वीकार करना ही होगा। पर इसी के साथ मजदूर, उपभोक्ता और विनियोग करने वाले (इन्वेस्टर) के प्रति भी उसे कर्तव्य को मंजूर करना होगा।" इन उद्धरणों से यह प्रकट हो जाता है कि व्यक्तिगत व्यवसाय के सहयोग के बिना, और उसके द्वारा समाज के व्यापक हित के दृष्टिकोण को बदले बिना, मिली-

खुली अर्थ व्यवस्था सफल नहीं हो सकती, यह बात प्लानिंग कमीशन ने साफ करदी है।

सरकार का नियंत्रण आवश्यक क्या व्यक्तिगत व्यवसाय और पूंजी पति वर्ग अपने दृष्टिकोण को बदल लेगा? क्या जनता की व्यापक हित की जो योजना होगी उसमें उनका सहयोग मिल सकेगा, चाहे उसने उनके स्वार्थों पर हो क्यों न आघात पहुँचता हो? इस बारे में प्लानिंग कमीशन को भरोसा नहीं है। उसने लिखा है "किसी निश्चितता के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्तिगत व्यवसाय का जो योजना में भाग है उसमें वास्तव में कितनी प्रगति हो सकेगी। कुछ उद्योगों के भावी विकास के कार्यक्रम का मोटा रूपरेखा का दिग्दर्शन मात्र किया जा सकता है।" यही तो कारण है कि व्यक्तिगत व्यवसाय पर सरकारी नियंत्रण की आवश्यकता को कमीशन मानता है। उसने यह सिफारिश की है कि इस सम्बन्ध का जो कानून संसद के विचाराधीन है उसे जल्द से जल्द पास करना चाहिये।

नियन्त्रण के उपाय व्यक्तिगत व्यवसाय पर नियन्त्रण रखने के लिए प्लानिंग कमीशन ने जिस कानून को पास करने की आवश्यकता बताई है, उसकी मुख्य मुख्य बातें प्लानिंग कमीशन की राय में यह होनी चाहियें —

(१) केन्द्रीय सरकार से लाइसेन्स प्राप्त किये बिना न तो कोई नया औद्योगिक कारोबार आरम्भ किया जाये और न मौजूदा कारोबार में विस्तार किया जावे। लाइसेन्स देते समय नये कारखानों का जहां तक सम्बन्ध है, भारत सरकार उनके स्थान और उनका 'साइज' आदि के बारे में शर्तें लगा सकेगी।

(२) सरकार को यह अधिकार होगा कि वह नीचे बताये गये उद्योगों या उन उद्योगों के किन्हीं कारखानों की जांच पड़ताल कर सके —(i) जिनका उत्पादन या माल का प्रकार गिरता जाता हो या गिरने की प्रवृत्ति हो, (ii) जो राष्ट्र भर की दृष्टि से महत्त्व रखने वाले प्राकृतिक साधनों का उपयोग करते हों और (iii) जिनका प्रबन्ध इस तरह से हो रहा हो कि हिस्सेदारों या उपभोक्ताओं के हितों को हानि होने की जिसमें आशंका हो। सरकार को जांच पड़ताल करने के बाद आवश्यक हिदायतें जारी करने का अधिकार तो होगा ही।

(३) जो उद्योग धन्धे सरकार द्वारा जारी की गई हिदायतों का पालन करने में असमर्थ रहें उनको सरकार प्रबन्ध और नीति सम्बन्धी बातों में सुधार करने के लिए अपने प्रबन्ध में ले सकेगी।

कमीशन ने यह भी सिफारिश की है कि उपरोक्त अधिकारों का उपयोग

सरकार की ओर से एक ऐसा तीन व्यक्तियों का केन्द्रीय बोर्ड करे जो सरकार द्वारा नियुक्त किया जाये और जिस के सदस्यों को औद्योगिक, व्यापारिक, टेकनिकल, न्याय और शासन सम्बन्धी मामलों का काफी अनुभव हो। कमीशन ने यह भी साफ कर दिया है कि तमाम महत्वपूर्ण उद्योग धन्धों पर उपरोक्त नियन्त्रण लागू होना चाहिये।

कमीशन ने व्यक्तिगत व्यवसाय को योजना के अनुसार चलाने के लिए कानूनी नियंत्रण के अलावा एक और उपाय भी सुझाया है। सुझाव यह है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण उद्योग के लिए एक विकास परिषद (डैवलपमेंट कौंसिल) का संगठन किया जाये। इन परिषदों को सरकार नियुक्त करे और उनमें उद्योग मजदूर और टेकनिकल मेनेजमेंट के प्रतिनिधि हों। इन परिषदों का काम उन तमाम समस्याओं का विचार करना होगा जो इस उद्योग विशेष के सम्बन्ध में पैदा हों—जैसे उत्पादन कितना किया जाय, इसका लक्ष्य निर्धारित करना, कार्य क्षमता (एफीशियेन्सी) की नाप के लिए मापदण्ड तय करना, उद्योग और खासकर कम कार्य क्षमता वाले कारखानों की कार्य पद्धति में सुधार के लिए आवश्यक सुझाव करना, और बिक्री तथा वितरण की ऐसी व्यवस्था करने में सहायता देना जिससे कि उपभोक्ताओं को सन्तोष हो।

प्लानिंग कमीशन का यह भी मानना है कि पूंजी के निकासन (कैपीटल इश्यू), विदेशी विनिमय के उपयोग और आयात-निर्यात और मूल्य आदि पर भी सरकार को नियन्त्रण रखना होगा।

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है उससे यह साफ हो जाता है कि मिलीजुली अर्थ व्यवस्था के सफल संचालन के लिए व्यक्तिगत व्यवसाय के सहयोग के साथ साथ उस पर किस सीमा तक नियन्त्रण रखना होगा। अब प्रश्न यह है कि क्या मिली-जुली आर्थिक व्यवस्था से जनता के आर्थिक हितों की रक्षा हो सकती है और क्या इस तरह की अर्थ व्यवस्था इस दृष्टि से सफल हो सकती है? इसी के साथ यह सवाल भी लगा हुआ है कि जिन कारणों से मिलीजुली आर्थिक व्यवस्था के पक्ष में प्लानिंग कमीशन ने अपनी राय बनाई है क्या वे कारण वास्तव में ठीक हैं?

मिलीजुली अर्थ व्यवस्था ठीक नहीं : जिस मिलीजुली अर्थ व्यवस्था का प्लानिंग कमीशन ने समर्थन किया है उससे आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय की वास्तव में स्थापना हो नहीं सकती। ऐसा क्यों? बहुत तात्विक दृष्टि से यदि विचार किया जाये तो कोई भी व्यवस्था हो, आखिरकार वह उसके संचालकों की भावना पर बहुत कुछ निर्भर

करती है। इस दृष्टि से यह कल्पना हो सकती है कि पूँजीवादी व्यवस्था भी शोषण-मुक्त हो जाये अगर पूँजीपति वास्तव में जनता के हित में उस व्यवस्था को चलावें। पर बात वास्तव में यह है कि व्यक्ति अपने व्यवहार में पूर्णतया स्वतंत्र नहीं होता। जिन परिस्थितियों में और जिस व्यवस्था के अन्तर्गत वह काम करता है उन परिस्थितियों और उस व्यवस्था के नियमों का असर उस पर पड़ता है और उसका आचरण बहुत कुछ उनके आधार पर निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए पूँजीवादी व्यवस्था जनता के सच्चे हितों की रक्षा करने में इसलिए असमर्थ नहीं है कि जितने पूँजीपति हैं वे सब बुरे व्यक्ति हैं और उनके स्थान पर अगर किन्हीं दूसरे भले व्यक्तियों को पूँजीवादी व्यवस्था का संचालक बना दिया जाय तो सारे सवाल हल हो जायेंगे। जब तक पूँजीवादी व्यवस्था मौजूद है, जो व्यक्ति भी उसके अन्तर्गत व्यवसाय, व्यापार आदि करेगा उसे उस व्यवस्था के जो अपने नियम हैं उनके अनुकूल ही करना होगा इसलिए वह उन सब दोषों का भागीदार होगा जो पूँजीवाद के दोष माने जाते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था का सारा कारोबार व्यक्तिगत लाभ को सामने रखकर चलता है। और जब तक अर्थ व्यवस्था का यह आधार बना रहता है तब तक उसमें जनहित की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए यदि हम जन कल्याण की दृष्टि से आर्थिक व्यवस्था कायम करना चाहते हैं तो हम पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना ही होगा।

अब रहा सवाल मिलीजुली आर्थिक व्यवस्था का। इस बारे में विचारणीय प्रश्न यह है कि एक दृष्टि से तो वास्तव में कोई व्यवस्था मिलीजुली अर्थ व्यवस्था नहीं हो सकती, और दूसरी दृष्टि से हर एक व्यवस्था मिलीजुली अर्थ व्यवस्था ही होती है। किसी भी अर्थ व्यवस्था को हम लेलें, देखने की बात यह है कि उसमें प्रधानता किस तत्व की है। या तो किसी व्यवस्था में व्यक्तिगत व्यवसाय की प्रधानता होगी या उसकी प्रधानता नहीं होगी। यह तो असंभव है कि किन्हीं दो तत्वों की एक साथ प्रधानता हो। जिस मिलीजुली अर्थ व्यवस्था की प्लानिंग कमीशन ने सिफारिश की है और जिसकी हम इतनी चर्चा सुनते हैं वह वास्तव में ऐसी अर्थ व्यवस्था है जिसमें व्यक्तिगत व्यवसाय की प्रधानता रहने वाली है। इसलिए इस प्रकार की मिलीजुली व्यवस्था वास्तव पूँजीवादी व्यवस्था ही है, और यदि पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय संभव नहीं है तो इस प्रकार की मिलीजुली व्यवस्था में भी संभव नहीं हो सकता। हाँ, यदि ऐसी मिलीजुली आर्थिक व्यवस्था कायम की जाय जिसमें प्रधानता राजकीय या सहकारिता के

आधार पर संगठित व्यवसाय की हो, और आर्थिक जीवन का सूत्र संचालन व्यक्तिगत व्यवसाय और पूंजीपतियों के हाथ में न हो, तो बात दूसरी है। पर ऐसी मिलीजुली व्यवस्था का प्रश्न तो हमारे सामने है नहीं।

उपरोक्त विवेचन से यह भी साफ हो जाता है कि हमें यह आशा नहीं करनी चाहिए कि जब तक समाज में पूंजीवादी व्यवस्था का तत्व प्रधान रहता है तब तक पूंजीपति वर्ग उस व्यवस्था के नियमों के विरुद्ध जन कल्याण की दृष्टि से आचरण करेंगे। दूसरे शब्दों में यह असंभव है कि एक ओर तो पूंजीवादी तत्वों की हम प्रधानता बनाये रखें, और दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था के नियंत्रण में हमें उन्हीं तत्वों का सहयोग भी मिले। भारतवर्ष का पिछले चार वर्षों का हमारा यही अनुभव है। कॉंग्रेसी सरकारों ने बराबर व्यावहारिकता के नाम पर देश के पूंजीपति और व्यवसायी वर्ग को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया है पर उसका उल्लेखनीय असर पूंजीपति वर्ग के रवैये पर पड़ा हो ऐसा नहीं लगता। इसके विपरीत वास्तव में स्थिति यह है कि पूंजीपति वर्ग सरकार के साथ बराबर एक छिपी लड़ाई लड़ता रहा है और जब राष्ट्रीयकरण का या व्यक्तिगत व्यवसाय के नियंत्रण का जहाँ भी प्रश्न उपस्थित होता है वह विरोध और असहयोग उपस्थित करता है। जब उनको यह विश्वास हो जायगा कि अब उनकी सर्वथा विजय होगई है, जैसी कि प्रायः हो चुकी है, तभी वे राष्ट्र की उत्पादन शक्ति का पूरा पूरा उपयोग करने में अपना सहयोग देने वाले हैं। पर यह हम जानते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जो भी उत्पादन होता है, उसका समान उपयोग सर्व साधारण को नहीं मिलता, और इसलिए उनकी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हो सकता।

क्या व्यक्तिगत व्यवसाय का नियंत्रण संभव है? : अब दूसरा प्रश्न यह रह जाता है कि जिस हद तक पूंजीपति का सहयोग नहीं मिलेगा उस हद तक राज्य व्यक्तिगत व्यवसाय का देश के हित में नियंत्रण करेगा। मिलीजुली अर्थ व्यवस्था के समर्थक इसी बात पर बहुत आधार रखते हैं। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, प्लानिंग कमीशन ने भी इस बात पर अपना आधार माना है, और इस संबन्ध में शीघ्र एक व्यापक कानून पास करने की उसने सिफारिश की है। प्रश्न यह है कि क्या यह नियंत्रण व्यवहार में संभव हो सकेगा? थोड़ा सा विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह संभव नहीं हो सकता। इसके कई कारण हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि समाज में जो वर्ग प्रतिष्ठित और प्रभुत्वशाली होता है उस पर राज्य और राज्य कर्मचारियों का वास्तव में कोई नियंत्रण नहीं हो सकता। सामंतशाही समाज व्यवस्था में अगर कोई सामंतों का वास्तव में नियंत्रण कर

सकना सम्भव मानना हो, तो पूंजीवाद प्रधान समाज व्यवस्था में, फिर मान उसका कुछ भी हो, पूंजीपतियों का भी नियन्त्रण हो सकता है। अगर पहली बात असम्भव है तो दूसरी बात और भी अधिक असम्भव है क्योंकि पूंजीवाद के काम करने के तरीके अधिक परोक्ष होने हैं। दूसरी बात यह है कि किसी भी व्यवस्था का बाहर से नियन्त्रण करना ज्यादा कठिन होता है और उसका सीधा संचालन करना अपेक्षाकृत अधिक आसान होता है। प्लानिंग कमीशन ने नियन्त्रण संबंधी जिस कानून की सिफारिश की है उसमें राज्य को उद्योगों की जांच पड़ताल करने और आवश्यकता होने पर उनको सरकार के प्रबन्ध में ले लेने तक का अधिकार होगा। पर क्या सरकार वास्तव में इन अधिकारों का उपयोग कर सकेगी? हमारा आज तक का अनुभव हमें ऐसा सम्भव हो सकेगा यह नहीं बताता है। हमारे देश का ही एक ताजा उदाहरण भारत सरकार द्वारा नियुक्त 'इनकम टैक्स इन्वेस्टीगेशन कमीशन' का है। आज यह बात जाहिर है कि 'इनकम टैक्स इन्वेस्टीगेशन कमीशन' को आयकर में चोरी करने वाले पूंजीपतियों से समझौते करने पड़े हैं। कानून के बल पर वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सका है। जो व्यक्ति इन बातों से थोड़ा भी परिचय रखता है उसे मालूम है कि सरकारी अधिकारी वास्तव में व्यापारियों और व्यवसाइयों की गलतियों को कहां पकड़ सकते हैं। किस उद्योग में वास्तव में कितना लाभ है, उसके संचालन में कहां कहाँ कितना दोष है, इसका पूरा पता बाहर के सच्चे से सच्चे और ईमानदार से ईमानदार व्यक्ति नहीं लगा सकते। इस सबका सार यह आता है कि राज्य के जिस नियन्त्रण पर मिलीजुली अर्थ की सफलता व्यवस्था का आधार माना जाता है वह नियन्त्रण राज्य इस तरह की अर्थ व्यवस्था में कर ही नहीं सकता। इसके अलावा एक तीसरा कारण और है।

बात यह है कि पूरी अर्थ व्यवस्था अपने आप में एक स्वयं सम्पूर्ण इकाई होती है। यदि आप चाहें कि किसी एक अंग का संचालन एक प्रकार से हो और दूसरे अंग का दूसरे प्रकार से, तो यह सम्भव हो नहीं सकता क्योंकि विभिन्न अंगों का आपस में एक दूसरे से आंगिक संबंध होता है। किसी उद्योग पर नियन्त्रण करने के लिए उसके लिए आवश्यक कच्चे माल, अन्य सहायक उद्योगों, पूंजी, बाजार आदि सब पर नियन्त्रण करना आवश्यक होगा। बिना इसके किसी एक अंग को नियन्त्रण सफल नहीं हो सकता। इसलिए जिस मिलीजुली आर्थिक व्यवस्था में व्यक्तिगत व्यवसाय का प्रभुत्व है उसका जन कल्याण की दृष्टि से सफलतापूर्वक राज्य द्वारा नियन्त्रण नहीं हो सकता। अगर ऐसा नियन्त्रण वास्तव में और सफलतापूर्वक किया जाता है तो उसका परिणाम एक ही हो सकता है

और वह है मिलीजुली अर्थ व्यवस्था का अन्त होना।

परस्पर विरोधी दलील : यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है। प्लानिंग कमीशन ने मिलीजुली अर्थ व्यवस्था के पक्ष में एक दलील यह दी है कि राज्य के पास ऐसे योग्य कर्मचारियों का अभाव है जो राजकीय व्यवसाय का संचालन कर सकें। यदि यह तर्क सही है तो फिर व्यक्तिगत व्यवसाय का राज्य के लिए नियंत्रण करना कैसे संभव होगा। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है किसी व्यवस्था का अन्दर से संचालन करना अपेक्षाकृत आसान होता है और बाहर से जब संचालन दूसरों के हाथ में हो, उनकी इच्छा के विरुद्ध उसका नियंत्रण करना अपेक्षाकृत कठिन होता है। इसलिए प्लानिंग कमीशन अपने मन्तव्य के लिए अगर परस्पर विरोधी दलीलों का सहारा लेता है तो उसके विचार की कमजोरी का इससे संकेत मिलता है।

प्लानिंग कमीशन के तर्क सही नहीं : सच्ची स्थिति यह है कि प्लानिंग कमीशन ने मिली जुली अर्थ व्यवस्था के संबंध में जो तर्क दिये हैं वे ठोस आधार पर आधारित नहीं हैं। यह ठीक है कि आज जिस प्रकार का शासनतन्त्र है उसकी यह क्षमता नहीं है कि वह किसी अर्थ व्यवस्था का सफल संचालन कर सके। वह तो सामान्य शासन व्यवस्था को भी ठीक ठीक चलाने में आज असफल हो रहा है। इसलिए सामान्य शासन व्यवस्था के लिए भी मौजूदा शासन तन्त्र को सुधारना होगा। जहां तक आर्थिक व्यवस्था के संचालन का सवाल है उसके लिए तो नये तन्त्र का निर्माण करना होगा। इसके अतिरिक्त आज जो लोग विभिन्न उद्योगों में टेकनीशियनों या मैनेजरों की हैसियत से काम करते हैं कल वही लोग राष्ट्र के लिए अधिक उत्साह से काम करेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं। जहां तक उद्योगपतियों का सवाल है, यह ठीक है कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में उनका विशेष स्थान है। उद्योगपति खास तौर से दो काम आज करते हैं। एक तो वे लाभ हानि के लिए जिम्मेदार रहते हैं; दूसरे, उद्योग संबंधी बड़ी नीति का वे निर्णय करते हैं। उस नीति का निर्णय आज पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था की पृष्ठ भूमि में करना पड़ता है। कब कच्चा माल खरीदना, कितना खरीदना, कहां से खरीदना, किस भाव पर खरीदना, कितना उत्पादन करना, बाजार की क्या स्थिति है—आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका उद्योगपति निर्णय करते हैं। आर्थिक जीवन में कोई योजना न होने से आज इन निर्णयों को कई अनिश्चितताओं का अनुमान लगाकर करना पड़ता है। यदि देश की आर्थिक व्यवस्था पूंजीवाद के आधार पर संगठित न हो, और उत्पादन लाभ के लिए न होकर उपभोग के लिए हो, तो इन निर्णयों की बहुत सारी अनिश्चिततायें

मिट जायेंगी और उस हालत में उद्योगपतियों की जो दक्षता और योग्यता आज अनिवार्य सी मालूम पड़ती है कल उसकी उस रूप में समाज को आवश्यकता नहीं रहेगी। लाभ हानि का जिम्मा भी समाज उठावेगा। इसके अलावा तत्व की बात यह है कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण हो जाने मात्र से आखिरकार देश में जो जन शक्ति आज है वह समाप्त नहीं हो जायगी। न यह मानना ठीक होगा कि उसका उपयोग राज्य को नहीं मिल सकेगा। और इसीलिए यह आशंका करना सही नहीं है कि राष्ट्रीयकरण हो जाने पर उद्योगों का राज्य द्वारा सफल संचालन नहीं हो सकेगा। हां यह ठीक है कि आरम्भ में कुछ कठिनाइयां आवें। पर उन कठिनाइयों को हल करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। और दूसरे यह भी है कि परिवर्तन जितना जल्दी और एक साथ व्यापक आधार पर होगा उतना ही उसमें अधिक सफलता मिलेगी।

मिलीजुली अर्थ व्यवस्था के पक्ष में दूसरी बड़ी दलील साधनों के अभाव की है। इस संबंध में तो इतना ही कहना ठीक है कि यदि नकद में मुआवजा देकर कोई राष्ट्रीयकरण करने की कभी बात सोचता है तो वह असंभव और गलत बात है। इतने साधन तो राज्य के पास कभी होने वाले ही नहीं हैं। और जैसे जैसे उद्योगों का विकास होगा वैसे वैसे यह और भी अधिक असम्भव होता जायगा। इसलिए साधन की कमी' को लेकर राष्ट्रीयकरण की बात टालना तो सही नहीं हो सकता। रहा नये उद्योगों को राज्य द्वारा स्थापित करने का प्रश्न। इसका भी सिद्धान्ततः तो वही उत्तर है जो जन शक्ति के बारे में दिया गया है। यदि देश के उत्पादन साधनों पर समाज और राज्य का अधिकार स्थापित हो जाता है तो यह मानने का कोई कारण नहीं कि जितने साधन पूंजीपति वर्ग औद्योगिक विकास में लगा सकते हैं उतने राज्य नहीं लगा सकेगा। इस प्रश्न को अधिक तफसील में जाने की न यहां जरूरत है और न वह उचित है। केवल याद रखने की बात यही है कि देश के साधनों के राज्य के पास हस्तान्तरित होने मात्र से उनमें कोई कमी नहीं आने वाली है। अगर कुछ होने वाला है तो यही कि आज जो साधनों का अपव्यय होता है और उनका अनुचित उपयोग होता है वह बन्द हो जायगा, और उस हद तक आम जनता के लिए अधिक साधन उपलब्ध हो सकेंगे।

आज के उदाहरण सही नहीं राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध और इसलिए मिलीजुली अर्थ व्यवस्था के पक्ष में आजकल एक तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि राज्य द्वारा संचालित जो भी उद्योग आज मौजूद हैं कि उनका अनुभव कोई अच्छा नहीं है। यह कहा जाता कि है इंगलैंड का भी ऐसा ही अनुभव है।

नतीजा यह निकाला जाता है कि जब इन इक्के दुक्के उद्योगों में ही सफलता नहीं मिल सकी तो सारी अर्थ व्यवस्था का राज्य कैसे संचालन करेगा? इसका एक बड़ा कारण यह बताया जाता है कि आज हमारे देश में उस कर्त्तव्य भावना का सर्वथा अभाव है जिसकी राज्य के कामों को ठीक-ठीक चलाने के लिए अत्यन्त आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, जब तक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत लाभ का आधार न दिखाई पड़े वह किसी काम को पूरी जिम्मेवारी से करना नहीं चाहता। और यह वृत्ति राष्ट्रीयकरण के लिए घातक है। इन दलीलों के बारे में थोड़ा गम्भीरता से सोचना आवश्यक है।

पहली बात तो यह है कि आज जिन उद्योगों का संचालन राज्य करता है उन उद्योगों की भी पृष्ठभूमि तो वही है जो व्यक्तिगत व्यवसाय प्रधान समाज में होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार की समाज व्यवस्था में व्यक्ति काम करता है, इसका उसकी मनोवृत्ति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। एक तो समाज की वर्तमान व्यवस्था है जिसमें मेहनत का पूरा मुआवजा नहीं मिलता। ऐसी हालत में जो वेतन या मजदूरी पर काम करने वाले लोग हैं उनको उस काम से और देश में उनके प्रयत्नों से कुल उत्पादन कितना होता है इस बात से कोई सरोकार नहीं रहता। इस बात से वे अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानते और इसलिए जो काम करते हैं उसके करने में उनको कोई अपनापन और उत्साह नहीं होता। वे जानते हैं कि हमारा हिस्सा तो जितना वेतन या मजदूरी हमें मिल जाती है उतना ही है, बाकी तो पूंजीपति के जेब में जाने वाला है। ऐसी समाज व्यवस्था में अगर कोई इक्का दुक्का कारखाना या उद्योग राज्य द्वारा भी चलाया जाय तो उसका काम करनेवाले लोगों की उपरोक्त मनोवृत्ति में कोई असर नहीं हो सकता। आज की समाज व्यवस्था में जो साधन राज्य के पास कर आदि के रूप में आते हैं उनका उपयोग भी सर्व साधारण को समान रूप से नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में जो तथा कथित जनतन्त्रीय राज्य व्यवस्था होती है उसे भी आखिरकार पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था की मर्यादाओं को मानकर चलना पड़ता है। ऐसी हालत में उस राज्य के बारे में और उसके द्वारा संचालित उद्योगों के बारे में तत्वतः लोगों का वही दृष्टिकोण रहता है जो पूंजीवादी व्यवस्था और पूंजीपति द्वारा चलने वाले कारखानों के बारे में होता है। पूंजीवादी व्यवस्था की पृष्ठभूमि में ही ये राजकीय कारखाने भी चलते हैं। इसलिए एक ओर तो पूंजीवाद का जो मूलभूत दोष है वह इन राजकीय कारखानों के साथ भी लगा रहता है और इन कारखानों में काम करने वाले लोग वह स्फूर्ति और उत्साह नहीं अनुभव कर सकते जो कि उनको

उस समय हो सकता है जबकि वे एक शोषणहीन समाज के सदस्य की हैसियत से काम करें। और इसका असर उनकी कर्तव्य भावना को शिथिल करने का भी होता है। दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत भी, राजकीय कारखाने उस व्यक्तिगत लाभवृत्ति की प्रेरणा से तो वंचित रहते ही हैं जो व्यक्तिगत व्यवसायों की सफलता का कारण मानी जाती है। कारखाने का जो स्वामी होता है वह अपने लाभ की दृष्टि से उस कारखाने के संचालन में स्वयं रुचि लेता है और इस कारण से किसी हद तक यह प्रकार का अपव्यय बच जाता है। पर उन राजकीय कारखानों में जो वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत चलते हैं, न केवल उस व्यक्तिगत जिम्मेदारी का अभाव रहता है जो व्यक्तिगत व्यवसायी अपने व्यवसाय के बारे में अनुभव करता है, बल्कि उस सामाजिक हित और कर्तव्य की भावना का भी, जो लोगों को प्रेरित कर सकती है और आज के व्यक्तिगत लाभ से मिलने वाली प्रेरणा का स्थान ले सकती है। तात्पर्य यह है कि अगर हम वास्तविक दृष्टि से विचार करें तो वर्तमान राजकीय उद्योगों में पूंजीवादी और पूंजीवाद विहीन किसी भी न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था, दोनों ही के गुणों का अभाव और दोषों का अस्तित्व पाया जाता है। इसलिए आज के वातावरण में जो राज्य द्वारा संचालित उद्योग हैं उनके आधार पर सर्वथा बदली हुई समाज व्यवस्था में राज्य द्वारा संचालित उद्योगों का कोई अनुमान लगाना गलत है। आज के राज्य द्वारा संचालित इक्के दुक्के उद्योग उस नई शोषणहीन समाज व्यवस्था में राज्य द्वारा चलने वाले उद्योगों का कोई उदाहरण नहीं हो सकते।

यहां एक दूसरी बात की ओर संकेत करना भी जरूरी है। यह तो ठीक है कि चूँकि पूंजीपति अपने लाभ को ध्यान में रख कर सारा कारोबार चलाता है इसलिए अपव्यय न हो, इसका वह एक प्रकार से ध्यान रखता है। पर व्यक्तिगत या पूंजीपति का लाभ और राष्ट्र के साधनों का अच्छा से अच्छा उपयोग, ये दो अलग अलग बातें हैं यह भी भूलना नहीं चाहिए। दूसरे शब्दों में रुपए में मिलनेवाला लाभ और उत्पादन की कार्यकुशलता (एफीशियेन्सी) जिसमें कम से कम साधनों का उपयोग करके अधिक से अधिक परिणाम लाने की चेष्टा होती है, ये दोनों अलग अलग चीजें हैं। पूंजीपतियों को कार्य में अपेक्षाकृत तत्काल होनेवाले लाभ से मतलब रहता है और समाज का हित उत्पादन की कार्य कुशलता (एफीशियेन्सी ऑव प्रोडक्शन) को अधिकाधिक बढ़ाने में है। और यह होता है कि रुपए में मुनाफा तो हो जाय पर उत्पादन की कार्यकुशलता में क्षति होती रहे। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्तिगत लाभ की जिस प्रेरक शक्ति

का हम इतना गुणगान करते हैं वह भी समाज के हित में ही कार्य करती हो ऐसा नहीं है। इसी के साथ यह बात भी आजाती है कि व्यक्तिशः लाभ से प्रेरित होकर जो नई-नई खोजों के लिए पूंजीवाद में वैज्ञानिकों को साधन सुविधायें दी जाती हैं उनका लक्ष्य भी कुल मिलाकर पूंजीवाद को पुष्ट करना ही होता है। आम जनता को जो लाभ आज तक इन वैज्ञानिकों की खोजों से पहुंचा है या आगे पहुंच सकता है वह व्यक्तिगत लाभ और पूंजीवाद के स्वार्थ की पूर्ति करते हुये अपने आप से जितना होजाता है वही है। और यह मानने का तो कोई कारण नहीं कि जब समाज से व्यक्तिगत लाभ की प्रेरक शक्ति निकल जायगी तो समाज और राज्य सर्वथा जीवनहीन संस्थायें बन जावेंगी, उनमें गतिशील विकास की क्षमता का सर्वथा अन्त हो जायगा। पूंजीवाद में जो प्रतिस्पर्धा होती है वह रचनात्मक या निर्माणकारी न होकर विध्वंसकारी होती है। समाज के विकास के लिए जो प्रतिस्पर्धा का तत्व चाहिए वह इस विध्वंसकारी स्पर्द्धा का नहीं वल्कि उस रचनात्मक और निर्माणकारी प्रतिस्पर्द्धा का चाहिए जिसमें समान लक्ष्य के आधार पर सहयोग की पृष्ठभूमि बनी रहती है। समाज के विकास में मित्र-मित्र की प्रतिस्पर्धा चाहिए, शत्रु-शत्रु की प्रतिस्पर्धा नहीं। और मित्र-मित्र की प्रतिस्पर्धा पूंजीवाद में नहीं होती। वह तो शत्रु-शत्रु की प्रतिस्पर्धा होती है। इसलिए यह तर्क भ्रम पैदा करनेवाला है कि भावी प्रगति के लिए होड़ और प्रतिस्पर्धा चाहिये और वह पूंजीवाद में ही पाई जाती है।

आज की व्यवस्था में चलने वाले राजकीय कारखाने सर्वथा बदली हुई व्यवस्था के राजकीय कारखानों का उदाहरण नहीं हो सकते, यह तात्विक दृष्टि से तो हमने समझ लिया। पर इस बारे में एक दो बातें और हो सकती हैं। यदि राजकीय आधार पर चलनेवाला कोई उद्योग असफल होता है तो इसका यह अर्थ लगाना कि यह राजकीय आधार का स्वाभाविक दोष है, सही नहीं है। हम यह भी जानते हैं कि व्यक्तिगत आधार पर चलनेवाले सभी कारोबार सफल नहीं होते। बहुत से असफल भी होते हैं। इसलिए राजकीय आधार पर चलने वाले असफल कारोबार की व्यक्तिगत आधार पर चलनेवाले अधिक से अधिक सफल कारोबार से तुलना करना और फिर कोई परिणाम निकालना गलत है। इसके अलावा किसी राजकीय उद्योग की असफलता या अक्षमता के कारणों की हम जांच करें और उनका विश्लेषण करें तो यह देखेंगे कि उन कारणों का राजकीय उद्योग के साथ कोई आत्मिक या अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। फिर कई बार असफलता का कारण यह भी होता है कि जिन व्यक्तिगत व्यवसायों से उस राजकीय उद्योग का सम्बन्ध आता है वे उसके साथ जान बूझ कर सहयोग नहीं

करते और उसकी सफलता को ध्यान में रखकर उनका जिस तरह संचालन होना चाहिए वह नहीं होता। और आखिरकार आज राज्य द्वारा चलने वाले सब कारोबार असफल ही होते हैं, ऐसा भी नहीं है। विचारने की बात यह भी है कि अगर व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के अभाव में मनुष्य ठीक काम नहीं करता तो फिर वह सभी क्षेत्रों में नहीं करेगा। और इस आधार पर तो सिवाय उन कामों के जो कि राज्य के अलावा दूसरी कोई संस्था कर ही नहीं सकती, और कोई काम राज्य के सुपुर्द होना ही नहीं चाहिए। और ऐसे अनिवार्य काम तो राष्ट्र की आन्तरिक और बाहरी सुरक्षा के तथा थोड़े से कुछ और काम हो हो सकते हैं। पर राज्य के कार्यक्षेत्र का जितना विस्तार आज आर्थिक क्षेत्र में प्रजातंत्रवाद के समर्थक स्वीकार करते हैं उतना विस्तार तो अनुचित ही समझा जाना चाहिये। पर हम जानते हैं कि ऐसा समझा नहीं जाता है। थोड़ा सा मनन से इस प्रकार के तर्क की अर्थहीनता हमारे सामने आ सकती है। जैसे यदि व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के अभाव में राज्य उद्योग धन्धों का सञ्चालन ठीक ठीक प्रकार से नहीं कर सकता तो उस व्यक्तिगत प्रेरणा के अभाव में उन उद्योगों का वह ठीक ठाक नियन्त्रण भी कैसे कर सकता है।

मिली-जुली व्यवस्था में समाजवाद सम्भव नहीं। अब तक विभिन्न दृष्टियों से जितना विचार किया गया है उस सब का अन्ततोगत्वा एक ही सार आता है और वह यह कि जिस मिली-जुली अर्थ व्यवस्था का चित्र प्लानिंग कमीशन ने उपस्थित किया है वह वास्तव में अव्यवहार्य है, जिन दलीलों पर उसका आधार है वे दलीलें सही नहीं हैं, और उसके द्वारा आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय के लक्ष्य की पूर्ति कदापि नहीं हो सकती। प्लानिंग कमीशन द्वारा प्रस्तुत देश की औद्योगिक योजना का यह एक बहुत ही आधारभूत दोष है।

कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों का महत्व देश की औद्योगिक उन्नति से संबंध रखने वाला एक महत्वपूर्ण प्रश्न कुटीर उद्योगों का है। कुटीर उद्योगों का महत्व औद्योगिक उन्नति के साथ साथ हमारे गाँवों की आर्थिक उन्नति से भी घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। इसका कारण यह है कि अधिकांश कुटीर उद्योग गाँवों में ही पाए जाते हैं।

भारतीय अर्थशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी इस बात को स्वीकार करता है कि देश की आर्थिक उन्नति के लिए कुटीर उद्योगों की उन्नति बहुत आवश्यक है। योजना आयोग ने कुटीर उद्योगों के विषय में एक जगह लिखा है "यदि कृषि उद्योग का पुनर्निर्माण करना है तो देश की जनसख्या के लगभग एक तिहाई भाग

के लिए कोई दूसरा काम तलाश करना होगा। इसका अर्थ यह है कि गाँवों में एक बहुत बड़ी आर्थिक समस्या, जिसका सम्बन्ध देश के बहुत बड़े जन समूह से भी आता है, हल करने को पड़ी हुई है। इस दृष्टि से कुटीर उद्योगों के प्रश्न का तत्काल ही इतना महत्व है और उसको इतनी प्राथमिकता है कि उस पर जितना जोर दिया जाय उतना ही कम है। इसलिए एक ऐसी योजना की जरूरत है जिसके परिणामस्वरूप स्थानीय कृतत्व शक्ति का विकास हो और ऐसे आर्थिक संगठन का निर्माण हो जिसमें कि कुटीर उद्योगों के सफलता पूर्वक चलने की पूरी पूरी आशा हो।

कुटीर उद्योगों की उन्नति के लिए प्लानिंग कमीशन ने निम्नलिखित बातों में सुधार करने की आवश्यकता बताई है—(१) संगठन (२) स्थानीय मांग (३) उत्पादन पद्धति (४) कच्चा माल और (५) अर्थ व्यवस्था। संगठन के बारे में प्लानिंग कमीशन की राय है कि अमुक स्थान के विभिन्न कुटीर उद्योगों में लगे हुए सब कारीगरों को एक ही औद्योगिक सहकारी समिति में संगठित होना चाहिए। मांग का जहाँ तक संबंध है प्लानिंग कमीशन का कहना है कि स्थानीय लोगों में अपने स्थान की बनी चीजों को खरीदने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। इसी के साथ कुटीर उद्योगों के काम करने की पद्धति में वैज्ञानिक खोज और अन्वेषण के द्वारा बहुत कुछ सुधार करने की जरूरत है, और उनको आवश्यक कच्चा माल और पूंजी पर्याप्त मात्रा में मिल सके, इसकी व्यवस्था करना भी जरूरी है। इन बातों में राज्य और केन्द्र की सरकारों को अधिक योजनापूर्वक काम करना होगा, यह भी सही है। इन तमाम बातों में सुधार होने से कुटीर उद्योगों की स्थिति में सुधार होगा और किसी हद तक बड़े बड़े कारखानों में तैयार माल के मुकाबले में उनके माल की बाजार में टिकने की क्षमता आज से ज्यादा हो सकेगी पर एक तो इस स्थिति तक उद्योगों को पहुँचने में समय लगेगा। दूसरे इसके बाद भी बड़े पैमाने पर कारखानों में तैयार होने वाले माल के मुकाबले में खुली प्रतिस्पर्द्धा में वे पूरी तौर से ठहर सकें, यह मुश्किल होगा। इसलिए जब तक देश की आर्थिक योजना में उनका स्थान सुरक्षित नहीं कर दिया जायगा तब तक कुटीर उद्योगों का सवाल पूरी तौर से हल नहीं होगा। प्लानिंग कमीशन के सामने भी यह आशंका है। यह उसके इन वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है: "जब तक कि गाँव की जनता में स्थानीय कारीगरों द्वारा तैयार माल के लिए एक निश्चित और स्थायी रुचि पैदा नहीं होती है, कुटीर उद्योगों का पतन जारी रहेगा और उनको पुनर्जीवित करने के और जो भी उपाय काम में लाये जा सकते हैं केवल उनके आधार पर कुटीर उद्योगों की रक्षा नहीं की जा सकेगी।"

आगे चलकर प्लानिंग कमीशन ने फिर लिखा है "गाँव का जिस तरह संगठन है उसमें ग्रामोद्योगों क संरक्षण के लिए और उनके द्वारा गाँव में अमुक मात्रा में रोजगार कायम रखने क लिए कोई गुंजाइश नहीं है। किसी न किसी रूप में गाँव का जनता को यह स्वीकार करना चाहिए कि जहाँ तक उनका वश चलता है गाँव क सब लोगों को, चाहे फिर वे किसान हों, या मजदूर हों या कारीगर हों, काम देने का जिम्मा उनका ही है।" अब यहा एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। गाँव की जनता अपने इस जिम्मे का अनुभव करे, इसकी व्यवस्था कैसे हो। यह दो प्रकार से हो सकता है। एक तो यह कि गाँव वालों म इतना विवेक जाग्रत हो कि वे अपने तात्कालिक लाभ हानि की दृष्टि से आकर्षण न करें और अपने गाँव की बनी चाजों को ही काम में लें। महात्मा गांधी ने स्वदेशी का जिस भावना पर इतना जोर दिया था उसके पीछे यही दृष्टिकोण था। पर किसी आर्थिक व्यवस्था का आधार केवल भावना पर नहीं रह सकता। व्यवस्था के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण भी करना होता है। ग्रामोद्योगों के प्रश्न पर भी हमें इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए। इसी बात का ख्याल रखते हुए सम्भवत प्लानिंग कमीशन ने यह विचार प्रगट किया है कि 'बहुत सम्भव है कि ग्रामोद्योगों की सहायता के लिये जिन उपायों का निर्देशन किया गया है उनके परिणाम स्वरूप ग्रामनिवासी कारीगर की प्रतिस्पर्द्धा शक्ति में अनुकूल परिवर्तन हो जायगा पर अन्ततोगत्वा अगर सारी अर्थ रचना क हित में ग्रामीण कारीगर और बड़े पैमाने के उत्पादक के बीच में समानता लाने की दृष्टि स यह जरूरी ही मालूम पड़े तो बड़े पैमाने क उत्पादक पर 'सेस' (कर) लगाया जा सकता है। आगे चलकर कमीशन ने यह भी लिखा है कि "हमारी राय में ग्रामीण गृह उद्योगों का कार्यक्रम सवनित बड़े पैमाने के उद्योग धन्धों से अलग नहीं बनाया जा सकता। उदाहरण के लिए तेल क मिल उद्योग और तेल ग्रामोद्योग का कार्यक्रम एक साथ बनाया जाना चाहिए।" इस सबका सार यह है कि यदि हम ग्रामोद्योगों का देश की आर्थिक रचना में स्थायी स्थान रखना चाहते हैं, तो यह तभी हो सकता है जबकि केवल भावना के बल पर ही नहीं बल्कि आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना के अन्तर्गत ही इसकी व्यवस्था की जाय। अब सवाल यह है कि यह व्यवस्था कैसे हो?

इस सम्बन्ध में प्लानिंग कमीशन ने किसी स्पष्ट मार्ग का निर्देशन नहीं किया है। ग्रामोद्योग और बड़े पैमाने क उद्योगों का एक साथ उत्पादन कार्यक्रम बनाने और बड़े पैमाने के उद्योगों पर 'सेस' लगाने की प्लानिंग कमीशन ने सिफारिश की है। पर इस प्रश्न पर ज्यादा आधारभूत दृष्टि से विचार किये बिना कोई स्थायी हल नहीं निकल सकता।

ग्रामोद्योगों के प्रश्न पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक दृष्टि है उत्पादन विधि की, दूसरी दृष्टि है देश में पर्याप्त मात्रा में सबको पूरा काम देने की, और तीसरी दृष्टि है व्यापक मानव हित की। उत्पादन विधि की दृष्टि केवल टेक्नीकल दृष्टि है। इसका आधार यह है कि उत्पादन का वह ढंग अपनाना चाहिये जिसमें कम से कम श्रम लगे और जो अधिक से अधिक वैज्ञानिक समझा जावे। जो कुटीर उद्योग इस आधार पर जीवित रह सकें वे रहें और जो न रह सकें वे न रहें। इस दृष्टि को कोई भी व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। उत्पादन में कौनसी पद्धति अपनानी चाहिये और कौनसी नहीं इसका निर्णय केवल इस दृष्टि से नहीं किया जा सकता कि कम से कम श्रम खर्च करके अधिक से अधिक उत्पादन जिस पद्धति से हो सके उसी पद्धति को अपनाना चाहिये। दूसरी दृष्टि देश में काम करने योग्य व्यक्तियों को काम देने की है। अर्थात् अधिक से अधिक लोगों को जिस तरह काम मिले उस तरह से हम अपने आर्थिक संगठन का निर्माण करें। आज हमारे देश में श्रम का बाहुल्य है और पूंजी की कमी है। इसलिये हमें ऐसी उत्पादन विधियों को अधिक अपनाना होगा जिनमें श्रम की आवश्यकता अधिक हो और पूंजी की कम। यद्यपि प्लानिंग कमीशन ने इस प्रकार से इस प्रश्न का विश्लेषण नहीं किया है पर ग्रामोद्योग के प्रश्न पर उनके विचार करने का दृष्टिकोण यही है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है प्लानिंग कमीशन ने यह मंजूर किया है कि कृषि पर जो अनावश्यक जनसंख्या आज निर्भर है वहां से हटा कर दूसरा काम देने का एक ही रास्ता है और वह है कुटीर उद्योगों को पुनर्जीवित करने का। न तो इस दृष्टिकोण को अस्वीकार करने का सवाल है और न इस दृष्टिकोण के महत्व को कम करने की आवश्यकता है। पर इस दृष्टिकोण से आगे जाने की जरूरत अवश्य है, ताकि व्यापक मानव हित की दृष्टि से कुटीर उद्योगों के सवाल को हल किया जा सके। प्लानिंग कमीशन ने इस प्रश्न पर इस दृष्टिकोण से विचार नहीं किया है। यह प्लानिंग कमीशन के विचार में एक आधारभूत दोष है। इस दृष्टि के बारे में थोड़ा सा खुलासा करने की जरूरत है।

समाज संगठन का लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिये समुचित साधन और सुविधा उत्पन्न करना है। समाज के आर्थिक संगठन का स्वरूप भी इसी लक्ष्य को सामने रख कर निश्चित होना चाहिये। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिये जनतन्त्र के महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं। समाज का आर्थिक संगठन भी ऐसा होना चाहिये जो जनतन्त्र को सुदृढ़ रखने में सहायक हो। जनतन्त्र के लिये सत्ता के केन्द्रीकरण को रोकने की आवश्यकता है। यह केन्द्री-

करण राजनैतिक और आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों में अवांछनीय है। जनता को शासनतन्त्र के मुकाबले में अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने की शक्ति को अक्षुण्ण रखना है तो यह नितान्त आवश्यक है कि ग्राम जनता अन्न वस्त्र आदि जीवन की अनिवार्य प्रारंभिक आवश्यकताओं के बारे में अधिक से अधिक स्वावलम्बी रहे। इस दृष्टि से विकेन्द्रित ग्रामोद्योगों का बड़ा महत्व है और अन्न तथा वस्त्र सम्बन्धी उद्योगों का महत्व तो और भी विशेष है। दूसरी बात यह है कि उपभोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में मनुष्य के स्वास्थ्य का भी ध्यान रखना मानव हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। कई ऐसी वस्तुएँ हैं जो कुटीर उद्योगों में हाथ से ही यदि तैयार की जायें तो स्वास्थ्य के लिये उपयोगी होती हैं और यदि उनका उत्पादन मशीनों के द्वारा होता है तो उनका स्वास्थ्यवर्धक तत्व नष्ट हो जाता है। पोलिश्ड चावल की अपेक्षा हाथ कुटे चावल और मिल के तेल या वनस्पती घी की अपेक्षा घानी के तेल की श्रेष्ठता सर्वमान्य है। हमारे आर्थिक संगठन का निर्माण ही इस तरह से होना चाहिये कि जिसमें उपरोक्त दृष्टि का पूरा पूरा समावेश हो सके। हमारा ऐसा मत है कि उपरोक्त आधार पर ही हमें भावी अर्थ रचना में कुटीर उद्योगों का स्थान निश्चित करना चाहिये। और इस प्रकार जिन कुटीर उद्योगों का देश के लिये महत्व हो उनको बड़े पैमाने के उद्योगों से रक्षा करने का भार राज्य को लेना चाहिये। प्लानिंग कमीशन ने जो प्रस्ताव किये हैं उनमें इस दृष्टिकोण का कहीं आभास नहीं मिलता। कुटीर उद्योगों की रक्षा के उपायों का जहाँ तक सम्बन्ध है, हमें इतना ही कहने की आवश्यकता है कि यदि आवश्यक हो तो यह व्यवस्था भी राज्य द्वारा लागू की जानी चाहिये कि अमुक अमुक वस्तुओं का उत्पादन कुटीर उद्योगों के आधार पर ही होगा।

किसी हद तक कुटीर उद्योगों के साथ ही लगा हुआ प्रश्न छोटे पैमाने के उद्योगों का भी है। इन उद्योगों में और कुटीर उद्योगों में एक अन्तर तो यह है कि छोटे पैमाने के उद्योग शहरों में स्थित हैं जबकि कुटीर उद्योग गाँव में हैं। दूसरा अन्तर यह है कि ये उद्योग मशीन उद्योग हैं जिनमें मजदूरों द्वारा काम होता है, जबकि कुटीर उद्योग प्राय हाथ से परिवार के सदस्यों द्वारा ही चलते हैं। इन छोटे उद्योगों का महत्व भी कई कारणों से है, जैसे देश में श्रम का बाहुल्य और पूंजी की कमी का होना, कच्चे माल को कारखाने तक और कारखाने से तैयार माल को बाजार तक लाने लेजाने के व्यय में बचत करना, और कच्चे माल और श्रम का जहां का तहां तैयार माल के उत्पादन में उपयोग हो जाना आदि। इन छोटे पैमाने के उद्योगों के बारे में भी प्लानिंग कमीशन की यह सिफारिश है कि सम्बन्धित छोटे और बड़े पैमाने के उद्योगों का कार्यक्रम एक

दूसरे के समन्वय के आधार पर तैयार किया जाना चाहिये। छोटे पैमाने के उद्योग के बारे में भी एक हद तक यही दृष्टि लागू होती है जो कुटीर उद्योगों के बारे में। देश में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण न हो इस विचार की इन उद्योगों के बारे में भी प्रधानता रहनी चाहिये और इसी आधार पर इनका संरक्षण होना चाहिये।

उद्योग धंधों के सम्बन्ध में जो कुछ विचार हमने अब तक प्रकट किये हैं उनका सार यह है कि प्लानिंग कमीशन ने इस सम्बन्ध में जो योजना देश के सामने प्रस्तुत की है वह आम जनता की दृष्टि से दोषपूर्ण है और उसमें उनका वास्तविक हित सुरक्षित नहीं है। मिलीजुली अर्थ व्यवस्था के आदर्श को सामने रख कर उसने आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों का हनन किया है और कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों के बारे में उसकी दृष्टि किसी जीवनव्यापी विचार धारा से प्रभावित नहीं है। इसका परिणाम यह आता है कि कुल मिला कर देश में जो औद्योगिक व्यवस्था इस योजना के आधार पर खड़ी होगी उससे आम जनता की सामाजिक तथा आर्थिक आजादी का प्रश्न हल नहीं होगा। धन के बंटवारे में असमानता के तत्व बने रहेंगे और आम लोगों की गरीबी और बेकारी का सवाल हल करने के लिये जिस सही दिशा में देश को आगे बढ़ाना चाहिये उसमें वह नहीं बढ़ सकेगा।

योजना का आधार प्रगतिशील अर्थ रचना नहीं : अब तक हमने यह जानने का प्रयत्न किया है कि पचवर्षीय योजना में जिस तरह के आर्थिक चित्र की कल्पना की गई है वह क्या है और देश की आम जनता के आर्थिक हितों की उससे कहां तक रक्षा होती है। किसी भी देश की आर्थिक व्यवस्था का मूल आधार वहां की कृषि और उद्योग व्यवस्था होती है। इसीलिए प्लानिंग कमीशन ने देश की भावी आर्थिक उन्नति के लिए कृषि और उद्योग के सम्बन्ध में जो प्रस्तावित योजना प्रकाशित की है उसका हमने अध्ययन किया है। जैसा कि यथा स्थान हमने पहले भी लिखा है, हमारे इस अध्ययन का सार यह है कि प्लानिंग कमीशन ने देश की कृषि व्यवस्था के बारे में जो सिफारिशें की हैं वे मूलतः ठीक हैं पर उद्योग धंधों के बारे में जो सुझाव उन्होंने पेश किए हैं वे ठीक नहीं हैं। ऐसा मानने के कई कारण हैं। एक तो यह कि जिस तरह की मिलीजुली आर्थिक व्यवस्था के पक्ष में प्लानिंग कमीशन है वह वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था ही होगी और इसलिए उसके द्वारा आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय की स्थापना नहीं हो सकेगी। दूसरे, कुटीर उद्योगों के बारे में जो दृष्टिकोण प्लानिंग कमीशन ने अपनाया है वह निश्चित और स्पष्ट नहीं है। सबसे बड़ी कमी

प्लानिंग कमीशन द्वारा प्रस्तुत योजना के बारे में यह है कि योजना व्यापक मानव कल्याण की दृष्टि को सामने रखकर बनी हुई नहीं है। जीवन सम्बन्धी जो दृष्टिकोण इस योजना के पीछे मालूम पड़ता है, वह वही दृष्टिकोण है जिसके अनुसार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न मूल्यों को मान कर चला जाता है। दूसरे शब्दों में प्लानिंग कमीशन की प्रस्तावित योजना इस आधार पर बनी हुई नहीं है कि आखिरकार मनुष्य जीवन अपने आप में एक सम्पूर्ण इकाई है और व्यवहार के क्षेत्र में उसको अलग अलग हिस्सों जैसे राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक आदि में बांटना और हरएक के लिए अलग अलग सिद्धान्तों को स्वीकार करना सही नहीं है। यहां एक बात साफ कर देना जरूरी मालूम होता है। चूंकि खेती का जिस तरह का पुनसंगठन कमीशन ने सुझाया है वह मूलतः सही है और चूंकि भारत एक कृषि प्रधान देश है और लगभग ६८% जन संख्या खेती से अपनी जीविका कमाती है, इस लिए यह कहा जा सकता है कि उद्योग धन्धों का विचार एक बार छोड़ भी दिया जाए तब भी देश की अधिकांश जन संख्या का तो इस योजना से भला हो ही जायगा। पर ऐसा सोचना पूरा तया सही नहीं है। देश की आर्थिक व्यवस्था एक सम्पूर्ण इकाई होती है इसलिए यह मुमकिन नहीं हो सकता कि उसका एक अंग तो प्रगतिशील हो और दूसरा अप्रगतिशील। जब तक देश की औद्योगिक व्यवस्था का आधार ठीक नहीं होता केवल कृषि व्यवस्था के स्वरूप को बदलने से कोई काम नहीं हो सकता। कृषि का वह अंग जो उद्योग धन्धों के लिए कच्चा माल पैदा करता है, वास्तव में औद्योगिक व्यवस्था के एक अंग के रूप में है और इसलिए औद्योगिक व्यवस्था की अच्छाइयों और बुराइयों से वह मुक्त नहीं हो सकता। जिस कृषि के द्वारा खाद्यान्न उत्पन्न किया जाता है उसमें काम करने वाले लोगों पर भी उपभोक्ता के नाते और कई मामलों में उत्पादक के नाते भी देश की औद्योगिक व्यवस्था का असर पड़ता है। नतीजा यह है कि औद्योगिक व्यवस्था में अगर कोई मूलभूत दोष है तो उसका असर देश के समस्त आर्थिक जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसलिए प्लानिंग कमीशन की योजना के पक्ष में यह दलील नहीं दी जा सकती कि चूंकि खेती के पुनसंगठन के बारे में उनका दृष्टिकोण मूलतः प्रगतिशील है इसलिए खेती में लगी हुई जनता का भला तो उसके द्वारा हो ही जायगी।

योजना क्या है ? प्लानिंग कमीशन द्वारा प्रस्तुत योजना का आधारभूत सिद्धान्तों की दृष्टि से अध्ययन कर लेने के बाद यह भी आवश्यक है कि उक्त योजना वास्तव में क्या है, इस सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी करली जाये। हम

योजना के अन्तर्गत राजकीय क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) में कुल १७९३ करोड़ रुपए खर्च करने का प्रस्ताव है । इसके दो भाग हैं । पहले भाग पर १४९३ करोड़ रुपया खर्च करने का अनुमान है। यह आशा की गई है कि जो साधन उपलब्ध हैं उनसे यह खर्च निकल आवेगा। पर प्लानिंग कमीशन को यह शंका अवश्य है कि संभव है २९० करोड़ रुपए की कमी पड़ जाए और उस हद तक नया रुपया जारी करके खर्च की पूर्ति करनी पड़े। योजना के पहले भाग के कार्यान्वित हो जाने पर द्वितीय महायुद्ध के पहले जिस मात्रा में आवश्यक उपभोक्ता पदार्थ उपलब्ध थे, उसी मात्रा में उपलब्ध हो सकेंगे। पर यदि हम चाहते हैं कि देश की आर्थिक प्रगति इससे कुछ तेज गति से हो तो विनियोग की मात्रा किसी हद तक बढ़ानी पड़ेगी। इसके अलावा पहले भाग में जिन योजनाओं को शामिल किया गया है उनकी दृष्टि से जो कुछ टेकनिकल व्यवस्था की जायगी, उसका पूरा पूरा उपयोग करने के लिए भी यह जरूरी है कि विनियोग की मात्रा बढ़ाई जाए। इन्हीं सब कारणों से पंचवर्षीय योजना का दूसरा भाग तैयार किया गया है जिसमें ३०० करोड़ रुपया खर्च करने की सिफारिश है। इस खर्च के लिए विदेशों से आर्थिक सहायता प्राप्त करना आवश्यक होगा।

योजना के प्रथम भाग में १४९३ करोड़ रुपए के खर्च का विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार से बँटवारा किया गया है :—

	करोड़ रुपए	कुल का प्रतिशत	
कृषि और ग्रामविकास	१९१'६९	१२'८	,,
सिंचाई और शक्ति	४५०'०६	३०'२	,,
यातायात और संवाहन	३८८'१२	२६'१	,,
उद्योग	१००'९९	६'७	,,
सामाजिक सेवाएं [शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान मजदूर, पिछड़ी जातियां]	२५४'२२	१७'०	,,
पुनर्संस्थापन	७९'००	५'३	,,
विभिन्न	२८'५४	१'९	,,
कुल	१४९२'९२	१००	,,

१४९३ करोड़ रुपए का उपरोक्त व्यय केन्द्रीय और राज्य की सरकारों में बराबर बराबर सा बँटा हुआ है। केन्द्रीय सरकार का हिस्सा ७३४ करोड़ रुपए का और राज्य की सरकारों का ७५९ करोड़ रुपए का है। राज्य की सर-

कारों में 'अ' राज्य का ५६० करोड़, 'ब' राज्य का १७१ करोड़ और 'स' राज्य का २८ करोड़ का है। केन्द्रीय सरकार के खर्चे में भाकरा नांगल, दामोदर घाटी, हीराकुड और हरिके योजनाओं पर होने वाला खर्च और पुनरसंस्थापन के खर्च का बहुत सा हिस्सा शामिल है। वास्तव में इसमें से बहुत सा खर्च राज्य की सरकारों के द्वारा होगा। यदि राज्य की सरकारों के खर्च में इस खर्च को भी जोड़ लिया जाए तो राज्यों का हिस्सा ६७५ करोड़ तक पहुंच जाता है।

पंचवर्षीय योजना में व्यक्तिगत व्यवसाय के आधार पर चलने वाले उद्योग धंधों के संबंध में होने वाले खर्च का भी अनुमान लगाया गया है। प्लानिंग कमीशन का कहना है कि उनकी योजना के अनुसार बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग धन्धों में आने वाले पाँच सालों में लगभग २५०-३०० करोड़ रुपया खर्च होगा। पर जहां तक व्यक्तिगत व्यवसाय के आधार पर चलने वाली खेती सम्बन्धी योजनाओं का सवाल है प्लानिंग कमीशन ने उसमें होने वाले खर्च के कोई आँकड़े नहीं दिये हैं। इसका कारण यह है कि प्लानिंग कमीशन के पास जो कुछ भी सामग्री उपस्थित थी उसके आधार पर यह अनुमान नहीं लगाया जा सका कि आने वाले पांच वर्षों में राष्ट्र की आय का कितना हिस्सा बचाकर आर्थिक विकास में लगाया जा सकेगा।

जहां तक कि देश के विभिन्न भागों में पाई जाने वाली आर्थिक प्रगति सम्बन्धी असमानता का सवाल है, उस योजना द्वारा उसमें कोई खास सुधार नहीं हो सकेगा क्योंकि साधनों की कमी और जो योजनायें शुरू की जा चुकी हैं उनको पूरी करने के कारण इस प्रकार की आर्थिक असमानता को दूर करने की दृष्टि से नई योजनाओं का समावेश नहीं किया जा सका है। फिर भी उद्योग धन्धों सम्बन्धी योजना का कम विकसित भागों को किसी हद तक लाभ अवश्य मिलेगा।

कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि : पंचवर्षीय योजना में खेती सम्बन्धी जिस कार्यक्रम को प्रस्तुत किया गया है उसके अनुसार बड़ी योजनाओं से ८० लाख एकड़ और छोटी योजनाओं से ७० लाख एकड़ पड़त जमीन और १५ लाख एकड़ जमीन केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन द्वारा खेती के योग्य बनाई जा सकेगी। कृषि उत्पादन में निम्नलिखित वृद्धि होने की आशा की गई है —

अन्न	७२०० लाख टन
पटसन	२०९० ,, गाँठ
कपास	१२०० ,, ,,

तिल	३·७५ लाख टन
शक	६·२० ,, ,,

खाद्यान्न का उपरोक्त आधार पर उत्पादन बढ़ जाने के बाद भी देश स्वावलम्बी नहीं हो सकेगा। प्लानिंग कमीशन की सिफारिश है कि ३० लाख टन अनाज प्रतिवर्ष बाहर से मँगाने की व्यवस्था होनी चाहिए। तब १६५५-५६ में बढ़ी हुई जनसंख्या को मानते हुये अनाज की औसत खपत प्रति व्यक्ति प्रतिदिन १४½ औंस के हिसाब से हो सकेगी। कच्चे माल संबंधी देश की स्थिति में अपेक्षाकृत अधिक सुधार होने की आशा है।

औद्योगिक क्षेत्र में मौजूदा उद्योगों के उत्पादन को उनकी मौजूदा उत्पादन क्षमता तक बढ़ाने पर विशेष ज़ोर दिया गया है। कपड़े के उत्पादन के बारे में प्लानिंग कमीशन का अनुमान है कि मिलों का उत्पादन ४५० करोड़ गज और हाथ करघे का १६० करोड़ गज कपड़े तक हो जायगा। इस आधार पर प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष कपड़े की औसत खपत १६५५-५६ में १५ गज कपड़ा हो सकेगी। बड़े पैमाने पर चलने वाले कुछ दूसरे उद्योग धंधों में १६५५-५६ तक निम्नलिखित उत्पादन वृद्धि होने का अनुमान लगाया गया है :—

	१६५५-५६ में अनुमानित	१६५०-५१ में वास्तविक
इस्पात	१३·१५ लाख टन	१०·०५ लाख टन
सीमेंट	४६·०० ,,	२६·१३ ,,
एलूमिनियम	००·२० ,,	००·०३६ ,,
कागज	०१·६५ ,,	०१·०६ ,,
न्यूंजप्रिंट	००·२४ ,,	
नमक	३०·७५ ,,	२६·२२ ,,

यातायात और संवाहन : यातायात और संवाहन के क्षेत्र में रेलों पर ही सबसे अधिक खर्च करने की योजना है। प्रधानतः यह खर्च नई रेलें खोलने का न होकर मौजूदा रेलों की स्थिति को ठीक करने का ही है। योजना के दूसरे भाग में कुछ नई योजनाओं को शामिल करना मुमकिन हो सकेगा। जहां तक सड़कों का ताल्लुक है मुख्यतः मौजूदा राष्ट्रीय सड़कों के जो हिस्से छूटे हुए हैं उन्हें तैयार करने और राज्य की सड़कों के विस्तार की मौजूदा प्रगति को बनाए रखने पर ही ध्यान दिया जायगा। जहाजी यातायात के क्षेत्र में योजना के प्रथम भाग में मौजूदा टनेज में ७० प्रतिशत वृद्धि करने का प्रस्ताव है और दूसरे भाग में और अधिक विस्तार का कार्यक्रम रखा गया है। नागरिक हवाई यातायात और टेलीफोन सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार करने का भी योजना में प्रस्ताव

किया गया है।

आर्थिक साधनों की व्यवस्था पंचवर्षीय योजना के प्रथम भाग में १४९३ करोड़ रुपये के खर्च का कार्यक्रम है। उसमें ११२१ करोड़ रुपया केन्द्रीय और राज्य की सरकारों को नीचे लिखे अनुसार प्राप्त हो सकेगा —

केन्द्रीय सरकार को होने वाली बचत से	१६० करोड़ रुपया
राज्य की सरकारों को होने वाली बचत से	८१ ,, ,,
दीर्घ कालीन ऋण से—	
केन्द्रीय सरकार ३५	
राज्य की सरकारें ७९	११४ ,, ,,
छोटे पैमाने पर होने वाली बचत और 'अनफन्डेड' ऋण से	२५० ,, ,,
कैपीटल अकाउन्ट से मिलने वाले अन्य साधन—	
केन्द्रीय सरकार ७८	
राज्य की सरकारें ४५	१२३ ,, ,,
रेवेन्यू अकाउन्ट से मिलने वाले साधन—	
केन्द्रीय सरकार ११८	
राज्य की सरकारें २७५	३९३ ,, ,,
रेल्वे से	३० ,, ,,
कुल	११२१ करोड़ रु०

११२१ करोड़ रुपया इस प्रकार प्राप्त हो जाने के बाद बाकी के ३७२ करोड़ रुपये में से कुछ रुपया भारत को अमेरिका से जो हाल में अन्न सम्बन्धी ऋण मिला है उससे और कोलम्बो योजना के अन्तर्गत कनाडा तथा आस्ट्रेलिया से मिलने वाली सहायता से मिल सकेगा। इसके अलावा विदेशों से और सहायता मिलने की सम्भावना भी हो सकती है। यह तो हुई योजना के पहले भाग के लिए आवश्यक अर्थ व्यवस्था की बात। योजना के दूसरे भाग का जहां तक सम्बन्ध है, प्लानिंग कमीशन ने कहा है कि इसके लिये आवश्यक अर्थ व्यवस्था के वास्ते विदेशी सहायता पर ही निर्भर रहना होगा।

केन्द्रीय और राज्य की सरकारों को उपलब्ध होने वाले साधनों के बारे में प्लानिंग कमीशन यह मानकर चला है कि सेना तथा शासनतन्त्र जैसे खर्चों में वृद्धि नहीं होगी और राज्य की सरकारों को मौजूदा करों से अधिक आमदनी हो सकेगी तथा खर्च में कमी की जा सकेगी और स्थानीय ऋण भी मिल सकेंगे।

व्यक्तिगत व्यवसाय के आधार पर चलने वाले बड़े पैमाने के उद्योगों के

लिये जो २५०-३०० करोड़ रुपया चाहिये उसमें से नए विकास के लिये लगभग १२५ करोड़ रुपया तो बचत से और इन्डस्ट्रियल फाइनेन्स कोरपोरेशन जैसी संस्थाओं से और राज्य से प्राप्त होने वाली सहायता से मिल सकेगा। इसके अलावा जो १२५-१७५ करोड़ रुपया चाहियेगा वह अतिरिक्त मुनाफा करके वापस मिलने वाले रुपये से रक्षित कोष से तथा उत्पादन लागत में बचत करके पूरा किया जा सकेगा।

प्लानिंग कमीशन ने यह अनुमान लगाया है कि राज्य द्वारा होने वाले खर्च और बड़े पैमाने के उद्योगों में व्यक्तिगत व्यवसाय द्वारा होने वाले खर्च को मिलाकर देखें तो पांच साल तक लगभग ४०० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष से कुछ अधिक ही का विनियोग करना होगा। भारत जैसे देश के लिये विनियोग की यह दर काफी ऊँची है। पर इस हिसाब से विनियोग सम्भव हो सकेगा ऐसा प्लानिंग कमीशन का मानना है।

योजना कैसी है ? : प्लानिंग कमीशन ने जो पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत की है उसका संक्षिप्त विवरण हमने ऊपर दिया है। अब हम सैद्धान्तिक विवेचन को छोड़ कर [इस बारे में पहले विचार किया जा चुका है] केवल यह विचार करेंगे कि यह योजना कैसी है और क्या इसे कार्यान्वित करना संभव होगा।

योजना के संबंध में सब से पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या इसे वास्तव में योजना का नाम देना सही है ? आज योजना का युग है। भावी विकास के जो भी प्रस्ताव या सुझाव हों उन्हें योजना का नाम दे देने के हम अभ्यस्त से हैं। साधारण भाषा के हिसाब से किसी भी सुझाव या प्रस्ताव को योजना का नाम दिया भी जा सकता है। परन्तु जब हम किसी राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन के नव-निर्माण की पृष्ठ भूमि में योजना शब्द का प्रयोग करें तो हमारा अर्थ दूसरा होता है। किसी योजना को 'राष्ट्रीय योजना' का नाम वास्तव में देना उस समय सही हो सकता है जब उस राष्ट्रीय योजना में मूलतः तीन बातों का समावेश हो। वे तीन बातें यह हैं:—

(१) जीवन की किसी स्पष्ट विचार धारा से प्रभावित समाज व्यवस्था की कल्पना, (२) समाज व्यवस्था की इस कल्पना के अनुरूप और उसकी मर्यादा में राष्ट्र की आवश्यकताओं का अनुमान, और (३) उक्त आवश्यकताओं को पूरी करने वाली एक निश्चित योजना और उस योजना को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक साधनों और उपयुक्त संगठन की समुचित व्यवस्था। इस दृष्टि से यदि विचार करें तो प्रस्तावित पंचवर्षीय योजना को वास्तव में योजना नहीं कह सकते। इसमें जीवन संबंधी किसी क्रान्तिकारी और व्यापक दृष्टिकोण का

सर्वथा अभाव है और यही कारण है कि यह समाज व्यवस्था के किसी क्रान्तिकारी चित्र को अपना आदर्श मान कर नहीं चली है। इसका तो एकमात्र आधार यह रहा है कि जो योजनाएं भारत सरकार या राज्य की सरकारों ने हाथ में लेली हैं उनको पूरा किया जाय। हमारा आशय यह नहीं है कि कमीशन को इन योजनाओं को पूरी करने की ओर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिए था। इस पर तो ध्यान देना ही था अगर अब तक जो व्यय हो चुका है उसे नष्ट होने से बचाना था। पर एक तो यह तरीका हो सकता था कि मौजूदा योजनाओं को किसी एक समाज व्यवस्था में क्रम से समाविष्ट किया जाता और दूसरा तरीका यह रहा कि इन योजनाओं से आगे दृष्टि गई ही नहीं। योजना आयोग इस दूसरे तरीके से ही चला। दूसरी बात राष्ट्र की विभिन्न आवश्यकताओं का अनुमान लगाने से सम्बन्ध रखती है। प्लानिंग कमीशन की योजना में इस दृष्टि को भी पूरी तौर से नहीं रखा गया है। यह सम्भव हो सकता है कि इस प्रकार योजना बनाने के लिए आवश्यक तथ्यों और आंकड़ों का अभाव रहा हो। पर इस बारे में तो यह अत्यन्त आवश्यक था कि इस अभाव को पूरा करने का प्रयत्न किया जाता। और चाहे आवश्यकतानुसार पूरी जानकारी न आती तो न आती पर जो जानकारी उपलब्ध थी उसका तो इस दृष्टि से उपयोग हो ही सकता था पर वह नहीं हो सका। उदाहरण के तौर पर देश के सब लोगों को काम देने के दृष्टिकोण का इस योजना में बिलकुल अभाव है यद्यपि किसी भी योजना का पहला लक्ष्य यह होना चाहिए। इसी प्रकार देश के जीवन के कई क्षेत्रों में कुल कितनी आवश्यकता किस चीज की है और विभिन्न आवश्यकताओं में कैसे मेल बैठना चाहिए, इस दृष्टि से यह योजना नहीं बनी है। इसका तो दृष्टिकोण इससे सर्वथा विपरीत यह रहा है कि अलग अलग उत्पादन क्षेत्रों में सारी स्थिति में कितना कितना उत्पादन सम्भव हो सकता है इसका योजना बनाली जाय। विभिन्न चीजों का आपस में कैसे समन्वय होगा इस ओर ध्यान नहीं गया है। जिस योजना में आवश्यकताओं का अनुमान न किया गया हो उसमें तीसरी बात की कल्पना करना तो बेकार है ही। सारांश यह कि सही अर्थ में हम इसे राष्ट्रीय योजना का नाम नहीं दे सकते। देश को इस बात की जरूरत है कि इस में उक्त दृष्टियों के आधार पर संशोधन कर दिया जाए। इस समय तो इसका रूप राज्य द्वारा किये जाने वाले खर्च का योजना का रूप है।

योजना से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी बड़ी बात यह होती है कि आर्थिक जीवन के विभिन्न अंगों के सन्तुलित विकास का उसमें ध्यान रक्खा गया है या नहीं। इस पंचवर्षीय योजना में कृषि, सिंचाई शक्ति और यातायात पर जो

महत्व दिया गया है वह तो ठीक है पर उद्योग धन्धों तथा शिक्षा और सांस्कृतिक विकास पर कम जोर दिया गया है। यह असंतुलन का लक्षण है और इसे सुधारने की जरूरत है। जहां १४६३ करोड़ में से १६२ करोड़ कृषि, ४५० करोड़ सिंचाई और शक्ति और ३८८ करोड़ यातायात पर खर्च होगा वहां उद्योग पर १०० करोड़ और सामाजिक सेवाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, पिछड़ी जातियों आदि पर २५४ करोड़ ही खर्च करने की योजना है। यह देश की जरूरत को देखते हुए बहुत कम है। सिंचाई और यातायात में कुछ कम खर्च करके समाज सेवा और उद्योगों पर खर्च अधिक किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि सिंचाई के लिए छोटी छोटी योजनाओं को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देने की आवश्यकता है। उदाहरण के तौर पर गांवों में कुओं, छोटी छोटी नहरों, तालाब आदि पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। इसी प्रकार छोटे उद्योगों और ग्रामोद्योगों पर भी केवल १६ करोड़ रुपया खर्च करने की योजना है। इस ओर अधिक खर्च करना सभव होना चाहिए। प्लानिंग कमीशन ने देश की इन्श्योरेंस और बैंकिंग व्यवस्था के संबंध में तो कोई ध्यान दिया ही नहीं।

योजना से संबन्ध रखने वाली सबसे महत्वपूर्ण बात आवश्यक साधनों की व्यवस्था करने से ताल्लुक रखती है। पंचवर्षीय योजना के पहले भाग का ही अगर हम विचार करें तो कुल १४६३ करोड़ रुपये के खर्च की बात है। एक दृष्टि से तो यह लगता है कि यह योजना काफी व्यावहारिक है। इसमें इस तरह की हवाई कल्पनायें नहीं हैं जिनको अमल में ही नहीं लाया जा सके। इस सम्बन्ध में हमें पिछली कुछ योजनाओं का ध्यान आता है। भारत के व्यवसाइयों ने एक योजना बनाई थी जो बम्बई योजना या ताता-बिड़ला योजना के नाम से विख्यात है। यह १५ वर्षीय योजना थी जो ५–५ वर्ष की तीन अवस्थाओं में कार्यान्वित किये जाने की थी और योजना का कुल व्यय १०,००० करोड़ रुपया आंका गया था। इसी प्रकार जनता योजना श्री एम० एन० राय द्वारा प्रस्तुत की गई थी। यह योजना १० वर्षीय थी और इसमें १५,००० करोड़ रुपया खर्च आंका गया था। एक तीसरी योजना गांधी योजना थी जिसका निर्माण गांधी विचारों के आधार पर किया गया था। इसका समय भी १० वर्ष का था और कुल ३५०० करोड़ रुपया खर्च करने की योजना थी। उपरोक्त योजनाओं की तुलना में प्लानिंग कमीशन की योजना बहुत ही व्यावहारिक मालूम पड़ती है। पर इस पर भी कई लोगों को यह शका है कि प्लानिंग कमीशन ने जो आशा रुपयों के बारे में लगाई है वह ठीक उतरेगी भी या नहीं। इस सम्बन्ध में थोड़ा विचार करने की आवश्यकता है। प्लानिंग कमीशन ने २६

और योजना आयोग को इस पंचवर्षीय योजना की यह भी एक कमी है।

प्लानिंग कमीशन ने जो योजना प्रस्तुत की है उसका विशद विवेचन इन पंक्तियों में हमने किया है। उस सारे विवेचन का सार यह है कि इस योजना की खूबी यह है कि इसने व्यावहारिकता का ध्यान रखा है। आर्थिक व्यवस्था संबन्धी उसके आधार में कई दोष तो हैं पर हमारा ऐसा विचार है कि कुल मिलाकर पांच वर्षों में देश के लिये इतना रुपया योजना को कार्यान्वित करने में लगाना संभव हो सकेगा। हमें तो योजना में सबसे बड़ी दो बातों की कमी मालूम पड़ती है। एक तो इस योजना में किसी व्यापक प्रगतिशील विचार धारा का अभाव है और दूसरे इस आधार पर देश की आवश्यकताओं का अनुमान लगा कर उनकी पूर्ति करने का इसमें कोई प्रयत्न नहीं है। इसके अलावा एक तीसरी बात यह है कि योजना के मौजूदा स्वरूपमें भी विभिन्न आर्थिक आवश्यकताओं में आपस में और आर्थिक विकास तथा समाज सेवा के कार्यों में समुचित संतुलन का अभाव है। यदि योजना कमीशन कोई ऐसी योजना प्रस्तुत करना चाहता है, जो देश की आम जनता को उत्साहित करे और जिसे कार्यान्वित करने में वह कष्ट उठाकर भी पूरा पूरा योगदान दे तो यह आवश्यक है कि योजना में उपरोक्त आधार पर सुधार किया जाये।

मुद्रकः—रूपकिशोर शर्मा, अरविंद प्रेस, आगरा।